प्रथम संस्करण नवम्बर १८८९

द्वितीय संस्करण सितम्बर १९५३

मूल्य ७॥)

मुद्रक—गुलाबचन्द अग्रवाल बी०कॉम, अग्रवाल प्रेस, आगरा।

दूसरे संस्करण की भूमिका

भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा—भाग दूसरे के द्वितीय सस्करण को लेकर उपस्थित होते हुए लेखकों को हार्दिक हर्ष है। हिन्दी में भारतीय अर्थशास्त्र पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ न होना अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को खटकता था। उसी अभाव को पूरा करने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई थी। लेखकों को हर्ष है कि पुस्तक का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। देश के सभी हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों में इस पुस्तक की सराहना की गई है। द्वितीय संस्करण में लेखकों ने आधुनिकतम आकड़ों और तथ्यों को देने का प्रयत्न किया है। पंचवर्षीय योजना के अन्तिम स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है और उन सभी आर्थिक समस्याओं का वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से अध्ययन किया गया है कि जो आज देश के सामने उपस्थित हैं।

हमें विश्वास है कि अब पुस्तक और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं प्रत्येक शिक्षित भारतीय के लिए उपयोगी होगी जो देश की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना चाहते हैं।

३१ अगस्त १९५३
कृष्णाष्टमी
उदयपुर

शंकर सहाय सक्सेना
प्रेम नारायन माथुर

निवेदन

भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा के द्वितीय भाग को लेकर उपस्थित होते हुए लेखकों को अत्यन्त हर्ष है। पाठकों ने पुस्तक के प्रथम भाग का जैसा अभूतपूर्व स्वागत किया—कुछ महीनों में ही उसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया—यह इस बात का द्योतक है कि भारतीय अर्थशास्त्र के अध्यापकों तथा छात्रों को पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई।

द्वितीय भाग में उद्योग-धंधों, भारतीय श्रम की समस्याओं, यातायात के साधनों, व्यापार, मुद्रा साख और बैंकिंग, राजस्व और आर्थिक योजना का विशद विवेचन किया गया है। पुस्तक लिखने में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को भारत की आर्थिक समस्याओं के संबंध में केवल आधुनिकतम तथ्य ही अवगत न हों किन्तु वे आर्थिक समस्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार कर सकने की भी योग्यता प्राप्त कर सकें। इसी उद्देश्य से उन सभी आर्थिक समस्याओं, जिन पर आज देश में गहरा मतभेद है और जिनके सम्बन्ध में ठीक दृष्टिकोण अपनाने से ही देश के आर्थिक निर्माण की नींव रक्खी जा सकती है, पर भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करके लेखकों ने अपने-अपने मत का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया है।

आज भारत के आर्थिक निर्माण के प्रश्न को लेकर प्रत्येक देशभक्त भारतीय चिन्तित है, सरकार की अर्थ-नीति बहुत स्पष्ट नहीं है और सम्भवतः इसी कारण अधिक प्रभावशाली और दृढ़ भी नहीं है। आज देश में इस बात पर दो मत हैं कि देश बड़ी मात्रा की यांत्रिक खेती को स्वीकार करे अथवा छोटी मात्रा की अत्यन्त गहरी खेती को प्रोत्साहन दिया जावे, ग्राम्य और गृह-उद्योगों का देश के भावी आर्थिक संगठन में क्या स्थान हो, बड़ी मात्रा के उत्पादन में व्यक्तिगत साहस को रहने दिया जावे अथवा उनका राष्ट्रीयकरण कर लिया जावे, सरकार की औद्योगिक नीति क्या हो, रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता थी अथवा नहीं और क्या रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन करने का समय उपस्थित हो गया है, इंडस्ट्रियल फाइनैंस कारपोरेशन तथा रिजर्व बैंक की साख सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए; श्रमजीवी आन्दोलन, पूंजीपति-श्रमजीवी संघर्ष तथा सरकार की श्रम-नीति न्यूनतम वेतन तथा सामाजिक बीमा के संबंध में सरकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए, सरकार की वर्तमान कर-नीति और राजस्व व्यवस्था क्या दोषपूर्ण है, उसमें क्या सुधार होना चाहिए इत्यादि विवाद-

ग्रस्त विषयों का विशद एवं गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। पंचवर्षीय योजना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और भारत, सरकार की औद्योगिक नीति रुपये का अवमूल्यन इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर पृथक् परिच्छेद लिखे गए हैं।

लेखकों ने पुस्तक लिखते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है कि पुस्तक को अनावश्यक लम्बी (आंकड़ों की) तालिकाओं से बोझिल न किया जावे। साथ ही इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि आधुनिकतम तथ्य और निर्णयात्मक आंकड़े दिए जावें जिससे आर्थिक समस्याओं का ठीक-ठीक अध्ययन करने में सहायता मिले।

भारत के स्वतंत्र हो जाने पर देश आज एक भयंकर आर्थिक संकट में से निकल रहा है। आज देश एक कगार पर खड़ा हुआ है, अर्थ-नीति को निर्धारित करने में तनिक भी भूल होने पर गम्भीर संकट उपस्थित हो सकता है। ऐसी दशा में प्रत्येक भारतीय, राजनैतिक व्यक्ति और देशभक्त का यह कर्तव्य है कि वह देश की आर्थिक समस्याओं का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करे। देश के असंख्य निवासी अंग्रेजी न जानने के कारण भारत की आर्थिक समस्याओं पर अर्थशास्त्रियों के विचार जानने से वंचित रह जाते हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिए लेखकों ने इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है।

यों भी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के उपरान्त देश की आत्मा एक विदेशी भाषा की दासता को तिलांजलि देने के लिए छटपटा रही है। यद्यपि अधिकांश विश्वविद्यालयों में बी. ए. तथा बी. कॉम. परीक्षाओं में हिन्दी माध्यम स्वीकार कर लिया गया है किन्तु हिन्दी में भारतीय अर्थशास्त्र पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ न होने के कारण विद्यार्थी इस सुविधा से लाभ उठाने से वंचित रहते हैं। लेखक पिछले बीस वर्षों से हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा दिए जाने के समर्थक और प्रचारक रहे हैं। इसी लक्ष्य को लेकर उन्होंने अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य का हिन्दी में निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वे इस पुस्तक को हिन्दी जगत के सामने लेकर उपस्थित हुए हैं।

लेखकों को विश्वास है कि पुस्तक बी. ए. तथा बी. कॉम. के विद्यार्थियों के लिए तो विशेष उपयोगी सिद्ध होगी ही, परन्तु जो भी भारतीय अपने देश की आर्थिक समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए भी पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

उदयपुर
कार्तिकी पूर्णिमा २००८

शंकर सहाय सक्सेना
प्रेमनारायन माथुर

विषय-सूची

परिच्छेद १

परिच्छेद २

परिच्छेद ३

परिच्छेद ४

परिच्छेद ७

परिच्छेद ८

परिच्छेद ६

परिच्छेद १०

क्षेत्र—विदेशी पूंजी—उत्पादन में सुधार और वैज्ञानिक अनुसंधान—औद्योगिक व्यवस्था।

पंचवर्षीय योजना में खनिज पदार्थ :—

पंचवर्षीय योजना में यातायात :—रेल यातायात—जहाजरानी—सड़क यातायात—हवाई यातायात।

पंचवर्षीय योजना में विदेशी-व्यापार और व्यापारिक नीति :—

पंचवर्षीय योजना की समालोचना :—मूल्यांकन की दृष्टि क्या हो—कौनसी दृष्टि सही है—इस प्रश्न की जटिलता—योजना आयोग की दृष्टि और सिफारिशों में दोष—स्पष्ट समाज-दर्शन का योजना आयोग की दृष्टि में अभाव—योजना की मर्यादा में योजना के गुण-दोष—प्राथमिकताओं का क्रम—साधनों की पर्याप्तता—कार्य-पद्धति।

योजना की प्रगति और उपसंहार

सामुदायिक योजनाओं की समालोचना :—सामाजिक विचारधारा का अभाव—वर्तमान आर्थिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं—विदेशी प्रभाव—अत्यंत खर्चीली योजना—ऊपर से लादी हुए योजनायें—उपसंहार।

भारतीय अर्थशास्त्र की रूप रेखा

परिच्छेद १

उद्योग-धन्धे : साधारण विवेचन

आज के कल और कारखाने के युग में भी औद्योगिक दृष्टि से भारत एक पिछड़ा हुआ देश है और उसके आर्थिक जीवन में खेती की प्रधानता है। देश के आर्थिक जीवन के इस वर्तमान खेती-प्रधान स्वरूप को देख कर यह कल्पना नहीं होती कि कभी इस देश के उद्योग-धन्धे भी उन्नत अवस्था में थे और हमारे आर्थिक जीवन में उनका महत्त्व था। पर औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट से लिया गया निम्नलिखित अंश इस संबंध में वस्तु-स्थिति पर समुचित प्रकाश डालता है। औद्योगिक कमीशन का कहना है :—"उस समय, जबकि पश्चिमी यूरोप में जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्मस्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने राज-नवाबों की सम्पत्ति और अपने कारीगरों के कौशल के लिए विख्यात था। और इसके बहुत समय बाद भी, जबकि पश्चिम के व्यापारी पहले पहल यहाँ आए, यह देश औद्योगिक विकास की दृष्टि से पश्चिम के जो अधिक उन्नत राष्ट्र हैं उनसे यदि आगे बढ़ा हुआ नहीं तो किसी प्रकार कम तो नहीं था।"

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला-कौशल, जैसे सुन्दर ऊनी वस्त्रों के उत्पादन, अलग-अलग रंगों के समन्वय, धातु और जवाहरात के काम तथा इत्र आदि अर्कों के उत्पादन के लिए संसार-प्रसिद्ध रहे हैं। इस बात का प्रमाण मिलता है कि सन् ई० पू० ३०० में भारत और बेबीलोन में व्यापारिक सम्बन्ध थे। सन् ई० १-२००० तक की पुरानी मिस्र की क़ब्रों में जो 'ममीज़' (शव) हैं, वे भारत की बहुत बढ़िया मलमल में लिपटे हुए पाए गए हैं। लोहे का उद्योग भी प्राचीन भारत में बहुत उन्नत अवस्था में था। उसके द्वारा केवल देश की आवश्यकता ही पूरी नहीं होती थी, बल्कि उसमें उत्पन्न माल विदेशों को भी भेजा जाता था। लगभग दो हजार वर्ष पुराना दिल्ली के पास जो मशहूर लोहे का स्तम्भ है, उससे मालूम पड़ता है कि उस समय की कारीगरी कितनी उच्च थी जिसे देखकर आज का इंजीनियर भी आश्चर्य में पड़ जाता है। भारत का इस्पात फ़ारस, अरब और इंगलैण्ड तक को भेजा जाता था। सारांश यह है कि बहुत प्राचीन काल में ही भारत का लोहे और इस्पात का उद्योग अत्यन्त उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुका था। वास्तव में यह भारतीय उद्योग का ही प्रताप था कि उस समय भारत से व्यापार करना बहुत लाभप्रद माना जाता था और यूरोपीय देशों में

भारतीय माल की बड़ी मांग थी। यूरोप के व्यापारी भारत में इसी व्यापार से आकर्षित होकर के आए। पहले वेनिस और जेनोआ के निवासियों के हाथ में भारतीय व्यापार का एकाधिकार था। उनके पतन के बाद डच और पुर्तगाल निवासी सामने आए। इससे इंगलैण्ड के व्यापारियों में प्रतिस्पर्द्धा पैदा हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत के तैयार माल को यूरोप ले जाकर व्यापार करने की दृष्टि से 'ईस्ट इंडिया कंपनी' स्थापित की गई।

यद्यपि आज-कल के आंकड़ों से तुलना करने का तो प्रश्न नहीं है, फिर भी उस पुराने समय में भारतीय आर्थिक जीवन में विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व था। विदेशी व्यापार के क्षेत्र में फारस की खाड़ी, वर्मा, मलाया प्रायद्वीप और चीन से जो व्यापार होता था उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व था। यह व्यापार पहले अरब के लोगों के हाथ में था। धर्मयुद्धों के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप में भारतीय माल पहुँचा और तभी से भूमध्यसागर के पूर्वी तट के साथ जल और थल दोनों ही मार्गों से यथेष्ट व्यापार होने लगा। व्यापार मुख्यतः मसाला, रेशम, जवाहरात और सूती वस्त्र जैसी कीमती चीजों का होता था। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतीय विदेशी व्यापार का यह भूमध्यसागर का मार्ग, जो अफ़गानिस्तान और फारस में होता हुआ लेबेनान-तट तक जाता था, तुर्कों द्वारा बन्द कर दिया गया। इसके पश्चात् दूसरा मार्ग ढूँढ़ निकालने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों में होड़ चल पड़ी। परिणाम यह हुआ कि पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में केप होते हुए भारत जाने का मार्ग ढूँढ़ निकाला गया।

इस समय के भारत के विदेशी व्यापार का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि भारतीय माल के बदले में विदेशों से भारतवर्ष को बहुत-सा सोना-चाँदी प्राप्त होता था। यूरोप के लिए भारतीय व्यापार का यह लक्षण एक चिन्ता का विषय बन गया। कारण यह था कि उस समय यूरोप में 'मर्केन्टिलिस्ट' नाम की एक ऐसी विचारधारा का प्रभुत्व था जिसके अनुसार किसी भी राष्ट्र की सम्पन्नता उस राष्ट्र के पास जितना सोना-चाँदी है उस पर से ही आंकी जा सकती थी। 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने इस बात का प्रयत्न किया कि भारत में विदेशी माल का प्रचार हो, पर यह प्रयत्न विशेष सफल नहीं हुआ। विवश होकर कंपनी को अपनी पूँजी का उपयोग भारत में उत्पादन करने और उसके तथा पड़ौसी राष्ट्रों के बीच के व्यापार में करना पड़ा और जो कुछ इससे लाभ होता था वही यूरोप को माल की शक्ल में भेजा जाता था। मसाले का व्यापार बहुत समय तक चलता रहा और बाद में चीन के साथ अफीम का व्यापार और चीन और इंगलैण्ड के बीच में चाय का व्यापार होने लगा।

भारतीय उद्योगों के जिस महत्त्व का ऊपर उल्लेख किया गया है वह बहुत समय तक क़ायम नहीं रह सका। यद्यपि आरम्भ में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया क्योंकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निर्भर था, पर थोड़े समय के पश्चात् ही ब्रिटिश पूँजीपतियों के विरोध के कारण कंपनी को अपनी यह नीति छोड़नी पड़ी। ब्रिटिश पूँजीपति यह चाहते थे कि कंपनी ब्रिटिश कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे माल को भारत से निर्यात करने पर जोर दे। अस्तु; बाद में भारतीय उद्योग-धंधों का क्या भविष्य हुआ यह सर्वविदित है। ईस्ट इंडिया कंपनी को जब राजनैतिक सत्ता प्राप्त हुई तो उसका उपयोग भारतीय उद्योगों को नष्ट करने में किया गया। हमारे उद्योगों के ह्रास के अन्य कारण भी थे। सन् १८५८ में भारत का शासन जब सीधा ब्रिटिश सरकार के हाथ में आगया तब भी भारतीय उद्योगों के प्रति जो कंपनी की जान-बूझ कर उदासीनता दिखाने और उनको नष्ट करने की नीति थी उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वही नीति चलती रही, यद्यपि अब उसने अहस्तक्षेप सिद्धान्त का आवरण पहन लिया। यह वह समय था जबकि इंगलैंड में आर्थिक जीवन में राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप करने का सिद्धान्त सर्वमान्य था। इंगलैंड अपने आर्थिक विकास की जिस अवस्था में था उसमें अहस्तक्षेप-का यह सिद्धान्त उसके लिए उपयुक्त था। ये वे दिन थे जबकि पूँजीवादी विस्तार के लिए इंगलैंड के सामने पूरा मौका था, उसके तैयार माल के लिए संसार के बाजार का द्वार खुला पड़ा था, और देश अथवा विदेश कहीं के बाजारों में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। इसलिए अहस्तक्षेप-सिद्धान्त से इंगलैंड को लाभ ही लाभ था। किन्तु भारत की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस पर भी वही अहस्तक्षेप का सिद्धान्त उस पर भी लादा गया। यह राजनैतिक पराधीनता की कीमत थी जो इस देश ने उस समय चुकाई और बाद में भी बहुत वर्षों तक बराबर चुकाता रहा। भारत जब तक इंगलैंड के अधीन रहा आर्थिक मामलो में यह कभी भी अपनी स्वतंत्र नीति नहीं अपना सका। उसका भाग्य अपने विदेशी शासकों के साथ बंधा रहा और उनका एकमात्र लक्ष्य अपनी मातृभूमि—इंगलैंड के स्वार्थों की रक्षा करना रहा। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन सरकार ने भारत के नष्ट होते हुए उद्योग-धन्धो की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत सरकार ने इस विचार का लगातार प्रचार किया कि भारत की उपजाऊ भूमि और यहाँ की जलवायु ही ऐसी है कि यहाँ कच्चे माल का उत्पादन हो और उसके बदले में बाहर से तैयार माल मगाया जाए। यह कहा जाता था कि भारतीय मजदूर बहुत ही अयोग्य हैं, यहाँ की गर्म जलवायु

मनुष्य को शिथिल बनाती है, और लोगों में साहस की कमी है, इसलिए इस देश में आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो सकता। जनता में यह विश्वास पैदा किया गया कि भारत औद्योगीकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त है। ब्रिटिश सरकार के हाथ में शासन आने के बहुत पहले से ही, ईस्ट इंडिया कंपनी भी इसी नीति पर चल रही थी। उदाहरण के लिए कंपनी ने भारत में कपास की खेती के विस्तार और उन्नति में बड़ी दिलचस्पी ली। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कम्पनी ने भारतीय नील-उद्योग को पुनर्जीवित करने का निश्चय किया और पश्चिमी द्वीप-समूह से इस कार्य के लिए कुशल व्यक्तियों को लाया गया। चाय के बागों का उद्योग, जो भारत का इस प्रकार का प्रमुख उद्योग रहा, सरकार द्वारा ही आरंभ किया गया था। कॉफी के बाग भी कंपनी के कहने से ही कायम किये गए। सारांश यह है कि औद्योगिक उन्नति के प्रति सरकार की उदासीनता होने से तथा कुछ अन्य सहायक कारणों के उपस्थित होते रहने से, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही भारत का औद्योगिक महत्त्व समाप्त होने लगा और वह केवल एक कृषि-प्रधान देश बना दिया गया। इस प्रकार भारत का आर्थिक पतन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ :—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन में आधुनिक फैक्टरी उद्योगों की पूरी तौर पर स्थापना हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड संसार का कारखाना बन चुका था। इस समय तक प्राचीन भारतीय उद्योगों का भी ह्रास हो चुका था और धीरे-धीरे एक-दो आधुनिक उद्योगों का आरंभ भी होने लगा था। जहाजों में भाप का उपयोग करने वाले उद्योग ही सबसे अधिक सफल नए भारतीय उद्योग मालूम पड़ते थे। भारत में एक कोयले की खान में, नौकाश्रय (डॉक्स) में, एक कागज की मिल में, रुपये की टकसाल में, आटा पीसने में, रेशम की रील तैयार करने में और सूती कपड़े के छापने और बुनने में तथा सूत कातने में भी भाप के इंजनों का प्रयोग होने लगा था। ये तमाम आधुनिक उद्योग कलकत्ते के आस-पास में स्थित थे, क्योंकि यूरोपीय व्यवसायी इसी प्रदेश में सबसे अधिक थे। कर्नल शीथ नाम के 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के एक कर्मचारी ने मद्रास में आरकट नाम के स्थान पर सबसे पहला लोहे का कारखाना स्थापित किया। आधुनिक ढंग के ये उद्योग अधिक दिनों जीवित नहीं रह सके, क्योंकि इनको मशीनें, मशीनों के विभिन्न भाग और दूसरी आवश्यक सामग्री जहाजों में केप के रास्ते से मँगानी पड़ती थीं। इंजीनियर, फोरमैन और कभी-कभी तो मजदूर तक इंगलैंड से बुलाने पड़ते थे। भारत में कोयला निकालने का उद्योग सन् १८१४ तक नियमित

रूप से आरंभ नहीं हुआ था। सन् १८५३ तक रेलवे नहीं खुली थी। इसी साल एक छोटी-सी लाइन बंबई से आरंभ की गई और दूसरे वर्ष सन् १८५४ में एक और लाइन हावड़ा से रानीगंज के कोयले की खानों तक शुरू हुई। इसके बाद रेलवे लाइनें जल्दी-जल्दी खोली जाने लगीं और इसके परिणाम स्वरूप कोयले के उद्योग का प्रसार भी हुआ। सन् १८६० तक भारत में कोयले का कुल उत्पादन २० लाख टन से भी अधिक होगया।

कोयले के उद्योग के विकास और रेलवे के विस्तार होने से भारतीय फैक्टरी-उद्योग के मार्ग की कुछ प्रारंभिक कठिनाइयाँ समाप्त हुईं। कलकत्ते के पास जो 'बाओरेह मिल्स' १६ वीं शताब्दी के आरंभ में स्थापित हुई वह तो सफल नहीं हुई, पर सन् १८५१ में सी० एन० डावर नाम के एक पारसी सज्जन ने सबसे पहली सफल सूती कपड़े की मिल की स्थापना की। शुरू शुरू में मिलों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ी। सन् १८६० में कपास के व्यापार में आरंभ होने वाली तेजी जब समाप्त होगई तो कपड़े के मिलों की संख्या काफी बढ़ पाई। पटसन कातने की सबसे पहली मिल एक अंग्रेज ने सन् १८५५ में सिरामपुर (कलकत्ता) के निकट रिशरा नामक स्थान में स्थापित की। इसके ठीक चार वर्ष बाद कलकत्ते के पास ही शक्ति से चलने वाली पहली बुनाई की फैक्टरी भी कायम हुई। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के मध्य तक विदेशियों के प्रयत्न से भारत में एक-दो आधुनिक उद्योग का आरंभ हुआ किन्तु प्रगति बहुत धीमी और असंतोषजनक थी।

औद्योगिक अवनति की ओर देश का ध्यान :—१६ वीं शताब्दी की पिछली दो दशाब्दियों में राजनैतिक चेतना के साथ-साथ देश के नेताओं और अर्थशास्त्रियों का ध्यान हमारी औद्योगिक अवनति की ओर भी गया। दादा भाई नौरोजी और रानाडे ने तो यहाँ तक कहा कि हमारी औद्योगिक अवनति का ही कारण है कि देश को प्रायः अकालों का सामना करना पड़ता है और आम जनता निर्धनता की चक्की में पिसी जा रही है। सन् १८८० के अकाल कमीशन ने भी यही राय दी कि भारत में बार-बार अकाल पड़ने का एक मुख्य कारण यह है कि उसका आर्थिक जीवन एक मात्र खेती पर आश्रित है। सन् १६०१ के अकाल कमीशन ने भी इसी विचार पर जोर दिया और देश के औद्योगीकरण पर आग्रह किया। भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस विचार की कि प्रकृति ने भारत को एक कृषि-प्रधान राष्ट्र ही बनाया है, असत्यता प्रकट करना आरम्भ की। थोड़े से समय में जापान में जिस तीव्र गति से औद्योगिक विकास हुआ उसने भी हमारे आर्थिक जीवन की कमजोरी को स्पष्ट कर दिया।

जनता के आर्थिक जीवन के लिए जन-हित का ध्यान रखने वाली सरकार क्या कर सकती है, इसका जापान ने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया और भारत की सरकार ने भारतीय उद्योगों के प्रति जो अक्षम्य उदासीनता दिखाई वह जापान से सर्वथा प्रतिकूल और दुःखद उदाहरण था। रानाडे ने भारतीय पूँजीपतियों से अनुरोध किया कि वे अपनी अधिकाधिक पूँजी उद्योग में लगाएँ और शिक्षित नवयुवकों से कहा कि हाथ के काम के प्रति अपनी परम्परागत अरुचि का त्याग करें और उद्योग-धधों में काम करने योग्य अपने आप को बनाएँ।

देश में राजनैतिक असंतोष के साथ साथ यह आर्थिक असंतोष भी घर करता जा रहा था। और जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के सहयोग में सन् १९०५ में भारतीय औद्योगिक सम्मेलन की स्थापना से विदित होता है, असंतोष की इन दोनों धाराओं का पारस्परिक सम्पर्क होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बंगाल के विभाजन को रद्द कराने के लिए जो देश-व्यापी आन्दोलन हुआ उसने भी इस आपसी संपर्क को पुष्ट ही किया। सन् १९०५ का स्वदेशी आन्दोलन इसी का परिणाम था, और ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी इसी का नकारात्मक स्वरूप था। देश में एक बहुत बड़ी उथल-पुथल फैल गई थी। भारतवासियों ने अनेकों नई फैक्टरियाँ स्थापित कीं जिन में कपड़े साबुन, दियासलाई, पेंसिल, काँच और छुरी-चाकू (कटलरी) की फैक्टरियाँ मुख्य थीं। कई स्वदेशी भंडार भी कायम हुए जहाँ इन फैक्टरियों का माल बेचा जाता था पर इन नए उद्योगों में से अधिकांश अधिक दिन नहीं चल सके। व्यवहारिक शिक्षा और व्यापारिक अनुभव का अभाव तथा राज्य की उदासीनता व लापरवाही इस असफलता के मुख्य कारण थे। बहुत समय तक राज्य ने सिवा अधूरीसी टेकनीकल और औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था करने, कुछ व्यापार और उद्योग सम्बन्धी जानकारी एकत्रित और प्रचारित करने, कुछ औद्योगिक प्रदर्शिनियों का आयोजन करने और भारतीय उद्योग-धंधों के विषय में कुछ साहित्य प्रकाशित करने के और कुछ नहीं किया। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के सुझाव पर केन्द्र में व्यापार उद्योग का एक प्रथम सरकारी विभाग कायम किया गया; पर यह सब कुछ नहीं के बराबर था। यदि कभी किसी प्रान्त ने जैसे मद्रास अथवा संयुक्तप्रान्त के उदाहरण सामने आए भी, औद्योगिक उन्नति के संबंध में कोई विशेष क्रियात्मक रुचि दिखाई, तो उच्च सत्ताधारियों ने उनके उत्साह को भंग कर दिया। सारांश यह है कि देश में स्वदेशी-आन्दोलन के कारण औद्योगिक उन्नति के लिए जो अनुकूल वातावरण बन गया था, सरकार

ने उसका कोई लाभ नहीं उठाया। यहां तक कि विभिन्न रेलवे कंपनियों के माल को लाने-लेजाने के जो अलग अलग दर थे उनमें भी सरकार ने कोई परिवर्तन नहीं किया; यद्यपि दर उद्योग-धन्धों की प्रगति में बाधक थे। सरकार ने विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता रोकने के लिए न तो रक्षात्मक कर लगाए और न और कुछ ही किया। इस सबसे भारतीय जनता का यह विश्वास और भी दृढ़ होगया कि राज्य की क्रियात्मक सहायता और संरक्षण के बिना, खासतौर से प्रारंभिक अवस्था में, देश के उद्योग-धन्धों की उन्नति संभव नहीं है।

उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि सन् १६१४ के पहले तक भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। हमारी इस धीमी औद्योगिक प्रगति का एक कारण आरंभ में लोगों का अज्ञान और उनमें व्यवसायिक साहस का अभाव, तथा अब तक भी उनमें दूरदर्शिता और प्रतिभा की कमी बताया जाता है। इस बारे में यह अवश्य ध्यान रखने की बात है कि यदि किसी हद तक भारतवासियों में उक्त गुणों का अभाव रहा है या आज भी पाया जाता है तो उसका प्रमुख कारण देश की पराधीनता और उससे उत्पन्न विपरीत परिस्थितियों को ही मानना होगा। देश की स्वतंत्रता के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में भी भारतीय प्रतिभा व्यक्त होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रथम युद्ध से पहले तक भारत में सुव्यवस्थित और बड़े पैमाने पर चलने वाले केवल निम्न-लिखित उद्योग थे :—बंबई का सूती कपड़े का उद्योग, बंगाल का पटसन का उद्योग, बिहार, उड़ीसा और बंगाल का कोयले का उद्योग, बर्मा में तेल का उद्योग और आसाम में चाय का उद्योग। सूती कपड़े के उद्योग को छोड़कर बाकी सब उद्योग विदेशियों के हाथ में थे। प्रथम महायुद्ध के पहले लोहे-इस्पात और सीमेण्ट के उद्योगों की शुरूआत हो चुकी थी। सन् १६०७ में जमशेदपुर में स्थापित 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कंपनी' भारतीय औद्योगिक उन्नति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और बड़े पैमाने पर इस्पात उत्पन्न करने वाला देश का यह प्रथम कारखाना था। यह पूर्णतया भारतीय उद्योग था। इसी काल में एक और उद्योग की प्रगति के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे थे—यह था शक्ति और रोशनी के लिए बिजली पैदा करने का उद्योग। इस उद्योग की प्रगति टाटा के ही प्रयत्नों से बाद में हुई। उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त छोटे-मोटे और उद्योगों का आरंभ भी देश में हुआ, जैसे पटसन और कपास के पेच, कागज की मिलें, चावल और शकर के उद्योग, चमड़े के उद्योग, इंजीनियरिंग के कारखाने आदि। पर इन उद्योगों की संख्या कम थी और इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।

प्रथम महायुद्ध-काल में औद्योगिक उन्नति :—प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय उद्योग-धंधों को अपनी उन्नति करने के लिए एक बहुत अच्छा अवसर मिला। शत्रु राष्ट्रों से और विशेषतया जर्मनी से माल का आना बिल्कुल बन्द हो गया। मित्र राष्ट्र भी भारत को माल भेजने में असमर्थ थे, क्योंकि एक तो वे युद्ध-सामग्री उत्पन्न करने में लगे हुए थे, और दूसरे शत्रु राष्ट्रों के आक्रमण तथा युद्ध के कारण बढ़ी हुई माँग के फलस्वरूप माल को लाने ले जाने वाले जहाजों की भी कठिनाई थी। इसके अतिरिक्त युद्ध के लिए आवश्यक चीजों की विशेष माँग भी इस समय पैदा होगई थी। सारांश यह है कि भारत के सामने अपना उत्पादन बढ़ाने का एक बहुत बड़ा अवसर आया। परन्तु भारत इस अवसर का लाभ उठाने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। भारत में तो मशीन-उत्पादन करने वाले कोई उद्योग थे नहीं और विदेशों से मशीन अथवा कच्चा माल मंगाना कठिन था। और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हमारे मार्ग में थीं, जैसे टेकनिकल विशेषज्ञों की बड़ी कमी थी, तथा रेल के डिब्बों, समुद्र-तटीय जहाज, कोयला शुद्ध करने की मशीन (कोकिंग प्लाण्ट) और कुशल मजदूरों की भी कमी थी। सदा की भाँति सरकार की उदासीनता भी कायम थी ही। इन तमाम कारणों से युद्ध के समय भारत औद्योगिक दृष्टि से कोई विशेष प्रगति नहीं कर सका और हमारे देखते-देखते जापान तथा अमेरिका आदि विदेशी राष्ट्रों ने भारत के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा लिया, तथा हमारे बाजारों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया।

इतना सब होने पर भी युद्ध ने सरकार और जनता को सावधान अवश्य कर दिया। जनता ने पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के मामले में विदेशों पर निर्भर रहने का अर्थ क्या है? अंग्रेजी सरकार ने भी देखा कि यदि भारत एक औद्योगिक राष्ट्र होता तो पूर्वीय युद्ध-क्षेत्रों में उससे अधिक सहायता मिल सकती थी। अस्तु; सरकार को भी देश की औद्योगिक उन्नति के लिए कुछ न कुछ करना अनिवार्य जान पड़ा। सन् १९१६ में सरकार ने औद्योगिक कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन ने भारत की औद्योगिक उन्नति के व्यापक प्रश्न पर, और सरकार किस प्रकार इसमें सहायक हो सकती है इस विषय पर पूरी तौर से विचार किया। कमीशन की रिपोर्ट १९१८ में प्रकाशित हुई। उसमें कमीशन ने इस बात पर विशेषतया जोर दिया कि देश के औद्योगीकरण में सरकार को अधिक क्रियात्मक सहयोग देना चाहिये ताकि देश अधिक स्वावलंबी बन सके। कमीशन ने यह भी राय दी कि इन प्रश्नों पर सरकार को सलाह देने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति होनी चाहिये।

कमीशन का यह भी सुझाव था कि प्रान्तीय मंडलों (बोर्डों) की स्थापना की जावे। इसी बीच में १९१७ में सरकार इण्डियन म्यूनिशन्स बोर्ड की स्थापना कर चुकी थी। उसका उद्देश्य युद्ध की दृष्टि से भारतीय साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करना था। इस बोर्ड ने स्वयं भारत में आवश्यक माल खरीद कर, इंगलैण्ड तथा दूसरी जगहों से खरीदा जाने वाला माल भी प्राथमिकता और नियंत्रण के आधार पर भारत से खरीदवा कर, और नए उद्योग आरंभ करने वालों को आवश्यक सलाह और जानकारी देकर, भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार कई उद्योगों को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। उनमें से खास-खास नाम ये हैं :—सूती कपड़े, पटसन, लोहे-इस्पात, चमड़े और इन्जीनीयरिंग के उद्योग, तथा कागज, काँच, सीमेण्ट, छुरी-चाकू, खाद, रंग, वार्निश, डाक्टरी औजार, रासायनिक पदार्थ (केमिकल्स) और मिनरल एसिड्स तैयार करने वाले उद्योग। औद्योगिक कमीशन की सिफारिश के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में सरकारी औद्योगिक विभागों की स्थापना भी हुई। युद्धकालीन सरकारी व्यय की पूर्ति करने के लिए आयात-करों में भी वृद्धि की गई। पर इन छोटी मोटी बातों से कोई बड़ा परिणाम आने वाला नहीं था, और युद्ध के कारण जो अवसर आया था भारत उसका लाभ न उठा सका तथा औद्योगिक दृष्टि से वह एक पिछड़ा हुआ राष्ट्र ही बना रहा।

युद्धोत्तर तेजी और मंदी :—युद्ध के समाप्त होते ही थोड़े समय के लिए व्यापार-व्यवसाय में तेजी आई। इस आशा से कि युद्धकालीन मुनाफे कायम रहेंगे और युद्ध के समय जो मांग दबी रही उसे पूरी करने का अब समय आया है, कई नए-नए उद्योग-धंधे आरंभ किए गए। सन् १९१९ से १९२१ तक यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ी। परन्तु थोड़े समय के पश्चात् ही व्यापारिक मंदी के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। मंदी के इस युग का आरंभ होते ही बहुत सी कम्पनियाँ और फर्में अपना काम बन्द करती दिखाई पड़ने लगीं। इस मंदी के कई कारण थे। ऊँची कीमतें और बढ़ती हुई मांग संबंधी आशाएँ पूरी नहीं हुईं। कारण यह था कि लड़ाई से जो विनाश हुआ था उसके फलस्वरूप संसार के राष्ट्रों की कमर टूट गई थी, उनमें माल खरीदने की शक्ति बची ही नहीं थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं को युद्ध के पूर्व की स्थिति में पहुँचने की दृष्टि से जो मुद्रा संकुचन नीति अपनाई, उसका भी जनता की क्रय-शक्ति को कम करने का प्रभाव हुआ। साथ ही साथ १९२०-२१ में भारत के रुपये का विनिमय दर बहुत गिर गया जिससे उन आयात के व्यापारियों के सामने, जिन्होंने ऊँचे विनिमय-दर की आशा लगा रखी थी, एक संकट उपस्थित

हो गया और जहाँ तक निर्यात के व्यापारियों का सम्बन्ध था पहले के ऊँचे विनिमय-दर का पूरा प्रभाव उनको भी अब मालूम पड़ा। बाद में सन् १९२४ में जब रुपये का विनिमय-दर फिर बढ़ गया तो उसका असर भी मंदी को बढ़ाने का ही हुआ, क्योंकि रुपये के विनिमय-दर के बढ़ जाने से भारत के बाजारों में विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई। जब सन् १९२९ में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी की शुरूआत हुई तो भारतीय आर्थिक जीवन पर भारत के कृषि-प्रधान देश होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक बुरा असर पड़ा। कृषि-पदार्थों की कीमतें गिर जाने का प्रभाव भारतीय उद्योगों पर भी अच्छा नहीं हुआ। विदेशी राष्ट्रों की अपनी-अपनी मुद्राओं के मूल्य घटाने की और दूसरे देशों में कृत्रिम सस्ते भावों पर माल बेचने की नीति के कारण भी भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतिद्वन्द्विता और कठिन समय का सामना करना पड़ा। अस्तु; कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय उद्योग के क्षेत्र में जो मन्दी आरंभ हुई वह सन् १९२९ के संसारव्यापी मन्दी तक बराबर चलती रही। इसका यह अर्थ लगाना तो ठीक नहीं होगा कि इस सारे काल में आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों की स्थिति में सर्वथा समानता थी। विभिन्न उद्योगों की विभिन्न समय विभिन्न परिस्थितियाँ रही हैं। पर सामान्यतया यह कहना ठीक है कि युद्ध के बाद से भारतीय उद्योग की स्थिति बिगड़ी ही रही और इसी बीच में १९२९ की मन्दी का आरम्भ हो गया।

इस प्रथम महायुद्ध के बाद के समय में हमारे देश के औद्योगिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना भारत की तत्कालीन सरकार द्वारा अक्टूबर १९२१ में स्थापित अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) की सिफारिश पर, संकुचित औद्योगिक संरक्षण (डिस्क्रीमिनेटिंग प्रोटेक्शन) की नीति का अपनाना था। युद्ध के पूर्व की सरकार की अहस्तक्षेप की नीति में इस प्रकार का परिवर्तन देश की औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से कहाँ तक पर्याप्त था वह एक अलग प्रश्न है, जिस पर आगे चल कर विचार किया जायगा। यहाँ तो इतना-सा संकेत कर देना यथेष्ट होगा कि संरक्षण की इस नीति के फलस्वरूप कुछ उद्योगों को संरक्षण मिला और उससे उनको युद्धोत्तर मन्दी का सामना करने में सहायता मिली। इस प्रकार के उद्योगों में लोहे और इस्पात का उद्योग, सूती कपड़े का उद्योग, शक्कर का उद्योग, कागज का उद्योग और दियासलाई का उद्योग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मन्दी के उपरान्त स्थिति में सुधार तथा बिगाड़ :—१९२९ में आरंभ होने वाली आर्थिक मन्दी ने समस्त संसार और उसके साथ-साथ भारत के

आर्थिक जीवन को पूरी तौर से अस्त व्यस्त कर दिया। सन् १६३२ में और उसके बाद इस मंदी के समाप्त होने के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। भारत इस दृष्टि से कोई अपवाद नहीं था। लोहे और इस्पात, सूती कपड़े, सीमेण्ट, शकर, पटसन और कागज के उद्योग-धंधों का उत्पादन बहुत कुछ बढ़ा। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस प्रगति में संरक्षण का बड़ा हाथ था। सन् १६३१ से भारत का बहुत-सा सोना विदेशों को जाने लगा और उसके बदले में जो रुपया प्राप्त हुआ वह उद्योग-धंधों में लगाया जाने लगा। इसके अलावा देश में स्वदेशी की जो भावना जाग्रत हो चुकी थी उससे भी हमारी औद्योगिक उन्नति को बहुत सहायता मिली। कृषि-पदार्थों के मूल्य बढ़ने से देश की ग्रामीण जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई और इस कारण से उनमें औद्योगिक पदार्थों की मांग भी बढ़ी। इन सब बातों का असर औद्योगिक दृष्टि से अच्छा हुआ और देश के स्कंध बाजार (स्टाक एक्सचेंजों) के लेन-देन में इस औद्योगिक उन्नति के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इतना ही नहीं, सारी स्थिति अति की ओर जाने लगी और अत्यधिक आशावाद के कारण सट्टे तथा बिना सोचे समझे व्यापार करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होने वाला था कि देश के आर्थिक जीवन को फिर धक्का लगे। सन् १६३७-३८ में जब सारे संसार को इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा तो भारत भी उससे न बच सका। जब सन् १६३६ में दूसरा विश्व युद्ध आरंभ हुआ तो स्थिति ने पलटा खाया। भारत इस स्थिति का वास्तव में कितना लाभ उठा सका इस विषय में अब विचार किया जायगा।

दूसरा महायुद्ध और हमारी औद्योगिक उन्नति—जैसा कि स्वाभाविक था, दूसरे महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योग-धन्धों के विकसित होने का एक अच्छा अवसर फिर इस देश को प्राप्त हुआ। इस बार की स्थिति प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा भी कुछ अंशों में अधिक अच्छी थी। जापान के युद्ध में शामिल होने से और बर्मा तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया तक उसके बढ़ आने से पूर्वी युद्ध-क्षेत्र को अपने आप में स्वावलंबी होना आवश्यक था, और पूर्वी युद्ध-क्षेत्र में भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सबका परिणाम यह होना चाहिये था कि भारत के उद्योग-धंधों में जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक प्रगति की जाती; पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। भारत की विदेशी सरकार का अब भी वही पुराना संकुचित दृष्टिकोण था। भारत में १६४० में 'ईस्टर्न ग्रूप कान्फ्रेंस' का आयोजन इस उद्देश्य से किया गया था कि पूर्व के देशों को यथासंभव युद्ध-सामग्री के मामले में स्वावलंबी बनाया जा सके। इसी प्रकार डा० ग्रेडी के नेतृत्व में अमरीकन

टेकनिकल मिशन मार्च १९४२ में भारत आया और उसने भारत में नए उद्योग-धन्धों की स्थापना के बारे में एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की। पर बावजूद इन सबके युद्ध के प्रारंभ में भारत-सरकार ने देश की औद्योगिक प्रगति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। भारत सरकार की इस नीति के कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। भारत सरकार का उस समय केवल यह दृष्टिकोण था कि भारत में केवल उन चीजों का उत्पादन बढ़ाया जाये जो सीधे सैनिक उपयोग में आती हैं, और जो दूसरे देशों से प्राप्त नहीं की जा सकती हैं। उन उद्योगों को स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया जो भावी और औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से महत्त्व के थे, चाहे उनसे तत्काल थोड़ा नुकसान ही हो। भारत मंत्री (तत्कालीन) के ब्रिटिश पार्लियामेंट में नवम्बर १९४० में कहे गये नीचे लिखे शब्द इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। "सेना के लिए आवश्यक वस्तुओं के लगभग ९०% भाग के लिए भारत स्वावलंबी हो जायगा।" इस नीति का यह परिणाम था कि युद्ध के प्रथम दो वर्षों में भारत सरकार ब्रिटेन को उपलब्ध तैयार माल और कच्चा माल भेजती रही। रेलवे नष्ट करके डिब्बे, रेलकी लाइनें और इंजन बाहर जहाँ भी आवश्यकता होती थी भेजे जाते थे और उनके भारत में उत्पादन का कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता था। इसके मुकाबले में आस्ट्रेलिया और कनाडा ने जो युद्ध के शुरू होने के दो वर्षों के अन्दर प्रगति करली थी, वह उल्लेखनीय थी। आस्ट्रेलिया ने दो वर्ष के अन्दर हवाई जहाज, वायरलेस आदि वस्तुओं का सरकारी प्रयत्न से उत्पादन आरंभ कर दिया था। कनाडा की सरकार ने भी सात सरकारी कारपोरेशन्स स्थापित किये। इनमें से चार हवाई जहाज़, गोले, रायफलें और औज़ार बनाने के लिये थे और शेष तीन आवश्यक युद्ध-सामग्री और मशीन टूल्स खरीदने के लिए थे। तत्कालीन भारत सरकार की इसी अनुदार नीति का एक और उदाहरण यह था कि उसने 'ओटोमोबाइल' और एँजिन (लोकोमोटिव्ज़) उद्योगों को खड़ा करने का प्रयत्न नहीं किया। इंजिन-उद्योग के बारे में एक विशेषज्ञ कमेटी की सिफारिश मौजूद थी और योजना की रूपरेखा भी तैयार होगई थी; पर आखिरी वक्त इस आधार पर कि बाहर से ही एंजिन मंगाना ज्यादा अच्छा है, वह योजना रद्द करदी गई। मोटर आदि के उद्योग के बारे में १९३६ में ही भारत सरकार के सामने योजना उपस्थित करदी गई थी; पर भारत सरकार ने पाँच वर्ष के पश्चात् दिसम्बर १९४० में, जब उस योजना के संचालकों ने बहुत कुछ तैयारी भी करली थी, उस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। कारण यह बताया गया कि युद्ध के कारण कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। यह निर्णय भारत सरकार ने उस समय किया जब कि वह विदेशों से बड़ी संख्या में

मोटरें आदि मंगा रही थी। सारांश यह है कि युद्ध के आरम्भ में भारत की विदेशी सरकार की नीति देश में बड़े-बड़े उद्योगों को, जो भारतीयों द्वारा संचालित और व्यवस्थित हों, प्रोत्साहित और विकसित करने की नहीं थी। १९४१ के अन्त तक रासायनिक और धातु संबंधी तथा दूसरे भारी उद्योगों का बहुत ही छोटे पैमाने पर आरंभ मात्र हो सका था। औद्योगिक विकास में उपयुक्त मशीनों और टेकनीकल लोगों की कमी के कारण बराबर कठिनाई होती रही और उनको हल करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। यातायात की कठिनाई भी रहीं।

द्वितीय महायुद्ध के समय भारत के औद्योगिक विकास के मार्ग में जो कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं उनका हमने ऊपर उल्लेख किया है। इस कारण से जितनी औद्योगिक उन्नति इस देश में हो सकती थी उतनी अवश्य नहीं हो सकी। पर फिर भी किसी हद तक युद्ध ने औद्योगिक उन्नति में सहायता पहुँचाई, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। कई उद्योग-धन्धों में—जो पहले से ही मौजूद थे—अधिक से अधिक संभव उत्पादन होने लगा और प्राय: एक से अधिक पाली में काम होने लगा। जिन पुराने उद्योगों को प्रोत्साहन मिला उनमें से खास-खास के नाम ये हैं—वस्त्र-उद्योग, जूट-उद्योग, कागज का उद्योग, चाय का उद्योग, शकर का उद्योग, लोहे और इस्पात का उद्योग, कोयले का उद्योग, सीमेण्ट का उद्योग। इनमें से कुछ उद्योगों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं रही जितनी दूसरे उद्योगों की। उदाहरण के लिए कोयले तथा शकर के उद्योगों को कई कठिनाइयाँ रहीं। कई उद्योगों में नई मशीनें लगाई गईं और कुछ आधारभूत उद्योगों की स्थापना हुई। छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का भी काफी प्रसार हुआ और अनेकों प्रकार का सामान तैयार होने लगा। कई नए उद्योगों का भी, या ऐसे उद्योगों का जो सर्वथा प्रारंभिक अवस्था में थे, युद्ध-काल में विकास हुआ। जैसे—हवाई जहाज तैयार करने वाली हिन्दुस्तान एयरक्रैफ्ट फैक्टरी की १९४० में स्थापना हुई। इसी प्रकार एलूमिनियम उद्योग की शुरूआत भी इसी समय हुई। म्यूनिशन्स (युद्ध-सामग्री) और शस्त्रों के उद्योग को युद्ध के समय काफी प्रोत्साहन मिलना बिल्कुल स्वाभाविक था। रोजर मिशन ने, जो १९४० में भारत में आया, युद्ध-सामग्री संबधी उद्योग-धन्धों के विकास की सिफारिश की, जिसके परिणामस्वरूप कई करोड़ रुपये खर्च करके मौजूदा कारखानों का विस्तार किया गया और कई नए कारखाने बन्दूकों, गोलों, कारतूसों, बम गोलों और अन्य चीजों का उत्पादन करने के लिए स्थापित किये गए। रासायनिक पदार्थ, जैसे सल्फ्युरिक एसिड, क्लोराइन, बोरिक एसिड और

अल्काली पदार्थ जैसे सोडा आदि के उत्पादन को भी युद्ध के समय में प्रोत्साहन मिला। कई प्रकार की दवाइयों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। युद्ध के पहले भारत में बड़े पैमाने पर व्यवस्थित ढंग से मशीनरी या मशीन और टूल्स का उत्पादन नहीं होता था, यद्यपि कहीं-कहीं मशीनरी के भाग अथवा हल्के ढंग की कृषि और शकर की मशीनरी का उत्पादन अवश्य होता था। कुछ कारखानों में अपने ही काम के लिए मशीन और टूल्स भी तैयार होते थे और बाजार में बिकने के लिए सादे खराद (लेथ) तथा ड्रिलिंग, शेपिंग और प्लानिंग मशीनें भी तैयार होती थीं। युद्ध के कारण मशीन और टूल के कारखानों को प्रोत्साहन मिला, पर पेचीदा मशीनरी का उत्पादन फिर भी आरंभ नहीं हुआ। बाइसिकिल के उद्योग भी इस देश के लिए नए थे और उनका भी इसी युद्ध-काल में आरंभ हुआ। लोहे के रॉड, वायर, और वायरनेल्स का उत्पादन भी बढ़ा और इस प्रकार का उत्पादन करने वाले नए कारखाने भी खुले। कई प्रकार की नई चीजें भी इन कारखानों में पैदा की जाने लगीं।

उपर्युक्त विवरण से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि सरकार की धीमी नीति तथा दूसरी कठिनाइयों के होते हुए भी महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योगों का विस्तार हुआ। निम्नलिखित तालिका से इस विस्तार की सीमा का अनुमान लगाया जा सकेगा।

औद्योगिक उत्पादन

१९३७=१००

वर्ष	सामूहिक	सूती वस्त्र उद्योग	जूट उद्योग	इस्पात उद्योग	रासायनिक पदार्थ	कागज	सीमेंट	शकर
१९३८	१०५·४	१०९·०	९८·३	१०८·०	८४·४	१२१·६	१२४·८	८८·७
१९३९	१०२·७	१०४·३	९२·४	१२५·०	१०३·९	१३५·१	१५२·९	६२·५
१९४०	१०९·९	१०३·६	९६·१	१२५·५	१३३·३	१६९·७	१५२·१	१०६·०
१९४१	११७·८	११४·८	९२·४	१३१·१	१५३·२	१८५·४	१८५·८	१०८·२
१९४२	१११·२	१०२·०	९९·५	१३६·७	१३८·७	१८०·९	१९४·५	७८·४
१९४३	११७·०	११७·०	८४·४	१४१·५	१३८·६	१७९·२	१८८·४	९५·३
१९४४	११७·०	१२२·९	८६·७	१३९·६	१२६·३	१९२·७	१८२·१	९७·१
१९४५	१२०·०	१२०·०	८४·४	१४२·९	१३४·१	१९६·५	१९६·५	८५·५
१९४६	१०९·०	१०१·९	८४·६	१३०·०	१११·२	१९३·४	१९३·४	८०·५

भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार का कार्यालय

उद्योग-धन्धों के विकास सम्बन्धी उपर्युक्त तालिका से यह साफ हो जाता

है कि द्वितीय महायुद्ध का औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से बहुत लाभ नहीं उठाया जा सका। और इस असंतोषजनक स्थिति का मूल कारण एक ही था, और वह था हमारी पराधीनता।

दूसरे महायुद्ध के उपरान्त—गत महायुद्ध ने किस हद तक देश की औद्योगिक प्रगति में सहायता दी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। युद्ध के पश्चात् देश की आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय और प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीय विकास की योजनाएं लागू की जाएँ, इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण की केन्द्रीय और तत्कालीन प्रान्तीय सरकारों ने योजनाएँ तैयार कीं। औद्योगिक उन्नति से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ गैरसरकारी योजनाएं भी प्रकाशित हुईं—जैसे बिड़ला योजना जिसे बोम्बे योजना भी कहा जाता है, गांधीवादी योजना, जनता योजना। इसी बीच में भारत स्वतन्त्र हो गया और देश का विभाजन कर दिया गया।

भारत के विभाजन का प्रभाव—गत महायुद्ध के पश्चात् इस देश के जीवन में देश के स्वतन्त्र होने और उसके विभाजन की ऐसी दो ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी हैं जिनका असर हमारे आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ा है और आगे पड़ेगा भी। जहाँ देश की स्वतन्त्रता के कारण हमारे भाग्य के हम स्वयं निर्माता बन गए हैं और अपनी इच्छानुसार राष्ट्र की प्रगति कर सकते हैं, वहाँ देश के विभाजन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन की बड़ी हानि हुई है और उसकी प्रकृति-दत्त संपूर्णता को भारी धक्का लगा है। देश के विभाजन से भारत के आर्थिक जीवन पर क्या क्या असर पड़ा है इसके बारे में हम यहाँ कुछ मोटी-मोटी बातों का संकेत मात्र करेंगे। विभाजन के कारण लाखों आदमी एक देश से दूसरे देश को अत्यन्त अशांति और विवशता की हालत में आये। इसका असर दोनों ही देशों की जनसंख्या के पेशेवार बटवारे पर पड़ा और लाखों मनुष्यों को आर्थिक बर्बादी का सामना करना पड़ा। स्पष्ट है, इसका असर आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत बुरा पड़ा। देश के बटवारे का दूसरा बुरा असर यह पड़ा कि कपास तथा जूट जैसे महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिये भारत पाकिस्तान पर बहुत निर्भर होगया। जूट की सब मिलें हिन्दुस्तान में आगईं पर जूट पैदा करने वाली अविभाजित भारत की केवल एक चौथाई भूमि हिन्दुस्तान को मिली। इसी प्रकार अविभाजित भारत की ९९% सूती वस्त्र की मिलें भी हिन्दुस्तान में हैं पर १० लाख बेल लम्बे तथा बीच के रेशे के कपास के लिए भारत पाकिस्तान पर निर्भर है। पश्चिमी पंजाब और सिंध के पाकिस्तान में होने से सिंचाई की कई बड़ी-बड़ी नहरें भारत में आज नहीं रहीं और सिंध और

पश्चिमी पंजाब जैसे खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले प्रदेशों के भारत से अलग होजाने का असर हमारी खाद्यस्थिति पर बुरा पड़ा। खनिज पदार्थों के उत्पादन का जहाँ तक सम्बन्ध है उसका ९७% भारत और केवल ३% पाकिस्तान में होता है। पाकिस्तान में कोयले और लोहे का बड़ा अभाव है। सारांश यह है कि देश के बँटवारे से भारत के औद्योगिक विकास के लिए कई प्रश्न उपस्थित हो गए।

देश के इस बटवारे की पृष्ठभूमि में यदि हम द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की औद्योगिक प्रगति का विचार करें तो हम देखेंगे कि युद्ध के समय जो उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला वह बाद में स्थायी नहीं रह सका। कई ऐसे कारण इकट्ठे होगए जैसे यातायात की कठिनाई, उद्योगपतियों और मजदूरों के आपसी सम्बन्धों में खिंचाव और बिगाड़, कच्चे माल की कमी और उसके प्राप्त करने और बाँटने के तरीकों में पाए जाने वाले दोष, मशीन आदि पूँजी-वस्तुओं को प्राप्त करने और इमारत के सामान मिलने की कठिनाई तथा टेकनीकल लोगों की कमी, जिनका परिणाम यह हुआ कि देश में धीरे-धीरे एक औद्योगिक संकट पैदा होने लगा। इसी बीच में १५ अगस्त १९४७ को हम स्वतन्त्र हुए और राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ। उस समय देश की औद्योगिक स्थिति अच्छी नहीं थी और दिसम्बर १९४७ में जो उद्योग-धन्धों का सम्मेलन हुआ उसने यह अनुभव किया कि देश में चारों ओर उत्पादन-क्रिया में शिथिलता आरही है। इस सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार किया और राष्ट्रीय सरकार के सामने कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये। राष्ट्र के नेताओं और मंत्रियों ने जो वक्तव्य समय-समय पर दिये और राष्ट्रीयकरण का जो वातावरण पैदा किया जाने लगा उससे भी देश के आर्थिक जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता आ गई थी। विनियोग बाज़ार में मन्दी का साम्राज्य था और आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति का मार्ग रुक-सा गया था। उद्योग-धन्धों सम्बन्धी सम्मेलन ने इसलिए यह सिफ़ारिश की कि सरकार को अपनी औद्योगिक नीति की स्पष्ट घोषणा करनी चाहिये और राजकीय तथा व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्रों को सुनिश्चित कर देना चाहिये। इसी उद्देश्य को लेकर ६ अप्रेल, १९४८ को भारत सरकार ने अपना औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रकाशित किया।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति:—देश की भावी औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से इस प्रस्ताव के महत्त्व को देखते हुए इसके सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखना आवश्यक है। इस प्रस्ताव में सरकार ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार किया है जिसमें सब व्यक्तियों को समान रूप से न्याय और विकास का अवसर मिल सके। पर तत्काल उनका उद्देश्य लोगों

के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना और इस दृष्टि से देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करना, उत्पादन बढ़ाना और सब को राष्ट्र की सेवा में काम देना है। सरकार ने इसके लिए आर्थिक योजना के महत्त्व को स्वीकार किया और एक प्लानिंग कमीशन नियुक्त करने के अपने विचार का प्रकाशन किया। सरकार ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि देश की मौजूदा अवस्था में उत्पादन बढ़ाने का और खास तौर से उत्पादक वस्तुओं और निर्यात की वस्तुओं की उत्पादन-वृद्धि का बड़ा महत्त्व है। साथ ही साथ न्यायपूर्ण बटवारे की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया। सरकार ने यह भी माना कि भविष्य में औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध में उसको अधिकाधिक क्रियात्मक भाग लेना पड़ेगा; पर राज्य के पास जो धन और जन सम्बन्धी साधन हैं उनका इस मामले में बराबर ध्यान रखना होगा। जहाँ तक राजकीय और व्यक्तिगत उत्पादन क्षेत्रों के बटवारे का प्रश्न है, उद्योग-धंधों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। पहिली श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो केवल राज्य द्वारा ही संचालित किये जाएँगे—जैसे शस्त्र और सैनिक सामग्री [एम्यूनिशन] संबंधी उद्योग, एटोमिक शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण, तथा रेलवे-यातायात। संकट-काल में राज्य को हमेशा यह अधिकार होगा कि राष्ट्रीय रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण किसी भी उद्योग को वह अपने अधिकार में करले। दूसरी श्रेणी में उन उद्योगों की गिनती होती है जो जहाँ तक उनके क्षेत्र में नए कारखाने खोलने का प्रश्न है राज्य के लिए ही सुरक्षित हैं, यद्यपि राज्य को, यदि राष्ट्र के हित में आवश्यक मालूम पड़े तो, आवश्यक नियंत्रण के साथ व्यक्तिगत उत्पादन का सहयोग लेने का भी अधिकार होगा। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाज़-निर्माण, जहाज निर्माण, टेलीफ़ोन, टेलीग्राफ़ और वायरलेस एपेरेटस का उत्पादन [रेडियो रिसीविंग सेट के अलावा], और जमीन में से निकलने वाले तेल सम्बन्धी उद्योग इस श्रेणी में आते हैं। इन उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले जो मौजूदा कारख़ाने आदि हैं उनका दस वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नहीं होगा और उनको भली प्रकार चलने और उचित विस्तार के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जायँगी। दस वर्ष के बाद इस बारे में विचार किया जाएगा और यदि सरकार किसी कारखाने का राष्ट्रीयकरण करेगी तो उचित मुआवजा दिया जायगा। राजकीय उद्योगों के प्रबन्ध के लिए राज्य के कानूनी नियंत्रण में पब्लिक कारपोरेशन स्थापित किये जाएँगे जिन पर सरकार का आवश्यक नियंत्रण होगा। बिजली की शक्ति का उत्पादन और वितरण इस सम्बन्ध में

बने कानून के अनुसार होगा। इस कानून के अन्तर्गत सेन्ट्रल इलेक्ट्रिसिटी कमीशन कायम किया जा चुका है। तीसरी श्रेणी में बाकी के सब उद्योग शामिल हैं और व्यक्तिगत उत्पादन के लिए उनमें पूरी स्वतन्त्रता है; पर राज्य भी इस क्षेत्र में अधिकाधिक भाग लेगा और यदि उद्योग-धंधों की भावी उन्नति के लिए आवश्यक मालूम पड़ेगा तो राज्य को हस्तक्षेप करने में भी संकोच नहीं होगा। इस सम्बन्ध में दामोदर घाटी-योजना, हीराकुड-बाँध आदि का उल्लेख किया गया था।

उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के अलावा कई ऐसे आधारभूत धंधे हैं जिनका आयोजन और नियंत्रण राष्ट्रीय हित में केन्द्रीय सरकार द्वारा होना आवश्यक समझा गया। इन धन्धों में पूँजी बहुत चाहिये, ऊँचे दर्जे का टेकनिकल कौशल चाहिये और उनकी स्थिति का देशव्यापी महत्त्व के आर्थिक कारणों को ध्यान में रखकर निश्चय करना चाहिये। नमक, मोटर-ट्रेक्टर, इलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग, मशीन-टूल्स, भारी रासायनिक पदार्थ, खाद, ऊनी-सूती वस्त्र-उद्योग, सीमेन्ट, शक्कर, कागज, खनिज पदार्थ, रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले उद्योग, हवाई और समुद्री यातायात, अलोह धातु आदि उद्योगों का समावेश इस श्रेणी में होता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में भारत सरकार राज्य की सरकारों तथा उद्योग-पतियों और मजदूरों के प्रतिनिधियों से भी सलाह करेगी, यह भी स्पष्ट किया गया था। औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव में बड़े और छोटे पैमाने के उद्योग-धंधों के महत्त्व को स्वीकार किया गया और केन्द्र में गृह-उद्योग मंडल स्थापित करने का विचार किया गया। देश भर में सहकारी आधार पर छोटे-छोटे उद्योग स्थापित करने पर जोर दिया गया। मजदूर और मालिक के सम्बन्ध को ठीक करने पर भी जोर दिया गया और इस दृष्टि से मजदूरों को उचित मजदूरी तथा लाभ में हिस्सा और पूँजी को उचित पुरस्कार मिले यह आवश्यक माना गया। एक केन्द्रीय सलाहकार समिति स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया और उसी प्रकार राज्यों में समितियाँ बनाने की बात सोची गई। केन्द्रीय और राज्य की सलाहकार समितियों के नीचे देश भर या राज्य भर के लिए खास-खास उद्योगों के लिए कमेटी बनाने का निश्चय हुआ। प्रान्तीय समितियों के नीचे हर बड़े कारखाने के साथ एक मजदूर-समिति और एक उत्पादन-समिति कायम करने का प्रस्ताव किया गया। केन्द्रीय और राज्य की समितियों में सरकार, उद्योग और मजदूर तीनों के प्रतिनिधि और बाकी की दो समितियों (मजदूर-समिति और उत्पादन-समिति) में मिल मालिकों और मजदूरों के बराबर प्रतिनिधि रहेंगे, ऐसा निश्चय किया गया। मिल मालिकों और मजदूरों

के सम्बन्ध इस तरह से अच्छे रह सकेंगे, यह आशा की गई। स्थायी इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल बनाने की कार्यवाई भी की गई। औद्योगिक मकान-व्यवस्था में सुधार करने पर भी जोर दिया गया। विदेशी पूँजी की देश को आवश्यकता है, यह स्वीकार किया गया। इस सम्बन्ध में एक कानून बनाने का प्रस्ताव किया गया जिसमें इस बात का अवश्य समावेश हो कि विदेशी पूँजी लगे उद्योगों का वास्तविक नियन्त्रण और स्वामित्व भारतीय हाथों में रहे। अन्तिम बात इस प्रस्ताव में टेरिफ नीति के बारे में कही गई कि अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाएगा और उपभोक्ताओं पर बिना अनुचित भार डाले भारत के साधनों का उपयोग किया जाएगा।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव को ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि सरकार के सामने एक ओर तो यह उद्देश्य है कि देश का उत्पादन बढ़े और दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित करके एक मिली-जुली अर्थव्यवस्था कायम करने की इच्छा है। मिली-जुली अर्थव्यवस्था का विचार तो कोई नया नहीं है, बल्कि जो व्यवस्था आज चल रही है वह भी मिली-जुली व्यवस्था ही है। पर इस प्रस्ताव की विशेषता इस बात में है कि यह पहले से ही निश्चित कर दिया गया है कि अमुक-अमुक धंधे तो राज्य द्वारा ही संचालित होंगे। इस बटवारे के पीछे सरकार का दृष्टिकोण तो यह था कि व्यक्तिगत उत्पादन के लिए एक प्रकार की जो अनिश्चितता अब तक रही है वह दूर हो जाय। पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। यद्यपि कुछ उद्योगों के बारे में यह स्पष्ट हो गया कि उनका संचालन सरकार द्वारा ही होगा, पर दूसरे उद्योगों के बारे में यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि उनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा। पूँजी-पतियों के लिए अनिश्चितता का यह एक बड़ा आधार बना हुआ है।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति के संबंध में एक बात यह कही जाती है कि यह नीति व्यवहार में सुनिश्चित नहीं रही है और उसमें और राज्य की सरकारों की नीति में सामञ्जस्य का अभाव रहा है। कभी-कभी भारत सरकार के ही विभिन्न विभागों में सामञ्जस्य का अभाव देखने को मिला है। इन बातों के उदाहरण स्वरूप जैसे यह कहा जाता है कि यद्यपि भारत सरकार कहने को यह कहती रही है कि सरकार के पास राष्ट्रीयकरण के लिए आज आवश्यक साधन नहीं हैं, पर व्यवहार में कुछ राज्यों की सरकारों ने बिजली उत्पादन करने वाली कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में कदम उठाया है। इसी प्रकार सड़क-याता-यात के राष्ट्रीयकरण की बात है। भारत सरकार की योजना में सड़क-यातायात

के राष्ट्रीयकरण को स्थान नहीं होते हुए भी राज्यों की सरकारों ने सड़क-यातायात के राष्ट्रीयकरण का कदम उठाया है। इसके अलावा भारत सरकार और राज्य की सरकारों ने सरकारी तौर पर कई उद्योग-धन्धे भी स्थापित किये हैं और करने की योजना भी है। जैसे भारत सरकार दो लोहे और इस्पात के कारखाने और मशीन-टूल उद्योग का एक कारखाना स्थापित करने की सोच रही है। सिंदरी खाद फैक्टरी की स्थापना भी भारत सरकार ने की है। सारांश यह है कि केन्द्रीय और राज्य की सरकारों की इस नीति के परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्र में एक प्रकार की अनिश्चितता रही है और उसका असर देश की भावी औद्योगिक उन्नति पर बुरा पड़ रहा है। भारत सरकार ने उद्योग-धन्धों के नियंत्रण के संबंध में जो कानून बनाया है उसे भी व्यवसायी वर्ग ने बहुत आपत्तिजनक बताया है। इसी प्रकार मज़दूर-हितकारी कानूनों के बारे में भी पूँजीपतियों का विरोध रहता आया है। उनका कहना है कि इस प्रकार उत्पादन की लागत में वृद्धि होती जाती है और उसका असर औद्योगिक विकास पर बुरा पड़ता है। परन्तु हमारा ऐसा विचार है कि सरकारों के ऊपर इस तरह से दोष डालकर पूँजीपति वर्ग अपने दायित्व और दोषों से बचने का प्रयत्न करता है। वास्तविक स्थिति यह है कि इस देश के व्यवसायी वर्ग ने देश के प्रति अपने दायित्व को बिल्कुल नहीं निभाया है। कभी राज्य की नीति की आड़ में और कभी मजदूरों की अनुचित मांगों और उनके कारण बढ़ने वाली उत्पादन-लागत की आड़ में उसने अपने कर्त्तव्य की बराबर अवहेलना की है। उन्होंने अपने कल-कारखानों में नवीनतम मशीनें लगाने और योग्य टेक-निकल लोगों की सेवाएँ लेने में बराबर ढिलाई की है। आज भी इस देश का पूँजीपति वैज्ञानिक खोज पर रुपया खर्च करना अपव्यय समझता है। प्रबंध, हिसाब और बिक्री के क्षेत्र में जो नई-नई पद्धतियाँ निकल रही हैं उनका वह उपयोग करने की चिन्ता नहीं करता। साहसपूर्वक नए-नए क्षेत्रों में उत्पादन करने का वह कोई प्रयत्न नहीं करता और अपनी पूँजी और लाभ का उपयोग परिकल्पनात्मक कामों में करता है। व्यवसायिक नैतिकता का उनका स्तर बहुत ही नीचा है। मजदूरों के साथ आज भी वह उदारता और न्याय का व्यवहार नहीं करना चाहते। इन सब बातों का अर्थ यह है कि भारत का व्यवसायी राष्ट्र निर्माण के काम में अपना उचित योग देने को आज तैयार नहीं है। और जनतंत्रीय शासन में सरकार पर जन-कल्याण की दृष्टि से जो बढ़ी हुई जिम्मेदारियाँ आती हैं और जिनके कारण देश के आर्थिक जीवन में उसे अधिकाधिक क्रियाशील होना पड़ता है, उस परिस्थिति से अभी वह अपना मेल नहीं बिठा सका है। आज तो ऐसा लगता है कि भारत का व्यवसायी वर्ग अपने लाभ को सुरक्षित रखने के लिए सरकार से एक भिन्न

हुआ संघर्ष कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को समझे और जन-कल्याण और देश के आर्थिक नवनिर्माण में उचित योग दे। इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार की नीति में कोई दोष ही नहीं रहा है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विभिन्न सरकारें देश के आर्थिक जीवन का जहाँ तक सम्बन्ध है एक सी नीति बरतें और उनका आपस में पूरा-पूरा सहयोग हो। इसके अलावा विभिन्न कामों के बीच में आज हमें प्राथमिकता निश्चित करने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे सामने काम बहुत हैं और हमारे साधन सीमित है। ऐसी दशा में हमें किस काम को पहले करना है और किस को बाद में यह सोच-विचार कर निश्चय करना चाहिये। इस बात की भी आवश्यकता है कि सरकार के आर्थिक निर्णय स्थिर हों। इस बात की अभी तक बड़ी कमी रही है। देश की नियंत्रण-व्यवस्था अथवा जो बड़ी-बड़ी बहु उद्देश्यीय योजनाएँ (दामोदर घाटी योजना, हीराकुड बांध आदि) आज चल रही हैं, उनके संबंध में सरकार की नीति में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। इसका असर आर्थिक जीवन पर घातक पड़ता है। इस बात की भी आवश्यकता है कि सरकारी उद्योगों के संचालन का काम साधारण राज्य-कर्मचारी वर्ग के लोगों को, जो स्वभाव और शिक्षा तथा अनुभव से केवल यंत्रवत् काम करने के अभ्यस्त हैं, न सौंपे, बल्कि इस क्षेत्र के जानकार लोगों के हाथ में यह काम दे। इसके लिए देश में एक नए कर्मचारी वर्ग (इकोनोमिक सर्विस) का निर्माण करना होगा। देश में टेकनीकल आदमियों की भी बड़ी कमी है। इस कमी को भी पूरा करना होगा और यह देखना होगा कि जो टैकनिकल आदमी तैयार होते हैं वे देश की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किये जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए एक सुव्यवस्थित और सुनिश्चित योजना की आवश्यकता है और उस योजना को कार्यान्वित करने में राज्य, उद्योगपति और मजदूरों का आपस में पूरा-पूरा सहयोग जरूरी है। देश को एक ओर तो इस बात की जरूरत है कि उसके निवासियों की खाने, कपड़े और मकान आदि की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की तत्काल पूर्ति हो, दूसरी ओर ऐसे आधार भूत उद्योग के विकास का प्रश्न है जो आधुनिक ढंग की औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक है। और यह सब आज की आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में हमें करना है जब कि विनियोग पूँजी का देश में अकाल-सा है, टेकनिकल और मशीनों आदि पूँजी-वस्तुओं के लिए हमें विदेशों पर बहुत निर्भर रहना पड़ता है, जन-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है और खाने-कपड़े का प्रश्न तत्काल हल करने की आवश्यकता है। इन तमाम परिस्थितियों में

से निकल कर सफल आर्थिक और औद्योगिक नीति का निर्माण करना हमारी सबसे बड़ी आर्थिक आवश्यकता है। मार्च १९५० में इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने योजना-आयोग (प्लानिंग कमीशन) की स्थापना की। योजना-आयोग की प्रस्तावित पंचवर्षीय योजना प्रकाशित हो चुकी है। इस सम्बन्ध में हमने अलग परिच्छेद में विस्तार पूर्वक विचार किया है। योजना-आयोग की रिपोर्ट की देश भर में आलोचना हुई है और शीघ्र ही आयोग अपनी पक्की रिपोर्ट प्रकाशित करने वाला है। देश के भावी आर्थिक विकास का आधार यही पंचवर्षीय योजनाएं होगी।

औद्योगीकरण से लाभ :—प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भारत के लिए औद्योगीकरण लाभप्रद होगा ? यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि औद्योगीकरण से तात्पर्य बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों की स्थापना से है। अस्तु, हमें आधुनिक उद्योग-धन्धों और भारत की दृष्टि से उनका क्या उपयोग है, इस विषय पर थोड़ा विचार करना चाहिये।

कई बार आधुनिक उद्योग-धन्धों की बिना सोचे-समझे विभिन्न कारणों को लेकर बहुत आलोचना होती हुई देखी गई है। इस प्रकार की आलोचनाओं का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो मालूम होगा कि विचारों की अस्पष्टता उनका एक बड़ा आधार है। एक उदाहरण लीजिए। जो लोग आधुनिक उद्योगों के पक्ष में नहीं हैं उनकी ओर से एक बात यह कही जाती है कि भारत में पूँजी का अभाव और श्रम का बाहुल्य होने से बड़े पैमाने के उद्योग उसके लिए उपयुक्त नहीं हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि श्रम और पूँजी सम्बन्धी कारणों को इस प्रकार जोड़ना उचित नहीं है। यह एक अलग बात है कि चूँकि भारत में श्रम की अधिकता है इसलिए हम ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन न दें जिनमें अधिकांश काम मशीनों द्वारा ही हो जाता हो और जिनमें मजदूरों के लिए अपेक्षाकृत कम जगह हो। पर भारत जैसे प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश के लिए केवल द्रव्य पूँजी (मनी केपिटल) की कमी के कारण यह राय बनाना कि आधुनिक उद्योगों की दृष्टि से उसके पास साधन नहीं हैं, विचार-भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। द्रव्य पूँजी की उपलब्ध मात्रा का असर हमारे देश की औद्योगिक उन्नति की गति पर तो पड़ सकता है पर उसको देश के लिए आधुनिक उद्योगों की उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का आधार बनाना सर्वथा गलत है। चालू पूँजी की स्थिति को सुधारने का जहाँ तक सवाल है कई उपाय मौजूद हैं। देश की बैंकिंग और साख-व्यवस्था और उस सम्बन्धी नीति में आवश्यक सुधार करने से, उचित

शर्तों पर विदेशों से पूँजी उधार ले करके, तथा अनुकूल मुद्रा नीति अपना कर देश की चालू पूँजी की समस्या का हल निकाला जा सकता है। औद्योगिक उन्नति स्वयं ही आने के लिए अधिक पूँजी प्राप्त करने का एक साधन है। सारांश यह है कि श्रम और पूँजी सम्बन्धी तर्क को एक साथ मिला देना सही नहीं है।

भारत के लिए औद्योगिक प्रसार की आवश्यकता पर विचार करते समय हमारे सामने कई बातें स्पष्ट होनी चाहियें। सबसे मूल बात यह है कि किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य केवल आर्थिक हित की पूर्ति करना नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानव-हित की, आर्थिक हित जिसका एक अङ्ग मात्र है, पूर्ति करना है। हमें अपने समस्त साधनों का इसी दृष्टि से उपयोग करना है। इसी दृष्टि से हमें ये प्रश्न हल करने हैं कि किसी देश में कृषि, गृह-उद्योग और बड़े उद्योगों को कितना-कितना स्थान मिलना चाहिये। जिसे हम संपूर्ण मानव-हित कहते हैं उसमें एक तरफ तो इस बात का समावेश हो जाता है कि जनता के जीवन-यापन का एक स्वस्थ मापदण्ड हो, और दूसरी ओर उसमें यह बात भी आती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करने का समान और यथेष्ट अवसर हो। यह तभी संभव हो सकता है जबकि देश में एक ऐसी न्याययुक्त समाज-व्यवस्था हो जिसमें अधिकतम उत्पादन, न्याययुक्त वितरण और मनुष्यत्व के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण—इन तीनों में समुचित संन्तुलन सम्भव हो सके। इसीलिए कृषि अथवा उद्योग किसी एक के प्रति पक्ष-विपक्ष का भाव लेकर चलना उचित नहीं कहा जा सकता।

दूसरे हमें औद्योगिकवाद और पूँजीवाद के भेद को भी स्पष्ट समझना चाहिये। एक के दोषों को दूसरे के दोषों के साथ न मिलाया जाय। पहले बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों में क्या-क्या दोष हैं इसी पर विचार किया जाए। बड़े उद्योगों के विरुद्ध एक आम शिकायत यह है कि मिल के काम करने वाले अधिकांश मजदूरों को ऐसा काम करना पड़ता है जिससे उनकी रचनात्मक शक्ति का विकास नहीं हो सकता और इसीलिए उनका काम उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता नहीं पहुँचाता। पर इस सम्बन्ध में कई बातें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि यह दोष केवल बड़े-बड़े मशीन-उद्योगों में ही नहीं है। दस्तकारी के ऐसे बहुत काम हैं जिनके द्वारा काम करनेवाले की रचनात्मक शक्ति का विकास नहीं होता और जो नीरस होते हैं। इसके अलावा मशीन पर काम करने वालों में मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने

वाले कुछ गुणों का, जैसे बुद्धि, जिम्मेदारी और सावधानी का, अपेक्षाकृत अधिक विकास होता है। उनको इस बात का भी अवसर रहता है कि वर्तमान मशीनों में क्या-क्या सुधार हो सकता है इस विषय में विचार करें। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि आधुनिक मशीन का कई पुरानी हाथ की दक्षताओं और कारीगरियों पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पर साथ ही साथ उसने कई ऐसी नई कुशलताओं के लिए रास्ता भी खोल दिया है जिनकी आवश्यकता टेकनिकल योग्यता, विभिन्न प्रकार के उद्योगों में काम कर सकने की उपयुक्तता, नए सुधार सोचने की शक्ति, और निर्णय-बुद्धि के लिए होती है। यह भी सही है कि मशीन के काम में एक हद तक नीरसता है, लेकिन इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मशीन ने बहुत से थका देने वाले और भारी कामों को अपने ऊपर ले लिया है और एक ही प्रकार की क्रिया को बार-बार दुहराने से जो नीरसता पैदा होती है उसका अन्त कर दिया है। क्योंकि ऐसे कामों को ही मशीन आसानी से कर सकती है। यही कारण है कि इस तरह के नीरस कामों से छुटकारा पाने के लिए मशीन के उपयोग के क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता है न कि उसे कम करने की। मशीन से होने वाले कुछ और भी लाभ हैं जैसे काम का जल्दी हो जाना, मनुष्य में कई प्रकार के नए काम करने की शक्ति उत्पन्न होना, श्रम को स्थानान्तर करने की सुविधा बढ़ जाना आदि, जिनको हमें भूलना नहीं चाहिये।

आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध सामाजिक हित की दृष्टि से एक आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि उनके द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण होता है। इस आपत्ति में बहुत कुछ तथ्य है और यह भी किसी हद तक ठीक है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से यह आपत्ति नहीं मिट जाती। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथ में आर्थिक सत्ता होगी वे उसका अच्छे अथवा बुरे के लिए अवश्य ही उपयोग कर सकेंगे, फिर चाहे यह व्यक्ति स्वतन्त्र व्यवसायी हों या समाजवादी सरकार के कर्मचारी। यह भी ठीक ही है कि जब तक मनुष्य-स्वभाव में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो जाता और मनुष्य राष्ट्र के प्रति अपने नैतिक कर्तव्य की भावना से पूर्णतया ओतप्रोत नहीं हो जाता तब तक उसके द्वारा उसके हाथ में केन्द्रित सत्ता के उपयोग की अपेक्षा दुरुपयोग की संभावना अधिक रहेगी। यह ठीक है कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, जबकि मुनाफ़ा-वृत्ति की जगह समाज-सेवा की भावना ले लेगी, समस्त समाज के वातावरण में एक अवश्यंभावी परिवर्तन होगा जिसका कि प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर अवश्य ही अच्छा होगा। इसके साथ-साथ यदि जनतंत्रीय

समाज का समुचित नियंत्रण भी रहे तो समाजवादी व्यवस्था के अन्दर केन्द्रित आर्थिक सत्ता से उत्पन्न होने वाले खतरे अवश्य ही बहुत कुछ कम हो सकते हैं।

मशीन-उद्योगों के कुछ और दोष भी हैं। आज के युग में पाए जाने वाले आर्थिक शोषण, बेकारी और विभिन्न राष्ट्रों के आपसी साम्राज्यवादी झगड़ों का कारण भी आधुनिक उद्योगवाद ही बताया जाता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि आरम्भ में मशीन-उद्योगों की स्थापना के साथ साथ मजदूर तथा आम जनता के हितों की रक्षा का ध्यान नहीं रखा जा सका। आर्थिक जीवन का आधार किसी प्रकार की योजना नहीं रही। पर जैसे-जैसे समाज और मजदूर-हित के कानून बनने लगे हैं और राज्य ने एक न एक सीमा तक आर्थिक जीवन को आयोजित करने का प्रयत्न करना शुरू किया है, मशीन-उद्योग के साथ-साथ उत्पन्न आर्थिक शोषण और बेकारी जैसे दोषों को कम किया जा सका है। यह अवश्य है कि उद्योगों की पूँजीवादी व्यवस्था जिस हद तक समाज में निर्बाध रूप से रहेगी उस हद तक उपर्युक्त दोष भी मशीन-उद्योग के साथ बने रहेंगे।

मशीन उद्योगों के बारे में जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे इसी विचार की पुष्टि होती है कि यह कहना कि मशीन-उद्योग सर्वथा बुरे हैं अथवा सर्वथा अच्छे, ठीक नहीं है। अच्छाई अथवा बुराई इस बात पर बहुत निर्भर है कि किन परिस्थितियों और किस वातावरण में कौन से उद्योगों की स्थापना होती है। जहाँ तक भारत का संबंध है उसके बारे में भी हम यह नहीं कह सकते कि उसे मशीन-उद्योगों का सर्वथा बहिष्कार ही कर देना चाहिये। इसके कई कारण हैं। भारत अपने आप को संसार से सर्वथा अलग नहीं रख सकता और यह निश्चित है कि दुनियाँ आधुनिक मशीन-उद्योगों का बहिष्कार नहीं करने वाली है। दूसरे आधुनिक जीवन की आवश्यकताएँ, जिनमें देश की रक्षा का प्रश्न भी आजाता है, ऐसी हैं कि उनकी पूर्ति के लिए भी बड़े पैमाने के मशीन-उद्योगों को अपनाना पड़ेगा। तीसरे, हमारे सामने अपनी बढ़ती हुई जन संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न भी है। मशीन द्वारा उत्पादन थोड़े समय में और अधिक मात्रा में होता है और इसलिए बढ़ती हुई माँग को पूरी करने में उसकी आवश्यकता स्पष्ट है। भारतीय आर्थिक व्यवस्था में बड़े पैमाने के मशीन-उद्योगों को स्थान होगा, यह उक्त विवरण से समझ में आ जाता है। इतना अवश्य है कि समाज के हित में इन उद्योगों का यथेष्ट नियंत्रण होना चाहिए।

जब हम देश के औद्योगीकरण की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल बड़े-बड़े उद्योगों से ही नहीं होता। छोटे और बीच के दर्जे के उद्योगों का भी देश के औद्योगीकरण में स्थान है। बड़े बड़े उद्योगों से मिलने वाले लाभ के अतिरिक्त, देश के आर्थिक जीवन को औद्योगिक विकास से, जिसमें सब प्रकार के उद्योगों का विकास आ जाता है; और भी कुछ लाभ हैं जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

सबसे बड़ी बात तो यही है कि खेती की भूमि पर अत्यधिक जन-संख्या के भार को कम करने के लिए देश में नये धंधों के खोलने की आवश्यकता है। देश का औद्योगीकरण इस दिशा में सहायक होगा। इसके अतिरिक्त, देश के आर्थिक जीवन की खेती पर जो अत्यधिक निर्भरता आज पाई जाती है उसको कम करने का उपाय भी देश का औद्योगीकरण ही है। औद्योगिक विकास से हमारी राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी। इसका असर लोगों के जीवन-यापन के मापदण्ड को ऊँचा उठाना और उनकी कर देने की क्षमता को बढ़ाना होगा। इससे राज्य की आय भी बढ़ सकेगी ताकि राष्ट्र-निर्माण के कामों में वह अधिक व्यय कर सके। उद्योग-धन्धों के विस्तार से मध्यम श्रेणी के लोगों में भी बेकारी कम हो सकेगी।

देश के औद्योगिक उन्नति से उपर्युक्त आर्थिक लाभ तो होंगे ही पर उसका राष्ट्र के चरित्र पर भी अच्छा असर पड़ेगा। विभिन्न प्रकार की योग्यता और रुचि के लिए अवसर मिलने के साथ-साथ, देश की जनता में औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप और भी कई गुण पैदा हो सकेंगे। उदाहरण के लिए बौद्धिक जागरूकता, कार्य और विचार की निश्चितता, और रूढ़िवादिता का अभाव कुछ ऐसे गुण हैं जो कि औद्योगिक देशों के रहने वालों में साधारणतया पाये जाते हैं और जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए वांच्छनीय हैं।

देश के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में हमारा अन्तिम निष्कर्ष यही है कि भारत को एक निश्चित योजना के अनुसार अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर ध्यान देना चाहिए। यह उन्नति न केवल बड़े उद्योगों के क्षेत्र में बल्कि बीच के और छोटे उद्योगों के क्षेत्र में भी होना आवश्यक है। अब तक राष्ट्र की पराधीनता इस दिशा में एक बहुत बड़ी बाधा थी। इस बाधा के हट जाने के पश्चात् और भारत एक जनतंत्रीय गण राज्य घोषित हो जाने के बाद अब यह आशा रखी जा सकती है कि हमारा देश जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रगति करेगा।

परिच्छेद—२

उद्योग-धन्धे— प्रस्तुत प्रश्न

योजना की आवश्यकता—पिछले परिच्छेद से यह स्पष्ट है कि हमारे देश की उद्योग-धंधों संबंधी वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है और देश में औद्योगिक विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना देश के औद्योगीकरण के यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता कि आम जनता की जो दयनीय स्थिति आज है उसमें यथेष्ट सुधार हो सकेगा।

देश का औद्योगिक विकास सही और व्यवस्थित ढंग से हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास विकास की कोई निश्चित योजना हो। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यह संतोष का विषय है कि भारत सरकार का ध्यान इस ओर गया है और उसने देश की आर्थिक उन्नति के लिये एक पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया है। इस योजना के विषय में विस्तार से अलग एक स्वतंत्र परिच्छेद में विचार किया गया है। यहाँ तो इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि देश में अब तक जो भी उद्योग-धंधे स्थापित हुए उनकी एक बड़ी कमी यही रही है कि वे किसी निश्चित योजना के अनुसार स्थापित नहीं हुए। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकती है, जैसे एक ओर तो हमारे देश में सूती कपड़े, शक्कर आदि के उद्योगों का आवश्यकता से अधिक विस्तार हुआ और दूसरी ओर कई उपयोगी धन्धों, जैसे—मशीन और रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करने वाले उद्योगों की ओर गत महायुद्ध तक देश का कोई ध्यान नहीं गया। आवश्यकता से हमारा अर्थ मांग से है। "यदि कोई उद्योग ऐसा है जिससे कि अच्छा मुनाफा कमाना सम्भव है, तो उसमें उस समय तक पूँजी बराबर लगती ही जाती है जब तक कि उसमें पूँजी की मात्रा आवश्यकता से अधिक नहीं हो जाती और उस उद्योग से मुनाफे की कोई आशा नहीं रहती।" हमारे देश में अब तक उद्योग धन्धों का जिस प्रकार विकास हुआ है उससे यह भी स्पष्ट है कि कच्चा माल उत्पन्न करने वाले प्रदेश और औद्योगिक केन्द्र में कितनी दूरी है अथवा औद्योगिक केन्द्र और बाजार, जहाँ माल बिकने जाता है, उसमें कितनी दूरी है, इसका भी विशेष ध्यान नहीं रखा गया। और स्थानों की मिलों की अपेक्षा बम्बई की सूती कपड़े की मिलों की कठिनाई का यही कारण है कि बिना बाजार की सुविधा को देखे एक ही जगह नई मिलों का केन्द्रीकरण होता गया। इसी प्रकार की कठिनाई में देश की सीमेन्ट की मिलें फँस गई थीं। हमारे अव्यवस्थित औद्योगिक विकास का एक प्रमाण यह भी है कि बड़े बड़े उद्योगों का विकास करते समय यह बात बिल्कुल

सामने नहीं रखी गई कि उनका सम्बन्धित गृह-उद्योगों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। ऐसे गृह-उद्योगों को क्या हानि हो सकती है और उसको किस प्रकार कम किया जा सकता है इसका हमारे उद्योगपतियों अथवा तत्कालीन सरकार ने कभी विचार ही नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में जो थोड़ा बहुत औद्योगीकरण हुआ उसका भी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बुरा असर पड़ा। यदि हमारा औद्योगीकरण किसी योजना के आधार पर होता तो बहुत से उद्योगों को नष्ट होने से बचाया जा सकता था और नए बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का भी एकांगी विकास नहीं होता। अस्तु, भविष्य में सही और व्यवस्थित औद्योगिक प्रगति के लिए किसी निश्चित योजना का होना अत्यन्त आवश्यक है। उद्योग-धंधों सम्बन्धी योजना समस्त राष्ट्रीय योजना का एक अविच्छेद्य अङ्ग होना चाहिये, यह तो स्पष्ट ही है। इसका कारण यह है कि देश के उद्योग-धंधों में और कृषि तथा राष्ट्रीय जीवन के दूसरे आर्थिक और अन्य पहलुओं में एक न एक प्रकार का संतुलन होना तो आवश्यक है ही। राष्ट्रीय जीवन के किसी एक अङ्ग से सम्बन्ध रखने वाली योजना राष्ट्र भर के लिए जो संपूर्ण योजना हो उससे मेल खाती हुई तो होनी ही चाहिये।

निर्बाध व्यापार बनाम संरक्षण नीति:—देश की औद्योगिक उन्नति से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि विदेशों में तैयार माल के आयात निर्यात के सम्बन्ध में राज्य की क्या नीति हो। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में यह नीति दो प्रकार की हो सकती है। एक तो यह कि राज्य देश के उद्योगों को किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संरक्षण दे। दूसरी यह कि इस विषय में राज्य कुछ न करे और विभिन्न देशों से जो व्यापार होता है उसे निर्बाध रूप से होने दे। इसी को निर्बाध व्यापार की नीति कहते हैं। देखना यह है कि निर्बाध व्यापार और संरक्षण इन दोनों में से कौन सी नीति सही है।

निर्बाध व्यापार के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है कि इस नीति के अपनाने से प्रत्येक देश के लिए यह संभव हो सकता है कि वह अपने साधनों का उपयोग उन चीजों के उत्पादन में ही करे जिनका उत्पादन वह और चीजों की अपेक्षा दूसरे देशों से अधिक सस्ता कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक देश वही माल पैदा करेगा जिसके लिए वह सबसे अधिक आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है और दूसरे देशों से अपनी आवश्यकता की दूसरी चीजें मंगाएगा और दूसरे देशों को अपने यहाँ का तैयार माल भेजेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर एक ऐसा श्रम का विभाजन स्थापित किया जा सकता है जिससे प्रत्येक देश को लाभ होगा और हानि किसी को नहीं होगी। व्यवहार में इसका परिणाम यह होगा

कि जो देश भौगोलिक तथा अन्य कारणों से खेती के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त हैं वे अपने उत्पादन-साधनों का उपयोग खेती के लिए ही करेंगे और अपनी पैदावार के बदले में और देशों से जो औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त हैं, औद्योगिक माल प्राप्त करेंगे। ऊपर-ऊपर से देखने में निर्बाध व्यापार के पक्ष में उपर्युक्त तर्क सही मालूम पड़ता है। पर यदि इस तर्क का हम गहराई से अध्ययन करें तो हमें उसमें कई अपूर्णताएँ मालूम पड़ेंगी। सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि किसी भी देश की खेती अथवा उद्योग-धंधों के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्तता का निर्णय हम किस आधार पर करें। क्या यह निर्णय केवल उपयुक्त जलवायु, कच्चे माल और शक्ति की सुविधा आदि जैसे प्राकृतिक कारणों के आधार पर ही किया जाना चाहिये? या हमें और बातों का भी विचार करना चाहिये, जैसे श्रम और यातायात सम्बन्धी सुविधा, सरकार की मुद्रा-नीति, और इसी प्रकार की अन्य बातें। जीवन के अन्य क्षेत्र की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी हम वर्तमान को अतीत से अलग नहीं कर सकते, और जब हम किसी प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो वर्तमान स्थिति को आधार मान कर ही चलते हैं। और यही एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में जो स्थिति एक समय होती है वह सदा ही नहीं बनी रहती। समय के साथ स्थिति में भी परिवर्तन आता है। जो स्थिति आज एक देश के अनुकूल मालूम पड़ती है वही कल दूसरे देश के अनुकूल बनाई जा सकती है। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि यदि कोई व्यवस्था आज किसी देश के प्रतिकूल है तो वह सदा के लिए उस व्यवस्था को स्वीकार करले और उसे अपने अनुकूल बनाने का कोई प्रयत्न नहीं करे। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक विदेशी शासन ने हमारे देश के उद्योगों का सर्वनाश-सा कर दिया था और एक हद तक इसी सर्वनाश के आधार पर इंगलैंड ने अपने उद्योग-धंधों का विकास किया और औद्योगिक संसार के सम्राट का स्थान प्राप्त किया। और इस प्रकार जान बूझ कर जो स्थिति उत्पन्न की गई थी उसी को आधार बना कर निर्बाध व्यापार के समर्थकों ने इस नीति का प्रतिपादन करना आरम्भ किया कि भारत को कृषि-पदार्थों के उत्पादन में अपने साधनों का उपयोग करना चाहिये क्योंकि प्रकृति ने भारत को कृषि-प्रधान देश ही बनाया है और इंगलैंड को उद्योग-धन्धों पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, क्योंकि वह औद्योगिक विकास की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। यदि भारत अंग्रेजों के अधीन देश नहीं होता तो अमेरिका और जर्मनी की भाँति वह भी इस नीति का विरोध

करता। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि किस प्रकार अमेरिका और जर्मनी ने निर्बाध व्यापार के सिद्धान्त को अस्वीकार करके अपने उद्योग-धन्धों को विकसित किया और औद्योगिक क्षेत्र में इंग्लैंड के प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के रूप में आ उपस्थित हुए। और आज औद्योगिक संसार का नेतृत्व अमेरिका के पास है न कि इंगलैंड के पास। निर्बाध व्यापार के तर्क की असत्यता का इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण और क्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात और है। अन्तर्राष्ट्रीयता की कितनी भी बात हम क्यों न करें राष्ट्रों के स्वतंत्र अस्तित्व को भुलाया नहीं जा सकता। प्रत्येक राष्ट्र आज अपने राष्ट्रीय हित को सामने रख कर चलता है। यहाँ तक कि स्टेलिन के नेतृत्व में रूस भी अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता का परित्याग कर चुका है। यह ठीक है कि रूस की यह अन्तर्राष्ट्रीयता एक सुदूर आदर्श के अतिरिक्त और कुछ कभी भी नहीं रही। अस्तु, यद्यपि कोई भी राष्ट्र राष्ट्रीय स्वावलंबन के आदर्श का पूर्णतया पालन करना न व्यावहारिक और न उचित ही समझता है, पर फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सकता है प्रत्येक राष्ट्र का यह प्रयत्न है कि राष्ट्रीय सुरक्षा तथा जीवन की प्रारम्भिक और आधारभूत आवश्यकताओं और राष्ट्र के प्राकृतिक तथा जन साधन का यथोचित उपयोग करने की दृष्टि से वह अधिक से अधिक स्वावलम्बी बने। इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार-स्पष्टता की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक राष्ट्र को हर कीमत पर अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध तो करना ही होगा। आर्थिक हित का कोई भी सिद्धान्त इसमें बाधक हो, यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। सारांश यह है कि सुरक्षा से सम्बन्ध रखने वाले जितने उद्योग हैं उनके मामले में कोई राष्ट्र दूसरों पर निर्भर रहना पसन्द नहीं कर सकता। इस बारे में सापेक्षिक लागत का सिद्धान्त निर्णायक कदापि नहीं हो सकता। जहाँ तक जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं का सम्बन्ध है उनके बारे में भी यही तर्क लागू होता है। इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय साधनों के पूरे-पूरे उपयोग का प्रश्न भी है। निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके अनुसार सस्ते से सस्ते मूल्य पर उपभोग की वस्तुएँ मिल सकना ही आर्थिक हित की कसौटी है। पर सोचने का यह ढंग सही नहीं है। अधिकतम आर्थिक हित की स्थिति उसी समय मानी जाना चाहिये जब समाज में सब काम कर सकने वालों के लिए काम की व्यवस्था हो। निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त इस प्रकार की व्यवस्था मौजूद है, यह मान कर ही चलता है। अस्तु, यदि हम यह भी स्वीकार करलें कि उस स्थिति में जब सब काम करने वालों के पास काम है, हमारे साधनों का सबसे अच्छा उपयोग निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त के आधार पर ही हो सकता है, तब भी यह

प्रश्न तो रह ही जाता है कि यदि उपयुक्त स्थिति नहीं है तब इस सिद्धान्त को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। और इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि निर्बाध व्यापार के रहते हुए और उसके परिणामस्वरूप भी भारत जैसे पिछड़े हुए और आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश में बहुत कुछ बेकारी रह सकती है। सारांश यह है कि केवल आर्थिक हित की दृष्टि से विचार करने पर भी निर्बाध व्यापार का सिद्धान्त सब परिस्थितियों में सही नहीं मालूम पड़ता।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि निर्बाध व्यापार के समर्थकों का सैद्धान्तिक आधार भी उतना ठोस नहीं है जितना साधारणतया बताया जाता है। यही कारण था कि मार्शल जैसे इस सिद्धान्त के समर्थकों को भी कुछ अपवाद स्वीकार करने पड़े—उदाहरण के लिए फ्रेडरिक लिस्ट के "धन उत्पन्न करने की क्षमता" और "नए उद्योगों" सम्बन्धी तर्क को मार्शल ने स्वीकार किया। "धन उत्पन्न करने की क्षमता" सम्बन्धी तर्क, जैसा कि प्रो० पीगू ने भी माना है, उन कृषि-प्रधान देशों के बारे में खास तौर से लागू होता है जो औद्योगिक प्रगति करना चाहते हैं क्योंकि राष्ट्रीय सम्पत्ति को बढ़ाने में ऐसे देशों में औद्योगीकरण का प्रभाव औद्योगिक देशों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

यह सही है कि सब देशों के लिए सब समय के वास्ते निर्बाध व्यापार का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता। पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि यह सिद्धान्त किसी भी देश के लिए किसी समय उपयुक्त नहीं माना जा सकता। उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का सारा प्रश्न देश की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। आर्थिक सिद्धान्तों की इस सापेक्षिकता के कारण ही, हम देखते हैं कि, इंगलैंड एक समय 'मर्केन्टिलिज़्म' की नीति, को अपनाता है तो दूसरे समय अहस्तक्षेप की नीति का पालन करता है, और फिर आंशिक संरक्षण-नीति को स्वीकार करता है। इसी सापेक्षिकता का यह प्रभाव था कि लिस्ट और केरे ने आरंभ से ही जर्मनी तथा अमेरिका के लिए संरक्षण-नीति का प्रतिपादन किया। "ये दोनों ही व्यक्ति दो ऐसे देशों के निवासी थे जिनमें औद्योगिक विकास के लिए बहुत क्षेत्र था पर विकास होना बाकी था।" अपने देश के लिए किस आर्थिक नीति को स्वीकार करना चाहिये इसका निर्णय हमें भी अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही करना होगा। यह ठीक है कि जब तक भारत में विदेशी शासन रहा हमारे देश की आर्थिक नीति का निर्णय देश की आवश्यकता को सामने रख कर नहीं किया जा सका।

अब तक हमने निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त की विवेचना की। पर संरक्षण के सिद्धान्त के विषय में भी पक्ष और विपक्ष से बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारत

के सम्बन्ध में विचार करते समय हम इस तमाम तर्क-वितर्क का ध्यान रखेंगे।

भारत की राजकोषीय नीति—यह हम लिख चुके हैं कि पराधीनता के युग में भारत की विदेशी सरकार ने देश की औद्योगिक उन्नति के प्रति न केवल उदासीनता का भाव रखा बल्कि किसी हद तक विरोध का भाव प्रदर्शित किया। जून १९२१ में प्राप्त तथाकथित राजकोषीय (फ़िसकल) स्वतंत्रता के पहले भारत में सरकार की नीति विशुद्ध निर्बाध व्यापार की रही। पर इस अर्थ नीति सम्बन्धी तथाकथित स्वतंत्रता के मिलते ही भारत सरकार ने अक्टूबर १९२१ में देश के लिए उपयुक्त राजकोषीय (फ़िसकल) नीति के विषय में सरकार को सिफ़ारिश करने की दृष्टि से एक शाही कमीशन की नियुक्ति की। जैसा कि सर्वविदित है पूरी जाँच पड़ताल के पश्चात् इस कमीशन ने सरकार से विवेकशील (डिस्क्रीमिनेटिंग) संरक्षण नीति का अनुसरण करने की सिफ़ारिश की। कमीशन ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया :—

(i) संरक्षण चाहने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिये जिसे प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हों—उदाहरण के तौर पर कच्चे माल, सस्ती चालक शक्ति, यथेष्ट श्रम शक्ति और विस्तृत घरेलू बाज़ार की सुविधाएँ इस श्रेणी में आती हैं। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि किसी ऐसे उद्योग को संरक्षण न दिया जाए जो एक निश्चित समय के पश्चात् बिना संरक्षण के जीवित न रह सके और बराबरी के आधार पर दुनिया के बाजार में सफलतापूर्वक मुक़ाबला न कर सके।

(ii) संरक्षण पाने वाला उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो बिना संरक्षण के या तो बिल्कुल ही विकसित नहीं हो सकता है या फिर देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए जिस गति से होना चाहिये उससे नहीं हो सकता है।

(iii) तीसरी शर्त यह है कि संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योग को आखिरकार बिना संरक्षण के दुनिया के बाज़ार में खड़ा हो सकना चाहिये। उपर्युक्त शर्तों के अलावा, कमीशन की यह भी सम्मति थी कि जिस उद्योग में क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता हो, या जिसके सम्बन्ध में यह संभावना हो कि निकट भविष्य में ही वह देश की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा उसका संरक्षण की दृष्टि से विशेष अधिकार माना जाना चाहिये। कमीशन ने यह सिफ़ारिश भी की कि आधारभूत और रक्षा सम्बन्धी उद्योगों को तो बिना किसी शर्त के संरक्षण मिलना चाहिये।

कमीशन ने उन देशी उद्योगों के संरक्षण के विषय में जिनको विदेशी माल की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा हो, अलग से सुझाव दिये।

विदेशों द्वारा माल पाटने की नीति अथवा सरकारी सहायता प्राप्त विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा उपर्युक्त अनुचित प्रतिस्पर्द्धा की मर्यादा में आती है। फ़िसकल कमीशन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संरक्षण उन उद्योगों को ही मिलना चाहिये जो सही आधार पर स्थापित तो हो चुके हैं यद्यपि नए हैं; न कि उन उद्योगों को जो गर्भावस्था में हैं और जो अपने भावी उन्नति का स्वप्न निराधार आशाओं पर देखते हैं। कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि उपर्युक्त शर्तों का ध्यान रखते हुए आधारभूत उद्योगों का सरकार को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर संरक्षण करना चाहिये और जो दूसरे उद्योग हैं उनका आयात-कर लगाकर संरक्षण किया जाना चाहिये। कमीशन ने एक स्थायी टेरिफ़ बोर्ड की नियुक्ति की सिफ़ारिश भी की ताकि सरकार संरक्षण की उक्त नीति का भली प्रकार पालन कर सके और बोर्ड विभिन्न उद्योगों की ओर से आने वाली मांगों की बराबर जांच करता रहे और जिन उद्योगों को संरक्षण मिल चुका है उनकी स्थिति का बराबर अवलोकन करता रहे।

फ़िसकल कमीशन द्वारा प्रतिपादित विवेकशील (डिस्क्रिमिनेटिंग) संरक्षण के सिद्धान्त तथा उसके द्वारा की गई अन्य सिफ़ारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया। फरवरी १९२३ में तत्कालीन केन्द्रीय धारा सभा में इस सम्बन्ध का एक प्रस्ताव भी पास किया गया। जुलाई १९२३ में टेरिफ़ बोर्ड की स्थापना हुई। इस प्रकार भारत ने संरक्षण की उस नीति को स्वीकार किया जिसकी बराबर बहुत कुछ आलोचना की जाती रही है।

कमीशन की उक्त सिफ़ारिशें बहुमत की सिफारिशें थीं। कमीशन के कुछ सदस्य जिनमें कमीशन के अध्यक्ष सर इब्राहीम रहिमतुल्ला और दो के अतिरिक्त शेष भारतीय सदस्य शामिल थे, इन सिफ़ारिशों से सहमत नहीं थे। इनकी राय में इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी कि भारत में संरक्षण सिद्धान्त को इस मर्यादित रूप में स्वीकार किया जाय। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि ये लोग इस पक्ष में नहीं थे कि संरक्षण-सिद्धान्त का प्रयोग विवेक पूर्वक न किया जाय। पर वे संरक्षण सम्बन्धी अधिक उदार नीति के पक्ष में अवश्य थे और उनका यह मानना था कि कमीशन (बहुमत) ने जितने प्रतिबंध संरक्षण चाहने वाले उद्योग पर लागू करने की सिफ़ारिश की है वे देश के औद्योगीकरण में बाधक होंगे। फ़िसकल कमीशन के बहुमत और अल्पमत के विचारों पर अब हम सिद्धान्त तथा वास्तविक अनुभव को ध्यान में रखते हुए निर्णय देंगे।

कमीशन के बहुमत ने संरक्षण सम्बन्धी जो सिफ़ारिशें कीं उनका मूल तार्किक

आधार यही था कि देश में धन उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ाने के लिए और नए उद्योगों को सहायता देने के लिए संरक्षण की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में वे नए उद्योग जो पुराने और सुसंगठित अपने ही प्रकार के दूसरे उद्योगों का आज केवल नए होने से मुक़ाबिला नहीं कर सकते, यद्यपि कुछ समय पश्चात् वे उनके समान ही आ खड़े होंगे, संरक्षण के अधिकारी हैं। इससे स्पष्ट है कि कमीशन आम तौर पर संरक्षण को अपनाने के पक्ष में नहीं था। उसकी राय तो यह थी कि प्रत्येक उद्योग के विषय में उसकी विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए निर्णय करना चाहिये। लिस्ट के 'नए उद्योग' सम्बन्धी तर्क को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण ही कमीशन ने इस प्रकार की सिफ़ारिश की। लिस्ट का तर्क किसी एक उद्योग पर लागू नहीं होता था। वह तो उस सारे राष्ट्र पर लागू होता था जो औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता है। इस सम्बन्ध में लिस्ट की दृष्टि में ऐसे राष्ट्र थे जिनमें औद्योगीकरण के लिए सब प्रकार के साधन मौजूद हैं पर जो दूसरे देशों के मुक़ाबिले में पीछे रह गए हैं। लिस्ट का कहना था कि इस प्रकार पिछड़े हुए राष्ट्रों को संरक्षण की नीति अपनाकर ही अन्य औद्योगिक राष्ट्रों के बराबर लाया जा सकता है। लिस्ट के सामने विशेषतया जर्मनी का उदाहरण था जो औद्योगिक प्रगति में इंगलैंड से बहुत पीछे रह गया था। सारांश यह है कि फ़िसकल कमीशन के बहुमत ने संरक्षण की जिस संकुचित नीति की सिफ़ारिश की उसका आधार ही गलत था। आम संरक्षण के विरुद्ध कमीशन ने कई तर्क उपस्थित किए जैसे—राजनैतिक भ्रष्टाचार की संभावना, औद्योगिक एकाधिकार को प्रोत्साहन, अयोग्य उत्पादन को प्रोत्साहन और उपभोक्ताओं को हानि, तथा आम मूल्य-वृद्धि की संभावना। पर कमीशन के ये तर्क या तो असत्य थे या असंगत। उदाहरण के लिए संरक्षण से अयोग्य उत्पादकों को प्रोत्साहन तभी मिल सकता है जब कि संरक्षण का दर अत्यधिक हो। और इस बात का कि संरक्षण नीति संकुचित है अथवा नहीं, इससे कोई सम्बन्ध नहीं आता। इसलिए आम संरक्षण नीति के विरुद्ध अपने आप से यह कोई तर्क नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तव में देखा जाए तो यह प्रश्न तो संरक्षण से सम्बन्ध नहीं रखता। इसका सम्बन्ध तो संरक्षण किस मात्रा में दिया जाता है, इस बात से है। उपभोक्ताओं पर अनावश्यक बोझ डालने का प्रश्न भी कुछ ऐसा ही है। इसका सम्बन्ध भी संरक्षण के दर और समय से है। इसी प्रकार यह बात भी समझ में नहीं आती कि संकुचित संरक्षण नीति को अपनाने मात्र से राजनैतिक भ्रष्टाचार अथवा औद्योगिक एकाधिकार की संभावना क्योंकर नहीं रहती। कमीशन का यह भय कि आम संरक्षण नीति को स्वीकार करने से

मूल्य-वृद्धि होगी और उसका कुपरिणाम हमारे निर्यात पर पड़ेगा जिससे विदेशी-व्यापार का संतुलन हमारे विरुद्ध हो जायगा—निराधार ही मानना चाहिये। इसके साथ ही साथ याद रखने की बात यह भी है कि यदि राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ समय तक विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे विरुद्ध भी जाता हो तो उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि फ़िसकल कमीशन के बहुमत ने संकुचित संरक्षण के पक्ष में जितने भी तर्क उपस्थित किए उनमें कोई तथ्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और इसी बात को लेकर अल्पमत का मतभेद था जो आम संरक्षण की अधिक उदार नीति के पक्ष में थे। इसका यह अर्थ लगाना भूल होगी कि अल्पमत अत्यधिक अथवा अमर्यादित और विवेकशून्य संरक्षण के पक्ष में था। अस्तु, हमारी राय में अल्पमत का दृष्टिकोण अधिक सही था और संकुचित संरक्षण नीति की असफलता का एक जीवित प्रमाण यह भी है कि इस नीति के कार्य-काल में देश के उद्योग-धन्धों का विकास अत्यन्त मन्द गति से हुआ।

संकुचित संरक्षण नीति का एक मात्र दोष यही नहीं था कि वह प्रत्येक उद्योग पर अलग-अलग विचार करने के पक्ष में थी। उस नीति के अनुसार तो टैरिफ़ बोर्ड उन उद्योगों के विषय में भी विचार नहीं कर सकता था जिनके भावी विकास की संभावना मानी जा सकती हो। फ़िसकल कमीशन ने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त कर दिया था कि जो उद्योग-धन्धे स्थापित ही नहीं हुए हैं उनको किसी प्रकार की सहायता देने का प्रश्न नहीं उठता। यह नीति कई उपयोगी उद्योगों को विकसित होने से रोकने में सफल हुई। इसके अतिरिक्त कमीशन ने उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में जिस त्रि-सूत्री प्रतिबन्ध की सिफ़ारिश की है वह भी दोषपूर्ण और असंगत है। पहली बात तो यह है कि जो शर्तें उसमें कही गई हैं वे बहुत कठिन हैं। किसी भी उद्योग को संरक्षण देने का मुख्य आधार उत्पादन-लागत होना चाहिये। अगर यह माना जा सकता हो कि कोई उद्योग एक उचित समय में अपने उत्पादन-लागत को इस मर्यादा में ला सकेगा कि वह उद्योग अपने पाँव पर खड़ा हो जाए तो उसे संरक्षण मिलना चाहिये। यह सर्वथा ग़लत है कि संरक्षण पाने के लिए किसी भी प्रकार के प्राकृतिक साधनों—जैसे कच्चा माल, आन्तरिक बाज़ार आदि का होना अनिवार्य माना जाए, जैसी कि फ़िसकल कमीशन ने सिफ़ारिश की। इसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि इन तमाम सुविधाओं का संरक्षण पाने न पाने से कोई सम्बन्ध नहीं आता है। तथ्य की बात यह है कि इन बातों का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक ये उत्पादन-लागत पर असर डालते हैं। पर किसी भी उद्योग को

संरक्षण देने अथवा नहीं देने का निर्णय अन्ततोगत्वा उत्पादन-लागत के आधार पर ही किया जाना चाहिये। अगर हम दूसरे देशों के उद्योगों पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि बिना कच्चे माल अथवा आन्तरिक बाज़ार की सुविधा हुए भी वे खूब उन्नत हैं। इंगलैंड कपास उत्पन्न नहीं करता और फिर भी रुई कपड़े का उद्योग वहाँ का एक प्रमुख उद्योग है। पश्चिमी देशों के उद्योगों का तैयार माल हज़ारों मील दूर बाज़ारों में बिकता है यह भी हम जानते हैं। यह भी बात सही है कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण की किसी देश में प्रगति होती है उसी के साथ-साथ उस देश की क्रय-शक्ति भी बढ़ती है और देश के अन्दर बाज़ार का निर्माण होता है। इसलिए औद्योगीकरण के लिए बाज़ार (आन्तरिक) की शर्त लगाना अपने आप से भी कुछ उल्टी-सी बात है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस सारे मामले में फ़िसकल कमीशन का दृष्टिकोण बहुत ही अवैज्ञानिक और कड़ा रहा। इसका परिणाम भारत की औद्योगिक उन्नति के लिए हानिकारक हुआ। फ़िसकल कमीशन ने संरक्षण देने के बारे में जो तीन पूर्व शर्तें लगाई थीं उनमें पारस्परिक विरोध भी है। उदाहरण के लिए एक शर्त यह थी कि संरक्षण उसी दशा में किसी उद्योग को मिलना चाहिये जब कि वह बिना संरक्षण के या तो बिल्कुल ही विकसित न हो सके या जिस गति से विकास होना चाहिये वह संभव न हो। पर विचारने की बात यह है कि यदि किसी उद्योग को वे सब प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कि कमीशन की राय में संरक्षण प्राप्त करने के लिए होनी चाहियें, तो उस उद्योग को फिर संरक्षण की आवश्यकता ही क्यों होगी? इसका सीधा अर्थ यह है कि कमीशन की प्राकृतिक सुविधाओं वाली शर्त को कुछ ढीला करना होगा। कमीशन की सिफ़ारिशों की परस्पर की असंगति इससे स्पष्ट है।

कमीशन ने जिस संरक्षण-नीति की सिफ़ारिश की उसकी कमियों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब हम इस विषय में विचार करेंगे कि उक्त नीति को व्यवहार में लाने के लिए कमीशन ने जो सिफ़ारिश की वह कहाँ तक ठीक थी। इस बारे में कमीशन की जो सिफ़ारिश थी उसी के अनुसार १९२३ ई० में टैरिफ़ बोर्ड की स्थापना की गई। पहली बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान में आती है वह यह है कि जैसा कि अन्य देशों में है, हमारे टैरिफ़ बोर्ड के विधान, कार्य और कार्य-विधि के बारे में सिवाय सरकार के व्यापारिक विभाग के एक प्रस्ताव के और कोई क़ानून नहीं बनाया गया। जहाँ तक बोर्ड के कामों का सम्बन्ध है सरकार का उपर्युक्त प्रस्ताव बहुत संकीर्ण है। इस प्रस्ताव के अनुसार बोर्ड का एक मात्र काम संकीर्ण संरक्षण नीति को व्यावहारिक रूप देना था। टैरिफ़ बोर्ड के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी कठिनाई रही।

फ़िसकल कमीशन की सिफ़ारिशों के यह सर्वथा विपरीत था। फ़िसकल कमीशन की दृष्टि में टेरिफ़ बोर्ड का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत होना चाहिए था। व्यवहार में टेरिफ़ बोर्ड ने सरकार के प्रस्ताव के बाहर भी काम किया। जैसे टेरिफ़ समानता और विदेशी माल से अनुचित ढंग से बाज़ार पाटने के प्रश्नों पर भी टेरिफ़ बोर्ड ने विचार किया। फ़िसकल कमीशन ने टेरिफ़ बोर्ड के कामों की जो विस्तृत कल्पना की थी उसमें बहुत-सी बातों का समावेश होता था, जैसे आय की दृष्टि से लगाए गये आयात करों के सरंक्षण की दृष्टि से होने वाले प्रभाव पर विचार करना, साम्राज्यान्तर्गत सुविधा (इम्पीरियल प्रिफरेंस) और द्विदेशीय समझौते (बाइलेटरल एग्रीमेन्ट्स) के असर पर विचार करना, मूल्य, व्यापार और उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नों पर संरक्षित उद्योगों के विषय में विचार करना, भारतीय उद्योगों पर उत्पादन-कर और आयात-निर्यात-कर के प्रभाव का अध्ययन करना और उपभोक्ताओं के हित-दृष्टि से एकाधिकार सम्बन्धी शिकायतों पर विचार करना। इसके अलावा टेरिफ़ बोर्ड की कार्य-पद्धति भी दोषपूर्ण रही। आरम्भ से लेकर अन्त तक टेरिफ़ बोर्ड को सरकार के तत्वावधान में काम करना पड़ता था और काम करने की यह सारी पद्धति ऐसी थी जिसमें समय बहुत लगता था और असुविधा भी बहुत होती थी। इसका असर संरक्षण चाहने वाले उद्योगों पर बहुत घातक पड़ा था। बोर्ड के काम के बारे में अपर्याप्त प्रचार होने से जाँच के विषय की ओर जनमत बहुत कम आकर्षित हो पाता था और प्रतिद्वन्द्वी ब्रिटिश उद्योगो को, नाम मात्र की भारतीय उद्योगों को दी गई समान सुविधा के नाम पर यह मौका देना, कि वे संरक्षण सम्बन्धी होने वाली जाँच के सम्बन्ध में सरक्षण चाहने वाले उद्योग से प्रश्नोत्तर कर सकते हैं और अपनी गवाही भी दे सकते हैं, और भी अनुचित था। बोर्ड का स्वयं का स्थायित्व नहीं होने से और उसके सदस्यों का स्थायित्व संदिग्ध होने से तथा तत्कालीन सरकार की इच्छा पर बोर्ड का अस्तित्व निर्भर होने से भी बोर्ड की बहुत कुछ उपयोगिता कम हो गई। सारांश यह है कि उक्त मामलों में सुधार की पूरी आवश्यकता थी। बोर्ड के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत होना था, उसको एक स्थायी संगठन का स्वरूप मिलना चाहिये था, उसके सदस्यों को स्थायित्व सम्बन्धी आश्वासन होना चाहिये था और बोर्ड पर सरकारी असर कम होना आवश्यक था।

अब तक के विवेचन से संकुचित सरंक्षण-नीति की अनुपयोगिता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर संरक्षण की दृष्टि से जो आयात-कर लगाए गए वे उद्योग-धन्धों के समुचित विकास की दृष्टि से अपर्याप्त थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् समस्त दुनिया और

उसके साथ भारत भी आर्थिक दृष्टि से एक असाधारण परिस्थिति में से होकर गुज़र रहा था। कभी आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ता था तो कभी विदेशों से सस्ते भावों पर बाज़ार पाटने की दृष्टि से भेजे गये माल का। अनुचित प्रतिस्पर्द्धा और विनिमय-दर के अवमूल्यन के कारण भी कठिनाई आजाती थी। अस्तु, संरक्षण की दृष्टि से जो भी आय-कर लगता था उसका प्रभाव तो उक्त कारणों से उत्पन्न स्थिति का सामना करने में ही समाप्त हो जाता था और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए जो विशेष प्रोत्साहन चाहिये था वह नहीं मिल सकता था। "यदि उपर्युक्त असाधारण स्थिति न होती तो या तो हमारे उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती या बहुत कम संरक्षण से उनका विकास सम्भव हो जाता।" अस्तु, सकीर्ण संरक्षण-नीति से भी देश के उद्योग-धन्धों को जो लाभ पहुँचता वह भी विशेष आर्थिक परिस्थिति के कारण नहीं पहुँच सका।

सकीर्ण संरक्षण नीति के व्यवहार के सम्बन्ध में भी कई दोष पाए गए। टेरिफ़ बोर्ड ने जो-जो जाँच की और सरकार ने उन पर जो कार्रवाई की उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने सिद्धान्ततः जिस संरक्षण-नीति को स्वीकार कर लिया था उसको व्यवहार में लाने का उसे उतना उत्साह नहीं था। सारी कार्रवाई में जितना समय लग जाता था और बोर्ड की सिफ़ारिशों को सरकार जितना महत्त्व देती थी वह यह बतलाता था कि वास्तव में सरकार देश के औद्योगीकरण और संरक्षण नीति के पक्ष में नहीं थी। और भारत और इङ्गलैंड के हितों में विरोध पड़ने का प्रश्न तो अन्ततोगत्वा उपस्थित होता ही। यह तो साफ़ ही था कि भारत का औद्योगीकरण इङ्गलैंड के उद्योगों के लिए हानिकर साबित होता। फ़िसकल नीति के सम्बन्ध में भारत को स्वतन्त्रता मिलने का यदि कोई अर्थ था तो सबसे पहले यह था कि सर्व प्रथम भारत सरकार भारतीय दृष्टि से विचार करने के लिए तैयार और स्वतन्त्र है और अन्य देशीय दृष्टि, जिसमें इङ्गलैंड भी आजाता है, इसके बाद आती है। भारत के स्वतंत्र हुए बिना यह सब कुछ असंभव था। अस्तु, फ़िसकल नीति सम्बन्धी भारत को दी गई स्वतंत्रता नाम मात्र की ही थी। भारत और ब्रिटेन में जो हितों का सघर्ष रहा उसके सम्बन्ध में श्री अडारकर ने अपनी 'इंडियन फ़िसकल पॉलिसी' नामक पुस्तक में लिखा है "(१) जहाँ संरक्षण से मुख्यतः अथवा केवल ब्रिटेन के अलावा दूसरे हितों को हानि पहुँचने की संभावना रही वहाँ सरकार ने बहुत करके संरक्षण स्वीकार किया। (२) जहाँ संरक्षण के कारण मुख्यतः ब्रिटिश हितों को हानि पहुँचने की संभावना होती वहाँ संरक्षण के प्रति उपेक्षा-नीति बरती गई। (३) जहाँ दोनों बातें सम्भव हो सकती थीं, अर्थात् ब्रिटेन के हितों की रक्षा करते हुए दूसरे राष्ट्रों से आने

वाले माल को संरक्षण दिया जा सकता था, वहाँ इस प्रकार की समझौता-नीति का पालन किया गया और संरक्षण का मार्ग प्रशस्त किया गया। (४) बहुत थोड़े उद्योगों के मामले में, जैसे कागज, टीन की चादरें, जहाज़-निर्माण आदि के उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार ने संरक्षण-नीति स्वीकार की, क्योंकि भारत में संरक्षण का लाभ उठाने के लिए ब्रिटिश कारखाने मौजूद थे और विदेशी उद्योगों के विरोध का उनके द्वारा निराकरण हो सकता था।" संकीर्ण संरक्षण नीति सम्बन्धी एक बात और रह जाती है जिसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इस बात का सम्बन्ध साम्राज्यांतर्गत सुविधा (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) से है जो कि परिस्थितियों के दबाव से भारत सरकार ने सन् १९३२ में स्वीकार की थी। इस समय हम साम्राज्यांतर्गत सुविधा-नीति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करेंगे। केवल यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस नीति के कारण संकीर्ण संरक्षण सिद्धान्त को ठीक-ठीक व्यवहार में लाने में भी अड़चन उपस्थित हुई। इस कारण भी भारत ने जिस संरक्षण-नीति को अपनाया उसकी उपयोगिता कम होगई।

द्वितीय महायुद्ध और राजकोषीय नीति—द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने पर देश के सामने औद्योगिक प्रसार का एक अच्छा अवसर उपस्थित हुआ। यद्यपि हम उस अवसर से पूरा पूरा लाभ नहीं उठा सके, पर फिर भी युद्ध की दृष्टि से तत्कालीन सरकार को इस ओर थोड़ा-बहुत ध्यान तो देना ही पड़ा। जून १९४० के एक सूचना-पत्र द्वारा भारत सरकार ने यह घोषणा की कि जो उद्योग युद्ध के लिए आवश्यक होने से स्थापित होंगे उनको युद्ध के बाद भी यदि जरूरी होगा तो बाहरी प्रतिस्पर्द्धा से संरक्षण दिया जायगा। नवम्बर १९४५ में एक अन्तरिम काल टेरिफ बोर्ड की भी नियुक्ति की गई ताकि संरक्षण चाहने वाले उद्योगों के बारे में विचार किया जा सके। विभाजन के पश्चात् नवम्बर १९४७ में बोर्ड का दुबारा निर्माण किया गया। उसके कार्य-क्षेत्र को भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत किया गया। विदेशी माल के मुकाबले में भारतीय माल की उत्पादन-लागत के अधिक होने के क्या कारण हैं और सस्ती से सस्ती लागत पर देश में उत्पादन-वृद्धि करने के लिए भारत सरकार को क्या करना चाहिये—ये प्रश्न भी अब टेरिफ बोर्ड के विचार-क्षेत्र के अन्तर्गत आगए। टेरिफ बोर्ड में उसके बाद दो सदस्य और बढ़ गए और अगस्त, १९४८ के भारत सरकार के एक प्रस्ताव के अनुसार उसके कार्य-क्षेत्र को व्यापक करके उसमें नीचे लिखी बातें शामिल कर दी गईं:—किसी वस्तु का उत्पादन-लागत मालूम करना और उसकी थोक, फुटकर तथा दूसरे मूल्यों का निश्चय करना। विदेशी माल के राशिपातन [डम्पिंग] से भारतीय उद्योगों का संरक्षण करने के उपाय

सुझाना, दूसरे देशों के माल पर प्रशुल्क (टेरिफ) सम्बन्धी रियायतों और आयात-कारों के असर का अध्ययन करना, संरक्षित उद्योगों में एकाधिकार के बारे में और उनके उत्पादन के ह्रास और कीमतों के क़ायम करने और बढ़ाने के सम्बन्ध में होने वाले असर के बारे में रिपोर्ट करना और निराकरण के आवश्यक उपाय सुझाना, एवं संरक्षित उद्योगों की प्रगति का ध्यान रखना तथा संरक्षण की शर्तें पाली जा रही हैं और कार्य-कुशलता बनी हुई है इस ओर भी ध्यान देना। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया था कि उसकी प्रशुल्क (टेरिफ) नीति का लक्ष्य अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय उद्योगों का संरक्षण करना और उपभोक्ताओं पर अनुचित भार डाले बिना भारतीय साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग करना होगा। अप्रैल १६४६ में फिसकल कमीशन की नियुक्ति की गई और १६५० के मध्य में कमीशन की रिपोर्ट भी प्रकाशित होगई। इस कमीशन का भी यही निर्णय है कि द्वितीय महायुद्ध के पहले की प्रशुल्क नीति अपने मर्यादित क्षेत्र में तो काफी हद तक सफल हुई, पर देश की अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों में अभी विकास की बड़ी कमी है, और इस कमी को पूरा करने के लिये बड़े प्रयत्न की आवश्यकता होगी। औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से प्रशुल्क नीति के संबंध में इस कमीशन का भी यही मानना है कि उद्योग-धन्धों का संरक्षण देश के संपूर्ण आर्थिक विकास से सम्बद्ध होना चाहिये नहीं तो संरक्षण का भार असमान और उद्योग-धन्धों की प्रगति असमन्वयित हो सकती है। अब हम राजकोषीय आयोग की सिफ़ारिशों के बारे में थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

राजकोषीय आयोग की सिफारिशें—भारत सरकार ने अप्रैल १६४८ में जिस औद्योगिक नीति की घोषणा की थी, उसमें प्रशुल्क (टेरिफ) नीति के बारे में स्पष्ट कर दिया था कि अनुचित प्रतिद्वन्द्विता को रोकने और भारत के प्राकृतिक साधनों के सदुपयोग को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से उस नीति का निर्माण किया जायगा और यह भी ध्यान रखा जायगा कि उपभोक्ता को अनुचित भार उस नीति के परिणाम स्वरूप न उठाना पड़े। इसी घोषणा के अनुसार २० अप्रैल १६४६ को भारतीय सरकार ने राजकोषीय आयोग की नियुक्त की। इस आयोग की रिपोर्ट १-५० में प्रकाशित की गई। राजकोषीय आयोग का कार्य अन्य बातों के साथ-साथ उद्योगों के संरक्षण और सहायता सम्बन्धी किस नीति को सरकार अपनाये और संरक्षित उद्योगों के क्या कर्त्तव्य-दायित्व माने जावें, तथा इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है—इस संबंध में भी भारत सरकार के सामने अपना अभिमत प्रस्तुत करना था।

संरक्षण-नीति का निर्णय किस आधारभूत दृष्टि से होना चाहिये इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए राजकोषीय आयोग ने लिखा है कि "संरक्षण नीति का उद्देश्य केवल अमुक प्रकार के उत्पादन को प्रोत्साहन देना न होकर जनसख्या तथा अर्थ व्यवस्था संबंधी ढाँचे में इस प्रकार का परिवर्तन लाना है जिससे कि देश का समूचा आर्थिक वातावरण ही बदल जाए और समस्त राष्ट्रीय उत्पादन का स्तर ऊँचा हो जाए। इस दृष्टि से संरक्षण एक लक्ष्य का साधन मात्र रह जाता है—और यह लक्ष्य है राष्ट्रीय हित।" आयोग का यह दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक और प्रगतिशील है जब कि १९२१ के भारतीय राजकोषीय आयोग का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित और एकांगी था। राजकोषीय आयोग १९५० ने भी इस सम्बन्ध में यही राय इन शब्दों में व्यक्त की है "गत राजकोषीय आयोग के संरक्षण सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी एक मौलिक दोष था। संरक्षण को सामान्य आर्थिक प्रगति के एक साधन के रूप में न देखकर उद्योग विशेष को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला करने में सहायता देने के साधन के रूप में देखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक विकास संतुलित रूप में न हो सका। यह दृष्टिकोण रखकर आधारभूत उद्योग का विकास करना संभव नहीं था। यह भी कहा जा सकता है कि सम्बन्धित और सहायक उद्योगों को स्थापित करने का कोई प्रयत्न किए बिना उद्योग विशेष को संरक्षण देने से आम जनता पर पड़ने वाले भार में भी वृद्धि हुई।" परन्तु गत महायुद्ध के पश्चात् नवम्बर, १९४५ में भारत सरकार ने एक अन्तःकालीन प्रशुल्क मंडल की स्थापना करते समय संरक्षण प्राप्त करने के वास्ते जिन शर्तों का उल्लेख किया, उन से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि बाद में इस सम्बन्ध में भारत सरकार के दृष्टिकोण में सुधार हुआ। सरकार ने प्रशुल्क मंडल को उन उद्योगों को संरक्षण देने की सिफ़ारिश करने के लिए कहा जिनका विकास राष्ट्र के हित में हो। इस प्रशुल्क मंडल का कार्य-क्षेत्र भी व्यापक किया गया, यद्यपि व्यवहार में उसने उसके अनुसार पूरी तौर से कार्य नहीं किया है।

संरक्षण की जिस संकुचित नीति का पराधीन भारत में व्यवहार हुआ उसके द्वारा देश को क्या आर्थिक लाभ हुआ इस सम्बन्ध में राजकोषीय आयोग का कहना है कि संरक्षण की उक्त नीति से तीन मुख्य लाभ हुए हैं—(१) आर्थिक मन्दी के प्रभाव से संरक्षित उद्योग अपेक्षाकृत सुरक्षित रहे। जब अन्य उद्योग मन्दी का सामना कर रहे थे, जो संरक्षित उद्योग थे उनका आर्थिक मंदी के युग में भी विस्तार हो रहा था। (२) संरक्षित उद्योगों का विस्तार हुआ। १९२२ से १९३९ तक के १७ वर्षों में इस्पात पिंडकों (स्टील इनगॉट्स)

का उत्पादन आठ गुना, सूती वस्त्र का ढाई गुना, दियासलाई और कागज का ३८% और १८०% तथा शक्कर का उत्पादन १६२२ में २४००० टन से १६३८ में ६,३१,००० टन बढ़ गया। इसी के साथ संरक्षण का एक अप्रत्यक्ष लाभ यह भी हुआ कि लोहा-इस्पात, कागज, और सूती वस्त्र के संरक्षित उद्योगों पर जो आधारित उद्योग थे उनकी भी स्थापना हुई। जैसे रासायनिक पदार्थ, स्टार्च आदि के उद्योग। (३) औद्योगिक जनसंख्या की वृद्धि। यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत विश्वसनीय और संपूर्ण आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि गत दो दशाब्दियों में जनसंख्या के धंधेवार बटवारे में गौण और अप्रत्यक्ष सेवा सम्बन्धी धंधों (टेरटियरी) के पक्ष में थोड़ा सुधार हुआ है। इस विषय में साररूप में राजकोषीय आयोग ने लिखा है कि "संरक्षित उद्योगों की प्रगति के इस विवरण से यदि हम निष्कर्ष निकालें तो यह कहा जा सकता है कि विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति ने अपने मर्यादित क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है और जनता को मिलने वाले प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभ का यदि ध्यान रखें तो उससे उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले भार की पूर्ति हो जाती है।" गत महायुद्ध के बाद की राजकोषीय नीति के परिणामों का पूरा-पूरा अनुमान अभी लगाना कठिन है। यह सब होते हुए भी विवेकपूर्ण संरक्षण की जो संकुचित नीति अपनाई गई उसके स्थान पर यदि अधिक उदार नीति का पालन किया जाता तो भारत के औद्योगिक नकशे में जो आज अपूर्णताएँ और रिक्त बिन्दु दिखाई देते हैं वे इतनी मात्रा में न दिखाई देते।

राजकोषीय आयोग के इस अभिमत का हम उल्लेख कर चुके हैं कि देश की औद्योगिक रक्षण नीति का निश्चय राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की भावी रूपरेखा को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये। इसी बात को दूसरे शब्दों में आयोग ने यों कहा है कि राष्ट्रीय हित लक्ष्य है और औद्योगिक रक्षण नीति उसका एक साधन मात्र। अस्तु, राजकोषीय आयोग ने देश की भावी आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा का एक चित्र प्रस्तुत किया है जिसकी पृष्ठ भूमि में ही उसने देश की भावी राजकोषीय नीति संबंधी सिफारिशें भी की हैं।

राजकोषीय आयोग ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था में खेती का बड़ा महत्त्व रहने वाला है और उसकी प्रगति पर राष्ट्र को एकाग्र चित्त होकर ध्यान देना चाहिये। हमारे कृषि-उद्योग के विकास से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न समस्याओं में सबसे विषम समस्या खेती में लगे हुए लोगों की जो आज अत्यधिकता में है, उसे कम करने की है। इस समस्या की विषमता का अन्दाज़ राजकोषीय आयोग ने जो आंकड़े अनुमान के तौर पर दिये हैं, उनसे

लगाया जा सकता है। यदि हम कृषि में जो अधिक जनसंख्या है उसे आगामी २० वर्षों में दूसरे धंधों में लगाने की योजना बनाएँ तो हमें वर्तमान कृषि-जनसंख्या में से १५ लाख जनसंख्या प्रतिवर्ष दूसरे धंधों में लगाने की व्यवस्था करनी होगी। इसके अलावा प्रति वर्ष लगभग ३० लाख जनसंख्या-वृद्धि को भी दूसरे उद्योगों में लगाना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि २० वर्षों तक प्रति वर्ष ४५ लाख जनसंख्या को दूसरे उद्योगों में लगाने की हमें व्यवस्था करनी होगी। इस सम्बन्ध में याद रखने की बात यह भी है कि इस समय भारत में समस्त बड़े पैमाने के उद्योगों में केवल २४ लाख आदमी लगे हुए हैं। इसका फलित यह निकलता है कि यदि हम अधिक जनसंख्या को केवल बड़े पैमाने के उद्योग में लगाना चाहते हैं तो प्रतिवर्ष वर्तमान उद्योगों का लगभग दुगुना औद्योगिक प्रसार हमें करना पड़ेगा। यह स्थिति असंभव है। अस्तु, छोटे पैमाने के उद्योगों और कुटीर उद्योगों का विकास हमारी भावी अर्थ-व्यवस्था के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, यह आसानी से स्पष्ट हो जाना चाहिये। कृषि-सहायक उद्योगों का भी विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसी के साथ जो प्रत्यक्ष सेवा-कार्य सम्बन्धी धन्धे हैं उनके विकास की ओर भी यथेष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है।

कृषि उद्योग के भावी स्वरूप का जहाँ तक सम्बन्ध है, राजकोषीय आयोग की यह मान्यता है कि इस देश में बड़े पैमाने की यन्त्रवत् खेती के लिये बहुत गुंजाइश नहीं है और अधिकांश खेती छोटे पैमाने पर कृषक स्वामित्व के आधार पर ही होगी।

देश के औद्योगिक स्वरूप के बारे में जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, राजकोषीय आयोग का यह मानना है कि उसमें बड़े पैमाने के, छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योग सबको यथोचित स्थान देना होगा। इसका निश्चय निम्न बातों को सामने रखकर किया जाना चाहिये—(१) उद्योग की प्रकृति अर्थात् रक्षा उद्योग है, आधारभूत उद्योग है अथवा उपभोक्ता-पदार्थ उद्योग है; (२) उद्योग का प्रौद्योगिक स्वरूप अर्थात् किस हद तक उद्योग का यंत्रीकरण हो चुका है और किस प्रकार की प्रौद्योगिक दक्षता की आवश्यकता है; (३) पूँजी और श्रम का सापेक्षिक अनुपात; (४) विकेन्द्रीकरण की न केवल व्यक्तिगत लाभ बल्कि सामाजिक हित की दृष्टि से मितव्ययिता, (५) देश के धंधों सम्बन्धी जनसंख्या के वर्तमान बटवारे में किस गति से परिवर्तन करना अभीष्ट है।

बड़े पैमाने पर संगठित उद्योगों के भावी चित्र को प्रस्तुत करते हुए राजकोषीय आयोग ने कुछ मूलभूत बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है। सबसे पहली बात जो राजकोषीय आयोग मानकर चला है वह यह है

कि देश की भावी औद्योगिक उन्नति एक निश्चित योजना के अनुसार होगी और उसमें राज्य का यथेष्ट हाथ होगा। दूसरे उसने उद्योग-धंधों के स्थान सीमन (लोकेलाइजेशन) और बड़े उद्योगों और कुटीर और छोटे उद्योगों के आपसी समन्वय पर बहुत गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। भारत सरकार की औद्योगिक नीति के आधार पर देश के बड़े उद्योग-धन्धों के स्वरूप का जो चित्र आयोग ने प्रस्तुत किया है उसके प्रधान अंग इस प्रकार हैं:—(क) रक्षा उद्योग—जिनमें अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध-सामग्री से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों के अलावा दूसरे बहुत उच्च दक्षता चाहने वाले ऐसे- उद्योग—जैसे हवाई जहाज-निर्माण तथा बेतार के तार आदि के उद्योग भी शामिल हैं। (ख) भारी आधारोद्योग—जैसे यातायात के सामग्री सम्बन्धी उद्योग, जहाज-निर्माण का उद्योग आदि। (ग) भारी प्रमुखोद्योग (बेसिक इन्डस्ट्रीज)—जिनके सहारे दूसरे कई पूँजी पदार्थों और उपभोग-पदार्थों के उद्योगों की स्थापना की जा सकती है, जैसे लोहे और इस्पात का उद्योग, यन्त्रोपकरण (मशीन टूल) उद्योग, मोटर-उद्योग आदि। (घ) हल्के प्रमुखोद्योग—जैसे कास्टिक सोडा, अलोह धातु, कृषि-औजार आदि। (ङ) आवश्यक उपभोग पदार्थ उद्योग—जैसे सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, सीमेंट, शकर, कागज, आदि। आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि देश के औद्योगिक विकास का उपर्युक्त चित्र सम्पूर्ण होने में समय लगेगा और उनका मानना है कि इस आदर्श की ओर हमें धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिये। इस दृष्टि से उन्होंने राजकीय और व्यक्तिगत दोनों ही क्षेत्रों के लिए प्राथमिकता की एक शृंखला विशेष का सुझाव भी दिया है। देश के इस भावी औद्योगिक चित्र को उपस्थित करते हुए सार रूप में राजकोषीय आयोग का कहना है कि "बड़े उद्योगों के जिस स्वरूप की हम कल्पना करते हैं वह एक प्रकार से अमेरिका और इंगलैंड के जैसे बहुत ही पूंजी प्रधान उद्योगों और भारत की ग्राम्य प्रधान अर्थ व्यवस्था के बीच की सी स्थिति की कल्पना है।" राजकोषीय आयोग ने देश के विदेशी व्यापार के बारे में भी थोड़ा विस्तार से विचार किया है और देश के औद्योगीकरण के भावी स्वरूप की पृष्ठभूमि में विदेशी व्यापार सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति का विवेचन किया है। राज्य को देश के इस भावी आर्थिक ढाँचे के निर्माण और विकास में किस प्रकार और कितना सहयोग देना चाहिये, इस विषय में भी राजकोषीय आयोग ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सारांश यह है कि देश के जिस आर्थिक स्वरूप को सामने रखकर राजकोषीय आयोग ने भारत सरकार के विचारार्थ राजकोषीय नीति सम्बन्धी सिफारिशें की हैं उनकी एक मोटी रूपरेखा आयोग ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उसी रूपरेखा का

उल्लेख हमने यहाँ करना आवश्यक समझा। अब देखना यह है कि इस आर्थिक स्वरूप को लक्ष्य में रखकर राजकोषीय आयोग ने किस प्रकार की राजकोषीय नीति का प्रतिपादन किया है।

राजकोषीय आयोग ने रक्षण की नई योजना के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वैसे तो आयोग का यह कहना है कि उद्योगों का रक्षण आर्थिक विकास की सम्पूर्ण योजना को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिये, अन्यथा उद्योगों के असमन्वयित विकास और उपभोक्ताओं पर असमान बोझ पड़ने की सम्भावना हो सकती है। पर जब तक कि इस प्रकार की कोई सम्पूर्ण योजना तैयार न हो, उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार रक्षण मिलना चाहिये।

(क) जहाँ तक स्वीकृत योजनाओं का सम्बन्ध है उनमें तीन प्रकार के उद्योग हो सकते हैं—

(१) रक्षा और दूसरे सामारिक महत्त्व के उद्योग, (२) प्रमुख और आधारोद्योग, (३) अन्य उद्योग। नं० १ के धन्धों की स्थापना हर दशा में होनी ही चाहिये और जो रक्षण और सहायता आवश्यक हो वह बिना किसी लागत के विचार के राष्ट्र-हित में दी जानी चाहिये। नं० २ के उद्योगों को भी रक्षण मिलना चाहिये पर रक्षण का स्वरूप और उसकी प्रमात्रा (क्वेन्टम) का निर्णय प्रशुल्क अधिकारी पर छोड़ा जाना चाहिये। नं० ३ के धन्धों को रक्षण तभी मिलना चाहिये जब कि उनको जो आर्थिक लाभ प्राप्त हैं या प्राप्त हो सकते हैं और उनकी जो वास्तविक अथवा सम्भावित उत्पादन-लागत हो सकती है, उनको देखते हुए यह सम्भव मालूम पड़ता है कि एक उचित समय में वे बिना रक्षण अथवा सहायता के काम चला सकेंगे। या वह ऐसा उद्योग होना चाहिये जिसे राष्ट्र के हित में सहायता अथवा रक्षण देना आवश्यक है और प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभों का ध्यान करते हुए इस प्रकार की सहायता या रक्षण की सम्भावित लागत राष्ट्र के लिए अत्यधिक नहीं है।

(ख) जो उद्योग धन्धे स्वीकृत योजनाओं के अन्तर्गत नहीं आते हैं उनके रक्षण के प्रश्न पर प्रशुल्क अधिकारी को उपर्युक्त आधार पर विचार करके अपनी सिफारिश सरकार के सामने उपस्थित करनी चाहिये।

(ग) जहाँ कोई स्वीकृत योजना नहीं है—(१) रक्षा और दूसरे सामारिक महत्त्व के धन्धों को राष्ट्रीय हित में बिना लागत का विचार किये रक्षण मिलना चाहिये। (२) दूसरे उद्योगों के बारे में ऊपर (क में) जो आधार बताया गया है उसी के अनुसार निर्णय होना चाहिये।

रक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त मूलभूत सिद्धान्तों के अलावा राजकोषीय आयोग ने रक्षण-नीति से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ विशेष प्रश्नों के विषय में भी अपनी राय दी है। कच्चे माल के बारे में उसका कहना है कि यदि किसी उद्योग को दूसरी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो कच्चे माल की सुविधा रक्षण देने की आवश्यक शर्त नहीं मानी चाहिये। इसी प्रकार रक्षण देते समय भावी निर्यात-बाज़ार की सम्भावनाओं पर भी विचार किया जाना चाहिये। देश की सम्पूर्ण मांग को पूरी कर सकना भी रक्षण प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं होना चाहिये, यद्यपि प्रशुल्क अधिकारी की दृष्टि में यह बात तो होनी ही चाहिये कि इस सम्पूर्ण मांग के यथेष्ट अंश की पूर्ति रक्षण चाहनेवाले उद्योग के द्वारा अवश्य ही हो सकेगी। इसी प्रकार जो रक्षित उद्योग किसी दूसरे रक्षित उद्योग द्वारा तैयार माल को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करता है उसे अतिरिक्त रक्षण देना आवश्यक हो सकता है। राजकोषीय आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि कई उद्योगों को उनकी स्थापना के पूर्व ही रक्षण का आश्वासन देना आवश्यक हो सकता है। जो उद्योग काफ़ी पूँजी-व्यय चाहते हैं, या जिनको काफ़ी ऊँचे दर्जे के विशेषज्ञ चाहियें और साथ ही जिनको विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़े, उनको इस प्रकार के रक्षण की आवश्यकता हो सकती है। प्रशुल्क अधिकारी को सारी स्थिति की जाँच करके सरकार को सिफ़ारिश करनी चाहिये। इसी प्रकार राजकोषीय आयोग की यह भी सिफ़ारिश है कि अगर राष्ट्र के हित में आवश्यकता है तो कृषि-पदार्थों को भी रक्षण दिया जा सकता है। पर यथासम्भव कम से कम पदार्थों को रक्षण दिया जाना चाहिये और यह रक्षण अल्प काल के लिये (एक समय में पाच वर्ष से अधिक के लिए किसी भी दशा में नहीं) मिलना चाहिये। रक्षित उद्योग के पदार्थों पर उत्पादन-कर लगाने के विरुद्ध भी राजकोषीय आयोग ने अपनी राय दी है।

रक्षण-नीति से सम्बन्ध रखनेवाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रक्षण के स्वरूप का है। राजकोषीय आयोग ने निम्नलिखित स्वरूपों के बारे में अपनी रिपोर्ट में विचार किया है—(१) प्रशुल्क—दोनों प्रकार के अर्थात् यथामूल्य-कर (एडवेलरम ड्यूटी) और परिमाण-कर (स्पेसिफ़िक ड्यूटी)। (२) मात्रिक प्रतिबन्ध—अर्थात् सरकार यह निश्चित करदे कि अमुक समय में अमुक मात्रा में ही आयात हो सकेगा। इसके बारे में आयोग का यह मत है कि साधारण स्थिति में रक्षण की इस पद्धति का बहुत कम उपयोग करना चाहिये क्योंकि इस पद्धति में कई प्रकार की कमियाँ पाई जाती हैं। (३) अर्थ-साहाय्य (सबसिडी)—इस पद्धति के अनुसार सरकार रक्षित उद्योग को सीधी आर्थिक सहायता देती है।

(४) एकत्रीकरण (पूलिंग)—अर्थात् सरकार यह व्यवस्था करे कि देश में जो माल उत्पादन हो और विदेश से जो आयात किया जाए वह एकत्रित कर दिया जायगा और सारा ही माल एक ऐसे निश्चित मूल्य पर बेचा जायगा जोकि देश के उत्पादकों की दृष्टि से जो उचित विक्रय-मूल्य है उसके और आयात की देश में माल उतारने पर जो लागत हो (लेन्डेड कोस्ट) उसके बीच में कहीं निश्चित किया जायगा। (५) प्रशुल्क अभ्यंश—अर्थात् आयात एक सीमा तक तो बिना किसी कर के हो सकता है और उसके बाद एक निश्चित कर आयात पर देना होता है।

राजकोषीय आयोग ने रक्षण के उपर्युक्त विभिन्न स्वरूपों के पक्ष-विपक्ष पर विचार किया है। उसका कहना है कि बिना स्थिति विशेष का ध्यान किये हुये किसी भी एक स्वरूप के बारे में कोई निर्णय करना सम्भव नहीं है। रक्षण चाहने वाले प्रत्येक उद्योग की अपनी-अपनी विशेषताएँ होंगी और उनका विचार करते हुए ही निर्णय करना होगा। अधिकांश उद्योगों के लिए प्रारम्भ की अवस्था में देश की आन्तरिक माँग की यथेष्ट पूर्ति करना सम्भव नहीं होगा। कुछ उद्योग विशेष उत्पादन पद्धति के कारण अत्यधिक केन्द्रित और संगठित हो सकते हैं, जब कि कुछ उद्योग ऐसे हो सकते हैं जो कि देश भर में फैले हुये हों और उनके उत्पादन और लागत की परिस्थितियों में भी बहुत अन्तर हो। कुछ उद्योगों के बारे में आन्तरिक माँग और सम्भावित उत्पादन मात्रा का पहले से ही अनुमान लगाना आसान हो सकता है। इसके अलावा देश की आर्थिक स्थिति का विचार भी रखना ही होगा। अस्तु, राजकोषीय आयोग का यह मानना है कि उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखकर ही प्रशुल्क-अधिकारी को यह निर्णय करना चाहिये कि अमुक उद्योग को अमुक प्रकार से रक्षण देना उचित होगा।

देश के निराकाम्य-(कस्टम्स) नियमों का जहाँ तक सम्बन्ध है राजकोषीय आयोग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इनका उपयोग रक्षण की दृष्टि से कदापि नहीं करना चाहिये। हाँ, जहाँ तक कि रेल-किराया नीति अथवा सरकार की सामान खरीदने सम्बन्धी नीति का प्रश्न है उनका उपयोग रक्षण की दृष्टि से किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र विस्तार से लिखा है।

रक्षण सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसकी प्रमात्रा (क्वेनटम्) का है। इस सम्बन्ध में उठने वाली विभिन्न समस्याओं का राजकोषीय आयोग ने विवेचन किया है। रक्षण की प्रमात्रा का जहाँ तक प्रश्न है उसकी माप आन्तरिक उत्पादन लागत और जिस लागत पर विदेशी माल आकर उतरे उसके अन्तर से

की जाती है। इसी आधार पर रक्षण की प्रमात्रा का सब देशों में निश्चय किया जाता है ताकि देश के उत्पादनकर्त्ता और आयातकर्त्ता बराबर की स्थिति में रखे जा सकें। जहाँ तक कि रक्षण के समय का सवाल है, इसका निश्चय उद्योग-विशेष की स्थिति और प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति दोनों का ही ध्यान रखकर करना होगा। यह ठीक है कि विकास की दृष्टि से रक्षण अधिक समय के लिए आवश्यक होगा, परन्तु किसी तात्कालिक कठिनाई का सामना करने के लिए यदि रक्षण आवश्यक है तो वह अपेक्षाकृत कम समय के लिए होगा। पर राजकोषीय आयोग का यह निश्चित मत है कि रक्षण के समय के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त यही होना चाहिये कि उद्योग-धन्धों को पर्याप्त लम्बे समय के लिए रक्षण दिया जावे ताकि धन्धों में पूँजी भी आकर्षित हो सके और उनके विकास के लिए उचित योजना तैयार की जाकर उसको कार्यान्वित भी किया जा सके। पर्याप्त समय के लिए रक्षण नहीं मिलने से उसका सारा उपयोग ही नष्ट हो जाता है।

जिन उद्योग-धन्धों को समाज की ओर से सहायता और रक्षण प्राप्त हो उन पर इस बात का प्रतिबन्ध भी होना चाहिये कि इस सुविधा के बदले में वे किन्हीं कर्त्तव्यों का पालन भी करें। राजकोषीय आयोग का यह मत है कि रक्षित उद्योग पर इस बात का दायित्व होना चाहिये कि वह अपनी प्रतिस्पर्द्धात्मक दक्षता बढ़ावे। किस उद्योग पर क्या दायित्व डालना चाहिये इसका निर्णय तो उपयुक्त अधिकारी द्वारा सब सम्बन्धित बातों पर सोच-विचार कर ही किया जाना चाहिये। परन्तु फिर भी उचित मूल्य, उत्पादन मात्रा में वृद्धि, उत्पादित वस्तु के गुण, उत्पादन और वितरण की अधिक से अधिक वैज्ञानिक प्रणाली के उपयोग, अनुसंधान, उच्च श्रेणी के मजदूरों और उम्मीदवार कारीगरों (एपेरेंटिसेज़) के शिक्षण, समाज विरोधी कार्य और देश में उत्पन्न कच्चे माल के उपयोग सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके विषय में रक्षित उद्योगों पर समाज के हित की दृष्टि से आवश्यक जिम्मेदारी डाली जानी चाहिये। इन विभिन्न प्रकार की जिम्मेदारियों का पालन कराने का सबसे अच्छा उपाय राजकोषीय आयोग की दृष्टि में यह नहीं है कि रक्षण सम्बन्धी जो भी क़ानून बने उसमें इनका समावेश कर लिया जाए। इससे तो एक अनावश्यक कड़ाई आजाने का भय है। आयोग का यह मानना है कि प्रशुल्क अधिकारी की स्थापना सम्बन्धी जो क़ानून बने उसमें मार्गदर्शक सिद्धान्तों की तरह, जिनका क़ानून द्वारा पालन नहीं कराया जा सकता, इस प्रकार के दायित्वों का उल्लेख होना चाहिये। फिर यह उस अधिकारी पर छोड़ दिया जावे कि वह किस उद्योग पर कौन सी बातों का और

किन शर्तों पर दायित्व डालता है। साथ ही इस अधिकारी का यह भी काम होना चाहिये कि कौनसा उद्योग अपने दायित्व को कहाँ तक वास्तव में पूरा कर रहा है या नहीं, इसकी वह निगरानी रखे और इस सम्बन्ध में वह सरकार को भी समय-समय पर रिपोर्ट पेश करता रहे। यदि सरकार यह अनुभव करे कि किसी स्थिति में कानून द्वारा ही इन दायित्वों का पालन कराया जा सकता है तो वह ऐसा कानून भी पास कर सकती है। इन दायित्वों का महत्व रक्षित उद्योगों पर किसी प्रकार का बन्धन लगाना नहीं है, बल्कि देश के औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के उद्देश्य से ही इन दायित्वों की आवश्यकता समझी गई है।

राजकोषीय आयोग ने प्रशुल्क के अलावा रक्षण के दूसरे उपायों पर भी विचार किया है। पूँजी का संचय, विदेशी पूँजी का महत्व, औद्योगिक प्रबन्ध, औद्योगिक अनुसंधान, मानकीकरण (स्टैन्डर्डाइज़ेशन) और गुण-नियंत्रण, मज़दूर-दक्षता, मज़दूर-शिक्षण, यातायात के साधन और सुविधा, तथा अधिकोष व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों पर भी औद्योगिक विकास की दृष्टि से विचार किया गया है। हमने इन सभी प्रश्नों पर अपने-अपने उपयुक्त स्थान पर विचार किया है।

राजकोषीय आयोग ने देश की रक्षण-नीति सम्बन्धी प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (आई० टी० ओ०) की पृष्ठभूमि में भी विचार किया है। उनका यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ में शामिल होते हुए भी हम देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक रक्षण-नीति को अपना सकते हैं। अस्तु, उनने यह सिफारिश की है कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संघ की सदस्यता स्वीकार कर लेनी चाहिये, यदि अन्य आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण देश—जिसमें इङ्गलैंड और अमरीका भी शामिल हों—सदस्य होना स्वीकार करें तथा देश की उस समय की आर्थिक स्थिति में ऐसा करना उचित समझा जाए।

राजकोषीय आयोग ने देश की आर्थिक योजना और रक्षण-नीति के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में भी अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि रक्षण योजना एक साधन मात्र है और उसके द्वारा देश की सेवा उसी दशा में हो सकती है जबकि देश के आर्थिक विकास के लिए एक व्यापक आर्थिक योजना तैयार की जाए और उसको कार्यान्वित करने के अन्य साधनों को उपलब्ध किया जाए। आर्थिक नीति से सम्बन्ध रखने वाले केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालयों

के समन्वयीकरण के महत्त्व पर जोर देते हुए, आयोग ने इङ्गलैंड के उदाहरण पर व्यापार-उद्योग-मंडल की स्थापना करने के प्रश्न पर विचार करने का सुझाव भी उपस्थित किया है।

रक्षण-नीति से सम्बन्ध रखने वाला अन्तिम प्रश्न यह है कि इस नीति को कार्यान्वित करने का ज़िम्मा किसका समझा जाए। राजकोषीय आयोग ने इस काम के लिए 'प्रशुल्क आयोग' की स्थापना की सिफ़ारिश की है। यह आयोग एक स्थायी संस्था होनी चाहिये जैसी कि भारतीय राजकोषीय आयोग (१६२२) ने भी सिफ़ारिश की थी, यद्यपि तत्कालीन भारत सरकार ने उस सिफ़ारिश को स्वीकार नहीं किया। रक्षण-नीति में स्थायित्व और समानता के लिए इस प्रकार के स्थायी आयोग की बड़ी आवश्यकता है। इस आयोग की स्थापना संसद् के कानून द्वारा की जानी चाहिये ताकि उसके कार्य के अनुरूप उसको प्रतिष्ठा मिल सके। इसमें पाँच सदस्य हों जिनमें से एक अध्यक्ष हो। यह संख्या ७ तक बढ़ाई जासके, इसकी कानून में गुंजाइश होनी चाहिये। विशेष काम के लिए सलाहकारों को नियुक्त करने का भी आयोग को अधिकार होना चाहिये। सदस्यों की नियुक्ति का एक मात्र आधार योग्यता होना चाहिये और किसी भी प्रदेश अथवा हित विशेष के प्रतिनिधित्व का बिल्कुल ध्यान नहीं रखना चाहिये। सदस्यों पर कुछ विशेष प्रतिबन्ध भी होने चाहिएँ जैसे सदस्य होने के समय प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत कम्पनियों में अंशधारी (शेयर होल्डर) की हैसियत से या अन्य किसी प्रकार के अपने हितों की घोषणा करनी चाहिये और सदस्यता समाप्त होने के बाद तीन साल तक बिना सरकार की पूर्व स्वीकृति के किसी व्यक्तिगत उद्योग-धधे में कोई ज़िम्मेदारी का पद न ग्रहण कर सके, यह प्रतिबध होना चाहिये।

प्रशुल्क आयोग के निम्नलिखित कार्य होने चाहियें :—

(१) रक्षण और आय सम्बन्धी प्रशुल्क की जाँच करना। इस सम्बन्ध में रक्षण के लिए आए हुए आवेदनपत्रों और व्यापारिक समझौतों के अनुसार आवश्यक प्रशुल्क में रियायतों विषयक जाँच तो आयोग को सरकार के कहने पर ही करनी चाहिये। परन्तु वस्तु-राशिपातन (डंपिंग) की शिकायत और रक्षण करों में परिवर्तन सम्बन्धी जाँच प्रशुल्क आयोग अपनी इच्छा से अथवा सरकार के कहने से भी कर सकता है।

(२) मूल्यों और देश की अर्थ व्यवस्था पर रक्षण के सामान्य प्रभाव सम्बन्धी जाँच करना। ये जाँच सरकार के कहने पर ही आयोग को करनी होगी और इसमें वस्तु विशेष के मूल्यों, प्रशुल्क का मूल्यो के समान स्तर पर प्रभाव,

रहन-सहन के खर्च पर प्रशुल्क का प्रभाव और देश की अर्थ व्यवस्था के अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रशुल्क के प्रभाव सम्बन्धी जाँच का समावेश होगा।

(३) रक्षण-करों का सिंहावलोकन करना। इस श्रेणी में प्रशुल्क के कार्यान्वित होने सम्बन्धी पद्धति, रक्षण-करों का उत्पादन-लागत, उत्पादन-मात्रा, वस्तुओं के गुण और उत्पादन-वृद्धि की संभावना की दृष्टि से उद्योग पर पड़ने वाले प्रभाव, रक्षित उद्योगों की मूल्य सम्बन्धी नीति, व्यापार पर किसी के रक्षित उद्योगों में पाए जाने वाले प्रतिबन्ध, रक्षित उद्योगों के दायित्व, और रक्षण-कर के कारण उत्पन्न अन्य किन्हीं समस्याओं सम्बन्धी जाँच का समावेश होगा। केवल मूल्य सम्बन्धी नीति और प्रतिबन्ध सम्बन्धी जाँच को छोड़कर अन्य मामलों में प्रशुल्क आयोग जब चाहे तब जाँच कर सकता है। इन दो मामलों में सरकार के कहने पर ही आयोग जाँच करेगा। प्रशुल्क आयोग को प्रति तीसरे वर्ष रक्षण-नीति पर एक रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत करनी चाहिये जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ इसका भी उल्लेख होना चाहिये कि रक्षित उद्योगों ने अपने दायित्वों को कहाँ तक निभाया है, उसमें किस-किस प्रकार के दोष पाए जाते हैं और उनको और अधिक किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता है या नहीं। आयोग अपने कार्य की सालाना रिपोर्ट भी पेश करेगा।

जहाँ तक कि प्रशुल्क आयोग की कार्य-पद्धति का प्रश्न है, राजकोषीय आयोग खुली जाँच के पक्ष में है, जैसी कि १६२२ के आयोग की राय भी थी। जाँच के समाप्त होते ही प्रशुल्क आयोग को अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत कर देना चाहिये और सरकार को साधारणतया दो महीने के अन्दर अपना निर्णय दे देना चाहिये। सरकार प्रशुल्क आयोग की सिफारिशें स्वीकार करे या न करे, पर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित अवश्य होनी चाहिये और सरकार को यदि वह प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं करती है तो उसके कारणों का पूरा स्पष्टीकरण करना चाहिये। प्रशुल्क आयोग को रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक उन सब बातों को व्यक्त करना चाहिये जिनके कारण वह अमुक निष्कर्षों पर पहुँचा है और उसने अमुक सिफारिशें की हैं। राजकोषीय आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया है कि प्रशुल्क आयोग जो अराजकोषीय सहायता की सिफारिशें करे उन पर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये और इस सम्बन्ध में प्रशुल्क आयोग के सामने एक वार्षिक ब्योरा भी पेश होना चाहिये जिससे यह मालूम हो सके कि क्या-क्या अराजकोषीय सहायता वर्ष भर में दी गई है।

प्रशुल्क कमीशन (टेरिफ़ कमीशन) की स्थापना :—यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि राजकोषीय आयोग ने यह सिफ़ारिश की थी कि एक स्थायी प्रशुल्क कमीशन की स्थापना होनी चाहिये। भारत सरकार ने १९५१ में टेरिफ़ कमीशन एक्ट पास किया जिसके अनुसार स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना हो चुकी है। जनवरी १९५२ से प्रशुल्क आयोग ने बंबई में काम करना भी आरंभ कर दिया है। भारतीय प्रशुल्क-इतिहास में स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना है और गत तीस वर्षों से भी अधिक समय से राष्ट्र को जो आवश्यकता अनुभव हो रही थी उसकी इस प्रकार पूर्ति हुई है।

यह प्रशुल्क आयोग अब तक जो प्रशुल्क मंडल काम करते रहे उनसे कई अर्थों में भिन्न है। सबसे पहला अन्तर तो यही है कि प्रशुल्क आयोग की स्थापना और उसके कार्य-क्षेत्र का निश्चय एक विधि द्वारा हुआ है और उसका स्वरूप एक अर्द्ध न्याय-संस्था (क्वासी-जुडीशियरी) का है। उस पर किसी मंत्री का नियंत्रण नहीं होगा। अब तक जो टेरिफ़ बोर्ड काम करते थे वे मंत्री के नियंत्रण में काम करते थे और उनकी स्थापना किसी विधि के द्वारा न होकर संबंधित विभाग के आदेश से ही होती थी। दूसरा अन्तर यह है कि प्रशुल्क आयोग एक स्थायी संस्था है। अब तक टेरिफ़ बोर्ड या तो अस्थायी होते थे या फिर द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्कालीन टेरिफ़ बोर्ड क़ायम किया गया था। स्थायी संस्था होने से राष्ट्र की प्रशुल्क नीति में स्थायित्व रह सकेगा जिसकी कि बड़ी आवश्यकता होती है। तीसरा अन्तर यह है कि इंडियन टेरिफ़ कमीशन एक्ट में प्रशुल्क आयोग के जिन कार्यों का निर्देशन किया गया है वे अब तक के टेरिफ़ बोर्डों के कार्यों से अधिक विस्तृत हैं। ये कार्य इस प्रकार हैं :—(१) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये संरक्षण देने के उद्देश्य से जाँच करना और उसकी रिपोर्ट देना, (२) किसी उद्योग को संरक्षण देने के उद्देश्य से सीमा शुल्क या दूसरे शुल्कों में परिवर्तन करना, (३) माल पाटने की या संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण का दुरुपयोग करने की स्थिति में उचित कार्रवाई करना. (४) आम मूल्य-स्तर और रहन-सहन के खर्चे पर संरक्षण का क्या प्रभाव हुआ इसकी जाँच और रिपोर्ट करना, (५) प्रशुल्क संबंधी रियायतों का जो व्यापारिक समझौतों के कारण दी गई हैं किसी उद्योग विशेष पर क्या प्रभाव पड़ा है इस की जाँच और रिपोर्ट करना (६) अन्य बातों पर विचार करना, प्रशुल्क संबंधी असंगतियों पर विचार करना। इसके अलावा प्रशुल्क आयोग को यह भी अधिकार है कि वह केवल उन उद्योगों द्वारा की गई संरक्षण की माँग पर विचार ही न करे जो स्थापित हो चुके हैं पर जो उद्योग अब तक

स्थापित नहीं हुए हैं और जो संरक्षण के बिना स्थापित होना संभव नहीं मानते उनकी माँग पर भी विचार करे। जिन उद्योगों को संरक्षण मिला हुआ है उनके बारे में अपनी इच्छा से ही जाँच करने का अधिकार भी प्रशुल्क आयोग को है। अन्तर्कालीन टेरिफ़ बोर्ड को यह अधिकार इस रूप में नहीं था यद्यपि कुछ मामलों में जिनका उल्लेख संबंधित प्रस्ताव में कर दिया गया था अन्तर्कालीन टेरिफ बोर्ड को भी बिना गवर्नमेंट के हवाले के अपनी मर्ज़ी से भी जाँच करने का अधिकार था। यह ध्यान रखने की बात है कि इस प्रशुल्क आयोग को भी यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी उद्योग को पहले पहल संरक्षण देने के मामले में बिना सरकार के हवाले के स्वयं ही जाँच आरंभ करदे या किन्हीं अमुक-अमुक वस्तुओं की कीमतों के बारे में अपनी इच्छा से ही जाँच करना शुरू करदे। प्रशुल्क आयोग का यह भी काम होगा कि संरक्षण नीति के असर के बारे में वह सरकार को एक निश्चित अवधि के बाद नियमित रूप से रिपोर्ट करे। संरक्षित उद्योग पर जो विशेष शर्तें लगाई गई हों उनके बारे में जाँच करना भी प्रशुल्क आयोग का काम होगा। संरक्षित उद्योगों पर लगाई जाने वाली शर्तों और प्रशुल्क को निर्णय करने संबंधी सामान्य सिद्धान्तों को तय करने के बारे में भी प्रशुल्क आयोग को काफ़ी अधिकार दिये गये हैं। अन्तर्कालीन टेरिफ़ बोर्ड को तीन साल से अधिक समय के लिये संरक्षण देने का अधिकार नहीं था, पर प्रशुल्क आयोग पर समय की कोई मर्यादा नहीं है। प्रशुल्क आयोग एक्ट में यह भी धारा है कि किसी उद्योग के बारे में आयोग की ओर से सरकार के पास रिपोर्ट आ जाने के बाद तीन महीने के अन्दर-अन्दर सरकार को वह रिपोर्ट पार्लियामेंट को पेश कर देना चाहिये कि उसने आयोग की रिपोर्ट पर क्या कार्रवाई की है। इससे संरक्षण देने न देने संबंधी निर्णयों में आवश्यक देर होने की गुंजाइश नहीं होगी।

प्रशुल्क आयोग में कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच स्थायी सदस्य हो सकते हैं। इस समय जो प्रशुल्क आयोग नियुक्त हुआ है उसमें तीन सदस्य ही हैं। स्थायी सदस्यों के अलावा सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह अस्थायी आधार पर अतिरिक्त सदस्य नियुक्त कर सकती है। यदि संसद या राज्य की विधान परिषद् या राज्य परिषद् का कोई सदस्य प्रशुल्क आयोग का सदस्य नियुक्त कर दिया जाता है तो उसे एक महीने के अन्दर अन्दर संसद या राज्य की विधान परिषद् या राज्य परिषद् से स्तीफा दे देना होगा। प्रशुल्क आयोग के सदस्यों की नियुक्ति तीन साल के लिये होगी और कोई भी सदस्य सदस्यता से हटने के तीन वर्ष तक किसी व्यक्तिगत उद्योग में नौकरी नहीं कर सकेगा।

भारत की संरक्षण-नीति का औचित्य—हमने जो अब तक लिखा उसका सार यह है कि भारत की औद्योगिक उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि हमारा देश संरक्षण नीति को स्वीकार करे। लिस्ट का 'धन उत्पन्न करने की क्षमता' और 'औद्योगिक विकास की दृष्टि से सर्वथा नया देश' सम्बन्धी तर्क भारत के सम्बन्ध में इसी नीति को अपनाने के पक्ष का समर्थन करते हैं। मार्शल और पीगू जैसे निर्बाध व्यापार के समर्थकों ने भी इस तर्क को स्वीकार किया है। अस्तु, संरक्षण-के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं और भारत के सम्बन्ध में वे कहाँ तक लागू होते हैं इस पर अब हम विचार करेंगे, यद्यपि इस विवेचन का कोई व्यवहारिक मूल्य नहीं है।

संरक्षण-सिद्धान्त के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं उन पर विचार करने के पहले दो बातों की ओर संकेत करना आवश्यक है। एक तो यह कि हमें इस समस्या पर दीर्घकालिक दृष्टि से विचार करना है। दूसरे यह कि देश के साधनों का पूर्णतया उपयोग हो. इसके साथ-साथ यह भी देखना होगा कि हमारा राष्ट्र आज के हिंसा और प्रतिस्पर्द्धा के युग में दूसरे राष्ट्रों के मुकाबले में अपना अस्तित्व कायम रख सके। इस दृष्टि से रक्षा और जीवन की अनिवार्य आधारभूत आवश्यकताओं के मामले में हमें स्वावलम्बी बनने का ध्येय अपने सामने बराबर रखना होगा। केवल आदर्श के नाम पर हम वस्तु-स्थिति की माँग की अवहेलना नहीं कर सकते।

संरक्षण के विपक्ष में एक बड़ा तर्क यह है कि वह उपभोक्ता को हानि पहुँचा कर भी उत्पादनकर्ता को लाभ पहुँचाता है। इस अर्थ में यह तर्क सत्य है कि संरक्षण नीति के कारण विदेशों से आने वाले आयात पर कर लगने से उनके मूल्य में जो वृद्धि होती है उसका असर विदेशी उत्पादनकर्ता यथासंभव उपभोक्ता पर डालने का प्रयत्न करता है। इस हानि के मुकाबले में संरक्षण से मिलने वाले लाभ का हमें विचार करना चाहिये। जहाँ तक विदेशी माल की मूल्य-वृद्धि का सवाल है, यह मूल्य-वृद्धि अल्पकालिक हो सकती है। संरक्षण के कारण जब राष्ट्रीय उद्योग भली प्रकार विकसित हो जाएँगे तो यह सम्भव हो सकता है कि वे संरक्षण के पहले जिस भाव पर विदेशी माल बिकता था उसी या उससे भी सस्ते भाव पर उस माल को बेच सकें। यह ठीक है कि विदेशों के मुकाबले में अपने देश में उत्पादन-लागत सम्बन्धी जो स्थिति होगी उस पर यह निर्भर होगा। दूसरे संरक्षण के कारण न केवल संरक्षित किन्तु आम तौर से जो उद्योग-धन्धों की प्रगति होगी उससे देश की आय बढ़ेगी और उपभोक्ताओं को बढ़े हुए मूल्य से जो भी हानि सम्भव है उसके मुकाबले में यह लाभ उनको होगा। संरक्षण

से मिलने वाला सबसे बड़ा लाभ यह है कि देश के तमाम खाली साधनों का उपयोग हो सकेगा और यदि इस कारण से थोड़ी बहुत मूल्य-वृद्धि हो तो उसके बारे में कोई आपत्ति की बात नहीं हो सकती। संरक्षण के कारण बढ़े हुए मूल्य के रूप में उपभोक्ताओं को अनुचित हानि नहीं उठानी पड़े इस दृष्टि से यह देखना होगा कि संरक्षण सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार एक सुसंगठित और समन्वयित तथा समस्त राष्ट्र को सामने रखकर बनाई गई औद्योगिक विकास की योजना है। ऐसी स्थिति में यदि राष्ट्र के किसी एक अंग को थोड़ा त्याग भी करना पड़े तो वह करना चाहिये।

संरक्षण के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि उसका देश की कर-व्यवस्था पर बुरा असर पड़ता है। करों का बोझ धनवानों की अपेक्षा निर्धन पर अधिक बढ़ जाता है। कारण यह है कि उपभोग की वस्तुओं पर लगने का परिणाम अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि करना होता है और अप्रत्यक्ष कर उपयोग की वस्तुओं पर होने से उनका बोझ आम लोगों पर अधिक पड़ता है। यह तर्क वास्तव में किस समय कितना लागू होगा इसका अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि जिन वस्तुओं को संरक्षण दिया जाने वाला है वे आम उपभोग की हैं अथवा नहीं। यदि वे किसी वर्ग-विशेष के उपभोग में ही आने वाली हैं तो उनका असर भी आम जनता पर न पड़ उस वर्ग विशेष तक ही सीमित रहेगा। पर वास्तव में विचारणीय प्रश्न तो यह है कि इस तरह का बोझ पड़ने देना उचित है अथवा नहीं। कर-व्यवस्था को प्रगतिशील बनाने का जहाँ तक सम्बन्ध है वह नए प्रत्यक्ष कर लगाकर भी बनाई जा सकती है और उपभोक्ताओं के बोझ को भी वास्तव में हल्का किया जा सकता है यदि करों से होने वाली आय समाज की भलाई के कामों में व्यय की जा सके।

संरक्षण के विपक्ष में एक दलील यह भी है कि सरकार की आय पर उसका असर अच्छा नहीं पड़ता। यदि वर्तमान आय-कर विदेशी माल को आने से रोकने की दृष्टि से बढ़ाया जाता है तो थोड़े समय के लिए सरकारी आय पर बुरा असर अवश्य पड़ेगा। किन्तु अन्ततोगत्वा संरक्षण राष्ट्र के औद्योगीकरण में सहायक होगा और इस प्रकार उसके द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। जब राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी तो सरकारी आय के भी कई नए साधन निकल आवेंगे। अल्पकाल में भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि संरक्षण का परिणाम राज्य की आय कम करना ही होगा।

संरक्षण के विरुद्ध जितने भी तर्क उपस्थित किए गए हैं उनमें सब में ही अलग-अलग से विचार करने पर कुछ न कुछ सत्यता का अंश अवश्य है। पर

उनके बारे में इस प्रकार से विचार करना सही नहीं है। हमें राष्ट्र के सम्पूर्ण हित की दृष्टि से, न कि केवल आर्थिक दृष्टि से ही, इन बातों पर विचार करना चाहिये। यदि राष्ट्र के सम्पूर्ण हित की दृष्टि से संरक्षण-नीति को अपनाना आवश्यक है तो उसे अपनाना चाहिये, फिर चाहे किसी एक दृष्टि अथवा दूसरी दृष्टि से ऐसा करना उचित न मालूम पड़ता हो। संरक्षण के विरुद्ध एक बहुत बड़ी आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि उसके कारण आर्थिक स्थिर हित और राजनैतिक भ्रष्टाचार उत्पन्न होते हैं। हमें यहाँ यह बात नहीं भूलना चाहिये कि आर्थिक स्थिर स्वार्थ पूँजीवादी व्यावस्था के अवश्यम्भावी परिणाम है। संरक्षण इन स्थिर स्वार्थों का कारण इस वजह से समझा जाता है कि वह औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देता है। यह दोष तो है पर उसका इलाज यह नहीं है कि औद्योगीकरण ही न किया जाए! इस दोष को यथाशक्ति कम से कम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इसका एक उपाय यह है कि जनता के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से सरकार सरक्षित उद्योगों पर पूरा नियंत्रण रखे। इतना ही नहीं, राज्य का नियंत्रण उन उद्योगों पर भी होना चाहिये जिनको संरक्षण प्राप्त नहीं है, यदि राष्ट्र के हित में ऐसा करना आवश्यक है। 'ट्रस्ट' और 'कार्टल' का जन्म केवल संरक्षण के कारण ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। उनके जन्म का जो कुछ भी कारण हो, पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से उसका नियंत्रण अवश्य होना चाहिये। प्रो० ग्यानचन्द की राय में उद्योग-धन्धों को उत्पन्न करने का संरक्षण कोई अच्छा उपाय नहीं है। उनकी दृष्टि में संरक्षण का मूल आधार यह है कि उसकी आड़ में अनियंत्रित आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का बोलबाला रहे। व्यवसायी वर्ग यह तो चाहता है कि विदेशी प्रतिद्वन्द्विता से राज्य उनकी रक्षा करे, पर वे यह नहीं पसन्द करते कि राज्य मज़दूर, उपभोक्ता और समाज की उनके द्वारा होने वाले आर्थिक शोषण से रक्षा करे। अस्तु प्रो० ज्ञानचन्द की यह सम्मति है कि औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण के स्थान पर दूसरे उपायों को काम में लाना चाहिये—जैसे 'कोटा सिस्टम' (माल के आयात की मात्रा निश्चित करना), विनिमय दर नियंत्रण, और द्विराष्ट्रीय व्यापारिक समझौते। इसमें कोई शंका नहीं कि इन दूसरे उपायों को काम में लाने से संरक्षण-नीति को व्यवहार में लाने के कारण जो कई पेचीदगियाँ उत्पन्न हो सकती हैं उनसे बचा जा सकता है। यह पेचीदगियाँ माल के मूल्यांकन करने अथवा दुगुनी, तिगुनी, या कई गुनी टेरिफ़ की सूची तैयार करने से पैदा होती हैं। इस हद तक सरक्षण-पद्धति की अपेक्षा ये दूसरे उपाय अधिक सुविधाजनक हैं। यह सब होने पर भी प्रो० ज्ञानचन्द का यह मानना तो है ही कि इस प्रकार जिन उद्योगों को

प्रोत्साहन मिलता है उनका भी जनहित की दृष्टि से राज्य द्वारा नियंत्रण आवश्यक है। यदि किसी देश में यह सम्भव है कि राज्य इस प्रकार के उद्योगों पर नियंत्रण रख सकता है तो वह संरक्षण द्वारा पोषित उद्योगों पर भी नियंत्रण रख सकता है। सारांश यह है कि पूँजीवाद के दोषों से समाज की रक्षा करने का जहाँ तक प्रश्न है वह इस बात पर निर्भर है कि राष्ट्रीय राजनीति में किस प्रकार की शक्तियों की प्रधानता है। यदि देश में प्रगतिशील शक्तियों का प्रभाव है तो समाज के हित में राज्य द्वारा आर्थिक जीवन का नियंत्रण सम्भव होगा अन्यथा नहीं। इसका यह अर्थ है कि स्वस्थ और सही आधार पर औद्योगिक उन्नति तभी सम्भव है जब कि देश की समाज-व्यवस्था प्रगतिशील हो। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में तो औद्योगीकरण का स्वाभाविक परिणाम स्थिर स्वार्थों को जन्म देना होगा ही। इस सम्बन्ध में फिर भी इतना अवश्य कहना होगा कि देश की सरक्षण पद्धति को व्यवहारिक रूप देने में जो कई प्रकार की पेचीदगियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक हैं उनका ध्यान रखते हुए यह उचित समझा जा सकता है कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए संरक्षण-पद्धति के स्थान पर दूसरे सरल सीधे और अधिक फलदायी उपायों को काम में लिया जाय। ये दूसरे उपाय आयात की मात्रा निश्चित करना, विनिमय नियत्रण और द्विराष्ट्रीय समझौते हैं। ये उपाय वास्तव में कितने सरल हैं यह भी एक विवाद का प्रश्न है। पर जो कुछ भी हो, औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण-पद्धति का सर्वथा परित्याग नहीं किया जा सकता।

राजकीय सहायता के अन्य प्रकार—औद्योगिक उन्नति को प्रोत्साहन देने के लिए जिन उपायों का ऊपर विवेचन किया गया है उनके अतिरिक्त कुछ दूसरे उपाय भी हैं। उनका संक्षेप में हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

कच्चे माल को बाहर जाने से रोकने के लिए, ताकि देश के उद्योगों को कच्चा माल आसानी से उपलब्ध हो सके, निर्यात-कर लगाना भी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का एक उपाय है। इसके बारे में विचारणीय प्रश्न एक ही है और वह यह कि उत्पादन-कर्ता अर्थात् व्यवसायी को थोड़ा-सा लाभ पहुँचाने के लिए कच्चे माल को पैदा करने वालों को बहुत हानि तो नहीं उठानी पड़ती है। औद्योगीकरण में सहायता पहुँचाने का दूसरा उपाय यह है कि उद्योग-धन्धों के काम में आने वाला जो कच्चा माल अथवा मशीन आदि बाहर से आती हैं, उन पर आयात-कर न लगाया जाए।

औद्योगिक उन्नति में राज्य देश को बैंकिंग व्यवस्था को सही आधार पर विकसित होने में मदद पहुँचा कर, रेल और जहाजों के किरायों के सम्बन्ध में

उदार नीति बरत कर और बिक्री के लिये अच्छी व्यवस्था खड़ी करके भी सहायता पहुँचा सकता है। व्यापारिक और औद्योगिक सूचना प्राप्त करने की सुव्यवस्था करने का भी बड़ा महत्त्व है। पराधीन भारत में इन सब मामलों में असन्तोषजनक स्थिति रही। आज भी स्थिति पूर्णतया संतोषप्रद नहीं मानी जा सकती। उदाहरण के लिए भारतीय रेलों के किराये सम्बन्धी नीति के बारे में फ़िसकल कमीशन का यह कहना है कि अक्टूबर १६३६ से किराये की जो संशोधित दरें लागू की गई हैं उनके परिणाम स्वरूप रेलवे की किराये की दरों का वैज्ञानिकन तो हुआ है और फ़ासले के बढ़ने के साथ-साथ किराये में कमी भी की गई है, पर कुछ दूसरी समस्यायें खड़ी हो गई हैं। कमीशन ने इस प्रश्न पर रेल्वे बोर्ड द्वारा दुबारा विचार करने की सिफ़ारिश की है ताकि उद्योगों के विकेन्द्रीकरण और खाद्य या खनिज पदार्थ को अपने ही स्थान तथा प्रदेश में तैयार माल में बदलने में अधिक सहायता मिल सके। इसी प्रकार देश की बैंकिंग व्यवस्था में भी कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है, जैसे व्यापारिक बैंक औद्योगिक पूँजी के बारे में अधिक उदार नीति का व्यवहार करें और विशेष प्रकार के बैंक स्थापित किये जायें। व्यापारिक और औद्योगिक सूचना के लिए केन्द्रीय सरकार के व्यापारिक सूचना और अङ्क विभाग के अलावा राज्य की सरकारों के औद्योगिक विभागों में भी सूचना सम्बन्धी शाखाएं काम करती हैं। पर यह व्यवस्था सतोषजनक नहीं है। सरकार द्वारा सूचनाएं पुरानी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं।

औद्योगीकरण के लिए अनुकूल वातावरण बनाने की दृष्टि से शिक्षा का भी बड़ा महत्त्व है। अंग्रेज़ों ने देश में जिस शिक्षा-पद्धति को प्रचलित किया उसके फलस्वरूप हाथ के काम से देश के नवयुवकों में अरुचि उत्पन्न हुई। पुस्तकीय शिक्षा पर ज़ोर होने से विद्यार्थी कोई उपयोगी काम नहीं सीख सकते थे। इस स्थिति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही है। तत्कालीन भारत सरकार के निमंत्रण पर नवम्बर १६३६ में भारत में दो शिक्षा-विशेषज्ञ, ए. एबट और एस. एच. वुड आये थे। जून १६३७ में उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। उसमें भी इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि भारतवर्ष में शिक्षा प्रधानतः पुस्तकीय है जो अनुचित है। फ़िसकल कमीशन ने भी यह सिफ़ारिश की थी कि सरकार को टेकनिकल शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिये। अन्य कमीशनों और कमेटियों ने भी इस बात को कहा है। उदाहरण के लिए औद्योगिक कमीशन (१६१६-१८), कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन (१६१७-१६), ज़ाकिर हुसेन कमेटी (१६२१), टेकनिकल और औद्योगिक

शिक्षा सम्बन्धी बम्बई कमेटी (१६२१) और भारत सरकार द्वारा टेकनिकल शिक्षा पर, विशेषतया युद्धकालीन आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से, विचार करने के लिए नियुक्त सारजेएट कमेटी (१६४०) इन सब ने इसी बात पर ज़ोर दिया कि शिक्षा पुस्तकीय न होकर अधिक व्यवहारिक होनी चाहिये। दो बातों पर विशेषतया ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रारंभिक शिक्षा-प्रणाली में धन्धे की शिक्षा की ओर विशेष झुकाव होना चाहिये। वर्धा शिक्षा प्रणाली इस दृष्टि से एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। इस पद्धति का देश में अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि हमारी आवश्यकतानुसार टेकनिकल शिक्षा देने वाली संस्थाओं की देश में स्थापना होनी चाहिये। ऐसी संस्थाओं की आज भी कमी है। ऊँचे दर्जे के काम करने वालों—जैसे फ़ोरमेन, मैनेजर आदि के लिए आवश्यक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। भारत सरकार और राज्य की सरकारों को मिलजुल कर इस विषय में एक व्यस्थित योजना के अनुसार काम करना होगा। देश में टेकनिकल शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने के अलावा, छात्रवृत्ति देकर भारतीय छात्रों को शिक्षा के लिए विदेशों में भेजना होगा। विदेशी कम्पनियों से भी ख़रीदने की एक शर्त यह लगाई जा सकती है कि वे भारतीय विद्यार्थियों को आवश्यक टेकनिकल शिक्षा दें। हमारी केन्द्रीय और राज्य की सरकारों का इस ओर ध्यान है और इस दिशा में वे प्रयत्नशील होने की चेष्टा भी कर रही हैं। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की सिफ़ारिश के अनुसार १६४५ में भारत सरकार ने अखिल भारतीय टेकनकिल शिक्षा कौंसिल की स्थापना की जिसका काम उच्च टेकनिकल शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार को सलाह देना है। युद्धोत्तर शिक्षा-योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में टेकनिकल स्कूलों और पोलिटेकनिक तथा औद्योगिक स्कूलों की स्थापना हुई है। भारत सरकार ने भी टेकनिकल शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया है। दिल्ली के पोलिटेकनीक का विस्तार किया गया। हाल ही में हिजली (प० बगाल) में इन्स्टीट्यूट ऑफ हायर टेकनालॉजी की भारत सरकार ने स्थापना की है। दूसरे स्थानों पर भी ऐसे इन्स्टीट्यूट स्थापित करने का विचार है। बंगलोर के इ डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स के विकास में भारत सरकार योग दे रही है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार विदेश में शिक्षा पाने के लिए विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ भी देती हैं। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना और आवश्यक है कि टेकनिकल शिक्षा से पूरा लाभ उसी दशा में संभव होगा जबकि उद्योग-धन्धों और शिक्षा-संस्थाओं में निकट का सम्पर्क रहे।

औद्योगिक अन्वेषण का प्रश्न भी बड़ा महत्त्व का है। देश की औद्योगिक

व्यवस्था को अन्य उन्नत राष्ट्रों की औद्योगिक व्यवस्था के बराबर रखने की दृष्टि से तथा उस विषय में बराबर उन्नति का द्वार खुला रखने की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र में औद्योगिक अन्वेषण की समुचित व्यवस्था हो। बड़े-बड़े व्यवसायों और राज्य दोनों का ही इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा कर्त्तव्य है। सरकार का कर्त्तव्य है कि गैर सरकारी प्रयत्नों को आर्थिक सहायता तथा आवश्यक मार्गदर्शन और समन्वय द्वारा प्रोत्साहन दे। इस क्षेत्र में विश्वविद्यालय भी औद्योगिक अन्वेषण के स्वतन्त्र विभाग स्थापित करके बहुत कुछ काम कर सकते हैं। विश्वविद्यालयों को उद्योग-धन्धों का पूरा सहयोग मिलना चाहिये। सरकार को भी इस क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाएँ स्थापित करना चाहिये। साथ ही इस प्रकार के सरकारी तथा गैर सरकारी सब प्रयत्नों में समन्वय की भी बहुत आवश्यकता है। एक या दो अपवादों को छोड़कर भारतवर्ष में औद्योगिक अन्वेषण का अभी तक अभाव ही रहा है। भारत के अधिकांश उद्योग-धन्धे छोटे अथवा बीच के दर्जे के हैं और अच्छे औद्योगिक खोज के केन्द्र स्थापित करना उनकी शक्ति के बाहर की बात है। इस देश में संगठित औद्योगिक खोज का प्रारंभ हुए बहुत समय नहीं हुआ। विभिन्न पदार्थों संबंधी समितियों, जैसे भारतीय केन्द्रीय कपास समिति, भारतीय केन्द्रीय जूट समिति और भारतीय केन्द्रीय लाख उपकर (सेस) समिति आदि की जब स्थापना हुई तो इनमें से प्रत्येक के साथ एक टेकनोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट भी कायम किया गया। इस देश में सगठित औद्योगिक खोज़ का यही आरंभ था। पर चूँकि उपर्युक्त समितियाँ कृषि-पक्ष से सम्बन्ध रखती थीं, इसलिए इनसे सम्बन्ध रखने वाले टेकनालॉजिकल इन्स्टीट्यूट्स ने औद्योगिक खोज के क्षेत्र में थोड़ा काम किया। देश के विभिन्न भागों में कुछ स्वतन्त्र रिसर्च इन्स्टीट्यूशन्स भी कायम हुए हैं, पर उन्होंने आधारभूत वैज्ञानिक और टेकनोलॉजिकल प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया है तथा उद्योग धन्धों से सम्बन्ध रखने वाली समस्या-विशेष की ओर उनका ध्यान कम रहा है। इस कारण से उनसे भी देश के उद्योग-धन्धों को विशेष लाभ नहीं हो सका है। खास तौर से इसका कारण यह भी रहा है कि उनका उद्योग-धन्धों से सम्पर्क भी बहुत कम रहा है। सरकार ने भी इस दिशा में पिछले वर्षों में कुछ प्रयत्न किये हैं और अब तो इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। पाँचवें औद्योगिक सम्मेलन (१६१४) की सिफारिश के परिणाम स्वरूप 'इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यरो' की अप्रैल १६३५ में स्थापना की गई जिसकी सहायता और सलाह के लिए 'इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल' भी स्थापित की गई। यह रिसर्च ब्यरो इण्डियन स्टोर्स डिपार्टमेंट से सम्बद्ध है। इसका काम औद्योगिक जानकारी एकत्रित

करना और देना, औद्योगिक खोज में उद्योग-धन्धों का साथ देना और औद्योगिक प्रदर्शनियों के संगठन में सहायता पहुँचाना आदि है। सन् १९४० में एक नई संस्था 'बोर्ड ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' नाम की स्थापित हुई है। इसके तत्वाविधान में देश के विभिन्न भागों में कई राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई हैं। औद्योगिक खोज का क्षेत्र तो बहुत विस्तृत है। पर आवश्यकता इस बात की है कि आने वाले कुछ वर्षों में निम्नलिखित समस्याओं पर ही विशेष ध्यान दिया जाय—उत्पादन क्रिया, फेक्टरियों में काम करने की परिस्थितियाँ और उनका काम करने वालों के स्वास्थ्य और कुशलता पर प्रभाव, बाजार सम्बन्धी खोज, और प्रबन्ध सम्बन्धी खोज। इस प्रकार के खोज-कार्य के मुख्य उद्देश्य होंगे कच्चे माल में सुधार करना, तैयार माल में सुधार करना, कच्चे माल से तैयार माल की मात्रा में वृद्धि करना, और उत्पादन-क्रिया में सुधार करना ताकि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ा सके। औद्योगिक खोज के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्व की बात यह है कि इस कार्य में सरकार और उद्योग-धन्धों को सम्मिलित प्रश्न करने चाहियें। अहमदाबाद टेक्सटाइल इण्डस्ट्री रिसर्च ऐसोसियेशन द्वारा स्थापित रिसर्च इन्स्टीट्यूट इस सम्मिलित प्रयत्न का एक अच्छा उदाहरण है और सरकार ने जो इसमें सहायता की है वह प्रशंसनीय है। एक और ध्यान देने की बात यह है कि खोज सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र का उचित बटवारा होना चाहिये और उद्योग-धन्धों और सरकार द्वारा जो अलग-अलग प्रयत्न हों उनमें उचित समन्वय होना चाहिये। जैसे इस समय सरकार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ, टेकनोलोजिकल रिसर्च इस्टीट्यूट्स जो विभिन्न पदार्थ-समितियों से सम्बद्ध हैं, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स (बंगलोर) जैसी विशेष संस्थाएँ, और विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित खोज-कार्य जो देश में चल रहे हैं उनके क्षेत्रों का समुचित बटवारा होना चाहिये। इसके अलावा खोज-कार्य और उद्योग-धन्धों के पारस्परिक स्थायी सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से एक राय तो यह भी है कि राष्ट्रीय भौतिक-ज्ञान प्रयोगशाला और रसायन-विज्ञान प्रयोगशाला (नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी और ने० केमिकल लेबोरेटरी) के अलावा अन्य प्रयोगशालाओं को सरकारी विभाग के तौर पर न चला कर स्वतन्त्र खोज-संस्थाओं के रूप में चलाना चाहिये और उद्योग-धंन्धों पर उनके सम्बन्ध में यथेष्ट दायित्व डाला जाना चाहिये।

उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का सरकार के पास एक उपाय यह भी है कि वह अपनी आवश्यकता स्वदेशी माल द्वारा ही पूरी करे। इस विषय में भी

पराधीन भारत में सरकार की नीति बराबर आलोचना का विषय रही। यहाँ तक कि सरकार द्वारा नियुक्त औद्योगिक कमीशन ने भी इस विषय में सरकारी नीति को असंतोषजनक बताया था। सरकार ने भी स्वीकार किया कि उपयुक्त व्यवस्था न होने से यह कमी रही कि जो माल भारत में खरीदा जा सकता था वह भी इंगलैण्ड से मँगाया गया। तत्कालीन भारत-सरकार की स्वीकृत नीति के भी यह विरुद्ध था। औद्योगिक कमीशन की सिफ़ारिश के अनुसार इस प्रश्न पर विचार करने के लिए १९२१ में 'स्टोर्स परचेज़ कमेटी' की नियुक्ति की गई। उस कमेटी ने भी कमीशन की इस राय का समर्थन किया कि सरकार द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं के निरीक्षण के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ विभाग की स्थापना होनी चाहिये। अस्तु, इण्डियन स्टोर्स विभाग की स्थापना हुई। इसकी सेवाओं का लाभ केन्द्रीय सरकार के अलावा राज्य की सरकारों तथा स्वायत्त शासन संस्था आदि को भी मिलता है। यह विभाग एक सलाहकार के रूप में काम करता है और खरीदने, और खरीदे जाने वाले माल की जाँच करने तथा मूल्य आदि सम्बन्धी आवश्यक सूचना देने का काम करता है। इस विभाग का यह भी काम है कि भारतीय माल कहाँ से प्राप्त हो सकता है इसकी भी जाँच करे। जो माल देश में खरीदा जा सकता है वह विदेशों से न खरीदा जाय, यह ध्यान रखना भी इस विभाग का काम है। देश के दूसरे प्रमुख स्थानों में इस विभाग की क्रय-शाखायें (कलकत्ता और बम्बई) और निरीक्षण शाखाएँ (मद्रास, बम्बई, कानपुर) भी स्थापित की गई हैं। भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से स्टोर्स विभाग जो सामान खरीदना चाहता है उसके टेण्डर रुपए में और माल की सुपुर्दगी भारत में चाहने की नीति अधिकाधिक अपनाता जा रहा है। माल खरीदने की पद्धति में सुधार करने से भी देश के उद्योग-धन्धों को सहायता मिल सकती है। उदाहरण के तौर पर अकारण ही विभिन्न प्रकार के सामान खरीदने की अपेक्षा अगर एक ही प्रकार का सामान खरीदा जाए तो एक प्रकार के सामान की माँग बहुत हो सकती है जिसको पूरा करने के लिए नए उद्योग को खड़ा करना भी लाभदायक हो सकता है।

गत महायुद्ध में भारत सरकार के सप्लाई विभाग की स्थापना से भारत में खरीदे जाने वाले सामान में यथेष्ट वृद्धि हुई है। फिसकल कमीशन ने वर्तमान भारत सरकार की जो इस विषय में नीति है उसके बारे में लिखा है कि डायरेक्टर जनरल (इन्डस्ट्री और सप्लाई विभाग) द्वारा इस सम्बन्ध में बने नियमों के अनुसार खरीद का काम किया जाता है। जैसा कि इन नियमों में स्पष्ट है चीजों की खरीद इस दृष्टि से की जाती है कि देश के उद्योग-धन्धों को,

किफायत और कार्यक्षमता का ध्यान रखते हुए, अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिले। भारतीय माल के बारे में मूल्य सम्बन्धी कुछ रियायत भी दी जाती है जब कि सम्बन्धित उद्योग देश के आर्थिक जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करता हो, विदेशी स्पर्द्धा को नियन्त्रित करने की आवश्यकता हो, या ऐसी कोई दूसरी विशेष परिस्थिति हो। फिसकल कमीशन ने इस सम्बन्ध में दो सुझाव दिये हैं। एक तो यह है कि मूल्य संबंधी रियायत उन तमाम उद्योग-धन्धों को मिलनी चाहिये जो कि ठीक व्यापारिक आधार पर चलते हैं और जिनका उत्पादन इण्डियन स्टेन्डर्डज इन्स्टीट्यूशन की सिफ़ारिश पर भारत सरकार द्वारा निश्चित विवरण के अनुसार हो। दूसरे यह कि छोटे पैमाने के और कुटीर-उद्योग को अपेक्षाकृत अधिक मूल्य सम्बन्धी सुविधा प्राप्त हो। भारत सरकार और राज्य की सरकारों को इन सुझावों पर विचार करना चाहिये।

उपसंहार—राज्य किस-किस प्रकार से औद्योगिक विकास में सहायक हो सकता है यह हम ऊपर लिख चुके हैं। उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करने के वास्ते राज्य का क्या कर्तव्य है यह हम आगे के परिच्छेद में लिखेंगे। यहाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस कार्य में भी राज्य का पूरा सहयोग चाहिये। सारांश यह है कि बिना राज्य के क्रियात्मक सहयोग के देश की औद्योगिक उन्नति संभव नहीं है। प्रथम महायुद्ध ने तत्कालीन भारत सरकार के दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन किया था। द्वितीय महायुद्ध ने इस दृष्टिकोण को और प्रोत्साहन दिया। विभिन्न राज्यों के औद्योगिक विभागों ने भी टेकनिकल और इन्डस्ट्रियल शिक्षा, औद्योगिक सूचना, उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता (छोटे और कुटीर उद्योगों को) और क्रय विक्रय स्टोर्स और प्रदर्शनियों की व्यवस्था करके औद्योगिक प्रगति में सहायता देने का बराबर पिछले कई वर्षों से प्रयत्न किया है। जब से देश स्वतंत्र हुआ है तब से केन्द्रीय और राज्य की सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान देना आरंभ किया है। इस सम्बन्ध में अन्यत्र हम विस्तार से लिख चुके हैं। यहाँ तो इतना दुहराना ही काफ़ी है कि राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद देश की प्रमुख समस्या आर्थिक ही है और यह तभी शांतिपूर्वक हल हो सकेगी जब सरकारें, जनता, उद्योगपति और मजदूरवर्ग सभी राष्ट्र के व्यापक कल्याण को सामने रखकर पूरी शक्ति और लगन के साथ एक निश्चित योजना के अनुसार काम करना अपना एक मात्र लक्ष्य बनाएंगे।

———

परिच्छेद ३

उद्योग-धन्धे— प्रस्तुत प्रश्न

संगठन की समस्या—औद्योगिक विकास से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों में एक प्रश्न उद्योग-धन्धों के संगठन के प्रकार का है। यह खेद का विषय है कि हमारी औद्योगिक समस्या के इस पक्ष की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया जा सका। आधुनिक औद्योगिक संसार में व्यापारिक संगठन के क्षेत्र में मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों की प्रधानता है। व्यापारिक संगठन के दूसरे प्रकार जैसे साझेदारी अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। १६ वीं शताब्दी के मध्य में (१८५७) भारत सरकार के एक कानून द्वारा मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों को भारत में भी कानूनी स्वरूप मिला। तब से हमारे देश में भी नये उद्योगवाद के विकास के चिह्नस्वरूप मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों का महत्त्व बराबर बढ़ा है, यह संतोष की बात है। फिर भी मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों के संबंध में कुछ ऐसी कमियाँ रही हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है।

पहला प्रश्न कम्पनी की स्थापना से संबध रखता है। यह काम सरल नहीं है और इसकी समुचित व्यवस्था के लिए तीन प्रकार के विशेषज्ञों के सहयोग की आवश्यकता होती है। तीन प्रकार के विशेषज्ञों में पहली श्रेणी आर्थिक विशेषज्ञों की है जिनका काम कच्चे माल सम्बन्धी स्थिति, बाजार और मजदूरों सम्बन्धी स्थिति तथा प्रस्तावित व्यवसाय की आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त आकार (साइज़) के विषय में सलाह देना है। दूसरी श्रेणी में एंजीनियर आते हैं जिनका काम उद्योग सम्बन्धी आवश्यक सामग्री के लागत का अनुमान लगाना, और उपयुक्त मशीनों के बारे में तथा उनको लगाने के बारे में आवश्यक सलाह देना है। अन्तिम श्रेणी में वे वित्त विशेषज्ञ आते हैं जिनका काम अर्थ-प्रबन्ध के विषय में सलाह देना है। कम्पनियाँ की स्थापना करने वाले उपर्युक्त विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग करते हैं जिसके लिए वे उनको उचित पुरस्कार देते हैं। चूँकि कम्पनी की स्थापना में यथेष्ट व्यय होता है और उसमें अनिश्चितता भी रहती है इसलिए कम्पनी स्थापित करने का काम कोई व्यक्ति अकेला अपने पर नहीं लेता। प्रायः कुछ पूँजीपतियों और अधिकोषिकों (Bankers) का एक छोटा-सा-संगठन इस काम को करता है। जब कम्पनी का ठीक प्रकार से संगठन हो जाता है तो संगठन करने वालों का काम समाप्त हो जाता है और आवश्यक पुरस्कार पाने के बाद वे क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। सारांश यह है कि कम्पनियों को स्थापित करने का काम

एक वर्ग विशेष के हाथ में रहता है जिनका कम्पनियों के भविष्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। संसार के औद्योगिक राष्ट्रों में कम्पनी-स्थापना का कार्य इसी प्रकार होता है। इस सम्बन्ध में हमारे देश की स्थिति संतोषजनक नहीं है। हमारे देश में कम्पनी-स्थापना का काम करने वाले कोई विशेष वर्ग नहीं हैं। जो व्यापारिक संस्थाएँ स्वयं किसी न किसी व्यापार या दूसरी व्यापारिक संस्थाओं की व्यवस्था में लगी हुई हैं वे ही नई कम्पनियों की स्थापना का काम भी करती हैं। इन्हीं को हम 'मेनेजिंग एजेन्सी फ़र्म्स' के नाम से जानते हैं। कम्पनी की स्थापना के बाद उस कम्पनी से इनका सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। इसके विपरीत उस कम्पनी के प्रबन्ध का दायित्व भी इन्हीं को सौंप दिया जाता है। पहले तो इस बात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था कि कोई फ़र्म कितने समय तक किसी कम्पनी के मेनेजिंग ऐजेन्ट का काम कर सकती है, पर अब क़ानून द्वारा समय की मर्यादा तय करदी गई है, और वह अधिक से अधिक बीस वर्ष है। मेनेजिंग एजेन्सी प्रथा की अनुपयुक्तता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि एक ही मेनेजिंग ऐजेन्सी फ़र्म भिन्न-भिन्न प्रकार की फ़र्मों की स्थापना तथा प्रबन्ध का काम करती है। वास्तव में उनकी किसी के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं हो सकती। कम्पनी की स्थापना का काम हमारे देश में बिना किन्हीं विशेषज्ञों की राय के किया जाता है; यह भी एक दोष है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मेनेजिंग ऐजेन्ट इस बात को पसन्द नहीं करते कि कम्पनी-स्थापना के काम में वे और किसी का सहयोग लें। यदि वे ऐसा करने लगें तो उनको जो कई अनुचित अधिकार उनके द्वारा स्थापित कम्पनियों में मिल जाते हैं वे नहीं मिल सकें। दूसरा कारण यह है कि भारत में इस प्रकार के विशेषज्ञ हैं भी नहीं। पर ऐसे विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठाने का यथासम्भव प्रयत्न होना चाहिये। स्थापना सम्बन्धी समुचित व्यवस्था न होने से कई बुरे परिणाम उत्पन्न होगए हैं। भारत में औद्योगिक कम्पनियाँ प्रायः छोटे पैमाने पर काम करने वाली हैं। क्योंकि जब कम्पनी-स्थापना का दायित्व किसी एक व्यक्ति अथवा फ़र्म पर ही होता है तो वह अधिक बड़ी कम्पनी स्थापित करने में हिचकती है। जैसा ऊपर लिखा गया है, एक से अधिक यदि कम्पनी के स्थापना-कार्य में भाग लें तो फिर उनमें से किसी एक को ही भविष्य की प्रबन्ध-व्यवस्था का जिम्मा देना ज़रा कठिन हो। कम्पनी की स्थापना के पहले जितनी जाँच-पड़ताल होनी चाहिये और जैसा अर्थ-प्रबन्ध होना चाहिये वह भी नहीं हो पाता है। कई फ़र्म अपना जीवन आरम्भ करने से पहले ही असफल होती देखी गई हैं, क्योंकि उनके लिए आवश्यक अर्थ का प्रबन्ध नहीं किया जा सका। नतीजा यह होता है कि

हिस्सेदारों को हानि उठानी पड़ती है और भविष्य में वे शंकाशील बन जाते हैं। यह आवश्यक है कि भावी हिस्सेदारों के सामने किसी कम्पनी के बारे में जो भी अनुमान प्रस्तुत किए जाएँ वे किसी मान्य संस्था द्वारा प्रमाणित होने चाहियें। फ़िसकल कमीशन ने इस बारे में यह सिफ़ारिश की है कि भारत सरकार को उपयुक्त मंत्रालय में एक 'बुरो ऑफ कनसलटेन्ट्स' की स्थापना करनी चाहिये जिनकी सेवाओं का उपयोग उद्योगपति कर सकें।

अब तक हमने स्थापना के सम्बन्ध में विचार किया। दूसरा प्रश्न कम्पनियों के सुप्रबन्ध का है। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों के वास्तविक स्वामी हिस्सेदार होते हैं। पर संख्या के अधिक होने से, एक विस्तृत प्रदेश में बिखरे होने से तथा आवश्यक टेकनिकल जानकारी की कमी से, किसी कम्पनी की वास्तविक प्रबन्ध की जिम्मेदारी उठाना उनके लिए संभव नहीं है। साधारण जनतंत्रीय प्रथा के अनुसार हिस्सेदार एक संचालक मंडल का चुनाव करते हैं। कम्पनी की रीति-नीति का निर्णय यह मंडल करता है पर वास्तविक प्रबन्ध का काम वैतनिक व्यवस्थापक करते हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि इस व्यवस्था में व्यवहार में कई प्रकार के दोष हैं। पहली बात तो यह है कि संचालक मंडल सही अर्थ में हिस्सेदारों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वस्तु स्थिति यह है कि वे वैतनिक व्यवस्थापकों पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। भारत में, जहाँ कि व्यवस्था का काम मेनेजिंग एजेन्सी प्रथा पर होता है, यह बात और अधिक लागू होती है। इसके अलावा संचालकों को कोई टेकनिकल जानकारी नहीं होती और इस कारण से भी वे कुछ अधिक नहीं कर पाते। हिस्सेदारों का यह हाल भारत में नहीं दूसरे देशों में भी है। इस स्थिति का निराकरण तो यही हो सकता है कि संचालकों पर हिस्सेदारों का अधिक नियंत्रण हो। सन् १६३६ में जो कम्पनी एक्ट पास हुआ उसमें इस बात का ध्यान रखा गया। इस स्थिति में सुधार करने का एक उपाय मत देने की पद्धति में कुछ परिवर्तन करना भी है। वर्तमान पद्धति के अनुसार प्रत्येक हिस्से के पीछे एक मत होता है। अमेरिका में जो पद्धति प्रचलित है उसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा। अमेरिकन पद्धति के अनुसार एक निश्चित संख्या तक प्रत्येक हिस्से के पीछे एक मत होता है, उसके पश्चात् कई हिस्सों के पीछे एक मत होता है और इसी के साथ किसी भी एक हिस्सेदार को अधिक से अधिक कितने मत मिल सकते हैं, इसकी संख्या भी निश्चित रहती है। संचालकों की कम्पनी के काम में अधिक रुचि पैदा करने का एक उपाय यह भी है कि उनको उचित पुरस्कार मिले। संचालकों की संख्या चाहे कम करदी जाए पर उनको पारिश्रमिक पूरा मिलना

चाहिये। उदाहरण के लिए संचालकों को लाभ में साझेदार बनाना चाहिये। प्राय: ऐसा होता है कि 'आर्टिकल्स ऑफ एसोसियेशन' में इस आशय की एक धारा रहती है कि संचालकों की किसी मामले में कोई ज़िम्मेदारी नहीं मानी जायगी, सिवाय उन मामलों के जिनका उन पर व्यक्तिगत तौर से दायित्व आता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि संचालक कम्पनी की देखभाल करने में आवश्यक सावधानी नहीं बरतते। क़ानून से इस बात पर प्रतिबंध होना चाहिये कि संचालकों को उनके दायित्व से इस प्रकार मुक्त न किया जा सके। १६३६ में जो कम्पनी-एक्ट पास हुआ उसमें इस प्रकार का प्रतिबंध लगा भी दिया है।

कम्पनियों की व्यवस्था को ठीक करने का एक उपाय यह भी है कि संचालक मण्डल के अतिरिक्त एक व्यवस्था-समिति भी हो जिसके निम्न सदस्य हों:—प्रबंध-संचालक, सचालक-मण्डल का एक ऐसा प्रतिनिधि जिसे टेकनिकल जानकारी हो और मुख्य-मुख्य विभागों के अध्यक्ष। कम्पनी के कामों सम्बन्धी सब प्रकार की तफ़सीली बातों पर इस व्यवस्था-समिति को विचार और निर्णय करना चाहिये। यह समिति बड़ी बड़ी बातों पर भी विचार कर सकती है पर उनके सम्बन्ध में निर्णय संचालक मण्डल की स्वीकृति से ही होना चाहिये।

इस सम्बन्ध में करने का एक आवश्यक सुधार यह भी है कि इस प्रवृत्ति को रोका जाय कि एक ही व्यक्ति कई कम्पनियों के संचालक मण्डलों का सदस्य हो। क्योंकि इस प्रकार न केवल यही होता है कि संचालक-मण्डल मैनेजिंग एजेन्ट्स के प्रभाव में रहे, परन्तु मुट्ठी भर बड़े-बड़े उद्योगपति और व्यवसायी अनेकों व्यापारिक कम्पनियों को उनके संचालकों की हैसियत से अपने प्रभुत्व में रखते हैं। इसका एक परिणाम यह भी आता है कि सचालकों के हाथ में वास्तव में कुछ नहीं होता और नियन्त्रण का केन्द्रीकरण होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि कानून द्वारा एक ही व्यक्ति को कई कम्पनियों का संचालक होने से रोका जाय।

कम्पनियों पर हिस्सेदारों का वास्तव में नियन्त्रण स्थापित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि ऑडिटरों पर हिस्सेदारों का नियंत्रण हो न कि व्यवस्थापकों का। भारत में हिसाबों के निरीक्षण का काम संतोषजनक ढंग से नहीं होता। एक बड़ी आपत्ति की बात यह है कि ऑडिटरों की नियुक्ति तथा उनके पारश्रमिक और सेवा-काल का निश्चय वस्तुतः व्यवस्थापकों द्वारा ही किया जाता है। व्यवहार में यह सम्भव इसलिए हो जाता है कि हिस्सेदारों के मतों को कोई असर नहीं होता। हिस्सेदारों के हाथों में ही ऑडिटरों का पूरा नियन्त्रण होना चाहिये। इसका एक उपाय तो यह हो सकता है कि ऑडिटरों के चुनाव में

संचालकों और व्यवस्थापकों को मत देने का अधिकार ही नहीं रहे। यदि ऐसा प्रतिबन्ध बहुत कड़ा मालूम पड़े, तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि जो मतदाता अनुपस्थित रहने वाले हों उनके मतों को प्राप्त करने का अधिकार संचालकों तथा व्यवस्थापकों को न रहे। वास्तव में तो सभी चुनावों में पत्र द्वारा मत देने की पद्धति को हटा ही देना चाहिये।

मैनेजिंग एजेन्सी:—कम्पनियों की व्यवस्था में सुधार करने के प्रश्न का मैनेजिंग एजेन्सी के प्रश्न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत में कम्पनियों की व्यवस्था सम्बन्धी एक विशेष पद्धति मैनेजिंग एजेन्सी की है। इस विषय पर कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश व्यवसाय जिन विशेष परिस्थितियों में पनपा मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति उसी का परिणाम है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेज पूँजीपतियों को भारत में पूँजी लगाना लाभदायक मालूम पड़ने लगा। इस काम के लिए इंगलैंड में कम्पनियों की स्थापना होने लगी। भारत में औद्योगिक कम्पनियों की व्यवस्था कर सकने वाले कुशल व्यवस्थापकों का अभाव-सा था। इस समय भारत में कुछ विदेशी फर्में जिनको 'एजेन्सी हाउसेज़' कहते थे, काम करती थीं। इन 'एजेन्सी हाउसेज़' का एक काम तो यह था कि विदेशी फर्मों के प्रतिनिधि के रूप में ये ब्रिटिश माल का भारत में आयात करती थीं और भारतीय माल विदेशों को निर्यात करती थीं। इसके अतिरिक्त यह रुपये के लेन-देन का काम भी करती थीं। विदेशी पूँजीपतियों द्वारा स्थापित उद्योगों की व्यवस्था का काम भी इन्होंने अपने ऊपर लेना आरम्भ किया। इन उद्योगों के लिए आवश्यक अर्थ-व्यवस्था भी ये एजेन्सी हाउसेज करने लगे, क्योंकि रुपये के लेन-देन का काम तो ये करते ही थे। उद्योगों की व्यवस्था सम्बन्धी इस नए काम को आरम्भ करने से इन एजेन्सी हाउसेज़ को 'मैनेजिंग एजेन्सी फर्म्स' के नाम से पुकारा जाने लगा। बाद में इन्होंने भारतीय उद्योगों की स्थापना और व्यवस्था का काम भी आरम्भ कर दिया। इन विदेशी एजेन्सी हाउसेज़ का अनुकरण भारतीय व्यापारी वर्ग ने भी करना शुरू किया। इस प्रकार भारतीय मैनेजिंग एजेन्सी फर्म्स की भी स्थापना हुई और मैनेजिंग एजेन्सी की यह प्रथा आज तक चली आ रही है। मैनेजिंग एजेन्ट्स को यह काम विशेष रूप से लाभप्रद साबित हुआ है और वे इसे कदापि छोड़ना नहीं चाहते। मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति का प्रमुख लक्षण वह शर्तनामा है जो मैनेजिंग एजेन्ट और तत्सम्बन्धित फर्म के बीच में उसकी स्थापना के समय ही किया जाता है। १६३६ के कम्पनी एक्ट के पास होने के पहले इन शर्तनामों की अवधि २०-४० साल से लेकर अनिश्चित समय तक के लिए

हुआ करती थी। व्यवहार में देखने में तो यह आता था कि यदि शर्तनामे में कोई समय निश्चित भी होता तो उसका वास्तव में कोई मूल्य नहीं हुआ करता था। मैनेजिंग एजेन्ट्स का जितना प्रभाव होता है उसके कारण शर्तनामे का समय पूरा हो जाने पर दुबारा जारी करा लेना एक आसान-सी बात थी। इसीलिए एक बार यदि कोई फर्म मैनेजिंग एजेन्ट के हाथ में आगई तो फिर उसका उनके हाथ से निकलना असम्भव-सी बात थी। मैनेजिंग एजेन्ट्स पारिश्रमिक के रूप में उत्पादन, बिक्री या मुनाफे पर कमीशन लेते थे। इसके अलावा वे और भी कई प्रकार के कमीशन अनेकों नाम से वसूल करते थे। १६३६ के कम्पनी एक्ट ने इस स्थिति में कुछ सुधार अवश्य किया है। मशीन तथा कच्चा माल खरीदने और बिक्री तथा चल और अचल पूँजी की व्यवस्था करने के नाम पर इस प्रकार के कमीशन लिए जाते थे। मैनेजिंग एजेन्ट्स की आय के कुछ छोटे-मोटे साधन और भी थे। मैनेजिंग एजेन्टस् का बराबर यह प्रयत्न रहता आया है कि जिन फर्मों से उनका सम्बन्ध है वे अर्थ के मामले में उन्हीं पर निर्भर रहें। इसका कारण स्पष्ट है। क्योंकि इसी प्रकार उन फर्मों पर मैनेजिंग एजेन्ट्स का पूरा नियन्त्रण रह सकता है। मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति का परिणाम कम्पनी-व्यवस्था के क्षेत्र में—जैसा कि अर्थ व्यवस्था जैसे दूसरे क्षेत्रों में भी हुआ, हानिकर हुआ है। जिन फर्मों का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्टों के हाथ में होता है उनके वे वास्तव में सर्वेसर्वा बन जाते हैं। उनके सामने हिस्सेदारों, संचालकों तथा ऑडिटरों किसी की भी कुछ नहीं चलती। मैनेजिंग एजेन्टों को हटाने सम्बन्धी धारा को व्यवहार में लाना असम्भव-सा होता है। ऐसा करने में कई प्रकार की अड़चनों का सामना करना होता है। उदाहरण के लिए मैनेजिंग एजेन्ट को हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव लाने के लिए बहुत लम्बा नोटिस—जैसे एक वर्ष का—देना होता है। दूसरे ऐसा प्रस्ताव बहुत भारी बहुमत से ही पास करना होता है। यह भी होता है कि कुल मतों का एक न्यूनतम भाग, जो प्राय: तीन चौथाई होता है, ऐसे प्रस्तावों पर अवश्य ही आना चाहिये। और अन्तिम शर्त यह होती है कि एक बार प्रस्ताव पास हो जाने के पश्चात् कुछ महीनों बाद उसकी दुबारा पुष्टि होने पर ही वह अमल में आ सकता है। लम्बे नोटिस और दो बार प्रस्ताव पास करने की ऐसी शर्तें हैं जिनके कारण सम्बन्धित मैनेजिंग एजेन्ट को अपना पक्ष ठीक करने के लिए यथेष्ट समय और अवसर मिल जाता है। और कोई चारा न होने पर वे हिस्से खरीद कर अपने मतों की सख्या बढ़ा लेते हैं। अगर इतना सब करने पर भी मैनेजिंग एजेन्टस् को हटना ही पड़े तो उनको काफी भारी मुआवज़ा देना होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मैनेजिंग एजेन्ट्स के काम ने कुछ पैतृक काम का रूप ले लिया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यद्यपि प्रारंभ में मैनेजिंग ऐजेन्सी पद्धति ने एक आवश्यकता की पूर्ति की परन्तु अब उसका कोई उपयोग नहीं बचा है। बल्कि सुव्यवस्था और अर्थ-प्रबन्ध दोनों ही के मार्ग में वह एक बड़ी बाधा होगई। अस्तु, इस पद्धति का इसी स्वरूप में बना रहना किसी दृष्टि से भी आवश्यक नहीं रहा।

१९३६ का कम्पनी एक्ट:—कम्पनी-व्यवस्था सबन्धी जो दोष थे वे धीरे-धीरे सामने आने लगे। विशेषतया मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति की बुराइयाँ और कम्पनी एक्ट में इसके सम्बन्ध में कुछ भी न होना बहुत ही खटकने लगा। अस्तु, कम्पनी एक्ट में आवश्यक सुधार करने की माँग बराबर उठने लगी। और १९३६ में एक नया कम्पनी एक्ट पास किया गया।

१९३६ के एक्ट में कई प्रकार के सुधार किए गए हैं। न केवल हिस्सेदारों का नियन्त्रण अधिक दृढ़ किया है बल्कि मैनेजिंग एजेन्सी-पद्धति के दोषों को भी कम करने का प्रयत्न किया गया है।

१९३६ के कम्पनी एक्ट में जहाँ तक हिस्सेदारों का सम्बन्ध है, कई धाराएँ ऐसी हैं जिनके अनुसार उनका कम्पनी और उसके कारोबार के विषय में पूरी-पूरी जानकारी मिलना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर एक्ट के अनुसार यह अनिवार्य है कि विवरण पत्रिका (प्रोस्पेक्टस) में वे सब सूचनाएँ होनी चाहियें जो कि किसी हिस्सा खरीदने वाले व्यक्ति को हिस्सा खरीदने या न ख़रीदने के विषय में अपना निर्णय करने के लिए जानना जरूरी हैं। इसीलिए जिन कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्ट हैं उनमें मैनेजिंग एजेंटों के नाम और पते के अलावा 'आर्टिकल्स ऑफ़ एसोसियेशन' या उनके अहदनामे में उनकी नियुक्ति और मुआवजे सम्बन्धी जो धाराएँ हैं वे सभी प्रकट करना होती हैं। कम्पनी के कारोबार सम्बन्धी पूरी-पूरी जानकारी हिस्सेदारों को मिल सके इस उद्देश्य से और भी कई धाराएँ कम्पनी-एक्ट में रखी गईं हैं। जो हिसाब हिस्सेदारों को पेश किए जाते हैं वे तफ़सील में होते हैं और लाभ-हानि का हिसाब, डाइरेक्टर की रिपोर्ट तथा ऑडिटर की रिपोर्ट पेश करना भी अनिवार्य है। पहली बार हिस्सेदारों को यह क़ानूनी अधिकार मिला है कि विशेष प्रस्ताव पास करके वे डाइरेक्टरों को हटा सकते हैं। मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति, उनका वेतन आदि और एक्ट पास होने के पश्चात् उनके साथ किए गए इक़रार में किया जाने वाला कोई भी परिवर्तन हिस्सेदारों की आम सभा में स्वीकृत होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मुआवज़े सम्बन्धी कोई भी शर्त, जो क़ानून द्वारा निश्चित नहीं है, कम्पनी की स्वीकृति से ही की जा सकती है।

डाइरेक्टर्स के विषय में एक्ट का कहना है कि हर कम्पनी में कम से कम तीन डाइरेक्टर होंगे और मैनेजिंग एजेन्ट को डाइरेक्टरों की कुल संख्या के एक तिहाई भाग से अधिक नामज़द करने का अधिकार नहीं होगा। इसके आगे यह भी है कि आर्टिकल्स में जो कुछ भी हो, डाइरेक्टरों की दो तिहाई संख्या हिस्सेदारों द्वारा चुनी हुई होगी। डाइरेक्टरों के अधिकारों पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। उदाहरण के तौर पर कम्पनी से अगर कोई इक़रार किया जाता है तो उसके लिए बोर्ड की स्वीकृति आवश्यक है। इसी प्रकार दिवालिया घोषित हो जाने पर, कम्पनी में कोई वेतनभोगी अधिकारी का पद स्वीकार कर लेने पर, या निश्चित समय में डाइरेक्टर के लिए आवश्यक हिस्से न प्राप्त कर लेने पर अपने आप ही डाइरेक्टर को अपने पद से अलग होना अनिवार्य है। डाइरेक्टर को कई प्रकार के दोषों से जैसे, असावधानी, कर्त्तव्य-पालन न करने अथवा विश्वासघात (ब्रीच ऑफ ट्रस्ट) से होने वाले नुक़सान की जिम्मेदारी से मुक्त करना अब ग़ैरक़ानूनी कर दिया गया है।

अन्त में मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों में भी कमी करदी गई है। उनकी नियुक्ति तथा डाइरेक्टरों को नामज़द करने सम्बन्धी अधिकार के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। बाकी के प्रतिबन्धों में से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध वो हैं जो मैनेजिंग एजेन्टों पर, सिवाय उन बातों के जो उनके साथ किए गए शर्तनामे में दी गई हैं, डाइरेक्टरों का नियन्त्रण स्थापित करते हैं, अथवा उनका कार्य-काल अधिक से अधिक बीस साल तक के लिए निश्चत करते हैं, न केवल नई नियुक्तियों के सम्बन्ध में बल्कि वर्तमान नियुक्ति के सम्बन्ध में भी, हालांकि वर्तमान नियुक्तियों के लिए बीस साल का समय एक्ट के लागू होने के समय से समझा जाएगा, जब तक कि उनके साथ हुए समझौते के अनुसार उसका कार्य-काल इससे पहले ही समाप्त न होता हो। इसी प्रकार मैनेजिंग एजेन्टों को मिलने वाले मुआवजे के बारे में भी यह शर्त लगादी गई है कि उनके मुआवजे का एक मात्र आधार लाभ होगा जो कि किसी निश्चित प्रणाली के अनुसार ही आंका जायगा। एक फ़र्म द्वारा दूसरी फ़र्म में रुपया लगाने अथवा मैनेजिंग एजेन्टों को ऋण देने या ऋण के लिए ज़मानत देने की बुराइयों को भी रोका गया है, क्योंकि नए क़ानून के अनुसार ऐसे काम ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिए गए हैं। नए क़ानून के अनुसार बिना ऐसे तीन चौथाई डाइरेक्टरों की स्वीकृति के जो कि उपस्थित हैं और जिनको मत देने का अधिकार है, कम्पनी के साथ क्रय-विक्रय अथवा माल के लेन-देन सम्बन्धी किया गया कोई मुआएदा नियमित

नहीं माना जा सकता। मैनेजिंग एजेन्ट पर यह प्रतिबन्ध भी है कि वह स्वयं कोई ऐसा व्यवसाय न करे जो कि उस कम्पनी के व्यवसाय से प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा में आता हो जिसका कि वह मैनेजिंग एजेन्ट है। इसी प्रकार कोई कम्पनी किसी ऐसी दूसरी कम्पनी के हिस्से अथवा डिबेंचर (ऋण-पत्र) नहीं खरीदेगी जो कि पहले वाली कम्पनी के संचालकों द्वारा ही संचालित है। ऐसी खरीद तभी हो सकती है जबकि संचालन-समिति (बोर्ड) ने इसके लिए पहले से ही स्वीकृति दे दी हो।

उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि १९३६ के कम्पनी कानून के अन्तर्गत यद्यपि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली तो आज भी जारी है पर उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। इन प्रतिबन्धों के बावजूद भी मैनेजिंग-एजेन्सी प्रथा के बारे में शिकायतों की कमी नहीं हुई है। आज भी वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते पाये जाते हैं। भारत सरकार के सामने यह प्रश्न फिर विचाराधीन है और इस सम्बन्ध में आलोचना के लिए उन्होंने कुछ प्रस्ताव भी प्रकाशित किए हैं (देखें इस परिच्छेद के अन्त में परिशिष्ट)। भारत सरकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है। वह तो सम्पूर्ण कम्पनी एक्ट में सशोधन करने का विचार कर रही है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि पिछले वर्षों में ऐसी नई फ़र्मों की संख्या बढ़ी है जो कि किसी मैनेजिंग एजेन्सी के तत्वाविधान मे स्थापित नहीं हुई। यह इस बात का सकेत है कि देश में व्यवसायिक नेतृत्व का विकास हो रहा है। यह शुभ चिह्न हैं। क्योंकि व्यवस्था में ईमानदारी और कार्यदक्षता केवल क़ानून के बल पर नहीं लाई जा सकती। क़ानून से कुछ सहायता मिल सकती है, पर, अधिक जाग्रत जनमत, व्यवसायी वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक कर्तव्य-बुद्धि, अनुभवी, विशेषज्ञ, ईमानदार, और साहसी व्यवसायी-नेतृत्व की भी बड़ी आवश्यकता है। बिना इनकी मदद के व्यवस्था और अर्थ दोनों ही समस्याओं के हल नहीं निकल सकते।

औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध :—यह बात सर्व विदित है कि आधुनिक उद्योगों के लिए बहुत बड़ी पूँजी चाहिये। अस्तु, औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध के बारे में यथेष्ट जानकारी करना आवश्यक है।

उद्योग-धंधों को दो प्रकार की पूँजी चाहिये। स्थायी (फ़िक्स्ड) पूँजी और चालू (वर्किंग) पूँजी। स्थायी पूँजी की भूमि, इमारत, मशीनरी और दूसरे स्थायी उपकरणों के लिए आवश्यकता होती है। मौजूदा उद्योगों में नए विस्तार अथवा प्रतिस्थापना (रिप्लेसमेंट) के लिए भी स्थायी पूँजी की

आवश्यकता होती है। चालू पूँजी की आवश्यकता "कच्चा माल खरीदने और उसे तैयार माल में परिणत करने, चालू सामान खरीदने, तैयार माल को बेचने सम्बन्धी खर्च की व्यवस्था करने, जो माल आया है उस पर आवश्यक खर्च करने और दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए होती है।" चालू पूँजी का भी एक अंश लम्बे समय के लिए आवश्यक होता है। क्योंकि प्रत्येक उद्योग में दैनिक खर्च चलाने और कच्चे माल की एक निश्चित मात्रा बराबर बनाए रखने के लिए कुछ न कुछ रकम हमेशा ही लगी रहती है।

भारत में औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध का प्रश्न बहुत पुराना नहीं है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का जब तक इस देश में प्रारम्भ नहीं हुआ, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिक उद्योगों के आरम्भ हो जाने पर भी, काफी समय तक उद्योग-धन्धों के सामने पूँजी का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं था। इसका कारण यह नहीं था कि देश की बैंकिंग व्यवस्था बहुत संतोषप्रद थी। वास्तव में बात यह थी कि कुछ अपवादों को छोड़कर देश में बहुत थोड़े उद्योग-धन्धे ऐसे थे जिनके आगे विकास की कोई विशेष सम्भावना समझी जा सकती थी। उद्योग धन्धों की दृष्टि से यह समय गतिरोध का था। विदेशी माल की स्पर्द्धा के कारण देशी गृह उद्योगों का प्रायः अन्त-सा हो चुका था। राजनैतिक पराधीनता के कारण इन गृह-उद्योगों की रक्षा का कोई कारगर उपाय भी हम नहीं कर सकते थे। विदेशी शासन के फलस्वरूप देश को जिस आर्थिक विनाश का सामना करना पड़ रहा था उसे हम असहाय व्यक्ति की भाँति देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकते थे। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ के साथ परिस्थितियों ने थोड़ी करवट बदली। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय व्यवसाय के लिए एक अच्छा अवसर उपस्थित किया। अस्तु, औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध का प्रश्न भी अब सामने आया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य प्रश्नों के साथ-साथ औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध का प्रश्न भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। इस सम्बन्ध में विभिन्न कमीशनों और कमेटियों ने भी समय-समय पर विचार किया है। और यद्यपि इस समस्या को हल करने की दिशा में कुछ प्रयत्न भी हुए हैं और आज भी जारी हैं, परन्तु अभी तक इसका कोई संतोषजनक और समुचित हल हो नहीं सका है। हमारे देश के भावी आर्थिक विकास की दृष्टि से औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध का प्रश्न आज भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है।

इस प्रश्न की भावी सुव्यवस्था के विषय में विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि भारतवर्ष में स्थायी (ब्लॉक) और चालू (वर्किंग) दोनों ही

प्रकार की औद्योगिक पूँजी की पूर्ति आज किस तरह से होती है।

देश के प्रमुख उद्योग धन्धे स्थायी पूँजी की व्यवस्था निम्न लिखित उपायों में से किसी एक या अधिक उपायों द्वारा करते हैं :—(अ) हिस्सों और ऋण-पत्रकों (डिबेंचर्स) को सार्वजनिक रूप से अथवा सीमित मात्रा में बेच कर, (आ) नक़द रुपया हवालगी जमा (डिपोज़िट) के रूप में प्राप्त कर, और (इ) किसी व्यक्ति अथवा साझेदारी (पार्टनरशिप) विशेष से रुपया उधार लेकर। वैसे तो उपर्युक्त उपायों में से अलग-अलग उद्योग-धन्धों के लिए अलग-अलग उपायों का विशेष महत्त्व माना जा सकता है, पर फिर भी कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आजकल हिस्सों और ऋण-पत्रकों (डिबेंचर्स) को बेचकर स्थायी पूँजी प्राप्त करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है। साधारण हिस्सों के अलावा विशिष्ट हिस्सों (प्रिफ़रेंस शेयर्स) तथा ऋण-पत्रकों (डिबेंचर्स) का भी पूँजी प्राप्त करने के लिए उपयोग हुआ है, खास तौर से जूट के उद्योग में। इस सम्बन्ध में एक शुभ परिवर्तन यह भी हुआ है—कि प्रत्येक हिस्सा कम कीमत का रखा जाता है ताकि सामान्य स्थिति का व्यक्ति भी आसानी से खरीद सके। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ स्थायी पूँजी का प्रमुख आधार नक़द रुपया जमा के रूप में प्राप्त करना ही है। अहमदाबाद का सूती कपड़ा-उद्योग इस प्रकार का एक बड़ा उदाहरण है। मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों का जब तक प्रचार नहीं हुआ था व्यक्ति अथवा साझेदारी (पार्टनरशिप) विशेष से पूँजी उधार लेने के भी कई उदाहरण मिल जाते थे। नए उद्योगों में—जैसे शक्कर के, खान के, कागज़ के और दियासलाई आदि के उद्योगों में आज भी ऐसा देखा जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि यह उद्योग अपने अपने क्षेत्र में अगुआ रहे हैं।

चालू पूँजी (वर्किंग केपिटल) के सम्बन्ध में भी यह बात देखने को मिलती है कि पूँजी प्राप्त करने के लिए कई उपाय काम में लिए जाते हैं। मुख्यत: ये उपाय निम्नलिखित हैं—(अ) जमा के रूप में सर्व साधारण से रुपया प्राप्त करना, (आ) व्यवसायियों, उनके मित्रों अथवा मैनेजिंग एजेन्टों से जमा के रूप में प्राप्त करना, (इ) इन्डजिनिस बैंकर्स से हवालगी के रूप में रुपया प्राप्त करना, और (ई) मिश्रित पूँजी वाले बैंकों से ऋण लेना। सूती कपड़े के बम्बई और विशेषत: अहमदाबाद स्थित कारखानों में सर्व साधारण से जमा के रूप में रुपया प्राप्त करने का उपाय ही प्रधानतः काम में आता है। ये जमा थोड़े समय के लिए, प्रायः एक वर्ष से लेकर छः महीने तक के लिए, प्राप्त होती है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि किसी कठिनाई के समय

जब रुपये की सबसे अधिक आवश्यकता हो सकती है, अचानक रुपया वापस खींच लिया जाए। पिछले वर्षों में अहमदाबाद में यह भी देखा गया है कि इस तरह का जमा पाँच से सात वर्ष तक के लिए हो सकता है। इससे अचानक रुपया खिंच जाने का खतरा तो बहुत कम हो जाता है, परन्तु इस प्रणाली की एक बड़ी हानि यह है कि विश्वसनीय औद्योगिक हिस्सों, ऋण-पत्रकों तथा दूसरे प्रतिभूतों (सिक्योरिटीज़) की संख्या में कमी आने से विनियोग (इन्वेस्टमेंट) के बाज़ार के विकास में बाधा आती है।

बीच के दर्जे के और अपेक्षाकृत नए उद्योगों के पूँजी प्राप्त करने का एक मात्र साधन उपर्युक्त दूसरे नम्बर की प्रणाली है। इस प्रणाली के अनेक लाभ भी हैं। वे लोग जो रुपया उधार देते हैं उसे व्यवसाय विशेष में अपनी जोखम भी मानते हैं और इसलिए अचानक रुपया खिंच जाने का डर इसमें नहीं रहता। इसके अलावा, देश में ऐसे उद्योगों के लिए समुचित बैंकिंग व्यवस्था न होने से उनके लिए पूँजी प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय है भी नहीं। इस प्रकार के निजी जमा का एक लाभ यह भी है कि मन्दी के समय जब बैंक तक सुरक्षित उद्योगों के सम्बन्धों में भी थोड़ी सतर्कता की नीति बरतने लगते हैं, इस प्रकार की पूँजी से बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु उपर्युक्त लाभों के साथ-साथ इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। कई बार इस प्रणाली के कारण किसी एक ही मैनेजिंग ऐजेन्ट की फर्म पर उस हालत में अत्यधिक भार आ पड़ता है जब कि उसी एक फर्म को कई उद्योगों की आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके अलावा विनियोग (इन्वेस्टमेंट) के बाज़ार के विकास में इस प्रणाली से भी रुकावट उत्पन्न होती है।

पूँजी प्राप्त करने की तीसरी प्रणाली जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, देसी बैंकर्स (इन्डीजिनस बेंकर्स) से हवालगी लेने की है। इस प्रणाली का सहारा ऐसे पूँजी का अभाव अनुभव करने वाले या छोटे उद्योग, जो कागज, शकर, दियासलाई के जैसे अपेक्षाकृत नए क्षेत्रों में काम करते हैं, लेते हैं। ऐसे उद्योगों के पास दूसरा कोई विकल्प भी नहीं होता। इस प्रणाली का महत्त्व कम होता जारहा है, हालाँकि कुछ उद्योगों के लिए और कोई चारा नहीं है। उनकी यह विवशता हमारी मिश्रित पूँजीवाली बैंकिंग व्यवस्था और पूँजी के बाजार की अक्षमता का एक प्रमाण है।

हमारे उद्योगों के चालू पूँजी प्राप्त करने का अन्तिम साधन मिश्रित पूँजी वाले बैंक हैं जिनमें इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को भी शामिल कर लेना चाहिये। इन बैंकों के बारे में आम तौर से देश में यह धारणा है कि औद्योगिक

पूँजी की व्यवस्था में इनकी नीति अनावश्यक रूप से कड़ी और अनुदार रही है। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना तक इम्पीरियल बैंक एक हद तक केन्द्रीय बैंक का काम भी करता था और इस कारण से उसे कई प्रकार की मर्यादाओं में काम करना पड़ता था। आज भी इम्पीरियल बैंक पर पहले की कुछ मर्यादाएँ तो हैं जैसे छः महीने से अधिक समय के लिए ऋण अथवा हवालगी नहीं दे सकना, और अपने ही हिस्सों अथवा अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकना। परन्तु अन्य सब मामलों में अब वह दूसरे व्यापारिक बैंकों की तरह स्वतन्त्र है। स्वभावतः इस बैंक के पास जैसे साधन और योग्य कर्मचारी हैं उनको देखते हुए इससे औद्योगिक पूँजी के मामले में अधिक सहानुभूति पूर्ण नीति बरतने की आशा की गई। इससे यह अपेक्षित था कि विभिन्न उद्योगों की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता की जाँच कराई जायगी और जर्मन बैंकों के उदाहरण पर व्यापारिक और औद्योगिक मिला-जुला बैंकिंग का काम शुरू होगा। पर यह आशाएं अभी पूरी नहीं हुई हैं। जो छोटे बैंक हैं, जिनके साधन सीमित हैं और जिनके पास ऊँची योग्यता के कर्मचारी नहीं हैं उनसे अधिक आशा वैसे भी नहीं की जा सकती। साधन सम्पन्न और योग्य कर्मचारी वर्ग की जिनको सेवाएं प्राप्त हैं उन मिश्रित पूँजीवाले बैंकों को इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। फ़िसकल कमीशन ने भी यह सिफ़ारिश की है कि भारत सरकार को रिज़र्व बैंक की सलाह का इस प्रश्न पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में जर्मन बैंकों की कार्यप्रणाली की जानकारी उपयोगी होगी। जर्मनी में उद्योग-धन्धों और साधारण व्यापारिक बैंकों में निकट का सम्बन्ध रहा है। १९ वीं शताब्दी के मध्य में जब जर्मनी में औद्योगीकरण आरम्भ हुआ तो इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई। पैसेवाले लोग न स्वयं उद्योग में लगाना चाहते थे और न दूसरों को इस काम के लिए पैसा देने को तैयार थे। पूँजी के इस अभाव की पूर्ति बैंकों ने की। जिन के पास पैसा था उनको बैंकों में विश्वास था और इसलिए बैंकों में वे अपना रुपया जमा करते थे और बैंक उस रुपये का उपयोग उद्योग-धंधों के लिए करते थे। इस प्रकार बैंकों और उद्योग-धंधों का आपसी सहयोग आरम्भ हुआ।

बैंकों और उद्योगों का यह सम्बन्ध तीन प्रकार का है। पहला प्रकार चालू खाते का है और साधारणतया जर्मन फ़र्म न केवल चालू पूँजी, पर स्थायी पूँजी के लिए भी, जब तक कि स्थायी प्रबन्ध नहीं होता, इस आधार पर बहुत निर्भर रहती है। दूसरा प्रकार का यह है कि बैंक स्वयं औद्योगिक कम्पनियाँ चालू करते हैं और उनको पूँजी देते तथा बाद में सर्व साधारण को कम्पनी के

हिस्से बेंच कर अपना रुपया वापस वसूल कर लेते हैं। इस उद्देश्य से कई बैंक मिलकर जो एक संघ बनाते हैं उसको सिन्डीकेट या 'कनसोरटियम' का नाम दिया जाता है। यह संघ आरम्भ में उस नई कम्पनी के जो इसके द्वारा चालू की गई है, हिस्से खरीद लेता है जो बाद में, जैसा ऊपर लिखा गया है, जनता को बेच दिये जाते हैं। इसका यह अर्थ भी है कि किसी भी बैंक का किसी उद्योग से कोई स्थायी सम्बन्ध क़ायम नहीं होता। उद्योगों में सम्बन्ध रखने का तीसरा प्रकार औद्योगिक कम्पनियों के सचालक मंडलों में बैंक का प्रतिनिधित्व रखना है, ताकि बैंक अपने हितों की रक्षा कर सकें और कम्पनी की नीति को इस दृष्टि से प्रभावित भी कर सकें। जर्मन बैंकों की इस नीति की सफलता का एक कारण यह है कि वे अपने हर प्रकार के लेन देन का हिसाब अपने आप में बराबर रखते हैं। उदाहरण के तौर पर थोड़े समय के लिए आया हुआ रुपया कभी लम्बे समय के लिए किसी काम में नहीं लगाया जायगा। उसके लिए बैंक की पूँजी और उसके रक्षित कोष का उपयोग किया जायगा। यदि कहीं पूँजी रुक भी जाती है तो वह जोखिम कई बैंकों में बटी रहती है और इसके अलावा इस दृष्टि से गुप्त रक्षित-कोष भी रहते हैं। इस जर्मन प्रणाली का एक लाभ तो यह है कि औद्योगिक कम्पनियों को विशेषज्ञों से आर्थिक राय मिल जाती है, और दूसरे यह कि पूँजी लगाना चाहने वाले व्यक्तियों को बैंक के बीच में पड़ जाने से विश्वास अधिक हो जाता है। इस प्रणाली की कुछ हानियाँ भी हैं। जो छोटे-छोटे पूँजी लगाना चाहने वाले व्यक्ति हैं उनका महत्त्व घट जाता है और साधारण दर्जे की जो औद्योगिक कम्पनियाँ हैं उनकी स्वतन्त्रता भी किसी हद तक कम हो जाती है। बैंकों ने औद्योगिक एकीकरण को भी प्रोत्साहन दिया है। अल्पकालिक साख व्यवस्था और व्यापार की आवश्यकता-पूर्ति पर भी इस नीति का असर वांछनीय नहीं हुआ है क्योंकि राष्ट्र के तुरन्त काम में आ सकने वाले साधनों का उद्योग में उपयोग होने से जहाँ उनका वास्तव में उपयोग होना चाहिये वहाँ कमी आती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् और हिटलर-शासन के पहले बैंकों की इस प्रवृत्ति में कुछ अन्तर अवश्य आया। उद्योग-धधों की स्वतन्त्रता, प्रथम महायुद्ध के बाद के मुद्रा प्रसार के कारण उत्पन्न बैंकों की कमजोर स्थिति, और दुहरी बैंकिंग से होनेवाली हानियों का ध्यान, इस परिवर्तन के कारण हैं। फिर भी जर्मन बैंकों की इस नीति से औद्योगिक उन्नति में सहायता मिली है और भारत को भी इस दिशा में आगे आना चाहिये।

भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के बारे में एक शिकायत उनके ऋण देने की प्रणाली के बारे में भी रही है। शिकायत यह रही है कि बैंक व्यक्तिगत

ज़मानत मात्र पर उधार नहीं देते जैसा कि दूसरे देशों में होता है। इसके लिए बैंकों के साथ-साथ उधार लेने वालों को भी अपने तरीक़ों में सुधार करना होगा।

उधार लेने वालों को उनके बारे में चाही जाने वाली सारी जानकारी कराना चाहिये। प्रेसीडेन्सी बैंकों और इम्पीरियल बैंक की परम्परा, बैंकों की असफलताओं-का ध्यान और मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा गारन्टी देने की हर समय की तैयारी ने भी इस नीति को प्रोत्साहित किया। बिलों के बाज़ार के विकास और गोदामों द्वारा दीगई उनके पास जमा किये गए माल की गोदाम-रसीद का उधार रुपया लेने के लिए उपयोग होने से देश की औद्योगिक पूँजी की समस्या का हल निकलने में सहायता मिलेगी।

औद्योगिक पूँजी की वर्तमान स्थिति का पूरा हाल जानने के लिए इस विषय में मैनेजिंग एजेन्टों का जो योग रहा है उसे भी जानना आवश्यक है। ये प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से आर्थिक सहायता देते हैं। सीधा उधार देने के अलावा कम्पनियों के हिस्से और ऋण-पत्रक भी इनके द्वारा खरीदे जाते हैं। अप्रत्यक्ष सहायता कम्पनी के उधार लेते समय बैंक को गारन्टी देने, और जिस कम्पनी का उनसे सम्बन्ध है उसके हिस्से आदि बिकने अथवा सर्व साधारण से सीधी जमा प्राप्त करने में उनके नाम से सहायता मिलने से होती है। मैनेजिंग एजेन्सी का काम करने वाली फ़र्मों पर इस प्रकार की निर्भरता वांछनीय नहीं है पर दूसरे साधनों के अभाव से यह निर्भरता तो रहने वाली ही है।

अभी तक हमने औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था करने वाली मौजूदा बैंकिंग संस्थाओं के विषय में विचार किया है। अब हमें दूसरे देशों के उदाहरण को सामने रखकर नई संस्थाएँ स्थापित करने के प्रश्न पर भी विचार करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक सुझाव पूँजी लगानेवालों के मनोविज्ञान का अध्ययन और उनका पथ-प्रदर्शन करने वाली संस्थाओं को स्थापित करने का है। इंगलैंड और अमेरिका के 'अन्डर-राइटर्स' और जर्मनी के 'सिन्डीकेट' इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं और उनकी विशेष जानकारी तथा दृढ़ आर्थिक स्थिति से पूँजी लगाने वालों में एक विश्वास पैदा होता है और उसका परिणाम कम्पनी के सफल संस्थापन में आता है। भारत में इस काम के लिए कोई पृथक् संस्थाएँ तो नहीं बनी हैं, हालाँकि मैनेजिंग एजेन्ट किसी हद तक इस अभाव की पूर्ति करते हैं। अतः नई संस्थाओं को स्थापित करना आवश्यक है, जैसे स्वतंत्र रूप से अथवा

रिज़र्व बैंक के एक विभाग के रूप में 'राष्ट्रीय इनवेस्टमेंट बोर्ड' नाम की संस्था की स्थापना की जा सकती है। इसी प्रकार की दूसरी संस्था ब्रिटिश अथवा अमेरिकन ढंग की 'इनवेस्टमेंट ट्रस्ट कम्पनी' हो सकती है। ब्रिटेन में इन सस्थाओं का १६ वीं शताब्दी की अस्सियों में विशेष प्रचार हुआ। ये सर्व साधारण को 'स्टाक' बेचकर उनसे पूँजी एकत्रित करती हैं और फिर ये पूँजी कई प्रकार की प्रतिभूतों (सिक्योरिटियों) में लगाई जाती है। इस प्रकार यह क्रम बराबर जारी रहता है। इसका मूलभूत आधार जोखम को बाँटना है, यहाँ तक कि 'स्टाक' के एक अश के द्वारा विभिन्न कम्पनियों के २० से २००० तक स्टाक, हिस्से, बोण्ड, और ऋण-पत्रक (डिबैंचर्स) खरीदे जाते हैं।" इसकी सफलता का मूल आधार कुशल व्यवस्था है जिसमें इस का बराबर ध्यान रखा जाता है कि बाज़ार में कौन कौनसी सिक्योरिटीज़ बेची और खरीदी जाती हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इनवेस्टमेंट ट्रस्ट नाम की इन संस्थाओं का ह्रास हुआ। आर्थिक जीवन की विषमताओं का आखिरकार मनुष्य अपनी बुद्धि कौशल से मुकाबला नहीं कर सका। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन में 'फ़िक्स्ड ट्रस्ट' नाम की एक नई संस्था का जन्म हुआ। अमेरिका में इस प्रकार की सस्थाएँ थीं। इंगलैंड में सन् १६३१ में इस प्रकार की संस्था क़ायम हुई। इनवेस्टमेंट ट्रस्ट की भाँति इसमें भी जोखम का बटवारा रहता है पर इसमें व्यवस्था का भार किसी एक मैनेजर अथवा मैनेजरों के किसी समूह के हाथों में नहीं सौंपा जाता। फ़िक्स्ड ट्रस्ट जिन सिक्योरिटीज़ में पूँजी लगाता है उनकी संख्या निश्चित होती है और उनके बारे में सर्व साधारण को पूरी जानकारी कराई जाती है। जानकार लोग कई हिस्सों का एक समूह निश्चित कर लेते हैं और फिर सर्व साधारण को उसमें रुपया लगाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। रुपया लगाने वालों को यह आजादी रहती है कि वे पूरे समूह में अपना रुपया लगावें अथवा उसके किसी एक भाग में। ट्रस्ट का जीवन दस से बीस वर्ष तक का निश्चित किया जाता है और कोई भी बैंक या बीमा कम्पनी निश्चित शर्तों पर अमानतदार (ट्रस्टी) का काम करती है। हिस्सों के समूह को उप-समूहों में विभाजित करने का काम 'ट्रस्टी' करता है जो मुनाफ़ा भी एकत्रित करता है तथा अलग-अलग हिस्सेदारों को उनके मुनाफ़े का हिस्सा बाँटता है। इंगलैंड में इस संस्था का बड़ा प्रचार हुआ है और छोटे-छोटे पूँजी लगानेवालों को इससे बड़ी सहायता मिली। इन दोनों प्रकार की संस्थाओं से भारत को भी लाभ होगा। पूँजी लगाने वालों का पथ-प्रदर्शन करके और उसमें विश्वास पैदा करके औद्योगिक उन्नति में ये संस्थाए सहायक हो सकती हैं। इनवेस्टमेंट ट्रस्ट के नमूने की कुछ संस्थाएँ हमारे देश में

क़ायम भी हुई हैं, जैसे टाटाज़ इनवेस्टमेंट कॉरपोरेशन, इंडस्ट्रियल इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट लि०, जे० के० इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट लि० आदि। बम्बई और कलकत्ते में कुछ, इश्यू एंड फ़ाइनेन्स हाउसेज़' नाम की संस्थाएँ भी स्थापित हुई हैं जिनका काम सिक्यरिटीज़ के बिक्री का ज़िम्मा लेना अर्थात् अभिगोपन (अन्डर राइट करना) है।

औद्योगिक पूँजी की समस्या को सुलझाने के लिए समय-समय पर यह सुझाव भी रखा गया कि इस काम के लिए अलग से बैंक कायम किए जाने चाहियें। औद्योगिक कमीशन और केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी भी इसी राय की थीं। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी की यह सिफ़ारिश थी कि प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय औद्योगिक कॉरपोरेशन की स्थापना होनी चाहिये और उसकी पूँजी की व्यवस्था प्रारंभ में या फिर स्थायी तौर से ही प्रान्तीय सरकारों द्वारा की जानी चाहिये। प्रान्तीय सरकारों को इनके द्वारा जारी किए गए ऋण-पत्रक (डिबेंचर्स) भी खरीदना चाहिये या उन पर मिलने वाले ब्याज की गारन्टी देना चाहिये। ये कारपोरेशन दीर्घकालीन जमा--जिनका समय दो वर्ष से कम न हो—स्वीकार करें। जब तक इनके सम्बन्ध में सरकार का ब्याज या किसी दूसरे प्रकार का ज़िम्मा रहे उनके संचालक मण्डलों पर सरकार को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। इनका काम उद्योग-धन्धों को लम्बे समय के लिए पूँजी उधार देना होना चाहिये। किस प्रकार के उद्योगों को ये कॉरपोरेशन सहायता दें. इसका निर्णय बैंकिंग कमेटी की राय में सम्बन्धित प्रान्तीय सरकार पर ही छोड़ना ठीक होगा। केवल इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि सहायता पाने वाले उद्योग ऐसे हों जिनसे "जनता का हित होने वाला हो, प्रान्त को उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो और लोगों को काम मिले।" प्रान्तीय कॉरपोरेशनों के कामों में समन्वय करने की दृष्टि से एक अखिल भारतीय औद्योगिक कॉरपोरेशन की स्थापना भी आवश्यक मानी गई। इस प्रकार के अखिल भारतीय कॉरपोरेशन की आवश्यकता इसलिए भी मानी गई कि जिन उद्योग-धन्धों का महत्त्व सारे राष्ट्र की दृष्टि से है उनके विकास में सहायता देना इस कॉरपोरेशन का काम होगा। इसके अलावा और भी कई ऐसे काम हैं जैसे उद्योग-धन्धों के लिए सामान लाने-लेजाने के रेल-किराये में रियायत करवाना, केन्द्रीय सरकार की सामान खरीदने की नीति, आयात-निर्यात कर सम्बन्धी नीति तथा दूसरी उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाली नीतियों का औद्योगिक उन्नति को ध्यान में रखते हुए निर्णय कराना, जिनको अखिल भारतीय कॉरपोरेशन ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है।

पिछले वर्षों में इस प्रकार की कुछ संस्थाएँ देश में कायम हुई हैं। 'इण्डस्ट्रियल कॉरपोरेशन ऑफ़ यूनाइटेड प्रोविंसेज़' नाम की संस्था उत्तर प्रदेश

में स्थापित हुए काफी समय होगया। परन्तु इसका उद्देश्य छोटे पैमाने के उद्योगों की सहायता करना है। अन्य प्रान्तों (अब राज्यों) में भी इस प्रकार के प्रयत्नों की बड़ी आवश्यकता है।

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न केन्द्रीय सरकार द्वारा 'इण्डस्ट्रियल फाइनेन्शियल कॉरपोरेशन' की स्थापना करके किया गया है। फरवरी १९४८ में तत्कालीन पार्लियामेंट ने इस विषय में आवश्यक कानून पास किया। कॉरपोरेशन का उद्देश्य बीच के समय के लिए और दीर्घकालीन औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था करना है। कॉरपोरेशन की कुल हिस्सा पूँजी १० करोड़ रुपये तक हो सकती है। इसमें से ५ करोड़ की पूँजी के हिस्से फिलहाल जारी किये गये हैं। बाकी के बाद में आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से जारी किये जा सकते हैं। पूँजी के वापस करने और हिस्सेदारों को न्यूनतम लाभ मिलने की गारन्टी केन्द्रीय सरकार ने दी है। कॉरपोरेशन में ४० प्रतिशत हिस्सा पूँजी भारत सरकार और रिजर्व बैंक की होगी। १० प्रतिशत सहयोग बैंक का हिस्सा होगा। इसके अलावा इम्पीरियल बैंक, स्वीकृत बैंक (शेड्यूल्ड बैंक) और इन्श्योरेंस कम्पनियों को ही कॉरपोरेशन के हिस्से खरीदने का अधिकार है। कोई व्यक्ति विशेष कॉरपोरेशन में हिस्से नहीं खरीद सकता। नीति सम्बन्धी मामलों में भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह बैंक को आवश्यक हिदायतें दे सके। इन सब प्रतिबन्धों का लक्ष्य यही है कि कॉरपोरेशन राष्ट्र के हित की दृष्टि से औद्योगिक उन्नति के लिए काम कर सके।

बैंक के कार्य सचालन का अधिकार १२ व्यक्तियों के एक मंडल को है जिसमें छः भारत सरकार और रिज़र्व बैंक द्वारा नियुक्त होंगे। शेष छः अन्य हिस्सेदार चुनेंगे। इन बारह में एक मैनेजिंग डाइरेक्टर होगा। कॉरपोरेशन अपनी सहायता के लिए सलाहकार समितियाँ स्थापित कर सकता है जो उसे यह सलाह दें कि अमुक व्यवसाय को ऋण देना ठीक होगा या नहीं। ऋण केवल सहयोगी समितियों और आश्रित पूँजी वाली कम्पनियों को ही दिया जा सकता है और कोई एक ऋण ५० लाख रुपये से अधिक का नहीं हो सकता। ऋण रुपयो में अथवा विदेशी मुद्रा में जैसे भी आवश्यकता समझी जाए दिया जा सकता है। औद्योगिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अमेरिका के 'एक्सपोर्ट एण्ड इम्पोर्ट कॉरपोरेशन' से ऋण प्राप्त करने के लिए भी हमारा यह कॉरपोरेशन मध्यस्थ का काम कर सकता है। कॉरपोरेशन का सारा कार्य-संचालन व्यापारिक सिद्धान्तों के आधार पर होगा। जैसा पहले कहा चुका है इस बात की आवश्यकता

है कि राज्यों में भी इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की जाए। इसी दृष्टि से भारतीय संसद ने २८ सितंबर, १९५१ को 'स्टेट फ़ाइनेन्शियल कॉरपोरेशन्स एक्ट' पास किया है जो जम्मू और काश्मीर को छोड़ शेष समस्त भारत में लागू है। अब हम इस बारे में कुछ विस्तार से लिखेंगे।

भारत का 'इंडस्ट्रियल फ़ाइनेन्स कॉरपोरेशन' एक अखिल भारतीय संस्था है जो सार्वजनिक मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों और सहकारी समितियों को जो निर्मित उद्योग, खनिज उद्योग या शक्ति के उत्पादन या वितरण के काम में लगी हुई हैं, मध्यम या दीर्घकालीन ऋण देता है। राज्यों की सरकारों की यह इच्छा थी कि इस अखिल भारतीय संस्था के उपरोक्त काम की पूर्ति करने के लिये राज्यों में भी ऐसे कॉरपोरेशन्स क़ायम किये जायें जिनका काम उन बीच के और छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों को पूँजी उधार देना हो जो केन्द्रीय कॉरपोरेशन के क्षेत्र में नहीं आते हैं। 'स्टेट फ़ाइनेन्शियल कॉरपोरेशन्स एक्ट' इसी उद्देश्य से पास किया गया है।

यह क़ानून किसी भी राज्य में उसी समय में लागू होगा जब केन्द्रीय सरकार उसके लिये कोई तारीख निश्चित करेगी। यह क़ानून राज्यों में 'स्टेट फ़ाइनेन्शियल कॉरपोरेशन' क़ायम करने का अधिकार मात्र देता है। यह लाज़मी नहीं है कि राज्यों में ऐसे कॉरपोरेशन्स अवश्य ही क़ायम कर देने होंगे।

उपरोक्त क़ानून के अन्तर्गत राज्य के फ़ाइनेन्शियल कॉरपोरेशन्स को निम्नलिखित अधिकार दिये गये हैं:—(१) औद्योगिक फ़र्मों को २० वर्ष में चुकाये जाने की शर्त पर ऋण देना या उनके ऋण-पत्रकों [डिबेंचर्स] को खरीदना; (२) बाज़ार से लिये जाने वाले ऐसे ही ऋणों की जो २० वर्ष में चुकाये जाने वाले हों, गारंटी देना, और (३) औद्योगिक फ़र्मों द्वारा जो स्कंध, हिस्से, बॉंड या ऋण-पत्रक जारी किये जायें उनका अभिगोपन [अन्डरराइट करना] बशर्ते कि ७ साल के अन्दर अन्दर उनको कॉरपोरेशन बेच दे। कोई स्टेट कॉरपोरेशन पहले दो प्रकार की सहायता सरकारी प्रतिभूतियों, सोना-चाँदी या चल अथवा अचल संपत्ति की ज़मानत पर ही दे सकेगा। इसके अलावा किसी भी एक फ़र्म को वसूल पूँजी के १०% या १० लाख रुपये, जो भी रक़म कम हो, से अधिक ऋण नहीं दिया जा सकेगा। किसी भी कंपनी के हिस्से या स्कंध खरीदने का राज्य कॉरपोरेशन्स को अधिकार नहीं है। कॉरपोरेशन्स को यह भी हक़ है कि वह क़र्ज़ लेने वाले पर रुपये की सुरक्षा या उसके समुचित उपयोग संबंधी शर्तें लगाये और शर्तों के पालन न होने पर या समय पर रुपया नहीं चुकने पर वह उस फ़र्म का प्रबंध अपने अधिकार में ले लें और जो संपत्ति ज़मानत के

तौर पर कॉरपोरेशन के पास है, उसे बेच दे। किसी भी उधार लेने वाली फ़र्म को उधार का रुपया तुरन्त चुकाने के लिये भी कॉरपोरेशन कह सकता है।

कोरपोरेशन की हिस्सा पूँजी संबंधित राज्य के द्वारा तय होगी पर यह कम से कम ५० लाख और अधिक से अधिक ५ करोड़ रुपये की होगी। कुल पूँजी के २५% रक़म तक के हिस्से लेने का अधिकार जनता को होगा और बाक़ी की हिस्सा पूँजी राज्य की सरकार, रिज़र्व बैंक, स्वीकृत बैंक, सहकारी बैंक, बीमा कंपनियाँ आदि में बाँटी जा सकेगी। इसको बाँटने का अनुपात राज्य की सरकार केन्द्रीय सरकार की सलाह से तय करेगी।

राज्य की सरकार मूल पूँजी और डिविडेंड के एक निश्चित दर को चुकाने के लिये जिम्मेदार होगी। डिविडेन्ड ५% से अधिक दर से किसी भी हालत में नहीं बाँटा जायेगा। डिविडेन्ड के बटने के बाद जो असल मुनाफ़ा बच रहेगा वह राज्य की सरकार को मिलेगा। स्टेट कॉरपोरेशन को राज्य की सरकार की जिम्मेदारी पर बोन्ड और डिबेंचर जारी करने का अधिकार भी दिया गया है और सूद की दर जो राज्य की सरकार केन्द्रीय सरकार की अनुमति से निश्चित करे, चुकाने का जिम्मा भी राज्य की सरकार का होगा।

राज्य कॉरपोरेशन्स जनता से डिपोज़िट भी ले सकते हैं पर डिपोज़िट की अवधि ५ साल से कम नहीं होगी। वसूल पूँजी से अधिक कुल डिपोज़िट की रक़म नहीं होना चाहिये।

राज्य कॉरपोरेशन का प्रबंध १० व्यक्तियों के एक संचालक मंडल के हाथ में रहेगा। ३ संचालक राज्य की सरकार द्वारा नियुक्त होंगे, १ संचालक रिज़र्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा, १ संचालक केन्द्रीय औद्योगिक फ़ाइनेन्स कॉरपोरेशन द्वारा और १ प्रबंध संचालक राज्य की सरकार द्वारा नियुक्त और ४ संचालक चुने हुए, स्वीकृत बैंक, सहकारी बैंक, दूसरी वित्त संस्थाओं और अन्य हिस्सेदारों में प्रत्येक की ओर से एक ,एक होंगे। चुने हुए संचालकों का कार्यकाल ४ साल और नियुक्त का नियुक्त करने वाले की इच्छानुसार होगा। प्रबध संचालक पूरे समय का वैतानिक अधिकारी होगा जो एक बार में चार साल के लिये नियुक्त होगा पर जो फिर से नियुक्त हो सकेगा। संचालक मंडल को सहायता देने के लिये प्रबंध संचालक और दो दूसरे संचालकों की एक प्रबंध समिति की और आवश्यकतानुसार सलाहकार समितियों की व्यवस्था भी की गई है। नीति संबंधी मामलों में संचालक मंडल को राज्य की सरकार द्वारा दी गई हिदायतों का पालन करना आवश्यक है। अगर संचालक मंडल राज्य की सरकार की आज्ञा का पालन न करे तो सरकार को यह अधिकार है कि बाक़ायदा मया

संचालक मंडल क़ायम होने तक स्वयं ही संचालक मंडल नियुक्त कर दे और मौजूदा संचालक मंडल को बर्खास्त करदे।

उपरोक्त क़ानून में राज्य फ़ाइनेन्शियल कॉरपोरेशन के हिसाब को ऑडिट के लिये और राज्य की सरकार और रिज़र्व बैंक को अपने कारोबार के संबंध में जानकारी देने के लिये भी आवश्यक व्यवस्था की गई है।

उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता पहुँचाने का एक और उपाय जो काम में लाया गया है वह हैं उद्योग-धन्धों का राज्य द्वारा सहायता देने सम्बन्धी क़ानून पास करके उनके अन्तर्गत आवश्यक आर्थिक सहायता करना। सबसे पहले मद्रास ने १९२२ में इस मामले में पहल की और उसके पश्चात् कई प्रान्तों ने उसका अनुकरण किया, जैसे तत्कालीन बिहार-उड़ीसा (१९२३), तत्कालीन बंगाल (१९३१); मध्य प्रान्त (१९३४) और तत्कालीन पंजाब (१९३५)। उद्योग धन्धों को इन कानूनों के अन्तर्गत कई प्रकार की सहायता दी गई, जैसे—ऋण देना, बैंक से प्राप्त केश क्रेडिट, बैंक ड्राफ्ट और फिक्स्ड एडवांस की गारन्टी देना, हिस्से अथवा ऋणपत्रक (डिबेंचर्स) खरीदना, पूँजी के किसी अंश पर न्यूनतम मुनाफा की गारन्टी देना, 'हायर-परचेज' व्यवस्था के आधार पर मशीनें उपलब्ध करना, और रियायती दामों पर ज़मीन, कच्चा माल, ईंधन पानी, तथा विशेषज्ञों और राज्य कर्मचारियों की सेवाओं की व्यवस्था करना, और अनुसंधान तथा मशीनें खरीदने के लिए आर्थिक सहायता करना। यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार जो भी सहायता उद्योग-धन्धों को दी गई उसका अनुभव कुछ संतोषजनक नहीं रहा। सहायता के बावजूद भी कई उद्योग सफलतापूर्वक नहीं चल सके और कइयों ने उधार लिया रुपया नहीं लौटाया। इस असफलता के कारण भी अनेक रहे हैं जैसे—बिना किसी निश्चित योजना के रुपया लगाना, गलत उद्योगों की सहायता कर देना, जोखम का विभिन्न प्रकार के उद्योगों मे समुचित बँटवारा न करना, समय पर कर्ज नहीं मिलना, और पूरी जाँच के बाद सहायता दी जा सके इसकी समुचित व्यवस्था न होना। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की अवश्य है कि आर्थिक सहायता के ये प्रयोग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त संकटपूर्ण समय में आरम्भ किए गए थे। अस्तु, केवल उपर्युक्त अनुभव के आधार पर किसी निर्णय पर पहुंचना उचित भी नहीं हो सकता।

अब तक औद्योगिक पूँजी के प्रश्न पर हमने केवल इस दृष्टि से विचार किया है कि देश में जो पूँजी के साधन उपलब्ध हैं उनका अधिक से अधिक उपयोग कैसे किया जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वसाधारण में विनियोग

की वृत्ति का और विनियोग की वर्तमान सुविधाओं का पूरा-पूरा विकास कैसे संभव हो सकता है, इस विषय में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। पर इस प्रश्न का एक और पक्ष भी है जो अधिक आधारभूत महत्त्व का है। इस पक्ष का सम्बध लोगो की आय से है। अन्ततोगत्वा यह बात सही है कि जितनी अधिक हमारी आय होगी उसी हिसाब से यदि हम चाहेंगे तो रुपया बचा सकेंगे और औद्योगिक पूँजी में रुपया लगाने की हमारी क्षमता भी इस पर आधारित होगी। इसका अर्थ यह है कि हमें अपने उन साधनों में भी अभिवृद्धि करनी चाहिये जो हमारी औद्योगिक पूँजी का स्रोत हैं। यहाँ राष्ट्र की आय बढ़ाने का प्रश्न आ उपस्थित होता है। पर स्पष्ट है कि इस बारे में तत्काल तो कुछ हो नहीं सकता। दूसरी बात विचारने की यह है कि हम में अपने रुपये को खर्च करने की अपेक्षा पूँजी के रूप में लगाने की वृत्ति बढ़े। इसमें कई प्रकार की जिन कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है वे ये हैं—राष्ट्रीयकरण का भय, अत्यधिक आय-कर, मैनेजिंग एजेन्टों की बेजा कार्यवाहियाँ, स्टॉक बाज़ार में सट्टा और उसके परिणाम स्वरूप सिक्योरिटीज़ के मूल्यो में अस्थिरता, राष्ट्रीय आय के बटवारे में प्रतिकूल परिवर्तन और पूँजी जारी करने के बारे में सरकार की पूर्व स्वीकृति। इस बात की पूरी आवश्यकता बताई जाती है कि जहाँ तक हो सके इन कठिनाइयों को दूर किया जाए। पर यह ध्यान रखने की बात है कि इनमें से कई कठिनाइयों का वास्तव में कोई बड़ा असर नहीं है।

अपनी राष्ट्रीय आय बढ़ाने और उसका एक अच्छा अंश पूँजी की तौर पर लगाने के लिए जो कुछ किया जा सकता है वह अवश्य ही किया जाना चाहिये। परन्तु औद्योगिक पूँजी को बढ़ाने का एक उपाय और है और वह है विदेशी पूँजी की व्यवस्था। अब हम विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करेंगे।

विदेशी पूँजी—देश के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में विचार करते समय विदेशी पूँजी का प्रश्न भी बराबर सामने रहा है। विदेशी पूँजी की हमारे देश में जो प्रधानता रही है, और जो इस समय भी समाप्त नहीं हो गई है, उसे देखते हुए उसका व्यवहारिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है। १६ वीं शताब्दी के मध्य से ही विदेशी पूँजी का आना आरम्भ हुआ और आज हमारे कई प्रमुख उद्योग-धन्धों में, जैसे—बैंक, जहाज़ी यातायात की कम्पनियाँ, रेल्वे, बीमा कम्पनियाँ, चाय और काफी के खेत, खनिज उद्योग, चमड़ा कमाने के उद्योग, और पाट बनाने के उद्योगों में विदेशी पूँजी ही लगी हुई है और विदेशी पूँजीपतियों द्वारा ही ये उद्योग संचालित और नियन्त्रित भी होते हैं। हमारे सामने विचारणीय प्रश्न

एक ही है कि विदेशी पूँजी की सहायता से अपना आर्थिक विकास करना उचित है या नहीं और इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति क्या है ?

किसी भी देश को आर्थिक उन्नति के लिए विदेशी पूँजी की सहायता तभी चाहिए जब उस देश के पास अपनी पूँजी अपर्याप्त मात्रा में हो। यदि विदेशी पूँजी पर जो व्याज देना पड़े उससे अधिक उसके द्वारा आय हो, और आन्तरिक पूँजी की अपेक्षा सस्ते आधार पर वह पूँजी मिल सके, तो विदेशी पूँजी लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस पूँजी का सबसे बड़ा उपयोग यह है कि देश आर्थिक उन्नति अधिक तीव्र गति से कर सकता है। और आर्थिक दृष्टि से जैसे-जैसे कोई देश प्रगति करता जाता है, विदेशी पूँजी की उसकी जरूरत भी कम होती जाती है। इस प्रकार एक निश्चित समय में विदेशी पूँजी की आवश्यकता अपने आप कम हो जाती है।

विदेशी पूँजी से कुछ नुक़सान भी हैं। एक सबसे बड़ा नुक़सान तो यही है कि देश में निहित स्वार्थों की एक ऐसी श्रेणी बन जाती है जो आगे चलकर राष्ट्रीय हित के विपरीत हो। भारत इसका एक अच्छा उदाहरण है। सारांश यह है कि किसी भी देश में विदेशी पूँजी का अबाध प्रवाह उस देश के हित में कभी नहीं हो सकता। सरकार को विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में ऐसी शर्तें लगानी चाहियें जिससे एक ओर तो राष्ट्रीय हितों की रक्षा हो सके और विदेशी पूँजी को देश के आर्थिक जीवन में कोई प्रभुत्व प्राप्त न हो। दूसरी ओर विदेशी पूँजी से मिलने वाले समस्त सम्भावित लाभ भी उस देश को मिल सकें। उदाहरण के तौर पर जो भी विदेशी कम्पनियाँ भारत में स्थापित हों वे भारत में ही रजिस्टर की जानी चाहियें और उनकी पूँजी भारतीय मुद्रा—रुपये में होनी चाहिये। हिस्सा पूँजी का एक निश्चित अंश भारतीय नागरिकों के लिए सुरक्षित होना चाहिये। संचालक-मण्डल में भी भारतीयों के लिए अमुक संख्या में स्थान निश्चित होने चाहियें। और अन्तिम बात यह है कि ऐसी कम्पनियों को भारतीयों को शिक्षा देने की व्यवस्था भी करनी चाहिये। उपर्युक्त प्रतिबन्धों का वास्तव में क्या परिणाम आने वाला है, इस बारे में पहले से ही कुछ निश्चयात्मक रूप से कह सकना यद्यपि कठिन है, पर फिर भी अनुभव से लाभ उठाते हुए इस दिशा में आगे तो बढ़ना ही चाहिये।

भारत को अपने औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी चाहिये, इसमें कोई सन्देह नहीं। विदेशी पूँजी की आवश्यकता का केवल यही एक कारण नहीं है कि जितनी पूँजी हमें चाहिये उसकी अपेक्षा जो पूँजी हमें अपने देश में ही उपलब्ध हो सकती है वह कम है। इसका एक दूसरा कारण भी है। देश की

औद्योगिक उन्नति के लिए हमें मशीनों आदि जैसा कई प्रकार का सामान आज चाहिये और उसमें से अधिकांश हमें विदेशों से मंगाना होगा जिसके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी। देश के आयात-निर्यात की जो आज स्थिति है उसमें आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का हमारे पास या तो यह साधन है कि जो हमारा स्टरलिंग जमा है उसका हम उपयोग करें, या फिर विदेश से पूँजी उधार लें। और चूँकि जो स्टरलिंग हमें उपलब्ध होगा वह सारा का सारा ही डालर में परिणत नहीं किया जा सकता, इसलिए सिवा विदेश—प्रधानतः अमेरिका जैसे दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से पूँजी उधार लेने के और कोई उपाय हमारे पास है नहीं। जैसा ऊपर भी लिखा जा चुका है, विदेशी पूँजी से और भी लाभ हैं। 'टेकनिकल ज्ञान' और औद्योगिक अनुसंधान का लाभ मिल सकता है। साथ ही टेकनीशियनों, मैनेजरों और प्रवन्धकों की आधुनिक ढंग पर ट्रेनिंग की सुविधा भी मिल सकती है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह है कि इस पूँजी का उपयोग किन-किन कामों के लिए किया जाय। इस बारे में प्रायः सर्व-सम्मति से यह माना जाता है कि विदेशी पूँजी का उपयोग या तो राज्य द्वारा संचालित उन योजनाओं के लिए किया जाए जो विदेशी मशीनों आदि पर निर्भर हैं, जैसे—पानी से बिजली उत्पादन की योजनाएँ, या उन नए प्रकार के उद्योगों के वास्ते जिनकी विदेशी टेकनिकल सहायता के बिना स्थापना नहीं हो सकती। व्यक्तिगत उत्पादन के क्षेत्र में भी विदेशी पूँजी का उपयोग केवल ऐसे नए ढंग के उत्पादन-कार्यों में किया जाना चाहिये जिनके लिए देश में पूँजी और प्रबन्ध उपलब्ध न हो। फ़िसकल कमीशन (१९५०) इस राय से साधारण-तया सहमत है। केवल एक संशोधन उनका है कि जहाँ किसी भी चीज़ का देश में उत्पादन उसकी माँग की अपेक्षा कम है और उसमें तत्काल यथेष्ठ मात्रा में वृद्धि होने की भी कोई संभावना नहीं है, तो सरकार को उस काम के लिए विदेशी पूँजी की, जो वह उचित समझें, उन शर्तों पर व्यवस्था करने की पूरी आज़ादी होनी चाहिये।

विदेशी पूँजी से सम्बन्ध रखनेवाला तीसरा प्रश्न यह है कि किस रूप में यह पूँजी आनी चाहिये। मोटे रूप में दो प्रकार से यह पूँजी आ सकती है—एक तो सीधे तौर से विनियोग द्वारा और दूसरे अप्रत्यक्ष विनियोग (इनवेस्टमेंट) द्वारा। सीधे विनियोग का अर्थ यह है कि विदेशी पूँजी हिस्से आदि की शक्ल में उद्योग-धन्धों में लगाई जाए। इसके कई लाभ हैं। जहाँ पूँजी के साथ-साथ 'टेकनिकल ज्ञान' (टेकनिकल नो-हाऊ) और अनुभव की

आवश्यकता है, जैसे नए ढंग के उद्योगों में, जिनसे भारतीय व्यवसायी वर्ग अपरिचित है, या उन राजकीय योजनाओं में जहाँ ऐसे ज्ञान और प्रबन्ध की, जो देश में उपलब्ध नहीं है, आवश्यकता है, वहाँ सीधे विनियोग द्वारा विदेशी पूँजी प्राप्त करना अधिक उपयोगी होगा। देश के लोगों के लिए आवश्यक ट्रेनिंग की व्यवस्था भी इस प्रकार अच्छी और जल्दी हो सकती है। विदेशियों से ऋण सम्बन्धी जो मुआहदे किए जाएँ उनमें भी किसी हद तक परिवर्तन की गुंजाइश इस प्रकार के विनियोग में संभव है। इसके अतिरिक्त एक लाभ यह भी है कि इस प्रकार से देश के विदेशी मुद्रा के जो साधन हैं उन पर कुछ बोझ कम हो सकता है, क्योंकि सीधे विनियोग द्वारा जो विदेशी पूँजी प्राप्त की जायगी और जिसमें विनियोग के एवज़ में मिलने वाले मुआवज़े का व्यवसाय-विशेष की आय से सम्बन्ध होगा, उसके बारे में विदेशी उधार देने वालों को उनके ऋण के लिए जो कुछ देना पड़ेगा, वह देश की मुद्रा में ही दे दिया जा सकता है, और परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा पर से उतना बोझ कम हो जाता है। अब तक हमने सीधे विनियोग से प्राप्त होने वाली विदेशी पूँजी का ही विचार किया है। अप्रत्यक्ष विनियोग का जहाँ तक प्रश्न है वह उन मामलों में उपयुक्त हो सकता है जहाँ विदेशी पूँजी की आवश्यकता केवल इसीलिए होती है कि विदेशी मशीनों तथा अन्य आवश्यक साधनों और साधारण से साधारण सलाह, जो ऐसे साधनों के उत्पादक देते हैं, का चुकारा करना है। विदेशी मुद्रा की कठिनाई होने से ही इस प्रकार विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है। सरकारी तौर पर या ऐसी अर्द्ध सरकारी संस्थाओं, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक से ही इस प्रकार की विदेशी पूँजी प्राप्त हो सकती है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में जो कुछ हम ऊपर लिख चुके हैं उसका सार यह है कि अपने औद्योगिक विकास के लिए यद्यपि हमें विदेशी पूँजी की सहायता लेनी होगी पर उस सहायता के सम्बन्ध में आवश्यक सावधानी और मर्यादाओं का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा। इसकी आवश्यकता का महत्त्व समझने के लिए पिछले वर्षों में हमारे देश में भारतीय नामों की छत्रछाया में कई विदेशी कंपनियों ने भारत-सरकार की भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की नीति से लाभ उठाने के वास्ते जो अपना विस्तार फैलाना चाहा है, उसे हमें याद रखना चाहिये। इस प्रकार की कुछ प्रमुख कंपनियों के नाम ये हैं—लीवर ब्रादर्स इंडिया लिमिटेड, डनलप रबर कम्पनी इंडिया लि०. बाटा शू मेन्यूफेक्चरिंग इंडिया लि०, गुडइयर टायर्स एन्ड रबर कंपनी इंडिया लि०। इन सब कंपनियों ने अपने नाम के आगे भारतीय दिखाने के लिए 'इंडिया लिमिटेड' शब्दों का प्रयोग

किया है और ये अपने संचालक-मंडल में एक-दो भारतीय को भी स्थान देने की होशियारी बरतती हैं। देशी व्यवसाय की रक्षा के लिए इस प्रकार के प्रयत्नों को किसी न किसी प्रकार रोकने की आश्यक्ता तो है।

कम्पनी-क़ानून में सुधार

भारत सरकार के प्रस्ताव

सन् १६३६ में वर्तमान कम्पनी एक्ट पास हुआ था। उसके पश्चात् गत महायुद्ध के समय और बाद में मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों की सख्या में काफ़ी वृद्धि हुई। यह अनुभव किया जाने लगा कि वर्तमान कम्पनी-क़ानून में सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है; विशेष तौर पर मैनेजिंग एजेन्सी-प्रथा के सम्बन्ध में सुधार की आवश्यकता और भी अधिक सामने आरही थी। अस्तु १६४६ के नवम्बर महीने में भारत-सरकार ने कम्पनी-क़ानून में सुधार करने सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव आलोचना के लिए प्रकाशित किये। संक्षेप में हम इन प्रस्तावों का यहाँ उल्लेख करेंगे। पहले मैनेजिंग एजेन्सी-प्रथा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रस्तावों के बारे में लिखना उचित होगा।

मैनेजिंग एजेन्सी में सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव—इन प्रस्तावों में सबसे पहले यह कहा गया है कि यद्यपि वर्तमान कम्पनी एक्ट में मैनेजिंग एजेन्सी सम्बन्धी कई धाराएं हैं जिनके द्वारा इस प्रणाली को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है, पर यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका है और इस प्रणाली में अब भी कई दोष ज्यों के त्यों मौजूद हैं। जिन मुख्य-मुख्य दोषों का इन प्रस्तावों में उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—हालाँकि समझा यह जाता है कि मैनेजिंग एजेन्ट्स कम्पनी के संचालकों के नियंत्रण में काम करते हैं, पर वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। संचालकों पर मैनेजिंग एजेन्ट्स का प्रभाव होता है और वे जैसा चाहें वैसा संचालकों से करवाते हैं। दूसरी शिकायत यह है कि मैनेजिंग एजेन्ट्स अपने स्वार्थ को सामने रखकर—न कि हिस्सेदारों के हित का ध्यान रखकर—कम्पनी के कार्य का संचालन करते हैं। तीसरी शिकायत यह है कि कम्पनी की आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा मैनेजिंग एजेन्ट्स स्वयं ले लेते हैं और हिस्सेदारों के लिए बहुत कम छोड़ते हैं। भारत-सरकार उपर्युक्त शिकायतों को दूर करने की दृष्टि से मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली पर जो प्रतिबन्ध आज हैं उनको और अधिक कड़ा करने की आवश्यकता समझती है। इस उद्देश्य से सरकार ने जो प्रस्ताव प्रकाशित किये हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मैनेजिंग एजेन्ट्स कोई ऐसा व्यापार करेंगे जो उस कम्पनी के, जिसके वे मैनेजिंग एजेन्ट्स हैं, व्यापार के समान हैं।

(२) मैनेजिंग एजेन्ट्स किसी भी ऐसी दो या दो से अधिक कम्पनियों के मैनेजिंग एजेन्ट्स नहीं होंगे जो एक ही प्रकार का व्यापार करती हैं।

(३) प्राइवेट कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्ट्स नहीं रह सकेंगे।

(४) कम्पनियाँ मैनेजिंग एजेन्ट्स का कार्य नहीं कर सकेंगी।

(५) मैनेजिंग एजेन्ट्स को शुद्ध लाभ का जो अधिकतम प्रतिशत दिया जा सकता है वह निश्चित होना चाहिये और पर्याप्त लाभ न होने की हालत में जो न्यूनतम मुआवज़ा उनको दिया जाये वह वसूल-पूँजी (पेड अप केपिटल) के प्रतिशत के रूप में एक निश्चित शृंखला के अनुसार होना चाहिये।

(६) मैनेजिंग एजेन्ट्स को जो मुआवज़ा दिया जाए उसमें कार्यालय-खर्च के लिए कोई एलाउन्स नहीं होना चाहिये।

(७) मैनेजिंग एजेन्ट्स के नियुक्त होने के बाद हिस्सेदारों की पृथक् साधारण सभा में जो मुआवज़ा उनको दिया जाए वह स्वीकृत होना चाहिये।

(८) नं० ५ में दिये गए मुआवज़े के अलावा और कोई मुआवज़ा देने की यदि शर्त होगी तो वह कम्पनी पर लागू नहीं होगी। मैनेजिंग एजेन्ट्स या अन्य कोई; जिनमें मैनेजिंग एजेन्ट्स का आर्थिक हित है क्रय, विक्रय अथवा टर्नओवर पर कोई कमीशन नहीं ले सकेंगे।

(९) यदि कुप्रबन्ध के कारण अथवा उन हिस्सों के मत से जो मैनेजिंग एजेन्ट्स के पास अथवा प्रभाव में है, मैनेजिंग एजेन्ट्स की सेवाएँ समाप्त की जाएँगी तो उनको कोई हर्जाना नहीं मिलेगा।

(१०) प्रथम कार्यकाल के पहले या ठीक उसके समाप्त होने पर दुबारा नियुक्ति प्रधान कम्पनी के विशेष प्रस्ताव से हो सकनी चाहिये। प्रथम पुनः नियुक्ति का कार्यकाल १० वर्ष का और उसके बाद ५ वर्ष का ही होगा। यदि मैनेजिंग एजेन्ट्स तुरन्त समाप्त होने वाले किसी कार्यकाल के प्रत्येक वर्ष में एक निश्चित औसत 'डेविडेन्ड' देते रहे हैं तो उनका कार्यकाल साधारण प्रस्ताव से ही ५ साल के लिये बढ़ाया जा सकेगा और हर कार्य-काल के बारे में यही बात लागू होगी। पर आगामी बीस वर्ष तक ही ऐसा हो सकता है।

(११) मैनेजिंग एजेन्ट्स की परिभाषा को भी इस प्रकार संशोधित किया जाने को है—'मैनेजिंग एजेन्ट्स से तात्पर्य किसी भी ऐसे व्यक्ति अथवा फर्म से है जो कंपनियों से हुए किसी शर्तनामे के अनुसार और संचालकों के नियंत्रण और मार्ग-दर्शन में कंपनी के कारोबार का प्रबन्ध करने का अधिकारी है—कोई भी व्यक्ति या फर्म जो इस प्रकार के पद पर काम करता है, फिर किसी भी नाम से सही, वह इस परिभाषा के अन्तर्गत माने जावेंगे।

(१२) मैनेजिंग एजेन्टों संबंधी प्रत्येक सहमति पत्रक (एग्रीमेंट) रजिस्ट्रार के पास पेश होगा।

(१३) बिना तीन चौथाई संचालकों की स्वीकृति के मैनेजिंग एजेन्ट्स ऋण नहीं ले सकेंगे।

(१४) जो ऋण लिया जायगा, वह वास्तव में कंपनी की आवश्यकता से ही लिया जायगा न कि किसी दूसरे कारण से। विनियोग के लिए कोई कंपनी या उसके नाम पर मैनेजिंग एजेन्ट्स रुपया उधार नहीं लेंगे, यदि विनियोग (इनवेस्टमेंट) कंपनी के अधिकार में है।

(१५) संबंधित और समान व्यापार में विनियोग का सर्वथा निषेध होगा। जिस कपनी में मैनेजिंग एजेन्ट्स का आर्थिक हित है उस कंपनी का कपनी न हिस्सा खरीदेगी और न हिस्से अपने पास रक्खेगी।

(१६) लेन-देन के लेखे (बेलेन्सशीट) के साथ विनियोग सम्बन्धी विस्तृत और निश्चित जानकारी देनी होगी।

(१७) संबधित (अलाइड) फर्मों को उधार दिया हुआ रुपया यदि वसूल नहीं होता है तो वह मैनेजिंग एजेन्ट्स और उनके असमर्थ होने पर संचालकों को अपने पास से भरना होगा।

(१८) मैनेजिंग एजेन्ट्स को कंपनी के रुपये का उपयोग कंपनी के काम के अलावा दूसरे किसी अनधिकृत काम जैसे—किसी दूसरी कंपनी की मैनेजिंग एजेन्सी प्राप्त करने में नहीं करना चाहिये।

(१९) किसी भावी शर्तनामे में मुनाफे में हानि होने पर हर्जाना देने संबंधी कोई धारा नहीं होगी। पाँच वर्ष के बाद मैनेजिंग एजेन्ट्स को हर्जाना मिलना बन्द हो जावेगा।

(२०) मैनेजिंग एजेन्ट्स को मिलने वाला न्यूनतम मुआवजा वह हर महीना वसूल कर सकते हैं, पर शेष भाग हिस्सेदारों की साधारण सभा में लाभ-हानि का हिसाब और लेन-देन का लेखा (बेलेन्सशीट) स्वीकृत होने पर ही वसूल किया जा सकता है।

(२१) संचालकों को मैनेजिंग एजेन्टों पर नियंत्रण रखना चाहिये, खास तौर से निम्न बातों के बारे में :—(क) ऋण, (ख) विनियोग, (ग) ऋण और हवालगी स्वीकृत करना, (घ) व्यय, फिर चाहे मैनेजिंग एजेन्टों के साथ हुए सहमति-पत्रक में इसके विपरीत ही निश्चय क्यों न हो। इस संबंध में कानून और नियम-विरुद्ध यदि कोई काम होगा और कंपनी को कोई हानि होगी तो उसके लिए संचालक और मैनेजिंग एजेन्ट जिम्मेदार होंगे।

(२२) यदि तमाम प्रतिबंधों के होते हुए भी, संचालकों, मैनेजिंग एजेन्टों या संबंधित कंपनियों को कर्ज या हवालगी दी जाती है तो उनसे अत्यधिक ब्याज वसूल करना चाहिये और इसके अलावा कानून के अनुसार जो कुछ किया जा सकता है वह तो किया ही जा सकता है।

(२३) लाभ-हानि के हिसाब के साथ मैनेजिंग एजेन्ट को मिलने वाले मुआवजे के हिसाब का एक ब्यौरा भी होना चाहिये। कंपनी के आडिटर द्वारा यह प्रमाणित होना चाहिये कि मुआवजे का जिस तरह से हिसाब लगाया गया है वह कानून और मैनेजिंग एजेन्ट के मुआवजे सम्बन्धी जो शर्तें हैं उनके अनुसार है।

(२४) केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय यह घोषणा करदे कि अमुक धंधों और कंपनियों का जहाँ तक सम्बन्ध है मैनेजिंग एजेन्सी प्रथा लागू नहीं होगी।

भारत सरकार के उपर्युक्त प्रस्तावों की देश के व्यवसायी वर्ग ने कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि उक्त प्रस्तावों को स्वीकार करने का तो एक ही परिणाम आ सकता है कि मैनेजिंग एजेंसी-प्रणाली का अन्त हो जाए। उनकी राय में देश की औद्योगिक उन्नति के लिए यह अत्यन्त घातक निर्णय होगा क्योंकि भारतवर्ष को आज इनकी (मैनेजिंग एजेन्ट) सेवाओं की आवश्यकता है। यह हो सकता है कि कुछ मैनेजिंग एजेन्ट अपने स्थान और पद का दुरुपयोग करते हों और उनके बारे में कई प्रकार की शिकायतें सही हों, पर सब के बारे में यह स्थिति ठीक नहीं हो सकती। ऐसी दशा में सबके साथ एकसा व्यवहार करना न्याय संगत नहीं होगा। खास तौर से जो आपत्ति उठाई गई है वह एक तो इस सुझाव के बारे में है कि एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली दो या दो से अधिक कंपनियों का एक ही मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकता। यह कहा जाता है कि इससे कई प्रकार की हानियाँ होंगी। एक ही मैनेजिंग एजेन्ट जब कई कंपनियों का प्रबन्ध करते हैं तो वे सबके लिए मिला जुला बहुत अच्छा टेकनिकल और दूसरा स्टाफ रखते हैं और इससे उनका खर्च भी कम आता है। इसी प्रकार यह प्रस्ताव भी, कि कोई कम्पनी मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकती, आपत्तिजनक है। कंपनियाँ इस अर्थ में व्यक्तिगत आधार पर नहीं चलतीं कि पिता के पश्चात् पुत्र ही अधिकारी होगा, चाहे वह योग्य हो या नहीं। ऐसी हालत में कंपनी का प्रबन्ध बराबर अच्छा रह सकता है। उसको मैनेजिंग एजेन्ट बनाने का भी यह लाभ है कि जिस कंपनी की वह मैनेजिंग एजेन्ट है उसकी व्यवस्था भी अच्छे हाथों में बराबर रह सकती है। मैनेजिंग एजेन्ट्स की दुबारा नियुक्ति के संबंध में समय

को मर्यादित करने का जो प्रस्ताव है उसमें दो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, एक तो यह कि २० वर्ष के बाद की स्थिति अनिश्चित रूप में छोड़दी गई है, और दूसरे यह कि पुनर्नियुक्ति का समय बहुत थोड़ा है। इसका असर बड़े-बड़े धंधों को प्रारंभ करने में बाधा पहुँचाने वाला होगा, क्योंकि बड़े-बड़े धंधों का परिणाम तो लम्बे समय के बाद ही आता है। इंडियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स के सभापति ने प्रस्तावों के सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—"ये प्रस्ताव असामयिक तथा विनियोग और औद्योगिक उन्नति जो कि आज की हमारी प्रमुख आवश्यकता है, की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं।" जो आपत्तियाँ इन प्रस्तावों के बारे में ऊपर उठायी गई हैं उनका यह अर्थ नहीं है कि इन प्रस्तावों में कोई अच्छी बात है ही नहीं। मैनेजिंग एजेन्ट्स के मुआवजे (पुरस्कार), संचालकों के दायित्व के बारे में जो सुझाव दिये गये हैं वे उचित ही हैं; इसी प्रकार उधार रुपये लेने और विनियोग के बारे में जो प्रस्ताव किये गये हैं वे भी ठीक हैं। शुद्ध लाभ की जो परिभाषा सुझाई गई है वह भी अधिक वैज्ञानिक और न्यायसंगत है।

इन सबका सारांश यह है कि उपर्युक्त प्रस्तावों में जो बातें व्यवसायी वर्ग की दृष्टि में आपत्तिजनक मानी गई हैं वे वह बातें हैं जिनका सम्बन्ध मैनेजिंग एजेन्टों के कार्यक्षेत्र और कार्यकाल को सीमित करने से है। इस बारे में किसी निश्चित मत पर पहुँचने के पहले हमें इस आधारभूत प्रश्न का उत्तर देना चाहिये कि सिद्धान्ततः हम मैनेजिंग एजेन्सी-प्रणाली को देश की आर्थिक व्यवस्था में जारी रखना चाहते हैं अथवा नहीं। यदि हम यह चाहते हैं कि यह प्रणाली यथावत् प्रचलित रहे और देश के आर्थिक विकास में इसका प्रमुख सहयोग हो तब तो जो आपत्तियाँ ऊपर उठायी गई हैं वे अवश्य ही विचारणीय हैं। परन्तु यदि हमारी मान्यता यह है कि मैनेजिंग ऐजेन्सी-प्रणाली का देश के आर्थिक जीवन से समाप्त हो जाना ही श्रेयस्कर है तो उपर्युक्त आपत्तियों का उतना औचित्य नहीं रहता। यह ठीक है कि जब तक देश में मैनेजिंग ऐजेन्टों का स्थान लेने वाली दूसरी आर्थिक सस्थायें उत्पन्न नहीं होतीं तब तक हमें उनकी आवश्यकता होगी और इसलिये हम एक साथ उनका बहिष्कार नहीं कर सकते। परन्तु हमारा प्रयत्न यही होना चाहिये कि हम एक ओर तो मैनेजिंग ऐजेन्टों के कार्यों पर उचित नियन्त्रण स्थापित करें और दूसरी ओर उनके कार्य-क्षेत्र को सीमित करते हुए उनकी सहायता के बिना आर्थिक प्रगति के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न हो इसका पूरा-पूरा ध्यान रखें। यह एक स्वस्थ लक्षण है कि देश में अब बिना मैनेजिंग ऐजेन्टों की सहायता के भी नये धन्धों की स्थापना होने लगी है। राज्य का कर्त्तव्य है कि इस प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन दे।

क्योंकि हमारा यह निश्चित मत है कि अन्ततोगत्वा हमारा ध्येय देश के आर्थिक जीवन से मैनेजिंग ऐजेन्सी प्रणाली का अन्त करना ही होना चाहिये ।

मैनेजिंग एजेन्सी पर कुछ नये प्रतिबंध :—२१ जुलाई, १९५१ को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश (ऑरडिनेन्स) जारी किया था जिसका उद्देश्य यह था कि मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकारों का जो अनुचित हस्तान्तरण होता है और अच्छी और प्रतिष्ठित पब्लिक कंपनियों के हिस्सों का, इस इरादे से कि अनुचित लाभ के लिये उन पर नियंत्रण कर लिया जाये, जो 'कोरनरिंग' किया जाता है उसको रोका जा सके। बाद में इस अध्यादेश की बजाय सितंबर १९५१ में इन्डियन कंपनीज़ एक्ट के संशोधन के रूप में एक नया क़ानून ही पास कर दिया गया है। इस क़ानून की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

यह क़ानून 'पब्लिक लिमिटेड कंपनीज़' पर ही लागू होता है या उन 'प्राइवेट कंपनीज़' पर लागू होता है जो 'पब्लिक कंपनीज़' की सहायक हैं। बाकी 'प्राइवेट कंपनीज़' पर यह क़ानून लागू नहीं होता। किसी पब्लिक कंपनी के संचालक मंडल में अब उस समय तक परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक कि केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति न प्राप्त हो जाये। इसका असर यह होगा कि संचालक मंडल में अब ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा जो कंपनी के हितों के प्रतिकूल हो, और जिसके फलस्वरूप अनुचित लोग कंपनी पर अपना अधिकार जमा लें। दूसरे इस बात पर भी रोक लगादी गई है कि किसी मैनेजिंग एजेंसी की फ़र्म या कंपनी को आन्तरिक बनावट में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति के बिना कोई परिवर्तन न हो। आन्तरिक बनावट में परिवर्तन का क्या अर्थ है यह क़ानून में साफ़ कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि किसी मैनेजिंग एजेंसी में अनुचित लोगों का नियंत्रण न क़ायम हो जाए और इस प्रकार अप्रत्यक्ष तौर पर उस मैनेजिंग एजेंसी के पास जो कंपनी है उस पर उन अनुचित लोगों का प्रभुत्व न क़ायम हो जाये। उन 'आर्टिकल्स ऑफ एसोसियेशन' या अहमदनामों में जिनका संबंध मैनेजिंग एजेन्टों, मैनेजिंग डाइरेक्टर या डाइरेक्टर की नियुक्ति या उनको मिलने वाले मुआवजे से होगा संशोधन करने पर भी प्रतिबंध लगाये गये हैं। न्यायालयों को भी इस बात का अधिकार है कि वे कंपनी की दुर्व्यवस्था और अल्पमत वाले हिस्सेदारों के साथ की गई ज़्यादती की स्थिति में कोई कार्रवाई कर सकें। इस कानून में भारत सरकार को जो अधिकार दिये गये हैं उनको वह एक सलाहकार आयोग की सलाह से काम में ला सकेगी।

यह क़ानून कंपनीज़ एक्ट के संशोधन के रूप में इसलिये पास किया गया

है कि मैनेजिंग एजेंसी संबंधी उपरोक्त बुराइयों को रोकने के लिए उस समय तक इंतज़ार न करना पड़े जब कि कंपनियों संबंधी सारा क़ानून ही नये सिरे से पास किया जायेगा।

कम्पनी क़ानून में दूसरे प्रस्तावित संशोधन—भारत सरकार के व्यापार-मंत्रालय ने कम्पनी क़ानून में सुधार करने सम्बन्धी जो दूसरे (मैनेजिंग एजेन्सी सम्बन्धी प्रस्तावों के अलावा) प्रस्ताव उपस्थित किये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। प्राइवेट कम्पनियों को अभी तक अपने काम और स्थिति के बारे में सरकार को और जनता को बहुत कम जानकारी देना होता है। अब यह प्रस्ताव है कि बैलेंसशीट और लाभ-हानि के हिसाब को ऑडिट कराने, कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास सालाना स्टेटमेंट्स ऑफ अकाउन्ट्स पेश करने और सब हिस्सेदारों के पास उनको भेजने के बारे में प्राइवेट कम्पनियों पर पब्लिक कम्पनियों के जैसा ही नियंत्रण कर दिया जाए। प्राइवेट कम्पनी अपने रुपए को मन चाहे ढंग से उधार न दे सके, इस पर भी नियंत्रण करने का सुझाव है। क़ानून को लागू करने के बारे में भी कुछ संशोधन प्रस्तुत किये गये हैं ताकि क़ानून अधिक कारगर रूप में लागू किया जा सके और कानूनी कार्यवाही में शीघ्रता हो सके। उदाहरण के तौर पर यह सुझाव है कि कम्पनी कानून का पालन करती है या नहीं इसकी ज़िम्मेदारी कम्पनी के किसी एक पदाधिकारी पर, चाहे फिर वह कोई एक संचालक हो, या मैनेजर हो, या मैनेजिंग एजेन्ट हो, या मत्री हो, डाली जानी चाहिये। और किसी तरह की इस विषय में यदि कमी रहे तो वह उक्त पदाधिकारी की कमी मानी जाएगी। पर दूसरे संचालकों और पदाधिकारियों की जो आज जिम्मेदारी है वह ज्यो की त्यों रहेगी। कम्पनियों के कारोबार के जाँच करने के सम्बन्ध में आज सरकार के अधिकार बहुत सीमित हैं। इसलिये यह सुझाव है कि जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से बैंकिंग कम्पनी-एक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक किसी बैंकिंग कम्पनी का निरीक्षण कर सकता है, उसी तरह केन्द्रीय सरकार के आदेश से रजिस्ट्रार को या अन्य किसी योग्य इन्सपेक्टर को साधारण कम्पनियों का निरीक्षण करने का अधिकार हो। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को और कई आवश्यक अधिकार देने का प्रस्ताव भी है। पूँजी सम्बन्धी ढाँचे में भी कुछ सुधार आवश्यक समझे गए हैं। आज तो स्थिति यह है कि अधिकृत पूँजी (ओथराइज्ड केपिटल) और प्राप्त पूँजी (पेड अप केपिटल) में बहुत अन्तर रहता है और कुछ श्रेणी के हिस्सेदारों को मताधिकार भी अनुचित अनुपात में प्राप्त है। अस्तु, इस स्थिति में सुधार करने की दृष्टि से भी कई संशोधन करने का प्रस्ताव है। जैसे, किसी भी कम्पनी की

वितरित (सब्सक्राइब्ड) पूँजी अधिकृत पूँजी से आधी से कम और प्राप्त (पेड अप) पूँजी वितरित पूँजी से आधी से कम नहीं होनी चाहिये। हिस्सेदारों ने वितरित पूँजी का जितना रुपया चुका दिया है, उसी आधार पर उनको मताधिकार प्राप्त होना चाहिये और हिस्से के प्रकार के कारण इसमें कोई भेद नहीं होना चाहिये, यह भी एक सुझाव है। साधारण हिस्सेदारों को जिस दर से लाभ बाँटा जाय उससे दुगुनी से अधिक दर से लाभ डेफ़र्ड हिस्सेदारों को नहीं मिलना चाहिये और प्रिफ़रेन्स हिस्सेदारों को एक निश्चित दर से ही लाभ मिलना चाहिये। संचालकों के दायित्व के बारे में संशोधन प्रस्तुत किए गए हैं ताकि संचालक मैनेजिंग एजेन्टों के कठपुतली बनकर ही न रहें और अपने दायित्व को भली प्रकार समझें। इसी दृष्टि से यह प्रस्ताव किया है कि मैनेजिंग ऐजेन्ट के होते हुए भी कानून की यदि कोई अवहेलना होती है तो उसके लिए संचालकों को ही ज़िम्मेदार माना जाना चाहिये। इसी प्रकार किसी भी कुप्रबन्ध और अनुचित कार्य के लिये भी संचालकों की जिम्मेदारी समझी जानी चाहिये। संचालकों के सम्बन्ध में कई स्वस्थ प्रतिबन्ध लगाने का भी सुझाव है, जैसे—डाइरेक्टर को मिलने वाला पुरस्कार आय-कर से मुक्त नहीं होना चाहिये, ७० वर्ष से अधिक आयु का संचालक नहीं होना चाहिये, संचालक के पास कितने हिस्से हैं और कितने ऋणपत्रक (डिबेंचर्स) इसकी पूरी-पूरी सूचना रहनी चाहिये. तथा संदिग्ध आचरण के, अथवा जिसे कम्पनी के निर्माण अथवा व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में सज़ा मिल चुकी है ऐसे व्यक्ति को एक निश्चित समय तक जो पाँच वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिये, व संचालक नहीं बनाना चाहिये। ऑडिटर के बारे में जो सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं उनका उद्देश्य ऑडिटर को अधिक स्वतन्त्रता और संरक्षण देना है ताकि वे दलबन्दी के बेजा दबाव से बच सकें। जैसे एक सुझाव यह है कि आडिटर की नियुक्ति-सम्बन्धी प्रस्ताव पर संचालक और मैनेजिंग एजेन्ट मत नहीं देंगे। इसी प्रकार दूसरा सुझाव यह है कि जब तक कि कोई ऑडिटर दुबारा नियुक्ति के अयोग्य ही नहीं हो, या वह दुबारा नियुक्त नहीं होना चाहता इसकी उसने लिखित सूचना कम्पनी को न देदी हो, या उसके स्थान पर और किसी की नियुक्ति न होगई हो, उसकी पुनः नियुक्ति अपने आप हुई समझी जानी चाहिये। बेलैन्स शीट और लाभ-हानि के हिसाब के नए फार्म के बारे में भी सुझाव है ताकि आज से कहीं अधिक सूचना कम्पनी के बारे में उपलब्ध हो सके। अल्पमत में जो हिस्सेदार हैं उनके हितों की रक्षा करने की दृष्टि से भी कुछ संशोधन प्रस्तुत किये गये हैं ताकि जो बहुमत में हैं वे अल्पमत वालों के हितों को आघात न पहुँचा सकें। जैसे इन

सम्बन्ध में एक सुझाव यह है कि अल्पमत वालों को भी सचालकों की अमुक संख्या में नियुक्ति करने का अधिकार होना चाहिये। यदि कम्पनी का एक भी सदस्य कम्पनी के कारोबार सम्बन्धी कोई शिकायत करता है तो उस पर आवश्यक ध्यान दिया जाने की समुचित व्यवस्था हो, इस बारे में भी कुछ सुझाव उपस्थित किये गये हैं। विदेशी कम्पनी सम्बन्धी भी कुछ प्रस्ताव किये गये हैं। इस समय तो उन पर कोई नियंत्रण ही नहीं है। केवल इतना ही है कि प्रत्येक ऐसी कम्पनी को, जो विदेश में रजिस्टर हुई है और भारतवर्ष में कोई काम करती है, उस प्रान्त (राज्य) के रजिस्ट्रार के पास जहाँ वह काम करती है, विधान-संचालकों और कम्पनी के पदाधिकारियों के बारे में कुछ जानकारी भेजनी पड़ती है। रजिस्ट्रार के पास विदेशी कम्पनी के हिसाब भी भेजने पड़ते हैं। यदि विदेशी कम्पनी भारत में अपने हिस्से वेचना चाहे, तो जिस प्रान्त में हिस्से बेचने हैं वहाँ के रजिस्ट्रार के पास कम्पनी का प्रोस्पेक्टस भी फाइल करना होता है। विदेशी कम्पनी का भारतीय कारोबार भी भारतीय क़ानून के अनुसार ही समाप्त किया जा सकता है। अब यह सुझाव है कि विदेशी कम्पनियों सम्बन्धी सब क़ागज दिल्ली में ही रहें और विदेशी कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास फाइल हों और उनकी नक़ल उन प्रान्तीय रजिस्ट्रारों के पास, जहाँ कम्पनी का काम है, भेज दी जाय। इसी प्रकार विदेशी कम्पनी के भारतीय शाखाओं के काम को समाप्त करने सम्बन्धी कार्रवाई भी दिल्ली में ही केन्द्रित करने का सुझाव है। न्यूनतम पूँजी वितरण के बारे में अधिक ब्यौरा प्राप्त करने सम्बन्धी सुझाव भी उपस्थित किया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि आवश्यकता से कम तो न्यूनतम वितरित पूँजी नहीं रखी गई है। अन्तिम बात इस सम्बन्ध में यह है कि कम्पनी क़ानून के संचालन सम्बन्धी सुझावों का भी भारत-सरकार के इन प्रस्तावों में समावेश किया गया है। इस समय यह काम पच्छिमी बंगाल और बम्बई के अलावा अन्यत्र प्रान्तीय सरकारों के द्वारा कराया जाता है। वास्तव में केन्द्रीय सरकार की इस एक्ट को लागू करने के लिए कोई पृथक् व्यवस्था है ही नहीं। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। भारत-सरकार के इन प्रस्तावों में रजिस्ट्रार जनरल ऑफ कम्पनीज़ नाम के एक पदाधिकारी के तत्वाविधान में ऐसी पृथक् मशीनरी स्थापित करने का सुझाव भी किया गया है। इसके अलावा एक सलाहकार बोर्ड, जिसमें उद्योगपति, मज़दूर, स्कन्ध, विनिमय बाज़ार (स्टाक एक्सचेन्ज), विनियोग करने वाली जनता आदि के प्रतिनिधि होंगे, की स्थापना का भी सुझाव है।

भारत-सरकार के उक्त प्रस्ताव अभी विचाराधीन हैं। कम्पनी एक्ट में आवश्यक संशोधनों पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने नम्बर १९५० में एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने अपना काम समाप्त कर लिया है और समिति की रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है। अब हम समिति की रिपोर्ट की मुख्य २ बातों पर विचार करेंगे।

कंपनी क़ानून सुधार समिति की सिफ़ारिशें :—समिति की राय में कंपनी क़ानून में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखते हुए आवश्यक सुधार की आवश्यकता है :—

(१) कंपनियाँ किस प्रकार बनाई जाती हैं-ख़ास तौर से प्रोस्पेक्टस, न्यूनतम हिस्सा-पूँजी, और हिस्सों के बटवारे (एलोटमेंट) के सम्बन्ध में क्या क़ानून है।

(२) कंपनी के हिस्सेदारों का उसकी व्यवस्था पर कितना और किस प्रकार का नियंत्रण है ?

(३) संचालकों के कार्य और अधिकार क्या हैं और कपनी तथा मैनेजिंग एजेन्ट पर उनका कितना नियंत्रण है ?

(४) मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति और उनके काम की शर्तें तथा संचालकों और हिस्सेदारों के मुक़ाबले में उनके कार्य और अधिकार क्या हैं ?

(५) कपनी की दुर्व्यवस्था की हालत में सरकार को जाँच और निरीक्षण के क्या अधिकार हैं ?

(६) कंपनी के हिसाब कैसे रखे और आर्डर किये जाते हैं ?

(७) अल्पमत में हिस्सेदारों की क्या स्थिति है और उनको क्या संरक्षण मिलना चाहिये।

(८) कंपनी के बन्द होने की हालत में हिस्सेदारों और लेनदारों को क्या अधिकार हैं ?

(९) कपनी क़ानून का पालन कैसा होता है और ऐसी किसी संस्था की कितनी ज़रूरत है जो विनियोग बाज़ार पर बराबर ध्यान रखे ?

कंपनी के क़ानून में सुधार सम्बन्धी समिति ने जो सिफ़ारिशें की हैं वे नीचे दिये आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित हैं :—

(१) मिश्रित पूँजीवाली कंपनियों का निर्माण और प्रबंध सम्बन्धी क़ानून ऐसा होना चाहिये जिससे कि एक न्यूनतम स्तर की रक्षा हो सके पर अनावश्यक प्रतिबंध या क़ानूनी कार्यवाई को कोई जगह न हो।

(२) प्रोस्पेक्टस में सब बातों की पूरी पूरी जानकारी कराई जाये और इस सम्बन्ध में क़ानून के उल्लंघन के लिये कारगार दण्ड-व्यवस्था हो।

(३) कंपनी के हिसाब इस तरह से तैयार किये जायें कि उनको देखने से कम्पनी की स्थिति की पूरी जानकारी हो सके।

(४) कंपनी की मीटिंगें इस प्रकार बुलाई जायें और उनका इस प्रकार संचालन हो कि हिस्सेदारों को प्रवन्ध करने वालों के कामों के बारे में ठीक-ठीक राय बनाने का पूरा पूरा अवसर मिले।

(५) कंपनी के जाँच करने सम्बन्धी क़ानून में ऐसी गुंजाइश होनी चाहिये कि किसी अपराध के करने पर ही जाँच हो सके केवल ऐसा न हो, पर यह भी संभव हो कि हिस्सेदारों के हित में अगर कंपनी का प्रवंध नहीं हो रहा है या और किसी कारण से जाँच करना ज़रूरी समझा जाये तो जाँच की जा सके।

(६) एक ऐसे अधिकारी की क़ानून द्वारा स्थापना होनी चाहिये जो कंपनी क़ानून के पालन कराने का, कंपनी की जाँच करने का और क़ानून के पालन के सम्बन्ध में सामान्य रूप से ध्यान रखने का और मौक़ा पड़ने पर सार्वजनिक हित में अपने अधिकार को काम में लाने का काम कर सके।

उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर समिति ने जो सिफ़ारिशें की हैं वे इस प्रकार हैं :—

कंपनी की स्थापना और निर्माण के सम्बन्ध में समिति ने यह सिफ़ारिश की है कि कंपनी के प्रोस्पेक्टस में इस समय जितनी जानकारी क़ानून के अनुसार देना आवश्यक है उससे अधिक जानकारी दी जानी चाहिये। उदाहरण के तौर पर संस्थापकों (प्रोमोटर्स) आदि द्वारा स्थापना के पहले दो वर्ष के अन्दर अन्दर अगर कोई इक़रार किये जायें तो उनकी नक़ल प्रोस्पेक्टस के साथ प्रकाशित होनी चाहिये। अगर किसी कम्पनी की मैनेजिंग एजेन्सी का काम किसी कम्पनी को सौंपा जाय तो उस मैनेजिंग एजेंसी कंपनी की 'सब्सक्राइब्ड' पूँजी कितनी है यह प्रोस्पेक्टस में स्पष्ट होना चाहिये। इसी प्रकार न्यूनतम 'सब्सक्राइब्ड' कैपटिल के बारे में भी समिति ने अधिक कड़ी शर्तों की सिफ़ारिश की है ताकि निरर्थक कंपनियाँ स्थापित न हो सकें। समिति ने यह सिफ़ारिश भी की है कि अगर प्रोस्पेक्टस में वे सब बातें दर्ज न हों जोकि क़ानून के हिसाब से होना चाहिये तो 'कैपिटल इश्यूज़ के कन्ट्रोलर' को नई पूँजी जारी करने की स्वीकृति नहीं देना चाहिये।

कम्पनियों की पूँजी सम्बन्धी रचना के बारे में भी समिति ने दो महत्त्व-पूर्ण सिफ़ारिशें की हैं। एक तो यह कि भविष्य में पूँजी केवल दो प्रकार की हो—साधारण हिस्सा पूँजी (इक्वीटी कैपिटल) और विशेष हिस्सा पूँजी। जहाँ तक मत सम्बन्धी अधिकार का सवाल है वह उसी अनुपात में होना चाहिये जिस

अनुपात में हिस्सा पूँजी चुकादी गई है। विशेष पूँजी सम्बन्धी मताधिकार किन्हीं परिस्थितियों में ही काम में लिया जाना चाहिये, यह भी समिति की सिफ़ारिश है। मौजूदा कम्पनियों में जो इस प्रकार की हिस्सा पूँजी है जो साधारण हिस्सों की अपेक्षा अधिक मताधिकार देती हैं उसे, समिति की राय में, क़ानून में सुधार होने के तीन साल के अन्दर अन्दर साधारण हिस्सों पर मिलने वाले मताधिकार के आधार पर ही मताधिकार मिले, इस दृष्टि से संशोधन कर देना चाहिये। दूसरी सिफ़ारिश यह है कि भविष्य में अगर कोई कम्पनी नई पूँजी जारी करे तो यह पूँजी मौजूदा साधारण हिस्सेदारों को वर्तमान हिस्सों के अनुपात में लेने का प्रथम अधिकार होना चाहिये। वे यदि नई पूँजी लेना स्वीकार न करें तो वह दूसरों को दी जा सकती है।

कम्पनी की मीटिंगों के बारे में समिति ने जो सिफ़ारिशें की हैं उनके अनुसार मीटिंग के स्थान, समय, और मीटिंग बुलाने के तरीके और उसके कार्य-संचालन के तरीके के बारे में अधिक स्पष्ट विवरण देना आवश्यक होगा। नोटिस के समय, नोटिस पहुँचने के बारे में, मिनिट्स तैयार करने के बारे में, और 'प्रोक्सीज़' के प्रयोग के बारे में तथा 'पोल' (मतगणना) की माँग के बारे में अधिक विस्तृत धारायें देने की समिति की सिफ़ारिश है। 'असाधारण प्रस्तावों' [एक्सट्रा ऑरडिनेरी रेगूलेशन] को समिति ने हटा देने की सिफ़ारिश की है क्योंकि उसने सब प्रस्तावों के लिये २१ दिन के नोटिस की सिफ़ारिश की है। 'असाधारण प्रस्तावों' की जगह विशेष (स्पेशल) प्रस्तावों को देने की समिति की सिफ़ारिश है। मीटिंग सम्बन्धी उपरोक्त सुझावों के पीछे यही दृष्टिकोण है कि मीटिंगों में हिस्सेदार कारगर भाग ले सकें।

समिति की सबसे महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिशें संचालकों से संबन्ध रखती है। समिति यह मानकर चली है कि कम्पनी के संचालक कम्पनी के प्रतिनिधि या एजेन्ट ही नहीं होते उसके 'ट्रस्टी' भी होते हैं। समिति का लक्ष्य यह है कि संचालक मण्डल में हिस्सेदारों और प्रबन्ध करने वालों का प्रतिनिधित्व तो हो पर हिस्सेदारों का प्रभुत्व रहना चाहिये। संचालक ऐसे लोग होने चाहिये जो कम्पनी के काम में योग्य हिस्सा लेने की योग्यता और फ़ुरसत रखते हों। संचालकों का मैनेजिंग एजेन्टों पर पर्याप्त नियन्त्रण रहना चाहिये। और संचालकों के लिये अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना सम्भव नहीं होना चाहिये। समिति ने यह सिफ़ारिश की है कि संचालक व्यक्ति को ही बनाना चाहिये, किसी संस्था को नहीं। पब्लिक कम्पनी में तीन और प्राइवेट कम्पनी में दो से कम संचालक नहीं होने चाहियें। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि संचालक मण्डल ऐसे

लोगों का न हो जाय जो मैनेजमेंट के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव में हैं। समिति ने यह सिफ़ारिश भी की है कि ६५ वर्ष से अधिक आयु का संचालक नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार एक व्यक्ति अधिक से अधिक बीस कम्पनियों का संचालक हो सकता है। भारत की विशेष स्थिति में यह संख्या इतनी अधिक रखना समिति को आवश्यक मालूम पड़ा। अगर संचालक किसी मामले में सम्बन्धित है तो उस मामले पर विचार होते समय उसे संचालक मण्डल की बैठक में भाग नहीं लेना चाहिये। कम्पनी में या उससे सम्बन्धित सहायक कम्पनी (सब्सिडियरी कम्पनी) या नियामक कम्पनी (होल्डिंग कम्पनी) आदि में संचालक के कितने हिस्से या डिबेंचर हैं यह भी संचालक को प्रकट करना चाहिये।

संचालकों और मैनेजिंग एजेंटों के पारस्परिक सबंधों के मामले में समिति ने कई ऐसी सिफारिशें की हैं जिनसे कि संचालकों का प्रभाव बना रहे। उदाहरण के लिये कई प्रबंध और वित्त संबंधी अधिकार—जैसे डिबेंचर जारी करने, हिस्सेदारों से हिस्से की बक़ाया रक़म वसूल करने, एक मर्यादा से अधिक ऋण लेने, कंपनी के रुपये के विनियोग करने और एक मर्यादा से अधिक ऋण देने के अधिकार—समिति ने संचालकों के पास ही रखने की सिफ़ारिश की है। मैनेजिंग एजेन्ट को इन अधिकारों के अलावा दूसरे कई अधिकारों को भी उसी समय काम में ले सकना चाहिये जब संचालक ऐसा निश्चय कर दें। समिति ने यह भी कहा है कि उपरोक्त कई अधिकार कंपनी को जनरल मीटिंग में ही काम में लेने चाहियें।

मैनेजिंग एजेंसी के बारे में समिति का दृष्टिकोण यह है कि उस के दोषों को मिटाकर उसका उपयोग किया जाना चाहिये। मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति के बारे में समिति ने यह सिफ़ारिश की है कि भविष्य में अधिक से अधिक १५ साल के लिये नियुक्ति होना चाहिये और दुबारा नियुक्ति का समय १० साल तक का सीमित होना चाहिये। एक ही मैनेजिंग एजेंट की दुबारा नियुक्ति समाप्त होने वाले समय के आखिरी चौबीस महीनों के अन्दर ही होनी चाहिये। मौजूदा मैनेजिंग एजेंसियों के बारे में समिति की सिफ़ारिश है कि जिनका कार्यकाल १५ अगस्त, १९५९ के पहले समाप्त होता हो उनके अलावा बाक़ी सबका कार्यकाल १५ अगस्त १९५९ को समाप्त हो जाना चाहिये। मैनेजिंग एजेंटों को हटाने के लिये, समिति की राय में, जालसाज़ी या ख़यानत (ब्रीच ऑफ़ ट्रस्ट) जैसे अपराध करने पर साधारण प्रस्ताव और अन्यथा विशेष प्रस्ताव पास होना चाहिये। यदि कोई नोन-बेलेबुल अपराध में पकड़ा गया है तो उसे बर्खास्त करने के लिये किसी प्रकार के प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। समिति ने मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकारों में होने वाले अनुचित हस्तान्तरण को रोकने के लिये भी कुछ

सिफारिशें की हैं। मैनेजिंग एजेन्टों को मिलने वाले मुआवज़े के संबंध में समिति की यह सिफ़ारिश है कि मैनेजिंग एजेन्टों का मिलने वाला कमीशन भविष्य में असल मुनाफे के १२½% से अधिक नहीं होना चाहिये। असल मुनाफ़े की परिभाषा समिति ने की है। 'आफ़िस अलाउन्स' भी मैनेजिंग एजेन्टों को नहीं मिलना चाहिये। पर आफ़िस के सम्बन्ध में होने वाला असल खर्च कम्पनी से अवश्य वसूल किया जा सकेगा। मुनाफा न होने या कम होने की हालत में कम्पनी की जनरल मीटिंग के निर्णय के अनुसार मैनेजिंग एजेन्ट को न्यूनतम मुआवजा मिल सकेगा पर यह पचास हजार रुपया से किसी हालत में भी अधिक नहीं होगा। मैनेजिंग एजेन्टों को और किसी प्रकार का कोई मुआवजा किसी शक्ल में नहीं मिल सकेगा। मौजूदा मैनेजिंग एजेन्टों की मुआवजे सम्बन्धी शर्तें उपरोक्त सिफ़ारिशों के अनुसार नये क़ानून के लागू होने के दो साल के अन्दर अन्दर संशोधित की जानी चाहियें। हर्जाना के बारे में समिति ने यह सिफ़ारिश की है कि अगर मैनेजिंग एजेन्ट के हटने का कारण उनके द्वारा दिया गया स्तीफ़ा, या कोई हटाने का न्यायोचित कारण, या ऐसा प्रस्ताव जो उनकी स्वयं की स्वीकृति से पास हुआ है, तो उन्हें कोई हर्जाना नहीं दिया जायगा। उपरोक्त परिस्थितियों के अलावा पाँच साल की औसत आमदनी हर्जाने के रूप में देने की समिति की सिफ़ारिश है। अगर किसी मैनेजिंग एजेंट का कार्य-काल पाँच साल से कम है तो उस कम समय की औसत आय के बराबर उसे हर्जाना दिया जायगा। समिति ने यह भी सिफारिश की है कि मैनेजिंग एजेंट सचालकों के सामान्य नियन्त्रण में तो रहने ही चाहियें पर इसके अलावा उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का स्पष्ट निर्देशन होना चाहिये ताकि उस मर्यादा में वह स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सकें। समिति ने कुछ ऐसे कामों की अनुसूची दी है जैसे मैनेजर की नियुक्ति, और स्टाफ की नियुक्ति निश्चित मर्यादा के बाहर, जो संचालकों की मंजूरी से ही किये जाने चाहियें। समिति ने यह भी सिफारिश की है कि भविष्य में कम्पनी के लिये की गई खरीददारी पर मैनेजिंग एजेन्टों को कमीशन नहीं दिया जाना चाहिये। पर कम्पनी के द्वारा उत्पादित माल के वितरण पर इस काम को करने की कम्पनी की जनरल मीटिंग की स्वीकृति मिलने पर, कमीशन दिया जा सकता है। कमीशन कम्पनी को विशेष प्रस्ताव से निश्चित करना चाहिये। ऋण देने या अहदनामे करने के मौजूदा अधिकारों के बारे में भी समिति ने संशोधन सुझाये हैं। कम्पनी से मिलते जुलते व्यवसाय के बारे में जो कम्पनी के व्यापार से प्रतिस्पर्द्धा में आता है जो आज मैनेजिंग एजेन्टों पर प्रतिबन्ध हैं उनको भी अधिक कड़ा करने की समिति की सिफारिश है।

कम्पनी के हिसाब के बारे में भी समिति ने कई सिफारिशें की हैं ताकि कम्पनी के 'बेलेन्स शीट' और लाभ हानि के हिसाब को देखकर कम्पनी की आर्थिक स्थिति का ठीक ठीक हाल मालूम हो सके। इसी तरह से 'ऑडिटरों' की स्वतन्त्रता और ईमानदारी को कायम रखने की दृष्टि से भी कई सिफारिशें की गई हैं। उदाहरणस्वरूप समिति की राय में कुछ ऐसे लोग जो मैनेजिंग एजेन्टों से से सम्बन्धित होते हैं, ऑडिटर नियुक्त ही नहीं होने चाहियें। ऑडिटरों की नियुक्ति आदि के बारे में हिस्सेदारों का आज से अधिक हाथ रह सके और ऑडिटर अपनी शिकायत हिस्सेदारों तक ले जा सकें इस बारे में भी समिति ने कई सुझाव पेश किये हैं।

समिति ने निरीक्षण और जाँच के सम्बन्ध में भी कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। इस विषय में वर्तमान स्थिति अत्यन्त असंतोषजनक मानी जाती है। समिति की सिफारिश है कि कम्पनी कानून का पालन कराने की दृष्टि से एक केन्द्रीय कमीशन [कोरपोरेट इन्वेस्टमेंट और इनवेस्टीगेशन कमीशन] नियुक्त होना चाहिये। इस कमीशन में सभापति के अलावा चार दूसरे सदस्य होने चाहियें। इस कमीशन को कम्पनी के कारोबार के बारे में न केवल हिस्सेदारों की एक निश्चित संख्या के माँग करने पर लेकिन अपनी मर्जी से भी जाँच करने का अधिकार होना चाहिये। जाँच सम्बन्धी अधिकारों में काफी विस्तार करने की भी सिफारिश समिति ने की है। इस कमीशन को कम्पनी के हिस्से या डिबेंचरों के संबंध में भी जाँच करने का यह अधिकार होना चाहिये कि उन हिस्सों या डिबेंचरों का स्वामित्व किन के पास है। कम्पनी कानून का ठीक ठीक पालन कराने का जिम्मा तो इस कमीशन का ही होगा, समिति की इस राय का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं। समिति की राय में इस कमीशन का काम कम्पनी कानून के अनुसार हिसाब सम्बन्धी कर्तव्य और अधिकारों को काम में लेना, कपनी के बैलेंस शीट और लाभ-हानि के हिसाबों की जाँच करना आदि तो होना ही चाहियें पर इसके अलावा इस कमीशन को व्यक्तिगत विनियोग बाजार पर भी बराबर ध्यान रखना चाहिये ताकि कम्पनी प्रबन्ध के बारे में कोई भी नई प्रवृत्ति हो तो उसका पता लग सके। इस दृष्टि से कमीशन को कंपनियों के प्रोस्पेक्टसों, नई पूँजी के जारी होने की शर्तों, कम्पनियों के हिसाबों और कम्पनियों के ऑडिटरों की रिपोर्टों का बराबर अध्ययन करते रहना आवश्यक होगा। समिति ने यह सिफारिश भी की है कि 'कन्ट्रोलर ऑफ केपिटल इश्यूज' का और स्कंध बाजारों के नियन्त्रण और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों की स्थापना, निर्माण और कार्य की देखभाल सम्बंधी काम भी इस कमीशन को सौंपा जाना

चाहिये। इसके अतिरिक्त कमीशन का यह काम भी होना चाहिये कि वह ऐसे 'टेकनिकल एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ़' का निर्माण भी करे जो कंपनियों के प्रोस्पेक्टसों, हिसाबों और विनियोग की समस्याओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करने में दक्ष हों और इसका एक प्रमुख कार्य कम्पनियों संबंधी आंकड़ों को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करना होना चाहिये ताकि इन आंकड़ों के आधार पर व्यक्तिगत व्यवसाय संबंधी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाना संभव हो सके। कंपनी कानून के पालन कराने संबंधी व्यवस्था में सुधार करने के लिये देश के विभिन्न प्रदेशों में पूरे समय काम करने वाले कंपनी के रजिस्ट्रार नियुक्त किये जाने चाहियें। ये रजिस्ट्रार केन्द्रीय कमीशन के नियंत्रण में काम करने वाले होने चाहियें। साथ ही साथ उक्त कमीशन के प्रतिनिधि की हैसियत से भी इनको काम करना चाहिये।

कंपनी कानून सुधार समिति ने जो सिफारिशें की हैं उनका मोटे रूप में वर्णन किया जा चुका है। इन सिफारिशों के आधार पर नया कंपनी कानून जब बन जायेगा तो देश के कंपनी कानून में जो कई कमियाँ हैं वे निकल जायेंगी, ऐसी आशा करना अनुचित न होगा।

परिच्छेद ४

उद्योग-धन्धे—श्रम

भारत में श्रमिक वर्ग का उदय—भारत में पहले आधुनिक अर्थ में श्रमिक वर्ग जैसा कोई पृथक् वर्ग नहीं था। जाति-प्रथा जो भारत की विशेषता रही है, एक सामाजिक आर्थिक संस्था है और विभिन्न उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले लोगों का वर्गीकरण भी हमारे देश में जाति के आधार पर ही होता रहा है। जब इस देश में आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ तो उसके परिणामस्वरूप आज के श्रमिक वर्ग का भी उदय हुआ।

हमारे गृह-उद्योगों के अधःपतन और खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बटते जाने की प्रवृत्ति का यह असर हुआ कि खेती में लगे लोगों की या तो आय बहुत कम होगई या फिर वे बेकार होगए। ऐसी दशा में इन लोगों ने उजरत पर काम करना आरम्भ कर दिया और एक पृथक् भूमिहीन श्रमिक वर्ग पैदा हो गया।

अंग्रेजों के भारत में आने के साथ ही साथ श्रमिक वर्ग की मांग भी उत्पन्न हुई। नील, चाय और काफ़ी के खेतों के लिए बड़ी संख्या में मजदूरों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। ब्रिटिश उपनिवेशों में १८३४ में दास-प्रथा के समाप्त होने से भी इन उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों की माँग पैदा हुई। रेल, कोयले की खानें और सूती कपड़े और पटसन के कारखानों जैसे आधुनिक उद्योगों की भी स्थापना होने लगी। आरम्भ में इन उद्योगों को मज़दूर मिलने में कठिनाई हुई। पर जनसंख्या में जैसे-जैसे वृद्धि हुई यह कठिनाई भी कम होने लगी। शुरू-शुरू में कारखानों के लिए मज़दूरों की भरती करने के वास्ते कारखानों के प्रतिनिधियों को गाँवों में जाना पड़ता था और तब भी मजदूरों की संख्या में बराबर कमी बनी रहती थी। आज तो यह परिस्थिति सर्वथा बदल गई है। पर आसाम के चाय के खेतों के लिए जो मज़दूर चाहियें, उन्हें तो अब भी जगह-जगह जाकर भरती करना पड़ता है। बाकी तो आज मज़दूरी करनेवाले स्वयं ही मज़दूरी की तलाश में कारखानों तक पहुँच जाते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि संगठित उद्योगों में काम करनेवाले कुल मज़दूरों की संख्या भारत में चौबीस लाख के लगभग है। इस मज़दूर जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग तो बम्बई और कलकत्ते में ही है और बाकी का हिस्सा अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, जमशेदपुर, मदुरा, कोइम्बटूर, मद्रास, नागपुर और दिल्ली जैसे औद्योगिक केन्द्रों में निवास करता है। खान

के मज़दूरों के केन्द्र बंगाल और बिहार की खानें हैं और आसाम तथा भारत के दक्षिण के प्लान्टेशन इन खेतों में काम करने वालों के केन्द्र हैं।

कृषि और ग्राम्य जीवन से सम्पर्क—भारत में मज़दूर-वर्ग प्रधानतः गाँवों से आता है। पश्चिम के मज़दूर-वर्ग से भारतीय मज़दूर-वर्ग इस अर्थ में भिन्न है। पश्चिम का मज़दूर नगरों का रहने वाला होता है। ऐसा कहा जाता है कि भारत का मज़दूर स्वभाव से तो किसान है पर मजबूरी में कारखानों में काम करता है। प्रायः अधिकांश भारतीय मज़दूरों का निवास-स्थान शहरों से दूर गाँवों में होता है जहाँ से मज़दूरी करने के लिए वे शहरों में आते हैं। उनका यह स्थान परिवर्तन स्थायी नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय मज़दूर इस अर्थ में पूर्णतया अस्थायी और स्थान बदलने वाला (माइग्रेटरी) है कि वह किसी एक स्थान अथवा कारखाने में जम कर काम नहीं करता (लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी प्रधान रिपोर्ट)। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि मज़दूर अपना घर अपने गाँव को ही मानता है। उसकी आकांक्षा यही रहती है कि वह अपने गाँव को वापस लौट जाए। जब तक वह शहर में मज़दूरी करता है तब तक भी उसका गाँव में आना-जाना बराबर बना रहता है। अधिकतर मज़दूरों का तो अपने गाँव से सचमुच सम्बन्ध होता है। बाक़ी कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका यद्यपि वास्तव में सम्बन्ध नहीं होता पर फिर भी भावना से वे अपना सम्बन्ध मानते रहते हैं।

इसका यह अर्थ भी कदापि नहीं है कि भारतीय मज़दूर मूलतः एक किसान है जैसा कि कई लेखक और मिल-मालिक मानते मालूम पड़ते हैं। बात केवल यह है कि उसका पालन-पोषण गाँव में हुआ, उसकी परम्पराएँ गाँव की हैं, और गाँव से उसका सम्पर्क बना रहता है। ऐसे मज़दूर बहुत कम हैं जिनका स्वयं खेती के काम से कोई सम्बन्ध होता है। यह ठीक है कि ऐसे मज़दूर बहुत होते हैं जो अपना घर गाँव से उठाते नहीं, जिनका परिवार गाँव में रहता है, जो अपनी आय का एक अंश अपने गाँव को भेजते हैं और समय-समय पर वहाँ जाते रहते हैं। पर जो कारख़ाने साल भर न चल कर वर्ष के कुछ महीनों ही चलते हैं उनके मज़दूर खेती के काम से सम्बन्ध रखते हैं। कोयले की खानों में काम करने वालों में खेती के काम से सम्बन्ध रखने वालों की संख्या यथेष्ट होती है। पर बराबर चलने वाले कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों को प्रायः खेती से सम्बन्ध नहीं होता। वे गाँव से सम्बन्ध अवश्य रखते हैं और उस दिन की प्रतीक्षा में रहते हैं जब वे अपने गाँव को लौट जावेंगे। ऐसे मज़दूरों की संख्या बहुत कम है जो स्थायी रूप से औद्योगिक शहरों के निवासी बन गए हैं। इसका

कारण यह है कि यहाँ उनके लिए कोई आकर्षण नहीं है। अहमदाबाद, नागपुर, मद्रास, और जमशेदपुर कुछ ऐसे उद्योग-केन्द्र हैं जहाँ स्थायी मज़दूरों की अच्छी संख्या है।

स्थान परिवर्तन के कारण—गाँवों से शहरों में जाने की प्रवृत्ति के कई कारण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जनसंख्या में बराबर वृद्धि होने से और ग्रामोद्योगों के नष्ट होने से गाँवों में खेती करने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। इन खेती करने वालों में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या भी काफी है। खेती से यथेष्ट आय न होने से ये लोग शहरों में कारखानों में मज़दूरी करने जाना पसद कर लेते हैं। आने-जाने के साधन आज उपलब्ध हैं ही। संयुक्त परिवार-प्रणाली भी इसमें सहायक होती है, क्योंकि बिना सारे परिवार को घर छुड़ाए और थोड़ी बहुत यदि खेती है तो उसे बिना छोड़े ही घर के कुछ लोग शहरों में जाकर कारखानों में काम कर सकते हैं। कई बार गाँव के महाजनों से छुटकारा पाने के लिए भी शहर में लोग चले जाते हैं। हरिजन आदि जाति के लोग जो गाँव में कई प्रकार की सामाजिक असमानताओं के शिकार होते हैं, अपनी स्थिति सुधारने की आशा में गाँव से शहर में जाकर काम करना पसंद करते हैं। गाँवों से शहरों की ओर के इस प्रवाह की एक विशेषता यह है कि शहरों में कोई आकर्षण लोगों को नहीं है। वे तो गाँवों से परेशान होने के कारण शहर में जाना पसंद करते हैं, और इसलिए जब काम करने के वे अयोग्य हो जाते हैं तो वापस गाँव को ही लौट आते हैं।

गाँव से सम्पर्क के लाभ-हानि—मज़दूर का अपने गाँव से जो सम्पर्क बना रहता है उसका उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से भी यह लाभप्रद है क्योंकि मज़दूर बेकारी, बीमारी अथवा हड़ताल जैसी किसी भी स्थिति में गाँव को लौट सकता है और वहाँ कुछ न कुछ काम भी उसे मिल सकता है। गाँव को दुनिया के व्यापक जीवन से सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है और वहाँ के लोगों में व्याप्त अंधविश्वास और रूढ़िप्रियता को मिटाने में इससे सहायता मिलती है। उपर्युक्त लाभों के मुकाबले में उद्योग धंधों की दृष्टि से कई हानियाँ भी हैं। मज़दूर को अपने काम में स्थाई दिलचस्पी पैदा नहीं हो पाती। इसका उसकी कार्य-कुशलता पर बुरा असर पड़ता है और मज़दूर सगठन की दृष्टि से भी यह वांछनीय नहीं है। इसके अलावा मज़दूर को स्वयं की दृष्टि से भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। शहरी जीवन का उसके स्वास्थ और चरित्र पर बुरा असर पड़ता है। जुआ और शराब की बुरी आदतें उसमें आ जाती हैं। कारखाने में जो लगातार कड़े अनुशासन में काम

करना पड़ता है वह भी उसके अनुकूल नहीं पड़ता क्योंकि गाँवों में वह इस प्रकार के काम करने का अभ्यस्त नहीं होता। ये सब होते हुए भी 'व्हिटले कमीशन' का यह स्पष्ट मत था कि गाँवों के इस सम्पर्क से कुल मिलाकर लाभ हैं और वह भविष्य में बना रहे ऐसा प्रयत्न होना चाहिये। पर इस सम्बन्ध में 'लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी' की राय भिन्न है। उनका मत है कि जहाँ तक आराम के लिए गाँवों से सम्पर्क रखने का सवाल है, मज़दूर को भविष्य में भी इस सम्पर्क को बनाए रखने के लिए पूरा प्रोत्साहन और सुविधाएं मिलनी चाहियें। पर जहाँ तक उसकी आर्थिक सुरक्षा का प्रश्न है उसे गाँव पर निर्भर बनाए रखना वांछनीय नहीं है; और न गाँव की आज ऐसी स्थिति है कि वह मज़दूर की इस अर्थ में कोई विशेष सहायता कर सकता है (प्रधान रिपोर्ट)। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरों के काम और रहने की परिस्थितियों में सुधार होना चाहिये ताकि मजदूर इन औद्योगिक केन्द्रों के स्थायी निवासी बन जाएं।

हाँ, यदि बड़े पैमाने के उद्योग गाँवों में विकेन्द्रित कर दिये जाते हैं तो कई दूसरे आर्थिक लाभों के साथ-साथ एक यह लाभ भी होगा कि मजदूर के अस्थायी होने की हानियाँ जाती रहेंगी और गाँव के सम्पर्क से होने वाले लाभ और बढ़ जाएंगे। मकान, औद्योगिक बेकारी और ऐसी ही दूसरी समस्याओं का हल भी उस हालत में आसानी से निकल आवेगा।

मज़दूरों की भर्ती—मज़दूरों की भर्ती के सम्बन्ध में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अब स्थिति बदल गई है और मज़दूरी चाहने वाले लोग स्वयं ही कारखानों तक काम की तलाश में पहुँच जाते हैं। पर मज़दूरों का प्रधान स्रोत आज भी गाँव ही हैं; यद्यपि पिछले वर्षों में मज़दूरों का एक ऐसा वर्ग अवश्य पैदा हो रहा है जो उद्योग पर ही अपने निर्वाह के लिए निर्भर रहने को तैयार है और शहर में स्थायी रूप से बस जाना चाहता है।

मज़दूरों की भर्ती के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि मिल के मालिक स्वयं मज़दूरों की सीधी भर्ती नहीं करते। इस काम के लिए उनके और मज़दूरों के बीच में एक तीसरा व्यक्ति रहता है जो 'जोबर', 'मुक़द्दम', 'सरदार', 'टिंडल' 'चौधरी', कांगानी' या मिस्त्री के नाम से जाना जाता है। प्रधानतः यह 'चार्जमेन' होता है जो अपने विभाग के उत्पादन के लिए जिम्मेदार है और अपने नीचे काम करने वाले मज़दूरों की देखरेख करता है। भर्ती, बरखास्तगी, छुट्टी, तरक्की या किसी अच्छी जगह पर तबादला, ये सब वास्तव में उसके हाथ में रहते हैं। इसके अतिरिक्त वह मज़दूरों को रुपया भी उधार देता है, उनके रहने के मकान उसके होते हैं, और वह उनके पारिवारिक झगड़ों आदि को निबटाने

में भी भाग लेता है। पर उसका सबसे प्रधान काम तो मज़दूरों की भर्ती करना ही है। अपने इस काम के लिए वह मज़दूरों से रिश्वत लेता है। यहाँ तक कि अस्थायी नौकरी तक के लिए उसे रिश्वत देनी होती है। जोबर के अलावा और बाबू लोगों को (क्लर्क) भी मज़दूर को रिश्वत देनी पड़ती है। रिश्वतखोरी भारतीय कारखानों और रेल के कारखानों में काफी प्रचलित है। जोबर एक तरफ तो मज़दूरों से रिश्वत लेता है और दूसरी ओर मिल-मालिक भी उसे भर्ती के काम के लिए मुआवजा देते हैं। कहीं-कहीं तो 'जोबर' मज़दूरों की मासिक आय में से एक अंश खुद ले लेता है।

मज़दूरों सम्बन्धी व्हिटले कमीशन ने और बौम्बे टेक्सटाइल लेबर एनक्वाइरी कमेटी ने भी इस प्रश्न पर काफी विचार किया और उन्होंने अपनी राय मज़दूरों की भर्ती सम्बन्धी इस पद्धति के विरुद्ध दी। उसकी सिफ़ारिश यह थी कि मिल-मालिकों को स्वयं इस काम को सीधे तौर पर अपने हाथ में लेना चाहिये और इसके लिए 'लेबर ऑफिसर्स' नियुक्त किए जाने चाहियें। ये लेबर आफिसर जनरल मैनेजर की सीधी मातहती में काम करेंगे। किसी की भी नियुक्ति अथवा बरखास्तगी सीधे विभागीय अध्यक्ष द्वारा न होकर लेबर आफिसर तक ये मामले जाने चाहियें। इसी सम्बन्ध में 'कानपुर लेबर इनक्वायरी कमेटी, ने 'जोबर्स' द्वारा मज़दूरों की भरती की प्रचलित प्रथा के विरुद्ध अपनी राय देते हुए यह सिफ़ारिश की थी कि सरकार के नियंत्रण में एक 'लेबर एक्सचेन्ज' स्थापित करना चाहिये जो मिलों के माँग करने पर उसके पास नौकरी के लिए जिन लोगों के आवेदन-पत्र आए हुए हैं उनमें से भरती करे।

यद्यपि भरती की यही पुरानी पद्धति आज भी अधिकतर प्रचलित है, पर पिछले वर्षों में लेबर ऑफिसरों और लेबर ब्यूरो द्वारा सीधी भरती करने की व्यवस्था भी कई उद्योगों ने आरम्भ की है। पश्चिमी बंगाल की जूट की मिलों में लेबर ब्यूरो द्वारा जो लेबर ऑफीसर के चार्ज में होते हैं, भरती होती हैं, और इस सम्बन्ध में 'सरदारों' का कोई हाथ नहीं हैं। १ अप्रैल, १६४८ से ही पश्चिमी बंगाल जूट मिलों से ठेकेदारों द्वारा मज़दूरों की भरती बंद कर दी गई है। इसके अलावा बम्बई मिल-मालिक-संघ ने 'बदली नियंत्रण प्रणाली' भी जारी की है। इस प्रणाली के अनुसार बदली पर काम करने वाले मज़दूरों को (सब्सटीट्यूट्स) अर्थात् उन मज़दूरों को जो अस्थायी तौर पर खाली स्थानों पर काम करते हैं, कार्ड दिये जाते हैं; और जिनके पास ये कार्ड होते हैं वे व्यक्ति हर रोज काम की तलाश में मिलों के फाटक पर उपस्थित होते हैं। ज्येष्ठता के आधार पर उनमें से खाली स्थानों पर अस्थायी नियुक्तियाँ की

जाती हैं और उनके रहते हुए नए मज़दूरों की भरती नहीं होती। पर इस प्रणाली से भी यद्यपि जोबर के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य हुई है, पर उससे सर्वथा मुक्ति नहीं मिल सकती है। पश्चिमी बंगाल की जूट मिलों में भी 'बदली' प्रणाली चालू है। बम्बई के मिल-मालिकों के संघ ने इस दिशा में अच्छा क़दम उठाया है। उन्होंने लेबर ऑफ़िसरों की ट्रेनिंग की व्यवस्था की है और उन लेबर ऑफिसरों के काम की वे देखरेख भी करते हैं जिनकी नियुक्ति उनके द्वारा की जाती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय और 'इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन' के सम्मिलित प्रयत्न से भी 'लेबर वेलफेयर ऑफिसर्स' की शिक्षा की व्यवस्था चालू की गई है। कानपुर की 'नॉरदर्न इण्डिया एम्पलोयर्स एसोसियेशन' ने भी एक 'एम्पलोयमेंट एक्सचेंज' की स्थापना की है। सारांश यह है कि मज़दूरों की भरती सम्बन्धी इस नई पद्धति को अपनाने का देश में प्रयत्न अवश्य आरम्भ हुआ है और यह आशा रखना अनुचित न होगा कि पुरानी पद्धति का स्थान यह नई पद्धति अन्ततोगत्वा ले लेगी।

अब तक हमने मज़दूरों की भरती सम्बन्धी प्रश्न का आम तौर पर विचार किया है। अब हम कुछ विशेष उद्योगों—जैसे प्लान्टेशन और खानों तथा सार्वजनिक निर्माण को लेकर इस बारे में जानकारी करेंगे।

चाय के खेत (प्लान्टेशन्स)—चाय की खेती भारत में सबसे अधिक आसाम में होती है। वहाँ खेतों में काम करने वाले मज़दूर दूर-दूर के प्रान्तों से जाते हैं। आज कल इन मज़दूरों की भरती १९३२ में पास किये 'टी डिस्ट्रिक्ट्स एमिग्रेन्ट लेबर एक्ट' से नियंत्रित होती है। इस क़ानून के पास होने से पहले इन खेतों में काम करने वाले मज़दूर इकरार (कॉन्ट्रेक्ट) के आधार पर नौकर रखे जाते थे। अब इस व्यवस्था का अन्त हो गया है।

१९३२ के क़ानून के बाद किसी भी व्यक्ति को आसाम में जाकर मज़दूरी करने का अधिकार है। पर अपने आप से जानेवाले लोगों की संख्या नगण्य ही मानना चाहिये। इसलिए आज भी इस बात की आवश्यकता है कि आसाम के चाय के खेतों में मज़दूरी करने के लिए लोगों को भेजा जाए। इस प्रकार भेजे जानेवाले मज़दूरों को सहायता प्राप्त 'एमिग्रेन्ट' कहते हैं। इन लोगों को भरती करने का जो लोग काम करते हैं उन्हें 'सरदार' कहते हैं। बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो बिना 'सरदार' की मध्यस्थता के अपने आप को भरती कराने को तैयार होजाएँ। जो लोग भरती होना चाहते हैं, चाहे स्वयं और चाहे 'सरदार' की मध्यस्थता से, वे भरती के डिपो पर पेश होते हैं। वहाँ से लाइसेंस प्राप्त फारवर्डिंङ्ग एजेन्ट उन्हें निश्चित मार्ग से, जहाँ उनके खाने-पीने, ठहरने और

दवा-दारू का प्रबन्ध होता है, आसाम भेजते हैं। १६ वर्ष से कम के बालक अपने माता-पिता के साथ और विवाहित स्त्री अपने पति की स्वीकृति से ही आसाम भेजी जा सकती है। तीन वर्ष पूरे होते ही और विशेष परिस्थिति में उससे पहले भी इस प्रकार सहायता देकर भेजे गए मज़दूरों को वापस उनके घर भेजने का जिम्मा उनके खेत के मालिकों का है। प्रायः जिन प्रदेशों से मज़दूर जाते हैं, उन्हें राज्य की सरकार को, केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में, १६३२ के कानून के अनुसार नियंत्रित भरती के प्रदेश (कन्ट्रोल्ड एमिग्रेशन एरिया) घोषित करने का अधिकार है—जैसे बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, मद्रास और उत्तर प्रदेश, इन्हीं में से किसी प्रदेश अथवा उसके किसी भाग को मर्यादित भरती के प्रदेश (रेसट्रिक्टेड रिक्रूटिंग एरिया) घोषित करने का अधिकार भी राज्य की सरकार को है। इन मर्यादित प्रदेशों में लाइसेंन्स प्राप्त फारवर्डिंग एजेन्ट या भरती करनेवाले या प्रमाण पत्र प्राप्त 'सरदार' ही आसाम के खेतों के लिए मज़दूरों को भेजने में सहायता कर सकता है। १६३२ के कानून के अनुसार 'कन्ट्रोलर ऑफ एमिग्रेन्ट लेबर' नाम का एक अधिकारी नियुक्त है जिसका काम यह देखना है कि उक्त एक्ट का ठीक-ठीक पालन किया जारहा है।

'सरदारों' की मध्यस्थता से मज़दूरों की भरती के काम के विषय में बहुत शिकायतें रही हैं। धोखे से भरती करना, शराब अथवा अन्य किसी नशीली चीज़ का मजदूरों को सेवन कराना आदि कई शिकायतें इस बारे में पाई गई हैं। १६३२ के कानून के अमल में आने के बाद कुछ सुधार अवश्य हुआ है। पर वास्तविक सुधार तो तभी होगा जब 'सरदारी पद्धति' ही समाप्त होजाए और स्वतन्त्र रूप से काम करने के लिए आसाम जानेवालों की संख्या इतनी हो जाए कि उससे मजदूरों की माँग पूरी हो सके।

दक्षिण भारत में चाय के खेतो के लिए मज़दूर आस-पास के प्रदेश से ही आते हैं। भरती करनेवाले मध्यस्थों को वहाँ (Kanganies) कहते हैं। मज़दूरों को लाने के लिए इनको रुपया दिया जाता है। कई बार ये लोग पूरा रुपया मज़दूरों को नहीं देते। और भी शिकायतें इनके बारे में हैं। जैसे मज़दूरों को ऋण देना, बाद में हिसाब साफ करते समय उनको धोखा देना, मज़दूरों की उनके द्वारा तय की गई मजदूरी में से अपने लिए कुछ बचा लेना और मजदूरों से उनकी मज़दूरी पर १० से १५ प्रतिशत तक कमीशन लेना आदि।

जहाजों पर काम करनेवाले—अभी तक जहाज़ी यातायात पर विदेशियों का ही प्रभुत्व रहा है। ये मज़दूरों की भरती गवर्नमेंट लाइसेंस प्राप्त 'शिपिंग ब्रोकरों' द्वारा कराते हैं। इस पद्धति में कई दोष हैं। रिश्वत का खूब प्रचार है।

इन मज़दूरों की सबसे बड़ी समस्या बेकारी की है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल समुद्री मज़दूरों की संख्या—जो काम चाहते हैं—२ लाख है, और लगभग ५० हज़ार को काम मिलता है।

भारत सरकार ने १९२१ में समुद्री मज़दूरों की भरती सम्बन्धी जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। इस कमेटी ने यह सिफ़ारिश की थी कि 'एम्पलोयमेंट ब्यूरो' की स्थापना की जाए जो मज़दूरों की रिश्वत और नौकरी में अस्थायित्व से रक्षा कर सकें। जहाज़ों के मालिकों के विरोध के कारण १९२९ में जाकर सरकार इस रिपोर्ट के सम्बन्ध में अपने आदेश जारी कर सकी। लाइसेंस प्राप्त ब्रोकरों और दूसरे मध्यस्थों की सर्वथा मनाही तो नहीं की गई, पर उनके अधिकारों में अवश्य कमी की गई। पर इससे समुद्री मज़दूरों को कोई राहत नहीं मिल सकी।

१९४७ में भारत सरकार ने एक 'त्रिदलीय समुद्री मज़दूर सलाहकार समिति' (मेरीटाइम लेबर एडवाइजरी कमेटी) की स्थापना की है जो सरकार को इन मज़दूरों की समस्याओं पर सलाह देने का काम करेगी। बेकारी के प्रश्न को सुलझाने के लिए इस कमेटी की सलाह से समुद्री मज़दूरों के दुबारा रजिस्ट्रेशन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। भरती के सम्बन्ध में सुधार करने की दृष्टि से कलकत्ते और बम्बई में 'मेरीटाइम बोर्डों' की स्थापना की गई है। इन बोर्डों में मज़दूरों के, जहाज़ के मालिकों के और भारत सरकार के प्रतिनिधि शामिल हैं।

खान मजदूर—यहाँ हम बंगाल और बिहार की कोयले की खानों में काम करने वाले मज़दूरों की भरती के बारे में ही विचार करेंगे। कुछ खानों को छोड़कर, जो अपने मज़दूरों की भर्ती की व्यवस्था स्वयं ही अपने वेतन भोगी जमादार, चपरासी और मज़दूर-सरदारों द्वारा करती हैं, अधिकांश खानों में आज भी मज़दूरों की भर्ती मध्यस्थ के द्वारा होती है। वे मध्यस्थ (ठेकेदार) दो प्रकार के हैं—एक वे जो केवल मज़दूरों को लाने का प्रबन्ध करते हैं और बाद में खान के मालिक उनको काम पर लगाते हैं और उनको मज़दूरी चुकाते हैं; दूसरे वे जो केवल भरती ही नहीं करते पर उनको खान में से कोयला निकालने और उसे डिब्बों में भरने के काम पर रखते हैं और उनको स्वयं ही मज़दूरी चुकाते हैं। इन दूसरी प्रकार के ठेकेदारों को ही 'रेज़िंग कॉन्ट्रेक्टर्स' कहते हैं। एक तीसरी प्रकार के ठेकेदार और होते हैं जिन्हें प्रबन्ध-ठेकेदार (मैनेजिंग कॉन्ट्रेक्टर) कहते हैं जो मज़दूरों की भरती और कोयला निकालने के अलावा खानों के विकास और कुछ न कुछ प्रबन्ध के लिए भी ज़िम्मेदार होते हैं। पर इन सब में रेज़िंग कॉन्ट्रेक्टर का तरीक़ा ही सबसे अधिक प्रचलित है (लेबर

इन्वेस्टीगेशन कमीशन—प्रधान रिपोर्ट)। इन ठेकेदारों और मज़दूरों के बीच में 'सरदार' नाम का एक मध्यस्थ और होता है जो गाँव-गाँव में जाकर मज़दूरों को लाता है, उनको हवालगी रुपया देता है, उन पर निगरानी रखता है और उनको काम करने की सुविधाएँ मिलती रहें इसका ध्यान रखता है। मज़दूरों को जो औज़ार आदि काम करने के लिए दिये जाते हैं वे भी इसी की ज़िम्मेदारी पर दिये जाते हैं। इसी के सामने उनको वेतन चुकाया जाता है। उसे अपने इस काम के लिए साप्ताहिक अथवा मासिक वेतन मिलता है या फिर एक आना प्रति टन या दो आने प्रति टन प्रति मज़दूर कोयला निकालने के हिसाब से कमीशन मिलता है। 'सरदार' के ज़रिये ही ठेकेदार मज़दूरों को हवालगी रुपया देते हैं।

ठेकेदारी की पद्धति से मज़दूरों को भरती करने के कई दोष हैं। रेलवे की कोयले की खानों ने इस पद्धति को समाप्त करने का प्रश्न हाथ में लिया है, जैसा कि 'कोयले को खान से निकालने सम्बन्धी औद्योगिक समिति' (इन्डस्ट्रियल कमेटी ऑफ कोल माइनिंग) ने सिफ़ारिश की थी (जनवरी १९४८)। कोयले की दूसरी खानों के सम्बन्ध में इसी कमेटी ने सितम्बर १९४८ की बैठक में विचार किया था और निश्चिय किया था कि कुछ समय तक वर्तमान पद्धति ही चलने दी जाए और इस समस्या की और जाँच की जाए। खानों में काम करने और रहन-सहन की स्थिति में जितना सुधार होगा उतना ही काम करने वाले मजदूरों में स्थायित्व आएगा और ठेकेदारी-प्रथा का अन्त हो सकेगा। जहाँ और जब तक ठेकेदारी-प्रथा रहे वहाँ उसका उचित नियंत्रण होना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि उससे होने वाली हानियाँ कम से कम की जा सकें।

सार्वजनिक निर्माण—सरकारी सार्वजनिक निर्माण विभाग, और म्यूनिसिपल कमेटियाँ तथा ज़िला बोर्ड भी निर्माण कार्य के लिए ठेकेदारी-पद्धति से काफ़ी संख्या में मज़दूरों की भरती करते हैं। ठेकेदारी-प्रथा के सब दोष यहाँ भी पाए जाते हैं और मज़दूरों का शोषण होता है। व्हिटले कमीशन ने भी इस इस बात का समर्थन किया था और इस पद्धति में सुधार और आवश्यक नियंत्रण पर पूरा ज़ोर दिया था।

एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़—भारतीय उद्योग-धन्धों में मज़दूरों की भरती की जिस अप्रत्यक्ष प्रणाली की आज प्रधानता है उसके तथा उससे उत्पन्न दोषों के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। हमने यह भी देखा कि प्रत्यक्ष भरती के प्रयत्न भी—जैसे लेबर ऑफीसरों द्वारा या फिर बदली नियंत्रण प्रणाली द्वारा हुए हैं, पर इन प्रयत्नों का अभी कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी

(१६४६) ने तो यहाँ तक लिखा है कि लेबर ऑफ़ीसरों द्वारा होने वाली इस प्रत्यक्ष भरती के पीछे भी अप्रत्यक्ष भरती काम करती है, क्योंकि आफ़ीसर बिना मध्यस्थों की मदद के अपरिचित होने की वजह से गाँवों में जाकर भरती के काम में बहुत सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि इस कमेटी ने यह राय व्यक्त की है कि अप्रत्यक्ष भरती की तमाम बुराइयों के बावजूद भी यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय मज़दूर ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जहाँ मध्यस्थ द्वारा भरती की प्रणाली का आसानी से त्याग किया जा सकता है। इसका यह तात्पर्य हरगिज़ नहीं है कि अप्रत्यक्ष प्रणाली को व्यवस्थित और नियंत्रित ही न किया जाए।

इतना होते हुए भी इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें भरती की अप्रत्यक्ष प्रणाली के स्थान पर प्रत्यक्ष प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़' की स्थापना इसी प्रकार का एक प्रयत्न है।

ह्विटले कमीशन एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के पक्ष में नहीं था। पर बावजूद कमीशन की इस राय के इनके पक्ष में राय बढ़ी है और मज़दूर तथा मालिक दोनों ही इनकी स्थापना के पक्षपाती हैं। यह ठीक है कि एम्पलायमेंट एक्स-चेंजेज़ किसी देश के बेकारी के आधारभूत प्रश्न का हल नहीं निकाल सकते, यद्यपि मांग और पूर्ति में सामञ्जस्य स्थापित कर सकने के कारण इस असामंजस्य से उत्पन्न बेकारी को वे अवश्य कम कर सकते हैं। पर मज़दूरों की भरती से सम्बन्ध रखने वाली भारत में प्रचलित अप्रत्यक्ष प्रणाली के दोषों को ये अवश्य दूर कर सकते हैं और मिल-मालिकों को भरती के काम में बहुत सहायता दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में यूरुप, अमेरिका और जापान का अनुभव भी एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के पक्ष में ही है। भारत में सबसे पहला एम्पलायमेंट एक्सचेंज १६३८ में कानपुर में उत्तरी भारत एम्पलॉयर्स एसोशियन के द्वारा क़ायम किया गया था।

लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी ने एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ के मुख्य काम ये बताए हैं—(१) काम चाहने वालों को और काम के बारे में जानकारी देना। (२) खाली स्थानों के लिए मज़दूरों की भरती करना। (३) मज़दूरों की टेकनिकल ट्रेनिंग की क्या आवश्यकताएँ हैं और क्या प्रबन्ध है उसकी जानकारी करना। (४) विभिन्न धन्धों के बारे में जानकारी और मार्गदर्शन कराना। (५) काम के बारे में ऐसी सामान्य जानकारी प्राप्त करना जो मिल-मालिकों, सरकार और जनता के लिए उपयोगी सिद्ध हो। (६) विभिन्न वर्गों में जिनमें मिल-

मालिक और मज़दूर भी शामिल हैं, सम्बन्ध स्थापित करना और दूसरी सरकारी संस्थाओं से सहयोग करना।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने से कुछ पूर्व (जुलाई, १९४५) भारत-सरकार ने फौज से लौटे हुए लोगों और अन्य युद्ध के सम्बन्ध में काम करने वाले बेकार मज़दूरों को काम पर लगाने की दृष्टि से एम्पलायमेंट एक्सचेंजेज़ का एक देशव्यापी संगठन स्थापित किया। पर बाद में इनके कार्य-क्षेत्र को अधिक व्यापक बना दिया गया और अब वे विस्थापित लोगों तथा औद्योगिक मज़दूरों को काम पर लगाने का कार्य भी करते हैं। इस संगठन के केन्द्रीय अधिकारी को 'डायरेक्टर जनरल रिसेटलमेंट और एम्पलायमेंट' कहते हैं। इसके तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग एक डायरेक्टर के आधीन है। (१) एम्पलायमेंट एक्सचेन्जेज़ विभाग; (२) ट्रेनिंग विभाग; (३) प्रकाशन विभाग। सारा देश ८ प्रदेशों में विभाजित है जो 'रीजनल डाइरेक्टर' के अधीन काम करते हैं। जुलाई १९५१ के अन्त में देश भर में कुल १२४ एम्पलायमेंट एक्सचेन्जेज़ थे।

मज़दूरों का शिक्षण:—हमारे कारखानों आदि में काम करने वाले मज़दूर प्रायः अशिक्षित और टेकनिकल शिक्षा में शून्य होते हैं। यह एक बड़ी कमी है। अभी देश में इस दिशा में कोई संगठित प्रयत्न हुआ ही नहीं है। अधिकतर होता यह है कि मज़दूर नीचे से नीचे स्तर पर काम आरंभ करते हैं और अनुभव के आधार पर उन ऊँचे स्थानों तक पहुँचते हैं जहाँ कि काम करने में कार्य-कुशलता की आवश्यकता होती है। कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों में मज़दूरों को शिक्षा देने की कोई व्यवस्था अवश्य है, ख़ास तौर से उन लोगों की ट्रेनिंग की व्यवस्था है जिनको निगरानी (सुपरवाइज़री) का काम करना पड़ता है। इंजीनियरी तथा रेल के कारखानों में एपेरेन्टिसशिप और ट्रेनिंग की समुचित योजनाएँ अवश्य चालू हैं। इस तरह के कुछ प्रमुख, उदाहरण के तौर पर जमशेदपुर के टाटा आइरन-स्टील वर्क्स, जतालपुर के रेल्वे टेकनिकल स्कूल और और देहरादून के रेल्वे स्टाफ कालेज, के नाम गिनाए जा सकते हैं।

युद्ध के समय सन् १९४० में भारत-सरकार ने टेकनिकल ट्रेनिंग की एक योजना जारी की थी, जिसके अन्तर्गत सारे देश में सरकारी और ग़ैर सरकारी कारखानों में टेक्नीशियनों को ट्रेनिंग दी गई थी और बेविन स्कीम के अन्तर्गत कुछ भारतीय मज़दूरों की ट्रेनिंग ब्रिटेन में भी हुई थी। युद्ध समाप्त होने बाद प्रशिक्षण की यह योजना समाप्त होगई।

ट्रेनिंग की जो योजनाएँ इस काफी बड़े और संगठित पैमाने पर चल रही हैं वे डाइरेक्टर जनरल रिसेटलमेंट और एम्पलायमेंट (श्रम मंत्रालय,

भारत सरकार) के तत्वावधान में जारी की गई हैं। इस प्रकार की तीन योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है—(१) प्रायोगिक, व्यावसायिक और एपरेन्टिसशिप शिक्षा योजना जो फौज से लौटे हुए व्यक्तियों के लिए है, (२) ऐसी ही दूसरी योजना जो विस्थापितों के लिए है, और (३) इन्स्ट्रक्टर्स के शिक्षण की योजना। पहली योजना सन् १९४६ में और दूसरी दो सन् १९४८ में आरम्भ हुईं थीं। पहली दो योजनाओं में बाद में साधारण लोगों का प्रवेश भी होने लगा और उनके द्वारा इंजीनियरिंग और इमारत आदि के धन्धों तथा कुटीर उद्योगों की शिक्षा दी जाती थी। जनवरी १९५० के अन्त तक २५००० से ऊपर व्यक्तियों ने इन केन्द्रों से शिक्षण प्राप्त किया। फौज से लौटे हुए लोगों की प्रशिक्षण योजना ३१ जुलाई १९५० को और उत्तर प्रदेश के अलावा अन्यत्र विस्थापितों की प्रशिक्षण योजना मार्च १९५० में समाप्त करदी गई। मार्च १९५० से इन योजनाओं के स्थान पर प्रौढ़ नागरिकों के लिये प्रशिक्षण की योजना आरंभ की गई। जुलाई १९५१ के अन्त में १९९ शिक्षण केन्द्र काम कर रहे थे। इन शिक्षण केन्द्रों में ७६४० टेकनिकल, २३०४ वोकेशनल, ३९० स्त्रियाँ, और ७८८ एपरेन्टिसशिप की शिक्षा पा रहे थे। श्रम मंत्रालय के अलावा और मंत्रालय भी, जैसे रेल्वे बोर्ड, सार्वजनिक निर्माण और शिक्षा मंत्रालय राज्यों के सहयोग में व्यवहारिक शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। देश में टेकनिकल शिक्षण की जो योजनाएँ चल रही हैं उनमें सबसे बड़ी कमी यह है कि फोरमेन वर्ग के लोगों के शिक्षण का बड़ा अभाव है। इस अभाव की पूर्ति आवश्यक है।

विभिन्न उद्योगों में एपरेन्टिसशिप की जो योजनाएँ चल रही हैं उनमें भी कई प्रकार के दोष हैं। जिन शर्तों पर ट्रेनिंग दी जाती है वे सुनिश्चित नहीं होतीं और ट्रेनिंग के पश्चात् काम मिलने की कोई गारन्टी नहीं होती कई बार मिल-मालिक एपरेन्टिस को या तो मजदूरी देता ही नहीं, या बहुत कम मजदूरी देता है। यह आवश्यक है कि भविष्य में इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

मजदूरों का स्थायित्व:—हमारे देश में मजदूरों का एक दोष यह है कि उनमें स्थायित्व की बड़ी कमी है, अर्थात् यदि किसी कारखाने के मजदूरों की कुल संख्या में से उन मजदूरों की संख्या देखी जाए जो अमुक समय में चले गए और उनके स्थान पर दूसरे भरती होगए तो यह संख्या काफी बड़ी होगी। इसी को अंग्रेजी में 'लेबर टर्न ओवर' कहते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में जो आंकड़े हमारे देश में उपलब्ध हैं वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं, फिर भी उनसे इतना संकेत तो मिलता ही है कि कुल मिलाकर मजदूरों में स्थायित्व की काफी कमी है। यह कमी अलग-अलग उद्योगों और अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग है।

भारतीय मज़दूरों में स्थायित्व की इस कमी के मुख्य कारण दो हैं—अस्तीफ़ा और बरखास्तगी। इसका असर मज़दूरों की उत्पादन शक्ति पर अच्छा नहीं पड़ता और इसलिये इसमें कमी लाने का प्रयत्न करना चाहिये। भरती की जो अप्रत्यक्ष प्रणाली इस देश में प्रचलित है उससे भी इसमें प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि भरती करने वाले जोबर को तो इसमें लाभ ही है कि पुराने मज़दूरों को निकाल कर नई भरती की जाए ताकि भरती के समय रिश्वत आदि से होने वाली उसकी आय अधिकाधिक हो सके। मज़दूरों की आर्थिक स्थिति और सुरक्षा में जितना सुधार होगा और जिस वातावरण में उसे काम करना पड़ता है वह जितना आकर्षक होगा उसी हद तक उसमें स्थायित्व की मात्रा भी बढ़ेगी। भरती की प्रणाली में सुधार होने का भी इस सम्बन्ध में अच्छा असर होगा।

मज़दूरों में अनुपस्थिति—भारतीय मज़दूरों का एक दोष यह भी है कि उनकी अनुपस्थिति का अनुपात काफ़ी अधिक है। अनुपस्थिति सम्बन्धी आंकड़ों की पूरी व्यवस्था अभी हमारे देश में नहीं है और जहाँ ये आंकड़े इकट्ठे किए भी गए हैं वहाँ कई प्रकार की कमी देखने में आती है। बम्बई-सरकार सूती कपड़ों की मिलों और इंजीनियरी के कारखानों के बारे में अनुपस्थिति के आंकड़े लेबर गज़ट बम्बई में हर महीने प्रकाशित करती है। इसी प्रकार मैसूर सरकार भी अपने राज्य के सब उद्योग धन्धों के बारे में अनुपस्थिति के आंकड़े अपने लेबर गज़ट में प्रकाशित करती है। पिछले महायुद्ध में भारत-सरकार ने मिल-मालिकों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सलाह से कई कारखानों के अनुपस्थिति के आकड़े इकट्ठे करवाने का निश्चय किया था। इसके परिणामस्वरूप लेबर ब्यूरो (भारत-सरकार) के डायरेक्टर के कार्यालय में कुछ आंकड़े आते हैं और इनके आधार पर इंडियन लेबर गज़ट में अनुपस्थिति सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित भी होते हैं। इसी प्रकार उत्तरी भारत के मिल मालिकों का संघ भी कानपुर की सूती कपड़ों, ऊनी कपड़ों और चमड़े के सामान की मिलों में अनुपस्थिति के आंकड़े प्रकाशित करता है। ये उत्तर प्रदेश की सरकार के लेबर बुलेटिन में छपते हैं। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी ने भी इस बारे में जाँच की; जैसे चाय, कॉफी और रबर के खेतों तथा अबरक (माइका) की खानों के बारे में। उपर्युक्त आधार पर जो जानकारी इस बारे में सामने आई है उसका सार यह है कि फेक्टरी-उद्योगों में अनुपस्थिति की मात्रा १० से १५ प्रतिशत, प्लान्टेशनों तथा कोयले की खानों में २५ प्रतिशत तक और अबरक की खानों में ४० प्रतिशत तक भी चली जाती है। ऐसा भी मालूम पड़ता है कि अनुपस्थिति उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत में कम है।

इन आंकड़ों के सम्बन्ध में एक कमी तो यह है कि अनुपस्थिति के यह आंकड़े किसी एक परिभाषा के आधार पर एकत्रित नहीं किये गए हैं। ऐसा करना बहुत आवश्यक है। अनुपस्थिति की एक सर्व मान्य परिभाषा संबंधी सुझाव भारत-सरकार के श्रम विभाग ने अपने एक परिपत्र में दिया था। इस सुझाव के अनुसार जो व्यक्ति पूर्व निश्चित अवकाश पर होता है उसे अनुपस्थिति नहीं माना जाना चाहिये। पर जो व्यक्ति बिना सूचना के चला जाता है उसे अनुपस्थित मानना चाहिये। पर हड़ताल के कारण अनुपस्थित रहने वालों को इस अर्थ में अनुपस्थित नहीं मानना चाहिये। पूर्व निश्चित अवकाश के समय के अलावा जो व्यक्ति छुट्टी चाहता है उसे भी अनुपस्थित मानना चाहिये। दूसरी कमी इन अनुपस्थिति के आंकड़ों के बारे में यह है कि उनको इकट्ठा करने का सब जगह एक ही तरीका काम में नहीं आता। इन कमियों को जब तक दूर नहीं कर दिया जाता, अलग-अलग धंधों के आंकड़ों की आपस में सही तुलना नहीं की जा सकती।

अनुपस्थिति के कारणों का यदि हम अध्ययन करें तो ये कारण खास तौर से मिलेंगे—१. बीमारी, २. औद्योगिक दुर्घटना, ३. सामाजिक और धार्मिक कारण, ४. गाँवों को जाना। रात की पाली में अनुपस्थिति अधिक मिलेगी। कई बार नशे अथवा मनोरंजन के कारण भी अनुपस्थिति होती है।

अनुपस्थति की मात्रा कम करने का यह उपाय है कि काम करने के वातावरण में सुधार हों, मजदूरी यथेष्ट मिले, औद्योगिक दुर्घटनाओं और बीमारी से रक्षा का अच्छा उपाय हो, और आराम तथा मनोरंजन के लिए निश्चित अवकाश की व्यवस्था हो। मजदूरों के रहने के मकानों का सुप्रबन्ध होने से भी अनुपस्थिति की मात्रा में कमी होगी।

काम के घंटे—औद्योगिक मजदूर से संबंध रखने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके काम करने के घंटों का रहा है। किसी भी देश के औद्योगिक विकास का इतिहास देख लिया जाए; मिल-मालकों में यह प्रवृत्ति मिलेगी कि वे स्वार्थवश मजदूरों से बहुत लम्बे समय तक काम लें। चौबीस घंटों में से १८ घंटे तक काम कराने के उदाहरण मिलते हैं। भारत की स्थिति और देशों से इस अर्थ में किसी प्रकार भिन्न नहीं रही है। मजदूरों से लम्बे समय तक काम कराने की प्रवृत्ति यहाँ भी देखी गई है। यही कारण है कि आज मजदूर कितने घन्टे काम करे इसका कानून से नियंत्रण होता है।

भारत में कानून से मजदूरों के काम करने के घन्टों का नियंत्रण सबसे पहले १९११ के फैक्टरी कानून द्वारा, उन मजदूरों के लिए, जो इस कानून के

अन्तर्गत आने वाले कारखानों (फ़ेक्टरीज) में काम करते थे, किया गया। इस क़ानून के अनुसार पुरुषों के लिए दिन भर में काम करने के १२ घन्टे निश्चित किए गए थे। इससे अधिक कोई मिल-मालिक कानूनन काम नहीं ले सकता था। इसी प्रकार खानों में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घन्टों का सबसे पहले १९२३ के खानों सम्बन्धी क़ानून से नियंत्रण हुआ। रेलों सम्बन्धी मजदूरों में से जो फेक्टरी क़ानून में नहीं आते, उनके काम के घन्टों का नियन्त्रण रेलवे एक्ट के अन्तर्गत होता है। यह नियंत्रण सबसे पहले १८९० के रेल्वे एक्ट द्वारा किया गया था। चाय, कॉफी और रबर के बागों में काम करने वाले मजदूरों के काम के घन्टों का आज भी कोई कानून द्वारा नियन्त्रण नहीं होता है। हाँ, चाय और रबर के कारखानों पर कारखानों सम्बन्धी कानून अवश्य लागू होता है। उपर्युक्त सब कानूनों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है और यह परिवर्तन काम करने के घन्टों के सम्बन्ध में भी हुआ है। इस सम्बन्ध में मौजूदा स्थिति इस प्रकार है।

कारखानों (फेक्टरीज) में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घन्टे १९४८ के फेक्टरी एक्ट द्वारा नियंत्रित होते हैं। इस कानून के अनुसार कारखाने के मजदूरों से सप्ताह में अधिक से अधिक ४८ घन्टे और प्रतिदिन अधिक से अधिक ९ घन्टे काम लिया जा सकता है। कारखाने चलने का (स्प्रेड ऑवर) अधिक से अधिक १०॥ घन्टे का समय निश्चित किया गया है। साल भर चलने वाले और मौसमी (सीज़नल) कारखानों में इससे पहले १९३४ के एक्ट में जो अन्तर था वह अब हटा दिया गया है। स्त्री मजदूर सुबह ६ से शाम के ७ बजे के बीच में ही काम कर सकती हैं। १४ वर्ष की पूरी आयु न हो जाने तक कोई बालक कारखाने में काम नहीं कर सकता। इसके बाद कोई भी बालक दिन में ४॥ घंटे से ज्यादा काम नहीं कर सकता और उसके काम का समय सुबह ६ बजे से शाम के ७ बजे के बीच में ही होना चाहिये। काम के घन्टों के सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति भी यही है कि कई कारखानों में ८ घन्टे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जाता। जो छोटे-छोटे कारखानें कानून के नियन्त्रण में नहीं आते उनमें काम के घन्टे अवश्य अधिक हैं। जैसे रीगे कमेटी के अनुसार लाख आदि के कारखानों में १२ घन्टे प्रतिदिन के हिसाब से भी काम कराया जाता है। नौकाश्रयों, कई बड़े-बड़े इंजीनियरिंग के कारखानों, और करीब-करीब सभी रेल्वे कारखानों में सप्ताह में ४८ घन्टे काम कराया जाता है; पर प्रतिदिन के काम के घन्टों में थोड़ा अन्तर है, जो शनिवार के दिन कितने घन्टे कहाँ काम कराया जाता है उससे निश्चित होता है। सूती कपड़ों की मिलों में लगभग

सभी जगह ८ घंटे प्रतिदिन के हिसाब से काम लिया जाता है।

खानों में काम करने वाले मजदूरों का जहाँ तक सम्बन्ध है, जो मजदूर जमीन के नीचे काम करता है उसके काम के अधिक से अधिक ९ घन्टे प्रतिदिन और ५४ घन्टे प्रति सप्ताह माइन्स एक्ट द्वारा निश्चित हैं। खान में काम करने का अधिक से अधिक समय (स्प्रेड ऑवर) भी ९ घन्टा ही है। जमीन के ऊपर काम करने वाले मजदूरों के लिए प्रतिदिन अधिक से अधिक १० घन्टे और प्रति सप्ताह वही ५४ घन्टे निश्चित हैं। स्प्रेड ऑवर १२ घन्टे का निश्चित है। रीगे कमेटी के अनुसार मामूली तौर से खानों में जमीन के नीचे काम करने वाले मजदूर प्रतिदिन ९ से १० घंटे काम करते हैं। स्प्रेड ऑवर जमीन के नीचे काम करने वालों का तो ९ घंटे और ऊपर काम करने वालों का ९ से ११ घंटे तक का होता है।

रेल्वे में काम करने वाले उन लोगों के जो फेक्टरी एक्ट या माइन्स एक्ट के अन्तर्गत नहीं आते, काम के घंटों का नियंत्रण १८९० में पास तथा १९३० में संशोधित रेल्वे एक्ट के अनुसार होता है। इस कानून में आने वाले लोगों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—लगातार काम करने वाले लोग और लगातार काम नहीं करने वाले लोग। पहली श्रेणी वालों के लिए ६ घंटे प्रति सप्ताह और दूसरी श्रेणी वालों के लिए ८४ घंटे प्रति सप्ताह का महीने भर का औसत अधिक से अधिक काम के समय को निश्चित है। विशेष स्थिति में रेल्वे अधिकारी द्वारा थोड़े समय के लिए इस मर्यादा का उल्लघन भी किया जा सकता है। इस एक्ट के अन्दर सरकार को नियम बनाने का भी अधिकार है। इन नियमों को 'रेल्वे सर्वेण्ट्स अवर्स ऑफ एम्पलायमेंट रूल्स' कहा जाता है पर एक्ट और रूल्स दोनों को प्रायः 'अवर्स ऑफ एम्पलायमेंट रेगुलेशन्स' भी कहा जाता है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी (रीगे कमेटी) का कहना है कि थोड़े समय के लिए काम के घंटों की मर्यादा उल्लंघन करने, और काम करने वालों को लगातार काम करने वालों और नहीं करने वालों की दो श्रेणियों में बाँटने के सम्बन्ध में शिकायत रही है। अखिल भारतीय रेल्वेमेन्स फेडरेशन के माँग करने पर भारत-सरकार ने अप्रैल १९४६ में श्री जस्टिस जी० एस० राज्याध्यक्ष को कुछ मामलों का निर्णय करने के लिए निर्णायक नियुक्त किया। इन मामलों में काम के घंटे, आराम के समय, छुट्टी और अवकाश के प्रश्न शामिल थे। श्री राज्याध्यक्ष ने सिफारिश की कि बहुत से रेल्वे-कर्मचारी जो अब तक अवर्स ऑफ एम्पलायमेंट रेगूलेशन्स के अन्तर्गत नहीं आते हैं उनको इसके अन्तर्गत लेना चाहिए और समस्त कर्मचारियों का निम्नलिखित चार श्रेणियों में दुबारा वर्गीकरण करना

चाहिये—(१) 'इन्टेन्सिव'—वे लोग जिनका काम अत्यधिक परिश्रम चाहता है, (२) 'इसैंशियली इन्टरमिटेन्ट'—जिनके काम का स्वभाव ही ऐसा है कि उनको बीच-बीच में आराम मिल जाता है, (३) 'एक्सक्लूडेड'—इसमें कई प्रकार के लोग आ जाते हैं, जैसे हल्का काम करने वाले चपरासी आदि श्रेणी के लोग, विश्वस्त काम करने वाले लोग, सुपरवाइजरी स्टाफ और डाक्टर आदि। (४) 'कन्टीनुअस'—उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के अलावा जो लोग रह जाते हैं। श्री राज्याध्यक्ष ने सिफारिश की थीं कि नं० (१) को ४५ घटे, नं० (४) को ५४ घटे और नं० २ को ७५ घटे सप्ताह में काम करना चाहिये। नं० (३) के लिए कोई मर्यादा निश्चित नहीं की। रनिंग स्टाफ के बारे में उनकी सिफ़ारिश यही थी कि उनसे लगातार १० घंटे से ज्यादा काम नहीं लेना चाहिये। भारत सरकार ने काम के घटों सम्बन्धी इन सिफ़ारिशों को अपने १५ जून १६४८ के आदेशानुसार तीन वर्ष के लिए स्वीकार कर लिया। यह आदेश उन्हीं रेल्वे पर लागू किया गया जो इस झगड़े से सबंधित थे। आराम और छुट्टी के रिजर्व संबधी जो सिफारिशें की गई थीं वे भी भारत-सरकार ने मजूर करलीं।

चाय आदि के बागों में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घटों का क़ानून से कोई नियंत्रण नहीं हैं, यह ऊपर लिख चुके हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि पुरुष, स्त्री और बालक सभी बराबर समय काम करते हैं। यह अवश्य है कि बालकों को अपेक्षाकृत हल्का काम दिया जाता है। आसाम और बंगाल के चाय के बागों में आम तौर पर 'हज़ीरा' (Hazira) के आधार पर काम होता है। प्राय: ५ या ६ घटे में मज़दूर अपना हज़ीरा खतम कर लेता है और उसके बाद उसकी इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह अतिरिक्त काम करे या न करे। पत्तियाँ चुनने के मौसम में मज़दूर १०-११ घंटे तक भी काम करते हैं।

काम के घंटों के संबंध में जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अनियंत्रित कारखानों के अलावा और जगह स्थिति कुल मिलाकर संतोषजनक है।

आराम और अवकाश—काम के घटों से मिला-जुला दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह है कि मज़दूरों को काम के घंटों के बीच में आराम करने का समय कितना मिलता है और सप्ताह में अवकाश मिलता है या नहीं। १६४८ के फैक्टरी कानून के अनुसार कोई प्रौढ़ मज़दूर ५ घंटे से अधिक लगातार काम नहीं कर सकता और ५ घंटे के बाद उसे कम से कम आधा घंटे का विश्राम मिलना चाहिये। इसी प्रकार उसे सप्ताह में पूरे एक दिन का अवकाश मिलना

भी अनिवार्य है। माइन्स एक्ट में भी यह निर्धारित है कि कोई भी व्यक्ति सप्ताह में छः दिन से अधिक खान में काम नहीं कर सकता। विश्राम के बारे में कानून द्वारा किसी प्रकार की अनिवार्यता तो नहीं है, पर फिर भी व्यवहार में विश्राम का समय दिया जाता है, यद्यपि कहीं-कहीं नहीं भी दिया जाता। जो खान-मज़दूर ठेके पर काम करते हैं उनका कानून द्वारा तो कोई नियंत्रण है नहीं और उन्हें कोई साप्ताहिक अवकाश नहीं मिलता। चाय आदि के बागों में काम करने वाले मज़दूरों को दोपहर में एक घंटे का विश्राम देने की व्यवस्था तो है, पर रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि मजदूरों को यह आम शिकायत थी कि वास्तव में उन्हें विश्राम मिलता नहीं। काम के स्थान पर ही जल्दी-जल्दी में भोजन करने के लिए ५-१० मिनट का समय अवश्य मिल जाता है। चाय और कॉफी के बागों में सप्ताह में एक दिन का अवकाश मिलता है, सिवा उन दिनों के जब काम की अधिकता होती है। रबर के बागों में अवकाश नहीं मिलता। रेल्वे-कर्मचारियों को कानून के अनुसार सप्ताह में एक बार इतवार से कम से कम २४ घंटे का लगातार अवकाश मिलना अनिवार्य है। जो 'इसेंशियली इन्टरमिटेन्ट' श्रेणी में आने वाले कर्मचारी हैं, या जिनके लिए सरकार ने काम और अवकाश का समय निश्चित कर दिया है उनके बारे में २४ घण्टे के लगातार अवकाश का नियम लागू नहीं होता है। विशेष स्थिति में अवकाश संबधी नियमों में रेल्वे अधिकारी द्वारा छूट दी जा सकती है। श्री राज्याध्यक्ष ने साप्ताहिक अथवा पाक्षिक अवकाश के बारे में जो सिफ़ारिशें की थीं वह भी सरकार ने तीन वर्ष के लिए (जून १९५१) स्वीकार करलीं थीं। इसके अनुसार 'इन्टेन्सिव' और 'कन्टीनुअस' श्रेणी के लोगों को सप्ताह में लगातार ३० घण्टे और 'इसेंशियली इन्टरमिमेंट' श्रेणी के लिए लगातार २४ घण्टे (एक पूरी रात्रि सहित) और 'एक्सक्लूडेड' श्रेणी के लिए पन्द्रह दिन में लगातार २४ घण्टे अथवा महीने में लगातार ४८ घण्टे का अवकाश मिलता है।

कारखानों आदि में काम करने की परिस्थितियाँ—कारखानों आदि में काम करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में एक बात जानने की यह है कि जिन परिस्थितियों में वे काम करते हैं वे कैसी हैं। रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि काम करने की परिस्थितियों के बारे में अधिकांश मिल-मालिक केवल उतना ही ध्यान देते हैं जितना ध्यान देना कानून की निगाह से अनिवार्य है। बल्कि कई लोग तो इतना भी करने से बचना चाहते हैं। काम की परिस्थितियों के बारे में मुख्यतः तीन दृष्टियों से विचार करना चाहिये—(१) हवा (२) ताप और (३) प्रकाश।

जहाँ मजदूर काम करते हों वहाँ शुद्ध हवा आने-जाने का प्रबन्ध होना आवश्यक है, खास तौर से सूती कपड़ों आदि के कारखानों में जहाँ काम धूल और नम हवा में होता है। हवा के आने-जाने का प्रबन्ध या तो खिड़कियों अथवा वेन्टीलेटरों द्वारा होता है या फिर कृत्रिम रूप से पंखों से या दूसरे साधनों से हवा बाहर निकालने और अन्दर लाने का प्रबन्ध किया जाता है। इसी प्रकार इस बात की आवश्यकता होती है कि काम करने के कमरों में ताप न बहुत अधिक हो न बहुत कम। यथेष्ट प्रकाश की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है ताकि मज़दूरों की आँखों पर बुरा असर न पड़े। रोशनी के लिए खिड़कियों आदि का प्रबन्ध होना चाहिये और आवश्यकता होने पर दिन में भी तथा रात में बिजली आदि की रोशनी की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। रोशनी के प्रबन्ध में इस बात का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि आँखों पर सीधी रोशनी न पड़े।

रीगे कमेटी का कहना है कि बड़े-बड़े कारखानों में तो काम करने की परिस्थितियाँ कुल मिलाकर संतोषजनक हैं। पर जो छोटे और अनियंत्रित कारखाने हैं, विशेष करके जो पुरानी इमारतों में चलते हैं, उनमें स्थिति संतोष-जनक नहीं है और बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। कई सूती कपड़ों की मिलों में, जैसे बबई, अहमदाबाद में हवा का ताप-मान ठीक रखने के लिए एयर-कन्डिशनिंग प्लान्ट की व्यवस्था है। इसी प्रकार कहीं-कहीं कपास से उत्पन्न धूल को यंत्र-द्वारा हटाने की भी व्यवस्था है। पर जूट की मिलों में अपेक्षाकृत स्थिति कम सतोषजनक है। इंजीनियरिंग के कारखानों में भी हवा और प्रकाश की व्यवस्था ठीक-ठीक ही है। छापाखानों की स्थिति मामूली तौर पर सतोषजनक नहीं पाई जाती है। शीसे का पेट में चला जाना बड़ा भयानक है, पर छापेखाने के काम करने वालों को इससे बचाने का कोई खास प्रयत्न नहीं होता है। वास्तव में तो इस सम्बन्ध में प्रेस-मालिकों और प्रेस में काम करने वालों की जानकारी ही बहुत कम है। खानों के बारे में भी यह बात देखने को मिलती है कि कई जगह काम करने की स्थिति संतोषजनक नहीं है, जैसे अबरक की खानों और मैंगनीज की खानों में हवा और रोशनी का प्रबंध खास तौर से जमीन के नीचे, ठीक नहीं है। १९४८ के फेक्टरी एक्ट में हवा, ताप-मान और प्रकाश की समुचित व्यवस्था के संबंध में आवश्यक धाराओं का समावेश कर लिया गया है। इसी प्रकार से धूल तथा अन्य बेकार पदार्थों (वेस्ट) आदि से मज़दूरों की रक्षा करने संबंधी धारा भी १९४८ के एक्ट में मौजूद है। प्रत्येक मजदूर के लिए कम से कम कितना स्थान होना चाहिये इसका निश्चय भी इस एक्ट में कर दिया गया है। सारांश

यह है कि १९४८ के एक्ट में कारखानों में काम करने की परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया है।

कारखानों में उपलब्ध अनिवार्य सुविधायें—कारखानों आदि में काम करने को जिन परिस्थितियों का ऊपर उल्लेख किया है उनके अलावा कुछ और सुविधाएँ भी मजदूरों की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं, ताकि काम करते समय उसके स्वास्थ्य की रक्षा हो सके और उसकी कार्य-शक्ति पर बुरा असर न पड़े। इन आवश्यक सुविधाओं में पीने के पानी, पेशाब-घर तथा शौच-गृह और विश्राम-गृह की सुविधायें प्रमुख हैं।

पीने के पानी की कोई न कोई व्यवस्था तो अधिकांश कारखानों में होती है पर उसमें कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है। जैसे गर्मियों में मज़दूरों को पीने के लिए ठन्डा पानी प्रायः नहीं मिलता। जिन बर्तनों में पानी रखा जाता है वे भी स्वच्छ नहीं होते। पानी पिलाने का ठीक से कोई प्रबन्ध नहीं होता। कई जगह तो पीने के लिए खारा पानी ही उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो मज़दूरों को नल पर ही पानी पीना होता है। कई कपास धुनने के और बीड़ी के कारखानों में तो स्थिति यहाँ तक खराब है कि पीने के लिए पानी ही उपलब्ध नहीं होता। अनियंत्रित खानों और कारखानों में पीने के पानी की विशेष कठिनाई पाई जाती है।

मज़दूरों के स्वास्थ्य और सुविधा की दृष्टि से शौच-गृह और पेशाब-घरों की समुचित व्यवस्था भी अत्यन्त आवश्यक है। पर इस सम्बन्ध में भी हमारे कारखानों और खानों आदि की स्थिति संतोषजनक नहीं है। जहाँ शौच-गृह आदि हैं वहाँ उनकी सफ़ाई का ठीक प्रबन्ध नहीं होता और इस कारण से मज़दूर उनका उपयोग करने में हिचकते हैं। शौच-गृह के आस-पास पर्दे का प्रबन्ध भी नहीं होता। आवश्यकता इस बात की है कि मज़दूरों की संख्या को ध्यान में रखते हुए यथेष्ट संख्या में शौच गृह और पेशाब-घरों की अलग-अलग व्यवस्था हो और उनको साफ़ कराने का अच्छा प्रबन्ध हो। साथ ही पर्दे का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। आज तो कई जगह—जैसे अनियंत्रित कारखानों में या अबरक की खानों में ज़मीन के नीचे तो शौच-गृह आदि की कोई व्यवस्था ही नहीं पाई जाती।

मज़दूरों को विश्राम करने के लिए और दोपहर की छुट्टी में बैठकर भोजन करने के लिए हर फैक्टरी अथवा खान पर विश्राम गृह की व्यवस्था होना आवश्यक है। ये विश्राम-गृह पुरुष और स्त्रियों के लिए अलग-अलग हों यह भी ज़रूरी है। बैठने के लिए बैंच अथवा चबूतरों आदि का प्रबन्ध भी होना चाहिये

और उनकी सफ़ाई की भी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। आज तो हमारे देश में विश्राम-गृह सम्बन्धी स्थिति भी असतोषजनक है। सूती कपड़ों की अधिकांश मिलों में इनकी व्यवस्था है, यद्यपि जूट की मिलों में उनका अभाव है। दूसरे बड़े-बड़े उद्योगों में भी विश्राम-गृहों की व्यवस्था है। पर छोटे कारखानों में प्राय: इनका अभाव होता है। मज़दूरों की संख्या की दृष्टि से इन विश्राम-गृहों में स्थान की कमी भी रहती है। सफ़ाई का प्रबन्ध नहीं होता और न बैठने का कोई प्रबन्ध होता है। खानों में आम तौर से विश्राम-गृहों का अभाव है।

१९४८ में फेक्टरी क़ानून में पीने के जल और शौच-गृह तथा पेशाबघरों के बारे में समुचित व्यवस्था करने का भार मिल-मालिकों पर डाला गया है। राज्य की सरकारों को इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया है। २५० से अधिक मज़दूर जहाँ काम करते हों उस कारखाने में गर्मी में ठन्डे पानी की व्यवस्था भी फेक्टरी-एक्ट के अनुसार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार फेक्टरी-एक्ट के अनुसार शौच-गृह और पेशाब-घरों की आवश्यक सफ़ाई और स्त्री और पुरुषों के लिए अलग-अलग बद शौच-गृह तथा पेशाबघर बनवाना, उनमें हवा और रोशनी का ठीक प्रबन्ध करना और २५० से अधिक मज़दूर जहाँ काम करते हों उन कारख़ानों में एक निश्चित प्रकार के शौच-गृह तथा पेशाबघर बनवाना अनिवार्य है।

सफ़ाई—फेक्टरी में काम करनेवाले मज़दूरों के स्वास्थ की दृष्टि से फेक्टरी का साफ़ सुथरा रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। १९४८ के फेक्टरी-एक्ट के अनुसार यह आवश्यक है कि काम करने के कमरों आदि में गर्द और गदगी नहीं जमा होने दी जावे, फ़र्श को बराबर धोकर सफ़ाई की जाए फेक्टरी की पुताई इत्यादि भी बराबर समय-समय पर होती रहे।

रक्षा—आधुनिक ढंग के कल-कारख़ानों की एक समस्या मज़दूरों सुरक्षा की है। जहाँ शक्ति से चलने वाली मशीनों से काम होता है वहाँ इ बात का ख़तरा बराबर रहता है कि उन मशीनों पर काम करने वाले म मशीन से कट न जावें अथवा उनके हाथ पॉव में चोट न आजावे। मशीनों अतिरिक्त मज़दूरों को दूसरी प्रकार के खतरे भी रहते हैं। उदाहरण के f कारखानों में बहुत-सी दुघटनाएँ सीढ़ियों अथवा खिड़कियों आदि से गिरने होती हैं। यदि कारख़ाने की इमारत ठीक तरह से बनी हुई नहीं है तो २ कारण से भी कई दुर्घटनाएं हो जाती हैं। आग लग जाने का डर भी क ख़ा में रहता है। कई बार तुरन्त आग पकड़ लेने वाली धूल, गैस अथवा भाप उत्पादन क्रिया में अनिवार्यतः उत्पन्न होती है अथवा काम में आती है, उससे

दुर्घटनाएं होती देखी गई हैं। जैसे कोयले की धूल जल्दी से आग पकड़ लेती है और कोयले की खानों में इससे बहुत-सी दुर्घटनाएं होती देखी गई हैं। कई बार आटा, शकर आदि जैसी रोज़ काम में आने वाली चीज़ों की धुन्ध भी आग पकड़ती हुई पाई गई है। इसी प्रकार कई ऐसे खतरनाक 'फ्यूम्स' होते हैं जो यदि किसी कमरे आदि में अधिक मात्रा में हों और उसमें कोई आदमी चला जाए तो उसका दम घुट सकता है। कुछ ऐसी 'फ्यूम्स' होती हैं जो आग भी पकड़ लेती हैं। अत्यधिक बोझ उठाने से मजदूर को नुकसान पहुँचता है। कई औज़ार ठीक नहीं होते और उनका प्रयोग करने से आँखों को नुकसान पहुँचता है, क्योंकि उन औज़ारों से जो धातु के कण अथवा टुकड़े निकलते हैं वे आँखों में जाते हैं और उससे आँखों को नुकसान होता है। सारांश यह है कि आधुनिक कारखानों में अनेक प्रकार से मज़दूरों को जोखम पहुँचने की संभावना होती है और उससे उनकी रक्षा करना आवश्यक है।

१९४८ के फेक्टरी-एक्ट में उपर्युक्त सब जोखमों से मज़दूरों की रक्षा करने के सम्बन्ध में मिल-मालिकों पर ज़िम्मेदारी डाली गई है। इस अर्थ में यह एक्ट १९३४ के फेक्टरी-एक्ट की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है क्योंकि १९३४ के एक्ट में फेक्टरी इन्सपेक्टर पर यह जिम्मा था कि वह आगे बढ़कर यह बतावे कि मिल-मालिक को मज़दूरों की रक्षा के लिए क्या-क्या करना चाहिये। अब तो मिल-मालिकों को एक्ट में दी गई बातों का अपनी जिम्मेदारी से पालन करना आवश्यक है इस एक्ट में रक्षा सम्बन्धी कई नई जिम्मेदारियाँ भी मिल-मालिक पर डाली गई हैं। जैसे खतरनाक मशीनरी पर बालकों को काम करने से रोका गया है और अत्यधिक बोझ उठाने से होने वाले नुकसान से, खतरनाक 'फ्यूम्स' से तथा जल्दी आग पकड़ने वाली धूल से मजदूरों की रक्षा करने की व्यवस्था भी की गई है। कई बात जो पुराने एक्ट के अनुसार नियमों में शामिल की गई थीं, अब एक्ट में ही शामिल करली गई हैं। रक्षा-सम्बन्धी जो दूसरी मुख्य-मुख्य बातें इस नए एक्ट में दी गई हैं उनमें मशीनरी की घेरेबंदी (फेन्सिंग) करने, नई मशीनरी को सुरक्षित रखने (इन केस करना) और होइस्ट्स, और लिफ्ट्स, क्रेन्स तथा प्रेशर प्लान्ट्स सम्बन्धी नियमों को खास स्थान दिया गया है। इन्डियन माइन्स एक्ट और उसके अन्तर्गत प्रकाशित रेगूलेशन्स और रूल्स में भी रक्षा सम्बन्धी आवश्यक धाराएँ हैं। इसके अलावा चीफ इन्सपेक्टर अथवा इन्सपेक्टर को भी यह अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में आवश्यक हिदायतें खान के मालिक अथवा मैनेजर को दे सकता है।

रक्षा के महत्त्व को समझने के लिए और उसके लिए आवश्यक उपाय काम में लाने के लिए मज़दूरों में प्रचार करने की बड़ी आवश्यकता है। इस विषय में पोस्टरों तथा छोटी-छोटी सचित्र पुस्तिकाओं के द्वारा भी बहुत कुछ प्रचार किया जा सकता है, जैसा कि सब रेल्वे कम्पनियाँ करती हैं। बम्बई के मिल-मालिक-संघ ने भी इस दिशा में बहुत अच्छा काम किया है। भारत की सेफ्टी फर्स्ट एशोसियेशन की सहायता से मिल-मालिक-संघ ने एक सेफ्टी कोड प्रकाशित किया है। कई मिलों में सेफ्टी-फर्स्ट कमेटियाँ भी स्थापित हुई हैं। भारत सरकार ने भी पिछले दिनों इस विषय में अधिक ध्यान दिया है और चीफ एडवाइज़र फेक्टरी के कार्यालय से रक्षा के सम्बन्ध में समय-समय पर साहित्य भी प्रकाशित होता रहता है। मज़दूर-संघों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे इस काम में मिल-मालिकों और सरकार की सहायता करें।

मजदूर-हितकर कार्य—पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का यह लक्षण है कि उद्योगपति और मिल मालिक मज़दूरों का हर प्रकार से शोषण करना चाहते हैं। यही कारण है कि राज्य को क़ानून बना कर मज़दूर के हितों की रक्षा करनी होती है। जिन परिस्थितियों में मज़दूर कारखाने में काम करता है, जो दूसरी अत्यन्त आवश्यक सुविधाएँ उसे मिलनी चाहियें, और उसकी रक्षा की जो व्यवस्था आवश्यक है, इन सब बातों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। हमने यह भी देखा कि राज्य ने क़ानून बनाकर इन सब मामलों में मज़दूरों के हितों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। और यदि हम व्यापक दृष्टि से देखें तो इन सब बातों का समावेश मज़दूर-हितकर कार्यों में हो जाता है। पर मज़दूर-हितकर कार्यों में उपर्युक्त बातों का समावेश न करके मज़दूरों के हित में किए जाने वाले दूसरे कार्यों की गिनती ही की जाती है। उदाहरण के तौर पर मज़दूरों के लिए जल-पान-गृह (केन्टीन्स) और बच्चों के लिए शिशुगृह (क्रेचेज़) की व्यवस्था, मजदूरों के स्नान आदि की सुविधा, उनके मनोरंजन, शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था, मकान की व्यवस्था, अच्छे स्वच्छ भोजन का प्रबन्ध, सवेतन अवकाश और सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत आने वाली सुविधाओं—जैसे बीमारी और प्रसूति के समय दी जाने वाली सहायता, प्रोविडेन्ट फन्ड, ग्रेच्यूटी और पेंशन की व्यवस्था इन सब कामों की गिनती मजदूर-हित के कार्यों में की जाती है। इन कामों की अब तक एक विशेषता यह भी रही है कि मजदूर-क़ानून में इन बातों का समावेश नहीं था। इसीलिए मजदूर-हितकर कार्यों में प्रायः उन कामों की गिनती होती रही है जो कानून से बाध्य न होने पर भी मज़दूरों की भलाई के लिए किये जावें। पर अब यह मर्यादा उपयुक्त नहीं हो

सकती, क्योंकि उपर्युक्त कामों में से कई के लिए कानून में भी व्यवस्था की जा चुकी है। १९४८ के फैक्टरी एक्ट को यदि हम लें तो देखेंगे कि मजदूर हित के कार्यों पर एक अलग परिच्छेद है जिसमें जलपान-गृह, शिशुगृह, विश्राम-गृह और नहाने धोने की सुविधा, प्राथमिक चिकित्सा की सुविधा, तथा काम करते-करते मौका मिलने पर मजदूर बैठ सके इस बात की सुविधा के विषय में आवश्यक धाराओं का समावेश किया गया है। इसी प्रकार कुछ और कानून भी बने हैं जिनका सम्बन्ध मजदूर-हितकर कार्यों से है। जैसे माइन्स मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट (१९४१), माइका माइन्स लेबर वेलफेयर फन्ड एक्ट (१९४६), कोल माइन्स लेबर वैलफेयर फन्ड एक्ट (१९४७), कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फन्ड एन्ड बोनस स्कीम्स एक्ट (१९४८), एम्पलोईज स्टेट इंश्योरेन्स एक्ट (१९४८) और एम्पलोइज प्रोविडेन्ट फन्ड एक्ट इसी प्रकार के कानून हैं।

मजदूरों के स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता की दृष्टि से मजदूर-हितकर कार्यों का बड़ा महत्त्व है। उनमें अपने कार्य के प्रति तत्परता और लगन पैदा करने, उनके मानसिक स्वास्थ को ठीक रखने और उनमें संतोष उत्पन्न करने की दृष्टि से भी इन कार्यों की बड़ी आवश्यकता है। जलपान-गृह को ही लीजिए। मजदूर सुबह मिल में काम करने जाता है। प्रायः वह अपने साथ रात का बासी खाना ले जाता है जो दोपहर की छुट्टी में वह खा लेता है। इसका असर उसके स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता। यदि कारखानों आदि में अच्छे जलपान-गृह की व्यवस्था हो, जहाँ मजदूर को सस्ता और स्वस्थ भोजन मिल सके तो उसके स्वास्थ्य और कार्यशक्ति पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा और अन्ततोगत्वा उसका लाभ मिल-मालिकों को भी मिलेगा। इसी तरह शिशुगृह की आवश्यकता भी स्वयं सिद्ध है। मजदूर स्त्रियाँ जब मिलों में काम पर आती हैं तो शिशुगृह के अभाव में वे अपने बच्चों को या तो अपने साथ ले आती हैं और मशीनों के पास ही वे उनको रखती हैं, या फिर वे घर पर अफीम खिलाकर उनको छोड़ आती हैं। दोनों ही स्थिति में बच्चों के स्वास्थ्य और विकास पर घातक असर पड़ता है। यदि कारखानों आदि में अच्छे शिशुगृहों की व्यवस्था हो, जहाँ बच्चों की देख-भाल के लिए किसी नर्स आदि की व्यवस्था हो, और उनके खेलने आदि का प्रबन्ध हो तो मौजूदा स्थिति में बहुत सुधार हो सकता है। जो बात जलपान-गृह और शिशुगृह के बारे में कही जा सकती है वही मनोरंजन के बारे में भी। कारखानों के थका देने वाले काम के बाद मजदूर को स्वस्थ मनोरंजन की आवश्यकता होती है। उसकी जब व्यवस्था नहीं होती तो वह कई प्रकार की बुराइयों में फँस जाता है। मद्यपान करने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि अपने

काम से लौटने के पश्चात् उसको खेलने आदि का समय और साधन प्राप्त हों, रात्रि में अच्छी फिल्में उसे देखने को मिलें, भजन आदि अच्छे गायन का उसके लिए प्रबन्ध हो तथा दूसरे मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध हों। चिकित्सा और शिक्षा की उचित व्यवस्था के अभाव में भी मजदूरों की कार्यशक्ति पर बहुत बुरा असर पड़ता है। चिकित्सा की दृष्टि से तात्कालिक चिकित्सा (फर्स्ट एड) का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक कारखाने में तात्कालिक चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिये और इस काम को कर सकने वाले व्यक्ति होने चाहियें। भारत की मिलों में मजदूर प्रायः अशिक्षित आता है। आवश्यकता इस बात की है कि उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए ताकि अशिक्षित होने से जो अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं उनसे बचा जा सके। प्रौढ़ों के अलावा मजदूरों के बच्चों की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। मजदूरों के स्वास्थ्य की दृष्टि से इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि कारखानों तथा काम करने के अन्य स्थानों पर नहाने धोने की पूरी सुविधा हो ताकि छुट्टी के समय मजदूर नहा धो सके और जरूरत पड़ने पर काम करने के बाद अपने हाथ-पाँव साफ कर सके। प्रायः मजदूर को इतना समय नहीं रहता कि वह काम पर जाने से पहले अथवा बाद में स्नान करे। इसलिए काम करने के स्थान पर यह सुविधा आवश्यक है। पानी के साथ-साथ साबुन-तौलिया आदि का प्रबन्ध भी होना चाहिये। मजदूरों के हित में सामाजिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। बीमारी के दिनों में उचित चिकित्सा का प्रबन्ध होना ही यथेष्ट नहीं है, पर यह भी जरूरी है कि उस समय का मुआवजा भी मजदूर को मिले। इसी तरह से जब मजदूर बेकारी की अवस्था में हो उसे कुछ मुआवजा मिलना चाहिये, ताकि उसका जीवन-निर्वाह होता रहे और बेकारी की अवस्था में उसकी कार्य-शक्ति क्षीण न हो। प्रसूति के समय मजदूर स्त्रियों को आर्थिक सहायता मिलना उसी तरह आवश्यक है जैसे बीमारी के समय। वृद्ध अवस्था में और परिवार में कमाने वाले की मृत्यु हो जाने पर भी मजदूर की सुरक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। प्रोविडेन्ट फन्ड, ग्रेच्यूटी, और पैंशन मिलने की व्यवस्था इस दृष्टि से आवश्यक है। सारांश यह है कि मजदूर-हितकर कार्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं और मजदूरों के जीवन को सुखी और संतुष्ट बनाने के लिए तथा उनकी कार्य-शक्ति में सुधार करने के लिए इन कार्यों का बहुत महत्त्व है।

मजदूर-हितकर कार्यों की हमारे देश में जो आज स्थिति है उस पर यदि हम विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि स्थिति संतोषजनक बिल्कुल नहीं है। इस

सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखना अनुचित न होगा। सबसे पहले हम जलपान-गृह के बारे में ही विचार करें। अधिकांश मिलों और फैक्टरियों में तो इस तरह की कोई व्यवस्था ही नहीं है, और जहाँ है भी तो उनकी दशा और व्यवस्था अच्छी नहीं है। न वहाँ सफाई की कोई खास व्यवस्था होती है और न इस बात का प्रबन्ध है कि जो खाने आदि का सामान बेचा जावे वह अच्छा और उचित दामों पर बिके। मौजूदा फैक्टरी एक्ट के अनुसार राज्य की सरकार को यह अधिकार है कि २५० से अधिक व्यक्ति जिस क़ारखाने में काम करते हैं, उसके मालिक को जलपान-गृह की व्यवस्था करने के लिए बाध्य किया जाए। इसी प्रकार जिस कारखाने में १५० व्यक्ति काम करते हों उसमें फैक्टरी एक्ट के अनुसार आराम करने और भोजन करने के उपयुक्त स्थान की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। पिछले वर्षों में, खास तौर से द्वितीय महायुद्ध के समय से, इस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य हुआ है और भारत-सरकार तथा राज्य की सरकारों ने भी ध्यान दिया है। उद्योगपतियों में बम्बई की ई. डी. सेसून कम्पनी, जमशेदपुर की टाटा आइरन एन्ड स्टील कम्पनी, और इंडियन टी मारकेट एक्सपान्शन बोर्ड ने भी अच्छा काम किया है।

शिशुपालन-गृह के बारे में भी हमारे देश की स्थिति बहुत पिछड़ी हुई है। जिन उद्योगपतियों पर क़ानूनी बंदिश नहीं है वे तो इस बारे में कोई ध्यान देते ही नहीं, पर जिनको क़ानून की दृष्टि से शिशुगृह की व्यवस्था करनी चाहिये वे भी अपनी ज़िम्मेदारी से बचने की प्रवृत्ति रखते हैं। जहाँ शिशुगृह हैं उनकी हालत अच्छी नहीं है। न बालकों को देखने-भालने की उचित व्यवस्था होती है, न उनको रखने का स्थान स्वच्छ और हवादार होता है और न बालकों के खेलने आदि की कोई व्यवस्था होती है। पर कुछ उदार उद्योगपतियों ने इस ओर भी अपना कर्त्तव्य किसी हद तक पूरा करने की चेष्टा की है। इनमें टाटा, बकिंघम और कर्नाटक मिल्स, मद्रास और मदुरा मिल्स के नाम खास तौर से गिनाए जा सकते हैं। १९४८ के फैक्टरी एक्ट के अनुसार प्रत्येक ऐसे कारखाने में जहाँ ५० से अधिक स्त्रियाँ काम करती हैं, शिशुगृह की व्यवस्था अनिवार्य कर दी गई है और इस सम्बन्ध में कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था कराने का अधिकार राज्य की सरकारों को दे दिया गया है।

मनोरंजन, शिक्षा व चिकित्सा आदि संबंधी अन्य हितकारी कार्यों का जहाँ तक सवाल है उनमें भी बहुत कुछ करने को बाकी है। यह ठीक है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत-सरकार, और राज्य की सरकारों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। कुछ मिल-मालिकों और उद्योगपतियों ने भी अपने मज़दूरों के लिए

चिकित्सा, शिक्षा और मनोरंजन की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक मिल-मालिकों द्वारा चिकित्सा की व्यवस्था का प्रश्न है यह व्यवस्था तात्कालिक चिकित्सा और छोटी-छोटी डिस्पेन्सरी से लेकर अच्छे और बड़े-बड़े अस्पतालों तक की है। उदाहरण के तौर पर टाटा कम्पनी, दिल्ली क्लाथ मिल्स, बकिंघम और कर्नाटक मिल्स, मद्रास, तथा आसाम ऑयल कम्पनी, डिगबोई ने काफ़ी अच्छे और सुसंचालित अस्पतालों की व्यवस्था कर रखी है। जितनी भी प्रथम-श्रेणी की रेल्वे हैं उन सबने अपने कर्मचारियों की चिकित्सा का अच्छा प्रबन्ध कर रखा है। टाटा कम्पनी ने कई स्कूलों की व्यवस्था भी कर रखी है और जिमनाज़ियम तथा क्लबों का, जिनमें कई प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध हैं, प्रबन्ध भी है। दिल्ली क्लाथ मिल्स, बकिंघम और कर्नाटक मिल्स, मद्रास, ब्रिटिश इंडिया कॉरपोरेशन कानपुर, बेग सदरलैंड ग्रूप ऑफ मिल्स कानपुर, जे. के. इन्डस्ट्रीज़ कानपुर, एम्प्रेस मिल्स नागपुर, मदुरा मिल्स, कोलार गोल्ड फ़ील्ड की कम्पनियाँ, डालमियाँ सीमेंट कम्पनी, डालमियाँ नगर, इंडियन जूट मिल्स एसोसियेशन तथा टाटा ऑइल कम्पनी तातापुरम (एरनेकुलम के पास ट्रावंकोर-कोचीन में)—ये कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने अपने-अपने मज़दूरों के लिए विभिन्न प्रकार के हितकारी कामों की व्यवस्था की है। इन कामों में शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन और कहीं-कहीं बीमारी, बीमा, पेंशन, ग्रेच्यूटी, प्रोविडेन्ट फन्ड, शिशुगृह, जलपान गृह, अनाज की दूकानें, सहकारी समितियाँ, मातृगृह, शिशु-हितकारी केन्द्र और विधवागृह आदि कई प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश होता है। इंडियन जूट मिल्स एसोसियेशन की सब मिलों ने जनवरी १९४९ में प्रोविडेंट फंड की योजना चालू की। इन मिलों में प्रोविडेंट फंड के साथ ग्रेच्यूटी की व्यवस्था भी की गई है। प्रथम श्रेणी की रेलों और चाय आदि के बाग़ों में काम करने वाले लोगों को भी इस तरह की कोई न कोई सुविधा देने की ओर ध्यान दिया गया है। मज़दूर-हितकारी कार्यों में नहाने-धोने की सुविधा का भी महत्त्व काफ़ी है। १९४८ के फैक्टरी क़ानून के अनुसार प्रत्येक फैक्टरी में इस प्रकार की सुविधा होनी चाहिये। पर वास्तव में ऐसी सुविधा बहुत कम है क्योंकि अधिकांश कारखानों में हाथ-पाँव धोने के पानी का प्रबन्ध तो फिर भी होता है, पर साबुन, तौलिया आदि की व्यवस्था नहीं होती। नहाने की सुविधा तो बहुत कम होती है।

मज़दूर-हितकारी कार्यों के बारे में राज्य तथा मज़दूर-सभाओं द्वारा जो प्रयत्न अब तक हुए हैं, उनका भी संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। थोड़े समय पहले तक तो भारत-सरकार ने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया नहीं

दृष्टि से। जो मकान उद्योगपतियों ने बनाए हैं वे भी सब एक दर्जे के नहीं हैं, कुछ अच्छे हैं तो कुछ अच्छे नहीं हैं। पर जो अन्य व्यक्तियों द्वारा बने हुए मकान हैं, जिनमें कि अधिकांश मज़दूर वर्ग रहता है, उनकी हालत तो एक दम दयनीय है। न मकानों में हवा आने की सुविधा है और न धूप की। शौच आदि की व्यवस्था का पहले तो प्रश्न ही क्या, और यदि कहीं है भी तो वह ऐसी कि वह न होने के बराबर है। पानी आदि की व्यवस्था का भी यही हाल है। मकानों में भीड़ का तो कहना ही क्या। एक ही कमरे में एक से अधिक परिवार के लोग, जिनमें पुरुष-स्त्री-बच्चे सभी होते हैं, रहते हुए मिलेंगे। अधिकांश मकान एक ही कमरे के मिलेंगे। इन एक कमरे में अलग-अलग परिवारों के अलग-अलग चूल्हे मिल जाएंगे, और यदि कोई स्त्री गर्भवती है तो उसकी प्रसूति का प्रबन्ध भी वहीं होता हुआ मिल जाएगा। एकान्त की तो इन एक कमरे के मकानों में कल्पना ही क्या हो सकती है। और यदि धूल और धूप से बचने का प्रबन्ध करना है तो वह प्रबन्ध फटी बोरियों के चिथड़ों अथवा कनस्टर के टुकड़ों से ही किया जाता है। कुछ उद्योगपति यह कहते नहीं थकते कि गाँव में जिन मकानों में मज़दूर रहता, वह भी कोई अच्छे नहीं होते; किन्तु वह ऐसा कहते समय यह भूल जाते हैं कि यद्यपि गाँव के मकानों में हवा का पूरा प्रबन्ध नहीं होता और गाँव की गलियाँ इत्यादि गन्दी रहतीं हैं, फिर भी उनमें जो आँगन होता है, उसमें धूप, रोशनी और हवा यथेष्ट मात्रा में रहती है। फिर किसान खेती के स्वास्थ्य युक्त वातावरण में काम करता है, जबकि मज़दूर को नगर और कारख़ाने के दूषित और अस्वस्थ वातावरण में रहना पड़ता है।

मज़दूरों के रहने के मकानों की जिस शोचनीय स्थिति का वर्णन ऊपर दिया गया है उससे अनेकों प्रकार की बुराइयाँ पैदा होती हैं। उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर इसका अत्यन्त घातक असर पड़ता है। मज़दूर नगरों को, जहाँ वे काम करते हैं, अपना स्थायी घर नहीं मानते, और इसका बुरा असर उनके स्थायित्व और उपस्थिति पर भी बिना पड़े नहीं रहता। अब हम कुछ प्रमुख औद्योगिक नगरो की मजदूरों के मकानों सम्बन्धी समस्या पर सक्षेप में विचार करेंगे।

बम्बई:—भारत का एक बहुत बड़ा औद्यौगिक केन्द्र है। वहाँ के मज़दूर जिन मकानों में रहते हैं उनको "चालें" कहते हैं। 'चाल' एक लम्बी कोठरियों की पंक्ति को कहते हैं, जिसके सामने पतला बरामदा होता है। वह दो-तीन मंजिल की होती है, और एक-दूसरे से सटी हुई बनी होती हैं। मकानों की दो पंक्तिओं के बीच में एक गज से अधिक जगह नहीं होती। इससे कमरों में हवा

और रोशनी का अभाव-सा रहता है। अधिकांश चालों में शौच-गृह नहीं होते। दो चालों के बीच में जो पतली-सी गली होती है उसमें ही टट्टियाँ होती हैं। इन टट्टियों में सफाई का प्रबन्ध ठीक न होने से बड़ी गन्दगी रहती है, जिसका असर आस पास भी पड़ता है। कुछ समय पहले बम्बई-सरकार ने एक लेडी डाक्टर को मजदूर स्त्रियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए नियुक्त किया था। उसने एक मकान के सम्बन्ध में लिखा है "मैं चाल की दूसरी मंज़िल के एक कमरे में गई, जिसकी लम्बाई १५ फ़ीट और चौड़ाई १२ फ़ीट थी। उस कमरे में ६ परिवार रह रहे थे। उनका भोजन पकाने के लिए उस कमरे में ६ चूल्हे थे। उन परिवारों में स्त्री-पुरुष-बच्चे सभी मिलाकर ३० प्राणी थे और ये सब उसी एक कमरे में रहते थे। छत से डोरियाँ बाँधकर, उनमें बाँस बांधकर उन पर टाट और कम्बल डाल दिये गये थे, जिससे कि प्रत्येक परिवार पृथक् रह सके। उनमें से तीन स्त्रियाँ गर्भवती थीं और उनके शीघ्र ही बच्चा होने वाला था। मेरे पूछने पर मुझे एक कोने में चार फ़ीट लम्बी और तीन फ़ीट चौड़ी जगह दिखलाई गई जिस पर पर्दा कर दिया गया था। इसी जगह में बच्चा उत्पन्न होने की व्यवस्था थी। यह इस तरह का अकेला कमरा नहीं था। ऐसे बहुत-से कमरे मेरे देखने में आए।" उपर्युक्त वर्णन से बम्बई की चालों के नारकीय जीवन का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। अधिकांश चालों की इमारतें जर्जर अवस्था में हैं। नीचे के मंज़िल में बेहद सीलन होती है। कहीं-कहीं तो चाल की इमारत सड़क के धरातल से ही खड़ी कर दी गई है, उसकी कुर्सी होती ही नहीं। नतीजा यह होता है कि वर्षा की ऋतु में सड़क का पानी कमरों में आ जाता है। सीलन का तो कहना ही क्या? इन चालों के अहातों में कूड़ा-कचरा और यहाँ तक कि मल के ढेर लगे रहते हैं, जो कि वर्षा के दिनों में बड़ी सड़न और दुर्गन्ध पैदा करते हैं। प्रत्येक चाल में एक स्थान पर पानी के नल की थोड़ी सी टोंटिया होती है। चाल के सभी लोग उन्हीं नलों पर नहाते-धोते भी हैं। ये चालें व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति होती हैं और उनका ध्येय अधिक से अधिक किराया वसूल करना होता है। कहीं-कहीं जाबर भी चाल को पट्टे पर ले लेता है और अपने अधीन मज़दूरों को उसमें रखकर मनमाना लाभ उठाता है।

मज़दूरों के रहने के मकानों की उपर्युक्त अवस्था में सुधार करने का बम्बई सरकार, बम्बई सिटी इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट और कुछ मिलों ने प्रयत्न किया है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बम्बई-सरकार ने एक विशेष डेवलपमेन्ट विभाग स्थापित किया था और उस विभाग ने २०७ कंकरीट की चालें बनाई।

प्रत्येक चाल में ८० कमरे (एक ६४ कमरे की को छोड़कर) हैं। इन चालों में कुल १६२२४ रहने के कमरे और ३०० दुकानें हैं। १९३७-३८ में जब कांग्रेस-सरकार शासन में आई तो उसने भी इस बारे में काफ़ी ध्यान दिया। इन चालों में कमरे बड़े हैं, रोशनी और हवा की सुविधा है। साथ ही फ़्लश, बिजली की रोशनी, पानी की सुविधा है। इन चालों में स्कूल अस्पताल तथा दूसरे मज़दूर-हितकारी कामों का भी म्यूनिसिपैल्टी और दूसरी परोपकारी संस्थाओं द्वारा प्रबन्ध किया गया है। बम्बई-सरकार ने हाल में एक 'हाउसिंग बोर्ड' की स्थापना की है जिसका मुख्य काम मज़दूर आदि कम वेतन पाने वाले लोगों के रहने के मकानों को सुविधा करना है। इसी योजना के अन्तर्गत प्रान्त भर के औद्योगिक नगरों में १२५,००० मकान बनाने का कार्य-क्रम है। मकान सरकार स्वयं तो बनाएगी ही, पर व्यक्ति विशेष भी बनाएँगे और स्वायत्त शासन की संस्थाओं को सरकार से सहायता भी मकान बनाने में मिलेगी। मिल-मालिकों अथवा सहकारी समितियों को क़र्ज़ दिया जाएगा। १९४७ के नवम्बर में बम्बई-सरकार ने यह योजना स्वीकार की थी। पोर्ट ट्रस्ट ने भी अपने मज़दूरों के लिये मकान बनवाये हैं। हर कमरे में हवा और रोशनी का अच्छा प्रबन्ध है। स्नानागार, और शौचगृह की व्यवस्था कई मकानों के बीच में है। मज़दूरों की भलाई की देख-रेख के लिये एक वेलफ़ेयर सुपरिन्टेन्डेन्ट है। बम्बई इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और बम्बई म्यूनिसिपैलिटी के भी कुछ चालें हैं। इसके अलावा लगभग ३० मिलों ने भी अपने मज़दूरों के लिए एक कमरे की चालें बनवाई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह चालें उन चालों से, जो व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति होती हैं, अच्छी हैं, फिर भी उनमें स्थान की कमी है।

कलकत्ते—में भी मज़दूरों के रहने के मकानों की समस्या बड़ी विकट है। अधिकांश मज़दूर बस्तियों में रहते हैं। ये बस्तियाँ अधिकतर सरदार या अन्य व्यक्तियों की होती हैं। सरदार भूमि को पट्टे पर ले लेता है और जो मज़दूर रहने के लिये मकान चाहते हैं, उसे बांस तथा फूंस इत्यादि देकर स्थान बतला देता है और मज़दूर उसी स्थान पर एक कच्चा झोंपड़ा खड़ा कर लेता है। कलकत्ते की ये बस्तियाँ इतनी गंदी और खराब होती हैं कि उसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। हवा, रोशनी और स्वच्छ पानी का अभाव होता है। बस्तियों में जाने के मार्ग दलदल और गंदगी से भरे रहते हैं। हावड़ा की बस्तियों की स्थिति तो और भी भयंकर है। जूट-मिलों ने अपने मज़दूरों के लिए कुछ कुली-लाइनें बनवाई हैं। इन कुली-लाइनों में एक एक कमरे के लगभग ४०,००० क्वार्टर हैं। कमरों के सामने बरामदा होता है। ये लाइनें पक्की हैं

और पानी की सुविधा होती है। रोशनी हवा का प्रबन्ध तो होता है पर बहुत संतोषजनक नहीं है। कुली-लाइन क्वार्टरों की एक लाइन होती है। शौच-गृह और पेशाब-घर की भी व्यवस्था तो है पर वह भी काफी नहीं है। उन बस्तियों से ये लाइनें अवश्य अच्छी हैं पर इनको भी पूरी तौर से संतोषजनक नहीं माना जा सकता। पिछले वर्षों में जूट-मिलों में काम करने वालों के लिये कुछ अच्छे मकान बने हैं। बिड़ला जूट-मिल्स कॉलोनी बहुत अच्छी कॉलोनी में से है। और मिल-मालिकों ने भी अपने मजदूरों के लिए मकानों की व्यवस्था की है। पोर्ट ट्रस्ट ने भी मकान बनाये हैं। पश्चिमी बंगाल की सरकार ने भी प्रान्तीय हाउसिंग बोर्ड की स्थापना की है।

मद्रास—में भी मकानों की समस्या इतनी ही गंभीर है। मकानों की इतनी भयंकर कमी है कि सैकड़ों मजदूरों को मकान तक नहीं मिलते। वे सड़कों के किनारे अपना सामान रखकर पड़े रहते हैं या बंदरगाह के किनारे जो बड़े-बड़े मालगोदाम बने हुए हैं, उनके बरामदों में रहते हैं। मदुरा में तो स्थिति और भी भयानक है। यही हाल कोयम्बटूर तथा तूतीकोरन का है। मद्रास में अधिकांश मजदूर एक कमरे के मकानों में रहते हैं जिनमें हवा और रोशनी का समुचित प्रबंध नहीं होता। प्रायः कमरों में खिड़की या रोशनदान भी नहीं होता। एक मकान में कई कमरे होते हैं। शौचगृह मकान के सब कमरों के बीच में एक-एक होते हैं। ये मकान व्यक्ति विशेष की संपत्ति होते हैं। कई जगह मकानों की कुर्सी सामने की गली से नीचे होती है और इस कारण वर्षा का पानी कमरों में चला जाता है। मकानों की कमी के कारण मद्रास शहर में मजदूर खाली स्थानों पर अस्थायी झोंपड़े या कच्ची-पक्की कोठरियाँ खड़ी कर लेते हैं और जब उन जमीनों के मालिक जमीन का किराया बहुत अधिक बढ़ा देते हैं तो वे उठकर दूसरी जमीनों पर चले जाते हैं। इन अस्थायी बस्तियों को ही चैरी कहते हैं। सफाई आदि की इनमें कोई व्यवस्था नहीं होती। हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। पानी और शौचगृह की कोई व्यवस्था नहीं होती। इन चैरियों की कोठरियाँ ६ फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी होती हैं। जो चैरियाँ सरकार या म्यूनिसिपैल्टी की जमीन पर हैं उनमें पानी के नल, आम शौचगृह, और सड़कों की सुविधा अवश्य है। अन्य चैरियों में इनका अभाव है।

मद्रास-सरकार के मजदूर विभाग तथा एक-दो सहकारी गृह-समितियों ने कुछ मकान मजदूरों के लिए बनाए हैं। बकिंघम कर्नाटक मिल ने लगभग १०% अपने मजदूरों के लिए मकानों का अच्छा प्रबंध किया है। इन कम्पनी ने

चार आदर्श मजदूर-ग्राम बसाये हैं। प्रत्येक मकान में एक कमरा, सामने बरामदा एक रसोई घर, एक स्नानागार और आँगन होता है। पक्की सड़कें बनाई गई हैं जिन पर बिजली की रोशनी का प्रबंध है। पानी के लिए नल का प्रबन्ध है। सड़कों की रोशनी, पानी और सफाई का खर्च कंपनी उठाती है। पश्चिमी बंगाल की भाँति मद्रास-सरकार ने भी एक 'प्रोविंशियल हाउसिंग बोर्ड' की स्थापना की है।

कानपुर—के तीन चौथाई मजदूर बस्तियों या अहातों में रहते हैं। यह अहाते व्यक्तियों की सम्पत्ति हैं। लगभग २०० अहातों में यहाँ की अधिकांश मजदूर-जनसंख्या निवास करती है। इन अहातो में एक कोठरी और कहीं-कहीं सामने बरामदे वाले बहुत से मकान होते हैं। कोठरियाँ १० फीट लम्बी और ८ फीट चौड़ी होती हैं। हवा और रोशनी तथा सफ़ाई का प्रबन्ध अत्यन्त असंतोषजनक होता है। पानी और शौच के लिए आम पानी के नलों और शौचगृहों की व्यवस्था होती है जो अत्यन्त नाकाफ़ी और स्वास्थ्य तथा सफाई की दृष्टि से असंतोषजनक होती है।

कानपुर में मज़दूरों के लिए अच्छे मकानों की सुविधा का प्रबंध सबसे पहले ब्रिटिश इंडिया कौरपोरेशन ने किया। इस कंपनी ने एलनगंज और मैकरावर्टगंज में दो बड़े मज़दूर-उपनिवेश बसाये हैं। इन उपनिवेशों में १६६० क्वारटर्स हैं। मैकराबर्टगंज दोनों उपनिवेशों में अच्छा है। मकानों की हालत अच्छी है, आस-पास सफाई है और चिकित्सा और शिक्षा का भी प्रबंध है। पानी और शौचगृह की भी व्यवस्था है। खेलने के लिए मैदान भी हैं। इसके अतिरिक्त कानपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट ने भी मज़दूरों के लिए कुछ क्वार्टर बनवाए हैं। कुछ अन्य मिल-मालिकों ने भी इस ओर प्रयत्न करना चाहा है पर जमीन की कमी से उनका प्रयत्न बहुत सफल नहीं हुआ है। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया है।

अहमदाबाद—की भी ठीक ऐसी ही दयनीय दशा है। अधिकांश मजदूर एक कमरे के मकानों में रहते हैं। हवा, पानी का अभाव, गंदगी, पानी और शौचगृह की खराब व्यवस्था, ये इन मकानों की विशेषता है। मिल-मालिकों ने 'अहमदाबाद मिल्स हाउसिंग कंपनी लिमिटेड', के द्वारा मज़दूरों के मकानों की व्यवस्था की है। मकान में एक कमरा, एक रसोईघर और एक बरामदा है। इन मकानों की सफाई, पानी सम्बन्धी व्यवस्था और मरम्मत के बारे में काफ़ी शिकायत है। कुछ मिल-मालिकों ने अपनी मिलों के निकट ही 'चालें' बनवाई हैं, पर एक-दो को छोड़कर उनकी व्यवस्था भी ठीक नहीं है। अहमदाबाद की

लेबर एसोसियेशन ने भी एक मजदूर-उपनिवेश का निर्माण किया है। हर मकान में दो कमरे, एक बरामदा और एक आंगन है। इस योजना के अनुसार अन्ततोगत्वा २० वर्ष में मजदूर मकान का स्वयं मालिक हो सकेगा और हर महीने उसे एक निश्चित रक़म देनी होती है।

नागपुर—में भी मकानों की व्यवस्था उतनी ही बुरी है जितनी दूसरी जगह। परन्तु एम्प्रेस मिल्स नागपुर ने मजदूर-उपनिवेश बनाने की जो योजना हाथ में ली है वह उल्लेखनीय है। मिल ने सरकार से इन्दोरा के समीप २०० एकड़ भूमि लम्बे पट्टे पर ली है और उस जगह कंपनी २५ लाख रुपया व्यय करके १५०० मकान बनवा रही है। मकान कंपनी बनवाती है पर मजदूर मालिक क़िश्तें देता है; अन्ततोगत्वा मकान उसका हो जाता है। प्रत्येक घर में शौचगृह और पानी के नल की व्यवस्था होती है। मजदूर कच्चे मकान भी बना सकता है, पर मकान का नक्शा कम्पनी देती है। कम्पनी मजदूर को मकान बनाने के लिए पेशगी रुपया दे देती है और मजदूर मालिक क़िश्तों में रुपया चुका देता है। इस उपनिवेश में सार्वजनिक उद्यान, बाजार, अस्पताल, स्कूल, मजदूरों की इन्स्टीट्यूट तथा दूसरी संस्थाओं के लिए जमीन निश्चित कर दी गई है।

चाय के बागों—में (आसाम-बंगाल) भी मकानों की समस्या संतोषजनक नहीं है। अधिकांश मकानों में एक ही कमरा होता है। मकानों की कुर्सी नीची होने से सीलन रहती है, हवा और धूप की कमी मकानों में रहती है। सबसे बड़ी कठिनाई इन मकानों के बारे में यह है कि जहाँ यह बने है वह जमीन चूँकि बागों के मालिकों की है इसलिये वहाँ किसी बाहर के आदमी को इस भय से नहीं जाने दिया जाता कि वह मजदूरों को भड़कावेगा। वहाँ के मजदूर क़ैदियों की-सी अवस्था में रहते आ रहे हैं।

खानों—में काम करने वाले मजदूरों के रहने के मकानों की समस्या भी उतनी ही जटिल है जितनी कारखानों के मजदूरों की। बंगाल की कोयले की खानों में मजदूरों के रहने के मकानों को 'धौरा' कहते हैं। इन 'धौरों' में एक १०' × १०' का कमरा होता है और एक कमरे में दो-दो तीन-तीन परिवार रहते हैं। हवा, पानी, सफ़ाई, शौचगृह, नहाने-धोने का स्थान सभी की व्यवस्था संतोषजनक नहीं है।

जमशेदपुर—में मजदूरों के मकानों की समस्या को हल करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है। जिस भूमि पर जमशेदपुर नगर बसा हुआ है वह टाटा कम्पनी की सम्पत्ति है। नगर का प्रबन्ध कम्पनी के देख-रेख में ही होता है। रोशनी, नालियों और सड़कों की सफ़ाई, शिक्षा चिकित्सा तथा इन की

व्यवस्था का व्यय कंपनी ही करती है। मजदूरों के रहने के लिए भी कम्पनी ने मकान बनवाये हैं। मकान के चारों ओर छोटा-सा बगीचा होता है और साफ़ शौचगृहों की भी व्यवस्था की गई है। मजदूरों को भी कंपनी रुपया कर्ज देकर मकान बनाने के लिए उत्साहित करती है।

कोयले की खानों पर काम करने वाले मजदूरों के लिए भारत-सरकार ने जो कोल माइन्स वेलफेयर फन्ड स्थापित किया है उसका एक उद्देश्य मज़दूरों के लिए मकानों की व्यवस्था करना भी है। ये मकान बिहार, बंगाल और मध्य प्रदेश और बरार की खानों के मजदूरों के लिए बनेंगे। कुल ५०,००० मकान बनाने की योजना है। ये मकान उपनिवेशों की शक्ल में बनेंगे। खानों के मालिकों को भी अपनी जमीन पर मकान बनाने की स्वीकृति है। मकान बनाने का खर्च फन्ड देगा और जमीन मिल-मालिक। इस योजना के अनुसार जो प्रगति हुई है वह बहुत ही असंतोषजनक है।

मजदूरों के रहने के मकानो की समस्या कितनी विकट है, यह उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होगया होगा। देश के बटवारे ने इस प्रश्न को और भयंकर रूप दे दिया है। इस समस्या का हल देश की आर्थिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जमीन की कमी का भी एक प्रश्न है, यद्यपि सरकार उचित मुआवजा देकर मज़दूरों के रहने के मकान बनाने के लिए क़ानून से (लैन्ड एक्वीज़ीशन एक्ट) ज़मीन प्राप्त कर सकती है। यदि मकान मिलों से दूर बनाये जायें तो यातायात का अच्छा प्रबन्ध हो, यह अत्यन्त आवश्यक है ताकि मज़दूर को मकान से मिल आने-जाने में कठिनाई न हो। उन औद्योगिक केन्द्रों में, जो पहले से ही घने आबाद हैं, नए कारखाने जहाँ तक संभव हो, नहीं खोलने दिये जायँ। पर इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि इस समस्या का हल एक देशव्यापी नीति के आधार पर ही हो सकता है। भारत-सरकार और राज्य की सरकारों तथा उद्योगपतियों और मज़दूरों सभी के सहयोग की इसमें आवश्यकता होगी। केन्द्रीय सरकार की औद्योगिक निवास योजना १९५०-५१ से लागू की गई है। इस योजना के अन्तर्गत भारत-सरकार राज्यों को मज़दूरों के लिये मकान बनाने को ऋण देती है। ये योजना पहले 'ए' श्रेणी के राज्यों पर ही लागू थी। पर अब 'बी' और 'सी' श्रेणी के राज्यों पर भी यह योजना लागू कर दी गई है। पर हाल ही में श्रम मन्त्रालय ने इस योजना के स्थान पर एक नई योजना सोची है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार राज्यों और एम्पलोयर्स को ऋण न देकर जमीन के मूल्य के २०% तक की सबसिडी देगी। ये योजना राज्य की सरकारों और एम्पलोयर्स के विचार जानने के लिये (जनवरी-

५२) प्रकाशित की गई है। प्लानिंग कमीशन ने अपनी प्रस्तावित योजना में २५००० (पच्चीस हजार) मकान प्रतिवर्ष बनाने का सुझाव दिया है। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक राष्ट्रीय निवास मण्डल (नेशनल हाउसिंग बोर्ड) और राज्य निवास मण्डल तथा राष्ट्रीय निवास कोष स्थापित करने की सिफारिश की गई है। इस कोष में मजदूर, मिल मालिक और केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों का रुपया जमा होगा।

सामाजिक सुरक्षा :—मज़दूर-वर्ग के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम देखते हैं कि मज़दूर को अनेकों प्रकार की अनिश्चितताओं और खतरों का सामना करना पड़ता है; जैसे बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था, मृत्यु, दुर्घटना जिसके कारण अस्थाई अथवा स्थाई तौर पर मज़दूर काम करने के अयोग्य हो जाता है, और बच्चा पैदा होना [स्त्रियों के लिए]। प्रत्येक औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र में इस प्रकार की क़ानून से व्यवस्था है कि जब भी मज़दूर को उपर्युक्त खतरों में से किसी एक या अधिक का सामना करने का अवसर आये तो उसकी आर्थिक तथा दूसरे प्रकार से सहायता की जा सके। उपर्युक्त खतरों में से किसी एक के लिए, जैसे बेकारी, बीमारी आदि, अलग से व्यवस्था हो सकती है और यह भी होता है कि कई मिले-जुले खतरों की एक साथ व्यवस्था हो, जैसे बीमारी, बच्चा पैदा होना, और चोट लग जाना। इन में चिकित्सा और डाक्टरी सहायता की आवश्यकता होती है और सबकी एक योजना के अन्तर्गत ही व्यवस्था की जा सकती है। वास्तव में देखा जाय तो सामाजिक सुरक्षा का सीधा साधा अर्थ यह है कि आज के आधुनिक समाज में कुछ खतरों का समय-समय पर प्रत्येक व्यक्ति को सामना करना पड़ता है जिनके लिए व्यक्तिशः वह जिम्मेदार नहीं है और इसलिए समाज का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति विशेष की इन खतरों से सुरक्षा करे। यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि सामाजिक सुरक्षा का यह ध्येय कदापि नहीं है कि समाज में उत्पादक श्रम और काम का महत्त्व कम हो जाए और व्यक्तिशः लोग यही सोचने लगें कि जब बीमारी, बेकारी, अथवा वृद्धावस्था में सहायता मिल ही जायगी तो अब काम करने की और उत्पादन की चिन्ता क्यों की जाए। समाज के व्यक्तियों की सुरक्षा का भार लेने का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता है। वास्तव में बात तो इससे सर्वथा विपरीत है। जिस राष्ट्र में उत्पादन और राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होगी उतना ही सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न आसानी से हल हो सकेगा। क्योंकि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं पर जो व्यय होगा उसकी क्षमता उन्नत और साधन-सम्पन्न राष्ट्र में ही हो सकती है। सामाजिक सुरक्षा के

सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि यद्यपि प्रारम्भ सामाजिक सुरक्षा के अलग-अलग खतरों के लिए अलग-अलग योजना बनाकर किया जा सकता है, पर अन्तिम ध्येय यह होना चाहिये कि राष्ट्रव्यापी सामाजिक सुरक्षा की एक सम्पूर्ण योजना हो जो राष्ट्र के सब लोगों पर लागू हो और जिसका एक आधारभूत सिद्धान्त यह हो कि जब एक व्यक्ति काम करने के योग्य किसी कारण से नहीं रहता है तो उसकी आय का ऐसा निश्चित साधन उसे प्राप्त होना चाहिये कि वह अपना शेष जीवन आराम से व्यतीत कर सके। चर्चिल के शब्दों में—"अनिवार्य बीमा सब लोगों के लिए और सब कामों के लिए—जन्म से मृत्यु तक"। ब्रिटेन की वेवरिज सुरक्षा योजना का भी यही आधारभूत सिद्धान्त है कि कार्य न कर सकने की हालत में व्यक्ति को एक निश्चित आय मिल सके जिससे साधारणतया वह अपना निर्वाह करले। सामाजिक सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू उस पर होने वाले खर्च की व्यवस्था करना है। इस सम्बन्ध में मूलतः दो आधार प्रचलित हैं—एक सामाजिक बीमा का जिसके अनुसार जिन व्यक्तियों को लाभ मिलता है वही प्रधानतः खर्चे के लिए ज़िम्मेदार होते हैं, दूसरी सामाजिक सहायता का जिसके अनुसार खर्च का ज़िम्मा समाज अर्थात् राज्य पर होता है। आज तो सामाजिक सुरक्षा की देशव्यापी योजनाओं में इन दोनों आधारों का समुचित समन्वय होना आवश्यक है। न्यूज़ीलेण्ड, डेनमार्क, स्वीडन तथा दूसरे कुछ देशों में ऐसा है भी।

भारत में सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में अभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारत में अभी उद्योग-धन्धों का बहुत विकास नहीं हुआ है। रौयल कमीशन [लेबर] ने बेकारी सम्बन्धी बीमा तो भारत के लिए व्यावहारिक नहीं समझा और बीमारी के बारे में उसने यह सिफ़ारिश की कि इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिये और इस दृष्टि से एक योजना भी प्रस्तावित की। इस प्रश्न पर बौम्बे टेक्सटाइल लेबर इनक्वायरी कमेटी ने भी विचार किया। और श्रम मंत्रियों के प्रथम तीन सम्मेलनों में भी इस बारे में विचार हुआ। आख़िरकार भारत-सरकार ने मार्च १९४३ में प्रो० बी० पी० अडारकर को औद्योगिक मज़दूरों के लिए स्वास्थ्य-बीमा की एक योजना तैयार करने के लिए नियुक्त किया। १९४४ में प्रो० अडारकर रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत-सरकार के निमंत्रण पर अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ ने सर्व श्री स्टॉक और राव नाम के दो विशेषज्ञों को इसलिए नियुक्त किया कि वे भी प्रो० अडारकर की रिपोर्ट पर विचार करके अपनी राय भारत-सरकार को दें। उन्होंने आवश्यक जाँच-पड़ताल और विचार विनिमय के बाद अडारकर-रिपोर्ट

पर कुछ सुझाव दिये जो भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित किये गये। इसी आधार पर फिर भारत-सरकार ने नवम्बर १९४७ में एक बिल उपस्थित किया और १९ अप्रैल १९४८ को वह क़ानून बन गया। इसी का नाम "एम्प्लोईज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट" है। सितम्बर-अक्टूबर १९५१ में इस क़ानून में संशोधन करने वाला एक नया क़ानून पास किया गया है। इस संशोधन का उद्देश्य यह है कि देश के उन तमाम एम्पलोयर्स से भी अब विशेष लेवी वसूल की जायगी जिनके कारखानों पर यह क़ानून चाहे तत्काल लागू न किया जावे। इसका कारण यह है कि जिन कारखानों पर यह क़ानून तत्काल लागू होगा उनके मालिक दूसरों की अपेक्षा लेवी के कारण अधिक आर्थिक बोझ से न दबें। यह एक्ट उन सब कारखानों पर जो मौसमी कारखाने नहीं हैं, लागू होता है और ४००) रु० मासिक तक पाने वाले लोग इसके क्षेत्र में आते हैं। 'एम्प्लोईज़ स्टेट इन्श्योरेंस कोरपोरेशन' नाम की एक स्वतन्त्र संस्था को इस एक्ट के अनुसार कार्य-संचालन का भार दिया गया है। एक्ट के अन्तर्गत मज़दूरों को जो लाभ, मिल सकते हैं वे ये हैं—बीमारी लाभ, प्रसूति-लाभ, कार्य शक्तिह्रास-लाभ, आश्रित-लाभ और चिकित्सा-लाभ। दिल्ली और कानपुर में यह योजना फ़रवरी १९५२ में लागू कर दी गई है। जुलाई १९५४ तक यह क़ानून समस्त देश में लागू हो जायगा। भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में उठाया गया यह पहला महत्त्वपूर्ण क़दम है। इसके अलावा 'वर्कमेन्स कम्पेनसेशन एक्ट, मेटरनिटी बेनिफिट्स एक्ट्स, और कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फ़न्ड एन्ड बोनस स्कीम्स एक्ट के अन्तर्गत भी सामाजिक सुरक्षा की कुछ व्यवस्था की गई है। व्यक्तिगत उद्योगपतियों और मिलों ने भी कहीं-कहीं अपने मज़दूरों के लिए रिटायरमेंट बेनिफ़िट स्कीम्स [नॉरदर्न इंडिया लॉवर मर्चेन्ट्स], ग्रेच्यूटी स्कीम [टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी] और प्रोविडेन्ट फन्डों की व्यवस्था की है। रेल्वे कम्पनियों ने भी अपने कर्मचारियों के लिए प्रोविडेन्ट फन्ड आदि की व्यवस्था कर रखी है। हाल ही में भारत सरकार ने प्रोविडेन्ट फन्ड एक्ट पास किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अभी प्रारम्भ मात्र हुआ है और करने को बहुत कुछ बाक़ी है। देश की निर्धनता, मज़दूरों का आर्थिक दृष्टि से असामर्थ्य और सूचनाओं तथा आँकड़ों की कमी कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न हमारे देश में और भी अधिक जटिल बना हुआ है। पर हमें इन सब कठिनाइयों को जीतना होगा और भारतीय मज़दूर के लिए सामाजिक सुरक्षा की अन्ततोगत्वा समुचित व्यवस्था करनी होगी।

आय और रहन-सहन का दर्जा:—मज़दूरों सम्बन्धी आँकड़ों और सर्वेक्षणों

अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनकी आय का है जिस पर उनके रहन-सहन का दर्जा भी बहुत कुछ निर्भर है। इस सम्बन्ध में भारतीय मज़दूर की क्या स्थिति है इस पर अब हम संक्षेप में विचार करेंगे।

मज़दूरी के कई आधार होते हैं। दो आधार जो सबसे अधिक प्रचलित हैं वे ये हैं—समय का आधार और काम का आधार। अमुक समय तक काम करने पर अमुक मज़दूरी मिलेगी, यह समय का आधार है। और अमुक काम की अमुक मज़दूरी मिलेगी, यह काम का आधार है। भारत में अधिकांश धधों में समय के अनुसार मज़दूरी दी जाती है। परन्तु कुछ धधे ऐसे भी हैं जिनमें काम के अनुसार मज़दूरी देने की प्रथा बहुत प्रचलित है, जैसे—वस्त्र-व्यवसाय, इंजीनीयरी सम्बन्धी उद्योग तथा कपड़ा सीने के कारखानों में। कहीं-कहीं उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का सम्मिश्रण भी कर दिया जाता है। भारत में ऐसा बहुत कम है। वास्तव में तो होता यह है कि न केवल भिन्न-भिन्न उद्योगों में परन्तु एक ही प्रकार के उद्योग में एक ही स्थान अथवा अलग-अलग स्थान में भिन्न-भिन्न मज़दूरी की पद्धति देखने को मिल जाती है।

मज़दूरी के सम्बन्ध में दूसरा सवाल मज़दूरी-के दरों का है। इस बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दूसरे महायुद्ध के कारण भारत के औद्योगिक मज़दूरी के ढाँचे में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। युद्धकाल में केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों का बराबर यह प्रयत्न रहा कि उत्पादन अधिक से अधिक हो और इस दृष्टि से मज़दूरों को उनकी आय को बढ़ाकर, बराबर संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया। मज़दूरों के वेतन सम्बन्धी झगड़ों को सुलझाने के लिए औद्योगिक पचायतें और कचहरियाँ नियुक्त की गई और उन्होंने जो फैसले दिये उनसे मज़दूरों को अवश्य लाभ भी हुआ। औद्योगिक पचायतों के निर्णय के लागू करने के पहले बहुत-से उद्योगों में आधार भूत मज़दूरी बहुत कम थी। और कई स्थानों पर महगाई-भत्ता मूल वेतन से चार से पाँच गुना तक था। पर भारत-सरकार द्वारा केन्द्रीय वेतन कमीशन की सिफ़ारिशें मान लेने से और औद्योगिक पंचायतों के निर्णयों को लागू करने से, देश के औद्योगिक मज़दूरों का एक अच्छा अंश आज से कुछ वर्ष पहले जो मूल वेतन पाता था उससे कहीं अधिक मूल वेतन पा रहा है। इसी प्रकार सन् १९४७ में जब बोर्ड ऑफ कन्सीलियेशन की सिफारिशें सरकार ने स्वीकार करलीं तो कोयले के खानों के मज़दूरों की मज़दूरी में भी यथेष्ट वृद्धि हुई। रीगे कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि अधिकांश संगठित उद्योगों में मजदूरों के मूल वेतन में बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ पर जो उद्योग संगठित नहीं हैं अथवा जो युद्ध के

मज़दूरी पाने वाले जो 'अनस्किल्ड लेबरर' हैं, उनको मंहगाई के कारण बहुत नुकसान नहीं उठाना पड़ा है। कुछ संगठित उद्योगों—जैसे जूट, बाग, खान, में मज़दूर की वास्तविक आय निश्चित रूप से कम हुई है। जो अच्छी श्रेणी के मज़दूर हैं उनके बारे में कुछ अपवादों को छोड़कर जहाँ मंहगाई के अनुपात में मंहगाई-भत्ता मिलता है, साधारणतया यह कहा जा सकता है कि उनकी वास्तविक आय में कमी हुई है। मज़दूरों की आय का मूल वेतन और मंहगाई के अलावा एक साधन और है। वह है 'बोनस' मिलने का। बोनस मुनाफ़े के आधार पर भी दिया जाता है, उपस्थिति के आधार पर भी दिया जाता है, और काम के आधार पर भी दिया जाता है। बोनस का हिसाब मासिक वेतन के आधार पर लगाया जाता है, अर्थात् ४ महीने के वेतन जितना रुपया साल भर में बोनस के रूप मे मिलेगा। कई भारतीय उद्योग-धंधों द्वारा अपने मज़दूरों को 'बोनस' भी दिया जाता है। मज़दूरों की आय का एक और साधन लाभ में हिस्सा मिलना है। भारत-सरकार ने इस विषय पर विचार करने के लिए एक कमेटी भी नियुक्त की थी जिसने कुछ सिफ़ारिशें भी कीं। परन्तु सरकार ने इस बारे में कोई निर्णय नहीं किया। फिर भी टाटा कम्पनी जैसे प्रगतिशील उद्योगपतियों ने अपने मज़दूरों के लिए लाभ-विभाजन की योजना जारी की है जिसके अनुसार कम्पनी के सालाना शुद्ध लाभ का २७½ प्रतिशत मज़दूरों को उनके द्वारा कमाई गई मज़दूरी के अनुपात में बाँटा जाता है।

मज़दूरों को अपने काम के लिए उचित मज़दूरी मिले इसकी क़ानून द्वारा भी व्यवस्था की जा सकती है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत कई राष्ट्रों जैसे इंगलैंड अमेरिका, आस्ट्रेलियाँ आदि में ऐसे क़ानून हैं। भारत में भी १९४८ में न्यूनतम मज़दूरी एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार खेती तथा ऐसे दूसरे उद्योगों में जहाँ मज़दूरों का अत्यधिक शोषण होता है, सरकार द्वारा न्यूनतम मज़दूरी निश्चित की जा सकती है। इस एक्ट के अनुसार विभिन्न राज्यों में न्यूनतम मज़दूरी निश्चित की जा चुकी है।

मज़दूरी के सम्बन्ध में विचार करते समय एक और प्रश्न प्रस्तुत होता है और वह यह है कि मज़दूरी समय पर चुकाई जाती है या नहीं और उसमें से जुर्माना आदि के रूप में कोई अनुचित कटौतरी करली जाती है या नहीं। भारतीय मज़दूरों को इन बातों के बारे में काफ़ी शिकायत थी। सन् १९३६ में जब मज़दूरी चुकारा क़ानून पास कर दिया गया तो इस बारे में सुधार हो गया है। अब मज़दूरों को वेतन समय पर मिल जाता है। मज़दूरी चुकारा क़ानून

(पेमेन्ट ऑफ वेजेज एक्ट) में यह भी प्रतिबंध लगाया गया है कि केवल उन्हीं अपराधों के लिए जुर्माना किया जा सकता है जिनके बारे में पूर्व घोषणा की जा चुकी है। जुर्माना रुपये में दो पैसे से अधिक नहीं किया जा सकता और १५ वर्ष से कम आयु के बालक पर जुर्माना नहीं किया जा सकता।

अब तक हमने भारतीय मज़दूर की आय के सम्बन्ध में विचार किया है। परन्तु केवल इतने पर से ही उसके रहन-सहन के दर्जे का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उसके लिए और भी कई बातों का विचार करना आवश्यक है। सब से पहली बात तो रहन-सहन खर्च के बारे में है। दूसरे शब्दों में, अगर मँहगाई है तो उसी आय में रहन-सहन का दर्जा नीचा होगा जिसमें कि सस्तापन अगर होता तो रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता था। दूसरी बात जिसका रहन-सहन के दर्जे से सम्बन्ध आता है वह यह है कि परिवार में कितने लोग हैं और उनमें कमाने वालों की संख्या क्या है। तीसरी बात जिसका रहन-सहन के दर्जे पर असर पड़ता है वह यह है कि आय के अन्य कोई सहायक साधन हैं या नहीं और जो काम व्यक्ति करता है उसमें वेतन के अलावा और किसी प्रकार की सुविधा जैसे—मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि भी प्राप्त है या नहीं। और अन्तिम बात जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी है वह है खर्च सम्बन्धी आदतों की, कि मज़दूर अपनी आय किन बातों में खर्च करता है और वह समझ-सोचकर खर्च करता है या नहीं। क्योंकि केवल इसी बात से किसी व्यक्ति के रहन-सहन के दर्जे का पता नहीं लग सकता कि वह खर्च कितना करता है, पर साथ में यह भी देखना होगा कि खर्च किन चीज़ों पर किया जाता है। उपर्युक्त तमाम दृष्टियों से यदि हम भारतीय मज़दूरों की स्थिति पर विचार करें तो हमें इस नतीजे पर आना पड़ेगा कि उसके रहन-सहन का दर्जा सन्तोषजनक नहीं है। उसकी आय और उसके मुक़ाबले में रहन-सहन के खर्च का विचार करने पर हमने देखा कि कुल मिलाकर कुछ नीचे की श्रेणी के मजदूरों को छोड़कर दूसरों का जहाँ तक सम्बन्ध है, आय की अपेक्षा व्यय अधिक बढ़ा है। दूसरे महायुद्ध के बाद से रहन-सहन का खर्च तीन गुने से लेकर कहीं कहीं छः गुने तक बढ़ा है। ज़ाहिर है इस अनुपात में आय नहीं बढ़ी है और इसका असर रहन-सहन के दर्जे पर बुरा पड़ा है। जहाँ तक परिवार के लोगों की संख्या और उनमें कमाने वालों की संख्या का प्रश्न है, उपलब्ध आँकड़ों से पता चलता है कि परिवार की संख्या ५ से ७ व्यक्तियों तक मानी जाना चाहिये और उनमें कमाने वालों की सख्या प्रायः $१\frac{१}{२}$ से २ आदमी के बराबर की मानना चाहिये। इन परिवारों के मासिक आय सम्बन्धी आँकड़ों से पता चलता है कि

यह आय प्रायः ६० और ७० रु० मासिक के आस-पास है । यद्यपि बम्बई और जमशेदपुर जैसे स्थान में १०० रु० मासिक के आस-पास और अहमदाबाद जैसे स्थान में १३४ रु० मासिक तक भी यह आय पाई जाती है । अहमदाबाद में चूँकि परिवार के लोगों की संख्या भी ५ से कुछ कम है और उनमें कमाने वालों की संख्या भी १½ से कुछ अधिक ही है और रहन-सहन का खर्च भी लगभग ३½ गुना बढ़ा है [युद्ध के पूर्व समय से], इसलिये यह कहा जा सकता है कि अहमदाबाद में मज़दूरों की स्थिति सब जगह से अच्छी है । जहाँ तक विभिन्न चीजों पर होने वाले खर्चे का सम्बन्ध है, यह पता चलता है कि परिवार की आय का ५० प्रतिशत से अधिक और प्रायः ६० प्रतिशत और कहीं-कहीं तो ७० प्रतिशत और ८० प्रतिशत के आस-पास तक भोजन पर खर्च हो जाता है । ईंधन पर प्राय: ७-८ प्रतिशत और कहीं कहीं १०-१२ प्रतिशत तक व्यय होता है । हाँ, झरिया के खान-मज़दूरों का खर्च ½ प्रतिशत से भी कम आता है । मकान पर व्यय ३ प्रतिशत के लगभग से ७ प्रतिशत तक जाता है । प्राय: ३ प्रतिशत से ५ प्रतिशत खर्च माना जा सकता है । कपड़ों पर अधिकतर खर्च १० प्रतिशत से १२ प्रतिशत के आप-पास है । प्रायः १५ प्रतिशत से २० प्रतिशत खर्च दूसरी बातों पर माना जाना चाहिये । मज़दूर-परिवारों के खर्चों के उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज भारतीय मज़दूर अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं पर ही अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यय करता है । इससे उसके रहन-सहन के दर्जे पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका रहन-सहन का दर्जा संतोषजनक नहीं है । यह अवश्य है कि मजदूरी बढ़ने के कारण कहीं-कहीं मजदूरों ने पहले की अपेक्षा कुछ ऊँचे दर्जे का अनाज और कपड़ा आदि काम में लाना आरम्भ कर दिया है, पर इससे उसके रहन-सहन के स्तर में कोई मौलिक अन्तर आया हो ऐसा नहीं माना जा सकता । उसकी मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य, और मनोरंजन सम्बन्धी स्थिति का हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि कुल मिलाकर वह बड़ी असंतोषजनक है । जिस प्रकार का भोजन करने को उसे मिलता है । वह भी स्वास्थ्यप्रद नहीं है । प्रायः एक बार तो वह बासी भोजन ही करता है; दूध और साग-सब्जी जैसे पौष्टिक पदार्थों का उसके भोजन में अभाव-सा है । भोजन बनाने का ढग अच्छा नहीं है । इसके अलावा दिन भर की अपनी थकान उतारने के साधन स्वस्थ मनोरंजन के स्थान पर शराब पीना या अश्लील सिनेमा देखना मात्र है । मज़दूर के जीवन की इन तमाम बातों की जब हम एक साथ कल्पना करें तो समझ सकते हैं कि वास्तव में उसके रहन-सहन का दर्जा कैसा है और

उसमें कितने सुधार की आवश्यकता है। आज तो भारतीय मजदूर का रहन-सहन का दर्जा अत्यन्त अस्वास्थ्यकर और नीचा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

ऋण—भारतीय मजदूर के आर्थिक जीवन के चित्र को पूरा करने के लिए उसकी ऋण सम्बन्धी स्थिति का भी थोड़ा ज्ञान होना आवश्यक है। भारतीय मजदूर और विशेषतया जो कारखानों में काम करते हैं, प्रायः कर्ज़दार होते हैं। आय की अपर्याप्तता ही इसका एक मात्र कारण नहीं है क्योंकि जिनकी आय अपेक्षाकृत अच्छी हैं, वे अधिक ऋणग्रस्त भी हैं। उदाहरण के तौर पर अहमदाबाद जैसे स्थान में जहाँ आय अच्छी है, ऋण में कोई कमी नहीं है। मजदूरों के ऋण सम्बन्धी जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे पता लगता है कि बम्बई में ६४·१ प्रतिशत, जलगाँव में ६०·७ प्रतिशत, शोलापुर में ८५·७ प्रतिशत, कलकत्ते में ४१·५, जमशेदपुर में ६२·२ प्रतिशत, और झरिया में २२·३ प्रतिशत परिवार कर्ज़दार हैं और औसत क़र्ज़ प्रति परिवार बम्बई में लगभग १२५ रु०, जलगाँव में २२७ रु०, कलकत्ते में ११७ रु०, जमशेदपुर में २३५ रु० और झरिया में २८ रु० पाया गया। रीगे कमेटी का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि मजदूर की बुरी और फ़जूल खर्च करने की आदत भी उसके क़र्जदार होने का एक कारण है, पर मूल कारण उसकी अपर्याप्त आय ही है। जहाँ तक कि प्रथागत खर्चों का प्रश्न है, रीगे कमेटी का कहना है कि मजदूर को ये खर्चे करने ही पड़ेंगे और इसलिए अच्छा यह है कि उनको सामने रखकर ही उसकी आय के बारे में निर्णय करना चाहिये। 'जौबर' पर मजदूर की निर्भरता भी उसके ऋण की समस्या को थोड़ा पेचीदा बनाती है। रीगे कमेटी ने तो यह भी लिखा है कि यदि मजदूर को ऋण-मुक्त करने के प्रयत्न किये जायँ तो वे उसमें सहयोग देते हैं, यदि उनको इसकी आवश्यकता अच्छी तरह से समझाने का प्रयत्न किया जाये। सरकारी साख-समितियों के प्रचार, उचित शिक्षण और उचित क़ानूनी संरक्षण से इस समस्या का हल हो सकता है यदि इसी के साथ साथ मज़दूरों की आय में आवश्यक वृद्धि करने के प्रयत्न भी किये जावें।

भारतीय मजदूर की कार्य-कुशलता:—भारतीय औद्योगिक मजदूर के विषय में प्रायः यह कहा जाता रहा है कि दूसरे देशों के मज़दूरों की अपेक्षा उसमें कार्य-क्षमता कम है। अधिकांश भारतीय उद्योगपति तो उसे कम वेतन देने का यही औचित्य उपस्थित करते हैं। भारतीय मजदूर की कार्य-कुशलता की कमी के बारे में अब तक जो कुछ कहा और लिखा जाता रहा है उससे भारतीय मजदूर के प्रति बहुत बड़ा अन्याय हुआ है। यदि हम मजदूर की कार्य-कुशलता का अनुमान प्रति मजदूर पर होने वाले उत्पादन से लगाते हैं, तो सबसे पहले तो हमें

यह ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादन का परिणाम किन-किन बातों पर निर्भर रहता है। उसके लिये केवल मज़दूर ही ज़िम्मेदार नहीं होता। जिन परिस्थितियों में मज़दूर काम करता है, जिस तरह का सामान काम करने के लिये उसे मिलता है, जैसी मशीनों पर उसे काम करना पड़ता है, कारखाने में जैसी व्यवस्था है और जितना वेतन उसे मिलता है—इन सभी बातों का उत्पादन पर असर पड़ता है। फिर मज़दूर का भी जहाँ तक सम्बन्ध आता है उसमें उसकी शिक्षा कैसी हुई है, उसको कैसा भोजन मिलता है, उसके रहने का कैसा मकान है, उसके मनोरंजन की क्या व्यवस्था है, बीमार पड़ने पर उसकी चिकित्सा की कैसी व्यवस्था है और उसके आस-पास का जीवन कैसा है—इन सब बातों का असर पड़ता है। अस्तु, अगर किसी की यह मान्यता हो कि उपर्युक्त सब बातों में भारतीय मज़दूर और दूसरे देश के मज़दूर की परिस्थिति में जो अन्तर है उसके लिए गुंजाइश छोड़ने के बाद भी, भारतीय मज़दूर में कुछ ऐसी प्रकृतिदत्त कमी है कि वह दूसरे देश के मज़दूरों की अपेक्षा कम कार्य-कुशल है तो यह सर्वथा निराधार और भ्रमोत्पादक बात है। सच पूछा जाए तो भारतीय मज़दूर की कार्यक्षमता के बारे में परीक्षण तो नहीं के बराबर ही हुए हैं और उसकी कार्य-कुशलता की कमी के बारे में जो उदाहरण अब तक दिये जाते रहे हैं, वे बिना उसकी परिस्थिति का ध्यान रखे केवल ऊपर ही ऊपर की बातों के आधार पर दिये जाते रहे हैं। कई उदाहरण तो मज़दूरों के शोषण करने के लिए औचित्य स्थापित करने की दृष्टि से ही उद्योगपतियों द्वारा दिये जाते हैं, जैसे यह उदाहरण कि लंकाशायर की एक औसत लड़की वस्त्र बुनने का छः भारतीय मज़दूरों के बराबर काम कर सकती है। औद्योगिक कमीशन के सामने सर एलेक्जेंडर मैकरोबर्ट ने कहा था कि अंग्रेज मज़दूर भारतीय मज़दूर से चौगुना कार्य-कुशल है। सर क्लिमेंट सिम्पसन का अनुमान था कि लंकाशायर मिल का एक मज़दूर भारतीय मज़दूर से २.६७ गुना कार्यकुशल है। पर डा० गिलबर्ट स्लेटर का यह कहना है कि इस तुलना में भारतीय मज़दूर की अक्षमता अतिरंजित रूप में दिखाई गई है। एक करघे पर भारत और इंगलैंड में कितने मज़दूर काम करते हैं, केवल इसी पर से दोनो देशों के मज़दूरों की कार्यकुशलता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। भारत में मज़दूरी कम होने से अधिक मज़दूर लगाने में लाभ होता है जबकि इंगलैंड में ऐसा नहीं है। भारतीय मज़दूर के बारे में सर टामस हालैंड लिखते हैं "भारतीय मज़दूर से किसी भी उद्योग में, जो इस देश में चल सकता है, काम लिया जा सकता है। मैंने जमशेदपुर में उन मज़दूरों को देखा है जो कुछ वर्ष पहले जंगलों में रहते थे। अब वे लोहे और इस्पात के कारखानों में उसी योग्यता

से काम करते हुए देखे जा सकते हैं जिस योग्यता से कोई अंग्रेज मज़दूर।" मिस्टर कनेडी ने लिखा है "जो प्रकाशित सामग्री उपलब्ध है और जो जानकारी हम अपनी जाँच के सिलसिले में एकत्रित कर सके हैं, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय मज़दूर की तथाकथित कार्यकुशलता की कमी बहुत कुछ झूठ है। काम की समान सुविधाएँ मिलने पर और मज़दूरी, प्रबंध और मशीन आदि संबंधी एक-सी सुव्यवस्था होने पर भारतीय मज़दूर की कार्य-कुशलता दूसरे अधिकांश देशों के मज़दूरों की कार्यकुशलता से साधारणतया कोई कम नहीं है। इतना ही नहीं, जहाँ यंत्रों और प्रबन्ध का कोई बड़ा महत्व नहीं है, भारतीय मज़दूर की कुशलता कुछ कामों में दूसरे देश के मज़दूर के मुकाबिले में अधिक साबित हुई है।" हाल में ग्रेडी मिशन ने भारतीय उद्योगों की टेक्निकल क्षमता संबंधी अपनी रिपोर्ट में भी यही राय प्रकाशित की है। विमको के प्रबंध डाइरेक्टर का, जो भारत के दियासलाई के ८० प्रतिशत उद्योगों का संचालन करते हैं, कहना है कि "भारत के कारखाने के प्रबंधकों को एक बड़ा लाभ पर्याप्त संख्या में भले मज़दूर मिलने का है। इन मज़दूरों को योग्य निरीक्षकों द्वारा विभिन्न प्रकार के पेचीदा यन्त्रों को चलाने और उनको भली प्रकार चलते रखने की शिक्षा दी जा सकती है। सुव्यवस्थित कारखानों में प्रति मज़दूर का उत्पादन अमरीकन स्टैन्डर्ड से भी संतोषजनक है।" जनरल मोटर्स लिमिटेड के जनरल मैनेजर का कहना था कि "प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद, एक भारतीय मज़दूर उतना ही कुशल होता है जितना कि एक औसत अमरीकन मज़दूर।" युद्ध महायुद्ध का भी अनुभव यही है कि भारतीय कुशल और अर्द्ध कुशल मज़दूर परिवर्तित परिस्थितियों में अपने आप को उनके अनुकूल बना सकता है और अत्यन्त पेचीदा वस्तुओं का उत्पादन भी वह कर सकता है।

भारतीय मज़दूर की कुशलता के बारे में जो कुछ हमने ऊपर लिखा है उसका सार यह है कि समान परिस्थितियों में भारतीय मज़दूर उतना ही कुशल हो सकता है जितना दुनिया का अन्य कोई मज़दूर। परन्तु साथ ही साथ हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आज जिन परिस्थितियों में अधिकांश भारतीय मज़दूर काम करता है वह दूसरे देश के मज़दूरों की परिस्थितियों की तुलना में बहुत असंतोषजनक है, चाहे फिर उनके काम करने की परिस्थितियों का सवाल हो अथवा उसके घर के रहन-सहन की या उसके शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन आदि की परिस्थितियों का ही सवाल हो। अस्तु, आज हमारे देश के हम सब की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम उन परिस्थितियों में सुधार करें जिनमें हमारा मज़दूर रहता है और काम करता है। जब तक यह नहीं होगा हमारी

कार्य-कुशलता भी वास्तव में अन्य देशों के मजदूरों की अपेक्षा कम रहेगी। और आज तो अधिकतर मजदूरों की यही स्थिति है, इस बात को भी हमें भूलना नहीं चाहिये। दूसरे शब्दों में भारतीय मजदूर में जन्म जात ऐसी कोई कमी नहीं है जिसके कारण उसकी कार्य-कुशलता अन्य देशों के मजदूरों की तुलना में कम रहे, पर आज तो वह दूसरे देश के मजदूरों की तुलना में अवश्य ही कम कार्य-कुशल है क्योंकि उसको जो साधन और सुविधाएँ आज उपलब्ध है वह उसकी कार्य-कुशलता के समुचित विकास की दृष्टि से बहुत ही अपर्याप्त हैं।

प्रत्येक नए क़ानून में पहले की अपेक्षा बहुत कुछ सुधार होता रहा है। इस समय जो क़ानून देश में लागू है वह १९४८ में पास हुआ था। इस १९४८ के फैक्टरी एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं :—

क्षेत्र—यह एक्ट उन तमाम औद्योगिक कारख़ानों पर लागू होता है जहाँ, यदि शक्ति का प्रयोग होता है तो दस या दस से अधिक और अन्यथा बीस या बीस से अधिक मज़दूर काम करते हैं। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि काम करने वालों की संख्या का अथवा शक्ति के उपयोग का ध्यान रखे बिना ही वे किसी भी कारखाने पर इस एक्ट को लागू कर सकती हैं। इस संबंध में एक अपवाद अवश्य है कि यदि किसी कारखाने में परिवार के सदस्यों के द्वारा ही काम होता है तो उस पर यह एक्ट लागू नहीं किया जा सकता। मौसमी और सालभर चलने वाले कारखानों में जो अब तक भेद था वह इस एक्ट में नहीं रहा है।

स्वास्थ्य, रक्षा और भलाई—इस एक्ट में मजदूरों के स्वास्थ्य-सम्बन्धी कई धारायें हैं जिनका उद्देश्य है कारखाने में सफ़ाई रखना, उत्पादन-क्रिया के समय उत्पन्न होने वाली गन्दगी को हटाना, शुद्ध हवा और उचित ताप मान का प्रबन्ध करना, गर्मियों में पीने के लिए ठंडे जल की व्यवस्था करना, कृत्रिम उपायों द्वारा पैदा की गई नमी की मात्रा को अत्यधिक न होने देना, प्रकाश, शौच-गृह और पेशाब-घरों की व्यवस्था करना, भीड़ को रोकने का प्रबंध करना तथा थूकने के लिए जगह-जगह स्पिटून्स की व्यवस्था करना। भीड़ को रोकने के लिए एक्ट में यह अनिवार्य कर दिया गया है कि एक्ट के लागू होने के पश्चात् जो फैक्टरी बनी हो उसमें प्रति मजदूर ५०० क्यूबिक फीट और दूसरी फैक्टरियों में ३५० क्यूबिक फीट कम से कम स्थान होना चाहिये।

एक्ट में मजदूरों की रक्षा सम्बन्धी भी कई धाराएँ हैं। जैसे मशीन के चारों ओर घेरा करना, जब मशीन चल रही हो और उसके चारों ओर घेरा न हो तो उस पर काम करने अथवा उसके निकट जाने पर रोक लगाना, ख़तरनाक मशीनों पर बालकों के काम करने पर प्रतिबन्ध लगाना, स्वचालित मशीनों के आस-पास पर्याप्त स्थान छोड़ना ताकि जब वे काम कर रही हों तो जगह की कमी के कारण कोई दुर्घटना न हो सके; नई मशीन को सुरक्षित रखने का दायित्व मिल-मालिक के साथ-साथ मशीन बेचने वाले पर भी डालना। ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनका मजदूरों की रक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो फैक्टरी एक्ट में समाविष्ट की गई हैं। इनके अलावा रक्षा संबंधी और भी धाराएँ हैं। उत्पादन करते समय कई प्रकार की धूल पैदा होती है या ऐसी गैस आदि काम में आती

है जो आसानी से आग पकड़ लेती है। एक्ट में इससे बचने के उपायों की आवश्यक व्यवस्था करने के लिए कहा गया है। इसी प्रकार आग से बचने, आँखों की रक्षा करने, अत्यधिक बोझ उठाने, गिर पड़ने आदि संबंधी बातों का भी एक्ट में उल्लेख किया गया है। फैक्टरी की इमारत ठीक बनी हुई हो और उससे कोई खतरा न पैदा हो यह भी ध्यान रखा गया है। क्रेन तथा इसी प्रकार की दूसरी बोझ उठाने वाली मशीनों संबंधी भी कुछ नियम हैं ताकि उनके कारण कोई दुर्घटना न हो सके। यही बात होइस्ट्स और लिफ्ट्स के विषय में है। सारांश यह है कि मजदूरों की रक्षा से सम्बन्ध रखने वाली कई धाराएँ इस एक्ट में हैं।

एक्ट में मजदूर-हित की कई बातों का भी समावेश किया गया है। हर फैक्टरी में हाथ-पाँव धोने के लिए जल की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। काम करते समय जिन मज़दूरों को खड़ा रहना पड़ता है। उन्हें यदि काम के बीच में थोड़ा विश्राम मिल जावे तो उस समय वह बैठ सकें इसकी सुविधा भी होनी चाहिये। हर १५० मज़दूरों के पीछे तात्कालिक चिकित्सा का एक बक्स होना चाहिये और ५०० से अधिक मजदूर जहाँ काम करते हों वहाँ एक एम्बूलेंस का कमरा भी होना चाहिये। राज्य की सरकारों को इस बात का अधिकार है कि जिस कारखाने में २५० से अधिक व्यक्ति काम करते हों वहाँ जलपान-गृह की व्यवस्था करने के लिए वे मिल-मालिक को आदेश दे सकें। ठीक खाना-पीना मिले इस बारे में नियम बनाने का भी सरकार को अधिकार है। इसी प्रकार जहाँ १५० से अधिक मजदूर काम करते हों वहाँ ऐसे विश्राम-गृह की, जिनमें पीने के पानी और भोजन करने का स्थान हो, व्यवस्था होना अनिवार्य है। शिशुगृह के बारे में इस एक्ट में जो धारा है उसके अनुसार प्रत्येक फैक्टरी में जहाँ ५० से अधिक स्त्रियाँ काम करती हैं एक शिशु-गृह होना आवश्यक है। हर कारखाने में जहाँ ५०० या इससे अधिक मज़दूर काम करते हैं, मिल-मालिक के लिए मजदूर हितों की देखरेख रखने वाले वेल्फेयर ऑफिसर्स नियुक्त करना भी इस एक्ट में अनिवार्य कर दिया गया है।

बालकों की सेवा-नियुक्ति—बालकों की सेवा-नियुक्ति [एम्प्लायमेंट] की न्यूनतम आयु १४ वर्ष करदी गई है और १४ और १५ वर्ष की आयु वाले बालकों की श्रेणी में, और उससे अधिक आयु के पर १८ वर्ष तक की आयु के तरुण [एडोलिसेंट] माने गए हैं। बालकों और तरुणों की डाक्टरी परीक्षा, न केवल सेवा-नियुक्ति के समय बल्कि प्रतिवर्ष आवश्यक करदी गई है, और उनके लिए योग्यता का डाक्टरी प्रमाण-पत्र प्राप्त करना और उसे प्रति वर्ष बदलवाना

भी आवश्यक है।

काम के घंटे:—प्रौढ़ों के लिए सप्ताह में अधिक से अधिक ४८ घंटे और किसी एक दिन में अधिक से अधिक ६ घन्टे निश्चित हैं। दिन भर में काम के लिए अधिक से अधिक १०½ घंटे का समय [स्प्रेड ओवर] निश्चित है। बालक हो या वह तरुण, जिसे प्रौढ़ की तरह काम करने का डाक्टरी प्रमाण-पत्र नहीं मिला है, दिन भर में अधिक से अधिक ४½ घन्टे काम कर सकता हैं। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि विशेष स्थिति में काम के घन्टे तथा साप्ताहिक छुट्टी आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों से अमुक व्यक्तियों को मुक्त कर दें। परन्तु जहाँ इस प्रकार का अपवाद किया भी जावे वहाँ भी किसी एक दिन में कुल काम के घन्टे १० से अधिक नहीं होने चाहियें। किसी भी एक तिमाही में अतिरिक्त काम का समय ५० घन्टे से अधिक नहीं होना चाहिये और काम के घन्टों का समय १२ घन्टे से अधिक किसी दिन भी नहीं होना चाहिये। स्त्रियाँ और बच्चे सुबह छः बजे से सायंकाल के ७ बजे तक ही किसी फैक्टरी में काम कर सकते हैं।

सवेतन छुट्टीः—[लीव] प्रत्येक प्रौढ़ मज़दूर को, जिसने किसी फैक्टरी में लगातार बारह महीने काम कर लिया है, हर बीस दिन के पीछे एक दिन की सवेतन छुट्टी मिल सकेगी पर साल भर में कम से कम दस दिन की छुट्टी मिलेगी। बालकों के लिए हर पन्द्रह दिन के पीछे एक दिन निश्चित है और साल में कम कम से कम छुट्टी १४ दिन की होगी।

व्यावसायिक रोग:—फैक्टरी-मैनेजर पर एक एक्ट द्वारा यह जिम्मा रखा गया है कि कारखाने में दुर्घटना से कोई मृत्यु हो जाय या किसी के सख्त चोट आजावे या कोई व्यावसायिक रोग किसी को हो जाए तो उसकी सूचना वह दे। जो डाक्टर ऐसे किसी रोगी का इलाज करते हों तो उनका भी कर्त्तव्य है कि वह ऐसे मामलों की सूचना कारखानों के प्रधान इन्स्पेक्टर को देदें। राज्य की सरकारों को यह अधिकार हैं कि वे दुर्घटना अथवा रोग सम्बन्धी कारणों की जाँच करने के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करें।

निरीक्षण-कर्मचारी वर्गः—एक्ट या कारखानों द्वारा समुचित पालन होता है या नहीं इसके निरीक्षण का काम निरीक्षण-कर्मचारी-वर्ग पर है। निरीक्षकों [इन्सपेक्टर्स] की नियुक्ति राज्य की सरकारों द्वारा की जाता है। कोई भी व्यक्ति जो किसी फैक्टरी से किसी प्रकार से सम्बधित है, निरीक्षक नहीं हो सकता। नियमित कर्मचारी वर्ग के अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट आदि अन्य पदाधिकारियों को भी फैक्टरी-निरीक्षक के अधिकार दे दिये जाते हैं। फैक्टरी-इनस्पेक्टरों को अपने अधीन किसी भी फैक्टरी के निरीक्षण करने का पूरा-पूरा अधिकार है

और इस सम्बन्ध में तमाम आवश्यक पूछ-ताछ करने और रजिस्टर आदि देखने का भी उनको अधिकार है। भारत-सरकार का फैक्टरी एक्ट को पालन कराने का कोई कर्तव्य नहीं है, पर फिर भी उन्होंने सलाह प्राप्त करने की दृष्टि से चीफ़ एडवायज़र फैक्टरीज का एक दफ्तर स्थापित कर रखा है।

१९४८ के फैक्टरी एक्ट की एक विशेषता यह है कि जहाँ १९३४ के एक्ट में बहुत-सी बातें राज्य की सरकारों पर, जिन्हें एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाने के अधिकार थे, छोड़ दी गई थीं, इस एक्ट में मजदूरों की स्वास्थ्य-रक्षा और भलाई सम्बन्धी कम से कम आवश्यकताओं का एक्ट में ही समावेश कर लिया गया है।

मध्यप्रान्त और मद्रास के अनियंत्रित फैक्टरी-क़ानून:—१९३४ का फैक्टरी क़ानून उन्हीं कारखानों में लागू होता था जहाँ २० या इससे अधिक आदमी काम करते हों और यांत्रिक शक्ति का (बिजली, भाप, गैस) उपयोग होता हो। प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार अवश्य था कि वे ऐसे स्थानों पर भी यह एक्ट लागू कर दें जहाँ १० या उससे अधिक आदमी काम करते हों फिर वहाँ यांत्रिक शक्ति का उपयोग होता हो या न होता हो। कई प्रान्तीय सरकारों ने अपने इस अधिकार का उपयोग भी किया। शाही मजदूर कमीशन (१९३१) ने यह सिफ़ारिश की थी कि जिन कारखानों में यांत्रिक शक्ति का उपयोग नहीं होता है उनके नियंत्रण के लिए एक पृथक् क़ानून ही बन जाना चाहिये। यद्यपि भारत-सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई देशव्यापी क़ानून नहीं बनाया, पर मध्य-प्रान्त की सरकार ने १९३७ में और मद्रास सरकार ने १९४७ में इस प्रकार के क़ानून अवश्य बनाए। इन क़ानूनों का उद्देश्य उन फैक्टरियों में जिनमें १९३४ का फैक्टरी एक्ट लागू नहीं होता था, काम करने वाले मजदूरों के काम करने की परिस्थितियों का नियंत्रण करना था। मध्य-प्रान्त का क़ानून १९३४ के फैक्टरी एक्ट से बाहर के उन कारखानों में लागू होता है जिनमें ५० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, और जहाँ बीड़ी बनाना, लाख तैयार करना और चमड़ा कमाने का धन्धा होता हो। सरकार को यह भी अधिकार है कि वह यह क़ानून दूसरे धन्धों में लागू करदे। मद्रास का क़ानून मध्य प्रान्त के क़ानून की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक है। यह कुछ ऐसे निश्चित धन्धों और दस्तकारियों पर लागू होता है जहाँ १० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं और जो १९३४ के फैक्टरी एक्ट के क्षेत्र के बाहर हैं। सरकार को यह अधिकार है कि वह इस क़ानून का क्षेत्र व्यापक करदे। मध्य प्रान्त के क़ानून में अधिक से अधिक एक दिन में काम के घण्टे प्रौढ़ों के लिए १०, स्त्रियों के लिए ९ और

बालकों के लिए ७ निश्चित किये गये हैं और पाँच घण्टे के लगातार काम के पश्चात् कम से कम आधे घण्टे का विश्राम आवश्यक है। १० वर्ष से कम आयु के बालक को काम पर नहीं लगाया जा सकता और १४ वर्ष की आयु तक वह बालक की श्रेणी में ही गिना जाता है। स्त्रियों और बालकों को किस समय काम पर लगाया जा सकता है इसका भी नियन्त्रण किया गया है। साप्ताहिक अवकाश (होली डे) की भी एक्ट मे व्यवस्था है। मद्रास एक्ट में काम के घण्टे दिन में अधिक से अधिक ६ और सप्ताह में ४८ तथा दिन भर में काम के कुल समय का विस्तार १० घण्टे निश्चित किया गया है। साप्ताहिक अवकाश की भी एक्ट में व्यवस्था है। बाहर महीने की लगातार सेवा के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति १२ दिन की सवेतन छुट्टी ले सकता है। १२ दिन की बीमारी की और १२ दिन की आकस्मिक छुट्टी भी साल भर में हर एक व्यक्ति को मिल सकती हैं। स्वास्थ्य और रक्षा सम्बन्धी धाराएँ भी एक्ट में दी गई हैं।

१६४८ के फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत अब उन कारखानों का समावेश भी हो गया है जहाँ यांत्रिक शक्ति का प्रयोग नहीं होता है और २० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं। इसलिए अलग-अलग राज्यों में इस प्रकार के क़ानून बनने की आवश्यकता अब नहीं रही है।

भारतीय खान क़ानून—भारतीय खान कानून सबसे पहले १६०१ में पास किया गया था। उसके पश्चात् १६२३ में एक नया क़ानून पास हुआ। इस क़ानून में भी कई बार संशोधन हो चुके हैं। शाही मज़दूर कमीशन द्वारा की गई सिफ़ारिशों को ध्यान में रखते हुए १६३५ में इस कानून में काफ़ी महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये। उसके पश्चात् भी कई बार इस क़ानून में संशोधन हो चुके हैं। इस समय जो क़ानून है उसकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

(क) यह क़ानून सब खानों पर लागू होता है। 'खान' की क़ानून की परिभाषा भी दे दी गई है। उसके अनुसार कोई भी खुदाई जो खनिज पदार्थ ढूँढ़ने और प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाए, खान की परिभाषा में आ जाती है।

(ख) जो व्यक्ति भूमि पर काम करते हैं वे दिन में अधिक से अधिक १० घण्टे और सप्ताह में अधिक से अधिक ५४ घण्टे काम कर सकते हैं। काम करने के कुल समय का विस्तार अधिक से अधिक १२ घण्टे निश्चित किया गया है जिसमें ६ घण्टे काम करने के पश्चात् एक घण्टा विश्राम का भी शामिल है। जो खान के अन्दर काम करते हैं उनके लिए साप्ताहिक काम के घन्टे तो इतने ही हैं जितने खान के ऊपर काम करने वालों के लिए, पर दिन भर में काम के घण्टे और कुल

काम के समय के विस्तार में अन्तर किया गया है और इन दोनों ही का अधिकतम समय ६ घण्टे निश्चित किया गया है। कोई भी व्यक्ति खान में सप्ताह भर में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता। जो व्यक्ति देखभाल और प्रबन्ध आदि का काम करते हैं उन पर उपर्युक्त प्रतिबन्ध लागू नहीं होते।

(ग) १५ वर्ष से कम आयु के बालक को काम पर नहीं लगाया जा सकता और १७ वर्ष से कम आयु वालों को भूमि के नीचे उसी दशा में काम करने की इजाज़त है जब कि वे उसके लिए डाक्टरी जाँच से योग्य ठहराये जायँ।

(घ) स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की मनाही ७ मार्च, १६२६ को बने नियम के अनुसार की गई थी, और १ जुलाई १६३६ तक सब स्त्रियाँ खान के अन्दर काम करना बन्द करदें यह आवश्यक था। परन्तु युद्ध के समय कोयले की कमी के कारण भारत सरकार ने अस्थायी रूप से स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की फिर आज्ञा दे दी। १ फरवरी १६४६ से यह आज्ञा रद्द हो गई है और अब स्त्रियों को खानों के अन्दर काम करने की आज्ञा नहीं है।

(ङ) खान क़ानून में पानी के लिए यथेष्ट जल, चिकित्सा के साधन और उपयुक्त सफ़ाई सम्बन्धी व्यवस्था करने के लिए आवश्यक धाराओं का समावेश किया गया है। स्नान के लिए पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग-अलग प्रबन्ध करना अनिवार्य है। कानून के अनुसार शिशु-गृह के लिए भी व्यवस्था करना आवश्यक है।

(च) खान-मज़दूरों की सुरक्षा की दृष्टि से एक्ट के तत्वावधान में बहुत से नियम बनाए गये हैं।

(छ) इस एक्ट को पालन कराने का ज़िम्मा केन्द्रीय सरकार का है जो खानों का चीफ़ इन्सपेक्टर नियुक्त करती है और उसके अधीन और बहुत से निरीक्षक होते हैं। केन्द्रीय सरकार को नियमादि बनाने का भी अधिकार है। प्रमुख खान-प्रदेशों में खान मंडल (माइनिंग बोर्ड) स्थापित किये जा सकते हैं। इन मंडलों में मज़दूर, खान-मालिक और सरकार तीनों के प्रतिनिधि होते हैं। इनका काम खानों सम्बन्धी नियम आदि बनाना तथा दूसरे मामलों में सरकार के चाहने पर उनकी सहायता करना है।

खान सम्बन्धी क़ानून में और संशोधन करने की बात सरकार के विचाराधीन है। इस प्रश्न पर कोयले की खानों सम्बन्धी औद्योगिक समिति (इन्डस्ट्रियल कमेटी ऑफ़ कोल माइनिंग) ने भी विचार किया था और कुछ सिफ़ारिशें की थीं जो सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत की गई थीं। उनके आधार पर कुछ संशोधनों

के साथ दिसम्बर १६४६ में खान-मज़दूरों सम्बन्धी बिल संसद में पेश किया जा चुका है। इस बिल ने अभी क़ानून का रूप नहीं लिया है।

बागों में काम करने वाले मज़दूरों सम्बन्धी क़ानून :—आसाम के चाय के बागों में प्रारम्भ से ही मज़दूरों के अभाव की समस्या रही। क़ानून की सहायता से इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया। सन् १८६३ से १६०१ तक इस सम्बन्ध में जो क़ानून पास हुए वे मज़दूरों की अपेक्षा बागों के मालिकों के स्वार्थों की अधिक रक्षा करने वाले थे। उन्होंने अनुबद्ध (इंडेंचर्ड) मज़दूरों की एक ऐसी दूषित प्रथा को जन्म दिया जिनके अनुसार प्रसविदा भंग (ब्रीच ऑफ़ कान्ट्रेक्ट) के अपराध में मज़दूरों को सज़ा दी जा सकती थी और बाग के मालिकों को उन्हें गिरफ़्तार करने का अधिकार था। आखिरकार १६०१ में आसाम-मज़दूर और प्रवासी क़ानून पास किया गया। इसका उद्देश्य आसाम के बागों के लिए अनुबद्ध मज़दूर की भर्ती का नियंत्रण करना था। १६०८ और १६१५ में इस क़ानून में संशोधन किये गये। इन क़ानूनों का एक लक्ष्य अनुबद्ध मज़दूर-प्रणाली का अन्त करना था। पर वास्तव में इस प्रणाली का अन्त १६२६ में हुआ जबकि मज़दूर प्रसंविदा भंग क़ानून (वर्कमेन्स ब्रीच ऑफ़ कान्ट्रेक्ट एक्ट) रद्द कर दिया गया। शाही मज़दूर कमीशन ने भी आसाम के बागों के लिए मज़दूरों की भरती के प्रश्न पर विचार किया था और कई सुझाव भी प्रस्तुत किये थे। इन सुझावों को ध्यान में रखते हुए ही १६३२ में 'टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेशन लेबर एक्ट' पास किया गया और १ अक्टूबर १६३३ से यह एक्ट लागू किया गया। यह एक्ट आसाम के बागों में काम करने वाले मज़दूरों की भरती और उन्हें आसाम भेजने के सम्बन्ध में है। चाय के बागों में मज़दूरों के काम करने की परिस्थिति का यह एक्ट नियंत्रण नहीं करता है। इस क़ानून की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—

(क) राज्य की सरकारें केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में किसी भी क्षेत्र को नियंत्रित प्रवास-क्षेत्र (कन्ट्रोल्ड एमीग्रेशन एरिया) घोषित कर सकती हैं। इन क्षेत्रों से सहायता प्राप्त प्रवासी (एसिस्टेड एमीग्रेन्ट्स) लायसेंस प्राप्त एजेन्टों के द्वारा ही, जो बाग के किसी मालिक की ओर से काम करते हैं, आसाम भेजे जा सकते हैं। ये उन्हीं निश्चित मार्गों से जिन पर एजेन्ट ने भोजन और ठहरने आदि की व्यवस्था कर रखी है, आसाम भेजे जा सकते हैं।

(ख) केन्द्रीय सरकार की अनुमति से राज्य की सरकारें किसी भी नियंत्रित प्रवास क्षेत्र को या उसके किसी भाग को सीमित भर्ती क्षेत्र (रेस्ट्रिक्टेड रिक्रूटिंग एरिया) भी घोषित कर सकती हैं। इस क्षेत्र में लायसेंस प्राप्त

फोरवर्डिङ्ग एजेन्ट, या लायसैंस प्राप्त भर्ती करने वाला, या बाग का सरदार ही, जिसके पास चाय के बाग के मालिक का प्रमाण-पत्र हो, किसी व्यक्ति को सहायता प्राप्त प्रवासी के तौर पर आसाम जाने के लिए सहायता दे सकता है।

(ग) १६ वर्ष से कम आयु के बालकों को आसाम जाने के लिए उसी दशा में सहायता दी जा सकती है जबकि उनके साथ उनके माता-पिता या अन्य संबंधी जिन पर वे निर्भर हैं, हों। विवाहित स्त्री को, जो अपने पति के साथ रहती है, पति की अनुमति के बिना आसाम जाने की सहायता नहीं दी जा सकती।

(घ) प्रत्येक प्रवासी मज़दूर और उसका परिवार इसका अधिकारी है कि आसाम में तीन वर्ष काम कर लेने के पश्चात् चाय के बाग के खर्च पर वापस अपने घर भेज दिया जाय। विशेष परिस्थिति में उसे जल्दी आने का अधिकार भी है। बाग के मालिक को रेल आदि के किराये के अलावा यात्रा के दिनों का निर्वाह-व्यय भी देना होता है।

(ङ) एक्ट में निश्चित कर्तव्यों को पालन कराने का काम भारत-सरकार द्वारा नियुक्त 'कन्ट्रोलर ऑफ एमीग्रेन्ट लेबर' नाम के अधिकारी का है जिसको एक या अधिक सहायक की सहायता भी मिल सकती है। कन्ट्रोलर अपने दूसरे कामों के साथ साथ प्रवासी मज़दूरों की भर्ती और उनकी वापसी (रिपेट्रियेशन) पर भी निगरानी रखता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह एक्ट बागों के मज़दूरों के काम की परिस्थितियों का नियंत्रण नहीं करता। इस प्रकार के एक क़ानून बनाने का प्रश्न बागों सम्बन्धी औद्योगिक कमेटी के (जो जनवरी १९४७ में स्थापित की गई थी और जिसका काम बाग के मज़दूरों सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना और भारत-सरकार को सलाह देना है) सामने था। बागों सम्बन्धी क़ानून का एक मसविदा भी तैयार किया गया और बागों सम्बन्धी औद्योगिक कमेटी ने अपने तीसरे अधिवेशन (४-५ नवम्बर १९५०) में इस पर विचार किया। जून १९५१ में इस संबंध का बिल पार्लियामेंट में प्रस्तुत किया गया और अक्टूबर १९५१ में वह कानून बन गया। इस क़ानून के बारे में पहली जानने योग्य बात यह है कि इसमें बाग संबंधी कुछ बातों का ही समावेश है और फैक्टरीज़ तथा न्यूनतम मज़दूरी क़ानून अब भी बाग़ उद्योगों पर पूर्ववत् लागू होंगे। इस प्लान्टेशन क़ानून में निम्नलिखित बातों का समावेश किया गया है :—काम के घंटे, साप्ताहिक छुट्टियाँ, पीने का पानी, केन्टीन्स (जलपान-गृह) तथा क्रेशेज़ (शिशुगृह) सबंधी सुविधायें। यह एक्ट चाय, काफी, रबर और सिनकोना के

धाग़ों पर लागू होता है पर भारत सरकार की आज्ञा से राज्य की सरकार दूसरे प्रकार के धाग़ों पर भी इसे लागू कर सकती है।

भारतीय रेलवे एक्ट १८६०—रेलवे में काम करने वाले उन व्यक्तियों के अलावा जिन पर फैक्टरी एक्ट या खानों सम्बन्धी कानून लागू होता है, बाक़ी के लगभग सब लोगों पर भारतीय रेलवे एक्ट लागू होता है। यह एक्ट १६३० में संशोधित हुआ था। जिन लोगों पर यह एक्ट लागू होता है उनको दो श्रेणियों में बाँटा गया है—एक श्रेणी उन लोगों की है जिनका काम निरन्तर चलता रहता है और बीच-बीच में रुकता नहीं है। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिनका काम रुक जाता है। इस एक्ट के अनुसार पहले श्रेणी के लोगों के काम के घंटे महीने के औसत के हिसाब से सप्ताह में ६० और दूसरी श्रेणी के लिए सप्ताह में ८४ निश्चित किये गए हैं। सब रेलवे कर्मचारियों को हर सप्ताह में इतवार के दिन से आरंभ करके कम से कम २४ घन्टे का लगातार विश्राम मिलना आवश्यक है। विश्राम संबधी यह नियम उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के कर्मचारियों और उन दूसरे लोगों पर, जिनके लिए सरकार ने विश्राम का कम समय निश्चित कर रक्खा है, लागू नहीं होता। विशेष परिस्थिति में सरकार को काम के घन्टे और विश्राम सम्बन्धी नियमों से मुक्ति देने का भी अधिकार है। निर्धारित समय से अधिक काम करने पर सवाई मज़दूरी देना आवश्यक है। सरकार को इस एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाने का भी अधिकार है और इन नियमों को 'रेलवे कर्मचारी काम के घन्टों सम्बन्धी नियम' का नाम दिया गया है। एक्ट और नियम दोनों का सम्मिलित नाम 'अवर्स ऑफ़ एम्पलायमेंट रेगूलेशन्स' है।

सन् १६४६ से एक्ट के पालन करने का काम प्रधान लेबर कमिश्नर (केन्द्रीय) और तीनों प्रदेशों के, जिनमें सारा देश बटा हुआ है, प्रादेशिक लेबर कमिश्नरों को सौंपा हुआ है। इन पदाधिकारियों को रेलवे मज़दूर सुपरवाइज़र्स का नाम दिया गया है और लेबर इन्सपेक्टर्स इनकी सहायता करते हैं।

अप्रेल १६४६ में अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ की मांग पर भारत सरकार ने जस्टिस जी. एस. राज्याध्यक्ष को रेलवे कर्मचारियों की कुछ मांगों पर विचार करने के लिए निर्णायक नियुक्त किया। दैनिक वेतन पाने वाले और छोटे कर्मचारियों के काम के घंटे, विश्राम, अवकाश और उससे सम्बन्धी नियमों के बारे में कुछ मांगे थीं जिन पर विचार किया जाना था। श्री राज्याध्यक्ष ने अपना निर्णय मई १६४७ में दिया। भारत-सरकार ने उनकी काम के घन्टों, विश्राम और अवकाश संचिति [लीव रिज़र्व] सबधी सिफ़ारिशें १८ जून १६४८ से तीन

साल के लिए उन रेलवे कम्पनियों के संबंध में जो शिकायत में शामिल थीं, स्वीकार करलीं।

भारतीय वणिक पोत एक्ट [मर्चेंट शिपिंग एक्ट] १९२३—जहाजों पर काम करने वालों (भारतवासियों) के काम की परिस्थितियों का नियन्त्रण इस एक्ट के अनुसार होता है। इस एक्ट के मुख्य-मुख्य प्रावधान यहाँ दिये जाते हैं :—

(क) इस एक्ट के अनुसार अंग्रेज़ी या विदेशी जहाज़ पर काम करने वाले लोगों की भर्ती जहाज़ के मालिक के द्वारा नौ-अधिकारी [शिपिंग मास्टर] की उपस्थिति में एक्ट में वर्णित पद्धति के अनुसार की जाती है। भरती के समय प्रत्येक अंग्रेज़ी जहाज़ के मालिक और जहाज़ पर काम करना चाहने वाले में एक संविदा होता है। संविदा में यात्रा के विवरण, काम की शर्तें और भृति [वेजेज़] आदि के बारे में धाराएँ होती हैं। पर २०० टन से कम के घरेलू-व्यापार के ब्रिटिश जहाज़ों पर काम करने वालों के साथ इस प्रकार का संविदा नहीं करना पड़ता है। विदेशी जहाज़ के मालिक को अगर किसी भारतीय बन्दरगाह पर विदेशी यात्रा के लिए कोई व्यक्ति भर्ती करना होता है तो उसके लिए भी इस प्रकार संविदा करना अनिवार्य है।

यह भी आवश्यक है कि विदेश जाने वाले ब्रिटिश जहाज़ों पर काम करने वालों को नौ-अधिकारी के सामने ही कार्यमुक्त किया जाय और कार्यमुक्ति का प्रमाण-पत्र दिया जाय। प्रत्येक जहाज़ के मालिक को जहाज़ पर काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रमाण-पत्र भी देना होता है जिसमें उसका काम कैसा रहा और संविदा की शर्तों का उसने पालन किया या नहीं इसका उल्लेख रहता है।

(ख) कुछ अपवादों को छोड़ कर बालकों को काम पर लगाने की एक्ट में मनाही है। १८ वर्ष से कम आयु के तरुण को भारत में रजिस्टर्ड किसी भी जहाज़ में कुछ निश्चित शर्तों की अवस्था को छोड़ कर ट्रिमर्स या स्टोकर्स का काम नहीं दिया जा सकता।

(ग) एक्ट में जहाज़ पर काम करने वाले लोगों को समय पर मज़दूरी चुकाने, मज़दूरी चुकाने में निर्धारित समय से अधिक देर हो जाने पर उसकी क्षति-पूर्ति करने, मज़दूरी में से कटौती करने और समय से पहले संविदा समाप्त किये जाने पर मज़दूरी मिलने सम्बन्धी बातों का भी उल्लेख है।

(घ) जल तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएँ मिलने के समुचित प्रबंध, बीमारी अथवा दुर्घटना के समय दवा और चिकित्सा की व्यवस्था और रहने के स्थान के विषय में भी एक्ट में आवश्यक प्रावधान (प्रोविज़न्स) हैं।

(ङ) एक्ट में और प्रावधान भी हैं जो जहाज़ पर काम करने वालों के अनुशासन, उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी संपत्ति के बारे में निर्णय, और आपत्ति-ग्रस्त जहाज़ पर काम करने वालों की सहायता से सम्बन्ध रखते हैं।

(च) एक्ट के पालन कराने का काम नौ-अधिकारियों (शिपिंग मास्टर्स) और उप-नौ-अधिकारियों का है। जहाँ नौ-कार्यालय (शिपिंग आफ़िस) नहीं होता वहाँ कस्टम्स कार्यालय को यह काम सौंपा जाता है। नौ-अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि जहाज़ पर काम करने वालों कि नियुक्ति और बर्खास्तगी के विषय में एक्ट के अनुसार कार्य होता है और समय पर वे जहाज़ पर उपस्थित हो जाते हैं, आदि मामलों की देख-रेख रखें।

(छ) इस एक्ट का १९४९ में जो संशोधन हुआ है उसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को भारत में बन्दरगाहों पर जहाज़ों पर काम करने वालों के एम्पलायमेंट ऑफ़िसेज स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इनका काम समुद्री मज़दूरों की पूर्ति का उचित नियन्त्रण करना होगा ताकि ऐसे मज़दूरों की आवश्यकता से अधिक संख्या होने से सबको ही नम्बरवार काम मिलने की व्यवस्था की जा सके।

नौ निवेश (डाक्स) में काम करने वालों (सेवायुक्ति नियंत्रण) सम्बन्धी एक्ट (१९४८)—नौनिवेश में काम करने वाले मज़दूरों की एक प्रमुख समस्या यह रही है कि उनके काम में निश्चितता और नियमितता का अभाव है। इस समस्या का निराकरण करने की दृष्टि से ही उक्त क़ानून १९४८ में पास किया गया। इस एक्ट के अन्तंगत बड़े-बड़े बन्दरगाहों के लिये भारत सरकार को और दूसरे बन्दरगाहों के लिये राज्य की सरकारों को डॉक-मज़दूरों के रजिस्ट्रेशन की योजना बनाने का अधिकार दिया गया है ताकि उसके काम में अधिक नियमितता लाई जा सके और उन्हें यह भी अधिकार दिया गया हैं कि वे सब डॉक मज़दूरों के (रजिस्टर्ड हों या न हों) काम को और काम की शर्तों और परिस्थितियों को नियन्त्रित करने की योजना बना सकें। इस प्रकार जो भी योजना बनाई जाए उसमें मज़दूरों की भर्ती के नियन्त्रण सम्बन्धी और रजिस्ट्रेशन सम्बन्धी व्यवस्था को अवश्य स्थान होना चाहिये। मज़दूरी की दर, काम के घन्टे, सवेतन अवकाश, जिन डॉक-मज़दूरों पर योजना लागू नहीं होती उनको काम में लगाने सम्बन्धी रोक, मर्यादा अथवा नियन्त्रण, डॉक-मज़दूरों की शिक्षा और भलाई, उनके स्वास्थ्य और रक्षा की व्यवस्था, और योजना के अन्तर्गत आने वाले डॉक-मज़दूरों को उस समय की जब उन्हें काम अथवा पूरा काम न मिले, न्यूनतम मज़दूरी देने सम्बन्धी बातों का भी योजना में समावेश किया जाता है। एक्ट के अनुसार एक ऐसी सलाहकार समिति का निर्माण भी आवश्यक है जो डॉक-मज़दूरों की

६ बजे पश्चात् बालकों के काम करने की मनाही है।

(ङ) बम्बई के क़ानून में सरकार को यह अधिकार है कि भारत-सरकार के न्यूनतम मज़दूरी कानून को दुकानों आदि पर लागू करदे। मज़दूरी चुकाने का समय कहीं-कहीं अधिक से अधिक १ महीना (मद्रास, उ प्र) और कहीं-कहीं अधिक से अधिक १५ दिन (पंजाब) निश्चित है। समय पूरा होने के बाद एक निश्चित समय के अन्दर-अन्दर, जो कहीं ५ (मद्रास), कहीं ७ (उ. प्र.) और कहीं १० दिन (आसाम) तक का है, मज़दूरी चुका देना आवश्यक है। निर्धारित समय से अधिक समय काम करने पर मज़दूरी की दर सवाई (बंगाल), ड्योढ़ी (बम्बई, म प्र), और दुगनी (मद्रास, उ. प्र., पंजाब) तक देनी होती है। मद्रास, और उत्तर-प्रदेश क़ानूनों में अर्थ दंड और मज़दूरी में से कटौती के बारे में भी प्रावधान हैं। काम से मुक्त करने के बारे में भी एक महीने (उ. प्र., पंजाब, मद्रास, म प्र) पूर्व सूचना या उसका वेतन देना आवश्यक है। बम्बई के क़ानून में १४ दिन का नोटिस या उतने समय का वेतन देना निश्चित है। मद्रास और बम्बई के क़ानूनों में सफ़ाई, हवा, रोशनी और आग लगने पर उससे बचने के उपायों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था है।

साप्ताहिक अवकाश (होली डे) क़ानून (१६४२)—यह कानून भारत-सरकार ने पास किया था और उन्हीं राज्यों में, जहाँ की सरकारों ने ऐसी घोषणा की हो, यह क़ानून लागू होता है। बिहार, अजमेर, कुर्ग, उड़ीसा में यह क़ानून लागू किया भी जा चुका है। जिन राज्यों में दुकानों आदि में काम करने वाले लोगों के बारे में कोई अपना क़ानून नहीं है उन्हीं के लिए यह क़ानून है। इसके अनुसार सप्ताह में एक दिन दुकानें बन्द रखना आवश्यक है। राज्य की सरकारें यदि चाहें तो आधे दिन की छुट्टी और कर सकती हैं।

भारतीय नौनिवेश-मज़दूर क़ानून (१६३४)—यह क़ानून १६३४ में पास हुआ पर १० फ़रवरी १६४८ को लागू हुआ। इसका उद्देश्य नौनिवेशों में माल उतारने और चढ़ाने का काम करनेवाले मज़दूरों की दुर्घटनाओं से रक्षा करना है। इस कानून के अन्तर्गत जो रेगूलेशन्स बने हैं उनमें और बातों के साथ-साथ इन बातों की भी व्यवस्था की गई है:—काम करने के स्थानों और उन तक जाने वाले रास्तों की सुरक्षा; उनकी रोशनी और घेरेबन्दी; जहाज़ों तक आने-जाने के साधन; जल-मार्ग से मज़दूरों को जहाज़ तक सुरक्षित ढंग से आने जाने की व्यवस्था; मशीनों के सुरक्षित ढग से काम करने की व्यवस्था; मशीनों की घेरा-बन्दी; और तत्काल चिकित्सा के लिए आवश्यक साधनों, एम्बूलेंस और डूबते हुए लोगों को बचाने के साधनो का प्रबन्ध। एक्ट का पालन कराने के लिए

राज्य की सरकारों द्वारा निरीक्षक नियुक्त किए जाते हैं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के लिए नौनिवेश-सुरक्षा-निरीक्षकों की नियुक्ति भी की गई है।

'कोल माइन्स [कनजरवेशन एण्ड सेफ्टी] एक्ट' १९५२—कोयले की खानों में काम करने वाले मज़दूरों की सुरक्षा की दृष्टि से १९३९ में 'कोल माइन्स सेफ्टी (स्टोइंग) एक्ट' पास किया गया था। इस एक्ट के अनुसार एक ऐसे कोष का निर्माण किया गया था जिसमें से कोयले की खानों में से कोयला निकाल लेने के बाद जो गड्ढे रह जाते हैं उनको भरने (स्टोइंग) में होने वाले खर्च में सहायता की जा सके। इस एक्ट के अनुसार 'स्टोइंग सेस' नाम का एक कर भी लगाया गया था जिसकी आय उक्त कोष में जमा होती थी। इस कोष की व्यवस्था का भार 'कोल माइन्स स्टोइंग बोर्ड' पर था। जनवरी १९५२ में भारत सरकार ने 'कोल माइन्स (कनज़रवेशन एंड सेफ्टी) आरडिनेंस' प्रकाशित किया जिसकी एक धारा के अनुसार 'कोल माइन्स सेफ्टी (स्टोइंग) एक्ट', १९३९ रद्द कर दिया गया और इस क़ानून के अन्तर्गत स्थापित 'स्टोइंग बोर्ड' भंग कर दिया गया। फरवरी, १९५२ में भारत सरकार ने आर्डिनेन्स के स्थान पर पार्लियामेंट से एक क़ानून पास कर दिया जिसका नाम 'कोल माइन्स [कनज़रवेशन एंड सेफ्टी] एक्ट', १९५२ है।

उपरोक्त एक्ट का उद्देश्य ऊँचे दर्जे (मेटेलरजिकल) के कोयले को अपव्यय से बचाना और कोयले की खानों में सुरक्षा की व्यवस्था करना है। इस एक्ट के अन्तर्गत एक 'कोल बोर्ड' के स्थापना संबंधी धारा है। इस धारा के अनुसार 'कोल बोर्ड' की स्थापना सरकार द्वारा संबंधित आर्डिनेन्स के प्रकाशित होते ही करदी गई थी। बोर्ड में सभापति के अलावा तीन सदस्य हैं। पर सदस्यों की संख्या चार तक बढ़ाई जा सकती है। बोर्ड का कार्यक्षेत्र जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर भारत की सब कोयले की खानों तक, जिनमें सरकार द्वारा संचालित और सरकार की खानें में शामिल हैं, फैला हुआ है। बोर्ड के कार्य कोयले की खानों में सुरक्षा और कोयले के अपव्यय को रोकने की व्यवस्था करने तक ही सीमित हैं। कोयले की खानों संबंधी अन्य विषयों से, जैसे उत्पादन, वितरण, वित्त, मज़दूर हित, खान क़ानून आदि, बोर्ड का कोई संबंध नहीं है। बोर्ड अथवा बोर्ड के कर्मचारियों को इस बात का अधिकार है कि वे किसी भी खान का निरीक्षण कर सकें और आवश्यकतानुसार खानों में रक्षा अथवा कोयले के अपव्यय को रोकने संबंधी व्यवस्था के लिये कार्यवाई करने की खान के मालिकों को आज्ञा दे सकें। कोल बोर्ड को खान में से निकलने वाले कोयले पर उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार है। 'स्टोयिंग' के काम के लिये कोयले पर अब तक

जो कोयले तथा सोफ्ट कोल पर छः आना और हार्ड कोक पर नौ आना टन शुल्क लगता था उसकी मात्रा अब चार आना टन से इस नए कानून के अन्तर्गत बढ़ा दी गई है। इसके अलावा कोकिंग कोल पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क भी लगाया जा सकता है जिसकी दर कुछ चुने हुए दर्जों के कोकिंग कोल पर पाँच रुपये टन और ग्रेड १ के कोकिंग कोल पर दो रुपये टन तक हो सकती है। पर यह शुल्क उन लोगों को वापिस कर दिया जायगा जिनके लिये इस प्रकार के कोयले की अनिवार्यता है या जिनको बोर्ड की आज्ञा से यह कोयला बेचा जाता है। इस अतिरिक्त शुल्क का उद्देश्य यह है कि कोकिंग कोल की अनावश्यक खर्च में रोक लग सके। इस शुल्क से होने वाली आय में से भारत सरकार कोल बोर्ड को बोर्ड का खर्च चलाने के लिये आवश्यक धन देगी पर भारत सरकार आय से अधिक धन बोर्ड को नहीं देगी। एक्ट के अन्तर्गत सरकार को एक सलाहकार समिति नियुक्त करने का भी अधिकार है जो भारत सरकार और बोर्ड को संबंधित मामलों में आवश्यक सलाह देने का काम करेगी। कोल बोर्ड के हिसाब की जाँच 'कन्ट्रोलर एन्ड ऑडिटर जनरल' द्वारा किये जाने की एक्ट में व्यवस्था की गई है।

कोयले और अबरक की खानों के मज़दूरों के हित सम्बन्धी क़ानूनः— 'कोल माइन्स लेबर वेल्फेयर फन्ड एक्ट' सन् १६४७ में पास हुआ। इसके पहले ३१ जनवरी १६४४ को भारत-सरकार ने इस सम्बन्ध में एक अध्यादेश जारी किया था और जब यह एक्ट पास हो गया तो उसने उस अध्यादेश का स्थान ले लिया। इस एक्ट का उद्देश्य कोयले की खानों में काम करने वाले मज़दूरों की भलाई के कामों के लिए अर्थ प्रबंध करना है। एक्ट के अनुसार 'कोल माइन्स लेबर हाउसिंग और जनरल वेलफेयर फन्ड' की स्थापना की गई है। इस फंड के दो स्वतन्त्र विभाग हैं—एक का नाम 'हाउसिंग अकाउन्ट' और दूसरे का 'जनरल वेल्फेयर अकाउन्ट' है। खान से भेजे जाने वाले कोयले या कोक के आधार पर एक्ट में एक उपकर (सेस) लगाने की व्यवस्था की गई है और छः आने प्रति टन कोयला या कोक के हिसाब से यह उपकर इस समय लगाया जाता है। इस फन्ड के द्वारा मज़दूरों की भलाई के जो-जो काम किये जा रहे हैं उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। फन्ड का संचालन भारत-सरकार द्वारा होता है और एक सलाहकार समिति —जिसमें सरकार, खान-मालिक और खान मज़दूरों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हैं—सरकार को सलाह देती है। एक 'कोल माइन्स लेबर हाउसिंग बोर्ड' स्थापित करने की भी एक्ट में व्यवस्था है। इस बोर्ड का काम भारत-सरकार की स्वीकृति से मज़दूरों के लिए फन्ड से

मकान बनाने की योजनाएँ तैयार करना और उनको कार्यान्वित करना है। १६४६ में किये गये एक संशोधन के अनुसार हाउसिंग बोर्ड, के नियंत्रण में वे दूसरे इमारत के काम भी आगए हैं जो जनरल फंड से मज़दूरों की भलाई के कामों के बारे में कराए जाते हैं, जैसे अस्पताल या मातृगृह बनाना आदि। भारत-सरकार को एक कोल-माइन्स लेबर वेल्फेयर कमिश्नर तथा अन्य आवश्यक अधिकारियों को नियुक्ति करने का भी अधिकार है।

अबरक के खान-मज़दूरों के लिए भी 'माइका माइन्स लेबर वेल्फेयर फन्ड एक्ट' १६४७ के अन्तर्गत एक फन्ड स्थापित किया गया है। भारत से निर्यात होने वाले अबरक पर उसके मूल्य के आधार पर निराकम्य (कस्टम) कर लगाने का भारत सरकार को इस एक्ट के अनुसार अधिकार है। कर की अधिक से अधिक दर ६¼ प्रतिशत निश्चित की गई है और इसी कर की आय से फन्ड का निर्माण किया गया है। दो सलाहकार समितियों की नियुक्ति भी एक्ट के अनुसार की जा सकती है। एक समिति बिहार के और दूसरी मद्रास के लिए है। फन्ड के काम के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

पेमेन्ट ऑफ वेजेज एक्ट १६३६—इस क़ानून का उद्देश्य यह है कि मज़दूरों को समय पर वेतन मिल सके और उसमें से मनमाने तौर पर कटौती न की जा सके। यह क़ानून आरम्भ में फ़ैक्टरियों और रेलों में लागू किया गया, पर राज्य की सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इसे दूसरे धन्धों और उद्योगों में भी लागू कर सकते हैं। कोयले की खानों के अलावा दूसरी खानों में भी यह कानून लागू कर दिया गया है। भारत-सरकार की राज्य-पत्र में प्रकाशित एक सूचना के द्वारा यह कानून कोयले की खानों में लागू कर दिया गया है। मद्रास, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, दिल्ली, कुर्ग और पश्चिमी बंगाल में यह कानून दूसरे उद्योगों—जैसे बागों, मोटर-सर्विस आदि में भी लागू किया गया है। इस कानून के अन्तर्गत वही लोग आते हैं जो २००) मासिक से कम पाते हैं।

कानून में 'वेजज़' शब्द की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार बोनस भी इसके अन्तर्गत आ जाता है परन्तु यात्रा-भत्ता, प्रोविडेन्ट फन्ड में दी जाने वाली सहायता आदि की गिनती 'वेजेज़' में नहीं की जाती।

वेतन का समय एक महीने से अधिक नहीं हो सकता, और नक़द रुपयों या नोट में ही (वस्तुओं में नहीं) चुकाया जाना चाहिये। जहाँ एक हज़ार व्यक्तियों से कम काम करते हैं वहाँ वेतन का समय होने के ७ दिन के अन्दर-अन्दर और जहाँ एक हज़ार से अधिक व्यक्ति काम करते हों वहाँ १० दिन के

अन्दर-अन्दर सबको वेतन मिल जाना चाहिये। जो व्यक्ति नौकरी से अलग कर दिया गया हो उसको निकाले जाने के दूसरे दिन तक उसका वेतन अवश्य मिल जाना चाहिये। वेतन छुट्टी के दिन नहीं बाँटा जा सकता।

कानून द्वारा जो कटौती स्वीकृत है (जैसे जुर्माना, गैरहाज़िरी के कारण कटौतरी, मकान का किराया, आय-कर, प्रोविडेन्ट फन्ड की किश्त, अदालती रुपया जो देना हो, मालिक ने जो रुपया पेशगी दे दिया हो, सरकारी समिति का कर्ज़ और अन्य कोई सुविधा के कारण कटौतरी जो कि मालिक द्वारा मज़दूर को पहुँचाई जावे) उसके अतिरिक्त वेतन में से और अधिक कटौती नहीं हो सकती। जहाँ तक जुर्माने का संबन्ध है, कानून द्वारा उसका इस प्रकार नियंत्रण किया गया है—बालकों पर जुर्माना नहीं हो सकता, जुर्माने की रकम किश्तों में या जुर्माना करने के ६० दिन बाद वसूल नहीं की जा सकती, किसी भी महीने में मज़दूरों ने जो वेतन प्राप्त किया है उस पर आध आना प्रति रुपया से अधिक जुर्माना नहीं किया जा सकता, जुर्माने से जो रुपया इकट्ठा हो वह मज़दूरों के हित के किसी काम पर ही व्यय किया जा सकता है जिसकी स्वीकृति मालिकों को सरकार से लेना आवश्यक है, किस दोष में कौनसा जुर्माना हुआ है उसकी सूचना मालिक को नोटिस बोर्ड पर लगानी चाहिये, मज़दूर को जुर्माने के बारे में सफ़ाई देने का अधिकार होना चाहिये और जुर्माना एक रजिस्टर में दर्ज किया जाना चाहिये। कानून की अवहेलना करने पर दण्ड का विधान किया गया है।

फेक्टरियों में फेक्टरी-निरीक्षक कानून पालन कराते हैं। रेलवे तथा दूसरे धन्धों के लिए अलग से इन्सपेक्टर नियुक्त किये जा सकते हैं। इस समय भारत सरकार के प्रधान लेबर कमिश्नर पर रेलवे और खानों में इस कानून के पालन कराने का दायित्व है। दूसरे राज्यों में भी इस सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्था है।

न्यूनतम मज़दूरी क़ानून १६४८—इस एक्ट का उद्देश्य जिन धन्धों पर यह लागू किया जाए उनमें मज़दूर को कम से कम अमुक मज़दूरी तो अवश्य ही मिले, इसका निश्चय करना है। एक्ट में केन्द्रीय अथवा राज्य की सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि अमुक समय तक एक्ट के परिशिष्ट में जिन उद्योगों का नाम है उनमें काम करने वाले मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करदें। यह समय खेती के लिए तीन वर्ष (मार्च १६५१) का और अन्य उद्योगों के लिए दो वर्ष (मार्च १६५०) का था। पर बाद में उद्योगों के लिए एक वर्ष का समय (१६५१ मार्च) इसलिए बढ़ाना पड़ा कि अधिकांश राज्यों में एक्ट के अनुसार

कार्य नहीं हो सका था। अब फिर यह समय मार्च १९५२ तक बढ़ा दिया गया है। यदि राज्य भर में किसी धंधे में १००० से कम काम करने वाले हैं तो उसमें न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करना आवश्यक नहीं है। परिशिष्ट में जिन धन्धों का नाम दिया गया है वे ये हैं—ऊनी गलीचा तैयार करने का धन्धा, शाल बुनने का धन्धा, चावल, आटा या दाल की चक्की, तम्बाखू बनाने और बीड़ी का धन्धा, बाग, तेल की मिलें, किसी स्वायत्त शासन संस्था द्वारा चलाये जाने वाला काम, सड़क या इमारत का काम, पत्थर तोड़ने का काम, लाख का धन्धा, अबरक का धन्धा, सार्वजनिक मोटर-यातायात, चमड़े कमाने का तथा चमड़े का धन्धा, और खेती। सरकार को यह अधिकार है कि यदि वह किसी और भी धन्धे में यह कानून लागू करना आवश्यक समझे तो कर सकती है।

कानून में निम्न प्रकार की मज़दूरी तय करने की व्यवस्था की गई है—न्यूनतम समय दर, न्यूनतम कार्य-दर, प्रत्याभूत (गारन्टीड) समय-दर, और अतिरिक्त समय-दर। इस कानून में यह भी कहा गया है कि मजदूरी नक़द में ही चुकानी होगी, यद्यपि सरकार को इसमें अपवाद करने का अधिकार है।

एक्ट के अन्तर्गत सरकार को समितियाँ और उपसमितियाँ नियुक्त करने का अधिकार भी है जिनका काम सरकार को न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने के संबंध में आवश्यक जाँच के बाद सलाह देना है। इस प्रकार निश्चित मजदूरी में परिवर्तन करने के लिए सलाह देने के वास्ते सरकार को सलाहकार समितियों अथवा उपसमितियाँ नियुक्त करने का और इन समस्त समितियों, उपसमितियों, सलाहकार समितियों और उपसमितियों के कार्य में समन्वय करने की और साधारण रूप से सलाह देने की दृष्टि से एक सलाहकार-मंडल (बोर्ड) नियुक्त करने का भी अधिकार है। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को सलाह देने और प्रान्तीय सलाहकार-मंडलों में समन्वय करने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार मंडल की नियुक्ति करने का भी भारत-सरकार को अधिकार है। उपर्युक्त तमाम समितियों और मंडलों में सरकार, मालिक और मज़दूरों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होना आवश्यक है। जिन धंधों में यह एक्ट लागू किया जाए उनमें दिन भर में काम के घन्टे, सप्ताह में एक छुट्टी और अतिरिक्त समय के काम के लिए मज़दूरी आदि का निश्चय करने का भी सरकार को अधिकार है।

निश्चित पद्धति के अनुसार रजिस्टर आदि रखने, और इन्सपेक्टर आदि की नियुक्ति करने का भी क़ानून में उल्लेख किया गया है।

राज्य की सरकारों के मार्ग-दर्शन के लिए केन्द्रीय सरकार ने नियम बना लिए हैं। केन्द्रीय सलाहकार-बोर्डकी कार्य-पद्धति और निर्माण सम्बन्धी नियम

भी बन चुके हैं। इन नियमों के अनुसार केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना भी हो चुकी है। भारत-सरकार और कई राज्य की सरकारों ने क़ानून के अनुसार एक्ट के अन्तर्गत आनेवाले उद्योगों में काम करनेवाले लोगों के रहन-सहन के खर्च सम्बन्धी जानकारी इकट्ठी करने के लिए कमेटियाँ आदि बनवाई हैं। पर फिर भी सभी राज्यों में अभी तक मज़दूरी निश्चित करने सम्बन्धी आवश्यक व्यवस्था नहीं हो सकी है। यही कारण है कि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है मज़दूरी निश्चित करने का समय उन औद्योगिक मज़दूरों के लिए जो एक्ट के अन्तर्गत आते हैं, मार्च १९५२ तक बढ़ा दिया गया है। कई राज्यों में इस क़ानून के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी तय की जा चुकी है और कइयों में यह लागू अब किया जायगा। जहाँ तक खेतिहर मज़दूरों का सम्बन्ध है एक्ट के अन्तर्गत उनकी न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने का समय भी ३१ दिसबर १९५३ तक बढ़ा दिया गया है। अब तक केवल कच्छ में खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी निश्चित की गई है। और कई राज्यों ने ऐसा करने की इच्छा प्रकट की है।

मजदूर-क्षति-पूर्ति क़ानून, १९२३—यह क़ानून १ जुलाई, १९२४ को लागू हुआ था। उसके बाद इसमें कई बार संशोधन हो चुके हैं। शाही मजदूर कमीशन की सिफ़ारिशों को कार्यन्वित करने के लिए १९३३ में एक संशोधन क़ानून पास किया गया था। उनके पश्चात् भी इस क़ानून में कई बार सशोधन हो चुके हैं। इस क़ानून के मुख्य-मुख्य प्रावधान नीचे दिये गये हैं—

(क) यह क़ानून उन तमाम लोगों पर, जो दफ़्तर में या प्रबन्ध सम्बन्धी काम करते हैं या जिनकी (रेलवे कर्मचारियों के अलावा जिन पर मासिक आय की मर्यादा लागू नहीं होती) मासिक आय ४०० रु० से अधिक है, लागू नहीं होता। मोटे तौर पर धन्धों की दृष्टि से इस क़ानून के अन्तर्गत रेलवे, फ़ैक्टरियों, खानें, नौनिवेश (डॉक्स), कुछ खास इमारती काम; सड़कों, पुल, बांध आदि का काम; तार और टेलीफ़ोन लाइन सम्बन्धी काम; आग बुझाने का काम; जहाज़ पर गैस पैदा करनेवाले स्टेशन; खुदाई का काम; आग बुझाने का काम; जहाज़ पर होने वाला काम जैसे—जहाज़ में माल लादने, जहाज़ से माल उतारने, जहाज की मरम्मत करने, साफ़ करने या रंग करने आदि कामों का समावेश होता है। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि वे इस क़ानून को उन लोगों पर भी, जो आज तक उसके बाहर हैं, लागू करदें यदि उनका काम जोखम भरा समझा जा सके। फ़ैक्टरियों के बारे में ध्यान देने की बात यह भी है कि यह क़ानून या तो वहाँ लागू होता है जहाँ १० आदमी से अधिक काम करते हों और यांत्रिक शक्ति का उपयोग होता हो, या यदि यांत्रिक शक्ति का उपयोग नहीं होता है तो जहाँ

५० से अधिक आदमी काम करते हों। जो व्यक्ति 'एम्पलोईज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट', १६४८ के अन्तर्गत आता है और उसके अनुसार लाभ पाने का अधिकारी है वह इस क़ानून के अन्तर्गत लाभ पाने का अधिकारी नहीं है।

(ख) क्षति पूर्ति का किसी व्यक्ति को जो इस क़ानून के अन्तर्गत आता है उसी समय अधिकार है जबकि उसके चोट काम करते समय अथवा उसके फल स्वरूप लगे। परन्तु यदि चोट इस तरह की है कि जिसकी वजह से ७ दिन से अधिक समय के लिये कोई असमर्थ नहीं होता या फिर ऐसी चोट है, जिसका परिणाम मृत्यु नहीं होता और जिसके लगने में मज़दूरों का स्वयं का दोष है, तो मज़दूर को क्षति-पूर्ति का कोई अधिकार नहीं रहता। शारीरिक चोट के अतिरिक्त कुछ धन्धे से उत्पन्न बीमारियों के होने पर भी क्षति-पूर्ति मिलती है। ये बीमारियाँ एक परिशिष्ट में दे दी गई हैं। राज्य की सरकारों को यह अधिकार है कि वह बीमारियों की इस सूची में कोई नई बीमारी और जोड़दें। क्षति-पूर्ति करने का दायित्व कानून के अनुसार मालिक का है।

(ग) क्षति-पूर्ति की मात्रा का निर्णय दुर्घटना कैसी है और मजदूर की मासिक आय क्या है—इन दो बातों से निश्चित होता है। क्षति-पूर्ति मृत्यु, स्थायी पूर्ण असमर्थता, स्थायी अपूर्ण असमर्थता, और अस्थायी असमर्थता होने पर मिलती हैं। किसी मज़दूर की मृत्यु होने पर क्षति-पूर्ति का रुपया उसकी स्त्री, नाबालिग पुत्र, अविवाहित पुत्री, विधवा माता या कुछ ऐसे दूसरे व्यक्तियों को जो उस पर आश्रित थे, मिलेगा। दुर्घटना से मृत्यु हो जाने की हालत में वर्कमेन्स कम्पेनशेशन के कमिश्नर के पास सूचना अवश्य भेजी जानी चाहिये। यदि मालिक अपना ज़िम्मा स्वीकार कर लेता है तब तो क्षति-पूर्ति का रुपया कमिश्नर के पास जमा हो जाना चाहिये। यदि मालिक अपनी ज़िम्मेदारी नहीं मानता तो कमिश्नर का यह काम है कि आवश्यक जाँच-पड़ताल के बाद आश्रितों को वह यह सूचना दे दे कि वे चाहें तो क्षतिपूर्ति की माँग रख सकते हैं। कानून इस बात की इजाज़त नहीं देता कि मालिक और मज़दूर दुर्घटना होने पर दी जाने वाली रकम के सम्बन्ध में आपस में कोई ऐसा समझौता कर लें जिससे कि मज़दूर अपने क्षति-पूर्ति का अधिकार छोड़ दे। किसी भी दुर्घटना के होते ही मालिक के पास तुरन्त ही रिपोर्ट पहुँचानी चाहिये। ऐसा नहीं होने की हालत में कमिश्नर क्षति-पूर्ति सम्बन्धी माँग को सुनेगा नहीं।

(घ) एक्ट के पालन करने का ज़िम्मा राज्यों पर ही है और इस काम के लिए राज्य की सरकारों को कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार है। कमिश्नरों का काम विवादग्रस्त दावों का फैसला करना, और मृत्यु हो जाने पर क्षति-पूर्ति का

रुपया बाँटना है। कई राज्यों में—जैसे बम्बई, मद्रास और पश्चिमी बंगाल में—कमिश्नरों की नियुक्ति हो चुकी है। दूसरी जगह किन्हीं दूसरे अधिकारियों को यह काम सौंपा गया है।

एम्पलोइज स्टेट इनश्योरेंस एक्ट १९४८—यह एक्ट अप्रैल १९४८ में पास हुआ था। इसकी मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—

(क) यह कानून सब फेक्टरियों पर, जिसमें सरकार की फेक्टरियाँ भी शामिल हैं, लागू होता है। मौसमी फेक्टरियाँ एक्ट के अन्तर्गत नहीं आतीं। वे तमाम कर्मचारी जो उक्त फेक्टरियों में काम करते हैं (उनको छोड़ कर जिनको ४०० रु० मासिक से अधिक की वेतन अथवा मज़दूरी से आय है) फ़िर चाहे उनकी नियुक्ति सीधे तौर से कारखाने के प्रबंध-विभाग द्वारा हुई हो या किसी के द्वारा, इस एक्ट के अन्तर्गत आते हैं। क्लर्क लोग भी एक्ट के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं। जिन लोगों पर यह एक्ट लागू होता है उनका सबका बीमा कराने की व्यवस्था है। एक 'एम्पलोइज़ स्टेट इन्श्योरेंश फन्ड' के निर्माण की व्यवस्था भी की गई है। इस फंड का निर्माण मिल-मालिक, मजदूर और सरकार से प्राप्त होने वाले रुपये से किया जायगा। इसके अलावा सरकारों और व्यक्तियों से चन्दा आदि भी आ सकता है। केन्द्रीय सरकार पहले पांच वर्षों में कॉरपोरेशन का जितना व्यवस्था सम्बन्धी खर्च होगा उसका दो तिहाई वार्षिक सहायता के तौर पर देती रहेगी। मिल-मालिक और कर्मचारी दोनों के ही हिस्से का रुपया चुकाने का जिम्मा मिल-मालिक का ही है। यदि किसी कर्मचारी ने पूरे सप्ताह भर काम न किया हो और जिसकी मजदूरी नहीं मिलने वाली हो तो उस सप्ताह का कन्ट्रीब्यूशन का रुपया वसूल नहीं होगा।

नीचे लिखे लाभ इस एक्ट के अन्तर्गत कर्मचारियों को मिल सकते हैं—बीमारी-लाभ, मातृत्व-लाभ, असमर्थता-लाभ, आश्रितों का लाभ, और चिकित्सा-लाभ। कर्मचारियों अथवा उनके आश्रितों को जैसा भी हो, उपर्युक्त लाभ किन्हीं शर्तों के साथ मिलने की व्यवस्था है। यदि कोई कर्मचारी जिसका एक्ट के अन्तर्गत बीमा हुआ है बीमार पड़ जावे तो उसे दैनिक मजदूरी के आधे के हिसाब से बीमारी के दिनों में आर्थिक सहायता मिल सकेगी। साल भर में अधिक से अधिक ५६ दिन के लिए यह लाभ मिल सकता है और बीमार होने के पहले दो दिन का लाभ नहीं मिल सकता जब तक कि ५ दिन में ही दूसरी बार कर्मचारी बीमार न पड़ जावे। इस प्रकार बारह आने प्रतिदिन के हिसाब से १२ सप्ताह का मातृत्व लाभ भी मिल सकता है जिसमें ६ सप्ताह से अधिक समय बच्चा होने से पहले का नहीं होना चाहिये। पर १९५१ में किये गये संशोधन के अनुसार अगर

बीमारी लाभ इससे अधिक मिल सकता है तो मातृत्व लाभ की बजाय बीमारी लाभ पाने की सम्बन्धित महिला अधिकारी होगी। यह मातृत्व लाभ के उस समय के लिये ही मिलेगा जिसमें बीमारी लाभ मिल सकता है। इसी तरह असमर्थता यदि अस्थायी है तो दैनिक मजदूरी के आधे के हिसाब से, यदि असमर्थता आंशिक और स्थायी है तो दैनिक मजदूरी के आधे के एक निश्चित प्रतिशत के हिसाब से, (जो मजदूर क्षतिपूर्ति कानून के अनुसार होगा) और यदि असमर्थता पूर्ण और स्थायी है तो दैनिक मजदूरी का आधा जीवन भर मिलेगा। कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रितों को एक निश्चित आधार पर रुपया मिलेगा। कर्मचारियों को मुफ्त चिकित्सा का लाभ मिलने की व्यवस्था भी की गई है। यह लाभ कर्मचारियों के परिवार वालों को भी कोरपोरेशन चाहे तो दे सकता है। जिस व्यक्ति को इस कानून के अन्तर्गत लाभ मिलेगा उसे वही लाभ और किसी कानून के अन्तर्गत नहीं मिल सकेगा। योजना के संचालन करने के लिए एक्ट के अनुसार 'एम्पलोइज़ स्टेट इन्श्योरेंस कोरपोरेशन' उसकी स्थायी समिति और कोरपारेशन को सलाह देने के लिए मेडिकल बेनिफिट कौंसिल की स्थापना हो चुकी है। इन तीनों संगठनों में मिल-मालिक, कर्मचारी, डाक्टर, सरकार और संसद के प्रतिनिधि हैं।

उपर्युक्त क़ानून १९४८ में पास हुआ था। जुलाई १९५० से दिल्ली और कानपुर में प्रयोग के तौर पर इस क़ानून को लागू करने का निश्चय किया गया। पर इन स्थानों के मिल-मालिकों ने इस आधार पर विरोध किया कि इस क़ानून के अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा की योजना केवल इन दो स्थानों पर लागू करने से जो वहाँ के मिल-मालिकों पर इसके फंड में रुपया (लेवी) देने से आर्थिक भार पड़ेगा उसके कारण बाज़ार में उनका माल औरों की अपेक्षा महगा होगा और दूसरों की प्रतिस्पर्द्धा में उनको हानि होगी। इस कठिनाई को हल करने की दृष्टि से सितम्बर-अक्टूबर १९५१ में 'एम्पलोईज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट' में आवश्यक संशोधन कर दिया गया। इस संशोधन के अनुसार जब तक कि यह क़ानून सारे देश के कारखानों में लागू नहीं हो जाता है देश के सब सेवायोजकों (एम्पलोयर्स) से एक विशेष लेवी वसूल की जावेगी जो कुल मज़दूरी के पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। जिन स्थानों में यह क़ानून लागू किया जायगा उनके सेवायोजकों से लेवी अन्य स्थानों के सेवायोजकों की अपेक्षा अधिक वसूल की जायगी। इस एक्ट के अन्तर्गत कानपुर और दिल्ली में स्वास्थ्य बीमा योजना का २४ फरवरी १९५१ को उद्घाटन कर दिया गया है। इन स्थानों के सेवायोजकों से १¼% कुल मजदूरी का स्पेशल लेवी के रूप में लिया जायगा। अन्य स्थानों के सेवायोजकों से ¾% ही वसूल किया जायगा। जुलाई, १९५४ तक इस क़ानून को देश भर में

लागू कर दिया जायगा। तभी स्पेशल लेवी बन्द करदी जायगी और सामान्य दर पर लेवी वसूल की जाने लगेगी। यद्यपि देश भर के सेवायोजकों से स्पेशल लेवी वसूल की जावेगी पर केवल कानपुर और दिल्ली के मज़दूरों से ही उनका कन्ट्रीब्यूशन लिया जायेगा। और जैसे २ स्थानों में यह योजना लागू होगी वैसे वैसे वहाँ के मज़दूरों से कन्ट्रीब्यूशन लेना शुरू किया जायगा।

कोल माइन्स प्रोविडेन्ट फन्ड और बोनस स्कीम्स एक्ट, १९४८—इस एक्ट में केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि कोयले की खानों में काम करनेवाले मज़दूरों के लिए वह बोनस और प्रोविडेण्ट फण्ड की योजना तैयार करे। ये दोनों ही योजनाएँ लागू हो गईं हैं। इनमें तमाम आवश्यक बातों का समावेश किया गया है :—किन कर्मचारियों पर ये योजनाए लागू होती हैं, प्रोविडेन्ट फन्ड में मालिकों की ओर का कन्ट्रीब्यूशन क्या होगा, वह किस तरह दिया जायगा, किस दर से दिया जायगा, किस समय दिया जायगा आदि। इसी प्रकार बोनस किन शर्तों पर मिलेगा, किस दर से मिलेगा, बोनस का हिसाब कैसे लगाया जायगा, किस समय और किस प्रकार बोनस मिलेगा, और किन परिस्थितियों में बोनस देना रोका जा सकता है—ये सब बातें भी योजना में स्पष्ट की गई हैं।

मातृत्व लाभ क़ानून—मातृत्व लाभ सम्बन्धी क़ानून सबसे पहले बम्बई-सरकार ने १९२९ में पास किया था। उसके बाद १९३१ में मध्य प्रदेश ने यह क़ानून पास किया। शाही मज़दूर कमीशन की जब रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो इस सम्बन्ध में कमीशन ने जो राय दी थी वह भी सामने आई। इस सम्बन्ध में शाही कमीशन ने जो सिफ़ारिशें कीं उनके परिणामस्वरूप कई राज्यों में मातृत्व लाभ क़ानून पास किये गये। मद्रास, आसाम, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, अजमेर, दिल्ली और पश्चिमी बंगाल में अपने-अपने मातृत्व लाभ कानून इस समय लागू हैं। मूल सिद्धान्त इन सब क़ानूनों में समान हैं। आसाम का क़ानून फैक्टरियों और बागों दोनों में और बंगाल का क़ानून चाय के बागों में लागू होता है। बाकी के सब क़ानून फैक्टरियों में लागू होते हैं। भारत-सरकार ने भी एक 'माइन्स मेटरनिटी बेनिफ़िट एक्ट' १९४१ में पास किया। बाद में इसमें थोड़ा बहुत संशोधन भी हुआ है। इन तमाम क़ानूनों में आधारभूत सिद्धान्त तो एक से ही हैं। जैसे बच्चा होने के पहले और बाद में एक निश्चित समय के लिए, जो छः से आठ सप्ताह के आस पास होता है, नकद सहायता स्त्री को दी जाती है। सहायता की यह दर अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है—जैसे आसाम के बागों में बच्चा होने के पहले १ रु० प्रति सप्ताह और बाद में

१ रु० ४ आ० प्रति सप्ताह, तथा दूसरे उद्योगों में औसत साप्ताहिक आय या इससे कम २ रु० सप्ताह. बंगाल में औसत दैनिक आय या आठ आने प्रतिदिन जो भी अधिक हो, पर चाय के बागों और फैक्टरियों में ५ रु० ४ आ० प्रति सप्ताह, पंजाब में औसत दैनिक आय या १२ आ० प्रतिदिन जो भी अधिक हो. उत्तर प्रदेश और बिहार में आठ आने प्रतिदिन या औसत दैनिक आय जो भी अधिक हो. मद्रास राज्य तथा अहमदाबाद और बम्बई शहर में आठ आना प्रतिदिन और शेष बम्बई राज्य में आठ आने या औसत दैनिक आय प्रतिदिन जो भी अधिक हो तथा केन्द्रीय एक्ट में १२ आ० प्रतिदिन के हिसाब से सहायता दी जाती है। कहीं-कहीं अतिरिक्त सहायता की व्यवस्था भी है जो कि बोनस की शक्ल में दी जा सकती है यदि स्त्री किसी प्रमाणित नर्स आदि की सेवाओं का उपयोग करती है। यह बोनस २ रु० से (माइन्स मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट) ५ रु० (उत्तर प्रदेश और बिहार) तक है। आसाम और पश्चिमी बंगाल में प्रत्येक स्त्री गर्भावस्था, बच्चा पैदा होने के समय और बाद में चिकित्सा और डाक्टरी देख-भाल की अधिकारी है। बच्चा होने के बाद और यदि सूचना दी जाय तो बच्चा होने के पहिले विश्राम का अवकाश भी दिया जाता है। सब कानूनों में मातृत्व लाभ मिलने के लिए यह आवश्यक है कि लाभ पाने वाली स्त्री एक निश्चित समय तक उस कारखाने में काम कर चुकी हो जहाँ से उसे सहायता मिलेगी। यह काम का समय केन्द्रीय और उत्तर प्रदेश के कानून में छः महीने और अजमेर-मेरवाड़ा में एक वर्ष और दूसरे कई कानूनों में ९ महीने का निश्चित है। यदि कोई मिल-मालिक अपने इस जिम्मे से बचने के लिए किसी स्त्री मजदूर को बरखास्त करना चाहे तो कानून में स्त्री की इससे रक्षा करने की व्यवस्था है। मातृत्व अवकाश के समय किसी स्त्री को काम से अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री को किसी मिल-मालिक से मातृत्व लाभ मिल रहा है तो वह किसी दूसरी जगह काम नहीं कर सकती। ऐसा यदि करती है तो वह दण्ड की भागी होगी। फैक्टरी-निरीक्षक ही सब राज्यों में इन कानून का पालन कराने के लिए जिम्मेदार हैं। 'केन्द्रीय माइन्स-मेटरनिटी बेनिफिट एक्ट' के पालन कराने का खानों के प्रधान इन्सपेक्टर पर जिम्मा है

बालक बंधक क़ानून [चिल्ड्रेन (प्लेजिंग ऑफ लेबर) एक्ट १९३३]—यह एक्ट एक विशेष कुरीति को रोकने के लिए पास किया गया है। शाही मजदूर कमीशन की जाँच के समय यह ज्ञात हुआ कि बहुत से माता-पिता अपने बालकों के श्रम को मालिकों के पास बंधक रख देते हैं। इस कानून के अनुसार इस प्रकार का कोई भी सौदा—चाहे वह लिखित हो या जुबानी—और

क़ानूनी होगा। परन्तु यदि उचित मजदूरी पर बिना बालक को हानि पहुँचाये किसी बालक की सेवायें लेने सम्बन्धी कोई प्रसंविदा किया जाता है और अधिक से अधिक सप्ताह भर की सूचना देने पर यदि वह समाप्त किया जा सकता है तो वह प्रसंविदा गैर क़ानूनी नहीं होगा। १५ वर्ष से कम आयु के बालक इस एक्ट में बालक माने गये हैं। क़ानून को भंग करने पर २०० रु० का जुर्माना हो सकता है। लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी की जाँच से मालूम पड़ा कि यह कुरीति दक्षिणी भारत के बीड़ी के धंधे और मैसूर राज्य के अलावा अब और कहीं नहीं पाई जाती है। वहाँ पर भी सरकार इस कुरीति का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील है।

बालकों को नौकर रखने का क़ानून, १९३८:—इस कानून का उद्देश्य अमुक आयु से कम आयु के बालकों को नौकर करने से रोकना है। अस्तु, १५ वर्ष से कम आयु के बालक किसी भी काम में, जिसका संबंध रेल से माल, डाक और यात्रियों को लाना-लेजाना है या जो किसी भारतीय पोर्ट्स एक्ट [१९०८] द्वारा नियंत्रित बन्दरगाह की सीमा में माल को इधर-उधर करने से सम्बन्ध रखता है, नहीं लगाये जा सकते। १९३९ में इस क़ानून में संशोधन किया गया जिसके अनुसार १२ वर्ष से कम आयु के बालकों को किन्हीं निश्चित उद्योगों में काम पर लगाने से मनाही की गई। राज्य की सरकारों को कानून के क्षेत्र को बदलने और बढ़ाने का अधिकार दिया गया है। एक्ट में जिन धंधों को शामिल किया गया है उनमें बीडी बनाने, ग़लीचा बनाने, सीमेन्ट तैयार करने, कपड़ा छापने, रंगने, और बुनने, दियासलाई, आतिशबाजी और विस्फोटक पदार्थ तैयार करने, अबरक काटने और अलहदा करने, लाख तैयार करने, साबुन बनाने और चमड़ा कमाने तथा ऊन साफ़ करने के धंधे हैं। मद्रास सरकार ने मोटर यातायात कम्पनियों के वर्कशोप को और उत्तर प्रदेश में पीतल के समान के धंधे और काँच की चूड़ियों के धंधे को भी इस कानून के अन्तर्गत कर दिया है। १९४८ के फेक्टरी एक्ट में चूँकि १४ वर्ष से कम आयु के बालक को नौकर रखने की मनाही है, इसलिए इस एक्ट में भी १२ वर्ष के स्थान पर १४ वर्ष की कम से कम आयु मानने का संशोधन कर दिया गया है। राज्यों में एक्ट का पालन प्रधान निरीक्षक, फेक्टरियों द्वारा कराया जाता है। केन्द्रीय कारख़ानों में इस एक्ट को पालन कराने का जिम्मा चीफ़ लेबर कमिश्नर का है। संघीय रेल्वे का जहाँ तक सम्बन्ध है, चीफ़ लेबर कमिश्नर, प्रादेशिक लेबर कमिश्नर और केन्द्रीय लेबर इन्स्पेक्टर्स को इस क़ानून के पालन कराने का जिम्मा दिया गया

है। बन्दरगाहों के बारे में भारत-सरकार द्वारा लेबर इन्स्पेक्टर की नियुक्ति की गई है।

औद्योगिक आँकड़ा क़ानून, १९४२:—इस कानून के पास होने के पहले तक मजदूरी, काम करने की परिस्थिति और उद्योगों सम्बन्धी दूसरे मामलों की जानकारी का आधार उद्योग-धन्धों की सद्भावना और उनकी स्वेच्छा से किये गये प्रयत्न मात्र थे। वह स्थिति संतोषजनक नहीं होने से १९४२ में उपर्युक्त क़ानून भारत सरकार द्वारा पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार निम्नलिखित बातों के विषय में आँकड़े इकट्ठे करने की इजाज़त है:-चीजों का मूल्य; हाजरी; रहन-सहन की परिस्थिति जिसमें मकान, जल और सफ़ाई सम्बन्धी व्यवस्था भी शामिल है; ऋण, किराया, मज़दूरी और आय, प्रोविडेन्ट और दूसरे फन्ड जो मज़दूरों के लिए क़ायम किये जायें; मज़दूरों को मिलने वाली सुविधायें और लाभ, काम के घन्टे, रोज़गार और बेकारी, और औद्योगिक तथा मज़दूर संबंधी संघर्ष। यदि कोई व्यक्ति जानकारी देने से इन्कार करे तो उसे दण्ड दिया जा सकता है। 'स्टेटिसटिक्स अधिकारी' (ऑथेरिटी) नाम का एक ऑफ़िसर राज्य की सरकारों को नियुक्त करने का अधिकार है। एक्ट में फैक्टरियों संबंधी आंकड़े—जैसे उत्पादन आदि के और मज़दूरों की भलाई के मामलों संबंधी आंकड़े इकट्ठे करने का भी अधिकार है। कई राज्यों ने फैक्टरियों सम्बन्धी आंकड़े इकट्ठे करना आरंभ कर दिया है और औद्योगिक आंकड़े के संचालक ने उत्पादन के संबंध में आंकड़े इकट्ठे करना शुरू कर दिया है। मज़दूरों के आंकड़ों सम्बन्धी कानून की धाराओं को भी कार्यान्वित किया जा रहा है।

ऋण सम्बन्धी क़ानून—मिल मज़दूरों की एक समस्या उनके ऋणग्रस्त होने की है। इस संबंध में उनको आवश्यक संरक्षण देने के लिये समय-समय पर कई क़ानून बनाए जा चुके हैं। १९३७ में भारत-सरकार द्वारा एक एक्ट पास करके यह व्यवस्था करदी गई कि उन मज़दूरों की जो १०० रु० मासिक से कम वेतन पाते हैं, तनख्वाह कुर्क नहीं हो सकती। सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में यह विधान है कि जो १०० रु० मासिक से अधिक भी पाते हैं उनके पहले १०० रु० तथा शेष वेतन का आधा कुर्की से मुक्त कर दिया गया है। क़ानून में इस बात का भी विधान है कि मज़दूर के वेतन की कुर्की कुल मिलाकर २४ महीने तक यदि होगई है तो आगे के १२ महीने तक उसकी कुर्की नहीं हो सकती।

भारत-सरकार ने शाही मज़दूर कमीशन की सिफ़ारिश को ध्यान में रखते हुए १९३६ में 'सिविल प्रोसेज्योर कोड' में एक संशोधन किया जिसके परिणाम स्वरूप कर्ज़दार मज़दूर को कैद की सज़ा नहीं दी जा सकती जब तक

कि यह न मालूम पड़े कि कर्ज़दार ने अपनी संपत्ति बेईमानी से हस्तान्तरित करदी है या डिग्री के वसूली में कचहरी के अधिकार-क्षेत्र से बाहर जाकर बाधा पहुँचाना चाहता है। पंजाब-सरकार ने भी १९३५ में एक कानून (पंजाब रिलीफ ऑफ इंडेटेडनेस एक्ट) लागू करके ऋणग्रस्त मजदूर को कैद करने पर प्रतिबंध लगा दिया है जब तक कि डिग्री का रुपया अपनी शक्ति के अनुसार उस संपत्ति में से जो कुर्क हो सकती है, देने से ही वह इनकार न करदे।

१९३६ के मध्य प्रदेश के 'एडजस्टमेंट एन्ड लिक्वीडेशन ऑफ इन्डस्ट्रियल वर्कंस डेट एक्ट' के अनुसार जो मजदूर ५० रु० मासिक तक कमाते हैं उनको किन्हीं परिस्थितियों में (यदि उसकी संपत्ति और तीन महीने के वेतन से ऋण अधिक हो) अपने कर्ज़ का फैसला कर देने की दरख्वास्त देने का अधिकार है, और आवश्यक जाँच के बाद कचहरी उसका फैसला कर देती है और यह निश्चय कर देती है कि कर्ज़दार को उसकी मजदूरी और उसके आश्रितों की संख्या को देखते हुए कितना रुपया कितने समय में चुका देना चाहिये।

बंगाल सरकार ने १९३४ में 'बंगाल वर्क्समेन प्रोटेक्शन एक्ट' पास किया था। इस क़ानून के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी कारखाने, खान, रेलवे स्टेशन आदि के अन्दर या पास में इस इरादे से कि उस कारखाने के किसी मज़दूर से वह कर्ज़ वसूल करना चाहता है, घूमता फिरता पाया जायगा तो उसे जुर्माना या कैद या दोनों सज़ा दी जा सकेंगीं। १९४० में एक संशोधन द्वारा मज़दूर को घेरना और भी कड़ाई से वर्जित कर दिया गया है तथा एक्ट का कार्यक्षेत्र भी बढ़ा दिया गया है ताकि उसमें लोकल ऑथिरिटीज, और सार्वजनिक उपयोग के धंधों में लगे मज़दूरों और जहाज़ पर काम करने वाले मज़दूरों को भी शामिल किया जा सका है। १९३७ में मध्य प्रदेश ने भी एक ऐसा ही क़ानून पास किया। मद्रास सरकार ने १९४१ में इस सम्बन्ध में क़ानून पास किया है।

'बिहार वर्कमेन्स प्रोक्टेशन एक्ट' १९४८ कुछ श्रेणी के मज़दूरों से जहाँ वे काम करते हैं या मज़दूरी पाते हैं वहाँ घेरा डाल कर कर्ज वसूल करने पर रोक लगाता है। कर्ज़दार मज़दूरों को उनके महाजन डरा-धमका न सकें इससे भी उनकी इस क़ानून में रक्षा की गई है। इन स्थानों पर घेरा डालने के अपराध में जुर्माना या छः महीने तक की सजा या दोनों ही दण्ड दिये जा सकते हैं।

मज़दूर जाँच कमेटी का यह कहना है कि ऋण संबंधी इन क़ानूनों का बहुत असर नहीं हुआ है। पर फिर भी उसने जहाँ ऐसे क़ानन नहीं हैं वहाँ उनके पास करने के पक्ष में राय दी है।

परिच्छेद ३

औद्योगिक सम्बन्ध

पिछले परिच्छेद में हम मज़दूर सम्बन्धी क़ानूनों का विवरण दे चुके हैं। केवल उन क़ानूनों का हमने वहाँ विवरण नहीं दिया जिनका सम्बन्ध मज़दूर-मालिक के आपसी सम्बन्धों (औद्योगिक सम्बन्धों) से आता है। इस परिच्छेद में हम मज़दूर-मालिक-सम्बन्ध की इस समस्या पर विचार करेंगे और इस सम्बन्धी जो क़ानून हैं उनका भी यहीं विवरण देंगे।

औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण यह है कि समाज के आर्थिक जीवन में मज़दूरों और पूँजीपतियों के दो परस्पर विरोधी वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें निरन्तर संघर्ष की पृष्ठभूमि बनी रहती है जो कभी-कभी भयानक संघर्ष के रूप में फूट पड़ती है। ये संघर्ष देश के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देते हैं और समाज में अशांति और अव्यवस्था का वातावरण उत्पन्न करते हैं। देश के आर्थिक जीवन का सुचारु रूप से सचालन हो सके उसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि मज़दूर और पूँजीपति में केवल संघर्ष और उसकी पृष्ठभूमि ही न हो, बल्कि पारस्परिक सहयोग हो। बिना इस आपसी सहयोग के राष्ट्र की उत्पादन शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग नहीं हो सकता जिसका अर्थ है आर्थिक जीवन की समृद्धि और प्रगति के मार्ग का अविरुद्ध होना। इसीलिए मज़दूर-पूँजीपति-सम्बन्धी या औद्योगिक सबंधों की समस्या का इतना महत्त्व समझा जाता है। हम अब इसी समस्या पर विचार करेंगे!

मज़दूर संगठन और औद्योगिक संबंध—औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या का एक पक्ष मज़दूरों के संगठन से संबंध रखता है। जब आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ तो शुरू-शुरू में मज़दूरों की स्थिति कमज़ोर थी और वे असंगठित थे। इसलिए मिल-मालिक उनका शोषण आसानी से कर सकते थे। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया मज़दूरों की स्थिति में भी परिवर्तन आया। एक साथ हज़ारों आदमी जब काम करते हैं तो उनका आपस में सम्पर्क होना भी स्वाभाविक है। जब वे एक दूसरे के दुःख-दर्द की बात सुनते हैं तो उनमें आपस में सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे उनके यह समझ में आने लगता है कि यदि वे आपस में एक दूसरे की सहायता करने को तैयार हो जाते हैं और अपना सगठन बना लेते हैं तो फिर मिल-मालिकों के लिए मन चाहे ढंग से उनका शोषण करना आसान नहीं होगा। इसी विचार में से दुनिया के मज़दूर-संगठन

का उदय हुआ है और आज तो दुनिया के सभी औद्योगिक देशों में मज़दूर-संगठन की बड़ी शक्ति मानी जाती है। मज़दूरों के राजनैतिक दल भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज मज़दूर-संगठन का बड़ा महत्व है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की स्थापना होने से भी दुनिया के मज़दूर-संगठनों को बहुत शक्ति मिली है और अब वे एक सूत्र में बंध गए हैं।

मज़दूर-संगठन का प्रभाव मालिक-मज़दूर के सम्बन्धों पर भी पड़ा है। जब तक मजदूर वर्ग असंगठित होता है वह अपने हितों की रक्षा के लिए पूँजीपति-वर्ग से संघर्ष मोल नहीं ले सकता और उनकी कृपा पर ही अपने आप को जीवित समझता है। जब मजदूरों में चेतना और संगठन शक्ति का उदय होने लगता है तो उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आता है। वे मालिक को अपना माँ-बाप नहीं समझते और अपने हितों की रक्षा के लिए उनसे संघर्ष करने को वे तैयार हो जाते हैं। हड़तालों को मजदूर अपना एक प्रबल अस्त्र मानने लगते हैं। औद्योगिक संघर्ष जो अन्दर ही अन्दर दबा रहता था, वह अब बाहर फूट पड़ता है और मिलमालिक-मजदूर के परस्पर सम्बन्ध की एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से मजदूर-संगठन ही इस समस्या का कारण माना जा सकता है। यही कारण है कि आरम्भ में पूँजीपति वर्ग ने मजदूर-संगठन का हमेशा ही विरोध किया है और उसने यह चाहा है कि मजदूर-संगठन को कानूनी संरक्षण न मिले। पर यह तो असमव था। मजदूरों की वास्तविक शक्ति जब बनने लगी तो उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। मजदूर-संगठनों को क़ानूनी मान्यता मिलना आरम्भ हुआ। आज सब देशों में मज़दूर-संगठन को यह मान्यता प्राप्त है। इधर पूँजीपति वर्ग के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आने लगा। आज का पूँजीपति संगठित मज़दूर वर्ग को अधिक पसन्द करता है न कि असंगठित मज़दूर को। वह समझता है कि संगठित मजदूर वर्ग अधिक अनुशासन में रखा जा सकता है, उससे विचार-विनिमय करना आसान है, वह अधिक जिम्मेदारी से व्यवहार करता है, और उससे यह आग्रह और आशा की जा सकती है कि वह किसी भी प्रश्न पर संकीर्ण दृष्टि न से सोचकर अधिक व्यापक और समाज की दृष्टि से सोचे। इसलिये मजदूर-संगठन औद्योगिक शांति में बहुत कुछ सहायक हो सकता है और यह विचार सही नहीं है कि उसका परिणाम मिल-मालिक-मजदूर सम्बन्धों में संघर्ष और कटुता उत्पन्न करने का होता है। यह अवश्य है कि संगठित होने से मजदूरों की शक्ति बनती है और मिल-मालिक यदि उनके हितों की अवहेलना करते हैं तो वे संगठित रूप से उसका प्रतिकार करने को तैयार हो

जाते हैं। वास्तव में देखा जाए तो मज़दूरों में कोई संगठन न हो यह तो असम्भव है। जब वे एक साथ, एकसी परिस्थितियों में, एक ही स्थान पर काम करते हैं और एकसी समस्यायें उनके सामने उपस्थित होती हैं तो उनका संगठित रूप से सोचना और व्यवहार करना तो अवश्यम्भावी है। इसलिए संगठित और असंगठित मज़दूर वर्ग में चुनाव करने का प्रश्न तो है ही नहीं। प्रश्न यदि हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि समाज और राज्य मज़दूरों के संगठन को मान्यता दे या न दे। ऐसी स्थिति में इस बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि मज़दूर-संगठन को मान्यता देना और उसके अस्तित्व को स्वीकार करके चलना कहीं अधिक अच्छा है। हम यहाँ तक भी कह सकते हैं कि औद्योगिक शांति के लिए स्वस्थ मज़दूर-संगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। अब हम भारतवर्ष के मज़दूर-संगठन के बारे में कुछ विचार करेंगे।

भारत में मज़दूर-संगठन—भारत में मज़दूर आन्दोलन का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण (१८७५ के आस-पास) में हुआ। इस आन्दोलन के प्रवर्तकों में श्री सोराबजी सापुरजी बंगाली प्रमुख थे। १८९० में श्रीयुत नारायण मेघजी लोखंडे ने, जो भारतीय मज़दूर-संगठन के जनक और उसकी आत्मा थे, पहला मज़दूर-संगठन बम्बई में स्थापित किया। इसका नाम था 'बम्बई मिल-मज़दूर संघ' (बोम्बे मिल-हेन्ड्ज़ एसोसियेशन)। पर वास्तविक अर्थ में यह संघ मज़दूर-संघ न था। इसका काम तो बम्बई के मिल-मज़दूरों की शिकायतों के समाशोधन गृह (क्लियरिंग हाउस) का था। इसके बाद आने वाले २५ वर्षों में कई मज़दूर सभायें स्थापित हुईं—जैसे एमेलगेमेटेड सोसाइटी ऑफ रेलवे सर्वेन्ट्स ऑफ इन्डिया एन्ड बर्मा (१८९७), प्रिंटर्स यूनियन कलकत्ता (१९०५), बोम्बे पोस्टल यूनियन (१९०७), और कामगार हितवर्द्धक सभा बम्बई (१९०९)। जब भारत में आधुनिक ढंग के कारखाने खुलने लगे और उनमें काम करने वाले मज़दूरों का—फिर वे स्त्रियाँ हों या बालक—शोषण होने लगा तो उनके संरक्षण के प्रश्न को लेकर ही इस मज़दूर-आन्दोलन का आरम्भ हुआ था। मैंचेस्टर के वस्त्र-व्यवसायियों ने भी भारत के मज़दूर-आन्दोलन को बड़ी सहायता और प्रोत्साहन दिया। बात यह थी कि भारत की मिलों में मज़दूरों को कम वेतन देकर और अधिक घन्टों उनसे काम कराकर जो कपड़ा तैयार होता था वह मैंचेस्टर के कपड़े से सस्ता पड़ता था और उससे मैंचेस्टर के वस्त्र-व्यवसायियों को हानि होने का डर था। इसलिए वे चाहते थे कि भारतीय मज़दूरों के काम करने की परिस्थितियों पर क़ानून द्वारा नियंत्रण किया जावे—जैसे उनको ठीक वेतन मिले, काम के घंटे अधिक न हों आदि। इसी दृष्टि से वे यह चाहते थे कि भारत में

मज़दूरों का आन्दोलन हो और उसको शक्ति मिले ताकि उसके दबाव से भारत में भी मज़दूर-कानून बनें।

प्रथम महायुद्ध तक भारतीय मजदूर संगठन ने बहुत कम प्रगति की थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कई कारण ऐसे उपस्थित हो गए जिनसे मज़दूर-संगठन को यथेष्ट बल मिला। एक ओर तो देश में जो राजनैनिक चेतना फैली, उसका प्रभाव मज़दूर-आन्दोलन पर भी पड़ा, और दूसरी ओर युद्ध के कारण उत्पन्न महगाई का असर मज़दूरों के रहन-सहन के खर्चे को बढ़ाने का तो हुआ पर उनकी मज़दूरी में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। मिल-मालिकों ने इसके विपरीत काफ़ी मुनाफ़ा कमाया। इस सारी स्थिति से मजदूरों के मन में गहरा असन्तोष हुआ और इससे मज़दूर-संगठन को अधिक सुदृढ़ बनने में सहायता मिली। जो लोग युद्धक्षेत्र से लौट कर आये थे वे पश्चिम के विचार और वातावरण को अपने साथ लाए और जब उनका यहाँ के मज़दूर से संपर्क हुआ तो उसका असर भी उनको उग्र बनाने का ही हुआ। रूस की बोल्शविक क्रान्ति, कांग्रेस द्वारा महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलाया गया असहयोग-आन्दोलन, और ब्रिटिश सरकार की दमन नीति—इन सबका परिणाम भी यही हुआ कि राष्ट्रीय जाग्रति और संगटन की देश भर में एक लहर सी दौड़ गई और उससे देश का मज़दूर वर्ग भी अछूता न रह सका। अस्तु, १९१८ के उपरान्त देश में मजदूर सभाओं का तेज़ी से संगठन होने लगा। सबसे पहली औद्योगिक ट्रेड यूनियन (मज़दूर सभा) १९१८ में मद्रास शहर के सूती कपड़े के कारखानों के मज़दूरों की श्री बी. पी. वाडिया ने स्थापित की। यह मज़दूर सभा बहुत सफल हुई और इससे मजदूरों में बहुत उत्साह उत्पन्न हुआ। १९१९ में मद्रास प्रान्त में चार मज़दूर संघ काम कर रहे थे और उनके सदस्यों की संख्या २० हज़ार थी। मद्रास मे मजदूर संगठन की लहर और प्रान्तों में भी फैली और देखते-देखते बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, तथा अन्य औद्योगिक केन्द्रों में मजदूर-सभायें तेजी से स्थापित होने लगीं। यहाँ हम, महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९२० में अहमदाबाद की सूती कपड़े की मिलों के मज़दूरों का जो संगठन किया गया उसका विशेष रूप से उल्लेख करना चाहेंगे। इस मजदूर-संगठन का नाम 'टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' अहमदाबाद, है। यह हमारे देश का एक बहुत ही सबल और सफल मज़दूर-संघ है। यह कुछ धन्धेवार मजदूर संघों (क्रेफ्ट यूनियन्स) का एक संघ है। जो मजदूर संघ इसमें शामिल हैं उनके नाम ये हैं—(१) बुनकर संघ (२) थ्रोसल-संघ (३) कार्ड रूम, ब्लोरूम और फ्रेम डिपोर्टमेंट यूनियन (४) वार्ड यूनियन (५) ड्राइवर्स, ऑइलमेन्स, और फ़ायरमेन्स यूनियन (६) जाबर्स और मुक़द्दम

यूनियन। इस संघ की सफलता का एक बड़ा कारण यह है कि मजदूरों की भलाई के लिए, जैसे उनकी शिक्षा, चिकित्सा, दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता आदि के सम्बन्ध में, इसने बराबर प्रयत्न किया है और इस आधार पर मजदूरों में एकता और संगठन कायम रखा जा सका है। इस मजदूर-संगठन की दूसरी विशेषता यह रही है कि इसने अहमदाबाद मिलमालिक-संघ से मिलकर आपस के झगड़े सुलझाने की नीति को बराबर अपनाया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि अहमदाबाद में अपेक्षाकृत मिल-मालिकों और मजदूरों में कम संघर्ष हुये हैं। भारतीय मजदूर आन्दोलन में कम्यूनिस्टों का प्रभाव भी रहा है। यह ठीक है कि यह प्रभाव किन्हीं औद्योगिक केन्द्रों, जैसे बम्बई, कानपुर में विशेष रहा है तो किन्ही में कम। यह भी ठीक है कि उनके इस प्रभाव में उतार-चढ़ाव भी आते रहे हैं। १९२४ के उपरान्त भारत के मजदूर आन्दोलन में कम्यूनिस्टों का प्रभाव बढ़ने लगा। इसी समय सरकार ने जब कम्यूनिस्टों के दमन की नीति अपनाई तो उसका परिणाम भी यही हुआ कि उनका प्रभाव मजदूरों में बढ़ा। बम्बई में १९२७ में कम्यूनिस्टों ने "गिरनी कामगार यूनियन" की स्थापना की। अपने इस बढ़ते हुए प्रभाव का लाभ उठाने की दृष्टि से ही उन्होंने हिन्दुस्तान भर का जो मजदूर संगठन "ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस" था, उस पर नागपुर के १९२९ के अधिवेशन में आधिपत्य जमा लिया। उसी के फलस्वरूप इस अखिल भारतीय संगठन में फूट पड़ गई और जो सुधारवादी पक्ष था वह अलग हो गया और आ० इं० ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कम्यूनिस्टो का प्रभुत्व कायम हो गया।

भारतीय मजदूर-संगठन में विभिन्न मजदूर-सभाओं के केन्द्रीय संगठन स्थापित करने का प्रयत्न भी प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद ही आरम्भ हुआ। विभिन्न स्थानों में केन्द्रीय संगठन स्थापित हुए और प्रान्तीय संगठनों की स्थापना भी की गई। १९२० में मजदूर-सभाओं का एक अखिल भारतीय संगठन भी कायम हुआ—इसी का नाम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस रखा गया। बम्बई में स्व० लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि १९२९ में इस संगठन में फूट पड़ गई और उसके परिणामस्वरूप सुधारवादी पक्ष ने श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में एक दूसरे अखिल भारतीय संगठन, 'आल इन्डिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन', की स्थापना की। रेलवे यूनियनों ने मिलकर अपना एक अखिल भारतीय संगठन 'अखिल भारतीय रेलवेमेन्स फेडरेशन" के नाम से १९२५ में स्थापित किया था। रेलवे मजदूरों का यह एक प्रबल संगठन है और रेलवे बोर्ड ने इसे स्वीकृत कर लिया है। यह फेडरेशन भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में सम्मिलित था, पर १९२९ में

फूट पड़जाने पर उसने अपने आपको अलग कर लिया और १९३५ तक उससे बाहर ही रहा। 'अ. भा ट्रे. यू. कॉंग्रेस' में १९३१ में फिर फूट पड़ी और एस. वी. देश पांडे और बी. टी. रानाडिव के नेतृत्व में एक 'अ. भा. रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की गई। इस प्रकार देश के मजदूर संगठन में फूट पड़ जाने से मजदूर-आन्दोलन को बड़ा धक्का लगा। यद्यपि एकता के प्रयत्न १९३१ में ही शुरू हो गए, परन्तु वास्तव में १९३८ में अ. भा. ट्रे. यू कांग्रेस और राष्ट्रीय [नेशनल] ट्रे० यू० फेडरेशन नाम के एक दूसरे अखिल भारतीय सगठन का नागपुर में एक सम्मिलित विशेष अधिवेशन हुआ और उसमें यह निश्चय हुआ कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन मिलकर एक केन्द्रीय संगठन का निर्माण करें। १९४० में अ. भा. ट्रे. यू. कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में इस निर्णय को पक्का कर दिया गया। इस राष्ट्रीय [नेशनल] ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना १९३३ में मजदूर-संगठन में एकता स्थापित करने के फलस्वरूप ही हुई थी, जिसमें कम्यूनिस्ट प्रभाव के अखिल भारतीय मजदूर-संगठन, अ. भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस, के अलावा जो देश में अन्य दो अखिल-भारतीय मजदूर-सगठन उस समय थे, उनको शामिल किया गया था। इन दो संगठनों में एक तो १९२९ में स्थापित अ. भा. ट्रेड यूनियन फेडरेशन था जो ट्रेड-यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ जाने पर सुधारवादी पक्ष के लोगों ने बनाया था, और दूसरा नेशनल फेडरेशन आफ लेबर था जो देश की उन मजदूर-सभाओं के अखिल भारतीय सगठन के रूप में १९३३ में ही स्थापित किया गया था जिनका कम्यूनिस्टों और सुधारवादियों दोनों से ही सम्बन्ध नहीं था। इधर तो देश के मजदूर संगठन में एकता लाने का प्रयत्न सफल हुआ, पर उसी समय दूसरी ओर १९४० में इसी बम्बई अधिवेशन में द्वितीय महायुद्ध के प्रश्न को लेकर फिर फूट पड़ गई। ट्रे. यू. कांग्रेस ने द्वितीय महायुद्ध के बारे में तटस्थता की नीति रखने का प्रस्ताव पास किया। इस नीति से उन लोगों को जो युद्ध का समर्थन करना चाहते थे, असन्तोष हुआ और उनमें श्री आफ्ताब अली ने तो अपनी जहाजो पर काम करने वालों की यूनियन (सीमेन्स यूनियन) को अलग कर लिया और श्री एम. एन. राय ने और श्री जमनादास मेहता ने 'इन्डियन फेडरेशन ऑव लेबर' नाम का एक पृथक् अखिल भारतीय संगठन ही कायम कर लिया। इस संगठन का मजदूरों में कोई खास प्रभाव नहीं है १९४८ के अन्तिम महीनों और १९४९ के आरम्भ के महीनों में फिर देश के मजदूर-आन्दोलन में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं। कम्यूनिस्टों और उदार विचारों के लोगों में फिर संघर्ष हो गया और अ. भा ट्रेड यूनियन कांग्रेस से बहुत-सी यूनियनों ने अपने आपको अलग कर

लिया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कम्यूनिस्टों का प्रभाव रहा पर उसका मज़दूर वर्ग में पहला जैसा असर अब नहीं है। १६४७ में एक और महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय मज़दूर-संगठन कांग्रेस नेताओं के मार्ग दर्शन में क़ायम हुआ है। इसका नाम 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' रखा गया। महात्मा गाँधी की विचार-धारा के अनुसार मज़दूरों में काम करने वाली 'हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक संघ' नाम की संस्था के प्रभाव में जो मज़दूर-सभायें थीं वे इस भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इ. ने. ट्रे. यू कांग्रेस) से संबंधित हो गईं। अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन भी इससे सम्बद्ध हो गई। इसी प्रकार जो समाजवादी विचार के मज़दूर कार्यकर्ता थे उन्होंने भी अपना 'हिन्द मज़दूर पंचायत' नाम का एक अलग संगठन बना लिया। दिसम्बर १६४८ में इण्डियन लेबर फेडरेशन और हिन्द मज़दूर पंचायत ने मिल कर हिन्द मजदूर सभा नाम का एक अलग अखिल-भारतीय सगठन स्थापित कर लिया है। मई १६४६ में कुछ मज़दूर सभाओं ने जो कुछ समय पहले अ॰ भा॰ ट्रे॰ यू॰ कांग्रेस से अलग हो चुकी थीं एक और अखिल भारतीय संगठन 'यूनाइटेड ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस' के नाम से स्थापित किया है। अखिल भारतीय मज़दूर संगठनों का जो विवरण हमने ऊपर दिया है उससे यह मालूम पड़ता है कि मोटे रूप से तीन बड़े और प्रमुख अखिल भारतीय सगठन इस समय देश में काम कर रहे हैं—इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (कांग्रेस की विचारधारा के अनुसार), हिन्द मज़दूर सभा (समाजवादियों की विचारधारा के अनुसार) और आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (कम्यूनिस्ट विचार धारा के अनुसार)।

भारतीय मज़दूर संगठन के सामने एक महत्त्वपूर्ण समस्या कानूनी मान्यता प्राप्त करने की भी थी। क्योंकि मज़दूर संघों को यदि क़ानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है तो मज़दूर-नेताओं के विरुद्ध हड़ताल कराने के अपराध में कानूनी कार्रवाही की जा सकती है, जैसा कि १६२१ में बकिंघम के मज़दूरों और मालिकों में झगड़ा होने पर हुआ भी। वहाँ के मिल-मालिकों ने श्री. वी. पी. वाड़िया तथा दूसरे मज़दूर नेताओं के विरुद्ध हाईकोर्ट में हर्जाने का दावा कर दिया और उनके विरुद्ध ७००० पौंड और मुकद्दमे के खर्च की डिगरी करानी। कोर्ट के इस आदेश का मज़दूर-नेताओं ने बड़ा विरोध किया और पांच वर्ष के लगातार प्रयत्नों के बाद १६२६ मे भारतीय ट्रेड यूनियन एक्ट पास हुआ। इसके बारे में विस्तृत रूप से हम आगे लिखेंगे।

प्रथम महायुद्ध के बाद से भारतीय मज़दूर आन्दोलन ने किस प्रकार प्रगति की उसका ब्यौरा हम ऊपर दे आये हैं। द्वितीय महायुद्ध का भी यहाँ

प्रभाव हुआ, यह भी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। यदि हम मज़दूर-सभाओं संबंधी आंकड़े देखें तो हमें और स्पष्ट रूप से यह मालूम होगा कि मज़दूर-संगठनों की प्रगति हमारे देश में किस गति से हुई है। जो आंकड़े हमें उपलब्ध हैं वे केवल उन्हीं सभाओं के हैं जिन्होंने अपने आपको रजिस्टर करवा रखा है और जो अपने बारे में आवश्यक जानकारी प्रतिवर्ष सरकार के सामने पेश करते हैं। जो मज़दूर-सभाएं रजिस्टर्ड नहीं हैं उनके आंकड़े हमारे पास नहीं हैं। ऐसी मज़दूर-सभाओं की संख्या भी यथेष्ट है। रजिस्टर्ड मज़दूर-सभाओं सम्बन्धी आंकड़ों को देखने से प्रकट होता है कि १९२७-२८ में भारतवर्ष में २९ मज़दूर-सभाएं थीं, १९३२-३३ में उनकी सख्या बढ़कर १७० हो गई, और १९३८-३९ में यह सख्या ५६२ थी। १९४५-४६ में १०८७ मज़दूर-सभाएँ (रजिस्टर्ड) अविभाजित भारत में (पंजाब के आंकड़े शामिल नहीं हैं) थीं। इससे स्पष्ट है कि युद्ध के समय में मज़दूर-सभाओं की संख्या लगभग दुगुनी होगई। १९४६-४७ में यह संख्या बढ़कर १७२५ होगई। ध्यान रखने की बात यह है कि यह आंकड़े विभाजित भारत के हैं और पूर्वी पंजाब के आंकड़े इसमें शामिल नहीं हैं। १९४७-४८ में यह संख्या २६६६ हो गई। इन २६६६ में से केवल १६२८ ने अपने आंकड़े पेश किये जिनके अनुसार इन १६२८ मज़दूर-सभाओं के सदस्यों की कुल सख्या १६ लाख से ऊपर थी। १९२७-२८ में कुल सदस्य-संख्या २९ रजिस्टर्ड यूनियनों में से २८ की लाख से कुछ ऊपर थी। १९३२-३३ में १७० में से १४७ की सदस्य सख्या २ लाख ३७ हजार से कुछ अधिक थी और १९३८-३९ में ५६२ में से ३९४ की ४ लाख से कुछ कम थी। १९४५-४६ में १०८७ में से ५८४ की ८ लाख ६४ हजार से कुछ अधिक थी और १९४६-४७ में १७२५ में से ९९८ की १३ लाख ३१ हजार से कुछ अधिक थी। इन मज़दूर सभाओं में अधिकांश औद्योगिक सघ (इंडस्ट्रियल यूनियन) हैं जो किसी भी एक उद्योग में काम करने वाले सब मज़दूरों का सगठन करते हैं। इसके अलावा कुछ शिल्प संघ (क्रैफ्ट यूनियन) हैं और तीसरी श्रेणी में कुछ सामान्य मजदूर-संघ है, जिनमें विभिन्न उद्योगों और शिल्पों के मज़दूर एक ही संघ में संगठित हो जाते हैं; जैसे मज़दूर सभा कानपुर या गिरनी कामगार यूनियन, बम्बई। धर्घों की दृष्टि से यातायात और वस्त्रोद्योग में मजदूर-संगठन ने अच्छी प्रगति की है।

पिछले वर्षों में मज़दूर सभाओं की संख्याओं में यथेष्ट वृद्धि हुई है, पर फिर भी यह सत्य है कि हमारे देश का मज़दूर-संगठन अभी उतना शक्तिशाली नहीं बन पाया है जितना पश्चिम के कई देशों का है। मज़दूर-सभाओं का नेतृत्व अधिकांशतः स्वयं मज़दूरों के हाथ में न होकर राजनैतिक कार्यकर्ताओं के हाथ में है। यह

स्थिति बहुत स्वास्थ्यकर नहीं कही जा सकती। उनके पास धन की कमी है और हड़ताल के समय वह अपने सदस्यों को सहायता नहीं दे सकतीं। बहुत कम मज़दूर-सभायें ऐसी हैं जो मज़दूरों की भलाई के कामों की ओर ध्यान देती हैं और ध्यान देने की शक्ति भी रखती हैं।

भारत में मज़दूर-संगठन के मार्ग में कई कठिनाइयाँ रही हैं और आज भी हैं। भारतीय मज़दूर अशिक्षित है, वह अपने आपको स्थायी रूप से मज़दूर नहीं समझता और एक स्थान से दूसरे स्थान को वह आता-जाता रहता है, वह निर्धन है और अपने संगठन के लिये अधिक पैसा नहीं दे सकता, मज़दूर-संगठन का नेतृत्व योग्य हाथों में नहीं है और विभिन्न राजनैतिक दल मज़दूरों के संगठन का उपयोग अपने राजनैतिक हेतुओं को सिद्ध करने के लिए करना चाहते हैं, और अन्तिम बात यह है कि मिल-मालिक सफल और शक्तिशाली मज़दूर-संगठन का हर प्रकार से विरोध करते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि मज़दूरों में फूट डाली जाये और उनका संगठन कमज़ोर बना रहे। अस्तु, भारत में सशक्त मज़दूर संगठन बनाने के लिये उपर्युक्त कमियों को मिटाने की बड़ी आवश्यकता है। अब हम ट्रेड यूनियन एक्ट के बारे में विशेष जानकारी करेंगे।

ट्रेड यूनियन एक्ट १९२६—यह कानून किन परिस्थितियों में पास हुआ इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। १ जुलाई १९२७ को यह एक्ट लागू किया गया। सन् १९४७ तक इस क़ानून में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। पर इसी वर्ष कानून में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया। इस संशोधन का उद्देश्य प्रतिनिधि मज़दूर-सभाओं को मिल-मालिकों द्वारा अनिवार्यतः मान्यता दिलाना, और मिल-मालिकों तथा मज़दूर-सभाओं को क्या-क्या अनुचित कार्रवाइयाँ नहीं करनी चाहियें इसकी कानून में व्यवस्था करना था। इस कानून के मुख्य-मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं—

(क) किसी भी ट्रेड यूनियन के सात या सात से अधिक सदस्य यूनियन की रजिस्ट्री करा सकते हैं। कानून के पालन कराने का ज़िम्मा राज्य की सरकारों का होने से हर राज्य में राज्य की सरकार द्वारा ट्रेड यूनियनों के रजिस्ट्रार की नियुक्ति की जाती है जिसका काम ट्रेड यूनियनों को रजिस्टर करना होता है। रजिस्टर होने की कुछ शर्तें हैं जिनको पूरी किये बिना कोई यूनियन रजिस्टर नहीं की जा सकती। उनमें से एक शर्त यह है कि यूनियन की कार्यकारिणी के कम से कम ५०% व्यक्ति जिस उद्योग या धन्धे की यूनियन है उस उद्योग या धन्धे में काम करने वाले होने चाहियें। रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि वह किन्हीं कारणों के उपस्थित होने पर किसी यूनियन को रजिस्टर करने से इन्कार कर दे

या रजिस्ट्री करने के बाद उसे रद्द कर दे। उसके आदेश के खिलाफ हाई कोर्ट तक अपील की जा सकती है। कानून में ट्रेड यूनियन की परिभाषा इस ढंग से दी गई है कि उसके अन्तर्गत मज़दूरों के अलावा मिल-मालिकों का संघ भी आ सकता हैं, पर जिस संघ में मज़दूर और मिल-मालिक दोनों हों वह उसके अन्तर्गत नहीं आ सकता। १५ वर्ष से कम आयु का व्यक्ति रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन का सदस्य नहीं हो सकता।

(ख) रजिस्टर्ड यूनियन को कुछ अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। एक तो यह कि उसके पदाधिकारियों या सदस्यों पर यूनियन की उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई किसी भी कार्रवाई पर, जैसे हड़ताल के कारण फौजदारी, मुक़द्दमा नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार से वे दीवानी कार्रवाई से भी सुरक्षित हैं।

(ग) रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन पर कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ भी हैं। उसे हर साल रजिस्ट्रार के पास सालाना आंकड़े आदि भेजने होते हैं और खर्च तथा जमा का ऑडिट किया हुआ ब्यौरा भी देना होता है। कोई भी यूनियन का पदाधिकारी या सदस्य यूनियन के हिसाब की जांच कर सकता है। यूनियन के नाम, विधान और नियमों में अगर कोई परिवर्तन हो तो उसकी सूचना रजिस्ट्रार को मिलनी चाहिये। यूनियन का आम कोष किन-किन बातों पर खर्च हो सकता है यह क़ानून में तय है। इन तयशुदा बातों में औद्योगिक झगड़े, जिनमें यूनियन को पड़ना पड़े, शामिल हैं। अस्तु; इस फन्ड का रुपया इस प्रकार के संघर्ष पर भी व्यय हो सकता है। सदस्यों के राजनैतिक उद्देश्य-पूर्ति के लिये कोष काम में नहीं आ सकता, पर इस काम के लिये अलग कोष स्थापित किया जा सकता है। इसमें चन्दा देना न देना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर है। इन जिम्मेदारियों को नहीं निभाने से सज़ा दी जा सकती है चाहे वह जुर्माने की शकल में हो या यूनियन के रजिस्ट्रेशन को रद्द करने की शकल में।

(घ) यह हम लिख चुके हैं कि १९४७ में ट्रेड यूनियन एक्ट में एक महत्व पूर्ण संशोधन हुआ था। इसके अनुसार यदि कोई रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन अपने मिल-मालिक को मान्यता के लिए आवेदन-पत्र दे और फिर भी उसे मान्यता न मिले तो उस दशा में उस यूनियन को यह अधिकार है कि वह इस विषय में लेबर कोर्ट (जो इस कानून के अनुसार नियुक्त की जा सकती है और जिनमें एक या अधिक जज होते हैं) को लिखे। लेबर कोर्ट यदि जाँच के बाद इस निर्णय पर पहुँचे कि ट्रेड यूनियन उन तमाम बातों को पूरा करती है जो मान्यता प्राप्त करने

लाखों मज़दूरों ने भाग लिया। १६२६ की हड़ताल में पहली बार कम्यूनिस्टों का प्रभाव प्रकट हुआ था। इन हड़तालों का एक परिणाम यह हुआ कि १६२६ में 'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट' पास किया गया। इस तथा इस जैसे दूसरे क़ानूनों का विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। १६३७ में जब राज्यों में लोक प्रिय कांग्रेसी मन्त्रिमंडल स्थापित हुए तो फिर हड़तालों की बाढ़-सी आगई। तत्कालीन कांग्रेसी सरकारों ने मज़दूरों की स्थिति की जाँच करने के लिए जाँच कमेटियाँ नियुक्ति कीं (उ. प्र, बम्बई, बिहार), लेबर ऑफ़िसर नियुक्त किये गए और मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने की योजनायें भी बनाई गईं। परन्तु मज़दूर को संतोष न हुआ क्यों कि उनकी आशायें बहुत बढ़ी हुईं थी, और वास्तव में मज़दूरों के लिए बहुत हो भी नहीं सका था। इसके अलावा मज़दूर यह जानते थे कि कांग्रेसी शासन में उन पर दमन नहीं हो सकता। कांग्रेस के विरोधी राजनैतिक दल भी इस स्थिति का लाभ उठा कर मज़दूरों को उकसाने में लगे रहते थे। कानपुर की १६३८ की आम हड़ताल, और बगाल में जूट की मिलों की आम हड़ताल (१६३८) इस समय की खास हड़तालें थीं। गत महायुद्ध के आरम्भ होते ही कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने स्तीफा दे दिया और मज़दूर-हितकर कार्यों की उनकी योजनाएँ आगे नहीं बढ़ सकीं। महायुद्ध के समय में (१६३६-१६४५) हड़तालों आदि की दृष्टि से देश में अपेक्षाकृत शांति रही। इसका एक कारण यह था कि भारत-रक्षा नियम के अन्तर्गत मज़दूरों पर कई प्रतिबन्ध थे, दूसरे कम्यूनिस्ट और रायवादी मज़दूर कार्यकर्त्ताओं ने युद्ध के समर्थन का मज़दूरों में बहुत प्रचार किया। यद्यपि १६४१ से हड़तालों की सख्या तो ३५६ से बढ़कर १६४२ में ६६४, १६४३ में ७१६, १६४४ में ६५८ और १६४५ में ८२० होगई, पर काम के दिनों में हानि की सख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। १६४१ में जहाँ ३३ लाख काम के दिनों की हानि हुई थी १६४५ में यह हानि ४० लाख दिन के लगभग थी। परन्तु युद्ध समाप्त हो जाने के उपरान्त जब नये चुनावों के अनुसार अधिकांश राज्यों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित होगईं तो फिर हड़तालों की संख्या बढ़ने लगी। नतीजा यह हुआ कि युद्ध के समय की अपेक्षा १६४६ और १६४७ में हड़तालों की संख्या और काम के दिनों की हानि दोनों ही दृष्टियों से स्थिति बहुत बिगड़ गई। हड़तालो की संख्या १६४६ में, १६२६ और १६४७ में १८११ होगई, और काम के दिनों के हानि की संख्या क्रमश १ करोड़ २७ लाख और १ करोड़ ६५ लाख हो गई। १६४७ के अप्रेल में हड़तालों की लहर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। पर उसके बाद उसमें उतार आया। हड़तालों के सम्बन्ध में दो-एक बात और उल्लेखनीय हैं जिनका संकेत कर देना उचित है।

यदि हम प्रथम महायुद्ध के बाद से अब तक के इन तीस वर्षों का हड़तालों सम्बन्धी अध्ययन करें तो हमें एक बात तो यह मालूम होगी कि कुल मिलाकर हड़तालें करने की प्रवृत्ति काफ़ी बढ़ी है। हड़ताल में शामिल होनेवाले मज़दूरों की संख्या में भी यह वृद्धि देखी जाती है। हाँ पिछले दो या तीन वर्षों में इन दोनों बातों में सुधार देखने को मिलता है; पर इसका कोई स्थायी महत्त्व मानना ठीक नहीं हो सकता। एक बात और है कि हड़ताल करने की प्रवृत्ति में उसमें शामिल होनेवाले मज़दूरों की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। इसका अर्थ यह है कि अब हड़तालें ऐसे छोटे छोटे उद्योगों और कामों में भी होने लगी हैं जिनमें पहले नहीं होती थीं। हड़तालों के समय के बारे में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि अब हड़तालें उतनी लम्बी नहीं होतीं जितनी पहले होती थीं। मज़दूर-संगठन के विकास के बावजूद भी मज़दूरों की सौदा करने की शक्ति किसी हद तक कम होती गई है, क्योंकि मज़दूरों की संख्या बढ़ी है, मिल-मालिकों का विरोध कम नहीं हुआ है और राष्ट्र की सहानुभूति में भी कमी आई है। फिर भी सरकार के हस्तक्षेप से मज़दूरों को बल मिला है। इसका असर हड़तालों के कारण मज़दूर को होने वाली हानि में कमी होने का भी हुआ है।

हड़तालों के कारणों का यदि हम विश्लेषण करें तो हमें निम्नलिखित कारण मिलेंगे—वेतन-वृद्धि अथवा बोनस या महगाई-भत्ते सम्बन्धी माँग, व्यक्तिगत शिकायतें—जैसे मज़दूरों के साथ मिल-मालिकों का दुर्व्यवहार सम्बन्धी, या बरखास्तगी तथा छुट्टी आदि सम्बन्धी, अन्य कोई विशेष आर्थिक परिस्थिति जैसे आर्थिक मंदी, वस्तुओं की महगाई, रोज़गार की स्थिति आदि। पर अधिकतर हड़तालों का कारण मज़दूरों की वेतन वृद्धि सम्बन्धी माँग ही होती है। कभी-कभी राजनैतिक कारणों को लेकर भी हड़तालें हुई हैं, पर ऐसा बहुत कम हुआ है। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े के उद्योग में सबसे अधिक हड़तालें हुई हैं। राज्यों की दृष्टि से बम्बई, मद्रास और बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में हड़तालों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रही है।

औद्योगिक शांति के प्रयत्न—हम यह लिख चुके हैं कि १९४५ में औद्योगिक अशांति बहुत बढ़ गई। उसका परिणाम यह हुआ कि देश में उत्पादन की मात्रा में भी बड़ी कमी आ गई। इस स्थिति की ओर भारत-सरकार का ध्यान गया और दिसम्बर १९४७ में उसने एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया जिसमें सरकार (केन्द्रीय और राज्यों की), मज़दूर और मिल-मालिक तीनों के प्रतिनिधि शामिल थे। इस सम्मेलन में सर्व सम्मति से औद्योगिक शांति संबंधी एक प्रस्ताव पास

किया गया। इस प्रस्ताव में मज़दूरों और पूँजीपतियों के आपस के सहयोग की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया और यह कहा गया कि मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ प्राप्त होनी चाहिएँ और पूँजीपतियों को उचित मुनाफ़ा मिलना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मेलन ने निम्न उपायों के बारे में सिफ़ारिश की—(१) यदि मज़दूरों और मिल-मालिकों में कोई झगड़े उत्पन्न हों तो उनको मिल-जुल कर शांतिपूर्वक सुलझाना चाहिये और इसके लिए क़ानूनी और दूसरी जो भी व्यवस्था हो उसका उपयोग करना चाहिये। जहाँ ऐसी व्यवस्था न हो वहाँ तुरन्त ऐसी व्यवस्था खड़ी करनी चाहिये। जहाँ तक संभव हो देश भर में एक-सी व्यवस्था होनी चाहिये। (२) उचित मजदूरी और काम की परिस्थितियों और पूँजी के लिए उचित पुरस्कार सम्बन्धी अध्ययन और निश्चय करने के लिए केन्द्रीय, प्रादेशिक और धन्धेवार व्यवस्था करनी चाहिये और उत्पादन सम्बन्धी मसलों में मज़दूरों का सहयोग प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय, प्रादेशिक और कारखाने वार उत्पादन समितियाँ स्थापित होनी चाहिएँ। (३) हर एक कारखाने में रोज़मर्रा के झगड़ों को सुलझाने के लिए मज़दूर और मिल-मालिक के प्रतिनिधियों की 'वर्क्स कमेटियाँ' क़ायम की जानी चाहिएँ। (४) मजदूरों के मकानों की समस्या हल करने की ओर ध्यान दिया जाना चाहिये और जहाँ तक खर्च का सम्बन्ध है उसका मज़दूर, मिल-मालिक और सरकार में बँटवारा होना चाहिये। मजदूर का हिस्सा उचित किराये के रूप में वसूल किया जाना चाहिये। अन्त में सम्मेलन ने मजदूरों और पूँजीपतियों से औद्योगिक शांति कायम रखने की अपील की।

भारत-सरकार ने तमाम राज्य की सरकारों को उक्त प्रस्ताव के अनुसार कार्रवाई करने के बारे में लिखा। अप्रैल १९४८ में सरकार ने जो औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किया उसमें भी औद्योगिक शांति सम्बन्धी इस प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो व्यवस्था विभिन्न स्तर पर स्थापित करने का निश्चय किया वह इस प्रकार थी—सारे देश के लिए एक 'केन्द्रीय सलाहकार-समिति हो और उसके नीचे प्रत्येक प्रमुख उद्योग धन्धे के लिए एक कमेटी हो। इन कमेटियों की कई उप-कमेटियाँ हो सकती हैं जो सम्बन्धित उद्योग-धन्धे की अलग-अलग समस्याओं के बारे में बनाई जायँ—जैसे उत्पादन, औद्योगिक सम्बन्ध, मजदूरी सम्बन्धी निर्णय, और लाभ का बटवारा आदि। इसी प्रकार राज्यों में प्रान्तीय सलाहकार-मण्डल हो जो प्रान्त भर के उद्योग को अपना क्षेत्र माने। उनके नीचे हर प्रमुख उद्योग के लिए प्रान्तीय कमेटियाँ हों और इन प्रान्तीय कमेटियों की और उप-कमेटियाँ

भी हो सकती हैं। प्रान्तीय कमेटियों के बाद प्रत्येक बड़े कारखाने में उत्पादन कमेटी और वर्क्स कमेटी भी स्थापित की जानी चाहिये। १६४८ में इंडियन लेबर कान्फ्रेंस ने औद्योगिक शान्ति सम्बन्धी प्रस्ताव को पक्की तौर से स्वीकार कर लिया।

प्रश्न यह है कि उक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न अब तक हुए हैं। भारत सरकार ने इसी दृष्टि से एक विशेष पदाधिकारी सितम्बर १६४८ में नियुक्त किया। बम्बई सरकार ने एक ट्रिब्यूनल इसीलिए बनाई कि वह यह देखे कि इस प्रस्ताव का उल्लंघन कहाँ-कहाँ होता है। पश्चिमी बंगाल और मद्रास ने भी औद्योगिक ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की है। केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय मजदूर-सलाहकार-परिषद् (सेन्ट्रल लेबर एडवाइज़री कौंसिल) की स्थापना कर दी है। इसमें सरकार, मज़दूर, और मालिक तीनों के प्रतिनिधि हैं। एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (उद्योग धन्धे) की स्थापना भी की जा चुकी है। इसमें केन्द्रीय और राज्य की सरकारों, पार्लियामेंट, मिल-मालिकों के संगठनों, मज़दूर-संगठनों और देश के प्रमुख उद्योग धन्धों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसका काम औद्योगिक उत्पादन और उद्योग-धन्धों सम्बन्धी दूसरे मामलों में सरकार की सहायता करना है। कुछ प्रान्तों ने भी प्रान्तीय मजदूर सलाहकार समितियों (प्रोविंशियल लेबर एडवाइज़री बोर्ड) की स्थापना की है। केन्द्रीय सरकार के कारखानों के मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकें इस दृष्टि से भारत-सरकार ने एक विशेष ट्रिब्यूनल (केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता) स्थापित की है। राज्य की सरकारें भी मज़दूर-पूँजीपतियों के झगड़े अस्थायी संस्थाओं, एडजूडीकेटर या ट्रिब्यूनल्स के पास भेजती हैं ताकि मज़दूरों को उचित मज़दूरी और काम की परिस्थितियाँ मिल सकें। न्यूनतम मज़दूरी कानून पास हो चुका है। कोयले की खानों में काम करने वालों के लिए प्रोविडेन्ट फन्ड की योजना का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत सरकार ने मज़दूरों के प्रोविडेन्ट फन्ड सम्बन्धी कानून भी पास कर दिया है। कई बड़े-बड़े उद्योगों के लिए तीनों पक्षों (सरकार, मालिक और मजदूर) के प्रतिनिधियों की औद्योगिक समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं—जैसे सूती कपड़े की मिलें, बाग़, कोयला निकालने का उद्योग और सीमेंट-उद्योग। केन्द्रीय सरकार ने वर्क्स कमेटियाँ और उत्पादन कमेटियाँ स्थापित करने के लिए बड़े बड़े बन्दरगाहों, खानों, तेल निकालने के स्थानों और केन्द्रीय सरकार के कारखानों आदि (रेलवे के अलावा) के मालिकों को आदेश दिये हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास, पश्चिमी बंगाल और मध्य प्रदेश की सरकारों ने भी इसी प्रकार के आदेश उन तमाम कारखानों को, जो १६४७ के औद्योगिक संघर्ष कानून के अन्तर्गत आते हैं, भेजे हैं। केन्द्रीय सरकार

सलाहकार परिषद् को उचित मज़दूरी, पूँजी पर उचित मुआवजे और अतिरिक्त लाभ में मज़दूरों के हिस्से सम्बन्धी मामलों का निर्णय करने में सहायता देने के लिए भारत-सरकार ने विशेषज्ञों से पूँजी पर उचित पुरस्कार, मज़दूर का अतिरिक्त लाभ में हिस्सा, और वाजिब रक्षित कोष पर प्रारम्भिक अध्ययन कराना उचित समझा। अस्तु इन बातों पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की (कमेटी ऑन प्रोफिट शेयरिंग) जिसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है। केन्द्रीय सलाहकार परिषद् के सामने जब यह रिपोर्ट पेश हुई (जुलाई १६४६) तो वह इस बारे में कोई निर्णय नहीं दे सकी। हाँ, उचित मजदूरी के बारे में जो कमेटी नियुक्त हुई उसकी रिपोर्ट परिषद् ने स्वीकार कर ली। इस समय (मार्च १६५१) उचित मजदूरी सम्बन्धी बिल संसद के सामने पेश है। इस बारे में अन्तिम प्रश्न यह है कि औद्योगिक शान्ति के प्रस्ताव का वास्तव में क्या परिणाम आया। १६४८ के औद्योगिक हड़तालों सम्बन्धी आँकड़ें देखने से पता लगता है कि इस स्थिति में यथेष्ट अन्तर हुआ है। १६४८ में कुल १२५६ हड़तालें हुईं और ७८ लाख के लगभग काम के दिनों की हानि हुई जब कि १६४७ में हड़तालों की संख्या यद्यपि १८११ थी पर काम के दिनों का नुकसान एक करोड़ पैंसठ लाख का हुआ जो १६४८ की अपेक्षा बहुत अधिक है। १६४८ के बाद भी यह प्रवृत्ति जारी रही है। औद्योगिक शांति के प्रस्ताव के अलावा हड़तालों सम्बन्धी स्थिति में पिछले तीन वर्षों में सुधार हुआ है। उसके कुछ कारण और भी हैं, जैसे—मजदूर-संगठन पर इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का प्रभाव, रोजगार की असंतोषजनक स्थिति, कम्यूनिस्टों का मजदूरों पर गिरता हुआ प्रभाव और अनिवार्य पंच-निर्णय की पद्धति का बढ़ता हुआ उपयोग। अब हम औद्योगिक शान्ति के लिए जो-जो कानून पास हो चुके हैं उन पर थोड़ा विचार करेंगे।

केन्द्रीय औद्योगिक संघर्ष क़ानून—मजदूर और मालिकों के आपसी संघर्ष को सुलझाने के लिए भारत में सबसे पुराना क़ानून १८६० का एम्पलोयर्स और वर्कमेन (डिस्प्यूट्स) एक्ट था। इस कानून के अनुसार मजिस्ट्रेट को रेलवे, नहर और दूसरे सार्वजनिक कामों में लगे हुए मजदूरों के मजदूरी सम्बन्धी झगड़ों को सुलझाने का अधिकार था, और प्रसविदा भंग को फौजदारी अपराध माना गया था। यद्यपि इस क़ानून का उपयोग तो पहले ही बन्द हो गया था, पर यह रद्द १६३२ में हुआ। सन् १६२६ में पाँच वर्ष के लिए औद्योगिक संघर्षों के सम्बन्ध में पहला क़ानून भारत-सरकार ने 'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट' के नाम से पास किया। १६३४ मे यह एक्ट स्थायी कर दिया गया। शाही मजदूर कमीशन

ने जो इस सम्बन्ध में सुझाव दिये थे उनमें से भी कुछ इस समय इस क़ानून में शामिल कर लिये गये थे। इस एक्ट में औद्योगिक संघर्ष को सुलझाने के लिए जाँच कचहरियाँ (कोर्ट ऑफ इन्कायरी) और समझौता मंडल (कन्सीलिएशन बोर्ड्स) स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले कारखानों में अचानक हड़ताल या द्वारावरोध न रोक सके, इस उद्देश्य से हड़ताल या द्वारावरोध के लिए इन उद्योग-धन्धों में १४ दिन का नोटिस देना अनिवार्य कर दिया गया था। औद्योगिक संघर्ष के अलावा और किसी उद्देश्य से की जाने वाली हड़ताल या द्वारावरोध ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया गया था। १९३८ में इस क़ानून में संशोधन किया गया। इस संशोधित क़ानून के अन्तर्गत समझौता ऑफ़िसर (कनसीलिएटिंग ऑफ़िसर्स) नियुक्त करने की व्यवस्था की गई जिनका काम मज़दूर-मालिक के संघर्ष में बीच बचाव करना और उनके निपटारे में सहायता देना था। क़ानून का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा थोड़ा विस्तृत कर दिया गया। ग़ैर क़ानूनी हड़तालों और द्वारावरोध के बारे में व्यवस्था थोड़ी ढीली करदी गई।

गत महायुद्ध के समय इस क़ानून के कुछ दोष ख़ास तौर से सामने आए। इस क़ानून में औद्योगिक झगड़ों को सुलझाने के लिए केवल अस्थायी व्यवस्था की गई थी। दूसरे जाँच कचहरी या समझौता मंडल के निर्णय अन्तिम और अनिवार्यतः लागू होने वाले नहीं थे। गत महायुद्ध के समय भारत रक्षा नियम के नियम ८१ ए के अनुसार जो जनवरी १९४२ में लागू किया गया था, सरकार को यह अधिकार था कि वह किसी भी झगड़े को निर्णय के लिए पेश कर दे और जो भी निर्णय हो उसे कार्यान्वित करे। यह नियम अस्थायी था और भारत सरकार इसे स्थायी बनाना चाहती थी। अस्तु १९४७ में इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट पास किया गया। इसके मुख्य-मुख्य प्रावधान नीचे दिये गये हैं—

(क) भारत सरकार (संघीय रेलवे, केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित धंधे, बड़े-बड़े बन्दरगाह, खान, तेल निकालने के स्थान के सम्बन्ध में, और राज्य की सरकारों को अपने-अपने क्षेत्र में यह अधिकार है कि वह किसी भी झगड़े को जाँच कचहरी के पास जाँच के लिए, समझौता मंडल के पास समझौते के लिए, और औद्योगिक ट्रिब्यूनल के पास निर्णय के लिये भेज दें। इसका तात्पर्य यह भी निकलता है कि इस क़ानून में अनिवार्य पंचनिर्णय (आरबीट्रेशन) का सिद्धान्त मान लिया गया है और सरकार चाहे तो उसे लागू कर सकती है। इसी प्रकार सार्वजनिक सेवाओं से सम्बन्ध रखने वाले झगड़ों के सम्बन्ध में अनिवार्य समझौते के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यदि किसी झगड़े का सम्बन्ध सार्वजनिक

सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धंधे से है और उसका नोटिस दे दिया गया है तो उस झगड़े को ट्रिब्यूनल के पास भेजना अनिवार्य है ; जब तक कि सरकार यही न समझे कि ऐसा करना अनुचित होगा या जो नोटिस दिया गया है वह निरर्थक है। यदि किसी झगड़े से सम्बन्धित दोनों पक्ष यह माँग करें कि उनका झगड़ा कोर्ट बोर्ड या ट्रिब्यूनल के पास भेजा जाना चाहिये तो सरकार को उसे भेजना होगा। जब मामला ट्रिब्यूनल या बोर्ड के पास है तो सरकार हड़ताल या द्वारावरोध जारी रखने की मनाही कर सकती है।

(ख) सम्बन्धित सरकारों को यह भी अधिकार है कि वे किसी भी धन्धे में, जहाँ १०० या अधिक व्यक्ति काम करते हैं वर्क्स कमेटी बनाने का आदेश दे दें। इन कमेटियों में मज़दूरों और मालिकों के बराबर प्रतिनिधि होने चाहिएँ और इनका काम मज़दूर और मालिक में अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न करना और किसी भी मामले में इस दृष्टि से आपसी मतभेद को दूर करना है।

(ग) सबंधित सरकार को किसी भी स्थान या उद्योग के लिए स्थायी तौर पर या अमुक निश्चित समय के लिए समझौता ऑफ़िसर नियुक्त करने का भी अधिकार है। इनका काम झगड़ों को मिलजुल कर सुलझाने का प्रयत्न करना है। समझौता ऑफ़िसर के लिए यह अनिवार्य है कि सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धंधों में होने वाले झगड़ों को यदि आवश्यक नोटिस दे दिये गये हैं तो सुलझाने का प्रयत्न करे। समझौता ऑफ़िसर का कर्त्तव्य है कि समझौते के सम्बन्ध में जो भी कार्रवाई की गई है उसकी सरकार को कार्रवाई आरम्भ होने से ज़्यादा से ज़्यादा १४ दिन में रिपोर्ट करे। अगर समझौते की कार्रवाई असफल रहे तो सरकार उस मामले को चाहे तो बोर्ड या ट्रिब्यूनल के पास भेज सकती है। यदि सरकार ऐसा न करे तो उसे सम्बन्धित पक्षों को ऐसा नहीं करने के कारण बतलाना चाहिये।

(घ) सबंधित सरकार को आवश्यकता होने पर समझौता बोर्ड नियुक्त करने का अधिकार है। समझौता बोर्ड में एक स्वतन्त्र अध्यक्ष और मज़दूर और मालिक के बराबर-बराबर प्रतिनिधि, जिनकी मिलाकर संख्या दो या चार हो, होना आवश्यक है। सदस्य संबधित पक्षों की सिफ़ारिश पर नियुक्त किये जाते हैं। उनका काम वही है जो समझौता ऑफ़िसरों का। परन्तु समझौते की कार्रवाई के असफल होने पर बोर्ड को रिपोर्ट में समझौते सम्बन्धी अपनी सिफारिशें भी देनी होती हैं। यदि सरकार सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धन्धों के किसी झगड़े को समझौते की कार्रवाई के असफल होने पर भी ट्रिब्यूनल के पास नहीं भेजती है तो उसे सम्बन्धित पक्षों को इसका कारण बताना होगा। समझौते बोर्ड को

साधारणतया दो महीने में अपनी रिपोर्ट दे देनी चाहिये।

(ङ) संबंधित सरकार को आवश्यकता होने पर किसी झगड़े की जाँच करने के लिए कोर्ट नियुक्त करने का अधिकार है। कोर्ट में एक या एक से अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं और एक से अधिक व्यक्ति होने पर उनमें से एक अध्यक्ष होता है। कोर्ट का काम जो मामला उसके सामने आवे उसके बारे में जाँच करके छः महीने में सरकार को रिपोर्ट दे देना है।

(च) संबंधित सरकार को औद्योगिक झगड़ों-संबंधी निर्णय देने के लिए ट्रिब्यूनल नियुक्त करने का अधिकार है। ट्रिब्यूनल में एक या एक से अधिक स्वतंत्र व्यक्ति, जो हाईकोर्ट या डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के जज हैं या रह चुके हैं, सदस्य होते हैं। हाई कोर्ट की स्वीकृति से वे व्यक्ति भी ट्रिब्यूनल में नियुक्त किये जा सकते हैं जो हाई कोर्ट के जज बनने की योग्यता रखते हैं। ट्रिब्यूनल का निर्णय दोनों पक्षों के लिए मानना आवश्यक है। यदि सरकार स्वयं किसी झगड़े में एक पक्ष के तौर पर है तो ट्रिब्यूनल का निर्णय धारा सभा के सामने जायगा, यदि सरकार उसे लागू करना ठीक नहीं समझती है और धारा सभा का जो भी निर्णय होगा—रद्द करने का, संशोधन करने का या स्वीकार करने का—वह सरकार को मानना होगा।

(छ) क़ानून में ग़ैर क़ानूनी हड़ताल और द्वारावरोध की भी व्याख्या की गई है। उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक सेवा के धंधों में निश्चित नोटिस न देने पर और नोटिस देने के १४ दिन के अन्दर-अन्दर या समझौता कार्रवाई जब समझौता ऑफिसर के सामने चल रही है उस समय में और उस कार्रवाई के समाप्त होने के बाद सप्ताह भर पहले, हड़ताल या द्वारावरोध करना ग़ैर क़ानूनी है। इसी प्रकार से सब धंधों के बारे में आम प्रतिबंध है कि यदि बोर्ड के सामने समझौते की कार्रवाई चल रही है तो उस बीच में अथवा समझौता की कार्रवाई समाप्त होने के बाद सात दिन से पहले, ट्रिब्यूनल के सामने मामला पेश हो तब और कार्रवाई समाप्त होने के बाद दो महीने पहले, या उस समय में जब कोई निर्णय लागू है, हड़ताल या द्वारावरोध होगा तो वह ग़ैर क़ानूनी होगा। ग़ैर क़ानूनी हड़ताल या द्वारावरोध को आर्थिक सहायता देने की भी मनाही है।

क़ानून में ग़ैर क़ानूनी हड़ताल या द्वारावरोध करने और उसको प्रोत्साहन देने और निर्णय को भंग करने आदि के अपराधों के लिए दण्ड का विधान भी किया गया है। जब बोर्ड, ट्रिब्यूनल, या समझौता ऑफ़िसर के सामने कोई कार्रवाई चल रही हो तो कोई मालिक किसी मज़दूर को बिना बोर्ड, ट्रिब्यूनल या समझौता ऑफ़िसर की लिखित स्वीकृति के न बरखास्त कर सकता है और न सज़ा

दे सकता है, जब तक कि उसके अनुचित व्यवहार का संबंध झगड़े के अलावा किसी दूसरी बात से न हो।

इस क़ानून को कार्यान्वित करने के लिए सम्बन्धित सरकारों ने नियम भी बनाये हैं।

इन्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स आर्डिनेन्स (१९५१) :—भारत सरकार ने दिसंबर १९५१ में यह आर्डिनेन्स पास किया। इसके द्वारा भारत सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी आम पंच निर्णय को उन कारखानों पर भी लागू कर सके जिनमें कोई झगड़ा उपस्थित नहीं हुआ हो। कारण यह है कि यदि किसी निर्णय को किसी एक उद्योग के कुछ कारखानों पर ही लागू किया जाय तो यह संभव है दूसरे कारखानों में भी उस निर्णय का लाभ उठाने के लिये झगड़े हों। इन झगड़ों से बचने के लिए पहले से ही उन कारखानों पर भी निर्णय लागू कर देना उचित हो सकता है।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (एपिलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट १९५०—इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट १९४७ में एक यह दोष था कि विभिन्न ट्रिब्यूनलों में समन्वय करने वाली देश भर के लिए कोई एक सस्था न थी। जिन उद्योगों का कारबार एक से अधिक राज्यों में फैला था उनको अलग-अलग ट्रिब्यूनलों के परस्पर विरोधी और एक दूसरे से भिन्न निर्णयों से विशेष कठिनाई होती थी। अस्तु, इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह क़ानून पास किया गया है। यह देश भर के लिए एक एपिलेट ट्रिब्यूनल की स्थापना करता है। इस कानून के अन्तर्गत बम्बई और कलकत्ता दोनों जगह एपिलेट ट्रिब्यूनल की एक बेंच क़ायम की जा चुकी है। इस केन्द्रीय एपिलेट ट्रिब्यूनल के निम्नलिखित लाभ हैं:-(१) राज्य की ट्रिब्यूनलों पर अच्छा असर पड़ेगा क्योंकि वे अधिक ज़िम्मेदारी से कार्य करेंगी जब उन्हें यह मालूम रहेगा कि उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील हो सकती है, (२) मूलभूत सिद्धान्तों का केन्द्रीय ट्रिब्यूनल प्रतिपादन करेगी और उससे विभिन्न ट्रिब्यूनलों के निर्णयों में अन्तर कम रहेगा, (३) सारे देश के लिये श्रम संबधी मामलों में एकसा प्रोसेज्योर का कोड और एक सी परिभाषाओं का निर्माण हो सकेगा।

इन्डस्ट्रियल एम्पॉलियमेंट (स्टेंडिंग आडर्स) एक्ट १९४६—यह क़ानून सारे देश में लागू होता है और १०० या अधिक व्यक्ति जहाँ काम करते हैं वे स्थान इसके अन्तर्गत आते हैं। जिन उद्योगों पर बम्बई इन्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स एक्ट का पाँचवा परिच्छेद लागू होता है उन पर यह एक्ट नहीं लागू होता। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को इसके क्षेत्र को बढ़ाने का और किन्हीं धन्धों को उससे मुक्त करने का अधिकार है। इस क़ानून का उद्देश्य ऐसे स्थायी नियमों

का निर्माण करना है जो सरकार द्वारा स्वीकृत किये जाय और जो मज़दूरों और मालिकों के परस्पर सम्बन्धों और काम की परिस्थितियों का नियंत्रण करते हैं।

राज्यों के औद्योगिक संघर्ष सम्बन्धी क़ानून—कई राज्यों ने भी औद्योगिक संघर्ष सम्बन्धी क़ानून अपनी विशेष आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पास किये हैं। बम्बई-सरकार ने इस मामले में पहल की थी और १९३४ में एक क़ानून पास किया था। १९३८ में उसके स्थान पर दूसरा क़ानून पास किया गया। फिर १९४७ में बम्बई औद्योगिक सम्बन्धी क़ानून पास हुआ जो इस समय भी लागू है। १९४८ में इस क़ानून में कुछ संशोधन किये गए थे। इस एक्ट का उद्देश्य औद्योगिक शांति स्थापित करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक्ट में मालिक और मज़दूर की सम्मिलित समितियाँ (ज्वाइंट कमेटी) स्थापित करने की, झगड़ा होने की हालत में अनिवार्यतः विचार विनिमय और बात-चीत द्वारा (जिसके लिए सात दिन का समय निश्चित किया गया है) झगड़ा सुलझाने के प्रयत्न करने की और यदि यह प्रयत्न सफल न हो तो समझौता के लिए समझौता-ऑफ़िसर और समझौता-बोर्ड स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इसके अलावा एक्ट में अन्तिम प्रयत्न के रूप में पंच-निर्णय (आरबीट्रेशन) के लिए भी व्यवस्था है। यह पंच निर्णय दोनों पक्षों के चाहने पर तो अनिवार्य हो ही जाता है; पर सरकार को भी यह अधिकार है कि वह किसी मामले को निर्णय के लिए लेबर कोर्ट या इन्डस्ट्रियल कोर्ट के पास भेज दे। अस्तु, अनिवार्य पंच-निर्णय (आरबीट्रेशन) का सिद्धांत इस एक्ट में भी स्वीकार कर लिया गया है। इन्डस्ट्रियल कोर्ट (कोर्ट फॉर इन्डस्ट्रियल आरबीट्रेशन) मामूली तौर से अपील कोर्ट का काम करती है और रजिस्ट्रार, लेबर कमिश्नर और लेबर कोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनती है। यदि कोई समझौता-ऑफ़िसर (कन्सीलियेटर या समझौता-मंडल इसके पास कोई मामला भेजे तो उनका निर्णय करना भी कोर्ट का काम है। एक्ट में लेबर ऑफ़िसर और कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी की नियुक्ति संबधी धाराएँ भी हैं। १९३८ में जो संशोधन किया गया था उसके अनुसार मज़दूरी मंडलों (वेज बोर्ड्स) की स्थापना भी की जा सकती है। इनका काम समग्र उद्योग से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी आम समस्याओं पर विचार करना है जैसे मज़दूरी का प्रमापीकरण (स्टेन्डर्डाईज़ेशन), वैज्ञानिकन (रेशनलाईज़ेशन), कार्य की दक्षता आदि। प्रत्येक उद्योग के लिए राज्य भर में एक वेज बोर्ड स्थापित किया जा सकता है और इसमें मज़दूरों और मालिकों के बराबर की संख्या में प्रतिनिधि तथा कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति सदस्य होते हैं। इन्डस्ट्रियल कोर्ट को अधिकार है कि वेज बोर्ड पर सामान्य नियंत्रण रखे। वेज बोर्ड के निर्णयों की अपील इन्डस्ट्रियल

कोर्ट के सामने की जा सकती है। एक राज्य भर के लिए वेज बोर्ड नियुक्त करने की भी एक्ट में व्यवस्था की गई है। इसका काम सब उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करना है। हड़ताल द्वारा विरोध आदि अन्य बातों के बारे में भी इस एक्ट में प्रावधान है।

मध्य-प्रान्त और उत्तर-प्रदेश में भी इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट लागू हैं जो १६४७ में पास किये गये थे। मध्य प्रान्त के क़ानून में भी अन्य बातों के अलावा वर्क्स कमेटी, लेबर कमिश्नर, डिस्ट्रिक्ट और प्रोविन्शियल इन्डस्ट्रियल कोर्ट, समझौता और पंच-निर्णय [आरबीट्रेशन] संबंधी धाराएँ हैं।

उत्तर प्रदेश के एक्ट में सरकार को हड़तालें और द्वारावरोध रोकने के लिए आम अधिकार दिया गया है और इन्डस्ट्रियल कोर्ट आदि स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह (१) हड़ताल या द्वारावरोध पर आम प्रतिबन्ध लगाने, या किसी झगड़े विशेष के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाने, (२) मजदूरों और मिल-मालिकों को काम की अमुक शर्तों और परिस्थितियों को स्वीकार करने, (३) इन्डस्ट्रियल कोर्ट्स नियुक्त करने (४) किसी झगड़े को समझौता या निर्णय के लिए पेश करने (५) सार्वजनिक सेवा के धंधे को काम करते रहने और बन्द न होने देने और उन पर नियंत्रण स्थापित करने (६) तथा दूसरे सबंधित मामलों के बारे में आदेश जारी कर सके।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि औद्योगिक शांति क़ायम करने के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने क्या-क्या क़ानून पास किये हैं। अधिकांश राज्यों में केन्द्रीय और राज्य के क़ानून के अनुसार जो संगठन स्थापित होना चाहिये वह स्थापित किया जा चुका है। अस्तु, आज विभिन्न स्थानों में औद्योगिक झगड़ों को रोकने और सुलझाने के लिए वर्क्स कमेटीज़, ज्वाइंट कमेटीज़ [बम्बई], लेबर ऑफ़िसर्स, कन्सीलियेशन ऑफ़िसर्स, तथा पंच-निर्णय के लिए लेबर कोर्ट्स और इंडस्ट्रियल कोर्ट्स काम कर रही हैं। बम्बई में वेज बोर्ड क़ायम किये गये हैं। केन्द्रीय और राज्य की सरकारों द्वारा अस्थायी इन्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल्स की स्थापना भी की जाती है। स्थायी इन्डस्ट्रियल कोर्ट्स और ट्रिब्यूनल्स की भी कई जगह स्थापना की गई है। केन्द्रीय सरकार ने दो स्टैंडिंग ट्रिब्यूनल्स धानबाद और कलकत्ते में स्थापित किये हैं।

औद्योगिक शांति की दृष्टि से पिछले वर्षों में जो क़ानून पास किये गए हैं उनके सम्बन्ध में मज़दूर-नेताओं को पूरा सन्तोष नहीं रहा है। औद्योगिक शांति का प्रश्न सुलझाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि कारखानों के

यूनियन एक्ट (एमेंडमेंट) बिल' । ये दोनों प्रस्तावित क़ानून १६५० के बजट सेशन में पेश किये गये थे और इनके सम्बन्ध में सेलेक्ट कमेटियों की रिपोर्ट भी संसद् के सामने उपस्थित की जा चुकी थी। पर ये बिल क़ानून का रूप नहीं ले सके। अब नई संसद के सामने इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में दुबारा नये बिल प्रस्तुत करने पर ही क़ानून बन सकेगा।

इन दोनों प्रस्तावित क़ानूनों को लेकर देश में बहुत अधिक विवाद चला है और सरकार की कड़ी आलोचना की जा रही है। विशेषता यह है कि यह आलोचंना मज़दूर और पूँजीपति दोनों ही पक्षों की ओर से की जा रही है। जबकि मज़दूर-पक्ष इन प्रस्तावित क़ानूनों को मज़दूर-हितों और मज़दूर संगठन के लिए घातक मानता है, सरकार का यह कहना है कि इनका उद्देश्य मज़दूर-हितों की रक्षा करना, उनमें स्वस्थ संगठन को प्रोत्साहित करना, और पूँजीपतियों और उनमें न्याय सम्बन्ध स्थापित करना है।

पहले हम लेबर रिलेशन्स बिल के बारे में विचार करेंगे। इसका उद्देश्य मज़दूर पूँजीपति-सम्बन्धों में समस्त देश में समानता लाने का प्रयत्न करना है। इस समय केन्द्रीय तथा अलग-अलग राज्यों के अलग-अलग क़ानूनों के होने से कई प्रकार की उलझनें और विरोधाभास उत्पन्न हो जाते हैं। अस्तु, इस क़ानून का एक उद्देश्य देश भर में समान आधार पर मज़दूर सम्बन्धों की स्थापना करना है। और दूसरा उद्देश्य मौजूदा क़ानूनों में जो भी कमियाँ हैं उनको दूर करना है। इन प्रस्तावित क़ानूनों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रखा गया है। न केवल औद्योगिक और व्यापारिक बल्कि सब प्रकार की संस्थाओं (इस्टब्लिश-मेंट) पर जिसमें दस या अधिक व्यक्ति काम करते हैं, और सब प्रकार के कर्मचारियों पर (राज-कर्मचारी, फौज में काम करने वाले और घरेलू काम करने वाले लोगों को छोड़कर) यह बिल लागू होता है।

इस बिल की जिन मुख्य-मुख्य धाराओं पर विवाद है वे इस प्रकार हैं। इस बिल में मज़दूरों के हड़ताल करने संबंधी अधिकार पर कुछ मर्यादायें लगाई गई हैं। जैसे मज़दूरों और मालिकों दोनों के लिए हड़ताल या द्वारावरोध के पहले नोटिस देना आवश्यक है, और नोटिस आने के बाद सात दिन के अन्दर जिसको नोटिस मिलता है उसे समझौते की बात-चीत शुरू कर देनी चाहिये। एक निश्चित समय में यह बात-चीत समाप्त कर देना आवश्यक है और इसका नतीजा दोनों पक्षों में समझौता होने का यदि न आवे तो हड़ताल या द्वारावरोध किया जा सकता है। सार्वजनिक सेवा से सम्बन्ध रखने वाले धन्धों में हड़ताल या द्वारावरोध के लिए १४ दिन का नोटिस देना अनिवार्य है। यदि कोई मामला

किसी लेबर कोर्ट या ट्रिब्यूनल के पास भेज दिया जाए तो हड़ताल करना मना है। इसी तरह से यदि किसी पंच-निर्णय के लागू होने के समय हड़ताल की जाए तो वह भी ग़ैर क़ानूनी होगी। दूसरी विवादग्रस्त धारा अनिवार्य पंच-निर्णय के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है। बिल में अनिवार्य पंच-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है जैसा कि इस सम्बन्धी मौजूदा क़ानून में भी है। तीसरी धारा जिस पर आपत्ति की जाती है वह यह है कि मिल-मालिकों को यह अधिकार दिया गया है कि 'धीमे काम' की नीति को वह बाकायदा एक झगड़ा घोषित करादे। पर यह अधिकार मज़दूरों को मिल-मालिकों के विरुद्ध भी कर दिया गया है। बिल में सरकार को यह अधिकार भी दिया गया था कि वह किसी भी ट्रिब्यूनल के निर्णय को बदल दे या रद्द करदे। पर सेलेक्ट कमेटी ने इस धारा को हटा दिया है। इसका भी बहुत विरोध किया जा रहा था क्योंकि यह तो न्याय में सरकार का हस्तक्षेप करना जैसा होता। यदि किसी उचित कारण से किसी मज़दूर को मिल मालिक अलग करदे या आवश्यकता से अधिक मज़दूरों की छटनी करादी जाए; तो इस बिल में ये दोनों बातें झगड़े के अन्तर्गत नहीं मानी गई हैं। पर सेलेक्ट कमेटी ने वैज्ञानिकन के कारण की जाने वाली छटनी को ट्रिब्यूनल के निर्णय के लिये, जहाँ तक छटनी की संख्या का सम्बन्ध है, भेजने की सिफ़ारिश की है। यद्यपि मिल-मालिक इससे सन्तुष्ट हैं पर मज़दूरों को इससे विरोध है, क्योंकि उनका यह कहना है कि इसका अर्थ तो यह है कि मज़दूरों की छटनी को लेकर तो हड़ताल की ही नहीं जा सकती। उपर्युक्त कारणों को लेकर मज़दूरों की ओर से इस बिल का बड़ा विरोध किया जा रहा है। पर कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जिनका पूँजीपति खास तौर से विरोध करते हैं। जैसे वे इस बात का विरोध करते हैं कि इस क़ानून को औद्योगिक और व्यापारिक संस्थाओं के अलावा दूसरी संस्थाओं पर भी लागू किया जाए और मज़दूरों के अलावा दूसरे उच्च वर्ग के कर्मचारी, जैसे मैनेजर आदि भी इस कानून के अन्तर्गत आवें। पूँजीपतियों को इस बात से भी बहुत आपत्ति है कि ट्रिब्यूनल को किसी भी बरखास्त किए गये कर्मचारी को दुबारा काम पर लगाने का अधिकार हो। इस बिल में यदि कोई हड़ताल ग़ैर क़ानूनी नहीं है तो हड़ताल के समय का मज़दूरों को उनकी मज़दूरी का $\frac{3}{4}$ भाग तक अलाउन्स के रूप में दिलाये जाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार ग़ैर क़ानूनी द्वारावरोध के समय मिल-मालिक को जुर्माने के तौर पर मज़दूर को $1\frac{1}{2}$ मज़दूरी देने के लिये कहा गया है। पूँजीपति-वर्ग इसके भी विरोध में है। बिल में सरकार को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह अधिकार भी है कि किसी उद्योग विशेष पर निर्णय को लागू करने की दृष्टि से ही उस उद्योग

को अपने नियन्त्रण में लेले। ऐसा तभी हो सकता है जब समाज के जीवन के लिये किन्हीं धन्धो का चलना आवश्यक समझा जाय। उपरोक्त आपत्तियों के अलावा कुछ और बातें भी ऐसी हैं जिन पर आपत्ति की जा सकती है। जैसे अनिवार्य पंच-निर्णय के लिए जो विस्तृत व्यवस्था की गई है उससे मालिक और मज़दूर में सामूहिक सौदा करने की वृत्ति को आघात पहुँचेगा। व्यवस्था यह है कि सामूहिक समझौतों, स्थायी आदेशों, रजिस्ट्रेशन, रिकगनिशन, सर्टीफ़िकेशन सम्बन्धी जो मामले लेबर कोर्ट के पास निर्णय के लिये जा सकते है उनकी अपील लेबर ट्रिब्यूनल के पास हो सकती है। लेबर ट्रिबुनल्स मज़दूरी तथा काम की दूसरी शर्तों के बारे में भी निर्णय दे सकती हैं पर उनकी अपील एपेलेट ट्रिबूनल्स के पास की जा सकती है। बिल में सामूहिक सौदा कर सकने के लिए प्रमाणित (सर्टिफाईड) यूनियन होने की आवश्यकता रखी है पर प्रमाणित होने की शर्त यह है कि यूनियन के फर्म के ५०% मज़दूर सदस्य होने चाहियें। यह शर्त बहुत कड़ी है। उपर्युक्त विवेचन 'लेबर-रिलेशन्स बिल' से सम्बन्ध रखता है।

जहाँ तक ट्रेड यूनियन सम्बन्धी बिल का सम्बन्ध है, कुछ बातों को लेकर विशेष रूप से विरोध किया जा रहा है। एक तो यूनियन की कार्यकारिणी में बाहर के (गैर मज़दूर) लोगों की संख्या के बारे में विवाद है। मज़दूर-नेता यह सख्या ५० प्रतिशत तक चाहते हैं जबकि बिल में २५ प्रतिशत या चार-जो भी कम हो उसकी, व्यवस्था है। मज़दूर-पक्ष यह भी नहीं चाहता कि यूनियन का रजिस्ट्रेशन रद्द करने का अधिकार रहे। राजकर्मचारियों को हड़ताल करने के अधिकार से वञ्चित रखने का जो प्रस्ताव बिल में किया गया है उसका भी विरोध किया जा रहा है। मिल-मालिकों का यह भी कहना है कि मज़दूरों को ग़लत जानकरी देने के अपराध में जेल की सज़ा होनी चाहिये।

इन दोनों महत्त्वपूर्ण बिलों का जितना विरोध किया जा रहा है उनको देखते हुए यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त धाराओं में से किस-किस में कितना संशोधन होगा। यदि कुछ सिद्धान्त की बातों को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर विभिन्न पक्षों में समझौता होना इतना कठिन नहीं है। इन सिद्धान्त की बातों में हड़ताल सम्बन्धी अधिकार पर मर्यादा, अनिवार्य पंच-निर्णय का सिद्धान्त प्रमुख है। अभी जो कानून लागू हैं उनमें भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया जा चुका है। यदि हम देश के आर्थिक संगठन का एक वर्ग विशेष की दृष्टि से निर्माण नहीं करना चाहते और सरकार पर प्रगतिशील तत्वों का पूरा प्रभाव रहता है, और प्रत्येक वर्ग अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठने के लिये तैयार है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रस्तावित कानूनों में जो मूलभूत सिद्धान्त हैं वे आपत्तिजनक नहीं

कहे जा सकते।

'एम्पलॉईज प्रोविडेन्ट फंड्ज़ एक्ट' :—भारत सरकार ने १५ नवम्बर १९५१ को 'एम्पलोइज़ प्रोविडेन्ट फन्ड्ज़' अध्यादेश जारी किया था। बाद में फ़रवरी १९५२ में इसके स्थान पर एम्पलॉईज़ प्रोविडेन्ट फंड एक्ट पास कर दिया गया। यह क़ानून फ़िलहाल केवल छः बड़े उद्योगों में लागू होगा—टेक्सटाइल, लोहा और इस्पात, सीमेन्ट, इन्जीनियरिंग, कागज और सीमेंट। यह क़ानून सरकार और स्वायत्त शासन संस्थाओं के कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों पर लागू नहीं होगा क्योंकि प्रायः इन लोगों को पहले से ही कहीं अधिक सुविधायें प्राप्त हैं। इसके अलावा आरम्भ में सीमित आधार पर ही इस नये प्रयोग को करना ठीक समझा गया है। प्रोविडेंट फंड का आधार मूल वेतन के साथ साथ मँहगाई भी रहेगी। प्रोविडेंट फंड के संचालन के व्यय में भी सेवायोजकों (एम्पलॉयर्स) को कन्ट्रीब्यूशन देना होगा जब कि मज़दूरों को नहीं देना होगा। यदि मजदूर एक जगह से काम छोड़कर दूसरी जगह जायगा तो उसका प्रोविडेंट फंड का रुपया दूसरी जगह उसके प्रोविडेंट फंड के हिसाब में जमा कर दिया जायगा। फ़िलहाल उपरोक्त उद्योगों में उन्हीं कारखानों में यह प्रोविडेंट फंड की योजना लागू होगी जिनमें ५० या अधिक आदमी काम करते होंगे। इन छः उद्योगों के अलावा दूसरे उद्योगों में भी यह एक्ट लागू किया जा सकेगा यदि भारत सरकार चाहेगी तो। प्रत्येक सेवायोजक को मज़दूर को मूल वेतन और मँहगाई का ६¼% प्रोविडेंट फंड से जमा कराना होगा और इतना ही मज़दूर भी जमा करायेगा। जिन कारखानों में प्रोविडेन्ट फंड की कम से कम इतनी लाभदायक योजना पहले से ही मौजूद है उन्हें इस एक्ट से मुक्त किया जा सकेगा। एक्ट में कई ऐसे विषय एक शेड्यूल में दिये गये हैं जिनके बारे में प्रोविडेंट फंड के सम्बंध में सरकार जब योजना बनायेगी तो आवश्यक नियम बनाये जाएँगे। अस्तु, एम्पलोईज़ प्रोविडेंट फंड्ज़ एक्ट १९५२ के अन्तर्गत सरकार ने अप्रैल १९५२ में एक योजना तैयार की है और यह प्रकाशित की गई है। ७ मई १९५२ तक योजना के सम्बन्ध में सुझाव मांगे गये हैं। योजना के पक्की होने पर १ जुलाई १९५२ से उसे लागू किया जायगा। योजना के संचालन के लिये केन्द्र में एक बोर्ड ऑफ़ ट्रस्टीज़ होगा जिसमें अध्यक्ष के अलावा केन्द्रीय सरकार, राज्य की सरकारों, और सेवायोजकों और मज़दूरों के प्रतिनिधि भी रहेंगे। केन्द्रीय बोर्ड के अलावा प्रादेशिक कमेटियाँ भी नियुक्त की जावेंगी। थोड़े समय के बाद संचालन सम्बन्धी बहुत से अधिकार राज्य की सरकारों को सौंप दिये जावेंगे। उस समय प्रदेश कमेटियाँ राज्य बोर्ड का रूप ले लेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय तथा दूसरी समितियों और सम्मेलनों में भारतीय मजदूर का प्रतिनिधित्व—इस बारे में हमने पहले लिखा है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन का आरम्भ से ही सदस्य है। इस संगठन की स्थापना प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वार्साय की सन्धि के अनुसार की गई थी। संगठन के तीन मुख्य अङ्ग हैं—अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-कार्यालय, संचालक मण्डल (गवर्निंग बोर्ड), और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन। सचालक मण्डल में ३२ सदस्य हैं—१६ सरकारी प्रतिनिधियों में से चुने जाते हैं और ८ मिल-मालिकों की ओर से और बाकी ८ मजदूरों की ओर से। १६ सरकारी स्थानों में से ८ स्थान सबसे प्रमुख ८ औद्योगिक राष्ट्रों के लिए स्थायी तौर से सुरक्षित हैं। इनमें से एक स्थान भारत का भी है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के सरकार, मिल-मालिक और मज़दूर तीनों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। यह सम्मेलन प्रति वर्ष होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ के ६८ कन्वेंशन्स (प्रस्ताव) में से भारत ने अभी तक १७ कन्वेंशन्स स्वीकार किये हैं। पिछले दस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन में प्रादेशिक मजदूर सम्मेलन करने की नई नीति का विकास हुआ है। १६४७ में भारत-सरकार के निमन्त्रण पर जो प्रारम्भिक एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन (प्रिपेरेटरी एशियन रीजनल कान्फ्रेंस) दिल्ली में हुआ था, वह एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन की तैयारी के लिये ही हुआ था। एशियाई प्रादेशिक सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन जनवरी १६५० में लंका में हुआ था। 'एशियन एडवाइजरी कमेटी' की भी स्थापना की जा चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ के काम को उसके द्वारा स्थापित औद्योगिक समितियों से भी सहायता मिलती है। इनमें से कई समितियों का भारत भी सदस्य है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सघ समय-समय पर अस्थायी सम्मेलन और समितियाँ भी बुलाता रहता है। इनमें भी भारत हिस्सा लेता है। सामुद्रिक समस्याओं पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ के विशेष अधिवेशन होते हैं और सामुद्रिक प्रश्नों पर संचालक मंडल को सलाह देने के लिए एक सम्मिलित सामुद्रिक कमीशन है जिस पर जहाज़ के मालिक और जहाज़ पर काम करने वाले मज़दूर दोनों के प्रतिनिधि होते हैं। १६४८ से अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन ने केवल सिफ़ारिशें करने या कन्वेंशन पास करने के अलावा स्वयं भी कुछ काम करने का निश्चय किया है। 'टेकनिकल एसिस्टेंस प्रोग्राम' के अन्तर्गत विभिन्न देशों को टेक्निकल सहायता दी गई है। इस उद्देश्य से विशेषज्ञों को विभिन्न देशों में भेजा गया है। वोकेशनल ट्रेनिंग की व्यवस्था भी की गई है। इसी तरह से एक देश की अतिरिक्त मानव-शक्ति को दूसरे देश में भेजने सम्बन्धी कार्रवाई भी यूरोप के देशों का जहाँ तक सम्बन्ध है, की गई है।

भारतीय मज़दूर सम्मेलन—अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सम्मेलन की तरह भारत में भी एक भारतीय मज़दूर सम्मेलन हर वर्ष होता है जिसमें सरकार, मज़दूर और मिल-मालिक तीनों ही पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं। मज़दूरों सम्बन्धी सब समस्याओं पर इस सम्मेलन में विचार होता है। इसके अलावा एक स्थायी मज़दूर समिति भी है जो वर्ष में भारत सरकार के निमन्त्रण पर एक से अधिक बार मिलती है। इस त्रिपक्षीय संगठन (ट्रिपारटाइट मशीनरी) का आरम्भ १९४२ में ही हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की तरह भारत-सरकार ने भी अलग-अलग उद्योग-धन्धों के लिए औद्योगिक समितियाँ नियुक्त करने की नीति स्वीकार कर ली है। अस्तु, सबसे पहली कमेटी बाग़ों के बारे में स्थापित हुई थी और उसकी पहली बैठक जनवरी १९४७ में हुई थी। अब तो और उद्योगों के लिए भी इन कमेटियों की स्थापना की जा चुकी है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार भारत-सरकार मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए बराबर प्रयत्नशील है और राज्य की सरकारों का भी इस ओर ध्यान रहा है। राज्य की सरकारों, मज़दूरों और मिल-मालिकों से विचार-विनिमय करके और उनके सहयोग से भारत सरकार ने मज़दूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए एक पंच वर्षीय योजना सन् १९४६ में बनाई थी। आज उसी योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है, और काफ़ी हद तक वह कार्यान्वित भी की जा चुकी है।

परिच्छेद ७

संगठित उद्योग-धन्धे

सूती वस्त्र-मिल-उद्योग—भारत के आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों में सूती वस्त्र-मिल-उद्योग सबसे प्रमुख उद्योग है। देश के फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत आने वाले फ़ैक्टरी उद्योग में कुल २४ लाख के लगभग लोग काम करते हैं। इनमें से लगभग ४-५ लाख आदमी सूती वस्त्र की मिलों में काम करते हैं। १६५१ में इन मिलों की कुल सख्या ४४५ थी। इनमें से लगभग ३०६ मिलें कपड़ा और सूत दोनों और शेष केवल सूत उत्पन्न करती हैं। १०० करोड़ रुपये की वसूल पूँजी (पेड अप केपीटल) इस उद्योग में लगी हुई है। देश की कपड़े की कुल मांग का दो तिहाई से अधिक भाग इन मिलों द्वारा ही पूरा होता है। इनकी औसत सालाना पैदावार लगभग ४५० करोड़ गज़ कपड़ा और १४० करोड़ पौंड सूत और अधिकतम उत्पादन शक्ति लगभग ५०० करोड़ गज़ कपड़े और १५०–१६० करोड़ पौंड सूत की मानी जा सकती है। यह ठीक है कि पिछले कई वर्षों में उत्पादन कम हुआ है। १ करोड़ से अधिक तकुए (स्पिंडर्ल्स) और २ लाख के लगभग करघे इन मिलों में चलते हैं। कपास की साल भर में ५० लाख गांठों की खपत होती है। दुनिया के सूती वस्त्र-मिल-उद्योग में तकुए और करघों की दृष्टि से भारत का स्थान पांचवाँ और कपास की खपत की दृष्टि से चौथा है। खाद्य-उद्योग के बाद राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान इसी उद्योग का है। सारांश यह है कि सूती वस्त्र-मिल-उद्योग इस देश का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धन्धा है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह पूँजी और प्रबन्ध दोनों की दृष्टि से ही आरम्भ से भारतीय हाथों में रहा है। अब हम इसी के विषय में आगे की पंक्तियों में लिखेंगे।

प्रारम्भिक इतिहास—इस धन्धे का इतिहास सौ वर्ष पुराना है। इसका आरम्भ १८५१ में हुआ जब बम्बई में श्री कोवासजी नाना भाई डावर नाम के एक पारसी सज्जन ने एक सूत की मिल की योजना बनाई और १८५४ में इस मिल ने काम करना भी आरम्भ कर दिया। इसके कुछ वर्षों पश्चात् अमरीका का गृह-युद्ध आरम्भ होगया और इंगलैंड में भारत के कपास की माँग बढ़ गई तथा कपास का मूल्य भी बढ़ गया। इसलिए कुछ वर्षों तक इस उद्योग की प्रगति धीमी रही। परन्तु अमरीका के गृह-युद्धों के समाप्त हो जाने के बाद कपास के निर्यात से जो रुपया कमाया गया था वह देश के उद्योग-धन्धों में लगने लगा और सूती कपड़ों की मिलों की संख्या भी बढ़ने लगी। १८७६ में सूती कपड़ों के मिलों

की संख्या ४७ तक पहुँच गई थी। इस समय के सूती उद्योग के प्रमुख लक्षण ये थेः—कपड़े की अपेक्षा सूत के उत्पादन की प्रधानता; बम्बई शहर और द्वीप में उद्योग का स्थानीयकरण; चीन को निर्यात होने वाले सूत पर उद्योग की निर्भरता और आन्तरिक बाज़ार की अवहेलना। पूंजी की सुविधा, सस्ते, तेज़ यातायात के साधन और चीन के बाज़ार की निकटता के कारण इस उद्योग का बम्बई में स्थानीयकरण हुआ।

१८७५-१६००—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के पहले १५ वर्षों में (१८७५-१८६०) इस उद्योग के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं आई और उसका अच्छा विस्तार हुआ। पर बाद के दस वर्षों में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। इंगलैंड के वस्त्र-उद्योग के (लंकाशायर और मैनचेस्टर के) व्यवसायी भारत में इस उद्योग की उन्नति भला कैसे देख सकते थे। उन्होंने इसका विरोध किया। उस समय की विदेशी सरकार पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विदेशी सूती माल पर से आयात कर धीरे-धीरे हटा लिया गया। बाद में जब सरकार को अपनी आय-वृद्धि के लिए फिर आयात कर लगाना पड़ा तो उसने भारतीय उत्पादन पर उत्पादन-कर (एक्साइज़ ड्यूटी) उसी हिसाब से लगा दिया ताकि भारत की मिलों में तैयार माल की प्रतिस्पर्द्धा में विलायती माल मँहगा न पड़े। १८६४ में यह दोनों कर (देशी सूत और विदेशी कपड़ा और सूत दोनों पर) ५ प्रतिशत के हिसाब से लगाये गये थे पर १८६६ में घटाकर ३½ प्रतिशत कर दिये गये। आयात-कर में तो समय-समय पर वृद्धि होती गई, पर उत्पादन कर (जो २० नम्बर से ऊपर के सूत पर था) इसी हिसाब से लगा रहा। बहुत कुछ प्रयत्न और आन्दोलन के पश्चात् १६२६ में यह कर हटाया गया। सूती वस्त्र-मिल-उद्योग के मार्ग में एक और कठिनाई उपस्थित होगई। १८६३ में रुपये का टंकन (मिन्टेज) बन्द हो गया और उसका परिणाम यह हुआ कि चीन की मुद्रा में, जो चांदी के आधार पर थी, रुपये का मूल्य बढ़ गया और भारत तथा चीन के बीच का विनिमय-दर भारतीय निर्यात की दृष्टि से प्रतिकूल होगया। इसका प्रभाव भारतीय सूत-उद्योग पर, जो चीन पर इतना निर्भर था, बुरा पड़ा। इसके अलावा चीन और जापान में भी वस्त्रोद्योग का विकास होने लग गया था। अकाल और प्लेग का भी इसी समय इस देश को सामना करना पड़ा जिससे लोगों की क्रयशक्ति में और मज़दूरों की पूर्ति में कमी आई। इन तमाम कठिनाइयों के होते हुए भी सूती वस्त्र-मिल-उद्योग की प्रगति जारी रही। १६०० में मिलों की संख्या बढ़ कर १६३, तकुओं की ४६ लाख के लगभग, और करघों की ४० हजार के लगभग होगई। इस काल में एक नया

परिवर्तन यह भी हुआ कि जो नई मिलें खुलीं वे बम्बई शहर के अलावा बम्बई प्रान्त और प्रान्त के बाहर के दूसरे स्थानों में भी स्थापित हुई, जैसे अहमदाबाद, शोलापुर, सूरत, बड़ौदा, नागपुर तथा कानपुर। कच्चे माल की निकटता, श्रम और बाज़ार की सुविधा और रेल के यातायात की सुविधा के कारण ही इन स्थानों में कपास की मिलों की स्थापना हुई। अभी तक सूत-उत्पादन और चीन को सूत के निर्यात की प्रधानता पहले जैसी ही बनी रही।

१९००-१९१४—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लगा कर प्रथम महायुद्ध के शुरू होने तक सूती वस्त्र-मिल-उद्योग की प्रगति चलती रही। १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन से इसको प्रोत्साहन मिला। हालांकि चीन-जापान से सूत का व्यापार घटता गया और दुनिया के कपास के बाज़ार में भी १९०७ में मन्दी आई, पर भारत के कपास-उद्योग की प्रगति जारी रही। सन् १९१३ में मिलों की संख्या २७१, तथा तकुओं की ६८ लाख और करघों की १ लाख के लगभग थी। सूत की अपेक्षा अब बुनाई की प्रधानता होगई क्योंकि चीन और जापान में अब हमारे सूत की मांग नहीं रही। अच्छे दर्जे का कपड़ा भी अब तैयार होने लगा और बम्बई से बाहर उद्योग का विस्तार और भी तेज़ी से होने लगा।

प्रथम-महायुद्ध—जब १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो बाहर से माल का आना कम होगया और देश के अन्दर की खपत बढ़ गई। इसका असर उद्योग के विकास के लिए सहायक हुआ। मिलों के लाभ में खूब वृद्धि हुई और उनके हिस्सों का मूल्य भी बाज़ार में काफ़ी ऊँचा होगया। पर मशीनरी और दूसरा आवश्यक सामान जो कपड़ों की मिलों को चाहिये और जो बाहर से आता था उसके आने में युद्ध के कारण कठिनाई होगई। इस कारण इस उद्योग का जितना विस्तार हो सकता था वह नहीं हो सका। मिलों और स्पिंडल्स की संख्या तो लगभग वही रही पर करघों की संख्या में अवश्य २५ प्रतिशत वृद्धि हुई। कपड़े के उत्पादन की मात्रा बढ़ी, बुनाई की प्रधानता बनी रही और सूत के निर्यात में कमी होगई। बाहर से आनेवाले कपड़े और सूत की कुल मात्रा में अवश्य कमी हुई पर जापान से आनेवाले माल की मात्रा बढ़गई।

युद्धोत्तर अभिवृद्धि—युद्ध के तुरन्त बाद ही युद्धोत्तर अभिवृद्धि (बूम) का आरंभ हुआ। बम्बई में तो इसकी शुरूआत १९१७ से ही हो गई। वैसे अभिवृद्धि का समय साधारणतया १९१९ से १९२१ तक युद्ध के पश्चात् तीन साल का माना जाता है। हालांकि १९२१ के बाद भी यह अभिवृद्धि १९२२ में जारी रही। इस समय में देश में मिलों की संख्या बढ़ी यद्यपि बम्बई में तकुए (स्पिंडल्स) और करघों की संख्या को बढ़ाकर ही उद्योग का विस्तार किया गया। कपड़े

और सूत के कुल उत्पादन में वृद्धि हुई, मिलों ने अपनी शक्ति-भर काम किया, और कपड़े और सूत का आयात काफ़ी गिर गया। परन्तु जापान का आयात बढ़ता ही गया।

संकट काल—१६२३ में भारतीय सूती वस्त्र-मिल उद्योग के लिए संकट का समय आरंभ होता है, और एक तरह से १६३७ तक उसकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं होता। इस सकट की स्थिति का सामना बम्बई की मिलों को अपेक्षाकृत अधिक करना पड़ा। इस संकट के कई कारण थे। कुछ कारण तो विश्वव्यापी थे। युद्धोत्तर अभिवृद्धि के बाद सारे संसार में स्वाभाविक चक्रगति के नियम के अनुसार मंदी का युग आया जो १६२२ से १६२४-२५ तक रहा। १६२० के पश्चात् जब मूल्यों का ह्रास होने लगा तो कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के मूल्यों में तैयार माल के मूल्यों की अपेक्षा अधिक ह्रास हुआ। भारतीय किसान की क्रय शक्ति इससे गिर गई और उसकी मांग भी कम होगई। इसका देश के वस्त्रोद्योग पर बुरा असर पड़ा। इसके अलावा एक बात यह भी हुई कि कपड़े के मूल्य में तो कमी हुई पर कपास की कीमत बढ़ती गई और इससे मिलों को नुक़सान हुआ। उपर्युक्त विश्वव्यापी कारणों के अलावा कुछ कारण ऐसे थे जिनका केवल भारत से सम्बन्ध था। भारतीय-मिलों में तैयार कपड़े से विदेशी कपड़े ने फिर प्रतिस्पर्द्धा करना आरंभ करदी। यह प्रतिस्पर्द्धा इंगलैंड और खास कर जापान से अधिक थी। जापान के वस्त्रोद्योग को वहाँ की सरकार से आर्थिक सहायता मिलती थी, वहाँ का मज़दूर बहुत कम मज़दूरी पर काम करता था, उद्योग का संगठन अच्छा था, अच्छे यंत्रों का उपयोग होता था और वहाँ की विनिमय-नीति निर्यात् के अनुकूल थी क्योंकि वहाँ की मुद्रा का मूल्य कम था। इस बाहरी प्रतिस्पर्द्धा के अलावा भी कुछ और कारण थे जिनका देश के वस्त्रोद्योग पर हानिकर असर पड़ा। भारत-सरकार की विनिमय-दर सम्बन्धी नीति देश के हित में नहीं थी। १६२२ से ही विनिमय-दर को बढ़ने दिया गया और आखिर में जाकर १ रु० = १ शि० ६ पेंस की दर निश्चित करदी गई। यह दर देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए ऊँची थी। बाहर से आनेवाला कपड़ा भारतीय बाज़ार में सस्ता पड़ने लगा और हमारे निर्यात की आमदनी कम हो जाने से भारतीय किसान की क्रय-शक्ति को भी हानि पहुँची। हमारे वस्त्रोद्योग का आन्तरिक संगठन दोषपूर्ण था। उसमें अधिपूँजीकरण (ओवर केपीटलाइजेशन) था। युद्धोत्तर अभिवृद्धि के समय मिलों ने ऊँचे ऊँचे मुनाफे बांटे पर रक्षित कोष का निर्माण यथेष्ट मात्रा में नहीं किया ताकि नई मशीनरी आदि की व्यवस्था उसमें से की जा सकती। मैनेजिंग एजेन्सीप्रणाली के

दोषों का भी उद्योग पर बुरा असर पड़ रहा था। इन सब बातों के साथ-साथ पूँजी मिलने में भी अड़चन होती थी। नतीजा यह हुआ कि देश के वस्त्र-व्यवसाय को कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, बम्बई को इस समय सबसे अधिक कठिनाई झेलनी पड़ी। इसके कुछ कारण थे। चीन के बाज़ार में सूत की मांग अब जाती रही थी। देश के अन्य भागों में जो मिलें स्थापित हो गईं थीं उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी थी। और वे उन कई दोषों से मुक्त थीं जो बम्बई की मिलों में आगए थे। बम्बई में मज़दूरी भी अधिक थी। बम्बई में स्थानीय कर तथा पानी का खर्चा अधिक था और इसी प्रकार बिजली का खर्चा भी बढ़ा हुआ था। इन तमाम कारणों का यह परिणाम आया कि जब दुनिया के दूसरे देशों में आर्थिक मन्दी का अन्त होने लगा और स्थिति सुधार की ओर जाने लगी तब भी भारतीय वस्त्रोद्योग में मन्दी चलती रही। और इसी बीच में फिर दुबारा विश्वव्यापी मन्दी का चक्र १६२६ में आरम्भ होगया। सन् १६२८ और १६२६ में बम्बई की मिलों में लम्बी हड़तालें भी हुईं क्योंकि प्रशुल्क मंडल की सिफ़ारिशों [जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे] के अनुसार मिलों ने कार्य की दक्षता बढ़ाने की और प्रमापीकरण की कुछ योजनाएँ लागू की थीं जिन से मजदूरों की छँटनी होने का भय मज़दूरों में उत्पन्न होगया था। सारांश यह है कि वस्त्रोद्योग में यह मन्दी की अवस्था अभी बनी रही।

संरक्षण-प्रारम्भ—इस संकट की स्थिति का सामना करने के लिये व्यवसायी वर्ग ने संरक्षण की मांग की। अभी तक इस राष्ट्रीय व्यवसाय को सरकार ने कोई संरक्षण नहीं दिया था। १६२७ में प्रशुल्क मंडल ने इस व्यवसाय की स्थिति की जाँच की। मंडल ने उद्योग में कई सुधार सम्बन्धी सिफ़ारिशें कीं। कच्चे माल की व्यवस्थित रूप से खरीद, मज़दूरों की कार्यदक्षता में उन्नति, अच्छे और क़ीमती कपड़े का अधिक उत्पादन, देश के अन्दर और बाहर बिक्री में बढ़ोतरी आदि बातों की ओर प्रशुल्क मंडल ने ध्यान खींचा। संरक्षण के बारे में प्रशुल्क मंडल के बहुमत और अल्पमत ने अलग-अलग सिफ़ारिशें कीं। बहुमत ने सारे विदेशी माल से संरक्षण देने का प्रस्ताव किया पर अल्पमत ने जापानी माल से संरक्षण देने की ही सिफ़ारिश की। पहले तो तत्कालीन भारत-सरकार ने कुछ भी करने से इन्कार कर दिया पर बाद में जब बहुत विरोध हुआ तो बाहर से आने वाले सूत पर थोड़ा-सा आयात कर लगाने का निश्चय किया और ३१ मार्च १६३० तक की उसकी अवधि निश्चित की गई। बाद में यह अवधि १६३३ तक बढ़ा दी गई। कारण यह था कि १६२७ में जो अपर्याप्त संरक्षण दिया गया था उससे वस्त्रोद्योग

की समस्या हल नहीं हुई थी। इसलिए भारत सरकार ने श्री जी० एस० हार्डी (जो कलकत्ते के कस्टम्स-कलेक्टर थे) द्वारा फिर संरक्षण सम्बन्धी जाँच कराई। इन्होंने संरक्षण की आवश्यकता बताई और उसके लिए सिफ़ारिश की। इसी के परिणामस्वरूप १९३० में 'कॉटन टेक्सटाइल इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट' पास किया गया। इसके द्वारा १९२७ में विदेशी सूत पर जो संरक्षण-कर लगाया गया था वह १९३३ तक जारी रखा गया और विदेशी कपड़ों पर अब तक जो ११ प्रतिशत आयात-कर था उसको बढ़ा कर १५ प्रतिशत कर दिया गया और इसके अतिरिक्त ५ प्रतिशत संरक्षण-कर और लगाया गया। यह संरक्षण-कर ब्रिटिश माल पर नहीं लगाया गया। केवल कुछ ब्रिटिश माल पर (प्लेन ग्रे गुड्स) जो भारतीय माल से प्रतिस्पर्द्धा में आता था, अन्य विदेशी माल के समान ३½ आने पौंड के हिसाब से न्यूनतम संरक्षण-कर लगाया गया। इस प्रकार ब्रिटिश माल के पक्ष में पक्षपात किया गया। यह संरक्षण का समय मार्च १९३३ तक का निश्चित किया गया।

विश्व-संकट—यह हम पहले लिख चुके हैं कि १९२९ में विश्वव्यापी मंदी आरम्भ होगई थी। इसका असर अन्य उद्योगों के साथ वस्त्रोद्योग पर भी पड़ा। पर १९३० में स्वर्गीय महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आरम्भ हुआ और स्वदेशी के पक्ष में देश में जो प्रचार और वातावरण बना उससे वस्त्रोद्योग को अवश्य प्रोत्साहन मिला। आर्थिक मन्दी के कारण भारतसरकार के बजट में भी घाटा हुआ। उसकी पूर्ति करने के लिए भारतसरकार ने करों में भी वृद्धि की जिसके परिणामस्वरूप विदेशी सूती कपड़ों पर भी आयात-कर बढ़ा और विदेशी सूत पर लगने वाले आयात-कर में भी वृद्धि हुई। इधर आर्थिक मन्दी से रक्षा करने के लिए विभिन्न देशों द्वारा स्वर्णमान का परित्याग किया जाने लगा। इंगलैंड ने २१ सितम्बर, १९३१ को स्वर्णमान का परित्याग किया और कई देशों ने उसका अनुसरण किया। भारत की मुद्रा का इंगलैंड की मुद्रा से सम्बन्ध था, इसलिए स्टरलिंग के साथ-साथ रुपये का भी सोने से सम्बन्ध-विच्छेद होगया। जापान इस समय स्वर्णमान पर था इसलिए विदेशी बाजारों में, जहाँ स्वर्णमान का त्याग कर दिया गया था, उसका माल महंगा पड़ने लगा। भारत में जापानी कपड़ा यथेष्ट मात्रा में आता था। उसे भी कठिनाई होने लगी। अतः दिसम्बर, १९३१ में जापान भी स्वर्णमान से अलग होगया और वहाँ की मुद्रा (येन) का मूल्य तेज़ी से घटने लगा। जापानी कपड़ा फिर भारतीय बाजार में बहुत सस्ता होगया। १९३० में जो संरक्षण कानून पास हुआ वह ३१ मार्च १९३३ को समाप्त होनेवाला था। उसके पहले भारतसरकार सारी स्थिति की

जाँच करा के आगे के लिए निर्णय करना चाहती थी। इसी उद्देश्य से उसने अप्रैल, १९३२ में फिर प्रशुल्क मंडल की नियुक्ति करदी थी। जब जापानी माल भारतीय बाजार में अत्यधिक मात्रा में आने लगा, और भारतीय माल का उसके सामने टिकना कठिन होगया, तो इस प्रशुल्क मंडल ने भारत सरकार के कहने पर जापानी कपड़े की प्रतिद्वन्द्विता के प्रश्न पर भी विचार किया और उसकी सिफ़ारिश पर ब्रिटिश माल के अलावा दूसरे विदेशी माल पर आयात-कर ५० प्रतिशत कर दिया गया। सभी प्लेन ग्रे गुड्स (ब्रिटिश तथा दूसरे) पर अनिवार्य कर ५¼ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया। जून १९३३ में कर की ये दरें और बढ़ानी पड़ीं जो ५० प्रतिशत की जगह ७५ प्रतिशत और प्लेन ग्रे गुड्स पर अनिवार्य कर ५¼ आना की बजाय ६¾ आ. प्रति पौण्ड कर दिया गया। सन् १९३० के संरक्षण कानून की अवधि दो बार करके ३० अप्रैल, १९३४ तक के लिये बढ़ा दी गई क्योंकि १९३२ की टेरिफ़ बोर्ड की रिपोर्ट पर अभी तक सरकार का कोई निर्णय नहीं हो पाया था। भारत और जापान के बीच में सन् १९०४ में हुआ एक व्यापारिक समझौता था जिसके अनुसार भारतसरकार केवल जापानी माल के विरुद्ध संरक्षण नहीं दे सकती थी। १९३३ की अप्रेल में इस समझौते का भी अन्त कर दिया गया। जापान और भारत के बीच में जब व्यापारिक सम्बन्ध बिगड़ने लगे तो फिर समझौते की बात-चीत शुरू हुई और ७ जनवरी, १९३४ को दोनों देशों में फिर व्यापारिक समझौता होगया और ८ जनवरी, १९३४ से ही वह लागू भी हो गया। इस समझौते की अवधि ३१ मार्च, १९३७ तक थी। इस समझौते के अनुसार भारत में जापानी कपड़े के आयात की मात्रा और जापान को निर्यात होने वाले भारतीय कपास की मात्रा भी निश्चित कर दी गई। जापानी माल पर आयात-कर ५० प्रतिशत और प्लेन ग्रे गुड्स पर अनिवार्य कर ५¼ आ० प्रति पौण्ड कर दिया गया। इसी समय भारत और इंगलैंड के बीच में लीज़-मोदी समझौता भी किया गया। इस समझौते की अवधि ३१ दिसम्बर, १९३५ तक थी। यह समझौता भारतीय हितों के विरुद्ध और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनेवाला था। इन दोनों समझौतों और १९३२ में नियुक्त प्रशुल्क मंडल की सिफ़ारिशों को ध्यान में रखते हुए मार्च १९३४ में इंडियन टेरिफ़ (टेक्सटाइल प्रोटेक्शन) एक्ट पास किया गया। यद्यपि संरक्षण की अवधि ३१ मार्च, १९३९ तक की स्वीकार की गई थी पर संरक्षण-करों की दरों के बारे में यह निश्चित किया गया कि १९३५ के दिसम्बर में लीज़-मोदी समझौता, और मार्च १९३७ में जापान-भारत समझौता की अवधि समाप्त होने पर उन पर फिर विचार किया जाय। इस एक्ट में ब्रिटिश कपड़ों

से जो संरक्षण पहले मिला था उसमें फिर कमी आने लग गई थी। जापान ने भी फिर भारतीय बाज़ार की ओर ध्यान देना चाहा। १६३८ में संसार की आर्थिक स्थिति में जो फिर शिथिलता के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे उसका आन्तरिक माँग पर बुरा असर पड़ा। भारतीय कपास-उद्योग का भविष्य उक्त सब कारणों से फिर एक चिन्ता का विषय बनता हुआ मालूम पड़ने लग गया था। पर इसी बीच में सितम्बर, १६३६ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ हो गया और उसके परिणामस्वरूप सारी स्थति ही एक दम बदल गई।

द्वितीय महायुद्ध—गत महायुद्ध के कारण इस उद्योग को भी प्रोत्साहन मिला। जापान और इगलैंड से माल आना बद हो गया। भारत के कपड़े की विदेशों में माँग बढ़ने लगी क्योंकि जो देश इगलैंड, अमरीका और जापान से माल मंगाते थे अब वे भी भारत से कपड़ा मगाने लगे। भारत के कपड़े का निर्यात एशिया और अफ्रीका के देशों और आस्ट्रेलिया के अलावा इङ्गलैंड और अमरीका तक को होने लगा। इस बाहरी माँग के अलावा अन्दरूनी माँग भी बढ़ी। एक तो बाहर से कपड़ा आना बन्द हो गया, दूसरे सैनिक आवश्यकता के लिये सरकार बहुत-सा कपड़ा खरीदने लगी। इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिये भारतीय मिलों ने शक्ति भर उत्पादन करना आरम्भ किया। मिलों में तीन-तीन पाली काम होने लगा। नई मिलो की स्थापना करना तो कठिन था क्योंकि युद्धकाल में मशीनरी मिलना आसानी से सम्भव नहीं था। इसलिये मिलों ने अपनी मौजूदा उत्पादन-शक्ति का ही पूरा पूरा उपयोग किया। मिलों की सख्या में थोड़ी वृद्धि अवश्य हुई। सन् १६३६ में कुल ३८६ मिलें भारत में थीं और १६४५ में यह संख्या बढ कर ४१७ हो गई। तकुओं की सख्या १ करोड़ के आस-पास से बढ़ कर १ करोड़ २ लाख के आस-पास हो गई और करघों की सख्या लगभग वही २ लाख के आस-पास रही। कपड़े की उत्पादन-शक्ति में वास्तविक वृद्धि का अनुमान तो करघों से ही लगाना चाहिये। इस दृष्टि से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे महायुद्ध के समय में उत्पादन-शक्ति में कोई वास्तविक वृद्धि नहीं हो सकी और अधिक उत्पादन मौजूदा शक्ति के अधिकतम उपयोग से ही किया जा सका। यह उत्पादन-वृद्धि युद्ध के इन छ: वर्षों में कितनी हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहाँ १६३६ में भारतीय मिलों में कुल कपड़ा ४११ करोड़ गज़ से कुछ अधिक तैयार हुआ वहाँ १६४५ में ४७१ करोड़ गज़ से कुछ अधिक कपड़ा तैयार किया गया था। १६४४ में तो उत्पादन अपनी चरम सोमा पर (४८० करोड़ गज़) पहुँच गया था। कपास की खपत की दृष्टि से हम देखें तो जहाँ १६३६ में

कुल ३८ लाख गांठों की खपत हुई थी वहाँ १९४५ में ४६ लाख गांठों की खपत हुई। काम करने वालों की संख्या भी ४ लाख ४२ हजार (१९३९) से बढ़कर ५ लाख से कुछ अधिक (१९४५) हो गई। सूत की दृष्टि से उत्पादन १२० करोड़ पौंड के लगभग (१९३८-३९) से बढ़कर १६१ करोड़ पौंड (१९३८-४५) के हो गया था। कई प्रकार का नया माल जैसे मच्छरदानी, वाटर-प्रूफ खाकी, आदि भी भारतीय मिलों में युद्ध के समय तैयार होने लगा। ऊँचे दर्जे का क़ीमती कपड़ा तैयार करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी। उत्पादन बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम मुनाफ़ा बढ़ने का भी हुआ। १९४० में वास्तविक मुनाफा १३ करोड़ था वह १९४२ में २११ करोड़ तक हो गया था। डिविडेंड की दर १९३९ में १०$\frac{1}{2}$ प्रतिशत थी वह १९४२ में २७ प्रतिशत तक हो गई थी। युद्ध के समय में कपास-उद्योग के उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ मांग में भी बहुत वृद्धि हुई और इसलिए कपड़े का मूल्य भी बढ़ने लगा। महायुद्ध के आरम्भ होते ही कीमतों का बढ़ना शुरू हो गया था। पर १९४१ के मध्य तक स्थिति विशेष रूप से चिन्ताजनक नहीं हुई थी। जब अगस्त १९४१ में जापान के परिसंपत् (एसेट्स) को बद्धीकृत (फ्रीज) कर दिया गया तो वहाँ से आने वाला कपड़ा सर्वथा बन्द हो गया। इससे कपड़े की कीमतें तेजी से बढ़ने लगीं और १९४२ के अन्त में तो अगस्त १९३९ की चौगुनी-पचगुनी कीमत हो गई। १९४३ के मध्य तक सरकार कीमतों को बढ़ने से रोकने में सफल नहीं हो सकी और अन्ततोगत्वा कपड़े का मूल्य नियंत्रण कर दिया गया। इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से तो हम आगे लिखेंगे। यहाँ तो हम इतना ही लिख देना चाहते हैं कि युद्धकाल में भारतीय मिलों का उत्पादन तो एक सीमा से अधिक सम्भव नहीं हो सका और बाहर से भी कपड़े का आना बिल्कुल बन्द हो गया, पर मांग बहुत बढ़ गई—हमारे देश में और देश के बाहर भी। नतीजा यह हुआ कि युद्धकाल में कपड़े की तंगी और महँगाई की समस्या बराबर बनी रही। इसके पहले कि हम युद्ध काल में किये गए सरकार के उक्त समस्या को सुलझाने के प्रयत्नों का उल्लेख करें एक बात की और जानकारी करना आवश्यक है। वह है कपास-उद्योग सम्बन्धी युद्धकालीन संरक्षण-नीति की।

यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि १९३९ में जो प्रशुल्क कानून लागू किया गया था उसमें इस बात की गुंजाइश थी कि विलायती माल की आयात-वृद्धि अथवा कमी के अनुसार इंगलैंड से आने वाले माल पर लगने वाले कर में कमी अथवा वृद्धि की जा सके। चूँकि द्वितीय महायुद्ध के कारण इंगलैंड से आने वाले कपड़े की मात्रा में कमी हो गई, इसलिये १७ अप्रैल, १९४० से सब प्रकार के ब्रिटिश

कपड़े पर २½ प्रतिशत कर कम कर दिया गया। सन् १९४२ तक संरक्षण की जो अवधि १९३९ में बढ़ा दी गई थी वह बाद में फिर समय-समय पर १९४७ तक के लिए बढ़ा दी गई। १९४६ में संरक्षण सम्बन्धी सारे प्रश्न पर प्रशुल्क मण्डल ने विचार किया और यह सिफारिश की कि ३१ मार्च १९४७ से संरक्षण समाप्त कर दिया जाये। जो मौजूदा आयात-कर हैं वे आगम कर (रेवेन्यू ड्यूटी) के रूप में बने रहें और जब कभी लगातार तीन महीने तक औसत २½ करोड़ गज़ मासिक कपड़ा बाहर से आये तो प्रशुल्क मण्डल संरक्षण के प्रश्न पर विचार करे। अस्तु, भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९४७ से सूती कपड़े और सूत पर जो संरक्षण-कर थे उनको आगम-कर में बदल दिया। आज इस देश का यह महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग इस अर्थ में अपने पाँव पर खड़ा है।

यह हम पहले लिख चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही अन्य वस्तुओं के साथ-साथ कपड़े की कीमत बढ़ना भी शुरू हुआ और १९४३ के मध्य में तो स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक होगई। स्थिति पर काबू पाने के लिये जून, १९४३ में भारत सरकार ने कपड़े और सूत पर नियंत्रण लागू कर दिया और 'टेक्सटायल कमिश्नर' एक ऑफिसर की नियुक्ति करके नियंत्रण सम्बन्धी व्यवस्था का भार उसे सौंप दिया। पच्चीस सदस्यों की 'टेक्सटाइल कन्ट्रोल बोर्ड' नाम की एक कमेटी भी नियुक्ति की गई जिसका काम नियंत्रण सम्बन्धी मामलों में सरकार को सलाह देना था। नियंत्रण की इस व्यवस्था के अनुसार कपड़े और सूत का मूल्य-नियंत्रण कर दिया गया, अनावश्यक माल मिल-मालिक या व्यापारी के पास जमा न हो इसका प्रबंध कर दिया गया, कपड़े के लाने लेजाने पर नियंत्रण कर दिया गया, और कपास तथा दूसरी आवश्यक सामग्री के मूल्यों का नियंत्रण भी कर दिया। इस नियंत्रण का परिणाम मूल्यों में कमी होने का हुआ, और जून १९४३ में जहाँ सूती वस्त्र के मूल्य का देशनांक [इनडेक्स नम्बर] १९३९ को आधार [१००] मानकर ५१३ हो गया था वहाँ दिसम्बर १९४५ में २६५ हो गया। पर इसी से जनता की समस्या का पूरा हल नहीं हुआ। कपड़े की तंगी बराबर बनी रही और काला बाजार खूब बढ़ा। अस्तु, जनता को नियंत्रित मूल्य पर कपड़ा नहीं मिलने से काले बाज़ार के बढ़े हुए मूल्यों पर अपनी कपड़े की माँग पूरी करनी पड़ती थी। युद्धकाल में कपड़े का उत्पादन बढ़ने पर भी कपड़े की कमी बनी रही। जनता की खपत के लिये जो कपड़ा उपलब्ध था उसमें युद्ध के समय में कितनी कमी आ गई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि युद्ध के पूर्व के दो वर्षों में हाथ के करघों पर तैयार कपड़े को शामिल करके जनता की खपत के लिये ६४० करोड़

गज़ कपड़ा उपलब्ध था वह १९४२-४३ में उसी आधार पर केवल २६० करोड़ गज़ या ४० प्रतिशत ही रह गया था। मूल्य नियंत्रण होने पर भी बढ़े हुए मूल्यों पर कपड़ा बिकता रहा—यह सारी स्थिति का निचोड़ मानना चाहिये।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् :—७ मई १९४५ को जर्मनी के साथ, और १४ अगस्त, १९४५ को जापान के साथ, द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ। आशा यह थी कि युद्ध के पश्चात् कपड़े की तंगी कम हो जायगी और कीमतें भी नीचे उतरेंगी। पर यह आशा पूरी नहीं हुई। मई १९४५ में सरकार ने कपड़े तथा सूत के उत्पादन पर नियन्त्रण किया और जुलाई १९४५ में वितरण सम्बन्धी नई योजना जारी की। सूत व कपड़े सम्बन्धी उत्पादन के नियंत्रण की जो योजना लागू की गई थी उसका उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना था और इस दृष्टि से मिलों को कौन-सा कपड़ा और कितना सूत उत्पन्न करना चाहिये इस सम्बन्ध में कुछ नियंत्रण किया गया था। इसी के अनुसार 'यूटीलिटी क्लाथ' की योजना भी बनी थी। वितरण सम्बन्धी योजना में राज्य और प्रान्त की सरकारों को बहुत अधिकार दिये गये थे। प्रान्तों का कोटा निश्चित कर दिया गया था। उन कोटा के ठीक-ठीक वितरण का प्रबन्ध करना उनका काम था। देश में कपड़े के आने-जाने पर और कच्चे माल तथा दूसरी आवश्यक सामग्री की उचित व्यवस्था करने के सम्बन्ध में भी नियंत्रण किया गया। परन्तु सरकार के इन तमाम प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं आया। यूटीलिटी क्लाथ की योजना १९४५ के अन्त में समाप्त करदी गई। १९४६ में उत्पादन बहुत गिर गया। जहाँ १९४५ में ४७१ करोड़ गज़ कपड़े का उत्पादन हुआ था वहाँ १९४६ में ४०२ करोड़ गज़ का उत्पादन ही हुआ। उत्पादन-लागत में वृद्धि होती रहने पर भी कपड़े के मूल्य नहीं बढ़ाये गये। मज़दूरों के काम के घंटे ५४ से ४८ प्रति सप्ताह कर दिये गये थे। हड़तालों आदि के कारण भी उत्पादन बंद रहा। सांप्रदायिक झगड़े भी देश में हुए। सरकार की नियंत्रण-नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। क़ीमती कपड़े के उत्पादन को बढ़ाने और मोटे कपड़े के उत्पादन को घटाने की दृष्टि से मूल्यों में मई, १९४५ के पश्चात् नवम्बर, १९४५ में कुछ परिवर्तन किये गये थे पर उनके बारे में यह शिकायत बनी ही रही कि बढ़ी हुई उत्पादन-लागत को देखते हुए यह परिवर्तन पर्याप्त नहीं थे। सरकार ने कपड़े के निर्यात में पहले तो कमी की पर फिर कुछ समय के लिए बन्द ही कर दिया। और फिर जब निर्यात जारी हुआ तो उस की मात्रा में कमी करदी। १९४७ में उत्पादन की स्थिति और भी बिगड़ गई और कुल कपड़े का उत्पादन ३८० करोड़ गज़ ही हुआ। सरकार ने उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से स्टैन्डर्डाईज़ेशन

(प्रमापीकरण) की योजना बनाई जो १ दिसम्बर, १९४७ को लागू की गई। पर कपड़ों के मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं की गई। प्रमापीकरण की उक्त योजना के अनुसार मोटे सूत और कपड़े के उत्पादन पर अधिक ध्यान देने, कपड़े के प्रकारों में कमी करने और अमुक नम्बर तक के ही सूत कातने का निश्चय किया गया। मिल-मालिकों और मज़दूरों की सम्मिलित कमेटियाँ प्रदेशों में और अलग-अलग मिलों में उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से स्थापित की गईं। पर इन सब प्रयत्नो का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं आया। बाज़ार में कपड़े की तंगी बनी रही और चोर बाज़ारी बढ़ती गई। महात्मा गांधी नियंत्रण के विरुद्ध थे ही और उनके नेतृत्व में देश में नियत्रण हटा लेने के पक्ष में वातावरण बन रहा था। इसका नतीजा यह हुआ कि जनवरी, १९४८ में सरकार ने सूत तथा कपड़े पर से नियत्रण हटा लिया यद्यपि पूरा नियंत्रण अभी नहीं हटा था। प्रमापीकरण की योजना अब समाप्त होगई। कपड़े और सूत पर सरकारी नियत्रण समाप्त हो गया यद्यपि मिलों ने स्वयं मूल्यों का नियंत्रण करना स्वीकार किया। कपड़े के वितरण और सूत तथा कपड़े के एक निश्चित क्षेत्र में (ज़ोन) आने-जाने पर से भी नियंत्रण हट गया। इसी प्रकार सूत और कपड़े के निर्यात पर से प्रतिबंध हटा लिया गया। कपास पर से भी मूल्य नियंत्रण हट गया। केवल सूत के वितरण और कपास के निर्यात पर अवश्य नियंत्रण रहा। नियत्रण व्यवस्था के समाप्त होते ही मूल्य तेज़ी से बढ़ने लगे। मिलों द्वारा मूल्य-नियंत्रण सफल नहीं हो सका। आखिरकार अप्रैल, १९४८ में सरकार ने रहा-सहा नियत्रण भी उठा लिया। अब कपड़े और सूत पर मूल्य लिखने की आवश्यकता नहीं रही। सूत के वितरण से नियंत्रण हटा लिया गया। टेक्सटाइल कन्ट्रोल बोर्ड भी समाप्त कर दिया गया। पर कपड़े और सूत के लाने ले जाने, उस पर उत्पादन की तिथि लिखने और कपड़े और सूत का आसंचय (होर्ड) करने सबंधी नियत्रण जारी रखा गया। पर नियंत्रण के पूरी तौर से हटते ही मूल्यों में और भी वृद्धि आई और मई में तो कीमतें बहुत ही बढ़ गईं। इस स्थिति से घबराकर जुलाई, १९४८ में भारत सरकार ने फिर नियत्रण लागू करने का निश्चय किया। इसके अनुसार भारत सरकार को कपड़े और सूत के मूल्य निश्चित करने और उनको छापने (स्टेम्प करने) का अधिकार प्राप्त हो गया। वितरण की व्यवस्था का भार राज्यों पर छोड़ दिया गया। कपास के मूल्यों का भी नियंत्रण किया गया। इसके कुछ समय बाद (दिसम्बर १९४८) से उत्पादन पर भी सरकार ने नियंत्रण लागू कर दिया। उत्पादन पर नियंत्रण करने का लक्ष्य उत्पादन में वृद्धि करना और अधिक टिकाऊ कपड़ा तैयार करना था। पहनने के काम में आने वाले कपड़े १६ और जो पहनने के काम नहीं आते वे

१२ प्रकार के तय कर दिये गये। मोटे कपड़े के उत्पादन पर अधिक ज़ोर दिया गया। नियन्त्रण-व्यवस्था ठीक-ठीक लागू होती है या नहीं इसकी निगरानी रखने के लिये एक एन्फ़ोरसमेंट विभाग खोला गया। १९४८ में उत्पादन में वृद्धि हुई। इस वर्ष ४३१ करोड़ गज़ कपड़ा उत्पन्न हुआ, परन्तु चोर-बाज़ारी जारी रही। कपास की कमी की समस्या भी देश के विभाजन के कारण उग्र हो गई। मूल्यों के दर कम हैं, यह शिकायत मिल-मालिकों की बराबर बनी रही। कपड़ों के निर्यात के विषय में सरकार ने उदार नीति अपनाना आरम्भ किया और निर्यात-कर में २५ प्रतिशत से नवम्बर १९४८ में १० प्रतिशत तक की कमी कर दी गई। इससे निर्यात को और इस कारण से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलने की आशा थी। १९४९ का वर्ष फिर वस्त्रोद्योग की दृष्टि से कठिनाई का बीता। उत्पादन १९४८ की अपेक्षा फिर गिर गया। कुल ३९० करोड़ गज़ कपड़ा १९४९ में उत्पन्न हुआ। सरकार ने उत्पादन सम्बन्धी नियन्त्रण की व्यवस्था को टेक्सटाइल प्रोडक्शन कन्ट्रोल कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार कुछ बदला। कीमती कपड़े के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया और उत्पादन नियन्त्रण योजना में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की गुन्जाइश रखी। पर बाद में स्थिति और भी अधिक बिगड़ने लगी तो सितम्बर १९४९ में नियन्त्रण सम्बन्धी नई नीति की सरकार ने घोषणा की। उसके अनुसार उत्पादन से नियन्त्रण हटा लिया गया, केवल उतने से नियन्त्रण के अलावा जो मूल्य नियन्त्रण के लिए आवश्यक था। वितरण की योजना में भी सुधार किया गया। एक बार तो केवल इतना ही परिवर्तन किया कि मिलों को, यदि राज्य अपने हिस्से का कपड़ा समय पर न ले सकें तो, उस कपड़े को बेचने की इजाज़त दे दी। पर इसके बाद सितम्बर में सरकार ने वितरण की योजना और भी उदार कर दी। मिलों को $\frac{1}{3}$ माल सीधा बेचने का अधिकार मिल गया और बाकी का राज्यों को महीने की १५ तारीख तक ख़रीदना आवश्यक था। यदि राज्य की सरकारें अपने हिस्से का माल समय पर न ख़रीद लें तो मिलों को बेचने की इजाज़त मिल गई। इन सब प्रयत्नों से स्थिति सुधरी। मूल्य नियन्त्रण किस आधार पर किया जाय यह प्रश्न १९४८ में सरकार ने टेरिफ़ बोर्ड के सुपुर्द कर दिया था। टेरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिश के अनुसार हर तीसरे महीने मूल्यों की जाँच करके आवश्यक हेर-फेर करने की नीति सरकार ने जनवरी १९४९ को स्वीकार कर ली और आज भी उसी के अनुसार हर तीसरे महीने मूल्यों में सरकार आवश्यक हेर-फेर करती है। सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति भी अपनाई। अप्रैल १९४९ में बाहर जाने वाले सब कपड़े का मूल्य-नियन्त्रण किया गया और १० प्रतिशत निर्यात-कर भी

१ जून १६४६ को हटा लिया गया। मिलों को उचित मूल्य पर (जो सरकार द्वारा निश्चित है) कपास नहीं मिलने से जो कठिनाई उत्पन्न हो रही थी उसको हल करने के लिए मार्च १६४६ में कपास का निर्यात दुर्लभ मुद्रा के देशों को छोड़कर बाकी के देशों को बन्द कर दिया गया ताकि कपास की स्थिति ठीक हो जाय। सरकार के इन तमाम प्रयत्नों के बाद भी वस्त्रोद्योग की स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं रही। कपास की कमी रही, निश्चित मूल्य पर उसका मिलना कठिन रहा। आरम्भ में नियन्त्रण सम्बन्धी व्यवस्था में कई दोष रहे जिनमें बाद में सुधार किया गया। पर कपड़ों के मूल्य नियंत्रण की समस्या तो फिर भी हल नहीं हुई और मिल-मालिकों को बराबर असतोष रहा। मार्च १६४६ को जो उत्पादन कर (एक्साइज ड्यूटी) लगाया गया वह भी मिल-मालिकों के असन्तोष का कारण रहा। १६५० में भी इस उद्योग की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। सितम्बर १६४८ से ही नियन्त्रण सम्बन्धी कड़ाई में तो अवश्य कमी आगई थी, पर और कठिनाइयाँ बनी रहीं। कपास की कमी और उसके मूल्य की अधिकता, सूत तथा कपड़ों की कीमत में नवम्बर १६४६ में की गई ४ प्रतिशत की कमी, जो मिल-मालिकों ने स्वेच्छा से सरकार की अवमूल्यन के बाद मूल्य घटाने में सहयोग देने की दृष्टि से स्वीकार की थी, उत्पादन-लागत को देखते हुए कपड़े का क्रय-मूल्य, ये कुछ ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिनका सूती वस्त्रोद्योग को १६५० में सामना करना पड़ा। इसी कारण से १६५० में केवल ३६६ करोड़ गज़ कपड़ा उत्पन्न हुआ। कपड़े के निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति साल भर जारी रही और ११० करोड़ गज से अधिक कपड़ा १६५० में निर्यात किया गया। १६५१ में वस्त्र उद्योग की स्थिति संतोषजनक रही। मिलों द्वारा कपड़े का कुल उत्पादन ४१० करोड़ गज़ से कुछ अधिक हुआ और सूत का उत्पादन १३० करोड़ पौंड हुआ। १६५१ में कपड़े की कीमतें कुल मिलाकर १६५० की अपेक्षा अधिक रहीं। भारत सरकार ने फ़ाइन, सुपर फ़ाइन, रंगीन और छपे मोटे और बीच के दर्जे के कपड़े को छोड़कर शेष सब प्रकार के कपड़ों पर से और सूत पर से ४ प्रतिशत की मूल्य की कमी वापिस हटाली। १६५० की अपेक्षा १६५१ में कपड़े का निर्यात कम हुआ। १६५१ में ७३ करोड़ गज़ कपड़ा निर्यात हुआ जब १६५० में ११० करोड़ गज़ कपड़ा निर्यात हुआ था। मोटे और बीच के कपड़े पर निर्यात कर फ़रवरी १६५१ में १०% लगाया गया जो जून १६५१ में २५% कर दिया गया। फ़ाइन और सुपर फ़ाइन कपड़े में काम में आने वाली विदेशी कपास पर दो आने पौंड जो आयात कर लगता है और जो उपरोक्त कपड़ा निर्यात होने पर वापिस कर दिया जाता था वह वापिस करना बंद कर दिया गया। सूत का निर्यात बिल्कुल बंद कर दिया गया। जहाँ तक नियंत्रण का संबंध है

१९५१ में उत्पादन और वितरण पर नियंत्रण संबंधी नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। इस सब का सार यह है कि १९५१ के अन्त में देश में कपड़े की स्थिति उत्पादन में वृद्धि होने से और निर्यात में कमी होने से काफ़ी सुधर गई। पर इस समय (१९५२ के अप्रेल) देश के वस्त्रउद्योग में फिर एक संकट की स्थिति उत्पन्न होगई है। इसका कारण यह है कि मिलों के पास कपड़े का स्टॉक खास तौर से फ़ाइन-सुपर फ़ाइन कपड़े का, बहुत जमा हो गया है। जून १९५२ तक के लिये भारत सरकार ने निर्यात के लिए केवल २५ करोड़ गज़ कपड़ा तय किया है। साथ ही विदेशों से कपड़े की माँग भी कम होगई है। कपड़ों की कीमतें गिरी हैं। देश के अन्दर भी लोग और अधिक मूल्य गिरने की आशा में खरीदना कम कर रहे हैं। संकट की यह स्थिति फ़ाइन और सुपर फ़ाइन कपड़े में विशेष रूप से है। मिलों ने उत्पादन कम करना शुरू कर दिया है। इस नारी स्थिति का सामना करने के लिये भारत सरकार ने वितरण तथा उत्पादन संबंधी नियंत्रण ढीला कर दिया है और निश्चित देशों को कपड़ा निर्यात करने संबंधी नीति भी ढीली करदी है। मिलों को अपनी इच्छानुसार कपड़ा बेचने की स्वतन्त्रता काफ़ी हद तक दे दी गई है। इन सब का क्या असर मिल-मालिक लेंगे यह इस समय नहीं कहा जा सकता। पर सरकार की अब तक की रियायतों से वे पूर्णतया संतुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि मूल्य तथा उत्पादन पर से सरकार को नियत्रण हटा लेना चाहिये। विदेशी कपास पर जो आयात कर है उसको रिवेट के रूप में देना वापिस स्वीकार करना चाहिये। सुपर फ़ाइन कपड़े पर जो २०% और फ़ाइन पर ५% उत्पादन कर है उसे हटा लेना चाहिये या वह कम तो अवश्य किया जाना चाहिये। जिस कपड़े पर से ४ प्रतिशत की मूल्य की कमी अभी नहीं हटी है वह हटा लेनी चाहिये। निर्यात के बारे में सरकार को कपड़ा कहाँ भेजा जाए इस बारे में कोई प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिये। केवल निर्यात की मात्रा निश्चित हो जानी चाहिये। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश के वस्त्रउद्योग के सामने तत्काल की दृष्टि से भी एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो रही है। पर इसके अलावा इस उद्योग के संबंध में दीर्घ दृष्टि से भी सोचने की आवश्यकता है।

भविष्य—मिल वस्त्रोद्योग के भविष्य के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न उसके क्षेत्र का है। मिल के कपड़े के अलावा, हमारे देश में हाथ के सूत से हाथ करघे पर बनी खादी और मिल के सूत से हाथ करघे पर तैयार किया गया कपड़ा भी उत्पन्न होता है। हाथ करघे के उद्योग की स्थिति आज सन्तोषप्रद नहीं है। अब तक खादी के उद्योग का आधार एक आदर्शवाद और भावना रही है। पर केवल भावना के आधार पर कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं चल सकता। इसी

के साथ-साथ आर्थिक दृष्टि से भी हम खादी और हाथ करघे पर बने कपड़े के उद्योगों को नष्ट नहीं होने दे सकते। हाथ करघे के उद्योग को सहायता पहुँचाने की सरकार कई प्रकार से कोशिश कर भी रही है। पर आवश्यकता इस बात की है कि इन तीनों प्रकार के वस्त्रोद्योगों में समन्वय किया जाय और उनके क्षेत्रों का बटवारा किया जाय। यह प्रश्न राष्ट्रीय सरकार के निश्चय करने का है और उसका किया हुआ निश्चय सबको मान्य होना चाहिये। योजना आयोग का कर्त्तव्य है कि वह इस सबंध में एक निश्चित योजना देश के सामने प्रस्तुत करे। खादी और हाथ करघे के उद्योग में वैज्ञानिक उत्पादन विधियों को चालू करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इन उद्योगों का सामाजिक और आर्थिक मूल्य उनके विकेन्द्रित होने में हैं न कि वैज्ञानिक उत्पादन के तरीकों और यांत्रिक शक्ति का बहिष्कार करने में।

दूसरी बात यह है कि हमारे वस्त्रोद्योग का लक्ष्य यह भी होना चाहिये कि हम उचित उपायों से यथासम्भव बाहर के देशों में अपने माल के लिए बज़ार का निर्माण करें।

इन मूलभूत समस्याओं का उल्लेख करने के बाद अब हम मिल के कपड़े के उद्योग तक ही सीमित कुछ समस्याओं का ज़िक्र करेंगे। पहली समस्या कपास और उसके उचित मूल्य की है। आज हमारे देश में लगभग ३० लाख गांठ कपास पैदा होता है। खपत हमारी ५० लाख गांठों के लगभग है। लगभग १० लाख गांठे कपास हमें पाकिस्तान और दूसरे देशों से आज मिल सकता है। सारांश यह है कि बाकी के दस लाख गांठों का उत्पादन इस देश में बढ़ना चाहिये। ये आंकड़े केवल मोटे अनुमान के आधार पर दिये गये हैं। देश के विभाजन के पश्चात् कपास सम्बन्धी समस्या कठिन हो गई है। इसे हल करने का प्रयत्न देश में चल रहा है। इस प्रयत्न में सफलता मिल रही है। १९५०-५१ में लगभग ३½ लाख गांठ कपास अधिक उत्पन्न हुआ और १९५१ ५२ के लिए ४० लाख गांठ कपास का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। हमें लम्बे रेशे के कपास उत्पन्न करने की ओर भी ध्यान देना है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न पुरानी के स्थान पर नई मशीनरी और नवीनतम मशीनरी लगाने का है। इस सम्बन्ध में यह याद रखने की बात है कि गत महा-युद्ध के समय से मिलों ने बहुत काम किया है, इसलिए मशीनों को बदलने की बड़ी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक बात यह भी है कि यह मशीनरी हमारे देश में ही उत्पन्न की जाए। इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुआ भी है। हाल में इस उद्योग को सरकार से सरक्षण भी मिला है। मशीनरी के साथ

ही दूसरी आवश्यक सामग्री का भी सवाल है। उसकी व्यवस्था भी देश में होनी आवश्यक है।

तीसरी समस्या इस उद्योग के विकेन्द्रीकरण की है। छोटे छोटे नगरों और गाँवों में बिजली की शक्ति के प्रसार के साथ इस उद्योग का प्रसार होना चाहिये। यह सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से वांछनीय होगा।

चौथी समस्या उत्पादन-लागत को कम करने की है। इसका उपाय मजदूरी कम करना नहीं हो सकता। इसका तो एक ही उपाय है कि मजदूरों की उत्पादन की क्षमता बढे। जो मिलें इस समय इतनी छोटी हैं कि उनको आर्थिक दृष्टि से नहीं चलाया जा सकता, उनका विस्तार किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से मज़दूरों की कार्य-क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता है। पिछले वर्षों में इस विषय में मिल-मालिकों को बराबर शिकायत रही है। इसके लिए कार्य करने में ईमानदारी के अलावा आवश्यक शिक्षा की भी बड़ी आवश्यकता है। इसकी देश में कमी है। इसी के साथ-साथ वैज्ञानिकन (रेशनलाईजेशन) की भी आवश्यकता है। इसी प्रकार मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली को यदि तत्काल समाप्त नहीं किया जा सकता तो भी उस पर अधिक नियंत्रण की आवश्यकता तो स्पष्ट है। ये सब बातें होने पर ही उत्पादन लागत में कमी आ सकती है। इस दृष्टि से औद्योगिक शोध का महत्त्व भी बहुत है। इस ओर भी बराबर ध्यान देते रहने की आवश्यकता है।

यदि देश के वस्त्रोद्योग को हमें ठीक और व्यवस्थित स्थिति में लाना है तो उपर्युक्त समस्याओं को हल करना आवश्यक होगा। सन् १९४५ में युद्धोत्तर योजना-समिति ने इस उद्योग के विकास की पंचवर्षीय योजना बनाई थी। उस योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है यद्यपि कपास और पूँजी की कमी और मशीनरी के ऊँचे मूल्यों के कारण जिस गति से विकास हो रहा है वह धीमी है। पिछले साल सरकार ने 'टेक्सटाइल वर्किंग पार्टी' की नियुक्ति की थी। यह एक छः वर्षीय योजना टेक्सटाइल उद्योग के विकास के बारे में तैयार कर रही है। योजना आयोग ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। अपनी प्रथम रिपोर्ट में आयोग ने आगामी पाँच वर्षों में इस उद्योग में कोई नये कारखाने खोलने की आवश्यकता नहीं मानी है। उनका मानना है कि आवश्यक मात्रा में कपास मिलने पर वर्तमान मिलों में लगभग ४५० करोड़ गज कपड़ा उत्पन्न हो सकता है। इन सब प्रयत्नों में समन्वय की जरूरत है। टेक्सटाइल डेवलपमेंट कमेटी इस उद्योग के विकास सम्बन्धी प्रश्नों पर सरकार और व्यवसायी वर्ग का मार्ग-प्रदर्शन करती है।

पटसन [जूट] मिल उद्योग—कपास के बाद इस देश का दूसरा महत्त्व

पूर्ण उद्योग पटसन का ही है। इस उद्योग में ३ लाख से अधिक आदमी काम करते हैं। यह उद्योग अधिकतर पश्चिमी बंगाल में कलकत्ते शहर, हुगली, हावड़ा और २४ परगना के जिलों में केन्द्रित हैं। विहार, मद्रास, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में भी कुछ मिलें हैं। इसका प्रबन्ध आज भी विदेशी हाथों में है और पूँजी में भी उनका यथेष्ट भाग है। कुल ५० करोड़ की पूँजी [२० करोड़ स्थायी पूँजी और ३० करोड़ चालू पूँजी] इस उद्योग में लगी है। इसने १९४७ में १२७ करोड़ रुपए का माल पैदा किया। इसके उत्पादन की मात्रा १० लाख टन के लगभग है। सब मिलों में [कुल ११३] लगभग ७० हज़ार करघे हैं। ६० लाख गांठों की [कच्चा पटसन] साल में कुल खपत है। दुनिया के ५७ प्रतिशत करघे भारत में हो हैं। जूट का उद्योग भारत के लिये एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। देश के निर्यात में जूट के माल का बहुत बड़ा स्थान है और इसलिये विदेशी विनिमय प्राप्त करने का यह एक अच्छा साधन है। द्वितीय महायुद्ध के पहले देश के सालाना निर्यात के कुल मूल्य का १६ प्रतिशत, युद्ध के बाद [१९४६–४८] का औसत २८ प्रतिशत और देश के विभाजन के बाद १९४८-४९ में ३५ प्रतिशत तक पटसन के उद्योग का हिस्सा रहा है। १९४९-५० में यह भाग फिर २८ प्रतिशत होगया। विदेशी विनिमय की मात्रा का यदि हम विचार करें तो १९४६-४७ में ७० करोड़, १९४७-४८ में १२७ करोड़, १९४८-४९ में १४६ करोड़ और १९४९-५० में १२७ करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय हमें पटसन के माल निर्यात से प्राप्त हुआ। अधिकांश माल अमेरिका जाता है, इसलिए ६० प्रतिशत दुर्लभ मुद्रा हमें इसी से मिलती है। भारत को पटसन के माल के उत्पादन का लगभग एकाधिकार प्राप्त है। अब हम इस महत्त्वपूर्ण उद्योग के बारे में थोड़ा विस्तार से अध्ययन करेंगे।

आरम्भ—प्राचीन भारत में वस्त्र की तरह पटसन के उद्योग का भी विकास हुआ था या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से जूट के माल का यथेष्ट प्रचार था इसमें कोई संदेह नहीं है। १८३३ से जब डंडी [स्कॉटलेंड] में जूट का उद्योग विकसित हुआ तो उसका प्रभाव भारतीय उद्योग पर बुरा पड़ा। भारत कच्चे जूट का उत्पादन और निर्यात करने वाला देश बन गया। परन्तु १९ वीं शताब्दी के मध्य से फिर भारत में जूट के आधुनिक उद्योग का आरम्भ हुआ। बंगाल में सिरामपुर के निकट रिशरा नामक स्थान पर १८५५ में पहली जूट की कताई करने वाली मिल की स्थापना हुई। १८५९ में पहला यांत्रिक शक्ति से संचालित करघा लगाया गया। हाथ करघे का जो अवशेष बचा हुआ था, मिल उद्योग की स्थापना से उसका भी

विनाश हो गया। पहले-पहले उद्योग की प्रगति थोड़ी धीमी रही, क्योंकि नया व्यवसाय था और अनुभवी और जानकार मज़दूरों का अभाव था। पर १८८५ तक उद्योग की अच्छी प्रगति हो गई। इस समय गनीबेग की उत्पादन में प्रधानता थी।

प्रथम महायुद्ध तक—१९ वीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में कच्चे पटसन के मूल्य में वृद्धि हो जाने, अकाल पड़ने, महामारियाँ फैलने और श्रम की कमी होने से इस उद्योग को संकट का सामना करना पड़ा। संकट का आरम्भ तो और भी थोड़ा पहले, माँग के अनुपात से अधिक उत्पादन होने के कारण हो गया था। पर धीरे-धीरे सकट-काल समाप्त हो गया और प्रथम महायुद्ध तक उद्योग की स्थिति संतोषजनक रही। अब 'गनीबेग' के स्थान पर 'हेसियन क्लॉथ' का अधिक उत्पादन होने लगा।

प्रथम महायुद्ध और उसके बाद—प्रथम महायुद्ध जैसे ही आरम्भ हुआ पटसन के माल की सैनिक तथा दूसरे कामों में बहुत आवश्यकता होने लगी। यद्यपि शत्रु-राष्ट्रों से होनेवाला व्यापार बन्द होगया, माल लाने-लेजाने की कठिनाई होगई, कच्चे और तैयार माल पर मार्च १९१६ से निर्यात-कर लग गया, पर फिर भी युद्ध-जनित बढ़ी हुई माँग के कारण पटसन के उद्योग का अच्छा विकास और विस्तार हुआ। युद्ध के पश्चात् माँग के गिर जाने से और कच्चे माल की क़ीमत तथा मज़दूरी के बढ़ने के परिणामस्वरूप उत्पादन लागत में वृद्धि होजाने से युद्धोत्तर मन्दी का इस उद्योग को भी सामना करना पड़ा। पर थोड़े समय बाद वापस स्थिति में सुधार आगया।

विश्व-संकट—१९२९ के विश्व आर्थिक संकट का असर दूसरे उद्योगों की भाँति इस उद्योग पर भी पड़ा। परन्तु यह उद्योग अधिक संगठित था। और इसलिये इसने और उद्योगों की, जैसे कपास-उद्योग की, अपेक्षा संकट का सामना अधिक सफलता के साथ किया। जब मूल्य गिरने लगे, गोदाम में माल जमा होने लगा और माँग कम होगई तो इस उद्योग ने उत्पादन कम करने की व्यवस्थित रूप से योजना बनाली। ३१ मार्च, १९३६ तक के दस वर्षों में जूट मिल एसोसियेशन (स्थापित १९३६) ने काम के घन्टे ४० प्रति सप्ताह के हिसाब से मर्यादित कर दिये थे। पर १ अप्रैल, १९३६ से काम के घन्टे ४० प्रति सप्ताह से बढ़ाकर ५४ प्रति सप्ताह कर दिये गये और १ मार्च, १९३७ से कोई प्रतिबन्ध ही नहीं रहा। बात यह थी कि जूट-मिल एसोसियेशन की जो मिलें सदस्य नहीं थीं उनके साथ कोई समझौता नहीं हो सका। काम के घन्टे अधिक होजाने से १९३७ और १९३८ में उद्योग की स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक होगई। आखिर

बंगाल-सरकार ने एक आर्डिनेन्स के द्वारा सितम्बर, १६३८ में काम के घन्टे फिर घटाकर ४५ प्रति सप्ताह कर दिये। जूट मिल एसोसियेशन और एसोसियेशन के बाहर की मिलों में कुछ समय बाद समझौता होगया और १५ मार्च, १६३६ से यह आपस में तय होगया कि काम के अधिक से अधिक प्रति सप्ताह ५४ और कम से कम ४० घन्टे रहेंगे। ३१ जुलाई, १६३६ से काम के घन्टे ४५ प्रति सप्ताह कर दिये गये और यह भी तय हो गया कि २० प्रतिशत हेसियन तैयार करने वाले और ७½ प्रतिशत बोरे तैयार करने वाले करघे काम में नहीं लाये जायँगे।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद—जैसे ही द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ जूट के माल की देश और विदेश से माँग बढ़ गई। भारत सरकार ने सैनिक दृष्टि से बहुत माल खरीदना आरम्भ कर दिया। अब काम के घंटों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक नहीं रहा। विशेष आज्ञा से मिलों ने ६० घन्टे प्रति सप्ताह काम करना आरम्भ कर दिया। उद्योग की स्थिति ने पलटा खाया। और १६४० के आरम्भ से १६४१ के आरम्भ तक उद्योग की स्थिति कुछ दबी हुई ही रही। और उसके बाद फिर स्थिति में सुधार आया। सच्ची बात यह है कि लम्बी दृष्टि से देखें तो यह कहना होगा कि अपने जन्म से लेकर आज तक इस उद्योग ने बराबर प्रगति की है। यदि बीच-बीच में कभी कठिनाई की स्थिति आई तो उसने उसका संगठित रूप से सामना किया। द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद भी यही क्रम चला। नीचे के आंकड़ों से इस उद्योग की पिछले कुछ वर्षों की प्रगति का हाल स्पष्ट हो जाता है :—

लाख टन में

वर्ष [जुलाई-जून]	उत्पादन हेसियन	सेकिंग	अन्य	कुल उत्पादन	निर्यात	स्टाक्स
१६३६-३७ से १६३८-३६ का औसत	५·०१	६·२८	०·३६	११·६५	१०·०४	१·४७
१६३६-४०	५·७६	६·४६	०·४२	१२·६४	११·४७	१·४६
१६४०-४१	४·४६	४·६६	०·३६	६·८४	८·२१	१·४५
१६४१-४२	५·६१	५·८८	०·४६	१२·२५	८·२५	२·५१
१६४२-४३	४·८४	६·६२	०·५६	१२·०५	६·८६	२·७५
१६४३-४४	३·६३	५·२१	०·४०	६·५४	६·३५	१·६५
१६४४-४५	४·१५	५·४५	०·४०	१०·००	६·७७	१·७७
१६४५-४६	४·६३	५·८१	०·४१	१०·८५	८·०१	१·८८

१९४६-४७	४·१८	५·१०	०·३४	९·६२	८·००	[illegible]
१९४७-४८	४·८३	५·२०	०·३२	१०·३५	९·५४	[illegible]
१९४८-४९	४·९४	५·७७	....	१०·४०	८·३५	[illegible]
१९४९-५०	२·८५	५·०५	०·३४	८·२४	७·५४	[illegible]

[भारत-पाकिस्तान ईयर बुक १९५१]

उपर्युक्त तालिका से कई बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि द्वितीय महायुद्ध के ६ वर्षों में (१९३९-४० से १९४४-४५) कुल मिलाकर जूट उद्योग की स्थिति ठीक रही। १९४०-४१ और १९४३-४४ में उत्पादन काफी कम होगया जब कि १९३९-४०, १९४१-४२ और १९४२-४३ में उत्पादन की मात्रा काफी अधिक रही। युद्ध का अन्तिम वर्ष बीच का-सा रहा। इन वर्षों में उत्पादन [illegible] लाख टन से लगाकर १२½ लाख टन के बीच में कम-ज्यादा होता रहा जब कि युद्ध के पूर्व चार वर्षों का औसत उत्पादन ११½ लाख टन से कुछ कम था। महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् केवल १९४६-४७ को छोड़कर बाकी के वर्षों में उत्पादन १० लाख टन से अधिक ही रहा है। यह ध्यान रखने की बात है कि अगस्त १९४७ में भारत का विभाजन हुआ था। और उससे पहले और बाद में देश की राजनैतिक और साम्प्रदायिक स्थिति में बहुत उथल-पुथल हुई थी। देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए। इसका प्रभाव उद्योग-धन्धों पर पड़ा। १९४८ के फैक्टरी एक्ट के लागू होने से काम के घन्टे ४८ प्रति सप्ताह होगये। [illegible] रही। १९४७ का वर्ष देश में औद्योगिक संकट का वर्ष था। जूट-उद्योग में भी इस बात का समर्थन मिलता है। इसके बाद दो वर्ष तक स्थिति ठीक रही [illegible] १९४९-५० में फिर उत्पादन में बहुत कमी आगई। कुल उत्पादन ८·२४ लाख टन से अधिक नहीं हुआ। (कॉमर्स १२ अगस्त १९५०, पृष्ठ २६४) जूट की [illegible] भी ११३ जूट मिलों की ६२ लाख गांठों से घटकर ५० लाख [illegible] हो गई। १९४९-५० में उद्योग की इस संकटमयी स्थिति का मुख्य कारण [illegible] की कमी ही था। भारतीय पटसन की मिलों के लिये यह समस्या देश के विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई थी। जब सितम्बर १९४९ में भारत ने [illegible] साथ साथ रुपये का अवमूल्यन किया और पाकिस्तान ने अवमूल्यन करने से इन्कार कर दिया तो भारतीय मिलों के लिये एक और समस्या [illegible] जूट का मूल्य पहले से ही अधिक था और पाकिस्तान से आने वाले जूट में [illegible] का अंश बहुत होता था जिससे उसकी लागत और बढ़ी हुई [illegible] अवमूल्यन के बाद जब पाकिस्तान ने अपने १००=१४४ [भारत] की दर निश्चित करदी तो कच्चे पटसन का मूल्य ४४ प्रतिशत और बढ़ गया [illegible]

और पाकिस्तान में पटसन का मूल्य नियन्त्रण कर दिया गया पर भारत ने जो मूल्य निश्चित किया वह पाकिस्तान द्वारा निश्चित मूल्य से कम था। इसलिए भारतीय मिलें पाकिस्तान का पटसन खरीदने को तैयार नहीं थी। कच्चे जूट की इस कमी का सामना संगठित रूप से मिलों के आपसी समझौते के आधार पर उत्पादन में कमी करके किया गया। इस समझौते के अनुसार [जो अप्रैल १९४९ में किया गया था] १२.५ प्रतिशत करघे बन्द करने और सेकिंग का उत्पादन बढ़ाने का निश्चय किया गया। सेकिंग में साधारण दर्जे के पटसन की आवश्यकता होती है। इसलिये उसका उत्पादन बढ़ाने से पाकिस्तान के अच्छे प्रकार के पटसन की आवश्यकता कम की जा सकती है। यह समझौता जुलाई १९४९ में फिर बदल गया और यह निश्चित किया गया कि जुलाई १९४९ से दिसम्बर १९४९ तक महीने में एक सप्ताह मिलें बन्द रहा करेंगी। इसी बीच में रुपये के अवमूल्यन से जो स्थिति उत्पन्न हुई उसका हम उल्लेख कर चुके हैं। इसका सामना करने के लिए पटसन के माल में भावी पण्न पर पश्चिम बंगाल की सरकार ने रोक लगादी। और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है बंगाल की सरकार की सहमति से इन्डियन जूट मिल एसोसियेशन ने कच्चे जूट और जूट के माल की कीमत निश्चित करदी। योजना के अनुसार पाकिस्तान से जूट का आयात करने के लिये इंडियन जूट मिल एसोसियेशन को लाइसेंसिंग अधिकारी नियुक्त किया गया। उसके अलावा पाकिस्तान से दूसरा कोई जूट का आयात नहीं कर सकता था। इसके अनुसार पश्चिम बंगाल की सरकार ने ३० अक्टूबर को जूट [कन्ट्रोल ऑफ प्राइसेज़] आर्डीनेन्स जारी किया। भारत सरकार ने जूट के माल के निर्यात के सम्बन्ध में जूट गुड्ज़ [एक्पोर्ट कन्ट्रोल] आर्डर, १९४९ के अनुसार मूल्यों का निर्धारण कर दिया। हेसियन पर निर्यात कर ८० रु० से ३५० रु० टन कर दिया गया। राज्य की सरकारों ने भी नवम्बर के दूसरे सप्ताह में जूट के माल के उत्पादन, पूर्ति और वितरण सम्बधी आज्ञाएँ जारी कीं। पाकिस्तान में भी कच्चे जूट पर सरकार द्वारा नियंत्रण कायम किया गया। मूल्य निश्चित कर दिये गये। जूट बोर्ड की स्थापना की गई और बिना इस बोर्ड की स्वीकृति के पाकिस्तान से जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया। पर शीघ्र ही पाकिस्तान और भारत में सारी स्थिति पर विचार हुआ और अप्रैल १९५० में भारत-पाकिस्तान-जूट-समझौता किया गया, जिसके अनुसार ३१ जुलाई, १९५० तक पाकिस्तान से भारत को ४० लाख मन जूट भेजने का निश्चय किया गया। पर जिस क्रम से जूट आना चाहिये था, वह मई और जून में क्रम बदलने के बाद भी, आया नहीं। भारतीय मिलों

की जूट सम्बन्धी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह कोई पहला अवसर नहीं था जब पाकिस्तान ने अपने वचन के अनुसार कच्चा जूट भेजा नहीं। मई, १९४८ में जो इन्टर डोमिनियन समझौता [जुलाई १९४८ से जून १९४९] भारत पाकिस्तान में हुआ था [विभाजन के बाद यह पहला समझौता था] उसको पाकिस्तान ने भग किया। दुबारा इन भारत-पाकिस्तान कमोडिटी एग्रीमेंट जुलाई १९४८ से जून १९४९ तक का हुआ उसका भी यही हाल हुआ। और फिर अवमूल्यन के बाद से तो जूट का पाकिस्तान से भारत में आना ही बन्द हो गया था। उसके बाद ही फिर अप्रैल १९५० में यह समझौता हुआ। उपर्युक्त विवरण से यह सार निकलता है कि १९४९-५० में भारतीय जूट उद्योग को कच्चे माल की बरावर कठिनाई रही और इसी से उसका उत्पादन काम हुआ। अप्रैल १९५० के समझौते के पश्चात् जूट मिलों को कच्चे माल की स्थिति में थोड़ा सुधार अवश्य होने लगा था। अप्रैल १९५० [४३ हज़ार टन] और मई १९५० [७४ हजार टन] की अपेक्षा जून का उत्पादन बढ़ कर ७७ हजार टन से कुछ ही कम था। अप्रैल १९५० के भारत-पाकिस्तान समझौते के अनुसार सितम्बर १९५० के पहले-पहले तक जितना जूट भारत को मिलने वाला था वह सब मिल गया। उसके बाद भारत-पाकिस्तान का जूट का व्यापार बन्द हो गया। भारत पाकिस्तान के विदेशी विनिमय के प्रश्न का स्थायी हल निकले विना भारत पाकिस्तान से और अधिक जूट खरीदने के लिये तैयार नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि १९५०-५१ [जुलाई-जून] के आरम्भ में जूट सम्बन्धी स्थिति अस्पष्ट थी। यह नहीं मालूम था कि पाकिस्तान और भारत का सम्बन्ध कैसा रहेगा, पाकिस्तान से भारत को जूट मिलेगा या नहीं, या भारत को अपने ही पाँव पर इस मामले में खड़ा होना पड़ेगा। यद्यपि कच्चे पटसन और पटसन के माल के मूल्यों का सरकार द्वारा नियंत्रण जारी था पर इन मूल्यों पर माल मिलता नहीं था और काला बाज़ार पनप रहा था। दिसम्बर १९५० के मध्य में सेन्ट्रल जूट बोर्ड की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य मिलों को की जाने वाली कच्चे पटसन की बिक्री का नियंत्रण करना था। मिलों को जूट बोर्ड के द्वारा ही कच्चा पटसन खरीदना अनिवार्य था, वे सीधा बेचने वाले से नहीं खरीद सकतीं थीं। फरवरी १९५१ के अन्त में भारत-पाकिस्तान व्यापारिक समझौता हुआ। इस समझौते की अवधि १६ महीने की है। जहाँ तक जूट का सम्बन्ध है इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान भारत को ३० जून, १९५१ तक १० लाख गाँठें जूट भेजेगा। ३½ लाख गाँठ जूट तो पाकिस्तान सरकार भारत सरकार को एक निश्चित मूल्य पर देगी और बाकी की ६½ लाख गाँठ

खुले बाजार में से खरीदना होगा। जुलाई-जून १९५१-५२ में पाकिस्तान भारत को २५ लाख गाँठ पटसन भेजेगा। इस समझौते से जूट की कमी की जब आशंका न रही तो जूट पर से ६ मार्च १९५१ से मूल्य-नियन्त्रण भी हटा लिया गया। मूल्य नियंत्रण कच्चे पटसन और पटसन के तैयार माल दोनों से ही हटा लिया गया है। जूट बोर्ड बना रहेगा और अब उसका काम मिलों में जूट का उचित और न्यायपूर्ण बटवारा होसके इसकी व्यवस्था करना होगा। जूट उद्योग के लिये १९५०-५१ का वर्ष १९४९-५० की अपेक्षा कोई बहुत अच्छा साबित नहीं हुआ। पाकिस्तान से जो समझौता हुआ उसके अनुसार कच्चा पटसन पाकिस्तान से आ नहीं सका। इससे कच्चे माल की कठिनाई जारी रही। यह ठीक है कि १९५० के मुकाबले में स्थिति ठीक रही क्योंकि भारतीय कच्चा जूट मूल्य नियंत्रण हट जाने से आसानी से मिल जाता था। १९५०-५१ में कुल उत्पादन ८·५८ लाख टन के लगभग हुआ। विदेशों की, ख़ास तौर से अमेरिका की, मांग इस वर्ष कम रही। इसका एक कारण बढ़ी हुई कीमत था। १९५१-५२ के आरंभ में जूट उद्योग की स्थिति में सुधार की आशा उत्पन्न हुई थी। कच्चे जूट की प्राप्ति में भी पहले से उन्नति हुई। पर सितम्बर १९५१ में फिर कीमतें गिरने लगीं और इस से उद्योग की स्थिति में एक संकट आता मालूम पड़ा। उद्योग ने निर्यात कर में कमी करने की मांग की पर सरकार ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया क्योंकि कुल मिलाकर निर्यात में वृद्धि हो रही थी। सरकार की नीति स्पष्ट होने से अनिश्चितता जाती रही। इससे मूल्य भी कुछ बढ़े। कच्चे माल की स्थिति सुधर रही थी। इससे मिलों ने उत्पादन बढ़ाना आरम्भ कर दिया। दिसम्बर में मिलों ने काम के घंटे ४८ प्रति सप्ताह कर दिये। पर जूट उद्योग की यह स्थिति अधिक चली नहीं। इस समय (१९५२ अप्रैल) उद्योग फिर संकट की स्थिति में है। कीमतें कम हो गई हैं। मिलों के पास स्टाक जमा हो गया है और कीमतें कम होने पर भी मांग बढ़ नहीं रही है। सरकार ने हेसियन पर निर्यात कर १५०० से ७०० कर दिया है और किन देशों को कितना कपड़ा निर्यात हो यह प्रतिबन्ध हटा लिया है। मिलों ने काम के घन्टे कम कर दिये हैं। इन प्रयत्नों का क्या असर होगा यह देखना होगा। इस समय की स्थिति संकट पूर्ण है यह साफ़ है।

अब तक हमने इस बात का उल्लेख किया है कि पटसन उद्योग में उत्पादन की दृष्टि से द्वितीय महायुद्ध के समय से आज तक क्या-क्या उतार-चढ़ाव आए। देश के विभाजन और रुपये के अवमूल्यन से कच्चे पटसन और उसके मूल्य की जो समस्यायें पैदा हुईं उनका कैसे सामना किया गया। पर पटसन के उद्योग के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसका बहुत कुछ आधार निर्यात पर है।

जो तालिका ऊपर दी है उसे ध्यान से देखने से मालूम होगा कि कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग निर्यात ही होता है। यह भाग लगभग ५५ प्रतिशत (१९४२-४३) से लगा कर ९० प्रतिशत तक रहा है। १९४९-५० में उत्पादन में कमी होने से निर्यात पर भी असर होना स्वाभाविक था। अवमूल्यन के बाद जूट के माल के निर्यात सम्बन्धी मूल्यों का नियंत्रण भी हो ही गया था। इसके पहले भी कितना माल कहाँ कहाँ भेजा जा सकता है इस पर सरकार का नियंत्रण था ही। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब १९४६ के अन्त में जूट के मूल्यों (आन्तरिक और निर्यात सम्बन्धी) पर से नियंत्रण हटा लिया गया, तब सरकार ने जूट के निर्यात पर नियन्त्रण लागू कर दिया गया था कि किस मात्रा में और किन देशों को जूट का निर्यात हो सकता है। फ़रवरी १९५१ के अन्त में मूल्य नियंत्रण हट जाने के बाद भी भारत सरकार को यह अधिकार था। पर इस समय (अप्रैल, १९५२) जूट उद्योग में जो संकट आ रहा है और जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है उसके कारण भारत सरकार ने मार्च १९५२ में निर्यात पर से यह प्रतिबंध हटा लिया है। यह हम पहले लिख चुके हैं कि अवमूल्यन के बाद जूट के माल पर (हेसियन) निर्यात-कर ८० रु० से ३५० रु० टन कर दिया था। कोरिया युद्ध के आरम्भ हो जाने के बाद जब अमरीका में जूट के माल का मूल्य बहुत बढ़ने लगा तो निर्यात-कर में भी पहले ३५० रु० टन से ७५० रु० टन और बाद में १५०० रु० टन (नवम्बर १९५०) तक वृद्धि कर दी गई। इतने अधिक निर्यात कर लगा देने से अमरीका ने हमारा माल खरीदना कम कर दिया। उद्योग-पतियों की बराबर निर्यात कर को कम करने की माँग रही है। सरकार ने हाल में यह कर कम कर भी दिया है पर उद्योगपति अभी और कमी चाहते हैं। उद्योग के वर्तमान संकट में उनकी राय में ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है।

भविष्य—जूट-उद्योग की प्रगति का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि उसके भविष्य के बारे में क्या अनुमान लगाया जा सकता है। देश के विभाजन से जूट उद्योग के लिए कच्चे माल की बड़ी समस्या पैदा हो गई है। जूट के माल के उत्पादन-लागत का ७० प्रतिशत भाग कच्चे जूट का होता है। इससे इसका महत्त्व स्पष्ट है। भारत की जूट की मिलों को ६० लाख गाँठ पटसन प्रति वर्ष चाहिये। इसके अलावा लगभग ९ लाख गाँठ निर्यात के लिए और १½ लाख गाँठ घरेलू खपत के लिए चाहिये। इस प्रकार कुल १०½ लाख गांठ हमें चाहिये। विभाजन के पहले आँकड़ों को आधार मान कर यदि हम विचार करें तो १९४५-४६ में भारत में १५.५६ लाख गाँठ जूट उत्पन्न हुआ था जब कि पाकिस्तान में ६२.३५ लाख गाँठ उत्पन्न हुआ था। युद्ध के पूर्व से लगा

वर्षों का (१६३६-३७ से १६३८-३६) औसत देखने से मालूम होता है कि भारत में २०.०२ लाख गाँठ और पाकिस्तान में ६३.६० लाख गाँठ जूट पैदा हुआ था। १६४०-४१ में भारत में २७.५६ लाख गाँठ और पाकिस्तान में १०४.१३ लाख गाँठ जूट उत्पन्न हुआ। विभाजन के बाद से भारतवर्ष ने कपास के साथ-साथ जूट में भी स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करना आरम्भ किया। इस प्रयत्न में भारत को सफलता मिली है। ट्रावनकोर, मद्रास और बम्बई में जूट पैदा करने के लिये जो प्रयोग किये गये वे सफल हुए हैं पर इन प्रयोगों का देश को पूरा लाभ नहीं मिल सका है। १६४७ में १६.६६ लाख गांठ, १६४८-४६ में २०.२७ लाख गांठ, १६४६-५० में ३१.१७ लाख गांठ और १६५०-५१ में ३२.६२ लाख गांठ पटसन पैदा किया गया। ऐसी आशा की जाती है कि १६५१-५२ में ४६.५ लाख गांठ जूट का उत्पादन हो सकेगा। जूट की समस्या केवल उत्पादन-वृद्धि की ही नहीं है; जूट के प्रकार का भी सवाल है। ऊँची प्रकार का जूट भारत में कम होता है और वह हमें पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है। लगभग ७० प्रतिशत जूट हमारी मिलों को पाकिस्तान में पैदा होने वाला चाहिये। यदि हम जूट में स्वालम्बन चाहते हैं तो हमें अच्छे प्रकार का जूट पैदा करना होगा या फिर नीचे दर्जे का माल अधिक मात्रा मे तैयार करना होगा। इसी विवशता से पिछले वर्षों में हमारी मिलों में हेसियन का उत्पादन कम और सेकिंग का अधिक हुआ है। जहाँ १६४६-४७ में कुल उत्पादन में हेसियन ४३ प्रतिशत और सेकिंग का ५२ प्रतिशत था वहाँ १६४८-४६ में हेसियन का भाग ३७ प्रतिशत और सेकिंग का ५४ प्रतिशत हो गया। १६४६-५० में तो यह अनुपात हेसियन का लगभग ३५ प्रतिशत और सेकिंग का ६० प्रतिशत होगया।

दूसरा प्रश्न जिसका भारत के जूट उद्योग पर असर पड़ सकता है वह है स्वयं पाकिस्तान में जूट उद्योग के विकास का। इस समय पाकिस्तान में एक भी जूट की मिल नहीं है। पर पाकिस्तान का ध्यान इस ओर है और शीघ्र ही पाकिस्तान में जूट की मिलें काम करने लग जायँगी। ऐसी स्थिति में भारत को जूट उद्योग का जो प्रायः आज एकाधिकार सा प्राप्त है वह सुदूर भविष्य में भी बना रहेगा, यह आशा नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि निकट भविष्य में कोई बड़ा खतरा इस ओर से चाहे न हो। पर कुछ लोगों का यह विचार है कि अगर भारत का जूट का माल सस्ता नहीं हुआ तो स्पेन, फ्रांस बेलजियम, इटली आदि के जूट की मिलों का माल भारत के माल की अपेक्षा अधिक विकेगा। आस्ट्रेलिया और इंगलैंड भी आस्ट्रेलिया में जूट के उत्पादन का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके अलावा फिलिपाइन, क्यूबा, दक्षिणी अमरीका के देश भी इस ओर प्रयत्नशील हैं।

मिलें हैं जिनमें 'वूलन' [नीचे दर्जे का] और वोस्टेंड [बढ़िया] दोनों ही प्रकार के कपड़े तैयार होते हैं। दूसरी प्रकार की वे मिलें हैं जिनमें केवल एक प्रकार का कपड़ा तैयार होता है। तीसरी श्रेणी में अमृतसर की मिलें हैं जो तैयार सूत खरीदती हैं और फिर उसकी बुनाई और रँगाई आदि करती हैं। पहली श्रेणी में कानपुर और धारीवाल की ऊनी मिलें आती हैं। ऊनी मिल उद्योग में २५ हज़ार आदमी काम करते हैं। गृह उद्योग में लगभग १ लाख और ग़लीचे के उद्योग में लगभग ४० हज़ार आदमी काम करते हैं। मिल उद्योग में वोस्टेंड तकुओं की संख्या ३७,५००, वूलन तकुओं की ५०,००० और पॉवर लूम्स की २,३०० है। मिलों की उत्पादन शक्ति ३ करोड़ पौण्ड प्रति वर्ष मानी जा सकती है। भारत के विभाजन के समय १७ बड़ी और २२ छोटी मिलें थीं। ऊनी मिल-उद्योग में लगभग ४-५ करोड़ रुपये की पूँजी लगी होगी।

प्रारम्भ :—भारत की पहली ऊन की मिल १८७६ में कानपुर में स्थापित की गई। यहाँ कच्चे माल और बाज़ार दोनों की ही सुविधा थी। दूसरी मिल धारीवाल [पंजाब] में १८८२ में स्थापित हुई। बम्बई में १८८८ में और बॅगलौर में १८८६ में और मिलें स्थापित हुईं। प्रथम महायुद्ध के समय तक भारत में ५-६ मिलें थीं।

प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् :—प्रथम महायुद्ध में ऊनी मिल-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। बम्बई में ख़ास तौर से कुछ नई मिलें स्थापित हुईं। युद्ध के बाद १६१६-२० में नई मिलें स्थापित हुई थीं। युद्धजनित यह सफलता स्थायी नहीं साबित हुई। इटली और जापान के माल की भारतीय माल से प्रतिस्पर्द्धा होने लगी। इटली के कम्बल, और ट्वीड और जापान का बढ़िया [वोस्टेंड] कपड़ा भारत के बाजार में खूब बिकने लगा। १६३१-३२ में ३७ लाख गज़ माल बाहर से आयात हुआ था। १६३४-३५ में १ करोड़ ६७ लाख गज़ माल बाहर से आया। केवल जापान के माल का हिस्सा १२ लाख गज़ से बढ़कर ७३ लाख गज़ हो गया था। इस पर से ऊनी मिल उद्योग ने संरक्षण की माँग की। प्रशुल्क मंडल ने १६३५ में इस सम्बन्ध में जाँच की और संरक्षण की सिफ़ारिश की। पर भारत की विदेशी सरकार ने संरक्षण देने से इसलिये इन्कार कर दिया कि कानपुर और धारीवाल की मिलों ने संरक्षण की माँग नहीं की थी। कानपुर की मिलें अंग्रेज़ों के हाथों में थीं, यह ध्यान रखने की बात है। विश्व संकट और जापानी मुद्रा के विनिमय दर में गिरावट आने से और भारत का विनिमय दर ऊँचा होने से इस उद्योग को विदेशी माल से और ख़ास करके जापान से जो प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही थी वह

और भी अधिक होगई।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद:—द्वितीय महायुद्ध के कारण ऊनी माल की भी माँग बढ़ी और इससे इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। सरकार ने ऊनी माल अधिक मात्रा में खरीदना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम ऊन-मिलों का उत्पादन बढ़ने का हुआ। पर जहाँ बढ़ी हुई माँग के कारण द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया वहाँ बाहर से ऊनी यार्न न आने से मिलों को कठिनाई भी हुई। अमृतसर और लुधियाना की मिलों को जहाँ यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित करघों पर बुनाई का काम होता था, बहुत धक्का पहुँचा। परन्तु बाद में भारत सरकार ने इंगलैंड और आस्ट्रेलिया से यार्न मँगाने की व्यवस्था कर दी थी और इससे मिलों की कठिनाई कुछ कम हो गई। युद्ध के पहले चार वर्षों का (१९३६-१९३९) औसत उत्पादन १ करोड़ ११ लाख पौंड था। युद्ध के बाद सन् १९४६ में उत्पादन की मात्रा २ करोड़ ७० लाख पौंड थी। सन् १९४७ में उत्पादन थोड़ा कम हो गया। इस वर्ष २ करोड़ ४० लाख पौंड माल पैदा हुआ। उसके बाद १९४९ को छोड़कर १९५१ तक उत्पादन बराबर गिरता गया है। १९४८ में २ करोड़ पौंड, १९४९ में २ करोड़ १० लाख पौंड, १९५० में १ करोड़ ८० लाख पौंड उत्पादन हुआ। १९५१ में नवंबर तक १ करोड़ ६३ लाख पौंड उत्पादन हुआ था। उत्पादन की मात्रा में कमी होने का एक कारण कच्चे माल की कमी रही है। भारत बाहर से ऊनी माल का आयात भी करता है और गलीचे और रगें इंगलैंड तथा बहुत थोड़ी अमेरिका आस्ट्रेलिया और कनाडा को निर्यात भी होती हैं।

१९४७ में जब देश का विभाजन हुआ तो उसका असर इस उद्योग पर भी एक हद तक पड़ा। अविभाजित भारत में कच्चे ऊन की कुल पैदावार ८.६ करोड़ पौंड थी। भारत के विभाजन से ६ करोड़ पौंड भारत में और २.६ करोड़ पौंड पाकिस्तान में पैदा होने का अनुमान लगाया जा सकता है। विभाजन का कच्चे माल की दृष्टि से ऊन-उद्योग पर उतना घातक असर नहीं पड़ा जितना कपास अथवा पटसन के उद्योग पर पड़ा। ऊनी माल के उत्पादन का जहाँ तक सवाल है विभाजन से उसमें भी कमी तो आई है। और इसका सबसे बुरा असर पूर्वी पंजाब पर पड़ा है। वहाँ का ऊनी मिल उद्योग सबसे अधिक संगठित था और विभाजन के कारण सबसे अधिक अव्यवस्था भी वहीं हुई। कई मिलें जो मुसलमानों के हाथों में थीं वे मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने से दूसरे के हाथों में आ गईं। धारीवाल, अमृतसर और जालंधर की ऊनी मिलों में अधिकांश काम करने वाले मुसलमान थे। उनके पाकिस्तान चले

जाने से भी इस उद्योग को बहुत धक्का लगा है क्योंकि ऊन के उद्योग में कुशल मज़दूर का विशेष महत्व है। अच्छे प्रकार का ऊन जो पाकिस्तान से आता था उस पर भी विभाजन का असर पड़ा है। पाकिस्तान का बाज़ार भी अब भारत के हाथ से निकल गया है। ऐसा अनुमान है कि कुल उत्पादन के लगभग ३० प्रतिशत भाग की पाकिस्तान और विशेषतया पश्चिमी पंजाब में खपत होती थी।

भविष्य—अब प्रश्न यह है कि ऊनी मिल उद्योग का भविष्य हमारे देश में क्या है। ऊनी माल की आज भी देश में उत्पादन की अपेक्षा अधिक माँग है, खास तौर से बढ़िया माल की। उदाहरण के लिये रगों और बढ़िया माल की माँग देश में काफ़ी है। १९४५ में भारत सरकार ने ऊनी उद्योग के लिए जो पेनल नियुक्त किया था उसने यह अनुमान लगाया था कि भारत में (अविभाजित) ३ करोड़ पौंड की माँग थी जब कि उत्पादन १ करोड़ ११ लाख पौंड और विदेशी माल का आयात ८० लाख पौंड के लगभग था। अर्थात् १ करोड़ पौंड की मॉग अधिक थी। और यदि विदेशी माल को निकाल दें तो उत्पादन से मॉग की अधिकता लगभग १९० लाख पौंड के हो जाती है। विभाजन के बाद इस स्थिति में कोई बहुत परिवर्तन नहीं हो पाया है। आज पाकिस्तान में ऊनी उद्योग नहीं है। हाँ, भविष्य में उसका विकास हो सकता है। पर उसमें समय लगेगा। इस बीच में मध्यपूर्व और निकट पूर्व के देशों में भारतीय माल के लिये बाज़ार पैदा किया जा सकता है। देश के अन्दरूनी बाज़ार का भी, जैसे-जैसे हमारा आर्थिक स्तर ऊपर उठेगा, विस्तार होगा। इसलिये ऊनी उद्योग को बाज़ार की कोई कठिनाई नहीं आने वाली है। कच्चे माल के बारे में यह स्थिति है कि बढ़िया ऊन की देश में कमी है। आज भी इङ्गलेंड और आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ी-लेंड से बढ़िया ऊन हमारे देश में आती है। देश के विभाजन से भी बढ़िया ऊन पैदा करने वाला प्रदेश (पश्चिमी पंजाब) भारत से अलग हो गया है। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि बढ़िया ऊन पैदा करने की ओर हमारे देश में अधिक ध्यान दिया जाय। ऊनी माल की उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ बढ़िया माल का उत्पादन आवश्यक है। यह भी बढ़िया ऊन पैदा करने से ही सम्भव हो सकता है। ऊन के मिल उद्योग की भावी प्रगति के लिये मशीनों और कुशल काम करने वालों की भी बड़ी आवश्यकता है। द्वितीय महायुद्ध के समय पुरानी मशी-नरी बदलने की सुविधा न होने से आज मशीनरी बदलने की बहुत आवश्यकता है। सरकार इस ओर आवश्यक सुविधा देने के लिये प्रयत्नशील भी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भारत में ही मशीनरी का उत्पादन किया जाय।

ऊनी उद्योग सम्बन्धी पेनल ने भी इसकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। कपास के उद्योग सम्बन्धी मशीनरी का उत्पादन इस दिशा में सहायक होगा क्योंकि दोनों उद्योगों में कई बातें समान हैं। ऊन के उद्योग में काम करने वालों की आवश्यक ट्रेनिंग की व्यवस्था भी की जानी चाहिये। यदि उपर्युक्त सब बातों की ओर हमने ध्यान दिया तो इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। भारत में ग़लीचे बनाने के लिए बहुत अच्छा ऊन पैदा होता है। फिर भी इस उद्योग का समुचित विकास नहीं हुआ है। इसकी सबसे बड़ी कठिनाई आधुनिक मशीनरी का अभाव है।

रेशम का उद्योग—भारत के आधुनिक उद्योगों में रेशम का उद्योग भी है। ऊनी मिल उद्योग की भाँति भारत के आर्थिक जीवन में इस उद्योग का महत्त्व भी थोड़ा है, यद्यपि यह भारत का अत्यन्त प्राचीन धन्धा रहा है, जैसा कि कपास के उद्योग के बारे में भी कहा जा सकता है। ऊनी उद्योग की भाँति रेशम के उद्योग में भी हाथ-करघे का विशेष महत्त्व है, और मिल-उद्योग का कम। हम यहाँ मिल-उद्योग का ही विचार करेंगे। इस उद्योग में लगभग ५० हज़ार आदमी काम करते हैं। विभाजन के पहले रेशम और नक़ली रेशम के यान्त्रिक शक्ति द्वारा संचालित करघों की कुल संख्या १२ हज़ार थी। इसमें पाकिस्तान का हिस्सा तो नगण्य था—१०० करघों से भी कम। इसका अर्थ यह है रेशम का मिल-उद्योग भारत में ही केन्द्रित है। यही बात हाथ के करघों के बारे में भी है। यह उद्योग शहरी उद्योग है और उत्तर प्रदेश, काश्मीर, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, और मद्रास के राज्यों में प्रधानतया पाया जाता है। मिल-उद्योग का वार्षिक उत्पादन १५ करोड़ गज़ रेशम और नक़ली रेशम का माना जा सकता है। भारत के विभाजन के समय मिलों की कुल संख्या २८० थी, उसमें से २७४ भारत में और ६ पाकिस्तान में थीं। ३० नवम्बर, १९४९ को रेशम के मिल उद्योग में लगभग १८ हज़ार करघे लगे हुए थे। इनके अलावा लगभग ८ हज़ार हाथ के करघे भी इस उद्योग में लगे हुए हैं।

प्रारम्भ—रेशम के मिल-उद्योग का भारत में इसी शताब्दी में आरम्भ हुआ। कई कारणों से इसकी प्रगति धीमी हुई। इसके उत्पादन में कलात्मक दृष्टि का अधिक महत्त्व है जो आधुनिक ढंग के प्रमाणीकरण प्रधान कारखानों में सम्भव नहीं हो सकती। कुशल-मज़दूर और उपयुक्त मशीनरी का भारत में अभाव रहा है। अलग-अलग प्रान्तों (राज्यों) में माँग भी एक सी नहीं है, क्योंकि जगह-जगह की पोशाक और रुचि में भी बहुत अन्तर है। पिछले वर्षों में इस उद्योग के मार्ग में कठिनाइयाँ आई हैं। संसारव्यापी आर्थिक मन्दी, स्वर्णमान के

परित्याग के बाद मुद्रा के मूल्यों में ह्रास और चीन, जापान तथा यूरोपीय माल की प्रतिस्पर्द्धा जो विनिमय दर में गिरावट आने से और भी अधिक घातक हो गई, तथा विभिन्न देशों की सरकार द्वारा अपने-अपने देशों के रेशम के उद्योग को मिलने वाली सहायता के कारण भारत के रेशम के उद्योग को यथेष्ट हानि हुई है। १६३४ में जब इण्डियन टैरिफ़ (टेक्सटाइल प्रोटेक्शन) एक्ट पास हुआ था तो कपास के उद्योग के साथ-साथ उसके द्वारा रेशम के उद्योग को भी संरक्षण दिया गया था। कच्चा रेशम, रेशम का तार (यार्न), रेशमीन कपड़ा, रेशम का मिलावटी कपड़ा, और नकली रेशम का कपड़ा तथा मिलावटी कपड़ा सभी पर आयात कर लगाये गये थे। नक़ली रेशम के तार पर भी आयात-कर बढ़ाया गया था। पर एक तो यह आयात-कर कम थे और दूसरे विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी, इसलिए इस उद्योग की स्थिति सुधर नहीं सकी। १६३८ में संरक्षण जारी रखने का प्रश्न फिर टैरिफ़ बोर्ड के सामने प्रस्तुत हुआ और उसने संरक्षण-कर की दरों में वृद्धि करने की सिफ़ारिश भी की। परन्तु सरकार ने निर्णय करने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि युद्ध जनित अनिश्चित अवस्था में कोई निर्णय करना उचित नहीं है। पर सरकार की यह नीति दोषपूर्ण थी।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—द्वितीय महायुद्ध के कारण इस उद्योग को भी अन्य उद्योगों की तरह प्रोत्साहन मिला। बाहर के माल की प्रतिस्पर्धा कम हो गई। जापान और इटली से तो माल आना बिल्कुल बन्द हो गया। पर जापान से कच्चा रेशम आना बन्द होने का असर रेशम के उद्योग पर अच्छा नहीं पड़ा। फिर भी कुल मिलाकर युद्ध से प्रोत्साहन ही मिला। युद्ध के समाप्त होते ही फिर उद्योग की स्थिति बिगड़ने लगी। १६३४ में जो संरक्षण रेशम के उद्योग को दिया गया था वही १६४२ तक जारी रहा क्योंकि १६३८ की टैरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिशों पर उस समय सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। १६४२ में इन सिफ़ारिशों के अनुसार सब आयात-करों में वृद्धि की गई। यह संरक्षण १६४६ तक जारी रहा। इस वर्ष फिर टैरिफ़ बोर्ड ने इस उद्योग के संरक्षण के प्रश्न पर विचार किया और संरक्षण-कर बढ़ाने की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफ़ारिशों के आधार पर नए संरक्षण-करों की घोषणा करदी। यह संरक्षण की दरें ३१ मार्च १६५१ तक के लिए तो जारी कर दी गई थीं और बाद में ३१ मार्च १६५२ तक उनकी अवधि बढ़ाई जाने का निश्चय था। यह अवधि अब दिसम्बर, १६५२ तक बढ़ा दी गई है। इसी के साथ-साथ संरक्षण की दरों में भी कमी की ओर कुछ परिवर्तन

केन्द्रीय रेशम मण्डल [सेन्ट्रल सिल्क बोर्ड] की स्थापना की है। इसका कार्यालय बंगलौर में है। इसका काम कच्चे रेशम के उद्योग की उन्नति के बारे में भारत सरकार को सलाह देना है और इसे इस उद्योग पर उप-कर [सेस] लगाने का अधिकार भी है। १९४९ में जब टेरिफ बोर्ड ने रेशम के उद्योग के संरक्षण के प्रश्न पर विचार किया तो उसने भी इस सम्बन्ध में कई प्रकार के सुधारों की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। रेशम सम्बन्धी खोज के लिये पर्याप्त सुविधा और साधन की व्यवस्था; विदेशी रेशम के कीड़ों के लिए एक केन्द्रीय बीज के स्टेशन की स्थापना; रेशम के कीड़ों के रोगों का क़ानून द्वारा नियंत्रण; रोग-मुक्त बीजों का धीरे-धीरे अनिवार्य उपयोग; चर्खा द्वारा रेशम की रील तैयार करने के काम में सुधार; विदेशों में विशेषज्ञों की ट्रेनिंग की व्यवस्था; और रेशम के उद्योग के लिए आवश्यक मशीनरी तथा दूसरा सामान प्राप्त करने में सरकार द्वारा सहायता—ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनका टेरिफ बोर्ड ने खास तौर से उल्लेख किया था। मैसूर की सरकार तथा दूसरे राज्यों की सरकारों का इन बातों की ओर ध्यान भी गया है। केन्द्रीय रेशम मण्डल, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है, इस दिशा में बहुत काम कर सकता है। यहाँ यह बात याद रखने की है कि रेशम-मिल-उद्योग की सफलता के लिये आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे देश में कच्चे रेशम का उत्पादन बढ़े, उसका प्रकार बढ़िया हो, और उसके मूल्य में कमी हो। हमारे देश में लगभग २४ लाख पौंड कच्चा रेशम उत्पन्न होता है। उससे हमारी ६० प्रतिशत माँग पूरी होती है। बाक़ी का रेशम बाहर से, जैसे जापान, इटली आदि स्थानों से आता है। हमारे देश में रेशम पर बहुत ऊँचा आयात-कर होने पर भी बाहर का रेशम सस्ता पड़ता है, और वह बढ़िया भी होता है, इसलिये हमें इन दोनों बातों की ओर भी (अधिक उत्पादन के साथ-साथ) ध्यान देना चाहिये। केन्द्रीय रेशम मण्डल के तत्वावधान में एक टेकनिकल विकास समिति की स्थापना रेशम का उत्पादन दुगुना करने और मूल्य को कम करने सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये की जा चुकी है। रेशम की रील बनाने का काम आज भी हाथ के चर्खे पर अधिकतर होता है। इसमें सुधार करना चाहिये, पर इसके सुधार की आखिर मर्यादा है। इसलिये 'फिलेचर' पर रील करने के काम को राज्य की सरकारों को प्रोत्साहित करना चाहिये। ऐसा कई राज्य कर भी रहे हैं। सहकारिता के आधार पर भी इस काम को करना चाहिये। सहकारिता का आधार रेशम पालने और बुनने में भी किया जाना चाहिये। उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि भारत में रेशम के उद्योग के लिये यथेष्ट गुंजाइश है परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उससे सम्बन्ध

रखने वाली समस्याओं को राज्य की और केन्द्र की सरकारें तत्परता से हल करने का प्रयत्न करें। भारत सरकार और राज्य की सरकारों का इस ओर प्रयत्न चल रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं। नवम्बर, १६५१ में इंडियन टैरिफ़ बोर्ड ने रेशम के उद्योग के संरक्षण पर जब विचार किया तो संरक्षण की दरों संबंधी सुझाव देने के अलावा कुछ दूसरे सुझाव भी उन्होंने दिये। उन्हीं के सुझाव पर सरकार ने रेशम के कीड़ों के आयात पर से आयात कर हटा लिया है। बोर्ड ने कच्चे रेशम (जो बाहर से आता है) के मूल्य और वितरण पर सरकार द्वारा नियंत्रण की भी आवश्यकता बताई है।

रेयॉन उद्योग—रेयोन [Rayon] एक प्रकार का नक़ली रेशम है, इस तरह की गलत धारणा कई लोगों को आज भी है। वास्तव में रेयोन सेलूलोज़ या सेलूलोज़ बेल से रासायनिक ढंग से तैयार किया गया ऐसा रेशा या तार है जो बुना जा सकता है। इसको तैयार करने की चार मुख्य विधियाँ हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :—नाइट्रो-सिल्क, क्युपरएमोनियम सिल्क, विसकोज़ सिल्क, और एसीटेट सिल्क। इनमें विसकोज़ सिल्क पद्धति ज़्यादा महत्वपूर्ण है। रेयोन तैयार करने के लिये प्रमुख कच्चा माल सेलूलोज़ है। वे तमाम पदार्थ जिनसे सेलूलोज़ मिल सकता है, रेयोन बनाने के काम में आ सकते हैं, जैसे कपास, बाँस, लकड़ी, पटसन आदि। पर लकड़ी की लुग्दी इस काम के लिये अत्यन्त उपयुक्त है और उसमें भी स्प्रूस की लकड़ी खास तौर से। विस्कोज़ पद्धति में तो स्प्रूस की लकड़ी की लुग्दी ही काम में लेते हैं। रेयोन उत्पादन के लिये दूसरी आवश्यकता रसायन-पदार्थों की है जैसे—कॉस्टिक सोडा, सलफ्यूरिक एसिड, कारबन डाइ-सलफ़ाइड, सोडियम सलफेट, सोडियम सलफ़ाइड। इस वास्ते रेयोन उद्योग की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि रसायन पदार्थों का उद्योग पूर्णतया विकसित हो। कोयला, पानी और यांत्रिक शक्ति भी यथेष्ट मात्रा में चाहिये। आरंभ में तो रेयोन का उपयोग असली रेशम की बजाय ही किया जाता था परन्तु अब तो यह कई कामों में आता है और इसका अपना उपयोग में एक स्वतंत्र स्थान है। रेयोन के बारे में एक बड़ा भ्रम यह है कि यह टिकाऊ नहीं होता। पर यह धारणा सही नहीं है। द्वितीय महायुद्ध में इसकी उपयोगिता बहुत सिद्ध हो चुकी है। और आज तो रेयोन का दुनिया के बुने जा सकने वाले पदार्थों [टैक्सटाइल फ़ाइबर्स] में दूसरा स्थान है। रेयोन का उपयोग अन्य रेशम, कपास, ऊन आदि के साथ मिलावट करने के लिये भी किया जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक रेशों [नेचुरल फ़ाइबर्स] के साथ रेयोन के रेशे की मिलावट करने के लिये यह आवश्यक है कि रेयोन के रेशे की लम्बाई भी उन प्राकृतिक

रेशों की लम्बाई के समान हो। नक़ली रेशम के एक निश्चित लम्बाई के छोटे छोटे टुकड़े प्राकृतिक रेशों के साथ मिलाकर कातने की दृष्टि से काट लिये जाते हैं। इनको ही 'स्टेपल फ़ाइबर' कहते हैं और इनकी आज बहुत मांग है। सन् १९४९ में रेयोन का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों की संख्या हमारे देश में ३८ थी और लगभग २५००० यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाले और ७५००० हाथ-करघे इस उद्योग में लगे हुए थे। यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि इस उद्योग में कितनी पूँजी लगी है। पर कुछ लोगों का अनुमान है कि लगभग १५ करोड़ रुपये और ३ लाख मज़दूर इसमें लगे हैं [कामर्स २८-४-५०]। बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, अमृतसर और सूरत में मुख्यतः रेयोन के कपड़े का उद्योग केन्द्रित है। रेयोन के तार का उत्पादन हमारे देश में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ है और इस समय केवल तीन मिलें [ट्रावनकोर, हैदराबाद, बम्बई] स्थापित की जा रही हैं। इनमें से दो मिलों ने काम करना भी आरम्भ कर दिया है और तीसरी मिल १९५२ में काम शुरू करने वाली है। इन तीनों मिलों का उत्पादन १७ टन प्रतिदिन का होने का अनुमान है। इस समय हमारी आवश्यकता लगभग १०० टन प्रतिदिन की है। बिड़ला ब्रदर्स द्वारा स्थापित होने वाली ग्वालियर रेयोन मेन्यूफेक्चरिंग कम्पनी 'स्टेपल फाइबर' का उत्पादन भी शीघ्र ही आरम्भ कर देगी, ऐसी आशा है।

विकास—रेयोन के वस्त्र-उद्योग की हमारे देश में स्थापना हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है। यह उद्योग संगठित आधार पर १९३६ में आरम्भ हुआ था। कारण यह था कि सूती वस्त्रोद्योग को संरक्षण देने के लिये जब भारत सरकार ने रेयोन के वस्त्र पर आयात-कर बढ़ा दिया तो भारत के रेयोन-उद्योग को उससे प्रोत्साहन मिला। उसके पहले रेयोन का तार या तो हाथ करघे से बुनकर काम में लाते थे या मिलों में साड़ी का किनारा बनाने के काम में आता था। रेयोन के कपड़े का उत्पादन नाम मात्र को था। १९३६ के बाद रेयोन के वस्त्र-उद्योग ने जो प्रगति की है वह उल्लेखनीय है। आज टेक्सटाइल उद्योग में कपास के उद्योग के बाद इसी उद्योग का नम्बर आता है। द्वितीय महायुद्ध में रेयोन के तार का आयात बहुत कुछ बन्द हो जाने पर भी यह उद्योग जीवित रह सका। १९४७ में जब सूती वस्त्र मिल-उद्योग का संरक्षण समाप्त कर दिया गया था, तब भी सरकार ने इस उद्योग का संरक्षण जारी रखा। अभी अप्रेल १९५१ से दो वर्ष के लिये प्रशुल्क मण्डल की सिफारिश के अनुसार सरकार ने इस उद्योग का संरक्षण-काल और बढ़ा दिया है। कपड़े के उद्योग के साथ पिछले महीनों में इस उद्योग में मन्दी आई है। मिलों के पास माल इकट्ठा हो रहा है और मूल्य गिरे हैं।

भविष्य—रेयोन-उद्योग का भविष्य इस देश में उज्ज्वल है। इस समय इसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकतर रेयोन का तार हमारे मिलों को बाहर से [जापान, इंगलैंड, हालैंड, स्विट्जरलैंड, इटली] मँगाना होता है। यह कमी आसानी से पूरी हो सकती है। हमारे देश में स्प्रूस तथा दूसरे प्रकार की काफ़ी लकड़ी ऐसी होती है जिसकी लुग्दी से रेयोन का तार उत्पन्न किया जा सके। जो रासायनिक पदार्थ चाहियें वे भी देश में पैदा किये जा सकते हैं। जहाँ तक कि रेयोन के तार के उत्पादन के लिये मशीनरी आदि का प्रश्न है, वह अभी तो अधिकांश में विदेशों से मँगानी पड़ेगी। पर मशीनरी के कुछ कुछ भाग अवश्य हैं जो देश में तैयार किये जा सकते हैं और इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। रेयोन के तार के उद्योग की एक समस्या टेक्नीशियनों के अभाव से सम्बन्ध रखती है। योग्य नवयुवकों को इस काम की शिक्षा देश और विदेश में व्यवस्था करना आवश्यक है। रेयोन के वस्त्र की खपत का क्षेत्र काफ़ी व्यापक है। पाकिस्तान को काफ़ी माल जाता है और निकट भविष्य में पाकिस्तान का बाजार कहीं जाने वाला नहीं है। इसके अलावा मध्यपूर्व के देशों में भी इसके लिये अच्छा क्षेत्र है। हमारे देश में भी रेयोन के कपड़े की काफ़ी माँग बढ़ सकती है। कई लोगों का यह कहना है कि भारत में लम्बे रेशे के कपास की बड़ी कमी है। जब देश में अन्न उत्पादन की इतनी आवश्यकता है तो यह अधिक लाभदायक और हितकर होगा कि कपास के स्थान पर हम अपनी आवश्यकता रेयोन से पूरी करें। इस समय हम विदेश से जितना रेयोन और कपास आयात करते हैं उसकी पूर्ति के लिये सारा रेयोन हम अपने देश में पैदा करें तो हमें १०० टन रेयोन के तार और ४०० टन [illegible] प्रतिदिन के उत्पादन की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटेन के रेयोन-उद्योग से भी बड़ा रेयोन-उद्योग हमारे देश में आज चाहिये। दस वर्ष के अन्दर-अन्दर देश में इस उद्योग का इतना विकास हो सकता है। सारांश यह है कि हमारे देश में रेयोन के कपड़े और तार तथा [illegible] सम्बन्धी उद्योगों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। आवश्यकता यह है कि इस ओर आवश्यक ध्यान और इस उद्योग को आवश्यक प्रोत्साहन दिया जाये। जैसे सरकार को इस उद्योग के लिये कच्चा माल और आवश्यक मशीनरी मँगाने और बर्मा, लंका, इन्डोनेशिया, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व और [illegible] आदि देशों में भारतीय माल के लिये बाजार पैदा करने में सहायता करनी चाहिये। इस उद्योग के लिये आवश्यक कच्चा माल—जैसे [illegible] और रासायनिक पदार्थ आदि—देश में उत्पन्न करने के वास्ते यह आवश्यक है कि [illegible]

पर रेयोन के तार का उत्पादन करने वाली ऐसी मिलें स्थापित की जायें जो अपना कच्चा माल भी स्वयं पैदा कर लें। रेयोन के तार उत्पादन की मौजूदा मिलें इस दृष्टि से छोटी हैं। रेयोन के तार पैदा करने वाले उद्योग से कई लाभ हो सकते हैं। देश में बिजली उत्पादन की जो नई योजना चल रही है उनसे जब बिजली पैदा होने लगेगी तो उसका इस उद्योग में अच्छा उपयोग हो सकेगा। इसके लिये सल्फ्यूरिक एसिड का जब उत्पादन होगा तो दूसरे उद्योगों के लिये यह आवश्यक पदार्थ उपलब्ध हो जायगा। सल्फ्यूरिक एसिड से सीमेन्ट का उत्पादन भी बढ़ेगा क्योंकि सीमेन्ट इसका उप-पदार्थ है। इसी प्रकार पल्प और कागज़ के उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलेगा। सारांश यह है कि रेयोन के उद्योग-विकास से हमारे कपड़े की आवश्यकता ही पूरी नहीं होगी और लाभ भी होंगे।

शकर का उद्योग—देश से उद्योग-धन्धों में शकर के मिल-उद्योग का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चालू शकर की फेक्टरियों की १९५०-५१ में (नवम्बर से अक्टूबर) कुल संख्या हमारे देश में १३९ थी। लगभग ४० करोड़ रुपये की पूँजी इस उद्योग में लगी हुई है। लगभग लाख-सवा लाख आदमी शकर की मिलों में काम करते हैं और लगभग २ करोड़ किसान जो गन्ने की खेती करते हैं, इस उद्योग पर अपना दारोमदार रखते हैं। इस समय हमारे देश में शकर की कुल खपत १३ लाख टन प्रति वर्ष मानी जाती है और हमारी शकर की मिलों की उत्पादन-क्षमता (इन्स्टॉल्ड केपेसिटी—फिसकल कमीशन १९५०) ११ लाख टन और वास्तविक उत्पादन पिछले ५ वर्षों में ९ से ११ लाख टन के बीच में रहा है। यहाँ ध्यान रखने की यह बात भी है कि हमारे देश में कुछ शकर मिलों के अलावा या तो सीधी गुड़ से या खंडसारी से भी उत्पन्न होती है। पर कुल मिला कर यह उत्पादन की मात्रा मिल की शकर से बहुत कम है। गुड़ से शकर बनाने का धन्धा तो बराबर गिरता जा रहा है। जहाँ १९३३-३४ में गुड़ से लगभग ६५ हज़ार टन शकर तैयार होती थी वहाँ अब केवल ४००० टन शकर इस तरह से तैयार होती है। खंडसारी शकर का उत्पादन भी कम हुआ है। १९३३-३४ में २ लाख टन शकर खंडसारी से उत्पन्न होती थी। आज इसका उत्पादन १ लाख टन के आसपास है। सारांश यह है कि यदि शकर का देश में कुल उत्पादन ११½ लाख टन के आसपास माना जाय तो उसमें से १०-१०½ लाख टन उत्पादन मिलों का १-१½ लाख टन खंडसारी का और नाम मात्र का गुड़ से सीधी तैयार की जाने वाली शकर का मानना चाहिये। आज मिल की शकर साल भर में लगभग १०० करोड़ रुपये की हमारे देश में उत्पन्न होती है। लगभग ३५ से ४० लाख एकड़ भूमि पर आज हमारे देश में गन्ने की खेती होती है। यह देश की कुल खेती की भूमि का केवल २ प्रतिशत

भाग है और सारे संसार में जितनी भूमि पर गन्ने की खेती होती है उसका ३५ प्रतिशत है। इससे दुनिया के शक्कर उद्योग में भारत का कितना बड़ा स्थान है यह भी स्पष्ट हो जाता है। शक्कर के उत्पादन की दृष्टि से भी १९४८ के आंकड़ों के अनुसार क्यूबा (६० लाख मेट्रिक टन) और ब्राज़ील (१७ लाख मेट्रिक टन) के बाद तीसरा स्थान भारत का (१२ लाख मेट्रिक टन) ही आता है। उपर्युक्त विवरण से भारत के शक्कर उद्योग का महत्व स्पष्ट हो जाता है। यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार में है। परन्तु अब इसका विस्तार दूसरे राज्यों में भी होता जा रहा है।

विकास—भारत में शक्कर के उद्योग का विकास पिछले १८ वर्षों में खास तौर से हुआ है। १९३२ से इस उद्योग को सरकार ने संरक्षण दिया और तभी से इसकी प्रगति तेज़ी से होने लगी। वैसे आधुनिक ढंग की शक्कर की मिलें भारत में १९०३ के आसपास स्थापित हुईं थीं। प्रथम महायुद्ध के समय इस शक्कर पर आयात-कर बढ़ गया और बाहर से शक्कर आना कम हो गया तो इससे शक्कर के उद्योग को प्रोत्साहन मिला। परन्तु उद्योग-धन्धे की जो भी उन्नति हुई वह कुछ सन्तोषजनक नहीं थी। १९२९ में इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की शक्कर समिति ने यह भय प्रकट किया कि यदि शक्कर की मिलों की संख्या नहीं बढ़ती है और शक्कर का अधिक उत्पादन नहीं बढ़ता है तो बाज़ार में गन्ने की बहुतायत हो जायगी। गन्ना पैदा करने वाले किसानों के इस संकट से बचने के लिए ही सरकार ने १९३२ में टैरिफ़ बोर्ड की सिफारिश पर शक्कर-उद्योग को संरक्षण दिया। यह संरक्षण १५ वर्ष के लिये स्वीकार किया गया था। १९३७ में टैरिफ़ बोर्ड ने दुबारा जाँच की और संरक्षण जारी रखने की सिफारिश की। सरकार ने संरक्षण के बाद उत्पादन बढ़ जाने से १९३४ में जो उत्पादन कर (कारखानों में बनी शक्कर पर) लगा दिया था उसके बारे में बोर्ड ने यह राय दी कि शक्कर के उद्योग और गन्ने की खेती करने वालों दोनों ही पर इस उत्पादन कर का [illegible] अच्छा नहीं पड़ा। संरक्षण द्वितीय महायुद्ध के समय तक चलता रहा। फिर १९४७ में टैरिफ़ बोर्ड ने दो वर्ष के लिए संरक्षण बढ़ाने की सिफारिश की और १९४९ में फिर दो साल के लिये सिफारिश की। दूसरी बार सरकार ने केवल एक वर्ष के लिये संरक्षण बढ़ाया और टैरिफ़ बोर्ड से फिर से विचार करने के लिये कहा। टैरिफ़ बोर्ड ने इस बार १९५० से संरक्षण समाप्त करने की सिफारिश की और सरकार ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली और ३१ मार्च १९५० से [illegible] संरक्षण समाप्त हो गया। अब तो शक्कर पर आयात की दृष्टि से [illegible] है। टैरिफ़ बोर्ड की संरक्षण समाप्त करने की सिफारिश का मुख्य कारण [illegible] कि बाहरी प्रतिस्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना करने की इस उद्योग की शक्ति है।

गई है, परन्तु यह था कि संरक्षण से उद्योग, किसान और सरकार तीनों में ही एक झूँठे आत्मसतोष का भाव उत्पन्न हो गया है और उद्योग की कार्यक्षमता बढ़ाने की ओर इस कारण से आवश्यक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। चूँकि इस समय विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण भारत सरकार विदेशों से अमर्यादित मात्रा में शकर का आयात नहीं होने देगी, इसलिये विदेशी शकर की प्रतिस्पर्द्धा का डर नहीं है और इसी कारण से टेरिफ़ बोर्ड ने संरक्षण समाप्त करने का यह उपयुक्त समय समझा।

संरक्षण के कारण शकर के उद्योग ने कितनी प्रगति की इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि १९३१-३२ में भारतवर्ष में केवल ३१ शकर की मिलें और १,५८,००० टन शकर का उत्पादन था और संरक्षण के बाद चार वर्ष के अन्दर-अन्दर मिलों की संख्या १३५ और शकर का उत्पादन ९,१६,००० टन होगया। आरम्भ में (१९३५-३६ तक) जैसे-जैसे भारतीय मिलों का उत्पादन बढ़ा विदेशी शकर का आयात कम होता गया; पर १९३५-३६ में यद्यपि शकर का उत्पादन लगभग ३½ लाख टन से बढ़ गया, पर आयात में उस अनुपात से कमी नहीं हुई। १९३६-३७ में भी गन्ना बहुत पैदा होने से उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकार ने मिलों को उत्पादन कम नहीं करने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में शकर का उत्पादन आवश्यकता से अधिक होगया। माल बहुत जमा होगया, मूल्य गिरने लगा। उस समय 'शुगर सिन्डीकेट' की स्थापना की गई ताकि शकर की बिक्री का सिन्डीकेट द्वारा ऐसा नियन्त्रण किया जाय कि शकर का मूल्य गिरने से रुक जाय। सिन्डीकेट अपने इस प्रयत्न में सफल हुआ। शकर का उत्पादन कम किया गया और १९३८-३९ में केवल ६,४२,००० टन शकर का उत्पादन हुआ।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—द्वितीय महायुद्ध के समय शकर के उद्योग की स्थिति बहुत सन्तोषजनक नहीं रही। जहाँ तक उत्पादन का सवाल है उसमें भी उतार-चढाव आता रहा। जहाँ १९३८-३९ में फैक्टरी में तैयार शकर का उत्पादन केवल ६½ लाख टन के लगभग था वहाँ १९३९-४० में उत्पादन बढ़ कर १२ लाख टन हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि फिर बाज़ार में शकर की अधिकता हो गई और उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने उत्पादन में कमी करने की व्यवस्था की। इन दोनों राज्यों में 'शुगर फैक्टरी कन्ट्रोल एक्ट्स' पहले से ही मौजूद थे जिनके अनुसार शकर की मिल चलाने के लिये सरकार से लाइसेन्स लेना आवश्यक है। उत्पादन में दो साल तक कमी हुई और १९४१-४२ में उत्पादन की मात्रा केवल ७·५१ लाख टन थी। अविभाजित भारत

गन्ने की क़ीमत भी १ रु० ४ आ० मन से बढ़ाकर २ रु० मन ,कर दी। अब मिलों को गन्ने की कमी नहीं रही और शकर का उत्पादन बढ़ गया। १६४८-४६ में शकर और गन्ना दोनों की क़ीमतों में कमी कर दी गई। शकर का मूल्य ३५ रु० ७ आ० मन से घटाकर २८ रु० ८ आ० मन और गन्ने का मूल्य २ रु० मन से घटाकर १ रु० १० आ० [उ. प्र.] और १ रु० १३ आ० [बिहार] कर दिया गया। इसलिये इस वर्ष शकर का उत्पादन कुछ कम हुआ। पिछले वर्ष का मिलों के पास काफ़ी स्टॉक था इस वजह से भी मिलों ने उत्पादन की ओर कम ध्यान दिया। पर खपत शकर की अधिक हुई। देश में एक साथ शकर की बड़ी कमी अनुभव होने लगी और वातावरण में घबराहट पैदा हो गई। शकर का मूल्य आकाश छूने लगा। इस सारी स्थिति से घबरा कर सरकार को फिर शकर पर नियंत्रण करने का निर्णय करना पड़ा और सितम्बर १६४६ में भारत सरकार ने शकर पर नियंत्रण लागू करने की घोषणा कर दी। शकर के मूल्यों का सरकार ने नियंत्रण कर दिया। शकर के वितरण पर भी सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया। शकर के उत्पादन को बढ़ाने के लिये १६४६-५० के आरम्भ में सरकार ने मिलों को कुछ रियायतें देने की घोषणा की। जैसे—पिछले वर्ष से जितना अधिक उत्पादन होगा उस पर उत्पादन-कर माफ़ कर दिया जायगा। उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने पर जो उपकर (सेस) लगता है उसे कम कर दिया गया। पर फिर भी शकर के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसका एक कारण तो यह था कि अक्टूबर १६५० तक शकर पर सरकार का नियंत्रण अपूर्ण था, क्योंकि गुड़ और खंडसारी शकर पर सरकार का नियंत्रण नहीं था। खंडसारी व गुड़ की क़ीमतें बहुत ऊँची थीं और इसी कारण से गन्ना मिलों में यथेष्ट मात्रा में न पहुँच कर गुड़ व खंडसारी पैदा करने के काम में आता रहा। नियंत्रण की इस अपूर्णता को पूरी करने के लिये ७ अक्टूबर १६५० को भारत सरकार ने अपने शकर तथा गुड़ कन्ट्रोल आर्डर के अनुसार गुड़ पर भी नियंत्रण कर दिया। गुड़ का मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित कर दिया गया और गुड़ के उत्पादन पर भी नियंत्रण करने का सरकार ने अधिकार ले लिया। शकर के नियंत्रण सम्बन्धी पूर्व क़ानून के अनुसार राज्य की सरकारों को जो अधिकार मिले हुए थे वे, जिस हद तक इस नये कानून के प्रतिकूल थे, वापस ले लिये गये। गुड़ के नियंत्रण सम्बन्धी भारत सरकार की नीति का बड़ा विरोध हुआ। नतीजा यह हुआ कि गुड़ के उत्पादन पर कोल्हू को लाइसेंस कराने का आदेश निकाल कर जो नि ंत्रण करने का सरकार का निश्चय था वह उसे छोड़ना पड़ा।

संख्या की वृद्धि के अलावा उपभोग सम्बन्धी हमारी आदतों का भी असर शकर की खपत बढ़ने का ही आता जा रहा है। इस समय हमारे देश में प्रति व्यक्ति की प्रति वर्ष शकर की औसत खपत ७ पौंड है और इसमें २४ पौंड गुड़ की खपत और जोड़ दें तब भी कुल खपत ३०-३१ पौंड प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आती है। इंगलैंड में द्वितीय महायुद्ध के पहले शकर की खपत १०६ पौंड प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष थी। दूसरे देशों में भी खपत हमारे देश से कहीं ज़्यादा है, जैसे, फ्रांस ५२ पौंड, अमरीका ९७ पौंड, जर्मनी ५८ पौंड, आस्ट्रेलिया ११६ पौंड, जापान ३३ पौंड। इन सब का सार यह है कि यह तो ठीक है ही कि जैसे-जैसे देश का आर्थिक स्तर ऊँचा उठेगा शकर के उद्योग का क्षेत्र भी बढ़ेगा, पर आज की माँग की स्थिति को ध्यान में रखते हुए और हमारी मौजूदा मिलों की उत्पादन-क्षमता को देखते हुए भी शकर के उत्पादन को स्थायीरूप से बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। उत्पादन-वृद्धि के मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं और उनको कैसे हल किया जा सकता है, अब इस बारे में हम विचार करेंगे।

सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि शकर की मिलों को बराबर यह शिकायत रहती है कि उनको पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलता और जो गन्ना मिलता है वह बढ़िया प्रकार का नहीं होता तथा उसमें से जो रस की मात्रा प्राप्त होती है वह कम होती है। शकर की मिलों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलने का एक कारण यह है कि बहुत-सा गन्ना गुड़ पैदा करने के उपयोग में आ जाता है। भारत में गुड़ का उत्पादन शकर से तीन गुना है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शकर की अपेक्षा गुड़ अच्छा है। गुड़ एक महत्त्वपूर्ण गृह-उद्योग है जिसमें बहुत आदमी काम करते हैं। इसलिए गुड़ के कुटीर उद्योग को हानि पहुँचा कर शकर के मिल-उद्योग को प्रोत्साहन देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि गुड़-गृह-उद्योग के साथ अनुचित रियायत की जाय। उदाहरण के तौर पर शकर और गुड़ की कीमतों का अनुपात उचित होना चाहिये ताकि इस कारण से शकर की मिलों में गन्ने की कमी न रहे और किसान यह न अनुभव करे कि शकर कि मिल को गन्ना बेचना लाभदायक

इसके अलावा गन्ने की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। इस समय हमारे देश की प्रति एकड़ उपज कम है। क्यूबा की तुलना में १/३, जावा की तुलना में १/४ और हवाई की तुलना में १/५ हमारे देश में गन्ने की प्रति एकड़ उपज है। इसके लिए खेती के तरीकों में तो उन्नति करना आवश्यक है ही, पर यह भी आवश्यक है कि गन्ने की खेती का दक्षिण में अधिक प्रचार हो, क्योंकि दक्षिणी भारत की जलवायु गन्ने की खेती के लिये

अधिक उपयुक्त है। जब कि उत्तर प्रदेश में एकड़ में एक ११-१२ टन गन्ना पैदा होता है, बम्बई में ३०-३२ टन, और मैसूर में १८-१६ टन तक पैदा होता है। गन्ने की उपज बढ़ाने के साथ उसके प्रकार में उन्नति करना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमारे यहाँ एक एकड़ गन्ने के खेत से १.६ टन शक्कर मिलती है जबकि हवाई और जावा में ६.४ टन शक्कर प्राप्त होती है। इण्डियन शुगरकेन कमेटी ने इस ओर काफ़ी काम किया है। प्रान्तीय [अब राज्य की] सरकारों ने [उत्तर-प्रदेश, बिहार और बम्बई] शक्कर पर जो उप-कर लगा रखा है उससे मिलने वाले रुपये का उपयोग गन्ने सम्बन्धी खोज में ही होना चाहिये; पर इस बात की शिकायत है कि उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने, जिन्होंने सन् १६४७ से यह उप-कर लगा रखा है, इस खोज के काम में बहुत कम रुपया व्यय किया है। यह कमी भविष्य में पूरी होनी चाहिये। बढ़िया गन्ने से अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में शक्कर मिलती है। एक कमी यह भी है कि शक्कर की मिलों की दृष्टि से गन्ने की खेती का बटवारा ठीक नहीं है। किन्हीं मिलों के आसपास आवश्यकता से अधिक गन्ना होता है, तो किन्हीं के पास कम। खेतों से मिलों तक गन्ना ले जाने के लिये यातायात के साधनों की भी कठिनाई रहती है। इसके आलावा पश्चिम के देशों की तरह से हमारे यहाँ बहुत थोड़ी मिलें स्वयं गन्ना उत्पन्न करती हैं। अतः इन बातों की ओर ध्यान देने से भी गन्ने की समस्या हल होने में सहायता पहुँचेगी।

गन्ने सम्बन्धी कठिनाई के अलावा दूसरी कठिनाई मिलों की कार्यक्षमता (एफ़ीशियेन्सी) से सम्बन्ध रखती है। हमारे मिलों की कार्यक्षमता काफ़ी नीची है। इसके कई कारण हैं। मिलों में मशीनरी आदि पुरानी हैं। मिलों की बनावट, उनके साइज़ आदि में भी कई प्रकार की कमियाँ हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए विज्ञानिकन (रेशनलाईज़ेशन) की आवश्यकता है। कई मिलों की स्थिति ही कच्चे माल और बाज़ार की दृष्टि से ठीक नहीं मालूम पड़ती। बम्बई में शक्कर की खपत सबसे अधिक है जब कि उत्पादन सबसे कम है। इसके विपरीत बिहार में उत्पादन बहुत अधिक है और खपत बहुत कम है। इस समय तो उत्तर प्रदेश और बिहार में ही शक्कर का मिल-उद्योग केन्द्रित है। देश की ७५ ...-त मिलें और ८० प्रतिशत के लगभग उत्पादन इन दो राज्यों में पाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि शक्कर के मिल-उद्योग का दूसरे राज्यों में प्रसार हो और गाँवों में उसका विकेन्द्रीकरण किया जाय। एक और बाधा जिसका प्रायः जिक्र किया जाता है, वह उत्पादन-कर और उप-कर (सेस) की है जो क्रमशः भारत सरकार या उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्य की सरकारों ने शक्कर पर

लगा रखे हैं। इससे भारत की मिलों में बनी शकर की लागत और भी बढ़ जाती है। शकर के उत्पादन के परिणामस्वरूप जो 'मोलासेज़' उत्पन्न होते हैं उनके समुचित उपयोग की भी कोई व्यवस्था अभी हमारे देश में नहीं है। 'मोलासेज़' से पॉवर एलकोहल उत्पन्न किया जा सकता है। पॉवर एलकोहल पेट्रोल में मिलाने के काम में आ सकता है। भारत में साल भर में कुल ४-५ लाख टन मोलासेज़ उत्पन्न हो जाता है। इसमें खंडसारी शकर से मिलने वाला मोलासेज़ भी शामिल है। ३ लाख टन के लगभग मोलासेज़ तो शकर की मिलों से ही मिलता है। अगर सब मोलासेज़ का पॉवर एलकोहल तैयार किया जाय तो लगभग ३ करोड़ गैलन पॉवर एलकोहल तैयार किया जा सकता है। परन्तु इस समय केवल ३० लाख गैलन पॉवर एलकोहल ही तैयार होता है। इस विषय में भविष्य में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी प्रकार वेगासी एक और पदार्थ है जो शकर उत्पन्न करते समय हमें मिलता है। आज इसका उपयोग केवल ईंधन के तौर पर शकर की मिलों में होता है। पर इसका भी अच्छा उपयोग किया जा सकता है—जैसे कागज़ बनाने में, तथा प्लास्टिक्स, प्रेस-बोर्ड, और स्ट्रॉबोर्ड आदि बनाने में। इन पदार्थों का अच्छा उपयोग होने से शकर की उत्पादन-लागत में कमी आ सकती है। उत्पादन-लागत में कमी करने का एक और उपाय यह है कि गन्ना पैलने का समय आज जितना है उससे अधिक हो ताकि शकर की मिलें अधिक समय तक काम कर सकें। इसके लिए हमें दोनों तरह का गन्ना पैदा करने की ओर ध्यान देना चाहिये—जो जल्दी पक जाय और जो देर से पके। शकर के मिल उद्योग के भावी विकास के लिये इस सम्बन्धी खोज को प्रोत्साहन देने की विशेष रूप से आवश्यकता है। लखनऊ के पास मादरक में भारत सरकार ने 'सेन्ट्रल शुगर टेक्नोलोजिकल इनस्टीट्यूट' स्थापित करने का जो निश्चय किया है वह स्वागत योग्य है। शकर की मिलों में ईंधन की बचत करने सम्बन्धी खोज की विशेष आवश्यक मशीनरी जो इस समय बाहर से आती है, देश में उत्पन्न होना भी ज़रूरी है।

ऊपर हमने कुछ उन बातों का उल्लेख किया है जो शकर के उत्पादन के मार्ग में बाधक हैं। वैसे शकर के मिल-उद्योग का भविष्य हमारे देश में उज्ज्वल है। हमारे पास कच्चा माल है और तैयार माल के लिये अपना बराबर बढ़ने वाला बाज़ार है। आवश्यकता केवल यह है कि आयोजित ढंग से इस उद्योग के विकास का प्रयत्न किया जाय। इस दृष्टि से अखिल भारतीय शकर-उद्योग का कोई संगठन यदि स्थापित किया जा सके तो अच्छा हो। शुगर सिंडीकेट के समाप्त हो जाने से इसकी आवश्यकता और अधिक हो गई है। इस संगठन का काम शकर उद्योग की उन्नति से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों की—जैसे योजना,

खोज आदि—समुचित व्यवस्था करना होगा। इसके खर्च को रुपया राज्य की सरकारों के पास गन्ने पर लगे उप-कर से जो रुपया आया है उनमें से ही मिलना चाहिये। केन्द्रीय सरकार को भी इसमें योग देना चाहिये। और मिलों का भी इस दिशा में काफ़ी बड़ा कर्त्तव्य है। यदि हमारी सरकारें और व्यवसायी वर्ग अपना-अपना कर्त्तव्य करें तो इसमें कोई सदेह नहीं कि भारत में शकर के मिल-उद्योग की अच्छी उन्नति हो सकती है।

लोहा और इस्पात का उद्योग—भारत के आधुनिक उद्योग धन्धों में लोहा और इस्पात के उद्योग का स्थान बहुत महत्त्व का है। फिर भी इस उद्योग का अभी तक बहुत विकास नहीं हुआ है। देश में लोहा और इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना जमशेदपुर स्थित टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी है। दक्षिण में मैसूर सरकार का मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स है, परन्तु जमशेदपुर के कारखाने के सामने यह बहुत छोटा है। इन दोनों कारखानों में लोहा और इस्पात दोनों ही तैयार किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक कारखाना (इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी कुल्टी और हीरापुर, पश्चिमी बंगाल) केवल लोहा और इसी से सम्बन्धित दूसरा कारखाना स्टील कोरपोरेशन ऑफ बंगाल, केवल इस्पात तैयार करता है। इन कारखानों के अलावा कुछ छोटे-छोटे कारखाने तथा लगभग ५० री-रोलिंग मिल्स और हैं। देश में कई लोहे की फाउण्ड्रीज और रोलिंग मिल्स भी हैं जो लोहे और इस्पात का माल तैयार करती हैं। देश में १९४९ में लोहे का (पिग आइरन) कुल उत्पादन १५ लाख टन और इस्पात (इंगोट्स और कास्टिंगज़) का १३½ लाख टन और फिनिश्ड स्टील का १० लाख टन के लगभग था। देश के इस्पात उद्योग की अधिकतम उत्पादन-शक्ति १२ लाख टन फिनिश्ड स्टील है। टाटा के कारखाने का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि १० लाख टन के मुकाबले में ७ लाख टन से अधिक इस्पात तो केवल इसी एक कारखाने में तैयार होता है। जहाँ तक पूँजी का सवाल है टाटा के कारखाने में लगभग ४० करोड़, इण्डियन आइरन और स्टील कम्पनी में ११ करोड़, स्टील कोरपोरेशन बंगाल में ८ करोड़ रुपये ब्लाक कैपिटल के तौर पर लगे हुए हैं। जहाँ तक काम करने वालों की संख्या का सवाल है लोहे और इस्पात के उद्योग में लगभग ७० हज़ार आदमी काम करते हैं। इनमें से ४२ हज़ार आदमी तो टाटा के कारखाने में ही काम करते हैं। हमारे देश के लोहे और इस्पात के उद्योग की तुलना दूसरे देशों के लोहे और इस्पात के उद्योगों से करने पर मालूम होता है कि १९३९ के आँकड़ों के आधार पर जहाँ लोहा और इस्पात कास्टिंग का भारत में ७½ लाख टन का उत्पादन था वहाँ जापान का

७० लाख टन, ब्रिटेन का १५.१ लाख टन, रूस का २०७ लाख टन और अमेरिका का ५२७ लाख टन के लगभग था।

प्रारम्भ और विकास—इस देश में लोहे को पिघलाने और ढालने का और इस्पात तैयार करने का धन्धा अत्यन्त प्राचीन काल से (कम से कम दो हज़ार वर्ष पहले से) चला आ रहा है। भारत न केवल अपनी आवश्यकता पूरी करता था बल्कि विदेश को भी लोहा और इस्पात भेजता था। और भारत के माल की विदेशों में बड़ी प्रशंसा थी। दिल्ली का विख्यात लोहे का स्तम्भ भारत की इस प्राचीन उद्योग का एक ज्वलन्त उदाहरण है। संसार-विख्यात डेमस्कस के तलवार और कटार की फालें (ब्लेड्ज़) भारत के इस्पात की ही बनी होती थीं। आधुनिक ढग के लोहे और इस्पात के उद्योग के जन्म और विकास के फल-स्वरूप भारत के दूसरे प्राचीन उद्योगों की तरह यह उद्योग भी नष्ट होगया और भारत विदेशों से लोहा और इस्पात का आयात करने वाला देश बन गया।

१६ वीं शताब्दी के आरम्भ में इस उद्योग को आधुनिक ढग से विकसित करने के प्रयत्न भारत में आरम्भ हुए। ये प्रयत्न १८३० से उसके आसपास यूरोपियन लोगों ने किये थे। मद्रास के सालेम, आरकट और मालाबार के ज़िलों में, बंगाल में वीरभूम में, और पजाब में कुमाओं में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सहायता से ये प्रयत्न किये गये थे। पर वे सब असफल रहे। आखिरकार १८७४ में बाटकर आइरन वर्क्स की स्थापना हुई। झरिया के कोयले की खान के पास (बंगाल में) यह लोहे का कारखाना स्थापित हुआ। १८८६ में कलकत्ते की मार्टिन एण्ड कम्पनी ने इस कारखाने को ले लिया। बाद में इसी का नाम बंगाल आइरन एण्ड स्टील कम्पनी होगया जो हाल में इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी में मिला लिया गया है।

पर इस देश में लोहे और इस्पात के उद्योग का वास्तविक इतिहास तो टाटा के कारखाने की स्थापना के साथ ही आरम्भ होता है और आज भी हमारे इस उद्योग का वास्तविक केन्द्र यही कारखाना है। भारतीय साहस और पूँजी का यह एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस कारखाने के प्रवर्तक स्वर्गीय जमशेदजी ताता थे। पर कारखाने की स्थापना के पहले ही जमशेदजी की मृत्यु होगई। टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना साकची (सिंगभूम) में हुई। पिग आयरन १६११ में और इस्पात १६१३ में इस कारखाने में सबसे पहली बार तैयार किया गया। इस कारखाने के साकची (जमशेदपुर या ताता नगर) में स्थापित होने के कई कारण थे, जैसे लोहे और कोयले तथा चूना,

पत्थर का पास में मिलना तथा पानी और रेल की सुविधा और कलकत्ते के बन्दरगाह का पास में होना। इस कारखाने की विशेषता केवल इतनी ही नहीं है कि यह इस देश के लोहे और इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना है। वह इस बात में भी निहित है कि यह कारखाना लोहे और इस्पात से सम्बन्धित कुछ दूसरे कार्यों की भी व्यवस्था करता है। जैसे लोहे और इस्पात के कारखाने के अलावा इस कम्पनी की लोहे, कोयले, चूने, पत्थर और मैंगनीज़ की भी अपनी खानें हैं। टाटा कम्पनी के अलावा जो दूसरे प्रमुख उत्पादक हैं उनमें इंडियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना १९१८ में, मैसूर के कारखाने की १९२३ में और बंगाल स्टील कारपोरेशन की १९३९ में हुई।

इस उद्योग का विकास खास तौर से, १९२३ से जब इसे सरकार से संरक्षण मिला, होने लगा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् और उसके बाद के आर्थिक संकट में इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम महायुद्ध के समय संसार के इस्पात उद्योग का बहुत विकास हुआ था। युद्ध समाप्त होते ही भारत के नव जात उद्योग को इस विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। माँग में कमी आ रही थी, विदेशी विनिमय ह्रास के कारण विदेशी प्रतिस्पर्द्धा और भी विकट हो गई थी तथा बाहर से माल भारतीय बाज़ारों में पाटा जा रहा था। आखिरकार टेरिफ़ बोर्ड के सामने संरक्षण की माँग पेश हुई और उसने तीन वर्ष के लिये संरक्षण देने की सिफ़ारिश की। टेरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिश सरकार ने स्वीकार करली और १९२४ में संरक्षण सम्बन्धी क़ानून पास किया गया। उसके बाद १९२६ और १९३३ में दो बार तो टेरिफ़ बोर्ड ने इस उद्योग के बारे में स्टेटूटरी (क़ानूनन) जाँच की और संरक्षण जारी रखने की सिफ़ारिश की जो सरकार ने स्वीकार की। इन मुख्य जाँचों के अलावा १९२४, १९२५, और १९३० में तीन बार और टेरिफ़ बोर्ड ने सहायक जाँचें कीं। क्षतिपूर्ति संरक्षण (कम्पेनसेटरी प्रोटेक्शन) के मामले भी टेरिफ़ बोर्ड के सामने आए और जहाँ आवश्यक मालूम पड़ा वहाँ संरक्षण दिया गया। १९२४ में जो संरक्षण दिया गया था वह दोनों ही प्रकार का था—कुछ सामान पर आयात-कर के रूप में और कुछ पर नक़द सहायता (बाउन्टी) के रूप में संरक्षण दिया गया था। १९२६ की स्टेटूटरी जाँच के पश्चात् जो संरक्षण क़ानून पास किया गया (१९२७ में) उसकी अवधि ७ वर्ष के लिये थी। इस क़ानून से [illegible] आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया गया। इस संरक्षण क़ानून की दूसरी विशेषता यह थी कि ब्रिटिश माल पर दूसरे देशों की अपेक्षा कम कर लगाया गया था। इसका देश में विरोध किया गया। १९३३ की जाँच के बाद जो १९३४ में

नया संरक्षण क़ानून पास हुआ और उसकी अवधि भी ७ वर्ष ही निश्चित की गई। इस बीच में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होगया। संरक्षण का समय १६४१ से बराबर बढ़ता गया। १६४७ में जब अन्तिम जाँच हुई तो उद्योग ने संरक्षण पर जोर नहीं दिया और टेरिफ़ बोर्ड के कहने पर २७ वर्ष के पश्चात् इस्पात उद्योग से १ अप्रैल, १६४७ से संरक्षण हटा लिया गया, और संरक्षण-कर आगम-कर (रेवेन्यू ड्यूटीज़) में बदल दिये गये। इस समय कुछ प्रकार के टूल, एलोय और स्पेशल स्टील की चीज़ों पर संरक्षण है। ३१ दिसम्बर १६५४ तक यह संरक्षण रहेगा। संरक्षण-करों में भी कमी तो १६३८ के क़ानून से ही हो गई थी। सरकार द्वारा समय-समय पर स्वीकार किये गए इस संरक्षण से इस उद्योग को यथेष्ट सहायता मिली और इसकी अच्छी प्रगति हुई। यह प्रगति उत्पादन में हुई वृद्धि, मज़दूरों की कार्य कुशलता में हुई उन्नति तथा उद्योग में लगे विदेशी लोगों की संख्या में और उत्पादन-लागत में हुई कमी से स्पष्ट है।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही इस उद्योग के विकास का एक नया परिच्छेद आरम्भ हुआ। सरकार और रेलवे कम्पनियों की इस्पात की माँग बढ़ने से उसके उत्पादन में वृद्धि हुई। यद्यपि युद्धकाल में इस उद्योग का भी अन्य उद्योगों की तरह उतना विकास नहीं हुआ जितना कई दूसरे देशों में हुआ। मशीनों की कठिनाई, कोयले और यातायात सम्बन्धी कठिनाई, और उस समय की सरकार की नीति इसके लिये ज़िम्मेदार माने जा सकते हैं। इस युद्ध के पहले हमारे देश में साधारण इस्पात का ही अधिकांश उत्पादन होता था। पर द्वितीय महायुद्ध के कारण जब बाहर से इस्पात का आयात बहुत कम हो गया और भारत का सामरिक महत्त्व बढ़ गया तो भारत ने कई नए प्रकार के बढ़िया इस्पात का उत्पादन करना शुरू कर दिया। टाटा कम्पनी में खास तौर से विकास हुआ, और युद्ध की दृष्टि से उपयोगी कई प्रकार का नया और बढ़िया इस्पात तैयार किया जाने लगा। १६३७ में जमशेदपुर में खोज के लिए एक प्रयोगशाला की स्थापना की गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय जो खोज की गई उसी के परिणामस्वरूप खास तौर का 'एलोये स्टील' का सामान टाटा कम्पनी तैयार कर सकी, जैसे आरमर प्लेट जिस पर गोली का असर न हो सके, मशीन टूल्स के लिए हाई स्पीड स्टील, सर्जिकल औज़ारों के लिए स्टेनलेस स्टील, हाई कारबन स्टील मिन्ट डाईज़ के लिये और निकल स्टील प्लेट्स आदि। टाटा कम्पनी में द्वितीय महायुद्ध के समय दो दिशाओं में जो विस्तार हुआ वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १६४१ में जमशेदपुर में एक ह्वील टायर और एक्सेल प्लान्ट लगाया गया। इसके दो साल के अन्दर ही अन्दर जमशेदपुर एंजीनियरिंग एण्ड

मशीन मेन्यूफेक्चरिंग कम्पनी ने काम करना आरम्भ कर दिया। इसी प्रकार टाटा लोकोमोटिव एण्ड एंजीनियरिंग कम्पनी में १९४५ से बोइलर्स और एंजिन तैयार करना आरम्भ किया। व्यक्तिगत साहस का इस दिशा में यह पहला प्रयत्न था। द्वितीय महायुद्ध के समय इस उद्योग का उत्पादन कितना बढ़ा इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहाँ १९३९ में पिग आइरन का उत्पादन १७½ लाख टन, स्टील इन्गोट्स और कास्टिंगज़ का १०¾ लाख टन और फ़िनिश्ड इस्पात का ८½ लाख टन था, वहाँ १९४१ में पिग आइरन का उत्पादन २० लाख टन, स्टील इन्गोट्स और कास्टिंगज़ का १४ लाख टन और फ़िनिश्ड स्टील का ११½ लाख टन से कुछ कम उत्पादन हुआ। १९४१ के पश्चात् उत्पादन में कमी आना शुरू हुई। पिग आइरन का उत्पादन १९४७ में १३ लाख टन के आस-पास पहुँच गया हालाँकि बाद के दो वर्षों में फिर उत्पादन की मात्रा बढ़ी और १९४९ में १५ लाख टन पिग आइरन तैयार हुआ। इसी प्रकार स्टील इन्गोट्स और और कास्टिंगज़ का उत्पादन घटते-घटते १९४८ में १२½ लाख टन तक पहुँच गया यद्यपि १९४९ में उत्पादन १३½ लाख टन हुआ। १९५० में १४ लाख टन और १९५१ में १५ लाख टन के लगभग उत्पादन हुआ। फ़िनिश्ड स्टील का उत्पादन १९४५ तक तो १०½ लाख और ११½ लाख टन के बीच में घटता-बढ़ता रहा पर उसके पश्चात् तो और अधिक कमी होने लगी और १९४८ में ६¾ लाख टन तक उत्पादन गिर गया। १९४९ में अवश्य फिर उत्पादन १० लाख टन से कुछ अधिक हुआ। १९५१ में उत्पादन १०½ लाख टन के लगभग हुआ। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् लोहे और इस्पात का उत्पादन गिरने लगा। युद्ध में अत्यधिक काम करने के कारण मशीनरी और प्लान्ट बहुत काफ़ी घिस गये हैं, और उनको बदलने की बड़ी आवश्यकता है। उत्पादन के मार्ग में पूँजी की कमी की भी एक बड़ी बाधा रही है पर इसके अलावा और भी कई कारण हैं जैसे गंधक, स्पेलटर और फेरो-मैंगनीज आदि कुछ आवश्यक चीजों की कमी जिनसे देश के लोहे और इस्पात के उद्योग के विकास में बाधा आती है। यद्यपि भारत सरकार ने १९४८ की अपनी औद्योगिक नीति के अनुसार कम से कम १० वर्ष तक मौजूदा लोहे और इस्पात के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं करने की घोषणा कर दी है, पर यह दस वर्ष का समय पूँजी-पतियों की दृष्टि में भावी विकास के लिये बहुत कम है। इससे इस उद्योग का विकास रुका हुआ है। इसी प्रकार मज़दूरों के उत्पादन में जहाँ कमी आई है वहाँ मज़दूरों पर होने वाला खर्च बढ़ा है। एक टन फ़िनिश्ड स्टील पर मज़दूरी की लागत १९३९-४० में ३१½ रु० थी वह १९४८-४९ में ९२ रु० हो गई और प्रति

मज़दूर उत्पादन २४·३६ टन से गिरकर १६·३० टन हो गया। इसके साथ ही साथ मज़दूरों की संख्या भी आवश्यकता से अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि इतने ही उत्पादन के लिए विदेशों में जितने मज़दूर काम करते हैं, उनसे चार गुने मज़दूर यहाँ काम करते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस उद्योग में विज्ञानिकन की बड़ी आवश्यकता है।

जहाँ तक इस्पात के मूल्य-नियन्त्रण का सवाल है १९३९ में ही भारत सरकार और टाटा कंपनी में एक समझौता होगया था। यह मूल्य-नियन्त्रण एक न एक रूप में आज तक चालू है। १ अक्टूबर १९३९ से ३० जून १९४४ तक केवल उस माल का मूल्य नियन्त्रण था जो सरकार युद्ध के लिये खरीदती थी। व्यापारिक मूल्यों का नियन्त्रण नहीं था। १ जुलाई १९४४ से ३१ मार्च १९४६ तक व्यापारिक मूल्यों का भी नियन्त्रण कर दिया गया और युद्ध तथा दूसरे कामों के लिये बिक्री की दृष्टि से एक ही कीमत रही, पर युद्ध के लिये आवश्यक माल और व्यापारिक आवश्यकता के लिये बेचे जाने वाले माल की 'रिटेन्शन' कीमतें अलग-अलग निश्चित होती थीं। १९४६ के बाद युद्ध के लिये आवश्यक माल की प्रथक् रिटेन्शन कीमत की आवश्यकता नहीं रही और इस समय केवल एक ही 'रिटेन्शन' कीमत सरकार तय करती है। जिस कीमत पर माल बिकता है वह प्रायः 'रिटेन्शन' कीमत से अधिक होती है। दोनों का अन्तर उत्पादक द्वारा सरकार को वापस कर दिया जाता है जिसका आयात को सहायता देने की दृष्टि से एक कोष बनाया गया है। इस्पात के अलावा लोहे का रिटेन्शन मूल्य भी सरकार तय करती है

भविष्य—लोहे और इस्पात के उद्योग का जो विवरण हम ऊपर लिख चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि इस उद्योग के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रश्न यह है कि इस उद्योग का हमारे देश में क्या भविष्य है? इस सम्बन्ध में पहली विचारणीय बात कच्चे माल की है। कच्चे लोहे की इस देश में कमी नहीं है। ऊँचे दर्जे का हेमेटाइट कच्चा लोहा बिहार और उड़ीसा में भी १०००-८०० करोड़ टन होने का अनुमान है। खपत की मौजूदा दर से २००० वर्ष के लिये हमारे पास काफ़ी लोहा है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, मद्रास और बंबई में भी हेमेटाइट और मेगनेटिक कच्चा लोहा ३०० करोड़ टन के लगभग है। भारतीय कच्चे माल में शुद्ध लोहे का अंश बहुत अच्छा है। कच्चे लोहे को शुद्ध करने के लिये चूना पत्थर आदि का उपयोग होता है, वह भी हमारे देश में मिलता है। मंगेनीज़ और सिलीकोन की भी आवश्यकता होती है और ये धातु भी हमारे यहाँ उपलब्ध हैं। रहा सवाल कोयले का। अच्छे कोयले के बारे में हमारी स्थिति यद्यपि बहुत संतोष-

जनक नहीं है, पर यदि हम सावधानी से चलें तो हमारा काम काफ़ी समय तक (१०० वर्ष के लगभग) चल सकता है। इसके अलावा हमारे देश में कोयला और लोहा पास-पास निकलता है। सारांश यह है कि कच्चे माल की हमारे पास कमी नहीं है। जहाँ तक इस्पात की माँग का सवाल है वह भी यथेष्ट मात्रा में है और वह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली है। इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष इस्पात की खपत भारत में केवल १० पौंड है जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में १२०० पौंड, इङ्गलैंड में ६०० पौंड और आस्ट्रेलिया में ४०० पौंड है। इस्पात की मौजूदा उत्पादन शक्ति १० लाख टन के लगभग है और हमारी मांग २५ लाख टन के लगभग है। फिर जैसे-जैसे हमारे आर्थिक विकास की योजनाएँ कार्यान्वित होगी हमारी इस्पात की मांग बढ़ेगी। देश की मकानों की समस्या को हल करने के लिये, तथा सिंचाई, बिजली आदि की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए काफ़ी इस्पात की आवश्यकता होगी। इसी के साथ-साथ दक्षिणी पूर्वी एशिया का बाजार भी है जहाँ की इस्पात की मांग हम पूरी कर सकते हैं। सारांश यह है कि इस उद्योग का भविष्य हमारे देश में उज्ज्वल हो सकता है। १६४६ में लोहे और इस्पात के पेनल ने ५-५ लाख टन की उत्पादन शक्ति के दो बड़े कारखाने स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। भारत सरकार दो सरकारी कारखानों की योजना भी तैयार करवा चुकी है पर अभी अर्थाभाव के कारण वे कार्यान्वित नहीं हो सकी हैं। भारत सरकार का विचार पिग आइरन का उत्पादन करने वाले प्लान्ट को स्थापित करने का भी है और १६५२-५३ के बजट में इस संबंध में १·७५ करोड़ रुपया रखा भी गया है। भारत सरकार ने स्टील कारपोरेशन बंगाल और इंडियन आइरन एण्ड स्टील कंपनी को ५ करोड़ का ऋण उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए स्वीकार किया है। मैसूर आइरन एंड स्टील वर्क्स को भी २ करोड़ रुपये ऋण के रूप में भारत सरकार ने स्वीकार किये हैं। इसी तरह से इंडस्ट्रियल फाइनेन्स कारपोरेशन ने कई फ़ाउन्डरीज़ को भी उत्पादन बढ़ाने के लिए ऋण दिया है। टाटा और मैसूर के कारखानों को ऋण देने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन चल रहा है। अस्तु, मौजूदा कारखाने अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह तो स्पष्ट ही है। इस समय हमारे देश में इस्पात और पिग आइरन (खासकर बढ़िया पिग आइरन) की बड़ी कमी है। यह कमी हो सके वहाँ तक पूरी की जानी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पंच-वर्षीय योजना ने भी इस आवश्यकता को महसूस किया है, और लोहे तथा इस्पात के उत्पादन को बढ़ाने की योजना बनाई है। योजना में

दूसरे भाग में इस्पात का एक नया कारखाना खोलने की भी योजना विचाराधीन है।

सहायक उद्योग—टाटा के इस्पात के उद्योग के आस-पास कुछ दूसरे सहायक उद्योग भी खड़े हो गये हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य उद्योगों के नाम ये हैं—जैसे टिन प्लेट, वायर, वायर नेल उद्योग, जमशेदपुर एंजीनियरिंग एंड मशीन मेन्यूफेक्चर, टाटा नगर फ़ाउन्डरी, टाटा लोकोमोटिव एंड एंजीनियरिंग कंपनी और खेती के औजार तैयार करने वाली एग्रीको फेक्टरी। देश का एंजीनियरिंग उद्योग का विकास भी बहुत कुछ इस्पात-उद्योग के कारण ही हुआ है। यही कारण है कि टाटा नगर आधुनिक उद्योगों का एक बहुमुखी केन्द्र बनता जा रहा है।

कोयले का उद्योग—भारत का कोयले का उद्योग प्रधानतः बंगाल और बिहार में केन्द्रित है। रानीगंज, झरिया, गिरडीह कोयले के उत्पादन के कुछ प्रमुख केन्द्र हैं। पश्चिमी बंगाल और बिहार के अलावा दूसरे राज्यों में, जैसे आसाम, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, उड़ीसा और राजपूताना में भी कोयला मिलता है। १९५१ में भारत के कोयले का कुल उत्पादन ३⅕ करोड़ टन के आस-पास था। इसके मुकाबले में अमेरिका मे ५९ करोड़ टन, इंगलैंड में २१ करोड़ टन, जर्मनी में ९ करोड़ टन, जापान में ३⅕ करोड़ टन, आस्ट्रेलिया में १⅓ करोड़ टन, पाकिस्तान में २½ लाख टन, दक्षिणी अफ्रीका में २½ करोड़ टन और कनाडा में १½ करोड़ टन का १९४८ का उत्पादन था। देश की कोयले की वर्तमान आवश्यकता भी ३ करोड टन के आस-पास है, यद्यपि भविष्य में देश की आवश्यकता बढ़ना निश्चित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९५६ तक हमारी माँग ४ करोड़ टन से भी ऊपर निकल जायेगी। इस उद्योग में ३½ लाख के लगभग आदमी काम करते हैं। देश के सब खान-उद्योगों में ५ लाख के लगभग आदमी काम करते हैं। इसका अर्थ यह है कि तीन चौथाई से अधिक मज़दूर केवल कोयले के उद्योग में लगे हुए हैं।

प्रारम्भ और विकासः—इस उद्योग का प्रारम्भ १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। १८६० में कुल कोयले का उत्पादन ३ लाख टन था। धीरे-धीरे इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १९०० में कुल उत्पादन ६० लाख टन तक पहुँच गया और उसमें ३० लाख टन केवल रानीगंज में उत्पन्न होता था। धीरे-धीरे रानीगंज की अपेक्षा झरिया के कोयले की खानों का महत्त्व बढ़ने लगा और रानीगंज से भी वहाँ का उत्पादन बढ़ गया। गिरडीह में भी कोयले का उत्पादन होने लगा। देश के दूसरे भागों में भी थोड़ा बहुत उत्पादन हुआ।

भी सामना करना पड़ा। सारांश यह है कि उपर्युक्त अलग-अलग कारणों से १९२०-१९२९ तक का समय कोयले के उद्योग के लिये अच्छा प्रमाणित नहीं हुआ। १९२३ तक कोयले के मूल्यों में वृद्धि होती रही पर १९२३ व १९२६ तक मूल्यों में गिरावट आती रही। एक कारण तो इसका यह था कि उत्पादन की मात्रा में वापस सुधार हो रहा था और दूसरा कारण युद्धोत्तर मंदी का था।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कोयले के प्रकार का भी एक सवाल था। इसका ठीक-ठीक वर्गीकरण करने के लिये भारत सरकार ने [१९२५ में] कोल ग्रेडिंग बोर्ड की स्थापना की। कोयले की कीमत कम करने की दृष्टि से भी कुछ प्रयत्न किये गए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप विदेशों में भारत के कोयले का खोया हुआ स्थान फिर प्राप्त हो गया। उद्योग की आन्तरिक स्थिति को ठीक करने का सरकार ने कोई प्रयत्न नहीं किया। सम्भवतः इसका एक कारण यह था कि उद्योग का संकट काल समाप्त हो चुका है ऐसा भारत सरकार का विचार रहा हो क्योंकि १९२७ से १९३० तक का समय कोयले के उद्योग की दृष्टि से संतोषप्रद रहा। १९३० में उत्पादन २ करोड़ ४० लाख टन हो गया था। निर्यात व्यापार की बहुत कुछ खोई हुई स्थिति फिर सुधर गई थी।

सन् १९३० से फिर विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का असर कोयले के उद्योग पर भी पड़ने लगा। कोयले की खपत जैसे-जैसे कम होने लगी वैसे वैसे मूल्य गिरने लगे। इसका परिणाम उत्पादन की कमी का होना स्वाभाविक था। सीमान्त खानों ने अपना उत्पादन बंद कर दिया और दूसरी खानों ने अपना लागत खर्च कम करने की दृष्टि से उत्पादन को हर तरह से बढ़ाने का प्रयत्न किया। चूँकि कोयले की माँग के मुकाबले में उत्पादन अधिक था इसलिये मूल्य गिरते ही गये। यद्यपि उत्पादन की मात्रा २ करोड़ ४० लाख टन से कम होकर १९३३ में २ करोड़ टन के नीचे पहुँच गयी थी, फिर भी खपत की अपेक्षा यह कमी थोड़ी ही रही। कोयले के उद्योग की यह स्थिति १९३६ तक चलती रही। १९३६ से लगा कर द्वितीय महायुद्ध आरम्भ तक स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार होता गया। कोयले की आन्तरिक माँग बढ़ने लगी। निर्यात भी बढ़ा। लंका को कोयला जाने लगा और चीन-जापान की लड़ाई के कारण सुदूर पूर्व के बाज़ार भी भारतीय कोयले के लिये खुल गये।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में भी कोयले के उद्योग की स्थिति में सुधार आता गया। पर १९४२ से यह दिखने लगा कि कोयले के उत्पादन में फिर कमी आ रही है और देश में कोयले का अकाल-सा अनुभव किया जा रहा है। माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ने लगे थे पर

विशेष वृद्धि १९४२ के बाद से ही हुई। यातायात की कठिनाई और समुद्र तटीय जहाजों की कमी तथा मज़दूरों की कमी का भी असर उत्पादन पर बुरा पड़ा। सरकार और खानों ने उत्पादन बढ़ाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया, जैसे खानों में काम करने के लिये बाहर से मज़दूरों की भर्ती की गई और उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कई आर्थिक प्रलोभन जैसे उत्पादन बोनस, अतिरिक्त लाभ कर में छूट आदि दिये गये। बहुत सी मशीनरी भी बाहर से मंगाई गई। इन तमाम प्रयत्नों का असर हुआ और उत्पादन में जो कमी आगई थी वह क़रीब-क़रीब पूरी हो गई। कोयले का कुल उत्पादन १९४२ में २ करोड़ ९४ लाख टन के लगभग था वह १९४३ में २¾ करोड़ टन ही रह गया। १९४४ में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई पर १९४५ में उत्पादन २ करोड़ ९० लाख टन के लगभग पहुँच गया। मूल्यों का जहाँ तक सवाल है जब उनमें बराबर तेज़ी आती गई तो १९४४ में सरकार ने मूल्य नियंत्रण लागू कर दिया। कोयले के वितरण पर भी आवश्यक नियंत्रण किया गया। मूल्य और वितरण पर नियंत्रण अब भी जारी है। कोयले के उद्योग का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भी बराबर बढ़ता रहा है। वर्तमान उत्पादन ३½ करोड़ टन के लगभग मानना चाहिये। कोयले के निर्यात की स्थिति में पिछले वर्षों में उतार-चढ़ाव आता रहा है। १९४७ में ५½ लाख टन, १९४८ में ९⅔ लाख टन, १९४९ में १२⅔ लाख टन और १९५० में केवल ९ लाख टन से कुछ अधिक कोयला निर्यात हुआ। १९५० में कमी का कारण पाकिस्तान से इस वर्ष में व्यापार बन्द होना था। लगभग ५.६ लाख टन कोयला भारत से पाकिस्तान को जाता है। १९५१ में भी निर्यात की स्थिति अच्छी रही। बर्मा, लंका, सिंगापुर, जापान और हांगकांग को यहाँ से यथेष्ट मात्रा में कोयला जाता है। १९५१ में पाकिस्तान को छोड़कर १९ लाख टन कोयला हमारे देश से निर्यात हुआ। अस्तु, आज कोयले के उद्योग के सामने फिर यही समस्या है कि उत्पादन माँग से अधिक न हो जावे।

भविष्य—कोयले के उद्योग का किसी भी आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के लिये बहुत बड़ा महत्त्व है। इसकी सफलता के मार्ग में भारत में जो-जो कठिनाइयाँ हैं उन पर अब हम विचार करेंगे। सब से बड़ी बात तो यह है कि अच्छे कोयले की मात्रा हमारे देश में बहुत नहीं है। अच्छे कोयले की मात्रा का एक अनुमान यह है कि खपत के वर्तमान आधार पर लगभग ७० वर्ष में सब कोयला [७५ करोड़ टन] खर्च हो जायगा। परन्तु सन १९४७ में श्री ... ने यह अनुमान लगाया कि बढ़िया कोयले की मात्रा २२६ करोड़ टन है। और यदि कोयले को संचय करने की समुचित व्यवस्था की जाय तो २०० वर्ष में

अधिक हमारा कोयला चल सकता है। कोयले के रिज़र्व की मात्रा का जो कुछ भी हमारा अनुमान हो, इतना तो साफ़ ही है कि बढ़िया कोयला जो लोहे और इस्पात के उद्योग में काम आता है, अधिक से अधिक समय तक संचित रहे [कनज़र्व हो] इसका पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये। १९४६ की कोयला समिति [कोल कमेटी] ने भी राष्ट्रीय हित में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया था कि बढ़िया कोयले के सचय [कन्ज़रवेशन] की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। जहाँ-जहाँ घटिया कोयले से काम चल सकता हो, जैसे रेलवे में, तथा कपास उद्योग में, वहाँ बढ़िया कोयले का खर्च बन्द कर देना चाहिये। १९४९ में इस समस्या पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने मेटेलरजिकल कोल कंज़रवेशन कमेटी नियुक्त की थी। इसने भी यह सिफ़ारिश की कि बढ़िया कोयले के अपव्यय को रोकने की जल्दी से जल्दी व्यवस्था होनी चाहिये। योजना आयोग ने भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफ़ारिशें की हैं :—(१) बढ़िया कोयले का उत्पादन आगे न बढ़ाया जाय। (२) जहाँ बढ़िया कोयले को ही काम में लेना जरूरी है वहाँ के अलावा जहाँ जहाँ अभी वह काम में आता है उसके स्थान पर दूसरे कोयले को काम में लेने की व्यवस्था की जानी चाहिये। (३) केवल बढ़िया कोयला ही खान से निकालने (सिलेक्टिव माइनिंग) पर प्रतिबन्ध लगाया जाये। कई प्रकार के कोयलों को कारबनाइज़ेशन के लिये मिलाने से भी बढ़िया कोयला उत्पन्न हो सकता है। कोक बनाने के लिये भी घटिया कोयला काम में आ सकता है, ऐसी खोज हाल में कौंसिल ऑफ साइन्टि-फ़िक एन्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च ने टाटा स्टील कम्पनी की सहायता से की है। इससे भी बढ़िया कोयले में बचत हो सकती है। कोयले के उद्योग से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी समस्या यह है कि कोयला खोदने की वर्तमान पद्धति को अधिक वैज्ञानिक बनाया जाये। कोयला खोदने की जो पद्धति [पिलर एन्ड स्टाल] आज हमारे देश की खानों में अधिकतर प्रचलित है और जिस के कारण कोयला खराब होता है और जो पद्धति सुरक्षित भी कम है, उसके स्थान पर अधिक वैज्ञानिक [लोंग वाल] पद्धति काम में लानी चाहिये। बड़ी खानों में इस पद्धति का युद्ध के समय से उपयोग भी किया जाने लगा है। कोयले के उद्योग की तीसरी समस्या यह है कि चूँकि इस समय खान में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या उत्पादन के मुकाबले में कहीं अधिक है, इसलिये अब उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये। कोयले को लाने-लेजाने की कठिनाई भी कई बार उपस्थित हो जाती है। अतः यातायात सम्बन्धी कठिनाई को हल करने का भी बराबर ध्यान रखना आवश्यक है। अन्तिम बात कोयले के निर्यात के बारे में है। यद्यपि आज भारत का कोयला हाँगकाँग, न्यूज़ीलेंड, आस्ट्रेलिया आदि देशों को भी जाता है,

पर लंका, सिंगापुर, मलाया, प्रायद्वीप, और बर्मा तो भारतीय कोयले के स्थायी बाज़ार माने जा सकते हैं। केवल आवश्यकता है इस बात की कि बढ़िया कोयला वाजिब दाम पर निर्यात किया जाए। यदि उपर्युक्त बातों का हम पूरा-पूरा ध्यान रख सकें तो कोयले के उद्योग का भविष्य उज्ज्वल माना जा सकता है। भारत सरकार ने १९४६ में कोयले के उद्योग की समस्याओं पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। इसने कई सिफारिशें कीं जिन में से एक प्रमुख सिफारिश यह थी कि एक राष्ट्रीय कोयला आयोग नियुक्त किया जाय जो कोयले सम्बन्धी समस्त प्रश्नों का संचालन करे और विभिन्न मन्त्रालयों की बजाय एक ही मन्त्रालय से सब समस्याओं का सम्बन्ध रहे। इन सिफारिशों पर विचार न करके भारत सरकार ने एक वर्किंग पार्टी 'फॉर दी कोल इन्डस्ट्री', नियुक्त की। इसने कोयले की उत्पादन-वृद्धि, उत्पादन-लागत में कमी, मज़दूरों, व्यवस्था और संगठन की कार्य-कुशलता में वृद्धि, वैज्ञानिकन, क्रय-विक्रय और कोयले के प्रसार में सुधार सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। वर्किंग पार्टी की मुख्य २ सिफारिशें इस प्रकार हैं :—(१) उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से मशीनों द्वारा उत्पादन करने को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इस दृष्टि से देश में आवश्यक मशीनरी का उत्पादन भी किया जाना चाहिये। (२) कोयले का उत्पादन विभिन्न प्रदेशों में बढ़ाना चाहिये ताकि प्रत्येक प्रदेश अपनी ज़रूरत पूरी कर सके। इस दृष्टि से आसाम, हैदराबाद, विंध्य प्रदेश, मध्यप्रदेश, और मद्रास में उत्पादन क्षेत्रों का बटवारा किया जाना चाहिये। (३) बढ़िया कोयले का अपव्यय रोकना चाहिये। (४) मज़दूरों-मालिकों में अच्छा सम्बन्ध रह सके इस दृष्टि से विभिन्न प्रदेशों (जोन) में मालिक मज़दूरों की सम्मिलित जोन कमेटियाँ बननी चाहिये। इस प्रकार दो अखिल भारतीय संगठन—एक मज़दूरों का और दूसरा मालिकों का भी बनना चाहिये। जो झगड़े मज़दूरों मालिकों में न सुलझें वे कोल इंडस्ट्रियल कमेटी के पास सुलझाने को भेजे जायें। (५) राज्य को कोयले की खानों का संचालन करने के लिये प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी या जोइन्ट स्टाक कारपोरेशन जिसके सब हिस्से राज्य के हों, बनाई जानी चाहिये। (६) कोल बोर्ड जिसको विस्तृत अधिकार हों, नियुक्त होना चाहिये। बढ़िया कोयले की रक्षा, मूल्य-नियन्त्रण, खोज, मज़दूर समस्याएँ, यातायात, क्रय-विक्रय आदि सब प्रश्न बोर्ड के क्षेत्र में आने चाहिये। भारत सरकार ने कोल बोर्ड की स्थापना तो कर दी है पर उसके अधिकार सीमित हैं। (७) उत्पादन लागत कम करने, बढ़िया कोयला तैयार करने तथा वैज्ञानिक खोज सम्बन्धी सिफारिशें की गई हैं।

एञ्जीनियरिंग उद्योग—एञ्जीनियरिंग उद्योग किसी एक उद्योग का नाम

नहीं है पर कुछ उद्योगों का सामूहिक नाम है। एंजीनियरिंग उद्योगों में निम्न उद्योगों का समावेश किया जाता है—स्ट्रकचरल एंजीनियरिंग जिसके अन्तर्गत पुल बनाना, तथा हैंगर्स, ट्रंक्शन टावर्स, तेल कुए, आदि दूसरे इस्पात के कामों का निर्माण करना आता है; औद्योगिक प्लान्ट और मशीनरी के निर्माण का उद्योग; एन्जिन बनाने का उद्योग; मोटर (ओटोमोबाइल) आदि बनाने का उद्योग; हवाई जहाज़ बनाने का उद्योग; मशीन-टूल्स का उद्योग जिसके अन्तर्गत वे तमाम यांत्रिक उपकरण (मेकेनिकल कन्ट्राविन्सेज) आ जाते हैं जो लड़की या धातु के काटने, पोलिश करने, या उन पर काम करने के लिये आवश्यक होते हैं; सिलाई की मशीनों, बाइसिकिल और हरीकेन या लालटेन के उद्योग जो हल्की एन्जिनियरिंग के नाम से जाने जाते है; बिजली के सामान आदि सम्बन्धी उद्योग जिसमें पंखे, लेम्प, मोटर्स, तार और केबल्स, एकूमूलेटर्स और ड्राईसेल्स, बिजली का सामान जैसे स्विच, प्लग, सोकेट ट्रान्सफ़ोर्मर्स आदि, आते हैं; डीज़ल एंजिन सम्बन्धी उद्योग; पावर प्लान्ट्स; रेडियो रिसीवर्स का उद्योग और टेलीफोन के सामान का उद्योग। एंजीनियरिंग उद्योग में स्टील फोर्जिङ्ग का काम जिसके द्वारा कच्चे इस्पात से फ़िनिश्ड इस्पात बनाया जाता है और स्टील फेवरीकेशन की तमाम क्रियायें जैसे पेंट करना, मशीनिंग, ड्रिलिंग (छेद करना), रिवेटिंग आदि जिनके द्वारा 'रोल्ड स्टील' को जिस काम में वह आने वाला हो उसके योग्य बनाया जाता है, भी आ जाती हैं। एंजीनियरिंग उद्योगों की गिनती आधारभूत उद्योगों में होती है और इनकी प्रगति लोहे और इस्पात के उद्योगों पर बहुत कुछ निर्भर होती है, क्योंकि लोहा और इस्पात ही इन उद्योगों का सबसे प्रमुख कच्चा माल है। भारत में एजीनियरिंग उद्योगों का अभी यथेष्ट विकास नहीं हुआ है यद्यपि पिछले वर्षों में इस दिशा में प्रगति अवश्य हुई है। प्रथम महायुद्ध के समय इन उद्योगों का आरम्भ हुआ था। जब १९२४ में इस्पात को संरक्षण मिला तो उसका असर एंजीनियरिंग उद्योग को प्रोत्साहन देने का भी हुआ। परन्तु विश्वव्यापी मंदी के कारण इन उद्योगों को भी कठिनाई का सामना करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के समय से फिर इन उद्योगों को प्रोत्साहन मिला है। जैसे-जैसे देश का आर्थिक प्रोत्साहन और औद्योगिक विकास होगा वैसे-वैसे इन उद्योगों का विकास होना भी अवश्यम्भावी है। वास्तव में बात तो यह है कि इन उद्योगों की उन्नति पर ही बहुत कुछ हमारे देश का औद्योगिक विकास आधारित है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् देश में जो औद्योगिक मदी आई और देश के विभाजन से जो हमारे माल के लिये बाज़ार की हानि हुई उसका असर भी एंजीनियरिंग उद्योगों पर पड़ा। इन उद्योगों की प्रगति के लिये

निम्नलिखित सुविधाओं की आवश्यकता है—मजदूरों की ट्रेनिंग, खास तौर से ट्रेन्ड मिस्त्री की व्यवस्था, यातायात की सुविधा, रेलवे-किराये में सहानुभूतिपूर्ण नीति, उदार कर-नीति, अच्छे कोयले की व्यवस्था सस्ते दामों पर, मजदूरी का उत्पादन के साथ सम्बन्ध। इन उद्योगों की प्रगति से तीन प्रश्नों का खास तौर से सम्बन्ध आता है। एक तो यह कि किस प्रकार का सामान तैयार करने पर ध्यान दिया जाये—बाहर से अंग-प्रत्यंग मंगाकर यहाँ केवल उनको वस्तु में परिणत कर दिया जाये या सारे अंग प्रत्यंगों का निर्माण ही यहाँ हो। दूसरे छोटे पैमाने के उद्योग का इस क्षेत्र में क्या स्थान हो। और तीसरे कच्चे माल की कमी के कारण उसका बटवारा कैसे किया जाये। कुछ खास-खास एंजीनियरिंग उद्योगों के सम्बन्ध में इस देश की वर्तमान स्थिति क्या है, इसका हम अब अत्यन्त संक्षिप्त विवरण यहाँ देंगे। इस समय (अप्रैल १९५२) कई एंजीनियरिंग उद्योग जैसे साइकिल, मोटर, सीने की मशीन की स्थिति कठिन हो रही है और बाजारों में माँग नहीं है। सरकार को आयात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाकर या संरक्षण देकर इन तरह के उद्योगों की रक्षा करनी चाहिये, यह मांग उद्योगपति कर रहे हैं।

स्ट्रक्चरल एञ्जीनियरिंग उद्योग :—इस उद्योग से सम्बन्ध रखने वाली फ़र्मों में से खास-खास फ़र्में कलकत्ते [१९], बम्बई [६] और मद्रास [३] में हैं। इनके काम की माँग प्रधानतः सरकारों की ओर से ही होती है। दोनों महायुद्धों के बीच के समय में इन उद्योगों का यथेष्ट विकास हुआ था। देश में विकास सम्बन्धी योजनाओं को जैसे-जैसे कार्यान्वित किया जायगा वैसे-वैसे इन उद्योगों की माँग भी बढ़ेगी।

औद्योगिक प्लान्ट सम्बन्धी उद्योग—मशीन उत्पादन का उद्योग भी देश के औद्योगिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अब तक हम मशीनें विदेशों से मँगाते रहे हैं। लगभग १०० करोड़ रुपये की मशीनें हमारे देश में हर साल आती हैं। इस उद्योग के लिये सब कच्चा माल [लोहा-इस्पात, पीतल, कांसा, एलोम्यूनियम एलोये, रिवेट्स, पाइप्स, ट्यूब्ज़, फोर्ज्ड स्टील के पदार्थ] हमारे देश में उपलब्ध है और जैसे-जैसे टैकनोलोजिकल स्कूल आदि की संख्या देश में बढ़ेगी, टेकनिकल स्किल की कमी का प्रश्न भी हल हो सकेगा। टेक्स-टाइल मशीनरी का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध के समय स्थापित हुआ। इस क्षेत्र में सबसे प्रमुख फ़र्म टेक्सटाइल मशीनरी कारपोरेशन लि० है, जो करघों और तकुओं का उत्पादन करती है। टेक्सटाइल मशीनरी का उत्पादन करने वाली कुछ और फर्में भी हमारे देश में हैं। पिछले वर्षों में टेक्सटाइल मशीनरी के क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है। रिंगफ्रेम्स, कार्डिंग एंजिन्स, और करघों का उत्पादन बढ़

रहा है। २५ फ़रवरी १९५२ को भारत और ब्रिटेन के सम्मिलित प्रयत्न से स्थापित से 'नेशनल मशीनरी मेन्यूफेक्चरर्स', का उद्घाटन हुआ है। यह कताई में काम में आने वाली मशीनरी का उत्पादन करेगी। पहले रिंगफ्रेम्स और उनमें काम में आने वाले अंग-प्रत्यंगों का उत्पादन आरंभ होगा। उसके बाद विकास की दूसरी अवस्था में कताई सम्बन्धी सब मशीनरी का उत्पादन किया जायगा।

एञ्जिन उद्योग—रेलवे यातायात के विस्तार और विकास के मार्ग में एक बड़ी कठिनाई पर्याप्त सख्या में एंजिन नहीं मिलने की रही है। हमारे देश में दो रेलवे वर्कशॉपों में (अजमेर और जमालपुर) एंजिन तैयार करने का काम हुआ है। पर जमालपुर में एंजिन बनाने का काम १९२६ में बन्द हो गया। टाटा लोकोमोटिव एन्ड एंजीनियरिंग कंपनी वैयक्तिक आधार पर आरम्भ किया गया एंजिन तैयार करने का प्रथम व्यवसाय था। १९४६ में भारत सरकार ने भी यह निश्चय किया कि एंजिन तैयार करने का एक कारखाना स्थापित किया जाये। इसी निश्चय के अनुसार पश्चिमी वंगाल में चित्तरंजन [मिही जाम] नाम के स्थान पर इन्डियन रेलवे मेन्यूफेक्चरिंग वर्क्स नाम के कारखाने की स्थापना की जा चुकी है और नवम्बर १९५० में उसके द्वारा पहला एंजिन तैयार भी किया जा चुका है। अभी तो बाहर से एंजिन के भागों का आयात करके एंजिन तैयार किये जाते हैं, पर धीरे-धीरे इन भागों का निर्माण भी इस कारखाने में शुरू किया जा रहा है और ऐसी आशा है कि १९५४ तक सब भाग यहीं बनने लगेंगे और इस प्रकार पूरा चितरंजन में बना एंजिन १९५४ में तैयार होने की संभावना मानी जा सकती है। यह भी आशा है कि १९५४ तक १२० स्टीम एंजिन और ५० अतिरिक्त बोइलर्स, जो इस कारखाने का अधिकतम उत्पादन का लक्ष्य है, बन सकेंगे।

मोटर उद्योग—मोटर उद्योग भी एक आधारभूत उद्योग है जिसका शांति और युद्ध दोनों ही समय में बहुत महत्त्व है। आरंभ में कुछ विदेशी फ़र्मों की शाखाएँ यहाँ स्थापित हुईं जैसे बम्बई में 'जनरल मोटर्स एसेम्बलिंग प्लान्ट' जिन्होंने विदेश से आये हुए विभिन्न हिस्सों को मिलाकर मोटर तैयार करने का काम शुरू किया। १९४६ में प्रीमियर ओटोमोबाइल्स लि० नाम के एक भारतीय फ़र्म की बम्बई में स्थापना हुई। इसी प्रकार पुराने बड़ौदा राज्य में हिन्दुस्तान मोटर्स की स्थापना की गई। हाल में विदेशी फर्मों के सहयोग से कुछ नई फ़र्में भी स्थापित हुई हैं। पिछले तीन चार वर्षों में इस उद्योग ने अच्छी प्रगति की है। १९४९ में छः हज़ार से अधिक कारें और १५ हज़ार से ऊपर ट्रकें तैयार की गईं। इस उद्योग ने कई सहायक उद्योगों को भी जन्म दिया है। जैसे स्टोरेज बेटरीज़,

मशीन टूल्स—द्वितीय महायुद्ध के पहले अधिकांश मशीन टूल्स विदेश से आते थे। पर फ्रान्स के पतन और जापान के युद्ध में शामिल होने के बाद जब बाहर से माल का आना बन्द-सा हो गया तो हमारे देश के उद्योग को प्रोत्साहन मिला। हमारा वार्षिक उत्पादन ११०० (ग्यारह सौ) मशीन टूल्स तक पहुँच गया। कलकत्ता, बम्बई, सतारा, हरीहर, बटाला, और लुधियाना इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं। युद्ध के बाद से इस उद्योग की स्थिति मांग कम हो जाने के कारण संतोष-जनक नहीं रही है। मांग की कमी के कई कारण हैं, जैसे विकास की योजनाओं के कार्यान्वित नहीं होने से मांग की कमी होना, विदेशी मशीनों की कम कीमत पर बिक्री और युद्ध कालीन सामान को सरकार द्वारा सस्ते दामों पर बिक्री। इधर तो वर्तमान फेक्टरियों की यह हालत हो रही थी, उधर भारत सरकार ने एक फेक्टरी काफ़ी बड़े पैमाने पर स्थापित करने का निर्णय कर लिया था। जब सरकार के इस निश्चय का विरोध किया गया और उसका ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि इस समय मांग में गिरावट आती जा रही है तो भारत सरकार ने अपने निर्णय में आवश्यक परिवर्तन कर दिया। अब भारत सरकार १८ करोड़ रुपया की बजाय ६½ करोड़ की पूँजी लगायगी और उत्पादन ८ करोड़ की जगह ४ करोड़ रुपये का ही किया जायगा। इसके अलावा सरकारी फेक्टरी में वे मशीनें तैयार होंगी जो अब तक वैयक्तिक फेक्टरियों में तैयार नहीं होती हैं, ताकि आपस में प्रतिस्पर्द्धा न हो। यह आशा है कि पाँच वर्ष में यह फ़ेक्टरी की योजना कार्यान्वित हो सकेगी। सरकारी फैक्टरी में हाईस्पीड लेथ्स, हाईस्पीड शेपिंग मशीनें और डयूटी ड्रिलिंग मशीनें खास तौर से तैयार की जायेंगी। देश के आर्थिक विकास में इस उद्योग का बड़ा महत्त्व है। पिग आइरन, रोल्ड स्टील के पदार्थ और अलोह धातु तथा कोयला, कोक, चूना, पत्थर और लकड़ी की इस उद्योग में कच्चे माल के रूप में आवश्यकता होती है। ये सब चीजें हमारे देश में उपलब्ध हैं।

सिलाई की मशीनें—भारत में लगभग १ लाख सिलाई की मशीनों की वार्षिक खपत है। १९५० में भारत में ३०,००० (तीस हज़ार) मशीन तैयार की गईं। अधिकतम उत्पादन शक्ति साल में ३७००० मशीनों के लगभग है। पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब और पेप्सू में इन मशीनों के बनाने के कारखाने हैं। १९४७ में ४६ लाख की पूंजी इनमें लगी हुई थी। यह उद्योग द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थापित हुआ और इसकी प्रगति ठीक चल रही है। यद्यपि इस समय मांग की कमी के कारण और विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा के कारण यह कठिनाई में है (अप्रैल १९५२)।

बाइसिकिल—इस उद्योग का प्रारम्भ कलकत्ते में १६१८ में हुआ और कुछ भागों के उत्पादन के साथ इसने कार्य आरम्भ किया। युद्ध में इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। भारत में साईकिलों की वार्षिक मांग ४ लाख है और हमारी उत्पादन शक्ति १½ लाख के लगभग है। १६४७ में ११ फेक्टरियाँ इस उद्योग में थीं जिनमें १६०० आदमी काम करते थे और ७० लाख के लगभग पूँजी लगी थी। १६५० में १ लाख से अधिक साइकिलें हमारे देश में तैयार हुईं। इस समय यह उद्योग भी कठिनाई में फंसा हुआ है।

हरीकेन लेन्टर्न—इस उद्योग में ६ सगठित फेक्टरियाँ हैं। देश की कुल मांग ५० लाख लालटेनें प्रतिवर्ष है। १६५० में २८ लाख लालटेनें हमारे देश में तैयार हुईं। उत्पादनक्षमता ३६ लाख लालटेनें थी।

बिजली का सामान—हमारे देश में २८ बिजली के पंखे, ६ बिजली के लेम्प, और ६ एक्सेसरीज़ जैसे स्विच, प्लग आदि और ५ फ्लेश लाइट्स की फेक्टरियाँ हैं। इनके अलावा वायर और केबल्स, मोटर्स और एकुमूलेटर्स और ड्राई सेल्स तथा ट्रान्सफोर्मर्स भी हमारे देश में थोड़े बहुत तैयार होने लगे हैं।

डीजिल एंजिन—अपनी सादा बनावट, संचालन और सस्तेपन के कारण डीज़िल एंजिन का बड़ा प्रचार हो रहा है। पानी निकालने, और खेती के काम में तथा रेल और सड़क के यातायात में इनका उपयोग हो सकता है। सतारा, देहली और कोल्हापुर इनके मुख्य उत्पादन-केन्द्र हैं। भारत में लगभग ५००० डीज़िल एंजिन हर साल चाहियें। हमारे कारखानों की उत्पादन-शक्ति १६५० में ५३०० एंजिन थी पर वास्तव में ४५६६ एंजिन तैयार किये गये। बाहर से भी ये एंजिन अभी आयात होते हैं। भारत सरकार एक फेक्टरी स्थापित करने के प्रश्न पर विचार कर रही है।

पावर प्लान्ट्स—बिजली उत्पादन के काम में ये पावर प्लान्ट आते हैं। हमारे देश में अभी यह बिल्कुल तैयार नहीं होते हैं। भारत सरकार ने इस संबंध में एक योजना बनाई थी पर वह आर्थिक कठिनाई के कारण स्थगित करदी गई।

रेडियो रिसीवर्स—पिछले वर्षों में रेडियो रिसीवर्स के उद्योग में यथेष्ट प्रगति हुई है। १६४७ में भारत की उत्पादनक्षमता ८००० सेट्स की थी। १६५० में रेडियो रिसीवर्स की उत्पादन शक्ति ७७ हज़ार सेट्स प्रति वर्ष थी और ४५ हज़ार सेट्स का वास्तविक उत्पादन था जबकि १६४७ में उत्पादन ३००८ हज़ार सेट था।

टेलीफोन इक्विपमेंट—बम्बई, कलकत्ता और देहरादून में टेलीफोन के सामान तैयार करने की एक-एक फैक्टरी है। जुलाई १६४८ में बंगलोर में इंडियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज़ नाम का कारखाना भारत सरकार ने स्थापित किया था। बाद में इसमें मैसूर सरकार और इंगलैंड की ओटोमेटिक टेलीफोन एण्ड इलेक्ट्रिक कंपनी की साझेदारी भी स्वीकार करली गई। १६४६ के आरंभ में इस फैक्टरी ने काम करना आरम्भ कर दिया। इसकी उत्पादन-शक्ति ५० हज़ार टेलीफोन और ३० हज़ार एक्सचेंज लाइन्स प्रतिवर्ष है।

जिन उद्योगों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके अलावा भी और कई चीज़ें हमारे देश में तैयार होती हैं और नई नई दिशाओं में उत्पादन बढ़ रहा है। ओटोमेटिक लूम, कार्डिंग एंजिन, वेंडिंग मशीन रेफ्रीजरेटर, ग्रामोफोन की सुइयाँ आदि कई नाम इस संबंध में लिये जा सकते हैं। पंचवर्षीय योजना में भी कई उद्योगों के सम्बन्ध में योजना बनाई गई है।

रासायनिक उद्योग—कई उद्योगों का सामूहिक नाम रासायनिक उद्योग है। ये उद्योग दो प्रकार के होते हैं—(१) भारी रासायनिक पदार्थ जैसे—सलफ्यूरिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड, विभिन्न प्रकार के सलफेट, एलकेलीज़ जैसे कास्टिक सोडा, सोडा एश, एमोनिया और एलकेलाइन पदार्थ जैसे ब्लीचिंग पाउडर, क्लोरीन, पोटेशियम क्लोरेट; और रासायनिक खाद जैसे एमोनियम सलफेट, सुपरफोसफेट पोटेशियम नाइट्रेट आदि। (२) क़ीमती रासायनिक पदार्थ—(फाइन केमिकल्स) में फोटोग्राफी के काम में आने वाले रासायनिक पदार्थ, ड्रग्ज और फार्मेस्यूटिकल पदार्थ, पेन्ट्स, वार्निश और रंग के पदार्थ गिने जाते हैं। भारी रासायनिक पदार्थ कृषि और उद्योग-धन्धों में काम में आते हैं और इसलिये उनकी गिनती आधारभूत उद्योग में होती है। ये पदार्थ बड़ी मात्रा में और सस्ते दामों पर तैयार किये जाते हैं। क़ीमती रासायनिक पदार्थ कम मात्रा में उत्पन्न किये जाते हैं और उनके उत्पादन में कौशल की अधिक आवश्यकता होती है। अब हम भारी रासायनिक पदार्थों के उद्योग के बारे में संक्षेप में कुछ लिखेंगे।

प्रथम महायुद्ध के पहले तक रासायनिक उद्योगों का हमारे देश में बहुत विकास नहीं हुआ था यद्यपि बहुत सा कच्चा माल हमारे यहाँ उपलब्ध था। प्रथम महायुद्ध के समय विदेश से आने वाले रासायनिक पदार्थों का आयात कम होगया और देश में माँग बढ़ गई। इससे इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। पर युद्ध समाप्त होजाने के बाद विदेशी प्रतिस्पर्द्धा फिर बढ़ गई। अतः सरकार द्वारा संरक्षण देने का प्रश्न उपस्थित हुआ। टेरिफ बोर्ड ने १६२८-२६ में जांच

बारे में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि यद्यपि इन उद्योगों को भी गत महायुद्ध के समय प्रोत्साहन मिला परन्तु अभी ये अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। इन उद्योगों पर भी विभाजन का असर इसी रूप में पड़ा है कि पाकिस्तान का बाजार अब अपना बाजार नहीं रहा है। इस क्षेत्र में भारत और अमरीका के सम्मिलित प्रयत्न से बुलसर में एक डाइज और फार्माशियेटिकल्स मेन्यूफेक्चरिंग कम्पनी की मार्च १९५२ में स्थापना हुई है। आरम्भ में यह फेक्टरी ४० लाख पौन्ड डाईज और १ लाख पौन्ड सल्का ड्रग्ज प्रतिवर्ष उत्पन्न करेगी। इस समय हमारे देश में डाईज और फार्माशियेटिकल्स अधिकांश में बाहर से आते हैं।

जहाँ तक भावी प्रगति का सवाल है दूसरे देशों के मुकाबले में हमारे रासायनिक उद्योगों का (भारी और कीमती दोनों) विकास बहुत कम हुआ है। पर भविष्य में विकास के लिये काफी गुन्जाइश है। भारी रासायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योग का विकास बहुत कुछ उन दूसरे उद्योगों के विकास के साथ बँधा हुआ है जिन में इन पदार्थों का उपयोग होता है। कीमती रासायनिक उद्योगों में भारी रासायनिक पदार्थों का उपयोग होता है। इसलिये एक हद तक इनका भी पारस्परिक सम्बन्ध है। फाइन केमीकल्स के लिए जहाँ तक इन-ओरगेनिक हेवी केमीकल्स का प्रश्न है वे हमारे देश में आज भी मिलते हैं, पर ओरगेनिक हेवी केमीकल्स अभी हम बाहर से मँगाते हैं। अतः इस कमी को पूरा करने की ओर हमें ध्यान देना होगा। इसी प्रकार सिंथेटिक ड्रग्ज के लिये आवश्यक फ़ाइन केमीकल्स अभी बाहर से आते हैं। यह कमी भी पूरी होनी चाहिये। सिंथेटिक डाईस्टफ़्स अभी हमारे देश में पैदा नहीं होते, पर इनका उत्पादन हो सकता है। उसके लिए कोलतार के उद्योग का विकास करना ज़रूरी है। कोलतार से ही सिंथेटिक ड्रग्ज़ और बड़े विस्फ़ोटक पदार्थ पैदा होते हैं। इसी प्रकार इन-ओरगेनिक केमीकल्स (सल्फ़्यूरिक एसिड आदि) की अपनी आवश्यकता पूर्ति भी इस उद्योग को अलग से करना पड़ेगी, क्योंकि मौजूदा उत्पादन मौजूदा उपभोग में समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त बातों के अलावा कुछ बातें दोनों ही प्रकार के रासायनिक उद्योग की प्रगति के लिए आवश्यक हैं। सबसे बड़ी बात तो विदेश से आवश्यक मशीनरी आदि के मँगाने की है। बाहर के टेकनीशियनों की भी हमें कुछ समय के लिये सहायता लेनी होगी और यह प्रबन्ध भी बिठाना होगा कि हम अपने लोगों को आवश्यक ट्रेनिंग दे सकें। आवश्यक इक्विपमेंट और प्रिसीशन इन्स्ट्रूमेंट्स का भी हमारे देश में उत्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी के साथ हमें मज़दूरों को भी आवश्यक ट्रेनिंग देनी होगी। हमें अपने रासायनिक उद्योग के लिए ऐसे मेनेजर चाहियें

जो ऊँचे दर्जे के टेकनोलोजिकल इन्स्टीट्यूट में तैयार किये जायें, और सुपरवाइज़र और स्किल्ड मज़दूर भी चाहियें। इन सब बातों के अलावा कर, रेल के किराये और आयात कर सम्बन्धी सरकार की नीति भी अधिक सहानुभूतिपूर्ण होनी चाहिये। सस्ती और पर्याप्त बिजली की शक्ति की भी इन उद्योगों के लिये बड़ी आवश्यकता है। उपर्युक्त सब बातों की ओर यदि हम पूरा ध्यान दें तो हमारे देश में रासायनिक उद्योगों का अच्छा विकास हो सकता है। इस समय की स्थिति का अनुमान तो इससे लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र में कुल ४७१ उत्पादन-केन्द्र हैं जिनमें केवल ३५ बड़े पैमाने पर काम करते हैं। इस उद्योग में कुल पूँजी ५ करोड़ रु० के लगभग लगी हुई है जो तमाम उद्योगों में लगी पूँजी का केवल २५ प्रतिशत होती है।

अब हम कुछ प्रमुख रासायनिक पदार्थों के उद्योगों के विषय में संक्षिप्त जानकारी करेंगे।

सलफ्यूरिक एसिड—भारी रासायनिक पदार्थों में सलफ्यूरिक एसिड का बहुत महत्त्व है क्योंकि न केवल यह दूसरे उद्योगों [धातु, कपास-उद्योग, चमड़ा और इंजीनियरिंग] में काम आता है पर दूसरे रासायनिक पदार्थों में भी इसका उपयोग होता है। हमारे देश में इस समय लगभग ४३ फर्में सलफ्यूरिक एसिड तैयार करती हैं और उनकी उत्पादन-शक्ति १½ लाख टन हैं, और वास्तविक वार्षिक उत्पादन १९५० में १ लाख टन के आस पास हुआ था। हमारी वर्तमान मांग १ लाख टन प्रति वर्ष है। इस उद्योग के मार्ग में एक बड़ी कठिनाई यह है कि गंधक [सलफर] हमें बाहर से मँगाना पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे देश में मिलने वाले गन्धक वाले दूसरे पदार्थों का इस उद्योग में उपयोग किया जाये जैसा कि कई पश्चिम के देशों में होता है। राजस्थान में केलशियम सलफ़ेट यथेष्ट मात्रा में होता है। उससे सलफ्यूरिक एसिड तैयार करने के प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। जिपसम में भी गंधक होता है। इसके अलावा यह भी प्रयत्न किया जाना चाहिये कि कई उद्योगों में सलफ्यूरिक एसिड के उपयोग के बिना ही काम चल जाय। जैसे खाद पदार्थों में एमनियम सलफेट और सुपर फ़ोसफ़ेट और हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक एसिड बिना सल्फ्यूरिक एसिड के भी तैयार किये जा सकते हैं। पर भारत में अभी ऐसा होना जल्दी संभव नहीं हो सकता। खाद्-उद्योग के विकास के साथ-साथ सलफ्यूरिक एसिड का उत्पादन भी बढ़ेगा।

एलकलीज—एलकलीज़ में कास्टिक सोडा एक प्रमुख पदार्थ है। यह साबुन, टेक्सटाइल्स, कागज़ तथा लगभग सब बड़े उद्योगों में काम आता है।

इसकी उत्पादनक्षमता इस समय १८००० टन वार्षिक है। कुल छः कारखाने इस उद्योग के हैं। वास्तविक उत्पादन १६५० में ११ हज़ार टन के लगभग हुआ था। १६५१ में १५ हज़ार टन तक उत्पादन होने की आशा है। हमारी वार्षिक माँग ६५००० टन है। इस उद्योग के संरक्षण की माँग को सरकार ने अस्वीकार कर दिया है। यह आशा है कि नए प्लान्ट की स्थापना और मौजूदा के विस्तार से शीघ्र ही इस पदार्थ में हम स्वावलम्बी हो सकेंगे। कास्टिक सोडा तैयार करने का एक तरीका तो लाइम सोडा से है और दूसरा तरीका इलेक्ट्रोलिटिक पद्धति का है जिससे सहायक-पदार्थ के तौर पर क्लोरीन भी पैदा होता है। हमारे देश में आज क्लोरीन जितनी मात्रा में पैदा होता है उसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं होता है। क्लोरीन की वर्तमान उत्पादन शक्ति ६५०० टन है। १६५० में ४ हजार टन क्लोरीन पैदा किया गया। क्लोरीन ब्लीचिंग पाउडर हाइड्रो क्लोरिक एसिड और डी. डी. टी तैयार करने में काम आता है। इसके उपयोग के और नये मार्ग ढूँढ़ निकालने की आवश्यकता है। ब्लीचिंग पाउडर तैयार करने के देश में तीन कारखाने हैं जिनमें १६५० में ३ हज़ार टन के लगभग ब्लीचिंग पाउडर तैयार किया गया। हमारी क्षमता ५ हज़ार टन तैयार करने की है। साल में १२ हजार टन के आस-पास देश में माँग है जिसका अधिकांश भाग बाहर से आता है। इसकी संरक्षण की माँग भी सरकार ने अस्वीकार करदी है।

सोडा एश भी एक दूसरा एलकेली है जो शीशे, टेक्सटाइल्स, कागज़ आदि के उद्योग में काम में आता है। हमारी वार्षिक माँग १,३०,००० टन के लगभग है और वर्तमान उत्पादनक्षमता देश के दोनों सौराष्ट्र स्थित प्लांटों की ५४००० टन है। उचित दाम पर औद्योगिक नमक की कमी इस उद्योग के मार्ग में प्रमुख बाधा है। यही कारण है कि पूरी उत्पादन शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता। १६५० में कुल उत्पादन लगभग ४४ हज़ार टन के था। शेष माँग आयात से पूरी होती है। २२ फरवरी १६५० से इस उद्योग को संरक्षण और नकद सबसिडी देना तय हुआ था। पर जुलाई १६५१ से संरक्षण की दर कम कर दी गई और सबसिडी बन्द कर दी गई है।

रासायनिक खाद—हमारे देश में अन्न उत्पादन का कितना महत्त्व है, यह सब जानते हैं। इसी से रासायनिक खाद का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है, रासायनिक खादों में एमोनियम फोसफेट, एमोनियम सलफेट, पोटेशियम क्लोराइड, पोटेशियम नाइट्रेड, सुपरफोसफेट आदि आते हैं। आज से दस वर्ष पहले भारत में रासायनिक पदार्थों का उत्पादन नहीं के बराबर था और आज भी हमारी अधिकांश माँग बाहर से ही पूरी होती है। इस क्षेत्र में पहला प्रयत्न मैसूर सरकार

ने बेलागूला नामक स्थान में फेक्टरी (उत्पादन शक्ति ७५०० टन) स्थापित करके किया था। दूसरी फेक्टरी १६४८ में ट्रावंकोर में अलवई स्थान में स्थापित हुई थी। इसकी उत्पादन शक्ति ४८५०० टन वार्षिक थी। सबसे बड़ी योजना सिन्दरी (बिहार) में ३½ लाख टन उत्पादन शक्ति की फेक्टरी स्थापित करने की बनी। यह फेक्टरी भारत सरकार द्वारा स्थापित की गई है। अक्टूबर १६५१ में इसने उत्पादन आरम्भ कर दिया। ये तीनों ही फेक्टरियाँ एमोनियम सलफेट का उत्पादन करेंगी। हमारे देश में एमोनियम सलफेट का वर्तमान उत्पादन बहुत कम है। पिछले वर्षों में प्रगति अवश्य हुई है। देश की ६ फेक्टरियों में जिनकी उत्पादन-क्षमता ७८ हज़ार टन प्रति वर्ष है, १६५० में ४८ हजार टन एमोनियम सलफेट तैयार किया गया था। एमोनियम सलफेट के अलावा हमारे देश में कुछ फैक्टरियाँ सुपरफ़ासफेट की भी हैं। सुपर फोसफेट का १६५० में ५२ हजार टन का उत्पादन हुआ था। इस समय देश में सुपरफोसफेट तैयार करने के १४ कारखाने हैं जिनकी कुल उत्पादन क्षमता १,३०,००० (१ लाख ३० हजार) टन है। यह रोक फोस्फेट से तैयार होता है। रोक फोस्फेट हमें बाहर से, खास तौर से मोरक्को से, मँगाना पड़ता है। एमोनिया खाद की हमारे देश में वार्षिक माँग ८० लाख टन है, पर उसके मुक़ाबले में हमारा वर्तमान उत्पादन लगभग १ लाख टन ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रासायनिक खादों के उत्पादन में वृद्धि करने की हमारे देश में कितनी आवश्यकता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि भारतीय किसान इनके उपयोग से परिचित हो, इनका मूल्य उसकी पहुँच के अन्दर हो और आसानी से ये खाद उस तक पहुँच सकें। प्रस्तावित पंचवर्षीय योजना में खाद के उत्पादन को बढ़ाने की ओर ध्यान दिया गया है।

हमारे रासायनिक उद्योगों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कास्टिक सोडा, सोडा एश और ब्लीचिंग पाउडर में भारत स्वावलंबी नहीं है। सलफ्यूरिक एसिड, लिक्विड क्लोरीन, बाइक्रोमेट्स, केल्शियम कार्बाइड, मेंगनीज़ क्लोराइड और फ़ोटोग्राफी में काम आने वाले तीनों रासायनिक पदार्थों में भारत स्वावलम्बी है। सलफ्यूरिक एसिड और फ़ोटोग्राफी में काम में आने वाले रासायनिक पदार्थों को छोड़कर, बाकी के सब रासायनिक पदार्थ हमारे देश में उपलब्ध कच्चे माल से ही तैयार होते हैं।

चमड़े का उद्योग—गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं के शरीर से, उसकी मृत्यु के बाद, जब खाल हटाई जाती है तो उसे कच्चा चमड़ा कहते हैं। गाय-भैंस चमड़े के लिये अंग्रेज़ी में 'हाइड' शब्द और भेड़ बकरी के चमड़े के लिये 'स्किन' शब्द का प्रयोग होता है। चमड़े के लिये ही जानवरों को मारकर

जो खाल उतारी जाती है वह बढ़िया होती है और मरे हुए जानवरों के शरीर से जो खाल उतरती है वह घटिया होती है। धार्मिक भावना के कारण भारत में गाय-भैंसों को चमड़े के लिये प्रायः मारा नहीं जाता। इसलिये इस प्रकार का चमड़ा बहुत कम होता है। भेड़-बकरी के चमड़े के बारे में यह बात लागू नहीं होती। यह चमड़ा अधिकांश में उन जानवरों का ही होता है जो मांस के लिये मारे जाते हैं। भारत में गाय का चमड़ा १ करोड़ ६५ लाख टुकड़े, भैंस का चमड़ा ५० लाख टुकड़े, बकरी का चमड़ा ३ करोड़ टुकड़े और भेड़ का चमड़ा १ करोड़ १८ लाख टुकड़े पैदा होता है। देश के विभाजन से बढ़िया चमड़े की देश में कमी आगई है। भैंस के बढ़िया चमड़े की मात्रा में यह कमी खास तौर से आई है।

जानवरों के शरीर से जो चमड़ा मिलता है वह या तो कच्चे चमड़े के रूप में विदेशों को भेज दिया जाता है या फिर वह देश में कमाया जाता है। चमड़ा कमाने के काम को ही 'टेनिंग' कहते हैं। कमाये हुए चमड़े से ही फिर चमड़े का सामान तैयार होता है। इसको 'लेदर इन्डस्ट्री' कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के ठीक पहले भैंस के चमड़े का लगभग १० प्रतिशत, गाय के चमड़े का लगभग २२.५ प्रतिशत, भेड़ के चमड़े का लगभग ६.५ प्रतिशत और बकरी के चमड़े का लगभग ८० प्रतिशत विदेशों को कच्चे चमड़े के रूप में भेज दिया जाता था, और बाकी का भारत ही में कमाया जाता था। पिछले वर्षों में निर्यात की मात्रा में और भी कमी आई है क्योंकि भारत में टेनिंग उद्योग का विस्तार हुआ है। भारत में कमाया हुआ चमड़ा भी विदेशों को भेजा जाता है।

टेनिंग या चमड़े का उद्योग—भारत में चमड़ा कमाने के उद्योग को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) गाँव का पुराने ढंग से चमड़ा कमाने का उद्योग—इन धधों मे लगे हुए लोगों की संख्या का कोई अनुमान नहीं है। पर भारत के प्रत्येक गाँव में चमारों के घर होते हैं जो इस धधे को कुटीर उद्योग के आधार पर करते हैं। ऐसा अनुमान है कि लगभग ८० से ६० लाख टुकड़े गाय-भैंस के चमड़े के और ४० लाख टुकड़े भेड़-बकरी के चमड़े के गाँवों में फैले हुए चमारों द्वारा प्रतिवर्ष कमाये जाते हैं। (२) चीनी क्रोम चमड़ा पैदा करने वाले—देश में लगभग २५० ऐसी क्रोम चमड़ा तैयार करने वाली टेनेरीज़ हैं। ये चीनी लोगों के हाथ में है और प्रधानतः वे ही इसमें काम भी करते हैं। जूते के ऊपर के भाग में लगाने वाला क्रोम चमड़ा इन टेनरीज़ में तैयार किया जाता है और लगभग २५ लाख चमड़े के टुकड़े के कमाने की इनकी शक्ति है। इन में ३००० के लगभग व्यक्ति काम करते हैं। कलकत्ता इनका

टेनिंग और चमड़े के उद्योग की प्रगति—टेनिंग और चमड़े के उद्योग की प्रगति पहले महायुद्ध के समय से विशेष रूप से हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय इन उद्योगों को और प्रोत्साहन मिला। भारत के टेनिंग उद्योग की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई टेनिग पदार्थों की, खास तौर से वाटल की छाल की, कमी की है। देश के विभाजन से कच्चे चमड़े की, खास तौर से पाकिस्तान के बढ़िया चमड़े, की भी कठिनाई होने लगी है। 'वाटल वृक्ष' की पैदावार हमारे देश में बढ़ाने की आवश्यकता है। जो कच्चा माल बाहर से ही मांगना आवश्यक है, उसके आयात की सुविधा होनी चाहिये और जो देश में पैदा किया जा सकता है उसे यहाँ पैदा करने का प्रयत्न होना चाहिये। चमड़े को बढ़िया बनाने के लिये भी कई सुधार आवश्यक हैं। टेनिंग के काम में आने वाली कई मशीनें हमारे देश में बनती हैं। पर जो ज्यादा पेचीदा मशीनें हैं उन्हें बाहर से मंगाना होता है। जूते बनाने की मशीने भी बाहर से ही आती हैं। टेकनिकल कामों के लिये लोगों को शिक्षा देने की कई राज्यों की ट्रेनिंग इंस्टीट्यूटस में सुविधा है। एक केन्द्रीय चमड़ा अनुसधान संस्था भी स्थापित होने वाली है।

पिछले वर्षों में गत महायुद्ध के समय से चमड़े के उद्योग का उत्पादन कम हुआ है। कच्चे चमड़े, टेनिंग में काम में आने वाले पदार्थ और रासायनिक पदार्थ की, और देश के विभाजन से होने वाली माँग की कमी इस कम उत्पादन के खास-खास कारण हैं। उद्योग की भावी प्रगति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि टेनेरीज़ गाँवों में जहाँ कच्चा माल पैदा होता है, स्थापित की जावें। गाँवों में रहने वाले चमारों को नए ढग के काम की शिक्षा दी जानी चाहिये। योजना आयोग इस उद्योग के विकास की योजना पर विचार कर रहा है। देश में इस उद्योग की भावी प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि कच्चे चमड़े, रासायनिक पदार्थ, रग और मशीनों के मामले में हमारी विदेशों पर निर्भरता कम हो। यूरोप और अमेरिका के मुकाबले में हमारा यह उद्योग अभी कम उन्नत है।

तेल का मिल उद्योग—भारत में तिलहन की अच्छी पैदावार होती है, यद्यपि पिछले कई वर्षों में उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई है। भारत और पाकिस्तान दोनों का तिलहन का सम्मिलित उत्पादन ७०-८० लाख टन का माना जाता था। भारत में तिलहन का कुल उत्पादन कितना होता है, इस सम्बन्ध में बहुत पक्के आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं पर अनुमान यह है कि लगभग ५० लाख टन तिलहन इस समय हमारे देश में उत्पन्न होता है। खास-खास तिलहन जो भारत में पैदा होते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—असली (लिनसीड), मूँगफली (ग्राउन्ड नट), तिल (सिसेमम-सीड), बिनौला (कौटन सीड), सरसों (मस्टर्ड), नारियल

इनके अलावा १७ मिलें स्ट्रॉ बोर्ड (स्ट्रॉ से तैयार किया जाने वाला सख्त कागज़) तैयार करती हैं। मोटे रूप से तीन प्रकार का कागज़ होता है—लुब्दी से बना साधारण कागज़ और सख्त कागज़, स्ट्रॉ से बना सख्त कागज़, और अखबार का कागज़। हमारे कागज़ के मिल उद्योग की सब प्रकार के कागज़ की वर्तमान उत्पादनक्षमता १,१५,००० (एक लाख पन्द्रह हज़ार) टन है। १९४९ में कुल उत्पादन १ लाख ३ हज़ार टन के आस-पास था और १९५० का उत्पादन इससे भी अधिक (१ लाख ८ हज़ार टन) हुआ है। हमारी आवश्यकता से कुछ कम लुब्दी हमारे देश में पैदा होती है। इसलिये कुछ लुब्दी, खास कर रासायनिक लुब्दी, बाहर से मँगानी पड़ती है। पिछले तीन साल के आँकड़ों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में प्रतिवर्ष १ लाख ७५ हज़ार टन कागज़ की खपत है। भारत बाहर से सब तरह का कागज़ मँगाता है। अखबार का कागज़ तो सब का सब ही विदेशों से आता है। १९४९-५० में कुल ६३ हज़ार टन के लगभग कागज़, जिसकी क़ीमत ५ करोड़ ३६ लाख रुपया थी, बाहर से भारत में आया। बाहर से आयात की गई कागज़ बनाने के काम में आने वाली चीज़ों की मात्रा १४ हज़ार टन के लगभग थी और उनकी क़ीमत ६४ लाख रुपये के आस-पास थी। इसी वर्ष में भारत से ५० लाख रुपये से ऊपर का नौ हज़ार टन कागज़, पेपर बोर्ड, और कागज़ के काम में आने वाली चीज़ों का निर्यात भी हुआ। कागज़ की अधिकांश मिलें पश्चिमी बङ्गाल में हैं जहाँ कुल उत्पादन का लगभग ५० प्रतिशत कागज़ तैयार होता है। देश के विभाजन का इस उद्योग पर कच्चे माल की दृष्टि से थोड़ा असर पड़ा है। जहाँ तक कागज़ की मिलों का प्रश्न है सभी मिलें भारत में ही रही हैं। सेंसस ऑव मेन्यूफेक्चरर्स (१९४६) के हिसाब से २२ हज़ार आदमी इस उद्योग में काम करते थे और ७ करोड़ रुपये की पूँजी इस उद्योग में लगी हुई थी।

भारत में कागज़ का मिल उद्योग १८६७ में आरम्भ हुआ। इसी साल हुगली नदी के किनारे वाली मिल स्थापित हुई पर यह मिल असफल रही। बाद में १८८२ में कागज़ की मशहूर टीटागढ़ मिल्स स्थापित हुई। इसी समय के आस-पास लखनऊ, पूना, रानीगंज, बम्बई आदि स्थानों में भी कुछ मिलें स्थापित हुईं। प्रथम महायुद्ध के समय तक इस उद्योग को विशेष सफलता नहीं मिली थी। विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा इसके मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई थी। जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो बाहर से कागज़ का आना कम हो गया और देश के उद्योग को इससे प्रोत्साहन मिला। १९२५ में जब बेम्बू पेपर प्रोटेक्शन एक्ट पास हुआ तो इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। बाँस की लुब्दी का

कागज़ बनाने के काम में खास तौर से उपयोग होने लगा और बाहर से कागज़ बनाने के लिये लकड़ी की लुब्दी का आयात बहुत कम हो गया। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होते ही बाहर से आने वाला काग़ज़ क़रीब क़रीब बन्द हो गया। हमारी मिलों ने अपने उत्पादन को बढ़ाया, और अपने देश की आवश्यकता को पूरी करने का उन्होंने प्रयत्न किया। कई प्रकार का नया कागज़ भी तैयार होने लगा। आज हमारे देश में विभिन्न प्रकार का कागज़ तैयार होता है, जिसमें टिश्यू, एयर मेल, बैंक, बॉड, लेजर, कारट्रीजेज़, क्रेफ्ट और बोर्डज़ का कागज़ भी शामिल है। १९४७ के अप्रैल से कागज़ उद्योग से संरक्षण हटा दिया गया है।

कागज़ के मिल-उद्योग के भविष्य के बारे में कई बातें विचारणीय हैं। सब से पहली बात कच्चे माल की है। इस समय लकड़ी की लुब्दी, घास, बाँस, चिथड़े, रद्दी कागज़, रद्दी जूट, बेगेसी और फूस कागज़ बनाने के काम में हमारी मिलों में आता है। कुछ समय भारत में पाया जाने वाला 'सवाई घास' कागज़ बनाने के लिये सबसे अधिक काम में आता था। पर अब बाँस ने उसका स्थान ले लिया है। बाँस का बना कागज़ घास के बने कागज़ से अच्छा और टिकाऊ होता है। लकड़ी की लुब्दी अभी बाहर से ही आती है। पर भारत में पाइन, स्प्रूस, और फ़र की ऐसी लकड़ी है जो इस काम में आ सकती है। रद्दी कागज़ और बेगेसी का भी अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयत्न किया जाना आवश्यक है। कागज़ की मिलों को पर्याप्त मात्रा में गन्धक और कास्टिक सोडा भी प्राप्त नहीं होता है। इस कठिनाई को दूर करने की भी आवश्यकता है। हमारे कागज़ उद्योग के सामने एक समस्या अख़बार के कागज़ तैयार करने की है। हमारे देश में इस समय लगभग ३०-४० हज़ार टन न्यूज़प्रिंट प्रति वर्ष खर्च होता है और वह सब का सब बाहर से आता है। न्यूज़प्रिंट तैयार करने की ओर अब हमारे देश में भी ध्यान गया है। मध्य प्रदेश में इस सम्बन्ध में एक योजना तैयार की गई है और उसे कार्यान्वित किया जा रहा है। न्यूज़प्रिंट के लिये सिल्वर फ़र और स्प्रूस कच्चे माल के रूप में काम आ सकता है और इनकी देश में पर्याप्त मात्रा है। पेपर मलबरी से भी न्यूज़ प्रिंट तैयार किया जा सकता है, यह फ़ोरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून में किये गये प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है। हैदराबाद की सिरपुर पेपर मिल में भी न्यूज़प्रिंट तैयार करने के लिये प्लान्ट लगाया जा रहा है जो १५ हज़ार टन न्यूज़प्रिंट प्रति वर्ष तैयार कर सकेगा।

भारत में काग़ज़ की माँग भविष्य में बढ़ने वाली है। ऐसा अनुमान है कि १९५६ तक ३ लाख टन कागज़ की (न्यूज़प्रिंट के अलावा) प्रति वर्ष हमें

आवश्यकता होने लगेगी। मौजूद मिलों में से छः में उत्पादन शक्ति बढ़ाने की योजना है। कुछ नई मिलें स्थापित की जा रही हैं। इससे ऐसी आशा है कि १९५३ के अन्त तक भारत में १ लाख ८३ हजार टन कागज़ प्रति वर्ष तैयार किया जा सकेगा। जैसा कि ऊपर लिखा गया है कागज़ और न्यूज़प्रिंट तैयार करने के लिये चार नई मिलों की स्थापना करने की योजना है। इनमें से एक ने तो काम करना प्रारम्भ कर दिया है, एक १९५२ और एक १९५३ में काम शुरू कर सकेगी, और चौथी मिल न्यूज़प्रिंट ही तैयार करेगी। योजना आयोग ने १९५६ तक २ लाख १२ हजार टन तक कागज़ के उत्पादन बढ़ाने की योजना बनाई है। इस देश में कागज़ के उद्योग की उन्नति के लिये कितनी गुंजाइश है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १ पौंड कागज़ खर्च होता है, वहाँ अमेरिका में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ३६० पौंड, कनाडा में १८५ पौंड, और यूनाइटेड किंगडम में १५४ पौंड का खर्च है। जैसे-जैसे देश में शिक्षा का प्रचार होगा कागज़ की माँग भी बढ़ेगी। इसका परिणाम कागज़ के उद्योग के लिये अच्छा आयगा। हमारे देश में कागज़ के उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है।

दियासलाई का उद्योग—दियासलाई का उद्योग कुटीर उद्योग और फैक्टरी उद्योग—दोनों ही आधार पर चलता है। कुटीर उद्योग का हिस्सा भी काफ़ी बड़ा है। जहाँ तक दियासलाई की फ़ैक्टरियों का सवाल है भारत में कुल २६ फ़ैक्टरियाँ हैं। इनमें सबसे प्रमुख फैक्टरी 'विमको' है। यह स्वीडिश फर्म है जिसकी भारत के बड़े-बड़े शहरों में शाखायें भी हैं। सेन्सस ऑफ मैन्यूफैक्चर्स के अनुसार जिसमें केवल ६४% उद्योग के आँकड़ों का समावेश है, इस उद्योग में लगभग १२ हजार आदमी काम करते थे, और २ करोड़ ११ लाख की पूँजी लगी हुई थी। इस उद्योग की वर्तमान उत्पादन-क्षमता ७ लाख केस [६० तीलियों के ५० ग्रोस बक्स एक केस में होते [illegible] प्रति वर्ष है। पर यह आँकड़े बहुत विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। इस देश में दियासलाई तैयार करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी 'विमको' [विस्टर्न इण्डिया मैच कम्पनी], जिसकी ५ फैक्टरियाँ हैं, कुल उत्पादन शक्ति के [illegible] भाग के लिये जिम्मेदार है। यह कम्पनी दियासलाई तैयार करने के काम में आने वाली कुल चीज़ें, जैसे पोटैशियम क्लोरेट और ग्ल्यू का भी उत्पादन करती है। पोटैशियम क्लोरेट का कुछ भाग दियासलाई तैयार करने वाली दूसरी फैक्टरियों को भी इस कम्पनी से मिलता है। प्रति वर्ष दियासलाई का उत्पादन ५¼ लाख केसेज़ के आस पास है और देश की आवश्यकता भी ५ लाख केसेज़ की है। इसका अर्थ यह है कि हमारी आवश्यकता के अनुसार

दियासलाइयाँ हमारे देश में ही तैयार करली जाती हैं।

हमारे देश में दियासलाई का उद्योग खास तौर से प्रथम महायुद्ध के बाद १६२२ से आरम्भ होता है। इस वर्ष दियासलाई पर जो आयात-कर लगता था उसे दुगुना कर दिया गया था और इसी कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला था। यह आयात-कर प्रति ग्रोस बक्स १ रु० ८ आ० कर दिया गया था। इसके पहले अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मैच फेक्टरी ही देश की एक मात्र सफल दियासलाई तैयार करने वाली फेक्टरी थी। १६३२ में जब दियासलाई पर आयत-कर बढ़ गया तो उससे लाभ उठाने के लिये स्वेडिश फ़र्में इस देश में स्थापित की गईं और दियासलाई के उद्योग में आज भी उनकी प्रधानता है। इसके अलावा बाहर से आने वाली स्वेडिश मेचेज़ की प्रतिस्पर्द्धा भी हमारे उद्योग के लिये एक बड़ी समस्या के रूप में पैदा हो गई। भारतीय दियासलाई-उद्योग ने सरक्षण की माँग की और १६२८ में संरक्षण स्वीकार किया गया। पर यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि संरक्षण की माँग दियासलाई के उद्योग के उस भाग ने की थी जो भारतीयों के हाथ में था और वह संरक्षण न केवल बाहर से आने वाली दियासलाइयों के खिलाफ चाहते थे बल्कि भारत में ही जो स्वेडिश फेक्टरियाँ काम कर रहीं थीं उनके विरुद्ध भी संरक्षण चाहा गया था। पर टेरिफ़ बोर्ड के सामने तत्कालीन सरकार ने समस्या के इस पक्ष को उपस्थित नहीं किया था और इसलिये जो संरक्षण मिला उसका लाभ समान रूप से भारत-स्थित सब फेक्टरियों को मिला फिर चाहे वे भारतीयों के हाथ में हों अथवा विदेशियों के हाथ में। इसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश कम्पनियों की प्रधानता इस उद्योग में बराबर बढ़ती गई। आज स्थिति यह है, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, कि १६४८ में विमको की पाँचों फ़ेक्टरियों का उत्पादन १ करोड़ ८० लाख ग्रोस मेचेज़ था जब कि बाकी के २०० दियासलाइयों के उत्पादन करने वालों का कुल उत्पादन केवल ८० लाख ग्रोस मेचेज़ के लगभग था। इसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि इस देश के दियासलाई-उद्योग पर विदेशियों का प्रभुत्व कायम है।

दियासलाई उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। ऐसी आशा है कि आगामी पाँच वर्षों में ही देश की खपत में ५ प्रतिशत वृद्धि (२५,००० केसेज़) हो सकेगी। इस उद्योग की भी दूसरे उद्योगों की तरह सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कच्चा माल उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होता। दियासलाई के योग्य लकड़ी और रासायनिक पदार्थ खास तौर से फ़ासफ़ोरस और गंधक की बड़ी

गई। हाँ, सोडा एश पर लगने वाले आयात-कर में अवश्य यह रियायत की गई कि जो सोडा एश काँच के उद्योग के काम में आएगा उस पर लगा आयात कर वापस कर दिया जायगा। यह रियायत १६५० में बन्द कर दी गई गत महायुद्ध के समय इस उद्योग को फिर प्रोत्साहन मिला क्योंकि विदेशों से माल आना बन्द या बहुत कम हो गया। १६५० में काँच के चद्दर के उद्योग को संरक्षण भी दिया गया है।

काँच के उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल में कोयला, रेत और चूना पत्थर तो भारत में मिलता है। रिफैक्टरीज़ भी हमारे देश में तैयार तो होता है पर काँच के उद्योग की दृष्टि से वह हल्के दर्जे का होता है। भारी सोडा एश भी बाहर से ही मँगाना पड़ता है और काँच-उद्योग की भारी सोडा एश पर लगने वाले आयात-कर में वापिस रियायत मिलने की माँग है। हम बारे में यह भी विचारणीय है कि काँच के कारखाने अपने प्लान्ट में ऐसा परिवर्तन करलें कि जिससे देश में तैयार होने वाला हल्का सोडा एश उनके काम में आ सके। कुछ और रासायनिक पदार्थ भी काँच उद्योग को विदेशों से मँगाने पड़ते है, जैसे बोरेक्स, आरसनिक आक्साइड, सोडियम नाइट्रेट आदि। हमारे देश में तैयार होने वाला काँच का सामान बढ़िया दर्जे का हो इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि रेत को ठीक प्रकार से तैयार किया जाय और उसे साफ़ किया जाय। सेन्ड वाशिंग प्लान्ट्स की हमारे बड़े-बड़े कारखानों में स्थापना होना चाहिये। जो छोटे कारखाने हैं उनको मिलकर यह व्यवस्था करनी चाहिये। ट्रावनकोर में जो रेत होती है वह बढ़िया होती है और उसे साफ़ करने की आवश्यकता नहीं है। सेन्ट्रल ग्लास एन्ड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता में खोज के जो साधन उपलब्ध हैं उनका कच्चे और तैयार माल को वहाँ भेज कर पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये। हमारे काँच उद्योग के सामने एक सवाल ऑटोमेटिक मशीनरी को लगाने का है। इस समय केवल तीन कारखानों में ऑटोमेटिक मशीनरी हैं। ऑटोमेटिक मशीनरी को ज्यादा समझ सोच कर लगाने की जरूरत है क्योंकि ऐसी मशीनरी से बड़े पैमाने पर तैयार माल का बाज़ार हमारे देश में सीमित है। इस मशीनरी के कुछ लाभ भी हैं जैसे कच्चे माल में किफ़ायत होती है।

देश के विभाजन से हमारे काँच के उद्योग को कोई ख़ास हानि नहीं पहुँची। कुछ तो कच्चे माल पर असर पड़ा, जैसे खेवड़ा से बम्बई के काँच के कारखाने सोडा एश मँगाते थे और पश्चिमी पजाब से पोटेशियम नाइट्रेट भी हमारे काँच के कारखानों के लिये आता था। पर यह कमी अब पूरी कर ली

गई है। पाकिस्तान में काँच के सामान के लिये बाजार भी है। इस बाज़ार पर हम आज कितना निर्भर रह सकते हैं यह कहना कठिन है। इसके अलावा जब पाकिस्तान अपना काँच उद्योग विकसित कर लेगा तब तो हमारा यह बाज़ार समाप्त ही हो जायगा। पाकिस्तान में काँच बनाने का रेत और सोडा एश जैसे कच्चे माल के होने से काँच के उद्योग का विकास होना स्वाभाविक है।

हमारे देश में काँच का सामान बाहर से भी काफी आता है। लंका और मध्यपूर्व के देशों को हमारे देश से काँच का सामान निर्यात भी होता है। इस समय हमारा निर्यात व्यापार बहुत थोड़ा है। इंगलैण्ड जैसे देशों की स्पर्द्धा इसका एक कारण है।

सीमेन्ट का उद्योग—हमारे देश में सीमेन्ट तैयार करने के २१ कारखाने हैं जो देश भर में फैले हुए हैं। एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनीज़ और डालमिया सीमेन्ट, सीमेन्ट तैयार करने वाले प्रमुख उत्पादक हैं। सीमेन्ट के उपर्युक्त २१ कारखानों की उत्पादन-क्षमता २६ लाख टन के आसपास कूती जाती है और १९४९ में वास्तविक उत्पादन २१ लाख टन हुआ था।

हमारे देश में सीमेन्ट का पहला कारखाना १९०४ में मद्रास में स्थापित हुआ था पर प्रथम महायुद्ध के समय तक इस उद्योग का हमारे देश में विकास नहीं के बराबर हुआ था। प्रथम महायुद्ध और उसके बाद की तेजी के कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला। १९२४ के आसपास सीमेन्ट के कारखानों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हुई। बाहर से आने वाले सीमेन्ट की प्रतिस्पर्द्धा भी थी ही। इसका मुकाबला करने के लिये सरकार से संरक्षण की माँग की गई पर वह नामंजूर होगई। आपसी प्रतिस्पर्द्धा के रोकने की दृष्टि से सीमेन्ट कारखानों ने मिलकर काम करने का प्रयत्न किया और सीमेन्ट के कारखानों के 'एसोसियेशन' स्थापित किये गये। इन्हीं प्रयत्नों का अन्तिम परिणाम १९३६ में 'एसोसियेटेड सीमेन्ट कंपनीज़ लिमिटेड' की स्थापना के रूप में आया। उस समय की सीमेंट की सब कंपनियाँ इस एसोसियेशन में मिल गईं। इस से देश का सीमेन्ट उद्योग सुसंगठित हो गया। बाहर के माल की प्रतिस्पर्द्धा कम हो गई, सस्ते दाम पर सीमेंट तैयार होने लगा और बिक्री भी बढ़ गई। १९३८ में इस उद्योग के सामने फिर कठिनाई उपस्थित हुई। डालमिया ग्रुप की सीमेन्ट की कम्पनियाँ क़ायम हुईं और उन्होंने 'एसोसियेटेड कंपनीज़' के साथ प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ कर दी। १९४० में डालमिया ग्रुप और एसोसियेटेड कंपनीज़ दोनों का माल एक ही केन्द्रीय संगठन के द्वारा बेचने का तय हो गया और 'सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी ऑव इण्डिया लि०' की स्थापना हुई। इसी बीच में दूसरा

महायुद्ध आरम्भ हो चुका था। कच्चे माल की क़ीमत बढ़ने से सीमेंट की क़ीमत भी बढ़ी। निर्यात और देश के अन्दर की सीमेंट की मांग भी बढ़ी और युद्ध के समय में मध्य और सुदूरपूर्व के लिये भारत से सीमेंट जाने लगा। युद्ध समाप्त होने के बाद सरकार की मांग कम हो गई पर सरकार और जनता की सम्मिलित मांग में काफ़ी वृद्धि हुई है। मार्च १६४८ से डालमिया ग्रूप और एसोसियेटेड कम्पनीज़ फिर अलग हो गये हैं। और अब वे अपना-अपना माल अलग से बेचते हैं। सीमेंट देश का एक बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण उद्योग है और उसका भावी विकास देश के लिये ज़रूरी है।

इस उद्योग के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं। कोयले और जलाने के काम में (फ्यूल) आने वाले तेल तथा गनी बेग और बाहर से आने वाले कागज़ के बेग इन तमाम चीज़ों की कीमतें बढ़ी हुई हैं और उनके मिलने में भी कठिनाई होती है। रेल का किराया भी अधिक है और माल को लाने-लेजाने की सुविधा भी पूरी नहीं मिलती। जिपसम के बारे में भी सवाल तो है, पर यह अनुमान है कि इसकी सीमेंट उद्योग को कमी नहीं रहेगी। जहाँ तक सीमेंट की मांग का सवाल है उसका क्षेत्र काफी है। सार्वजनिक निर्माण के कामों में, मकानों में सीमेंट की मांग बराबर बढ़ने ही वाली है। दूसरे देशों में, ख़ास तौर से एशिया के देशों में भी हमें अपने सीमेंट के लिये बाजार तैयार करना चाहिये। इस बात की भी आवश्यकता है कि सीमेंट के लिये आवश्यक मशीनरी और उसके विभिन्न भाग भी हमारे देश में ही तैयार किये जायँ। एक खोज करने वाली संस्था की भी आवश्यकता है। इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि टेरिफ़ बोर्ड जैसी कोई संस्था सीमेंट-उद्योग के हर पहलू की अच्छी तरह से जाँच करे। इस जाँच के आधार पर ही उपर्युक्त कठिनाइयों का ठीक-ठीक हल निकालना संभव होगा।

सीमेंट उद्योग के विकास की योजनाएँ चल रही हैं। नए कारखाने स्थापित किए जा रहे हैं और पुरानों में विस्तार का प्रयत्न चल रहा है। ऐसा अनुमान है कि १६५२ तक देश के सीमेंट-उद्योग की उत्पादन शक्ति ४० लाख टन के लगभग हो जायगी। यह आशा की जा सकती है कि हमारे सीमेंट-उद्योग की भावी प्रगति का आधार सुरक्षित और सुनिश्चित रहेगा और देश के उद्योग-धन्धों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहेगा।

अलौह (नॉन फेरस) धातु उद्योग—इस उद्योग में निम्नलिखित धातु-उद्योगों का समावेश होता है—एलूमिनियम, ताँबा, सीसा, एन्टीमोनी, जस्त, और टिन। हमारे देश में नॉन-फेरस धातु उद्योगों का विकास द्वितीय महायुद्ध के समय से ही ख़ास तौर से हुआ। उससे पहले भारत में केवल ताँबा पैदा किया

जाता था। १६२८-२६ में 'इंडियन कॉपर कोरपोरेशन लिमिटेड' ने कार्य आरम्भ किया था। प्रतिवर्ष लगभग ६ हज़ार टन तांबा युद्ध के पहले इस देश में पैदा होता था। इसके अलावा पीतल की चद्दरें और बिजली के ताँबे के तार और केबल्स का उत्पादन भी होता था। द्वितीय महायुद्ध के समय इस क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

एलूमिनियम-उद्योग—इस उद्योग की दो अवस्थायें हैं। पहली अवस्था में ज़मीन में से बोक्साइट नाम का कच्चा धातु निकाल कर उसे शुद्ध एलूमिना में बदला जाता है और एलूमिना से एलूमिनियम के इनगोट तैयार किये जाते हैं। दूसरी अवस्था में एलूमिनियम इन्गोट्स से रोलिंग मिल्स में चद्दरें, रॉड आदि वस्तुएँ तैयार की जाती हैं और फिर इन वस्तुओं से एलूमिनियम के बर्तन आदि सामान तैयार किया जाता है। हमारे देश में इस उद्योग का विकास उलटा हुआ है। सबसे पहले १६१२ में मद्रास में एलूमिनियम की चद्दरों आदि से एलूमिनियम के बर्तन बनाने का काम शुरू हुआ। १६४३ के मार्च में पहली बार हमारे देश में बाहर से आये हुये एलूमिना से एलूमिनियम इन्गोट तैयार किया गया और १६४४ में भारतीय बोक्साइट से एलूमिनियम इन्गोट तैयार किया गया। इस समय भारत में एलूमिनियम का उत्पादन करने वाली दो प्रमुख कम्पनियाँ हैं—इंडियन एलूमिनियम कम्पनी और एलूमिनियम कोरपोरेशन ऑव इंडिया। इन दोनों का सालाना उत्पादन ३५०० टन है जब कि हमारे देश की वर्तमान मांग २०००० (बीस हज़ार) टन है। मध्य-प्रदेश में सरकार के प्रबन्ध में एक और कम्पनी स्थापित की जा रही है। घरेलू और औद्योगिक उपयोग की चीज़ों को तैयार करने वाले कई छोटे छोटे कारखाने भी हमारे देश में हैं। एलूमिनियम के उद्योग के लिये हमारे देश में बहुत गुंजाइश है। हमारे देश में बोक्साइट मौजूद है। विद्युत्-शक्ति भी देश में मौजूद है और निकट भविष्य में उनकी मात्रा और बढ़ने वाली है। इसलिये एलूमिनियम उद्योग के विकास के लिए भारत में प्रायः सब सुविधायें हैं आज के युग में एलूमिनियम का सुरक्षा तथा औद्योगिक दोनों ही दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इसी वास्ते सरकार ने इस उद्योग को आधारभूत उद्योग घोषित किया है। भारत के एलूमीनियम उद्योग की एक विशेषता यह है कि जब कि यूरोप और अमेरिका में केवल ५% एलूमिनियम बर्तन बनाने के काम में आता है और ६५% दूसरे औद्योगिक उपयोग में आता है, हमारे यहाँ केवल ५% दूसरे औद्योगिक उपयोग में आता है। भारत सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण दिया है। पर इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि संरक्षण का ध्येय इन्गोट के

उत्पादन को प्रोत्साहन देना नहीं है बल्कि भारतीय-इन्गोट से तैयार माल की विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करना है। १६५० में फिर टेरिफ़ बोर्ड ने इस उद्योग के बारे में फिर जाँच आरम्भ की। यद्यपि टेरिफ़ बोर्ड ने संरक्षण की दरों में परिवर्तन नहीं करने की सिफारिश की पर सरकार ने ३०% मूल्यानुसार लगने वाले आयात-कर के अलावा जो शीट, इन्गोट और सर्किल्स पर अतिरिक्त स्पेसिफिक शुल्क लगता था वह बन्द कर दिया। १४ मई १६५२ तक मूल्यानुसार शुल्क द्वारा संरक्षण मिलेगा। नक़द सबसिडी और उसके मिलने के समय के बारे में भी सरकार ने टेरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिश में परिवर्तन करके कमी करदी। १६५२ के आरम्भ में संरक्षण के प्रश्न पर फिर विचार किया जायेगा।

अन्य नॉन-फेरस धातु उद्योग—भारत में ताँबे का वर्तमान उत्पादन ७ हज़ार टन के आसपास है। और देश की वर्तमान आवश्यकता ५१ हज़ार टन है। घटिया कच्चे ताँबे का उपयोग करने पर ताँबे का उत्पादन बढ़ सकता है।

भारत में सीसे का वर्तमान उत्पादन ६०० टन है जब कि हमारी वर्तमान वार्षिक आवश्यकता २४,३०० टन है। उदयपुर की जावर की खान में सीसा और जस्ता दोनों ही पाये जाते हैं। सीसा पिघलाने का कारखाना बिहार में कटरासगढ़ में है और उसकी उत्पादन-क्षमता ७ हज़ार टन प्रतिवर्ष है। यद्यपि सीसे का वर्तमान उत्पादन जैसा कि ऊपर बताया गया है केवल ६०० टन है परन्तु इस उत्पादन-में वृद्धि हो सकती है यदि आवश्यक पूँजी की व्यवस्था की जा सके।

भारत में अभी जस्त और टिन का उत्पादन नहीं होता है। हमारे देश में एन्टेमोनी का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध के समय आरम्भ हुआ। इस समय हमारा वार्षिक उत्पादन ३५० टन है जब कि हमारी वर्तमान माँग ६०० टन की है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नॉन-फेरस धातु उद्योग का अभी हमारे देश में बहुत कम विकास हुआ है। एलूमिनियम के अलावा नॉन-फेरस धातु उद्योग का जो विवरण ऊपर दिया गया है उसका सम्बन्ध शुद्ध धातु के उत्पादन से ही है। पर एलूमिनियम की तरह दूसरे धातुओं से भी चद्दरें आदि तैयार करने का काम हमारे देश में होता है। सन् १६३६ से इस दिशा में सबसे अधिक प्रगति भी हुई है। बम्बई में ताँबे और पीतल की चद्दरें तैयार करने वाले कई रोलिंग प्लान्ट स्थापित किये गये हैं। इसी प्रकार सीसे की चद्दरें भी कलकत्ते के आसपास तैयार की जाती हैं। ताँबे, पीतल आदि के ट्यूब, रॉड और बार भी हमारे देश में तैयार होने लगे हैं। सीसे के पाइप तथा बिजली के तार भी तैयार किये जाते हैं। विभिन्न प्रकार के अलोह धातुओं

के एलॉएज़ भी भारत में तैयार किये जाने लगें हैं। जो रद्दी [स्क्रेप] धातु होता है उसे दुबारा सुधारने का काम भी अब हमारे देश में होने लगा है। सरकार ने जून १९४८ में अलोह धातु से तैयार होने वाली उपर्युक्त वस्तुओं को संरक्षण देना स्वीकार कर लिया है।

जहाज-निर्माण उद्योग —जहाज बनाने का उद्योग देश के आधारभूत उद्योगों में है। देश के व्यापार और सुरक्षा दोनों ही की दृष्टि से इस उद्योग का बड़ा महत्त्व है। भारत में प्राचीन काल में ज़हाज बनाने का उद्योग मौजूद था। पर इस्पात के युग के आरम्भ के साथ इस उद्योग का पतन आरम्भ हुआ और आखिरकार इस उद्योग का अन्त हो गया।

आधुनिक ढंग के जहाज बनाने के लिए जहाज-निर्माण-गृह की स्थापना सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने १९४१ में विजगापट्टम (विशाखापटनम) में की। जहाज-निर्माण-गृह के निर्माण का कार्य युद्ध के कारण पूर्ण तेजी से नहीं चल सका। आख़िरकार १९४७ में कम्पनी ने दो वर्थ ८००० से १०००० टन की निर्माण-शक्ति की तैयार करलीं। तीसरी वर्थ भी प्रायः बनकर तैयार होने वाली है। इस यार्ड में बना पहला जहाज जल-ऊषा था जिसका पं० ज्वाहरलाल नेहरू द्वारा मार्च १९४८ में जल प्रवेश किया गया। उसके बाद सिंधिया कम्पनी के लिए ८००० टन के सामान ले जाने वाले चार जहाज़ और एक यात्रियों को ले जाने वाला छोटा जहाज़ विजगापट्टम यार्ड में और तैयार किये गये। जहाजों की मरम्मत भी की गई। तीन जहाज सरकार के लिए भी बनाये जा चुके हैं। विजगापट्टम यार्ड में आठ वर्थ की गुंजायश है यद्यपि इस समय तक केवल दो वर्थ तैयार की गई हैं और तीसरी तैयार होने वाली है। १५,००० टन तक के जहाज़ यहाँ तैयार किये जा सकते हैं। इस उद्योग में अबतक लगभग ४ करोड़ से अधिक रुपया सिंधिया कम्पनी का लग चुका था। इस जहाज निर्माण-गृह के भावी विकास के लिए पूँजी की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस बात की भी ज़रूरत है कि जहाज बनाने का काम बराबर मिलता रहे। सिंधिया कम्पनी अधिक रुपया लगाने की स्थिति में नहीं थी। इस यार्ड में जहाजों के तैयार करने के लिए ८-१० करोड़ की आवश्यकता और बताई जाती है। इसलिये भारत सरकार ने इस यार्ड को खरीद लिया है। अर्थात् हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० नाम की एक नई ज्वांइट स्टाक कम्पनी बनाई गई है। इस कम्पनी की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपया है। फ़िलहाल ३ करोड़ की जारी और प्राप्त पूँजी रखी गई है इसमें दो तिहाई भाग भारत सरकार का और एक तिहाई सिंधिया कम्पनी का है। १ मार्च १९५२ से इस नई कम्पनी ने विशाखापटनम यार्ड को अपने अधिकार

में ले लिया है। सरकार सिंधिया कम्पनी को अपने एसेट्स का मूल्य पाँच साल में पाँच बराबर किश्तों में चुकायगी। जो जहाज इस यार्ड में बनते हैं वे विदेशी जहाजों की अपेक्षा अधिक खर्चीले पड़ते हैं। इस यार्ड के सामने तत्काल यह समस्या है कि वह जहाज़ किसके लिये बनाये। इस समय भारत-सरकार के लिये वह तीन और जहाज़ बना रहा है। यह काम शीघ्र ही समाप्त होने की आशा है। पहला जहाज़, जलपुष्प, तो दिसंबर १६५१ में बन भी चुका है। इस यार्ड द्वारा बनाया हुआ अपने ढंग का यह आठवाँ जहाज था। पंचवर्षीय योजना में विशाखापटनम यार्ड के लिये १२ करोड़ रुपया रखा गया है। सरकार का यह प्रयत्न होगा कि आगामी पाँच वर्षों में इस रुपये का उपयोग किया जाये ताकि न केवल पुराने जहाज़ों की कमी पूरी करने के लिये पर अधिक जहाज़ बनाने के लिये भी इस यार्ड का उपयोग हो सके। ऐसी आशा रखी जा सकती है कि पाँच वर्ष के अन्त तक इस यार्ड में छः वर्थ तक तैयार हो जायें।

पेट्रोलियम-उद्योग—भारत इस समय पेट्रोलियम और पेट्रोलियम से उत्पन्न चीज़ों के लिये विदेशों पर निर्भर है। केवल डिगबोई [आसाम] में एक तेल शुद्ध करने का कारखाना है जिसका उत्पादन बहुत कम है। इस कमी को पूरा करने की दृष्टि से भारत सरकार ने तीन 'ऑइल रिफ़ायनरी' स्थापित करने का निश्चय किया है। स्टैंडर्ड वेकूम ऑइल कम्पनी (न्यूयार्क) से भारत सरकार का एक रिफ़ाइनरी स्थापित करने का समझौता हुआ है और दूसरी रिफ़ाइनरी के सम्बन्ध में बर्माशेल से समझौता हुआ है। तीसरी रिफ़ायनरी के बारे में कालटेक्स कम्पनी से समझौता हुआ है। पहली दो रिफ़ाइनरीज़ ट्रोम्बे (बम्बई) में स्थापित होंगी और तीसरी मद्रास में। लगभग ४-५ साल में काम करने लगेंगी और तीनों का कुल उत्पादन ३५ लाख टन तेल होगा जिससे भारत की ६०% आवश्यकता पूरी होगी। भारत सरकार ने उपर्युक्त कम्पनियों को २५ वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नहीं करने का आश्वासन दिया है। उसके बाद मुआवज़ा देकर राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। इसके अलावा सरकार ने उपर्युक्त कम्पनियों को कुछ रियायतें भी दी हैं।

परिच्छेद ८

व्यापार

भारत का विदेशी व्यापार—अत्यन्त प्राचीन काल में भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत और बेबीलोन में व्यापार होता था। भारत और मिस्र में भी व्यापारिक सम्बन्ध था। और भारत की कलापूर्ण चीज़ें मिस्र को जाती थीं। ईसा से २००० वर्ष पुरानी मिस्र की ममीज बढ़िया से बढ़िया भारतीय मलमल में लिपटी हुई पाई गई हैं। "रोम में भारत में तैयार माल की बहुत खपत थी। एल्डर प्लिनी भी इस बात का समर्थन करता है। उसकी यह शिकायत थी कि भारत से व्यापार करने के कारण बहुत-सा रुपया भारत को चला जाता है।" पंडित मालविया ने औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट में अपने मतभेद सूचक नोट में यह लिखा था कि ढाका की मलमल से यूनान के निवासी परिचित थे और उसे 'गंजेटिका' के नाम से वे जानते थे। बाद में चीन, फ़ारस और अरब से भी भारत का व्यापार होने लगा। उन दिनों विदेशी व्यापार क़ीमती और बढ़िया वस्तुओं में होता था—जैसे बढ़िया कपड़ा, धातु और हाथी दाँत का सामान, इत्र, रंग, मसाला आदि। भारत में बाहर से सोना और चाँदी ज्यादातर आता था। इसका अर्थ यह है कि भारत दूसरे देशों को जितने मूल्य का माल निर्यात करता था उस से कम मूल्य का माल दूसरे देशों से वह मँगाता था और इस प्रकार जो अन्तर रह जाता था वह सोना चाँदी जैसी कीमती धातु मँगाकर पूरा किया जाता था। भारत बाहर से सीसा, पीतल, टिन और कई प्रकार के शराब और घोड़े भी मँगाता था।

मुसलमानों के शासन-काल के प्रारंम्भिक वर्षों में अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का लगा। बाद में भारत के उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से विदेशी व्यापार होने लगा। एक मार्ग लाहौर से क़ाबुल का था और दूसरा मुल्तान से कंधार का। क़ाबुल भारत और पश्चिमी चीन तथा योरुप के प्रमुख माग पर स्थित था और वहाँ भारत, फ़ारस और दूसरे पड़ौसी देशों के व्यापारी आपस में मिला करते थे। कंधार भारत से फ़ारस जाने का प्रवेश द्वार था। इन दोनों ही मार्गों से काफ़ी व्यापार होता था। भारत में मुगल शासन के समय यातायात के साधनों में उन्नति तथा उदार व्यापारिक नीति होने से, और उद्योग धन्धों को राज्य का संरक्षण मिलने से देश के विदेशी

व्यापार की यथेष्ट प्रगति हुई। समुद्र तटीय व्यापार की भी इस समय अच्छी प्रगति हुई। भारत के पास अच्छा व्यापारिक समुद्रीय बेड़ा था जिसमें विदेशों से भी व्यापार होता था।

भारत का यह विदेशी व्यापार स्थल और जल-मार्ग से भूमध्य सागर के किनारे तक होता था और वहाँ से वेनिस और जेनेवा के व्यापारी भारतीय माल को योरुप के बाजारों में बेचते थे। इस व्यापार के कारण वेनिस और जेनेवा के व्यापारी माला-माल हो गये थे। इससे दूसरे देश के रहने वालों के मन में भी लालच पैदा हुआ और भारत से व्यापारिक संबंध स्थापित करने की दृष्टि से नए मार्ग की खोज में वे लग गये। इसी का नतीजा था कि पुर्तगाल के निवासियों ने कैप ऑव गुड होप होकर भारत पहुँचने का समुद्री मार्ग ढूँढ निकाला। इस मार्ग के मालूम होते ही विभिन्न योरुप के देशों के रहने वाले भारत से व्यापार करने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। पुर्तगाल, इगलैण्ड, हौलेन्ड और फ्रान्स के निवासियों में जो प्रतिद्वन्द्विता हुई वह सुविख्यात है। इस संघर्ष में आखिरकार इंगलैण्ड की विजय हुई। और भारत तथा पूर्व के दूसरे देशों के साथ व्यापार का एकाधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त हो गया। अब भारत से भारी माल में भी व्यापार होने लगा था।

ईस्ट इडिया कम्पनी की नीति आरम्भ में अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की रही। पर बाद में इंगलैंड के औद्योगिक विकास के फलस्वरूप वहाँ के पूँजीपतियों के दबाव से भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया गया, और भारत से योरुप को कच्चा माल जाने लगा और तैयार माल वहाँ से आने लगा।

स्वेज नहर का निर्माण—१८६६ में स्वेज नहर का मार्ग खुल जाने से भारत के विदेशी व्यापार में एक नये युग का- प्रारम्भ हुआ। भारत और योरुप के बीच का फासला अब लगभग ४५०० मील के कम हो गया और इस कारण से माल के लाने-ले जाने में कम समय लगने लगा। इसी समय कुछ और कारण भी ऐसे उपस्थित हो गये थे जिनसे हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला। जैसे भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने से राजनैतिक अशांति का अब अन्त हो गया, यातायात के साधनों का विकास होने लगा, बम्बई और स्वेज के बीच में समुद्री तार से संबंध स्थापित हो गया और जहाज़-निर्माण के उद्योग में बड़ी प्रगति होने से व्यापारिक जहाज़ी बेड़ों का भी इसी समय विकास हुआ। अब कम कीमत की भारी चीजें भारत से विदेश जाने लगीं। भारत अब और कारखानों के लिये कच्चा माल निर्यात करने वाला और विदेशों से कारखानों

में तैयार माल—जैसे कपड़ा मशीनरी, चाकू छुरी आदि, रेलवे का सामान और काँच का सामान मँगाने वाला देश हो गया। भारत का विदेशी व्यापार इंगलैंड और बाद में जर्मनी, अमेरिका और जापान से खास तौर से होने लगा। यद्यपि कहने के लिये भारत से व्यापार करने की सब देशों को स्वतन्त्रता थी पर वास्तव में इंगलैंड का भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभुत्व था। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड की यह प्रमुखता बनी रही।

भारतीय बाजार के लिये प्रतिस्पर्द्धा—उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में इंगलैंड को जर्मनी और फिर जापान की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। इन देशों की सरकारों को अपने व्यापारियों को भारत से व्यापार बढ़ाने के काम में पूरा-पूरा सहयोग और समर्थन था। इन देशों ने अपने-अपने जहाजों का निर्माण किया, भारत में इन्होंने अपने बैंकों की शाखायें खोलीं, और भारत के प्रमुख नगरों में व्यापारिक गृहों की इन्होंने स्थापना की। अमेरिका ने शुरू-शुरू में भारत के साथ सीधा व्यापारिक सम्बन्ध क़ायम नहीं किया और लन्दन के द्वारा वह भारत से व्यापार करता रहा। पर प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका ने भी भारत के साथ सीधा व्यापार करना शुरू किया।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने के समय तक भारत के विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हो चुकी थी। १९१४ के पहले पाँच वर्षों का औसत वार्षिक निर्यात २२४·२३ करोड़ रुपये का और आयात १५१·६७ रुपये का था। इसकी तुलना में १८९९ से १९०४ तक का औसत निर्यात १२४·९२ करोड़ रुपये का और आयात ८४·६८ करोड़ रुपये का ही था। प्रथम महायुद्ध के समय में देश के विदेशी व्यापार में कमी आना स्वाभाविक था। शत्रु राष्ट्रों के साथ व्यापार बन्द हो गया। माल लाने-ले जाने के लिये जहाज़ों की कमी से मित्र राष्ट्रों के साथ के व्यापार में भी कमी आई। तटस्थ देशों के साथ के व्यापार में भी कमी आ गई थी क्योंकि इस बात की संभावना रहती थी कि कहीं उनके द्वारा शत्रु राष्ट्रों के पास हमारा माल न पहुँच जावे। जहाज़ों के किराये में वृद्धि होने से भी विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल असर पड़ा। युद्ध के आखिरी सालों में मित्र राष्ट्रों में युद्ध-सामग्री के लिये भारत के माल की मांग बढ़ी और इससे भारत के निर्यात में वृद्धि हुई। भारत के आयात व्यापार में जापान और अमेरिका ने इस समय अपना अच्छा स्थान जमा लिया। जर्मनी से व्यापार बन्द था। ब्रिटिश मिलें युद्ध-सामग्री तैयार करने में लगी हुई थीं। भारत स्वयं औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। इसलिये जापान और अमेरिका के लिये यह एक अच्छा मौक़ा आ गया और उन्होंने इसका लाभ भी उठाया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के समय से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने तक भारत के विदेशी व्यापार में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आये। युद्ध के तुरन्त बाद भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध कालीन प्रतिबन्ध हट गये। किराया कम हो गया और युद्ध के समय में जिन राष्ट्रों से व्यापार बन्द हो गया था वह फिर से चालू हो गया। पर यह स्थिति शीघ्र समाप्त हो गई। देश का निर्यात व्यापार कई कारणों से घटने लगा। यूरोपीय देश क्रय शक्ति के अभाव में भारतीय माल विशेष मात्रा में नहीं खरीद सकते थे। ब्रिटेन, अमेरिका और जापान में भी पहले ही से इतना भारतीय माल खरीद लिया गया था कि अब उनके पास भी माल खरीदने की अधिक गुंजायश नहीं थी। भारत में लगातार (१९१८-२१) वर्षा की कमी होने से अनाज की कमी हो गई थी और अनाज के भाव बढ़ गये थे। इसलिये अनाज का निर्यात रोकना पड़ा था। जापान भी आर्थिक सकट में फँस जाने के कारण अधिक माल नहीं मँगा सकता था। भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ा देने से भी निर्यात पर बुरा असर पड़ा था। इधर आयात में वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण जो आयात रुका हुआ था वह अब होने लगा। रुपये का विदेशी विनिमय बढ़ जाने से भी आयात को प्रोत्साहन मिला। नतीजा यह हुआ कि व्यापार संतुलन भारत के प्रतिकूल हो गया। १९२०-२१ में भारत का निर्यात से आयात ७९.८ करोड़ रुपये का अधिक था। पर धीरे-धीरे यह स्थिति बदली और निर्यात-आयात अपनी सामान्य स्थिति में पहुँच गये। यूरोपीय मुद्राओं में अब स्थिरता आ गई थी और यूरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो गया था। १९२९ तक स्थिति संतोषजनक रही।

पर १९२९ में विश्वव्यापी मंदी आरम्भ हो गई। विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी आर्थिक सुरक्षा करने की दृष्टि से विदेशी व्यापार पर अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर दिये। दुनियाँ के विदेशी व्यापार की मात्रा घटने लगी। भारत कृषि प्रधान देश था और कृषि पदार्थों का मूल्य अधिक गिरा था, इसलिये भारत के विदेशी व्यापार को खास तौर से अधिक हानि हुई। निर्यात की मात्रा बहुत कम हो गई यहाँ तक कि १९३२-३३ में केवल १३६ करोड़ रुपये का माल भारत से निर्यात हुआ। आयात में भी कमी आई, पर निर्यात के मुकाबले में कम। विश्व-मंदी का असर १९३२ तक रहा। १९३३ से स्थिति में सुधार आने लगा और १९३६ तक स्थिति सामान्य अवस्था में पहुँच गई। पर आयात पर प्रतिबन्ध लगे रहे और इसलिये भारत के विदेशी व्यापार में

उतना सुधार नहीं हुआ जितना अन्यथा होना संभव था। १६३७ में फिर थोड़ा धक्का लगा और हमारा निर्यात व्यापार बहुत गिर गया पर १६३६ में महायुद्ध की तैयारियाँ शुरू होने लग गई थीं और दुनिया की आर्थिक स्थिति में तेज़ी आने लगी थी।

दोनों महायुद्ध के बीच के समय में भारत के विदेशी व्यापार में कुछ और परिवर्तन भी हुए। जहाँ तक निर्यात व्यापार का सम्बन्ध है कच्चे माल की मात्रा में थोड़ी कमी हुई और तैयार माल की मात्रा में थोड़ी वृद्धि हुई पर यह कमी और वृद्धि कोई उल्लेखनीय नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार खाद्य और पेय पदार्थ तथा तम्बाकू के निर्यात की मात्रा में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। निर्यात व्यापार का मोटा बटवारा यह था कि ५०% से कुछ कम हिस्सा कच्चे माल का था और बाकी के हिस्से में तैयार माल और खाद्य पदार्थ आदि का बराबर का अनुपात था। आयात के बारे में स्थिति यह थी कि यदि हम पंच-वर्षीय औसत के आधार पर देखें तो खाद्य आदि का अनुपात लगभग १४% के आसपास स्थिर रहा, कच्चे माल के अनुपात में ७% से २०% तक वृद्धि हुई और तैयार माल का अनुपात ७७% से कम होकर ६४% तक पहुँच गया। आयात व्यापार को यदि हम उपभोग के पदार्थ, कच्चे माल, और उत्पादन पदार्थ इन तीन श्रेणियों में बाँटे तो हम देखेंगे कि उपभोग के पदार्थों का आयात ५४% (१६२५-२६) से ३३% (१६३८-३६) रह गया। कच्चे माल का वह भाग जो प्रधानतया कच्ची शक्ल में होता है ४% से बढ़कर १०% हो गया और वह भाग जो किसी हद तक तैयार कर लिया जाता है (प्रोसेस्ड) ११.५% से बढ़कर १८% हो गया और उत्पादन पदार्थ (केपिटल गुड्ज़) का अनुपात २३% से बढ़कर २६% हो गया और यह पता चलता है कि भारत में उद्योगीकरण की दशा में थोड़ी प्रगति हुई, पर वह बहुत ही नगण्य थी।

जिन देशों से भारत का विदेशी व्यापार था उनके बारे में विचार करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि निर्यात का अधिकाधिक भाग कामनवेल्थ के देशों को जाता रहा और दूसरे देशों जैसे जर्मनी, फ्रांस, इटली, अमरीका और जापान का हिस्सा हमारे निर्यात व्यापार में बराबर कम होता गया। १६२०-२५ में कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा ३६.२% था, वह १६३५-४० में ५०.४% हो गया। दूसरे देशों का हिस्सा १६२०-२५ में ६०.८% था वह १६३५-४० में घटकर ४६.६% हो गया, १६३२ में कामनवेल्थ के देशों के साथ ओटावा के समझौते के अनुसार जो रियायतें की गई थीं उसका असर भी हमारे निर्यात व्यापार में इन देशों की प्रधानता बढ़ाने का हुआ। कामनवेल्थ

के देशों में सबसे अधिक माल हमारे देश से इङ्गलैंड को जाता था। आयात की स्थिति इससे भिन्न रही। कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा १९२०-२५ में ६५.४% था, वह १९३५-४० में ५३.८% रह गया और दूसरे देशों का हिस्सा इन वर्षों में ३४.६% से बढ़कर ४६.२% हो गया। १९३१-३२ में तो कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा ही रह गया था। दूसरे देशों में जापान, जर्मनी और अमेरिका के हिस्सों में बराबर वृद्धि हुई। यद्यपि इम्पीरियल प्रीफेरेंस के कारण कामनवेल्थ के देशों के आपसी व्यापार को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था, पर हमारे आयात सम्बन्धी बदली हुई आवश्यकताएँ ऐसी थीं जिनकी पूर्ति इङ्गलैंड अपेक्षाकृत कम कर सकता था। अब हमारी कच्चे माल और उत्पादन पदार्थों की माँग बढ़ती जा रही थी। इंगलैंड भारत को पहले की अपेक्षा अब कम मात्रा में पूँजी भेजने लगा था और द्विपक्षीय व्यापार का प्रचार हो रहा था, इसका असर भी यही हुआ कि हमारे आयात व्यापार में कामनवेल्थ के देशों का भाग कम होने लगा।

भारत के विदेशी व्यापार का जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक हमारे विदेशी व्यापार के वही लक्षण थे जो कृषि-प्रधान और औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश के विदेशी व्यापार के होते हैं। हमारे निर्यात व्यापार में कुछ चीज़ों की प्रधानता थी जैसे कपास, जूट का तैयार माल, अनाज, दाल और आटा, कच्चा जूट, कच्चा चमड़ा और तैयार चमड़ा, चाय, बीज, धातु और कच्चा धातु और सूती कपड़ा। आयात में मशीनरी और उपभोग में आने वाली चीज़ों की प्रधानता थी। हमारा निर्यात व्यापार मुख्यतः कुछ देशों तक ही सीमित था। ब्याज की शक्ल में हमें विदेशों को बहुत रुपया हर साल चुकाना पड़ता था। प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत थोड़ी थी और दुनिया के निर्यात व्यापार में जो हमारा हिस्सा १९२८ में ३.७% था वह १९३८ में २.९% ही रह गया था। साधारणतया व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में ही रहता था यद्यपि इसकी मात्रा बराबर कम होती जा रही थी। १९२०-२१ से १९२४-२५ में हमारा निर्यात ३०० करोड़ रुपये के और आयात २६१ करोड़ रुपये के लगभग था। पर १९३५-३६ से १९३९-४० में निर्यात केवल १८० करोड़ रुपये और आयात १५० करोड़ रुपये के लगभग ही रह गया। विश्वव्यापी मन्दी के कारण जब हमारे माल का निर्यात कम होने लगा तो उसकी पूर्ति हमने सोना निर्यात करके की। सन् १९३१ से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने तक हमारे यहाँ से सोना बाहर जाता रहा। इन वर्षों में भारत से ३६२ करोड़ रुपये का सोना बाहर गया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—१९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो उसका हमारे विदेशी व्यापार पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण कीमतें बढ़ने लगीं और भारत के कच्चे माल की विदेशों में माँग भी बढ़ने लगी, हालाँकि इसी के साथ शत्रु राष्ट्रों के साथ हमारा व्यापार बन्द हो गया और निर्यात और आयात पर राज्य का नियंत्रण स्थापित हो गया। कई देशों में वहाँ युद्ध होते रहने के कारण हमारे माल का बिकना बन्द हो गया जैसे नार्वे, हालैंड, डेनमार्क, बेल्जियम, फ्रांस, और बर्मा, हिन्दचीन, मलाया तथा सुदूर पूर्व के अन्य देश पर मध्य पूर्व के देशों से हमारा व्यापार बढ़ भी गया और मित्र राष्ट्रों में भी हमारे माल की माँग बढ़ गई जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। माल लाने लेजाने के लिए जहाज़ों की कठिनाई, बढ़ा हुआ जहाजों का किराया और बढ़े हुए इन्श्योरेंस के चार्जेज़ के कारण भी विदेशी व्यापार के मार्ग में कठिनाई उपस्थित हुई। लड़ाई के समय में इंगलैंड और अमेरिका लड़ाई का सामान तैयार करने में लगे हुए थे। इसलिए भारत को इन देशों से तैयार माल मँगाने में भी कठिनाई होने लगी। इन तमाम परिस्थितियों का नतीजा विदेशी व्यापार की मात्रा कम करने का हुआ। किन्तु जहाँ तक कि मूल्य का सवाल है, चीजों की कीमतें बढ़ जाने से आयात और निर्यात दोनों में ही युद्ध के पहले वर्षों की अपेक्षा युद्ध काल में वृद्धि ही हुई। यह वृद्धि आयात में कम हुई थी और निर्यात में अधिक हुई थी। केवल माल का ही हम विचार करें तो युद्ध के समय में हमारे निर्यात का अधिक से अधिक मूल्य १९४५-४६ में २६६ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था और कम से कम १९४२-४३ में १९५ करोड़ रुपये तक रह गया था। आयात के आँकड़े बतलाते हैं कि १९४२-४३ में केवल ११६ करोड़ रुपये का माल हमारे देश में और १९४५-४६ में अधिक से अधिक अर्थात् २९२ करोड़ रुपये का माल बाहर से आया। इससे युद्ध कालीन विदेशी व्यापार के बारे में एक तो यह बात सिद्ध होती है कि आयात और निर्यात पर सरकारी नियंत्रण की कड़ाई अथवा ढिलाई का सीधा असर पड़ता था। जब नियंत्रण कम होता था तो विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ जाती थी, अगर नियंत्रण अधिक हो जाता था तो मात्रा कम हो जाती थी। दूसरी बात यह है कि विदेशी व्यापार का संतुलन १९४३-४४ तक बराबर हमारे पक्ष में बढ़ता गया। १९४०-४१ में आयात से निर्यात लगभग ५४ करोड़ रुपये का अधिक था। १९४२-१९४३ में व्यापारिक संतुलन ८८ करोड़ रुपये तक हमारे पक्ष में पहुँच गया था। इसी वजह से स्टरलिंग पावना हमारे पास बहुत जमा हो गया। हमारे पास स्टरलिंग पावना जमा होने के दो कारण और भी थे। मित्र राष्ट्रों की फौजें भारत में जो माल खरीदती थीं उसके बदले में हमें

स्टरलिंग पावना मिलता था। इंगलैंड की सरकार से भारत को युद्ध का जो खर्च वापस मिला वह भी स्टरलिंग पावने की शक्ल में ही मिला। इस स्टरलिंग पावने का उपयोग देश में विदेशियों ने जो पूँजी लगा रखी थी उसे चुकाने में भी किया गया। इस प्रकार ३२ करोड़ पौंड की विदेशी पूँजी ४२५ करोड़ रुपया खर्च करके वापस की गई। युद्धकाल में जिन चीजों में विदेशी व्यापार होता था उनमें भी अन्तर आया। हमारे देश का तैयार कपड़ा काफी मात्रा में विदेशों को खास तौर से मध्य पूर्व और अफ्रीका के देशों को भेजा जाने लगा। युद्ध के पहले केवल ६ करोड़ रुपये का कपड़ा बाहर जाता था। १९४२-४३ में ४६ करोड़ रुपये का कपड़ा बाहर भेजा गया। चाय का निर्यात भी बढ़ा। इसके मुक़ाबले में मूँगफली का निर्यात घटा क्योंकि अब हमारे देश में ही तेल उद्योग का विकास होने लगा था। सारांश यह है कि युद्ध काल में भारत से तैयार माल बाहर अधिक जाने लगा और आयात में कच्चे माल का अनुपात बढ़ा और तैयार माल का अनुपात घटा। यह देश की औद्योगिक प्रगति का लक्षण था, हालाँकि युद्ध-काल भारत ने औद्योगिक दृष्टि से उतनी प्रगति नहीं की थी जितनी कि करनी चाहिये थी और दूसरे देशों ने की थी। १९३५-४० के निर्यात के पंच वर्षीय औसत के आंकड़ों के अनुसार खाद्य-पेय पदार्थ और तम्बाकू कुल निर्यात का २१·८%, कच्चा माल ४६·७% और तैयार माल ३०% था। यही आंकड़े १९४०-४५ में क्रमशः २३·८%, २५·४% और ४९·३% हो गये। अर्थात् तैयार माल का निर्यात बढ़ा और कच्चे माल का निर्यात घटा। कपास और पटसन का तैयार माल बाहर अधिक जाने लगा और तिलहन, कच्चा कपास और जूट का निर्यात कम हो गया। आयात के आंकड़ों से मालूम पड़ता है कि उस समय के ब्रिटिश भारत में समुद्री मार्ग द्वारा १९४०-४१ में ४२ करोड़ रुपये का कच्चा माल बाहर से आया।

जहाँ तक विदेशी व्यापार की दिशा का प्रश्न है युद्ध काल में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के साथ हमारा निर्यात व्यापार बढ़ा। आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिस्र, इराक और दूसरे मध्यपूर्व के देशों के साथ हमारा व्यापारिक संबंध पहले से अधिक हो गया। १९३९-४० में समाप्त होने वाले पांच वर्षों में कामनवेल्थ के राज्यों और दूसरे देशों का हमारे निर्यात व्यापार में लगभग बराबर का हिस्सा था। पर १९४०-४५ के पांच वर्षों में कामनवेल्थ के देशों का हिस्सा ६४% से कुछ अधिक होगया और दूसरे देशों का हिस्सा ३६% से भी कम रह गया। जहाँ तक आयात का सवाल है कामनवेल्थ के राज्यों का हिस्सा १९३५-४० में ५३·८% से १९४०-४५ में ५१·५% हो गया और दूसरे देशों का हिस्सा

४६.२%से बढ़कर ४८.५% हो गया। अमेरिका के साथ हमारा व्यापार काफी बढ़ गया।

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद हमारे विदेशी व्यापार की क्या स्थिति रही है, अब हम इस पर विचार करेंगे। विदेशी व्यापार पर सरकार का नियंत्रण युद्ध के बाद से आज तक क़ायम है। पर उनकी नियंत्रण-नीति में समय-समय पर परिवर्तन होता है। विदेशी व्यापार के संतुलन को देश के पक्ष में रखने और मुद्रास्फूर्ति को रोकने की दृष्टि से सरकार इन परिवर्तनों को करने का प्रयत्न करती रही है। इस सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य बात यह थी कि व्यापारिक संतुलन हमारे पक्ष से विपक्ष में हो गया। बाहर से बड़े पैमाने पर हमें अनाज मँगाना पड़ा। एंजिन भी बाहर से मँगाये गये। १९४८ में सुलभ मुद्रा के देशों से आयात के बारे में भारत सरकार की नीति अधिक उदार हो गई। देश के विभाजन के कारण कपास और जूट जैसे कच्चे माल को हमें अब बाहर से मँगाना पड़ने लगा। हमारा इन चीज़ों का निर्यात कम हो गया। देश के अन्दर चीज़ों की कीमत बढ़ती जा रही थी। इसका असर भी हमारे निर्यात व्यापार पर बुरा पड़ा। इंगलैंड से कुछ सेना का बचा हुआ सामान जो भारत में था वह हमने खरीदा और पेंशन आदि का रुपया भी अंग्रेज़ों को हमें चुकाना पड़ा। पाकिस्तान को भी उसके हिस्से का पौंड पावना चुकाया गया। इन सब कारणों से १९४५ से ही माल संबंधी विदेशी व्यापार का संतुलन बराबर हमारे विपक्ष में होता गया। १९४४-४५ में २.९६ करोड़ और १९४५-४६ में २५.७१ करोड़ का माल हमने अधिक आयात किया। १९४६ में ५१.२ करोड़ रुपये, १९४७ में ८१ करोड़ रुपये और १९४८ में १०२.७ करोड़ रुपये का माल हमने निर्यात की अपेक्षा अधिक आयात किया। डालर प्रदेश के बारे में हमारी स्थिति ख़ास तौर से बिगड़ गई। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १९४६ में गैर सरकारी आधार पर किये गये व्यापार का दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से सम्बंध रखनेवाला संतुलन ४६.३ करोड़ रुपये से हमारे पक्ष में था पर १९४७ में २५.२ करोड़ रुपये यह संतुलन हमारे विपक्ष में चला गया। अर्थात् १९४७ में १९४६ की अपेक्षा लगभग ७१ करोड़ रुपये का अधिक माल हमने दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से मँगाया। १९४६ और १९४७ में विपक्षीय व्यापारिक संतुलन के कारण हमारे सामने कोई गंभीर परिस्थिति पैदा नहीं हुई क्योंकि हमारे स्टर्लिंग पावने को दूसरे देशों की मुद्रा में बदलने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होने से उसका उपयोग हम इस विपक्षीय व्यापारिक संतुलन को ठीक करने में कर सकते थे। पर १९४८ के आरम्भ में ही स्टरलिंग प्रदेश के केन्द्रीय कोष में कमी आ जाने के कारण यह

प्रतिबन्ध लग गया। १९४९ के मई महीने तक हमारी स्थिति और भी बिगड़ गई। विदेशी व्यापार सम्बन्धी इस बिगड़ती हुई स्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान गया। उसने १९४९ में आयात के बारे में जो जुलाई १९४८ में उदार नीति स्वीकार की थी उसे रद्द करके अब कड़ी नीति बरतने का निर्णय किया। मई १९४९ में ४०० चीज़ों के ओपन जनरल लाइसेंस की बजाय थोड़ी चीज़ों को ओपन जनरल लाइसेंस की श्रेणी में मंजूर किया गया। जून १९४९ में दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात की स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। जुलाई १९४९ में लन्दन में कामनवेल्थ के वित्तमन्त्रियों का सम्मेलन हुआ। उसमें दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से १९४८ के मुकाबले में २५ प्रतिशत आयात में कमी करने का निश्चय किया गया और भारत ने भी इस निश्चय को मंजूर किया। भारत-इंगलैंड के बीच के आर्थिक समझौते (फ़ाइनेन्शियल एग्रीमेंट) पर जब अगस्त १९४९ में विचार किया गया तब फिर आयात पर और अधिक नियन्त्रण करने का निश्चय किया गया। एक तरफ़ तो आयात को कम करने के ये प्रयत्न किये गये, दूसरी ओर निर्यात को बढ़ाने का भी सरकार ने प्रयत्न किया। १९४९ की जुलाई में 'एक्सपोर्ट प्रोमोशन कमेटी' की नियुक्ति की गई जिसने देश के निर्यात बढ़ाने सम्बन्धी कई सिफारिशें कीं। जो कर निर्यात को रोकने वाले थे उनको हटाने, निर्यात के माल सम्बन्धी अत्यधिक सट्टे पर नियन्त्रण करने, और निर्यात होने वाले माल का देश में उत्पादन बढ़ाने की इस कमेटी ने सिफ़ारिश की। सरकार ने कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न भी किया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप आयात पर रोक लग गई और निर्यात में थोड़ा सुधार हुआ। जैसा कि हमें मालूम है सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन हो गया। उसके परिणामस्वरूप आयात में कमी और निर्यात में वृद्धि की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। पर इस सबके बावजूद भी १९४९ में विदेशी व्यापार का सतुलन २०२·५ करोड़ रुपये से हमारे विपक्ष में ही रहा। पर इसके बाद स्थिति में सुधार आने लगा और १९५० में कई वर्षों के बाद पहली बार विदेशी व्यापार का सतुलन ३०·५ करोड़ रुपये से हमारे पक्ष में रहा। *मार्च १९५१ तक यह प्रवृत्ति जारी रही। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन मार्च १९५२)। इस सुधरती हुई स्थिति के मुख्य कारण रुपये का अवमूल्यन, निर्यात के प्रति प्रोत्साहन की नीति और निर्यात की वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमत, और कोरिया के युद्ध के कारण उत्पन्न हमारे माल की युद्ध की तैयारी की दृष्टि से बढ़ती हुई माँग थी। अप्रैल १९५१ से ही आयात की अपेक्षा निर्यात कम

---

* करेन्सी-फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९५०-५१ स्टेटमेंट ७५

होने की प्रवृत्ति रही है, केवल मई में निर्यात की मात्रा अधिक थी। इसका परिणाम यह हुआ कि १६५१ में हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन देश के विरुद्ध में रहा। १६५२ के मार्च तक भी यही प्रवृत्ति जारी है। युद्ध के बाद हमारे विदेशी व्यापार के संतुलन की जो स्थिति रही है उसका अनुमान माल के विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीचे की तालिका से अच्छी तरह लगाया जा सकता है :—

[करोड़ रुपयों में]

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	व्यापार का संतुलन
* १६४६	३१६·३८	२०५·७१	६१२·०६	—२०.६७
* १६४७	४४२·३२	४२६·७८	८६६·१०	—१५·५४
** १६४८	४२६·६	४६३·५	६२०·४	—६६·६
*** १६४६	४२५·८	६२८·३	१०५४·१	—२०२·५
*** १६५०	५४०·०	५०६·५	१०४६·५	+ ३०·५
१६५१	८४६·६७	७६३·११	१६१३·०८	—८६·८६

* करेन्सी फाइनेन्स रिपोर्ट १६४७-४८ स्टेटमेंट नं० ३

** ,, ,, १६४६-५० ,, नं० ६४

***

*** ,, ,, १६५०-५१ ,, नं० ७५

१६५१ के आंकड़े कॉमर्स २३ फरवरी १६५२ में पृष्ठ ३३३ पर प्रकाशित हुए हैं।

उक्त तालिका से यह भी साफ हो जाता है कि युद्ध के बाद हमारे विदेशी व्यापार का मूल्य बराबर बढ़ा है। १६४६ में कुल आयात और निर्यात ६१२ करोड़ रुपये का था वह १६५१ में १६१३ करोड़ रुपये के पास पहुँच गया।

विदेशी व्यापार के बारे में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि हमारे निर्यात व्यापार में तैयार माल का स्थान बढ़ता जा रहा है। और आयात व्यापार में अन्न और कच्चे माल का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। देश के विभाजन से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। आज भारत को कपास तथा जूट विदेशों से, खास कर पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है। इनकी पुष्टि इस बात से होती है कि आयात में कच्चा माल का हिस्सा १६४८-४६ में २३·८%, १६४६-५० में २५·७% और १६५०-५१ में ३६·७% रहा है। असल निर्यात में १६४८-४६ में तैयार माल २२६·०६ करोड़ का था वह १६४६-५० में २४६·६१ करोड़ और १६५०-५१ में ३०७·५५ करोड़ रुपये का हो गया। कुल असल निर्यात के अनुपात को अगर हम लें तो अनुपात १६४८-४६ में ५५%, १६४६-५० में ५२%, और

१९५०-५१ में ५६% आता है। (कॉमर्स ७ जुलाई १९५१ से)

हमारे विदेशी व्यापार में युद्ध के बाद के वर्षों में जहाँ तक आयात का ताल्लुक है कामनवेल्थ राष्ट्रों का और इंगलैंड का भी आनुशातिक भाग कम हुआ है। कामनवेल्थ के बाहर के देशों में खास तौर से अमेरिका का महत्त्व बढ़ा है। इसी प्रकार निर्यात के सम्बन्ध में भी कामनवेल्थ का महत्त्व घट रहा है। पर यदि हम पाकिस्तान के साथ स्थल मार्ग से होने वाले व्यापार का भी विचार करें तो कामनवेल्थ की स्थिति में थोड़ा सुधार हो जाता है। १९३८ में ब्रिटिश कामनवेल्थ से हम अपने कुल आयात का ५७'३% और केवल इंगलैंड से ३१'७% माल मँगाते थे। १९४५ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ३७'६% और केवल इङ्गलैंड का २१.२% था। १९४६ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ५६.६% और इङ्गलैंड का ३८.४% हो गया। उसके बाद १९४७ में ब्रिटिश कामनवेल्थ का भाग ४६.१% और केवल इङ्गलैंड का ३०% रह गया। १९४८-४९ में यूनाइटेड किंगडम से १५२.६६ करोड़, १९४९-५० में १४६.४१ करोड़ और १९५०-५१ में १२२.७४ करोड़ रुपये का माल भारत में आया। दूसरे देशों में अमेरिका का हिस्सा १९३८ में ७.४% था वह १९४५ में बढ़कर २६.६%, १९४६ में १७.७% और १९४७ में २८'८% हो गया। १९४८-४९ में १०८.७४ करोड़, १९४९-५० में ८७.६१ करोड़ और १९५०-५१ में ११५.८१ करोड़ रुपये का माल अमेरिका से भारत में आया। इसी प्रकार निर्यात व्यापार में ब्रिटिश कामनवेल्थ का हिस्सा १९३८ में ५२.७%, १९४५ में ५६.७%, १९४६ में ५०.८% और १९४७ में ५१.३% था और इङ्गलैंड का हिस्सा क्रमशः ३४.१%, २६.३%, २५.२% और २७.५% था। देश के निर्यात व्यापार में अमेरिका का हिस्सा १९३८ में ८.३%, १९४५ में २३'२%, १९४६ में २५.२% और १९४७ में १६.२% था [करेंसी–फाइनेंस रिपोर्ट १९४७-४८ टेबिल १४]। यदि करेंसी प्रदेशों के आधार पर संकलित आँकड़ों को लें तो हम देखेंगे कि पाकिस्तान के अलावा स्टरलिंग प्रदेश का हिस्सा हमारे आयात में १९३८-३९ में ५८% था वह १९४७-४८ में ४२% और १९४८-४९ में ४४% था। इसी प्रकार निर्यात में १९३८-३९ में ५३%, १९४७-४८ में ४८% और १९४८-४९ में ४२% था [करेंसी और फाइनेंस रिपोर्ट १९४८-४९ टेबिल १८]। १९४९-५० के व्यापार के संतुलन संबधी आँकड़ों को जिनमें पाकिस्तान के आंकड़े भी शामिल हैं, देखने से मालूम होता है कि स्टरलिंग प्रदेश का हमारे कुल आयात में ५३.६% भाग था। जहाँ तक निर्यात का सम्बन्ध है १९४९-५० में कुल निर्यात का ५०% भाग स्टरलिंग प्रदेश का

था। [स्टेटमेंट ६४ करेंसी-फाइनेन्स रिपोर्ट १९४९-५० में दिये आँकड़ों पर से तैयार आँकड़े] १९५०-५१ में कुल आयात में कामनवेल्थ का भाग केवल ४३% के लगभग और विदेशी राष्ट्रों का ५७% के लगभग था। इसी प्रकार निर्यात में कामनवेल्थ का भाग ५०% से कम और दूसरे विदेशी देशों का ५०% से अधिक था। [रिजर्व बैंक बुलेटिन मार्च, १९५२ स्टेटमेंट ३०]।

विदेशी व्यापार की आज की स्थिति—भारत के विदेशी व्यापार का जो ऐतिहासिक विवेचन ऊपर किया गया है, इससे यह स्पष्ट है कि देश की आर्थिक स्थिति में जैसे जैसे परिवर्तन आया उसका प्रभाव हमारे विदेशी व्यापार पर भी पड़ा। जब देश में औद्योगीकरण की ओर कदम बढ़ने लगा तो हमारे निर्यात में तैयार माल का और आयात में कच्चे माल का महत्त्व बढ़ गया। देश के विभाजन के कारण हम कपास, पटसन और अन्न के निर्यात करने वाले न रहकर आयात करने वाले बन गये। देश के औद्योगीकरण और द्वितीय महायुद्ध के समय उत्पन्न परिस्थितियों का यह नतीजा आया कि हमारे देश के तैयार माल की खपत मध्य-पूर्व के देशों में बढ़ने लगी और अपने निर्यात के लिए, केवल कुछ देशों पर अब हम पहले की तरह से निर्भर नहीं रहे। कामनवेल्थ के अलावा दूसरे देशों से हमारा व्यापार बढ़ने लगा। आज कामनवेल्थ और दूसरे देशों का महत्त्व बराबर सा हो गया है जबकि पहले कामनवेल्थ के देशों की प्रधानता थी। हमारे विदेशी व्यापार के मूल्य में भी बराबर वृद्धि होती गई है। हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हमारे विपक्ष में चला गया था। वह १९५० में हमारे पक्ष में हुआ। पर १९५१ में फिर हमारे विपक्ष में हो गया। इस समय हमारे सामने हमारे निर्यात को बढ़ाने की गंभीर समस्या उपस्थित हो गई है। हमारे निर्यात की चीज़ों का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में गिर गया है। तैयार जूट और कपड़े की माँग घट गई है। अमरीका ने हमारे माल खरीदने में बहुत कमी कर दी है। इससे हमारे डालर की स्थिति बहुत बिगड़ गई है और स्टर्लिंग बैलेंस कम हो रहे हैं। विदेशी व्यापार के सतुलन को ठीक रखने के लिये हमें आयात के मामले में भी कड़ाई रखनी होगी। हमारे विदेशी व्यापार की आज की स्थिति की ये कुछ विशेषतायें हैं। हमारे देश से दूसरे देशों को जाने वाले मुख्य पदार्थों के नाम इस प्रकार हैं:—सूती वस्त्र, कच्चा जूट, जूट का तैयार माल, चाय, मूँगफली का तेल, कमाया हुआ चमड़ा, मसाला—मुख्यतः कालीमिर्च, कच्चा कपास, कच्चा ऊन, सूत, अबरक, तैयार कोयर, लाख तथा मैंगनीज़। इसी प्रकार दूसरे देशों से आने वाले मुख्य-मुख्य पदार्थों के नाम ये हैं:—कच्चा कपास, गेहूँ, चावल, नक़ली रेशम का यार्न, कागज़, जलाने का तेल, केरोसिन, दवाइयाँ, रासायनिक

पदार्थ, पैट्रोल, इलेक्ट्रिक मशीनरी और अन्य मशीनरी। देश का निर्यात व्यापार मुख्यतः अमेरिका, युनाइटेड किंगडम, आस्ट्रेलिया, लंका, इटली, चीन, ईरान बर्मा, फ्रांस और कनाडा के साथ होता है। अमेरिका हमारे जूट के माल का; आस्ट्रेलिया, लंका, सुडान, मलाया स्टेट्स, बर्मा, अरब, कीनया, जंजीबार, स्ट्रेट्स सेटलमेंट्स हमारे सूती कपड़े के; अमेरिका, बेल्जियम, जर्मनी कच्चे जूट के; अमेरिका, यूनाइटेड किंगडम, आस्ट्रेलिया, चीन, नीदरलैंड्ज, बेल्जियम और जापान, हमारे कच्चे कपास के; अमेरिका और इङ्गलैंड चमड़े के; अमेरिका अभ्रक और मैंगनीज़ का; यूनाइटेड किंगडम और अमेरिका हमारी चाय के प्रमुख खरीददार हैं। आयात में यूनाइटेड किंगडम अमेरिका और ज़ेकोस्लावेकिया से हमें मशीनरी मिलती है। हमारे आयात और निर्यात में किन चीज़ों का कितना महत्त्व है इसका अनुमान आगे दी गई तालिका से लगाया जा सकता है :—

आयात के मुख्य पदार्थ

[करोड़ रुपयों में]

नाम पदार्थ	जनवरी—दिसंबर १९५०	अप्रैल १९५०—मार्च १९५१
[प्रथम श्रेणी]		
फल और तरकारी	८·१८	९·४५
अनाज, दाल और आटा	६८·३२	७८·१५
प्रोविज़न्स और ओइलमेन्स स्टोर्स	५·७७	५·८०
मसाला	४·७१	५·३२
तम्बाकू	२·५७	२·७६
अन्य	२·२७	२·६६
कुल प्रथम श्रेणी	९१·८२	१०४·१४
[द्वितीय श्रेणी]		
अधातु खान से निकलने वाले पदार्थ आदि	२·८२	२·९६
तेल—वनस्पति, खनिज, और पशु संबंधी	५८·८५	५९·२४
रुई—कच्ची और खारिज	८६·८०	१००·४९
कच्चा ऊन	४·३१	५·५५
अन्य	२३·५६	२८·२४
कुल द्वितीय श्रेणी	१७६·३४	१९६·४८

[तृतीय श्रेणी]		
रासायनिक पदार्थ, ड्रग्ज़	१५·५८	१८·२६
चाकू, छुरी आदि	११·६२	१४·३४
रंग	१०·५८	१४·६०
बिजली का सामान और औज़ार	१०·५०	१०·३८
सब प्रकार की मशीनरी	८५·६६	८४·३७
धातु—लोहा इस्पात और उनसे निर्मित वस्तुएँ	१६·३०	१७·५६
धातु—अन्य	२६·०७	२७·७५
कागज़, पेस्टबोर्ड, स्टेशनरी	७·८२	१०·४०
मोटर गाड़ियाँ	२०·५८	२३·६३
सूत का तार और वस्त्र	२·२१	२·३६
ऊन का तार और वस्त्र	१·५०	१·६५
अन्य तार और बुने जाने वाले वस्त्र	७·८६	१५·६६
अन्य	१३·७७	१५·७१
कुल तृतीय श्रेणी	२३०·७२	२५८·०३
तीनों श्रेणियों का योग	५०१·३८	५६०·८३

[करेन्सी-फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९५०–५१ स्टेटमेंट ७६]

निर्यात के मुख्य पदार्थ

[करोड़ रुपयों में]

नाम पदार्थ	जनवरी-दिसम्बर १९५०	अप्रैल १९५०-मार्च १९५१
[प्रथम श्रेणी]		
मछली	२·४०	२·४२
फल और सब्ज़ी	९·००	१०·४५
मसाला	२०·७५	२०·५५
चाय	७०·०३	७८·०७
तम्बाकू	१३·२६	१२·६१
अन्य	२·७४	२·४६
कुल प्रथम श्रेणी	११८·२१	१२०·८८
[द्वितीय श्रेणी]		
अधातु खान से निकलने वाले पदार्थ आदि	९·४१	१०·२८

गोंद, रेज़िन, लाख	११·५२	१३·५६
कच्चा चमड़ा	८·७२	६·५६
कच्चा धातु और स्क्रैप लोहा या इस्पात दुबारा वस्तु निर्माण के लिये	८·५३	६·६३
तेल—वनस्पति, खनिज, और पशु संबंधी	१२·६१	२४·६७
बीज	१८·००	१७·२४
रूई, कच्ची और वेकार	१७·८४	१७·३१
पटसन, कच्चा और वेकार	·७५	·०६
ऊन, कच्चा और वेकार	५·१३	७·८७
अन्य बुने जाने वाले पदार्थ	१·०३	१·२६
अन्य	१०·३८	११·६५
कुल द्वितीय श्रेणी	१०४·२३	१२०·४५
[तृतीय श्रेणी]		
कमाया हुआ या ड्रेस्ड चमड़ा, और तैयार चमड़ा (लेदर)	२२·४१	२५·३६
सूती तार और वस्त्र	११२·२६	१३१·५१
पटसन के तार और तैयार माल	११७·१५	१११·२५
ऊन के तार और वस्त्र	५·१४	६·००
अन्य	२७·२३	३१·६३
कुल तृतीय श्रेणी	२८४·१६	३०६·०५
तीनों श्रेणियों का योग	५०६·०१	५५६·८७

नोट :—पाकिस्तान को किया गया निर्यात इसमें शामिल नहीं है।

[करेन्सी-फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १६५०-५१, स्टेटमेंट ७६]

विदेशी व्यापार और सरकार का नियन्त्रण—यह हम लिख चुके हैं कि गत महायुद्ध के समय से आजतक विदेशी व्यापार पर भारत सरकार का नियन्त्रण चला आ रहा है। इस विषय में अब थोड़े विस्तार से विचार करेंगे। जब तक लड़ाई चलती रही विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का एक मात्र उद्देश्य यही रहा कि युद्ध संचालन में सरकार को सहायता मिले। आयात और निर्यात दोनो पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध और नियन्त्रण लगाये गये। निर्यात पर जो नियन्त्रण लगाये गये थे उनका उद्देश्य शत्रु राष्ट्रों को माल भेजने पर रोक लगाना, कुछ चीजों का जो शत्रु राष्ट्र नहीं थे उनको भेजने से भी मना करना, कुछ चीजें जो शत्रु राष्ट्र नहीं थे उनको लाइसेंस द्वारा ही भेजने की स्वीकृति देना, और

कुछ देशों को कुछ चीजें बिना लाइसेंस या 'ओपन जनरल लाइसेंस' के माफ़त भेजने की स्वीकृति देना। मार्च १९४० से विदेशी विनिमय पर सरकार का नियन्त्रण हो जाने से भी निर्यात पर नियन्त्रण हो गया। जब तक निर्यात से मिलने वाले विदेशी विनिमय का सरकार के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों के अनुसार उपयोग करने का प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया जाता था निर्यात करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। इस सब के पीछे प्रयोजन यह था कि निर्यात के कारण जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उस पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रह सके। आयात पर नियन्त्रण युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् किया गया। शुरू-शुरू में शत्रु राष्ट्रों को छोड़ कर किसी भी देश से माल मँगाने की पूरी आज़ादी थी। पर मई, १९४० में विदेशी विनिमय और खास तौर से दुर्लभ मुद्रा का संचय करने की दृष्टि से आयात का लाइसेंस देने की व्यवस्था चालू की गई। बिना आयात लाइसेंस प्राप्त किये विदेशों को माल का चुकारा करने पर रिज़र्व बैंक ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। मई १९४० में ६८ चीज़ों के आयात पर नियन्त्रण किया गया। बाद में यह संख्या बराबर बढ़ती गई। जनवरी १९४२ तक लगभग आयात की सब चीज़ों पर नियन्त्रण कायम हो गया था। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण हो जाने से निर्यात की तरह आयात का भी नियन्त्रण हो गया।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के काल में निर्यात और आयात पर नियन्त्रण चलता रहा। युद्ध के समाप्त होने के बाद स्थिति में परिवर्तन आया। आयात के बारे में १९४६-४७ के पहले सात महीनों में भारत सरकार ने नरम नीति का पालन किया। दुर्लभ मुद्रा के बारे में भी सरकार की नरम नीति ही रही। पर अगस्त १९४७ के बाद सरकार की नीति कड़ाई की हो गई यहाँ तक कि भारत-यूनाइटेड किंगडम के बीच में हुए समझौते (जनवरी-जून १९४८) के अनुसार हमारे जमा पौण्ड पावने के फंड में से जो पौंड पावने की रकम खर्च करने के लिये हमें मिली थी, वह भी खर्च नहीं कर सके। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र या डालर क्षेत्र से आने वाले माल के बारे में विशेष कड़ी नीति बर्ती गई। डालर क्षेत्र से कुछ माल के आयात को तो बिल्कुल ही रोक दिया गया। उन पूँजी पदार्थों के आयात की भी स्वीकृति नहीं दी जाती थी जो यूनाइटेड किंगडम में उपलब्ध थे। पर वास्तव में यूनाइटेड किंगडम से माल आता नहीं था। सार इसका यह निकला कि देश में माल की कमी आ गई और आयात बहुत गिर गया। आयात सम्बन्धी इस कड़ी नीति का कारण डालर की कठिनाई को हल करना था पर इसका असर महँगाई बढ़ाने का भी हुआ। यह वह समय था जब देश के विभाजन के फलस्वरूप देश में बहुत

अव्यवस्था फैली हुई थी, यातायात की कठिनाई के कारण उत्पादन घट रहा था और नियन्त्रण हटाने की नीति का प्रयोग किया जा रहा था। इन सब बातों का असर यह हुआ कि देश में माल की हर तरह से कमी हो गई और 'होल सेल प्राइसेज़' का इन्डेक्स नम्बर जो नवम्बर १९४७ में ३०२ था, वह जुलाई १९४९ तक ३८९·६ तक पहुँच गया। आयात में नरम नीति बरतने का वास्तव में यह उपयुक्त समय था। इस विपरीत अनुभव के कारण जुलाई १९४८ से भारत सरकार की आयात नीति में फिर नरमी आई। 'ऑपन जनरल लाइसेंस' के अन्तर्गत आने वाली चीज़ों की संख्या में काफ़ी वृद्धि की गई और ४०० के लगभग यह संख्या पहुँच गई। कई चीजें जिनका आयात बिल्कुल बन्द था उनको उस श्रेणी से हटा लिया गया। इस नीति का असर यह हुआ कि हमारा आयात बहुत बढ़ गया और व्यापार का संतुलन हमारे बहुत विपक्ष में जाने लगा। हालांकि महँगाई पर इस नीति का अच्छा असर हुआ, पर विदेशी विनिमय की हमारे सामने कठिनाई आ उपस्थित हुई। जो पौंड पावना हम पहले खर्च नहीं कर पाये थे वह सब खर्च हो गया और उसके अलावा जितना हमने कमाया उससे कहीं अधिक स्टरलिंग और डालर हमने खर्च कर दिया। नतीजा यह हुआ कि फरवरी १९४९ में भारत सरकार की आयात-नियन्त्रण सम्बन्धी नीति में फिर कड़ाई आगई। डालर प्रदेश से आयात कम करने की कोशिश की गई। 'ऑपन जनरल लाइसेंस' के अन्तर्गत आने वाली चीज़ों की संख्या बहुत कम कर दी गई। १ अगस्त, १९४९ से भारत यूनाइटेड किंगडम के बीच के आर्थिक समझौते में फिर आवश्यक संशोधन हुआ और यूनाइटेड किंगडम ने भारत को जो डालर का घाटा हो रहा था उसे पूरा करने का वचन दिया। इसके बदले में भारत 'एम्पायार डालर पूल' का पूरा सदस्य बन गया। सरकार ने अपनी आयात नीति को और अधिक कड़ा करने का निश्चय किया। ऑपन जनरल लाइसेंस के अन्तर्गत चीज़ों की संख्या अब केवल २० रह गई। सितम्बर १९४९ में जो आयात नीति सरकार ने घोषित की उसके अनुसार आयात को तीन श्रेणियों में बाँटा गया—(१) वे चीजें जिनके लिये साधारणतया लाइसेंस नहीं दिये जायँगे। (२) वे चीजें जिनके लिये एक निश्चित परिमाण के आधार पर लाइसेंस दिये जायँगे (३) वे चीजें जिनका समय-समय पर लाइसेंस दिया जा सकेगा, बशर्ते कि उनके आयात का हर समय उचित कारण बताया जा सके। दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात करने की स्वीकृति उसी हालत में मिलने वाली थी जब कि स्टरलिंग प्रदेश में वह या उसकी जगह काम में आ सकने वाला दूसरा माल न मिलता हो। अगर किसी चीज़ के आयात की व्यवस्था किसी द्विपक्षीय

व्यापारिक समझौते में की जा चुकी है तो उनको दूसरी जगहों से आयात करने की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। रिज़र्व बैंक ने जनवरी १९४८ से अनाधिकृत आयात का चुकारा करने के लिये विदेश रुपया भेजने की जो सुविधा दे रखी थी वह भी अब वापस लेली गई। इसके बाद भी जैसी-जैसी ज़रूरत आई अलग-अलग चीज़ों के आयात के बारे में कुछ फेर-फार होता रहा पर मूल नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस बीच में रुपये का भी सितंबर १९४९ में अवमूल्यन हो चुका था और उसका हमारे विदेशी व्यापार के संतुलन पर अनुकूल असर भी पड़ रहा था। पर २५ फ़रवरी १९५० को जनवरी-जून १९५० के लिये जो आयात नीति घोषित की गई थी वह पहले की अपेक्षा थोड़ी सी उदार थी। कच्चा कपास, कच्चा रेशम और रेशम के तार, अलोह धातु, भारी रासायनिक पदार्थ, और दवाइयाँ आदि जैसे आवश्यक उपभोग के पदार्थों को सुलभ मुद्रा प्रदेशों से मँगाने की स्वीकृति दी गई। कच्चे कपास का आयात दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से करने की भी इजाज़त थी। जुलाई १९५० से दिसंबर १९५० के समय के लिये भी आयात नीति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। लगभग ३७ से ४० करोड़ रुपये प्रति मास के आयात की व्यवस्था की गई। लगभग इतनी व्यवस्था ही पिछले जनवरी-जून १९५० के समय के लिये की गई थी। जनवरी १९५१ से जून १९५१ के लिये घोषित आयात नीति के बारे में भी कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं थी। जुलाई-दिसंबर १९५१ के लिये सरकार की नीति आयात को प्रोत्साहन देने की रही। जुलाई-दिसंबर के बीच में सालभर के लिये लाइसेंस देने का निश्चय किया गया। इससे पूर्व लाइसेंस छः महीने के लिये होता था। बाहर से आने वाले माल के परिमाण और मूल्य दोनों में ही वृद्धि की गई और नई चीज़ों को भी आयात की सूची में जोड़ा गया। १९५२ के पूर्वार्द्ध के लिये जो आयात नीति सरकार ने घोषित की उसमें भी कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं था। १९५२ में भी लगभग उतना ही माल आयात करने का विचार किया गया जितना कि १९५१ में और आयात जाँच कमेटी द्वारा निश्चित ४०० करोड़ की मर्यादा का पालन इस दृष्टि से किये जाने का फैसला पूर्ववत् क़ायम रखा गया। उपभोग तथा उद्योग की दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिये भी पिछले साल की भाँति उदारता बरतने का निश्चय किया गया। लाइसेंस भी तीनों ही श्रेणी के लोगों में—स्थायी आयात करने वाले, उपभोक्ता और नये व्यापारी—बाँटने का निश्चय रहा। जिन चीज़ों के लिये बिना किसी रोक टोक के लाइसेंस मिलते थे उनमें भी कोई खास परिवर्तन नहीं किया गया। केवल एक परिवर्तन यह किया गया कि पहले पहल लाइसेंस अस्थायी तौर पर देने का फैसला किया

गया और जब दो महीने के अन्दर-अन्दर यह मालूम पड़ जाये कि व्यापारी ने माल के आयात की व्यवस्था करली है तो उसका लाइसेंस स्थायी कर दिया जाय। उपभोक्ता पदार्थों के आयात में पहले से कुछ अधिक सहूलियत करदी गई। पर इस बात का ध्यान अवश्य रखा गया कि दुर्लभ मुद्रा की दृष्टि से कोई कठिनाई न आवे। उपर्युक्त विवरण का सारांश यह है कि भारत सरकार की आयात नीति में युद्ध समाप्त होने के बाद का भी हम विचार करें तो देखेंगे कि बराबर परिवर्तन होता रहा है। युद्ध समाप्त होने के बाद जुलाई १९४७ तक आयात नीति नरम रही। पर अगस्त १९४७ से जून १९४८ तक हमारी आयात नीति कड़ी हो गई। फिर जुलाई १९४८ में नरम नीति अपनाई गई। फ़रवरी १९४९ में फिर कड़ाई की नीति शुरू हुई। फ़रवरी १९५० में यह नीति नरमी की ओर बदली और आज तक वही नीति चल रही है। पर १९५१ में हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे विपक्ष में रहा है। इसलिये १९५२ के उत्तरार्द्ध में आयात नीति में कड़ाई करने की आवश्यकता होगी। पर साथ साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि अन्न जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं की चीज़ों की जनता को कठिनाई न हो, और उद्योग धन्धों को आवश्यक कच्चा माल और पूँजीगत पदार्थ मिलते रहें।

भारत-सरकार की निर्यात सम्बन्धी नीति पहले तो प्रतिबन्धात्मक थी। पर जब हमारा विदेशी व्यापार का संतुलन बिगड़ने लगा और विदेशी विनिमय की तंगी आगई, ख़ासतौर से १९४८-४९ के अन्त में जब हमारा विदेशी व्यापारिक सतुलन बहुत प्रतिकूल हो गया, तो भारत सरकार की नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की हो गई। बढ़ी हुई कीमतें, बढ़ी हुई देश के अन्दर की माँग और देश के विभाजन के कारण पड़ा प्रतिकूल असर हमारे निर्यात व्यापार के मार्ग में बाधक हुए। पर भारत सरकार ने इन सब बाधाओं के बावजूद भी १९४८-४९ में निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति जारी रखी। कई चीज़ों को नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया और बहुतों को आसानी से लाइसेंस मिलने वाली श्रेणी में ले लिया गया। इस सबके बावजूद भी १९४९ के पहले छः महीने में हमारे निर्यात व्यापार की स्थिति पहले से भी गिर गई। जुलाई १९४९ में भारत सरकार ने 'एक्सपोर्ट प्रोमोशन कमेटी' की नियुक्ति की। इस कमेटी ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए कई सिफ़ारिशें कीं। उदाहरण के लिये निर्यात सम्बन्धी नियंत्रण को अधिक से अधिक सीमित करने, ख़ास तौर से तैयार माल के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटाने की इस कमेटी ने सिफ़ारिश की। इस कमेटी की सिफ़ारिशों को सरकार ने मजूर किया। कई चीज़ें जिनका निर्यात मना था, लाइसेंस के बाद निर्यात होने वाली वस्तुओं की श्रेणी में आगईं। 'ऑपन जनरल लाइ-

सैंस' के अन्तर्गत, जो बिना लाइसेंस के सब देशों को निर्यात की सुविधा देता है, चीज़ों की संख्या बढ़ गई। लाइसेंस देने की पद्धति को पहले से सरल करने का प्रयत्न किया गया और व्यापार मंत्रालय से ही निर्यात में लाइसेंस मिलने की व्यवस्था की गई। पहले जो खाद्य पदार्थ के लाइसेंस खाद्य मंत्रालय से मिलते थे, अब व्यापार मंत्रालय से मिलने लगे। जो कर निर्यात में बाधक थे उन्हें कम किया गया या हटाया गया। जैसे प्रान्तीय बिक्री कर से निर्यात पदार्थों को मुक्त कर दिया गया। रुपये के अवमूल्यन का भी निर्यात पर असर पड़ा। कोरिया की लड़ाई के कारण आगामी युद्ध की तैयारी की दृष्टि से दुनिया के देशों ने कच्चे माल का संचय करना शुरू कर दिया। उसका भी निर्यात पर असर पड़ा। इन सब कारणों का सम्मिलित असर यह हुआ कि हमारे निर्यात में वृद्धि हुई और १९५० में गत महायुद्ध के बाद पहली बार व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में हुआ। पर जैसा कि पहले लिखा जा चुका है निर्यात सम्बन्धी यह प्रवृत्ति अधिक समय क़ायम नहीं रह सकी। आज तो हमारे सामने समस्या यह है कि इस स्थिति को ठीक कैसे किया, जाये। पिछले वर्ष देश के निर्यात के घटने के कई कारण हुए हैं जैसे युद्ध के कारण संचय नीति में ढीलापन, वस्तुओं के मूल्य में गिरावट, खरीदने वालों का खरीदने में कमी कर देना, अमरीका में वस्तुओं का अधिकतम मूल्य तय किया जाना और हमारे माल की प्रतिस्पर्धा बढ़ जाना तथा उसके स्थान पर दूसरी वस्तुओं का उपयोग करना। इसके साथ साथ भारत सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने में पूरा पूरा प्रयत्न नहीं किया, यह भी शिकायत है। सीमेंट, कोयला, अबरक, तथा कुटीर उद्योगों की बनी कई चीज़ों का निर्यात बढ़ाने की संभावना पर सरकार को पूरा ध्यान देना चाहिये। इस सम्बन्ध में अब भी सरकार की नीति कपड़ा, चाय, जूट का सामान आदि कुछ चीज़ों के निर्यात पर निर्भर रहने की है। इसके अलावा निर्यात के नियन्त्रण सम्बन्धी नीति में भी अधिक स्थिरता की आवश्यकता है। निर्यात सम्बन्धी निश्चय समय पर हो, विभिन्न देशों के बीच में उचित बटवारा हो—इन बातों की भी ज़रूरत है। लाइसेंस पद्धति को सरल बनाने, निर्यात कन्ट्रेक्ट में स्टैंडर्डाइज़ेशन लाने, एक्सपोर्ट केटेलोग तैयार करने, और माल बाहर जाये उससे पहले वज़न और प्रकार की दृष्टि से चेक करने की भी आवश्यकता है।

भारत सरकार के आयात और निर्यात की नियंत्रण नीति का ऊपर विवेचन किया है। भारत सरकार को इस काम में 'एक्सपोर्ट एडवायज़री कौंसिल' और 'इम्पोर्ट एडवायज़री कौंसिल' सलाह और सहायता देती है। भारत सरकार की आयात नियंत्रण नीति की कई बातों को लेकर आलोचना

की जाती थी। उदाहरण के लिये लाइसेंस मिलने में होने वाली अनावश्यक देरी, लाइसेंस पद्धति की पेचीदगी, तथा आयात नीति की अस्थिरता आदि कुछ ऐसी बातें थीं जिनको लेकर सरकार के प्रति असन्तोष था। सरकार ने १६५० में सारी आयात नीति पर विचार करने के लिए 'इम्पोर्ट कन्ट्रोल एन्कायरी कमेटी' की नियुक्ति की। इस कमेटी ने ४ महीने में ही अपनी रिपोर्ट अक्टूबर १६५० में पेश करदी। सरकार ने जननरी १६५१ में इस कमेटी की सिफ़ारिशों पर अपना निर्णय भी दे दिया। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में सब से ज्यादा इसी बात पर ज़ोर दिया था कि आयात सम्बन्धी नीति और संचालन में स्थिरता होनी चाहिये और स्वीकृत नीति का शीघ्र और क्षमता के साथ पालन होना चाहिये। कमेटी ने यह भी सिफ़ारिश की कि आगामी दो वर्षों में ४०० करोड़ रुपये वार्षिक का आयात भारत में होना चाहिये। आयात की चीज़ों की प्राथमिकता के बारे में भी इस कमेटी ने अपनी राय दी। आयात सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए कमेटी की यह राय थी कि हमें अपने आयात की मर्यादा विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुसार ही तय करनी चाहिये, और बाहर से आने वाली चीज़ों की प्राथमिकता इस दृष्टि से निश्चित होनी चाहिये कि जिससे देश के कृषि-उद्योग के विकास और उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओं की मांग का लिहाज़ रखा जा सके। इसी के साथ साथ किन्हीं वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक उतार-चढ़ाव को कम करने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिये, पर यह उसी हद तक जिस हद तक कि विदेशी विनिमय सम्बन्धी मर्यादा और हमारे कृषि उद्योग के विकास तथा उपभोक्ताओं की आवश्यकता के साथ इसका मेल बैठ सके उपर्युक्त सिफ़ारिशों के अलावा कमेटी ने कुछ अन्य विषयों पर भी सिफारिशें की थीं जैसे—लाइसेंस के समय को बढ़ाना, लाइसेंस-पद्धति का विकेन्द्रीकरण करना, नए आयात के व्यापारियों को सुविधायें देना, सुलभ मुद्रा प्रदेश के किसी देश से माल मँगाने की अधिक आज़ादी, और किसी हद तक दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से माल मँगाने की आज़ादी, और आयात नियंत्रण व्यवस्था में आवश्यक सुधार। भारत सरकार ने कमेटी द्वारा आयात सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों से अपनी सहमति प्रकट की है और ४०० करोड़ के वार्षिक आय की मर्यादा को ध्यान में रखने की घोषणा की है। प्राथमिकता के लिये कमेटी ने ६ श्रेणियों में विभिन्न वस्तुओं को विभाजित किया था। भारत सरकार ने इसमें संशोधन करके केवल चार मोटी श्रेणियाँ बनाई हैं—(१) आवश्यक कच्चा माल; उद्योग-धन्धों को क़ायम रखने और पुरानी मशीनरी को बदलने के लिये पूँजी पदार्थ और मशीनरी के विभिन्न भाग; और जनता के स्वास्थ्य और जीवन के लिये आवश्यक उपभोक्ता पदार्थ (२) अन्य

लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, टोरन्टो, ब्यूनो-एर्स, तहरान, अलेक्ज़ेन्ड्रिया, मोम्बासा, कोलम्बो, सिडनी। रंगून और टोक्यो में ट्रेड कमिश्नर्स के कार्यालय फिर से चालू किये गये हैं। करांची, ढाका, बर्न, फ्रैंकफ़र्ट, रोम, बग़दाद, अदन, वेंकुअर, रोयडेज़ेनरो, प्रेग आदि स्थानों में भारत के व्यापारिक प्रतिनिधि स्थित हैं। हाल ही में भारत सरकार ने योरुप के लिये 'कमिश्नर-जनरल फॉर इकोनॉमिक एण्ड कमर्शियल अफ़ेयर्स' क़ायम किया है। इनका केन्द्रीय कार्यालय पेरिस में है और इनका काम योरुप के ट्रेड कमिश्नर्स के काम की देख-भाल करना और व्यापारिक समझौतों और आर्थिक मामलों पर सरकार को रिपोर्ट देते रहना है। हमारे देश से विदेशों को ट्रेड मिशन्स भी समय पर गये हैं—जैसे ग्रेगरी-मार्क मिशन (जुलाई १९४०) अमेरिका गया था; इसी प्रकार एक इंडियन ट्रेड डेलीगेशन १९४८ में जर्मनी, ज़ेकोस्लवेकिया; और फ्रांस गया था, दूसरा अफ़गानिस्तान, ईरान और पूर्वी अफ्रीका को गया था, और तीसरा मिस्र को गया था। अभी हाल (१९५०) में भारत सरकार ने एक डेलीगेशन दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों को भेजा था। इसी प्रकार दूसरे देशों से भारत में भी ट्रेड मिशन्स आते रहते हैं। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनियों में भी भाग लिया है और विदेशों में प्रदर्शनालय (शो रूम) भी स्थापित किये हैं। भारत सरकार का 'कमर्शियल इन्टेलिजेन्स एण्ड स्टेटिसटिक्स' विभाग भारत सरकार के पास जो व्यापार सम्बन्धी जानकारी होती है वह जनता और व्यापारियों तथा व्यवसायियों तक पहुँचाने की व्यवस्था करता है। विदेशी व्यापार सम्बन्धी जानकारी एकत्रित करना और उसको प्रसारित करना तथा भारत व्यापी महत्त्व के उद्योग-व्यापार आदि सम्बन्धी आंकड़ों को तैयार करना और प्रकाशन करना इस विभाग के दो मुख्य काम हैं। १९३३ में 'सेन्ट्रल स्टेटिसटिकल रिसर्च ब्यूरो' की इसी विभाग के तत्वावधान में स्थापना हुई थी। १९३७ से भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार की देख-रेख में यह ब्यूरो काम करता है।

विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति और द्वितीय व्यापारिक समझौते—देश के विदेशी व्यापार से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रश्न यह है कि और देशों के साथ इस विषय में हमारी नीति क्या है? भारत सरकार की नीति दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग से रुकावटों को अधिक से अधिक मात्रा में कम करने और उस व्यापार का विस्तार करने की रही है।

भारत की उक्त नीति का एक प्रमाण तो भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय व्या-

पार संगठन (इन्टरनेशनल ट्रेड ऑर्गेनाइज़ेशन) और जी. ए. टी. टी. (जनरल एग्रीमेन्ट ओन ट्रेड एन्ड टेरिफ्स) के विषय में जो सहायता और समर्थन का दृष्टिकोण रखा है उसी से मिल जाता है। इस सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से लिखने की आवश्यकता है।

द्वितीय महायुद्ध जब चल रहा था उसी समय यह अनुभव किया जा रहा था कि विश्व-शांति के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों का राजनैतिक आधार पर ही नहीं बल्कि आर्थिक आधार पर भी आपस में सहयोग हो। इसी विचारधारा का यह नतीजा था कि जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) की स्थापना की गई उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम करने का प्रयत्न किया गया। विश्व बैंक, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, तथा खाद्य और कृषि सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय संघ की इसी आधार पर स्थापना की गई। इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ स्थापित करने का विचार भी चला। सबसे पहले हवाना (क्यूबा) में २१ नवम्बर १९४७ और २४ मार्च १९४८ के बीच में संसार के ५७ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में 'प्रिपेरेटरी कमेटी' ने जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का एक मसविदा तैयार किया था उस पर विचार हुआ। इस 'प्रिपेरेटरी कमेटी' की स्थापना १९४६ में उस समय हुई थी जब इस विषय में अमरीका ने कुछ प्रस्ताव प्रकाशित किये थे और उनके बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस में विचार करने के पहले एक छोटी कमेटी द्वारा विचार करना उचित समझा गया था। इस कमेटी में १८ राष्ट्र थे और भारत भी उनमें से एक था। रूस ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया था। हवाना सम्मेलन में ५४ राष्ट्रों ने जो मसविदा विचार विनिमय के बाद तय किया था उस पर हस्ताक्षर कर दिये गए। हस्ताक्षर करने वालों में भारत भी था। विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों की स्वीकृति मिलने पर ही यह चार्टर अमल में आने वाला था। हाल ही में (फरवरी १९५१) अमेरिका ने हवाना चार्टर को स्वीकार नहीं करने का अपना विचार प्रकट किया है और उसके बाद ब्रिटेन, हालैंड तथा कुछ अन्य देशों ने भी चार्टर को स्वीकार नहीं करने की घोषणा कर दी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के कायम होने की आशा नहीं है।

हवाना में जो चार्टर स्वीकार किया गया था उसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रसार करना और पिछड़े हुए और अविकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायक होना है। जो व्यापारिक नीति इस चार्टर में स्वीकार की गई है उसके अन्तर्गत इन बातों का समावेश किया गया है—(१) एक देश किसी दूसरे देश को आयात-निर्यात-कर अथवा विदेशी व्यापार संबंधी किसी प्रतिबंध के बारे में

अगर कोई रियायत देगा तो वह बाकी के सब देशों को भी अपने आप मिलेगी। इसी को 'मोस्ट फ़ेवर्ड नेशन' का व्यवहार कहते हैं। इसमें कुछ अपवाद किये गये हैं। एक अपवाद किसी देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से भी किया गया है, अर्थात् आर्थिक विकास के कारण इस सिद्धांत के विपरीत व्यवहार करने की स्वीकृति मिल सकती है। पर यह अपवाद इतनी शर्तों के साथ किया गया है कि वास्तव में इससे होने वाला लाभ संदेहास्पद है। (२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ के सदस्यों से यह अपेक्षा भी की गई है कि वे आपसी समझौते से आयात-निर्यात-कर और उस सम्बन्धी विशेष व्यवहार में कमी करें। इसमें भी कुछ अपवादों के लिये गुंजाइश है और एक अपवाद यहाँ भी पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास से सम्बन्ध रखता है। (३) आयात और निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाने अथवा प्रवेश निषेध करने की मनाही की गई है। इसमें भी कई अपवाद हैं। (४) चार्टर में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन देशों में विदेशी व्यापार राज्य द्वारा होता है उनके साथ न कोई विशेष रियायत होगी न कोई विपरीत व्यवहार होगा। आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण के बारे में चार्टर में एक अलग ही परिच्छेद है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ का यह कर्त्तव्य है कि इस काम में वह अपने सदस्यों को सहायता दे और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ इस काम में सहयोग दे।

चार्टर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की सर्वोपरि सत्ता 'कान्फ्रेंस' में निहित है जो एक व्यवस्था मंडल का चुनाव करेगी। साधारणतया कान्फ्रेन्स वर्ष में एक बार होगी, यह माना गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का संबंध सहयोग का होगा और इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीति में इसका हस्तक्षेप न हो। चार्टर की उक्त धाराओं की कई कारणों से आलोचना भी हुई। आलोचना का एक बड़ा आधार यह रहा है कि पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास का चार्टर में पर्याप्त ध्यान नहीं रखा गया है। विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़े, इसी पर अधिक महत्त्व दिया गया है। इस समय तो इस संगठन का भविष्य अंधकार में मालूम पड़ता है।

अब हम 'जनरल एग्रीमेंट ओन टेरिफ्स और ट्रेड' के विषय में कुछ लिखेंगे। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के चार्टर में एक धारा यह भी थी कि इस संगठन के सदस्य आपसी समझौते के आधार पर आयात-निर्यात कर और विदेशी व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों में कमी करें। इसी उद्देश्य को सामने रखकर विभिन्न देशों में जेनेवा में अप्रैल १०

१९४७ से अक्टूबर ३०, १९४७ तक समझौते की चर्चा चली और जो निर्णय हुए उनका समावेश उक्त एग्रीमेंट में कर लिया गया। अस्थायी आधार पर यह एग्रीमेंट १ जनवरी १९४८ को अमल में आया। भारत भी इसमें शामिल था। इस एग्रीमेंट में प्रिपेरेटरी कमेटी के १८ सदस्यों के अलावा पाकिस्तान, सीरिया, बर्मा, लंका और दक्षिणी रोडेशिया भी शामिल थे। १२३ द्विपक्षीय समझौते इन देशों के बीच में हुए। इसके पश्चात् अप्रैल ८, १९४९ से अगस्त २७, १९४९ को एनेकी (फ्रान्स) में फिर कान्फ्रेन्स हुई जिसमें डेनमार्क, फिनलैंड, यूनान, हैटी, इटली, स्वीडन, डोमिनिकन रिपब्लिक, लाइबेरिया, निकारागुआ और उरूगुये ये दस नये देश और शामिल हुए। ३० नवम्बर १९४९ तक इन नए सदस्यों को उक्त एग्रीमेंट में शामिल करने के लिये एक 'प्रोटोकोल' पर हस्ताक्षर किये गये और २० मई १९५० से यह लागू किया गया। भारत ने इन दोनों ही सम्मेलनों में भाग लिया और विभिन्न देशों के साथ समझौते किये। इन समझौतों के अनुसार भारत ने रियायतें दीं और उसे रियायतें मिलीं भी। इसके बाद टोरके (इंगलैंड) में तीसरी बार कान्फ्रेंस हुई जो २१ अप्रैल १९५१ को सात महीने के बाद समाप्त हुई। इस कान्फ्रेंस में विभिन्न देशों में ४०० के लगभग समझौते करने का प्रयत्न हो रहा था, पर भाग लेने वाले ३८ देशों में केवल १४७ समझौते ही हो सके। भारत भी इनमें शामिल था। इस कान्फ्रेंस की सफलता मर्यादित ही रही। छः नए देश इस एग्रीमेंट में इस सम्मेलन में शरीक किये गये। पुराने समझौते की (जेनेवा तथा एनेकी) मियाद दिसंबर १९५३ तक करदी गई। पुराने समझौते में कुछ देशों ने संशोधन और परिवर्तन कराया और उनके अनुसार दी गई कुछ रियायतें वापस ली गईं। पर भारतवर्ष ने कोई परिवर्तन नहीं कराया। कुछ नई रियायतों के बारे में भी समझौते हुए। भारत ने भी तीन नए देशों से—कनाडा, डेनमार्क, हिन्देशिया—समझौते किये। जी. ए. टी टी. के सिद्धान्त के अनुसार ३ साल के बाद इस प्रकार का संशोधन परिवर्द्धन हो सकता है। इसीलिये १९४८ के बाद अब यह कान्फ्रेंस हुई थी। 'एनेकी' की कान्फ्रेंस इस प्रकार की नहीं थी। जिन ३८ देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया वे दुनियाँ के संपूर्ण विदेशी व्यापार के ८०% भाग के लिये ज़िम्मेदार हैं। जी. ए. टी. टी का सितंबर, १९५१ में जेनेवा में एक और सम्मेलन हुआ था। इसमें 'टोरके' समझौते से उत्पन्न समस्याओं, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिक स्वतन्त्र और विस्तृत बनाने संबंधी दूसरे मसलों पर विचार किया गया था।

भारत की व्यापारिक नीति का पिछले तीन वर्षों में एक महत्वपूर्ण भाग

हमारे विभिन्न द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते से संबंध रखता है जो विभिन्न देशों के और भारत के बीच में हुए हैं। ये अल्पकालिक व्यापारिक समझौते हैं। इनका उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा की स्थिति में सुधार करना, युद्धोत्तर आर्थिक निर्माण में सहायता देना, अनाज की कमी की पूर्ति करना, दूसरी आवश्यक चीज़ों की जैसे मशीनरी, रासायनिक पदार्थ, खाद आदि की कमी की पूर्ति करना और निर्यात को प्रोत्साहन देना रहा है। जर्मनी और जापान के साथ इसलिये व्यापारिक समझौते करना आवश्यक थे कि इन देशों के विदेशी व्यापार पर राज्य का नियंत्रण है और जिन विदेशी राज्यों का इन पर आधिपत्य है उनके द्वारा निश्चित विदेशी व्यापार की योजना के साथ उसका मेल बैठना आवश्यक है। यही बात रूस और पूर्वी योरुप के देशों—जैसे युगोस्लेविया, पोलेंड, जेकोस्लेवेकिया के बारे में लागू होती है, क्योंकि वे अपने विदेशी व्यापार का नियंत्रण सरकारों के बीच में ही करना पसंद करते हैं। इन व्यापारिक समझौतों का एक लाभ यह भी है कि भारत का इन देशों के साथ सीधा व्यापारिक संबंध स्थापित हो जाता है और लंदन एमस्टरडम आदि दूसरे देशों की मध्यस्थता समाप्त हो जाती है। भारत ने इन पिछले वर्षों में कई देशों से व्यापारिक समझौते किये हैं। भारत का पाकिस्तान के साथ भी कई बार व्यापारिक समझौता हुआ है। इस समय भी एक व्यापारिक समझौता इन दोनों देशों के बीच में चालू है। यद्यपि इन व्यापारिक समझौतों के कारण हमारे विदेशी व्यापार को आशातीत सफलता नहीं मिली है और समझौते के अनुसार आयात और निर्यात नहीं हुआ है, पर फिर भी ये द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते सही दिशा में उठाया गया एक क़दम हैं। इनका भविष्य में और अच्छा परिणाम आ सकता है।

विदेशी व्यापार की भावी दिशा—देश के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि उसकी भावी दिशा क्या होने की संभावना है? किसी भी देश का विदेशी व्यापार उस देश के आर्थिक संगठन पर निर्भर होता है। हमारे देश में जिस प्रकार का आर्थिक संगठन हम स्थापित करेंगे उसी प्रकार का हमारा विदेशी व्यापार होगा। देश की भावी अर्थ-व्यवस्था के बारे में आज विभिन्न विचारधाराओं में संघर्ष चल रहा है। एक व्यवस्था गांधीजी के विकेन्द्रित उत्पादन और स्वावलंबी गांवों पर आधारित हो सकती है। दूसरी व्यवस्था समाजवादी आधार पर स्थापित हो सकती है। तीसरी व्यवस्था उस मिले-जुले आर्थिक संगठन की है जो वर्तमान सरकार की नीति है। जहां तक विदेशी व्यापार का संबंध है, चाहे समाजवादी व्यवस्था हो चाहे मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था हो, जब तक आधुनिक उद्योगवाद उसका आधार है, उसके स्वरूप में

कोई अन्तर नहीं आता। हाँ, गांधीजी की सुझाई अर्थ व्यवस्था की बात अलग है। यह अर्थ व्यवस्था विकेन्द्रित और स्वावलंबन के आधार पर होगी, इसलिये इसमें विदेशी व्यापार की मात्रा कम होगी। विदेश से थोड़ा-सा सामान जो हमारे दैनिक जीवन के लिये अनिवार्य न हो, आ सकता है और इसी प्रकार का सामान यहाँ से बाहर जा सकता है। देश के अन्दर गृह-उद्योगों का विकास बड़े पैमाने पर होगा और ऐसी दशा में बाहर से मशीनें आदि बहुत मँगाने की हमें आवश्यकता नहीं होगी। हाँ, बिजली, सिंचाई, विद्युत्शक्ति आदि के उत्पादन के लिये जो मशीनरी आदि आवश्यक होगी वह तो मँगाना ही होगा। पर उपभोक्ता पदार्थों का अधिकतर उत्पादन गृह-उद्योग के रूप में होगा। इसका अर्थ यह है कि गांधीजी द्वारा सुझाई हुई अर्थ-व्यवस्था यदि हम स्थापित करते हैं तो हमारे विदेशी व्यापार का सारा ढाँचा ही बदल जाता है। देश इस प्रकार की व्यवस्था स्वीकार करेगा, इसमें बड़ी शंका है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे गृह-उद्योगों का विकास नहीं होगा। पर बड़े पैमाने के उद्योगों का भी पूरा महत्त्व रहेगा, ऐसा लगता है। ऐसी हालत में हमारे विदेशी व्यापार की भावी दिशा के बारे में अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों आधार पर सोचना आवश्यक है। पिछले वर्षों में हमारे विदेशी व्यापार की सबसे बड़ी समस्या विपक्षीय व्यापारिक संतुलन की रही है और जिसकी वजह से विदेशी विनिमय, खास तौर से दुर्लभ मुद्रा की हमें कठिनाई रही है। हमारा अल्पकालिक विदेशी व्यापार सम्बन्धी उद्देश्य यह होना चाहिये कि हमें विदेशी विनिमय की अपनी तात्कालिक आवश्यकता पूरी करने में कठिनाई न हो। यह तात्कालिक आवश्यकता मौजूदा उद्योगों को चालू रखने, उसमें मशीनरी आदि का आवश्यक परिवर्तन करने और आवश्यक उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने से सम्बन्ध रखती है। इन बातों की कमी को पूरा करने के लिये हमें अपने व्यापारिक संतुलन को ठीक करना होगा। उसके लिये देश में माल की क़ीमतों को कम करना, मुद्रा का अवमूल्यन करना, उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन करना, और द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते करना—ये उपाय हैं जो काम में लिये जाते हैं। भारत भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहा है। इनसे हमारा व्यापारिक संतुलन सुधरा भी है।

हमारी दीर्घकालिक विदेशी व्यापार की नीति ऐसी होनी चाहिये जिससे हमें अपने आर्थिक विकास में सहायता मिले। इस दृष्टि से आवश्यक माल हम विदेश से मँगा सकें, जो माल हम बाहर बेच सकें उसके उत्पादन में विशेषता प्राप्त करें और अनुकूल बाजारों में उस माल को बेचने की व्यवस्था करें—यह हमारे विदेशी व्यापार का लक्ष्य होगा। इस दृष्टि से आर्थिक विकास की प्रथम

अवस्था में पूँजी-माल हमें बाहर से मँगाना होगा और इसलिये हमारा आयात बढ़ेगा और कच्चे माल का निर्यात घटेगा। दूसरी अवस्था में जब देश में आधार-भूत उद्योगों का उत्पादन बढ़ेगा और राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी तो पूँजी-माल का आयात कम होगा और उपभोग की वस्तुओं के आयात की प्रवृत्ति बढ़ेगी, अगर उसे रोकने का प्रयत्न न किया गया। अन्तिम व्यवस्था में उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ेगा। इससे इन चीज़ों का आयात कम होगा पर पर्याप्त उत्पादन होने पर निर्यात बढ़ सकता है। हाँ, विशेष प्रकार की और क़ीमती उपभोग की चीजें बाहर से मँगायी भी जा सकती हैं। यह तो हुआ व्यापार का स्वरूप। जहाँ तक इस व्यापार में विभिन्न देशों के स्थान का प्रश्न है उसके बारे में हम यह कह सकते हैं कि हमें पूँजी-माल योरुप-अमेरिका से और कच्चा माल पड़ौसी एशिया के राष्ट्रों से मँगाना होगा। हमारा निर्यात व्यापार भी इन देशों और एशिया तथा अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों के बीच में बट जायगा।

विदेशी व्यापार का जो चित्र ऊपर उपस्थित किया गया है उससे केवल दिशा मात्र का अनुमान लगाना चाहिये।

हमारे भावी विदेशी व्यापार का एक प्रश्न यह भी है कि विदेशी व्यापार राज्य द्वारा संचालित होना चाहिये या व्यक्तियों के हाथ में ही रहना चाहिये। भारत सरकार ने १९५० में इस विषय में एक समिति नियुक्त की थी जिसने इस प्रश्न की पूरी जाँच पड़ताल करके विदेशी व्यापार के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दी थी। पर इसका कोई नतीजा नहीं आया। यह प्रश्न फ़िलहाल तो भारत सरकार की ओर से स्थगित ही कर दिया गया है।

स्थल द्वारा विदेशी व्यापार—देश के विभाजन से पहले भारत का स्थल मार्ग से अफ़गानिस्तान, ईरान, मध्य एशिया, नेपाल और तिब्बत से व्यापार होता था। देश के विभाजन के बाद पश्चिम के देशों से तो हमारा सीधा संपर्क हो गया है। अब तो पाकिस्तान के साथ हमारा पश्चिम और पूर्व दोनों ओर से स्थल मार्ग से सीधा सम्बन्ध है। भारत और पाकिस्तान के बीच में काफ़ी व्यापार स्थल मार्ग से ही होता है। १९४८-४९ में कुल ७७ करोड़ का भारत से पाकिस्तान को माल निर्यात हुआ था। उसमें ४६.६१ करोड़ का माल समुद्र के मार्ग से और ३०.३९ करोड़ का माल स्थल मार्ग से निर्यात हुआ था। १९४९-५० में कुल ३९.६९ करोड़ के निर्यात व्यापार में से १३.८७ करोड़ का माल समुद्री मार्ग से और २५.८२ करोड़ का स्थाल मार्ग से निर्यात हुआ था। आयात के आंकड़ों को देखने से मालूम होता है कि १९४८-४९ के १०९.२९ करोड़ में से २४.२९ करोड़ का माल समुद्री मार्ग से और ८५ करोड़

का स्थल मार्ग से तथा १९४९-५० में कुल ४३·९३ करोड़ में से ११·४६ करोड़ का समुद्री मार्ग से और ३१·४७ करोड़ का स्थल मार्ग से पाकिस्तान से भारत को आया था। समुद्री व्यापार अधिकतर पश्चिमी पाकिस्तान से, और स्थल मार्ग से अधिकतर व्यापार पूर्वी पाकिस्तान से होता है।

भारत का 'एन्ट्रीपो' व्यापार—भारत के विदेशी व्यापार का एक भाग ऐसा है कि दूसरे देशों से भारत में माल आता है और फिर वही माल बाहर निर्यात कर दिया जाता है। इसी को 'एन्ट्रीपो' व्यापार कहते हैं। इसका कारण किसी भी देश की दो देशों के बीच में ऐसी भौगोलिक स्थिति होती है जिससे कि इस तरह का व्यापार आसानी से संभव हो सके। पूर्वीय भूमण्डल के बीच में स्थित होने से पूर्व और पश्चिम के बीच में होने वाले व्यापार के लिये भारत एक अच्छा विश्राम स्थल है। यही कारण है कि प्राचीन काल से भारत इस तरह के व्यापार में भाग लेता आया है। प्राचीन समय में भारत के 'एन्ट्रीपो' व्यापार की मुख्य चीजें रेशमी कपड़ा, चीनी का सामान, मोती, ज्वाहरात, काँच का सामान (वेनिस का) और मसाला था। तिब्बत, नेपाल, अफगानिस्तान आदि ऐसे देश हैं जिनका अपना कोई समुद्री तट नहीं है। उनका आयात निर्यात भी भारत के द्वारा ही होता है। बम्बई इस प्रकार के व्यापार का प्रमुख बन्दरगाह है। ऊन और चमड़ा पश्चिम के देशों को जाता है और वहाँ से शक्कर, चाय, मसाला, कपड़ा, रासायनिक पदार्थ, कच्चा धातु, आदि आता है। इस प्रकार के व्यापार का कुल विदेशी व्यापार के मुकाबले में बहुत महत्त्व नहीं है। विदेशों से आया हुआ माल १९४८–४९ में ७·२९ करोड़ का, १९४९–५० में १३·२६ करोड़ का और १९५०-५१ में २७·८२ करोड़ का माल से दुबारा निर्यात हुआ था। १९३९-४० में दुबारा निर्यात १० करोड़ रुपये का हुआ था।

भारत का आन्तरिक व्यापार—भारत के आन्तरिक व्यापार के दो भाग हैं (i) समुद्र तटीय व्यापार और (ii) आन्तरिक व्यापार।

जब बर्मा भारत का अंग था तो भारत का बर्मा के साथ बहुत सा समुद्र-तटीय व्यापार होता था। यही बात कराची के बारे में भी है। आज कराची के साथ हमारा व्यापार विदेशी व्यापार की गिनती में आता है, समुद्र तटीय व्यापार की गिनती में नहीं। अब तो कलकत्ता, मद्रास, बम्बई आदि बन्दरगाहों के बीच का व्यापार ही समुद्र तटीय व्यापार की श्रेणी में आता है। कंडाला (कच्छ) का नया बन्दरगाह बनजाने से इस व्यापार में वृद्धि होगी। पिछले वर्षों में देश के समुद्र तटीय व्यापार में कमी आ गई है। १९३९ में कुल

समुद्र-तटीय व्यापार का अनुमान ७० लाख टन था। दस साल बाद वह घट कर ५.४ लाख टन ही रह गया और इस समय तो असल समुद्र तटीय व्यापार की (जिसमें विदेशी व्यापार शामिल नहीं है) मात्रा ३० लाख टन से भी कम है। यद्यपि यह व्यापार गिरा है पर इस पर भी भारतीय जहाज़ इस माल को लाने ले जाने के लिये पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। समुद्र तटीय व्यापार की उन्नति के लिये भारतीय जहाज़ी बेड़े की प्रगति अत्यन्त आवश्यक है। रेलवे और जहाज़ी यातायात में समुचित मेल बैठाने और बन्दरगाहों के विकास का भी समुद्र तटीय व्यापार की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

समुद्र तटीय व्यापार के अलावा जो हमारे देश का आन्तरिक व्यापार है उसका विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। पर अभी तक आंतरिक व्यापार के संपूर्ण और विश्वसनीय आंकड़े हमारे देश में प्राप्त नहीं हैं। भारत सरकार का व्यापार-मंत्रालय जो आंतरिक व्यापार सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित करता है वे भी प्रान्त का प्रान्त से और मुख्य बन्दरगाह के उस प्रान्त के जिसमें वह स्थित है या दूसरे प्रान्तों के साथ के व्यापार के आंकड़े होते हैं। इसका यह अर्थ है कि बहुत-सा व्यापार इसके बाहर रह जाता है। इस स्थिति को सुधारने की आवश्यकता तो है पर इतने बड़े देश में समस्त लेन-देन के आंकड़े एकत्रित करना असंभव-सा है। फिर भी इस दिशा में जितना सुधार हो सके वह करना चाहिये। इस व्यापार की मात्रा देश के विदेशी व्यापार से आज भी कई गुनी (२-३ गुनी) है और देश के आर्थिक विकास के साथ यह मात्रा बढ़ने वाली है।

और रेलवे बनाने का विचार आया और जब १८४४ में उन्होंने बंगाल सरकार के सामने अपना सुझाव पेश किया, तो इस विषय पर बहुत सोच-विचार चला। इसी समय उत्तर से दक्षिण जाने वाली रेलवे लाइन खोलने का प्रस्ताव भी पेश हुआ था। आखिरकार मई १८४५ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स ने भारत में रेलवे लाइन खोलने की स्वीकृति दे दी। अगस्त १८४६ में ईस्ट इंडिया कंपनी और ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी, तथा ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे कंपनी में प्रथम अहदनामे (कन्ट्रेक्ट) भी हो गये। कलकत्ता और बम्बई के नज़दीक दो छोटी-छोटी रेलवे लाइनें खुल गईं। कलकत्ते की लाइन ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी द्वारा और बम्बई वाली लाइन ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे कंपनी द्वारा खोली गई थी। इन कम्पनियों को सरकार ने हानि के खतरे से मुक्त कर दिया था। पूँजी पर ५% ब्याज की गारंटी दे दी गई थी और इसके उपरान्त लाभ की संभावना बताई गई थी। बदले में सरकार ने नियन्त्रण का और अन्ततोगत्वा रेलवे को खरीद लेने का अधिकार अपने पास रख लिया। इन कन्ट्रेक्ट्स के मुख्य दोष यह थे कि राज्य का मुनाफों में कोई हिस्सा नहीं था, विनिमय की दर १ शि. १० पैं. प्रति रुपये के हिसाब से इन कम्पनियों द्वारा होने वाले लेन-देन के लिये निश्चित करदी गई थी, ब्याज की गारन्टी लाइन चालू होने के समय से नहीं बल्कि उसके पहले रुपया जमा होने के समय से ही दे दी गई थी, कंपनियों के खर्चों पर कोई नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं रखी गई थी, और रेलवे लाइनों के सरकार द्वारा खरीदने के समय माल की कीमतें बढ़ने से होने वाले लाभ में राज्य का कोई हिस्सा नहीं रखा गया था।

जब लार्ड डलहौज़ी भारत के गवर्नर जनरल बन कर आये तो उन्होंने इस प्रश्न को फिर उठाया। वे छोटी-छोटी रेलवे लाइनों से संतुष्ट नहीं थे। सन् १८५३ में ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकों को इस विषय में जो उन्होंने एक नोट लिखा था वह सुविख्यात है। इस नोट में लार्ड डलहाज़ी ने बड़ी-बड़ी ट्रंक लाइनें बनाने के पक्ष में अपनी राय दी थी। वे चाहते थे कि प्रत्येक बड़े बंदरगाह का संबंध आंतरिक प्रदेश से हो जाय और बंबई, बंगाल और मद्रास के प्रांतों का भी आपस में संबंध हो जाय। वे भारत का कच्चा माल इंगलैंड और योरुप को भेजने और वहाँ का तैयार माल भारत में मँगाने की दृष्टि से रेलों का विकास करना चाहते थे। लार्ड डलहौज़ी की यह भी राय थी कि रेल निर्माण का काम प्राइवेट कंपनियों द्वारा कराया जाय और सरकार का उन पर नियंत्रण रहे। भारत में ब्रिटिश पूँजी को वे प्रोत्साहन देना चाहते थे। प्राइवेट कंपनियों को ब्याज सम्बन्धी गारंटी देने के भी वे पक्ष में थे।

पुरानी गारंटी व्यवस्था (१८५०-१८६८)—अगस्त १८५३ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने, जिसके हाथ में उस समय भारत का शासन था, लार्ड डलहौजी की सिफ़ारिशें स्वीकार करलीं। १८५४ से १८६० के बीच में भारत के विभिन्न भागों में रेलवे का निर्माण करने और बाद में उनका प्रबन्ध करने के लिये ८ कन्ट्रेक्ट्स किये गये—(१) ईस्ट इंडियन रेलवे कंपनी से दिल्ली तक की लाइन के लिये, (२) ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे से उत्तरी भारत तक की पूर्वी लाइन और दक्षिण में रायचूर तक के लिये, (३) मद्रास रेलवे कंपनी से मद्रास ट्रंक लाइन्स के लिये ताकि पश्चिमी किनारे और उत्तर पश्चिम में बम्बई से आने वाली लाइन से सम्बन्ध स्थापन किया जा सके, (४) बंबई बड़ौदा और सेन्ट्रल इंडिया रेलवे से, (५) ईस्टर्न बंगाल रेलवे कंपनी से, (६) साउथ ईस्टर्न रेलवे कंपनी से, (७) सिंध रेलवे कंपनी से और (८) साउथ इंडिया रेलवे कंपनी से।

इन कन्ट्रेक्ट्स की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं—(१) ९९ साल का कन्ट्रेक्ट और राज्य के खज़ाने में रुपया जमा हो उसी से ब्याज की गारंटी। ब्याज की दर ४½% से ५%, (२) गारंटी के रूप में सरकार से दिया गया रुपया रेलवे के मुनाफे में से सरकार को वापस करना (३) २५ या ५० वर्ष बाद सरकार को लंदन के बाज़ार में पिछले तीन साल के हिस्सों के औसत दर पर रेलवे लाइन खरीद लेने का अधिकार। पर रेलवे कंपनियों को किसी भी समय सरकार को रेलवे सौंप देने की आज़ादी और जितना रुपया लगा हो उसे वापस ले लेने का अधिकार (४) सरकार द्वारा कंपनियों को रेलवे लाइन बनाने के लिये बिना मूल्य के भूमि देना (५) रास्ता, गेज, कन्स्ट्रक्शन आदि की राय से स्वीकृति लेना (६) संचालन पर सरकार का पूरा नियंत्रण, किराये को सरकार से स्वीकृत कराना, और १०% अधिक रिटर्न होने पर किराया कम करने का सरकार को अधिकार और (७) रुपये का सारा लेन-देन १ शि० १० पें० के दर से होना।

कन्ट्रेक्ट की शर्तें पहले जैसी ही थीं। इसलिये ऊपर बताये गये दोष इनके बारे में भी लागू होते थे।

रेल निर्माण की यह व्यवस्था सर्वथा असफल रही। कंपनियों को ब्याज के बारे में गारंटी मिली हुई थी, इस वास्ते किफ़ायत से काम लेने की उन्हें कोई ज़रूरत नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि गारंटी का रुपया देने में देश को लाखों रुपये का घाटा उठाना पड़ा। ब्याज की दर भी काफ़ी ज़्यादा थी। कंपनियों को जो भी सामान चाहिये था वह सब बाहर से आता था। भारत में उनके उत्पादन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यह कहा जाता है कि

भारत में ब्रिटिश पूँजी के बिना उस समय काम नहीं चल सकता था और ब्रिटिश पूँजी बिना इन रियायतों के भारत में आती नहीं। पर यह बात सही नहीं है। उस ब्रिटिश पूँजी को विदेशों में लगाने की आवश्यकता थी और दक्षिण अमेरिका तथा दूसरे देशों में इस बात का प्रयत्न भी किया जा रहा था।

राज्य द्वारा निर्माण और संचालन (१८६६-८२)—जब उपर्युक्त व्यवस्था के दोष भारत सरकार को स्पष्ट हो गये तो वह दूसरी व्यवस्था के लिये प्रयत्न करने लगी। १८६२-६४ में उसने यह कोशिश की कि पहले के मुकाबले में अधिक अनुकूल शर्तों पर रेलों का निर्माण कपनियों द्वारा ही कराया जाये। पर इसमें सरकार सफल नहीं हुई।

१८६४ में बिना गारंटी दिये केवल आर्थिक सहायता (सबसिडी) के आधार पर रेल निर्माण करने का प्रयत्न आरंभ हुआ। अवध रुहेलखंड रेलवे तथा दूसरी कंपनियों को इस आधार पर प्रस्ताव किये गये। पर यह प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। आखिरकार पुरानी गारंटी व्यवस्था में कुछ संशोधन किये गये। जी० आई० पी०, बी० बी० सी० आई० आर० और कुछ दूसरी कंपनियों ने संशोधन मंजूर कर लिये और बदले में सरकार को २५ साल के बाद रेलवे खरीदने का अधिकार छोड़ना पड़ा। पर ईस्ट इंडियन रेलवे ने संशोधन मंजूर नहीं किये। संशोधन की शर्त यह थी कि गारंटीड ब्याज का जितना रुपया रेलवे कंपनियों को सरकार से मिल चुका था और जो सरकार को वापस करना था वह सारा रुपया सरकार छोड़ दे और आगे से इस तरह का कर्ज़ का कोई हिसाब न रखा जाय बशर्ते कि हमेशा के लिये सरकार को असल मुनाफ़े का आधा हिस्सा मिलता रहे।

इसी समय सरकार ने अपनी पूँजी और प्रबन्ध से १८६६ के बाद रेलवे निर्माण का नया प्रयोग आरंभ किया। पर सरकार के सामने पूँजी की कमी का सवाल पैदा हो गया। रूस के आक्रमण का भय उत्पन्न हो जाने से सामरिक महत्त्व की कई रेलों का निर्माण भी करना पड़ा। इससे भी राज्य की रेलों पर अनुत्पादक व्यय का भार बढ़ गया। इसी बीच में फ़ेमीन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में रेलों के विस्तार पर बहुत ज़ोर दिया। सरकार के पास रुपया नहीं था। मजबूर होकर फिर कंपनियों द्वारा रेलवे निर्माण का फ़ैसला किया गया।

नई गारंटी व्यवस्था (१८८२-१९०२)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बंगाल-नागपुर, रुहेलखंड-कुमायूं, सदर्न-मरहाठा और बंगाल एंड नोर्थ वेस्टर्न रेलवे कंपनियों से समझौते किये गये। इन कन्ट्रैक्टस की खास-खास बातें इस प्रकार थीं—(१) रेलवे लाइनों पर राज्य का स्वामित्व माना गया और २५ वर्ष या

बाद में दस साल के किसी समयान्तर पर कन्ट्रेक्ट की समाप्ति की जा सकेगी यह भी स्वीकार कर लिया गया। कन्ट्रेक्ट समाप्त करने पर कंपनी द्वारा लगाई पूँजी वापस करना तय हुआ। (२) गारंटीड ब्याज का दर ३½ प्रतिशत माना गया। (३) असल मुनाफे में राज्य का भाग ३।५ मामूली तौर से रखा गया। इन लाइनों की व्यवस्था कम्पनियों के हाथ में ही थी।

पुरानी गारंटीड कम्पनियों का कन्ट्रेक्ट खतम करने का जब मौका आया तो सरकार ने प्रायः कन्ट्रेक्ट तो खतम कर दिया पर व्यवस्था के बारे में सरकार ने एक सी नीति नहीं बरती। ईस्टर्न बंगाल, अवध-रुहेलखण्ड, और साउथ पंजाब रेलवे की व्यवस्था तो सरकार ने अपने हाथ में ले ली पर ई० आई० आर० और जी० आई० पी० आर० की व्यवस्था कम्पनियों के पास ही रहने दी गई। जब नई गारंटीड कम्पनियों के कन्ट्रेक्ट समाप्त करने का समय आया तब भी यही किया गया। सरकार ने भी रेलवे निर्माण का काम जारी रखा। इसका नतीजा यह हुआ कि रेलवे के निर्माण और प्रबन्ध के बारे में सरकार की कोई स्थिर नीति नहीं बन सकी।

ब्रांच लाइन कम्पनीज़ (१८६३-६६)—इस समय में ब्रांच लाइन कम्पनीज़ द्वारा सहायक रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया गया। ब्रांच लाइन कम्पनीज़ को नीचे लिखी सुविधायें दी गईं—बिना मूल्य के भूमि, राज्य के खर्चे से सर्वे की व्यवस्था, राज्य की रेलों द्वारा सामान आदि रियायती किराये पर लाना-लेजाना, रोलिंग स्टॉक की व्यवस्था और लाइनों को चालू रखने का ज़िम्मा मुख्य लाइनों को विशेष दर पर देने की सुविधा, तथा मुख्य लाइनों की आय में से थोड़ा सा रिबेट ब्रांच लाइनों को देना ताकि ब्रांच लाइनों को ५% डिविडेंड अवश्य मिल जाये। रिबेट की दरों में समय-समय पर परिवर्तन किया गया। पर कुल मिला कर यह व्यवस्था ठीक-ठीक चली नहीं। एकवर्थ कमेटी ने भी इस बारे में यह सिफ़ारिश की कि सरकार को ब्रांच लाइनें बनाने का ज़िम्मा स्वयं ही उठाना चाहिये; इस पर १९२५ में सरकार ने यह निश्चय कर लिया। प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं से भी स्थानीय उपयोग और शासन की सुविधा की दृष्टि से सहायक लाइनें बनाने के लिये इस आश्वासन पर कहा गया कि उनको किसी प्रकार की आर्थिक हानि नहीं होने दी जायगी।

तत्कालीन देशी राज्यों में रेलवे निर्माण—भारत सरकार ने तत्कालीन देशी राज्यों को भी अपने-अपने राज्य में रेलवे बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। देशी राज्यों में सब से पहली रेलवे हैदराबाद राज्य में खुली। देशी राज्यों में तीन तरह की रेलवे बनीं—(१) वे रेलवे जिनका राज्य ने निर्माण किया और

जिनकी व्यवस्था या तो राज्य के पास रही या पड़ौस की मुख्य लाइनों की कम्पनियों के सुपुर्द कर दी गई (२) वे रेलवे जिनका निर्माण और व्यवस्था के काम के निर्णय करने का भार भारत सरकार पर छोड़ दिया गया और एक निश्चित ब्याज की दर तथा असल मुनाफे के एक भाग या केवल ब्याज की गारंटी पर राज्य ने भारत सरकार को रुपया हवालगी दे दिया । (३) गारंटी सिस्टम जिसमें पूँजी राज्य और कम्पनी दोनों की सम्मिलित और व्यवस्था कम्पनी की थी । बाद में देशी राज्यों ने भी रेलों की व्यवस्था अपने ही हाथ में लेना शुरू कर दिया और नई लाइनों का निर्माण भी आरम्भ किया । बगाल, मद्रास और आसाम में कुछ ज़िला बोर्डों ने भी छोटी-छोटी रेल की लाइनें खोलीं ।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व (१९००-१९१४)—मुख्य-मुख्य रेलवे लाइनों का निर्माण सन् १९०० तक समाप्त हो गया था । पर सहायक रेलवे लाइनों की आवश्यकता थी । १९०८ में सर जेम्स मेके के सभापतित्व में जो कमेटी भारतीय रेलवे पर नियुक्त हुई थी उसने भी प्रति वर्ष १८ करोड़ (१ करोड़ २५ लाख पौंड) रुपया रेलवे निर्माण में खर्च करने की सिफ़ारिश की थी । यद्यपि इस आधार पर तो रेलवे का विस्तार नहीं हो सका पर १९०८-१९१३ के बीच में ९२ करोड़ रुपया इस काम में खर्च हुआ । कुल १०००० मील से अधिक की ब्रांच रेलवे लाइनें इन छः वर्षों में बनी । सन् १९०० में जहाँ देश भर में रेलवे लाइनों की लम्बाई २४,७५२ मील थी वहाँ १९१४-१५ में उसकी लम्बाई ३५,२८५ मील हो गई ।

प्रथम महायुद्ध का समय १९१४-१९२१—प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय रेलों की स्थिति बहुत बिगड़ गई । बहुत सा रोलिंग स्टॉक और रेलवे स्टाफ़ मध्य-पूर्व के युद्धस्थलों को जैसे मेसोपोटेमिया, फ़िलस्तीन, आदि भेज दिया गया था । बाहर से एंजिन और रोलिंग स्टाक आना बन्द हो गया था । परन्तु युद्ध के कारण रेलों पर कार्य भार बहुत बढ़ गया था । रुपये की तंगी की वजह से निर्माण का नया काम भी बहुत कुछ रुक गया था । इन सब बातों का असर रेलों की स्थिति को असंतोषप्रद बनाने का हुआ । लोगों ने कम्पनी द्वारा संचालित रेलों को राज्य द्वारा संचालित किये जाने की मांग उठाई ।

एकवर्थ कमेटी—इस सारी स्थिति की जांच करने के लिये नवम्बर १९२० में सर विलियम एकवर्थ के सभापतित्व में एक रेलवे कमेटी की स्थापना की गई । रेलवे कमेटी ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें भारतीय रेलवे से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण समस्याओं जैसे रेलवे व्यवस्था, रेलवे अर्थ व्यवस्था

आदि का अच्छा विवेचन किया गया था।

प्रथम महायुद्ध के बाद आज तक (१९२१-१९५०)—१९२० से १९३० के बीच में लगभग ५००० मील रेलवे लाइन का नया निर्माण हुआ। उसके बाद विश्व व्यापी मंदी और फिर द्वितीय महायुद्ध के कारण रेल मार्ग का देश में विस्तार लगभग बन्द सा हो गया। जहाँ १९१४-१५ में कुल रेल मार्ग की लम्बाई ३५२८५ मील थी, वह १९१९-२० में ३६,७३५ और १९२९-३० में ४१,७२४ मील थी। १९३४-३५ में यह लम्बाई ४३,०२१ मील और १९३९-४० में ४१,१५६ मील, १९४४ ४५ मील और में ४०,९०५१९ ४९-५० (३१ मार्च १९५०) में ३४०२२ मील थी। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि १९३७ में बर्मा के भारत से अलग हो जाने से लगभग २००० मील रेलमार्ग और पाकिस्तान बन जाने से लगभग ७००० मील रेल मार्ग की भारत में कमी हो गयी।

पंच वर्षीय योजना—भारत सरकार द्वारा नियुक्त प्लानिंग कमीशन ने जो पंच वर्षीय योजना प्रकाशित की है उसमें आने वाले पाँच वर्षों में रेल मार्ग के विस्तार का कोई प्रश्न नहीं है। इन पांच वर्षों में तो रेलवे की मौजूदा असन्तोष-जनक स्थिति को सुधारने का प्रस्ताव किया गया है ताकि जहाँ तक उनकी कार्यक्षमता का सवाल है युद्ध के पहले जैसी स्थिति लाई जा सके।

रेलवे के स्वामित्व और प्रबन्ध का प्रश्न—भारतीय रेलों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि रेलों का स्वामित्व राज्य के पास रहे या व्यक्तिगत कम्पनियों के पास और उनका प्रबन्ध भी व्यक्तिगत कम्पनियों पर ही छोड़ा जाय या स्वयं राज्य अपने हाथ में ले ले। इस सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं कि भारत सरकार की नीति स्पष्ट नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में यह प्रश्न फिर से उठा। जहाँ तक स्वामित्व का सवाल था उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तियों से ही यह तय हो चुका था कि रेलवे लाइनों का स्वामित्व राज्य के पास रहेगा। अब रेल मार्गों के निर्माण में अंग्रेज़ लोग पूँजी लगाने को तैयार नहीं थे। नई गारंटी व्यवस्था के अन्तर्गत जो रेलवे कम्पनियां बनी थीं उनके साथ एक शर्त ही यह थी कि कम्पनियों द्वारा निर्मित रेल मार्ग राज्य की संपत्ति मानी जायेगी। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते ईस्ट इन्डियन, जी॰ आई॰ पी॰, ईस्टर्न बंगाल, अवध रुहेलखंड तथा सिंध-पंजाब, आदि सब रेलवे राज्य की संपत्ति बन गई थीं। पर जहाँ तक प्रबन्ध का सवाल था कोई निश्चित नीति तय नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के सत्तरों में जब यह प्रश्न उठी तो भारत मंत्री ने यही निर्णय दिया कि सामान्य नीति कंपनी द्वारा प्रबंध की होनी चाहिये और केवल अपवाद के रूप में जब कि व्यक्तिगत कंपनी किसी रेलवे

लाइन का प्रबंध करना लाभदायक न समझे तो राज्य प्रबंध करे। इसका यह नतीजा हुआ कि आर्थिक दृष्टि से जो रेलवे लाइनें सफल थीं—जैसे ई० आई०, जी० आई० पी०—उनका प्रबंध तो कंपनियों के पास रहा और ई० बी०, अवध-रुहेलखंड, नॉर्थ वेस्टर्न आदि कुछ रेलों का प्रबंध राज्य के पास रहा।

सरकार और गारंटीड कंपनीज़ के आपस के सम्बन्धों का निम्नलिखित आधार था—(१) रेल-मार्ग जिनका कम्पनियों के पास प्रबध था राज्य की संपत्ति मानी जाती थी। अधिकांश पूँजी भारत सरकार की थी जो कि या तो आरभ में ही सरकार ने लगाई थी या पुराने कन्ट्रैक्टों के समाप्त होने के समय उसने खरीद ली थी। (२) जब नई पूँजी लगाने का सवाल आता तो सरकार को अधिकार था कि या तो वह उस पूँजी को लगावे या कंपनी से कहे। सरकार और कंपनी को अपनी-अपनी पूँजी पर निश्चित ब्याज मिलता था। जो असल लाभ होता था वह सरकार और कम्पनियों के बीच में कन्ट्रैक्ट में निश्चित अनुपात से बँट जाता था। प्रायः कम्पनी का हिस्सा बहुत थोड़ा होता था। (३) निश्चित समय पर भारत मन्त्री को कन्ट्रैक्ट समाप्त कर देने का अधिकार था और कन्ट्रैक्ट समाप्त होने पर कम्पनी की पूँजी वापस करना आवश्यक था।

इसके अलावा प्रबंध करने वाली कम्पनियों पर भारत सरकार का पूरा नियंत्रण था। कम्पनी का यह देखने का कर्तव्य था कि भारत मन्त्री के निर्णय के अनुसार रेलवे का संतोषजनक संचालन हो, रोलिंग स्टाक या स्टाफ़ आदि की कोई कमी न रहे। जनता की सुरक्षा और लाइन के ठीक ठीक काम करने की दृष्टि से आवश्यक सुधार और परिवर्तन कराने का भी भारत सरकार को अधिकार था। किराये के बारे में भी भारत मंत्री का नियंत्रण था। भारत मंत्री की आज्ञानुसार कम्पनी को हिसाब रखना पड़ता था और भारत मंत्री अपने द्वारा नियुक्त व्यक्तियों से उनका आडिट करा सकता था। भारत मंत्री को सामान्य नियंत्रण का अधिकार था। कम्पनी के बोर्ड पर एक सरकारी डाइरेक्टर नियुक्त करने का भी भारत मंत्री को अधिकार था। सरकारी डाइरेक्टर को बोर्ड की तमाम कार्रवाइयों को 'विटो' करने का अधिकार था। कम्पनी के पास जो भी रुपया आता था वह भारत मन्त्री के पास जमा होना आवश्यक था। भारत मंत्री से कंपनी को खर्च की स्वीकृति भी लेनी होती थी।

यद्यपि भारत सरकार का कंपनी द्वारा होने वाले रेलवे प्रबंध पर काफ़ी नियंत्रण था पर फिर भी देश के जनमत की यही मांग थी कि कंपनी प्रबंध को समाप्त किया जाये और राज्य रेलों का प्रबंध अपने हाथ में ले ले। इस मांग के तीन मुख्य कारण बताये जाते थे—(१) प्रबंध खर्च में किफ़ायत, (२) ऊंची जगहों

पर भारतीयों की अधिक संख्या में नियुक्ति, और (३) उद्योग-धन्धों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति। जब प्रथम महायुद्ध समाप्त होने को आया तो कम्पनी द्वारा रेलवे प्रबंध के बारे में कई तरह की गंभीर शिकायतें पैदा हो गईं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भारतीय रेलवे प्रबंध की जांच करने के लिये एकवर्थ कमेटी की नियुक्ति की गई। इस कमेटी ने रेलवे प्रबंध के प्रश्न पर भी विचार किया। इस प्रश्न के बारे में पक्ष-विपक्ष में जो दलीलें दी जाती थीं उनका सार यह है :—

कंपनी-प्रबंध के पक्ष में ये दलीलें दी जाती रही हैं—

(१) कंपनी द्वारा प्रबंध होने से रेलों की नीति में जो एकरूपता रहती है वह राज्य द्वारा संचालित रेलों में संभव नहीं हो सकती।

(२) कंपनियों द्वारा प्रबंधित रेलों का अधिक विकास होना संभव है।

(३) कंपनी के डाइरेक्टर्स स्वयं रेलों के मालिक होने से प्रबंध में विशेष दिलचस्पी लेते हैं।

(४) राज्य के कामों में जो 'रेड-टेप' का दोष होता है वह यहां भी लागू होता है।

(५) राज्य आवश्यक पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकता। इससे रेलवे-विस्तार में रुकावट आना संभव है।

(६) राज्य द्वारा प्रबंधित रेलों में मितव्ययिता नहीं हो सकेगी।

(७) कंपनी द्वारा प्रबंधित रेलों में नये और सुधार के काम आसानी से हो सकते हैं।

(८) जिन मामलों में स्वयं सरकार एक पक्ष के रूप में हो उनका न्यायोचित निर्णय करना कठिन होता है।

(९) राजनैतिक तथा दूसरे कारणों से राज्य द्वारा प्रबन्धित रेलों को हानि पहुँच सकती है।

जो राज्य द्वारा रेलों के प्रबन्ध के पक्ष में थे वे यह दलीलें देते थे—

(१) यह सही नहीं है कि कम्पनी का प्रबन्ध अधिक अच्छा होता है। एकवर्थ कमेटी ने भी यही राय दी थी।

(२) कम्पनी का प्रबन्ध होने से रेलों की किराया नीति देश के औद्योगिक विकास के लिये हानिकर सिद्ध हुई है।

(३) कम्पनियों का रेलवे कर्मचारियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं रहा है।

(४) कम्पनियों को पूँजी इसी हालत में मिली थी जब राज्य ने ब्याज की गारंटी दी थी। इसलिये राज्य को पूँजी का अभाव रहेगा, यह कहना सही नहीं है।

(५) कम्पनी के प्रबन्ध में राष्ट्र के हित की अपेक्षा तत्काल के लाभ का अधिक ध्यान रहा है।

(६) रेलों में लगी पूँजी का बहुत थोड़ा अंश कम्पनियों का है। उनका आर्थिक स्वार्थ कम होने से अच्छी व्यवस्था करने की उनको विशेष चिन्ता नहीं हो सकती। राज्य को यथेष्ट मात्रा में नियन्त्रण रखना ही पड़ता है। ऐसी हालत में सारा प्रबन्ध राज्य के हाथ में आ जाने से कोई बड़ी कठिनाई नहीं होने वाली है।

एकवर्थ कमेटी ने इन सब बातों पर विचार करके राज्य द्वारा रेलों के प्रबन्ध किये जाने के पक्ष में अपनी राय दी। रेलवे फाइनेन्स कमेटी और इंडियन रिट्रैंचमेंट कमेटी ने भी, जिन्होंने १९२१-२३ तक की रेलवे स्थिति पर विचार किया था, इसी पक्ष में राय दी थी। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप १ जनवरी १९२५ को राज्य ने ई० आई० और १ जुलाई १९२५ को जी० आई० पी० रेलो का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। इसके बाद भारत सरकार ने बराबर इसी नीति का पालन किया और आज भारत की सब रेलवे राज्य के प्रबन्ध में हैं। १ अप्रैल १९५० से देशी राज्यों के भारतीय संघ में शामिल हो जाने के कारण उनकी रेलवे भी भारत सरकार के प्रबन्ध में आगई। इस प्रकार लगभग ७५९० मील लम्बा रेल मार्ग भारत सरकार के पास और आ गया। अब भारत की तमाम रेलें भारत सरकार की रेलवे मिनिस्ट्री के नियन्त्रण में हैं। केवल कुछ नेरोगेज लाइट रेल्वे प्राइवेट कम्पनियों के स्वामित्व और प्रबन्ध में हैं। पर इनके प्रबन्ध के बारे में भारत सरकार का हस्तक्षेप रहता है।

रेलों का शासन प्रबन्ध—भारतीय रेलों पर हमेशा से ही भारत सरकार की देख-रेख और नियन्त्रण रहा है। आरम्भ में भारत सरकार के सार्वजनिक निर्माण विभाग के पास रेलों की देख-रेख का काम था। पर जब रेलों का काफ़ी विस्तार हो गया तो यह व्यवस्था अपर्याप्त साबित होगई। परिणामस्वरूप १९०५ में एक रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई। बोर्ड में बोर्ड के अध्यक्ष के अतिरिक्त दो और सदस्य थे। बोर्ड भारत सरकार के व्यापार-उद्योग विभाग के अधीन था। बोर्ड के विषय में समय-समय पर साधारण परिवर्तन होते रहे हैं। १९०८ में भारत सरकार के व्यापार-उद्योग विभाग के हस्तक्षेप को अपेक्षाकृत कम करने की दृष्टि से बोर्ड के अध्यक्ष के अधिकारों में थोड़ी वृद्धि करदी गई। अब उनको भारत सरकार के मन्त्री का पद मिल गया और वाइसराय तक उनकी सीधी पहुँच होगई। १९२० में बोर्ड के वित्त सलाहकार का एक नया पद क़ायम किया गया। जब एकवर्थ कमेटी रेलवे सम्बन्धी जाँच करने के लिये नियुक्त हुई तो

उसने भी इस प्रश्न पर विचार किया, और १६२४ में फिर रेलवे बोर्ड का पुनःसंगठन किया गया। बोर्ड के अध्यक्ष की जगह चीफ़ कमिश्नर का ओहदा कर दिया गया। रेलवे नीति का निर्धारण उसका काम था और उसके साथी उसके निर्णय को बदलने का अधिकार नहीं रखते थे। चीफ़ कमिश्नर के अलावा दो और बोर्ड के सदस्य थे। इन तीनों के अलावा एक वित्त कमिश्नर भी बोर्ड का मेम्बर था। इस प्रकार रेलवे बोर्ड में चार सदस्य थे। मेम्बरों में काम का बटवारा विषय के आधार पर किया गया था, न कि प्रदेश के आधार पर जैसी कि एकवर्थ कमेटी ने राय दी थी। बोर्ड के मेम्बरो को तफ़सील के कामो में अपना समय खर्च न करना पड़े और नीति सम्बन्धी मामलों पर वे अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें इसलिये सिविल इंजीनियरिंग, मेकेनिकल इंजीनियरिंग, ट्रैफिक और एस्टेब्लिशमेंट्स एन्ड फाइनेन्स के डाइरेक्टर्स, ११ डिप्टी डाइरेक्टर्स, और असिस्टेंट डाइरेक्टर्स की नियुक्ति की गई। चूँकि धीरे-धीरे मजदूरों सम्बन्धी सवालों का महत्व बढ़ता जा रहा था इसलिये मज़दूरों सम्बन्धी काम के लिये १६२६ में बोर्ड के तीसरे मेम्बर की नियुक्ति की गई। विश्व मन्दी के समय बचत की दृष्टि से कई ऊँची जगहों को खाली रखा गया। पर बाद में उन जगहों को भरा गया। रेलवे बोर्ड में इस समय चीफ़ कमिश्नर, वित्त कमिश्नर और तीन दूसरे सदस्य हैं। इसके अलावा १२ डाइरेक्टर्स, जिनमें जोइन्ट डाइरेक्टर्स भी शामिल हैं, एक सेक्रेटरी और २६ डिप्टी और असिस्टेंट डाइरेक्टर्स हैं। रेलवे के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित कमेटियाँ भी हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं— स्टैंडिग फाइनेन्स कमेटी, सेन्ट्रल एडवाइज़री कौंसिल, रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल, इंडियन रेलवे फ्यूल कमेटी। इनके अलावा कई स्टैंडर्डाइजेशन कमेटीज़ और चार रेलवे सर्विस कमीशन्स हैं। कुँजरू कमेटी ने जो १६४६ में नियुक्त हुई थी और १६५० में जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, यह सिफ़ारिश की है कि वर्तमान रेलवे बोर्ड के स्थान पर यूनियन रेलवे ऑथोरिटी कायम की जावे और नेशनल ट्रांसपोर्ट ऑथोरिटी के तहत में यातायात के सब साधनों का समन्वय किया जाये। पर १६५१-५२ का बजट पेश करते समय रेलवे मन्त्री ने १ अप्रैल १६५१ से रेलवे बोर्ड के पुनर्गठन करने की जो योजना घोषित की थी उसके अनुसार उक्त तारीख से चीफ़ कमिश्नर रेलवे बोर्ड का पद हटा दिया गया है। अब बोर्ड में तीन सदस्य तो काम के आधार पर रहेंगे और एक फाइनेंशियल कमिश्नर होगा। बोर्ड का एक सदस्य अध्यक्ष होगा और वही मन्त्रालय का सेक्रेटरी भी होगा। फाइनेंशियल कमिश्नर फाइनेन्स के मामले में मन्त्रालय का सेक्रेटरी रहेगा। बोर्ड का काम मन्त्री को तमाम बड़े नीति के मामलों पर सलाह देना और रेलवे के शासन

के लिये आवश्यक आज्ञाएँ जारी करना होगा। ट्रांसपोर्ट मिनिस्ट्री का सेक्रेटरी बोर्ड का अतिरिक्त मेम्बर बना रहेगा।

रेलवे एकाउन्ट्स का काम भी १९२५ से रेलवे बोर्ड के पास आ गया है। पहले भारत सरकार के वित्त मंत्रालय के पास यह काम था। आडिट का काम अकाउन्ट्स से अलग है और भारत के आडिटर जनरल के पास है।

आपसी मामलों को सुलझाने के लिये १८७६ में ही रेलवे कान्फ्रेंस की स्थापना की गई थी। १९०३ में इंडियन रेलवे कान्फ्रेंस एसोसियेशन के नाम से इसे स्थायी बना दिया गया। यह एसोसियेशन रेलों के सीधे नियंत्रण में है और इसने काफी उपयोगी काम किया है।

रेलवे वित्त-व्यवस्था—रेलवे की वित्त-व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से अलग हो, यह प्रश्न एक अर्से से चल रहा था। जब एकवर्थ कमेटी के सामने यह प्रश्न आया तो उसने पृथक्कीकरण के पक्ष में राय दी। रिट्रेंचमेंट कमेटी ने भी इस प्रश्न पर विचार किया और उसकी भी यही राय रही। २० सितम्बर १९२४ को भारत सरकार व भारतीय धारासभा ने इस संबंध में एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार की सामान्य वित्त-व्यवस्था से रेलवे वित्त-व्यवस्था को अलग करने का निश्चय किया गया। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि प्रति वर्ष रेलवे बजट से भारत सरकार को एक निश्चित रक़म मिला करेगी। यह निश्चित रक़म कंपनियों अथवा देशी राज्यों द्वारा लगाई हुई पूँजी को छोड़ कर व्यापारिक रेलवे में लगी हुई बाक़ी सब पूँजी पर १% और इसके अलावा रेलवे से भारत सरकार को मिलने वाली उक्त निश्चित रक़म काटने के बाद जो असल मुनाफ़ा बचे उसके $\frac{1}{5}$ भाग के बराबर होगी। भारत सरकार को रेलवे से मिलने वाली यह निश्चित रक़म रेलवे की असल आय पर पहली देनदारी मानी गई थी। यदि किसी वर्ष रेलवे आय उपर्युक्त १% चुकाने के लिये काफ़ी न हो तो अगले वर्षों की आय में से यह रक़म सबसे पहले चुकाई जाय और उसके बाद ही मुनाफ़े का बटवारा किया जाय—यह भी निश्चित किया गया था। सामरिक महत्त्व की रेलों में लगी हुई पूँजी पर ब्याज और उनमें होने वाली हानि भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित रक़म में से कम करली जायगी और बाकी की रक़म भारत सरकार को दी जायगी, यह भी साफ़ कर दिया गया था। यह भी तय था कि भारत सरकार को दी जाने वाली निश्चित रक़म चुकाने के बाद जो बच जाय वह रेलवे रिज़र्व में जमा हो। अगर यह रक़म किसी साल ३ करोड़ रुपये से ज्यादा हो तो तीन करोड़ से ज़्यादा रक़म का $\frac{2}{3}$ रेलवे रिज़र्व को और बाक़ी का $\frac{1}{3}$ भारत

सरकार को दिया जाय। रेलवे रिज़र्व का नीचे लिखे अनुसार उपयोग होना निश्चित हुआ था—भारत सरकार को दी जाने वाली वार्षिक रक़म चुकाने के लिये, घिसावट की चढ़ी हुई रक़म चुकाने के लिये पूँजी को कम करने या, बेबाक़ करने के लिये, और रेलवे की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये ताकि जनता को अधिक सुविधायें दी जा सकें और किराये में कमी की जा सके। रेलवे को भारत सरकार द्वारा निश्चित शर्तों के अनुसार किसी खर्च के लिये उन साल की आमदनी में गुंजाइश न होने पर अस्थायी क़र्ज़ लेने का अधिकार भी दिया गया। यह क़र्ज़ पूँजी या रिज़र्व से लिया जा सकता है और आगामी सालों की आय में से चुकाया जा सकता है, यह भी इस प्रस्ताव में कहा गया था। इस प्रस्ताव में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की 'स्टेंडिंग फ़ाइनेन्स कमेटी फॉर रेलवेज़' बनाने का निर्णय भी था।

रेलवे वित्त-व्यवस्था के अलग हो जाने के पश्चात और भी कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। घिसावट् कोष का निर्माण हुआ जिसमें हर साल रेलवे आय से कुछ रक़म जमा होती थी। रेलवे के लिये बिना वित्त विभाग के हस्तक्षेप के, कई वर्षों के आधार पर अपनी योजना बना सकना अब संभव हो गया। आर्थिक वर्ष के समाप्त होने पर रुपया लेप्स हो जाने का अब भय नहीं रहा।

मार्च, १९४३ में, रेलवे की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने से, उक्त प्रस्ताव के उस हिस्से में जिसका सम्बन्ध भारत सरकार को दी जाने वाली वार्षिक रक़म और रेलवे के मुनाफे में उसके हिस्से से था, यह संशोधन कर दिया गया कि संशोधन प्रस्ताव स्वीकार होने तक हर साल की स्थिति देख कर इस रक़म का निश्चय किया जायगा। वह संशोधित प्रस्ताव (कन्वेन्शन) दिसम्बर १९४९ में भारतीय संसद द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

(१) रेलवे वित्त-व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त-व्यवस्था से अलग बनी रहे। साधारण करदाता को भारतीय रेलों का एकमात्र हिस्सेदार माना जाये और रेलवे में लगी पूँजी पर ४% डिविडेन्ड मिलने की उसे गारंटी दी जाये।

(२) डिप्रीसियेशन रिज़र्व फंड में प्रति वर्ष कम से कम १५ करोड़ रुपया जमा किया जाये।

(३) रेवेन्यू रिज़र्व फंड का उपयोग नीचे लिखे अनुसार ही किया जाये—

(i) भारत सरकार को निश्चित डिविडेन्ड देने के लिये, और,

(ii) बजट के घाटे को पूरा करने के लिये।

(४) नीचे लिखे उद्देश्यों से एक रेलवे डेवलपमेंट फंड खोला जाय:—

(i) मुसाफ़िरों को सुविधायें देना।

(ii) मज़दूर-हितकारी कार्य करना।

(iii) उन रेलों का निर्माण करना जो आवश्यक हों पर निर्माण के समय लाभप्रद न हों। जो 'बेटरमेंट फन्ड' है वह इस फन्ड में इस शर्त के साथ मिला दिया जाये कि आगामी पांच वर्षों तक तीन करोड़ रुपये प्रति वर्ष के हिसाब से मुसाफ़िरों की सुख सुविधा पर खर्च किये जायँगे।

(५) 'लोन अकाउन्ट' और 'ब्लाक अकाउन्ट' को अलग-अलग कर दिया जाये। 'लोन अकाउन्ट' रेलवे में लगी पूँजी का रहे और 'ब्लाक अकाउन्ट' जो 'एसेट्स' हैं उनका रहे, चाहे वे रेलों की आय में से खरीदे जायें और चाहे ऋण से।

(६) कौनसा खर्च पूँजी से हुआ माना जाये और कौनसा चालू आय में से इसके नियमों में भी परिवर्तन किये गये हैं। जैसे रिप्लेसमेंट का सुधार सहित बढ़ी हुई क़ीमतों को मान कर पूरा खर्चा डिप्रीसियेशन फंड से होना चाहिये। साधारण सुधार और नये काम २५००० तक का खर्च मामूली आय में से होना चाहिये। लाभ नहीं देने वाली लाइनों पर उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने सम्बन्धी खर्च जो तीन लाख रुपये से अधिक न हो साधारण आय से और तीन लाख से जितना अधिक व्यय हो वह रेलवे डेवलपमेंट फंड से होना चाहिये। जो नई लाइनें बनाना आवश्यक हैं पर लाभदायक नहीं उनके निर्माण का खर्च हो सके वहाँ तक रेलवे डेवलपमेंट फंड से किया जाना चाहिये। जो स्ट्रेटेजिक रेलों पर, जिनसे लाभ नहीं मिलता है, खर्च हो वह पूँजी के नाम से होना चाहिये पर इस पूँजी पर कोई डिविडेन्ड नहीं दिया जायगा।

रेलवे की आर्थिक स्थिति—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय रेलें हानि का सौदा ही रहीं। धीरे-धीरे माल और मुसाफ़िरों का आना-जाना बढ़ने लगा। पंजाब में नहरों के निर्माण से खेती की तरक्की हुई और उससे भी रेलवे की आय बढ़ी। सन् १९०० में पहली बार रेलवे से राज्य को थोड़ा सा लाभ हुआ। १९०८-१९०९ के साल को छोड़कर १९२०-२१ तक रेलों को बराबर मुनाफ़ा होता रहा। १९२१-२२ में फिर हानि का सामना करना पड़ा। जैसा पहले लिखा जा चुका है १९२४ में रेलवे की वित्त-व्यवस्था भारत सरकार की सामान्य वित्त-व्यवस्था से अलग कर दी गई थी। १९१९-२० से १९२९-३० तक का समय कुल मिलाकर भारतीय रेलों के लिये आर्थिक सफलता का समय रहा। कुल आय १९१९-२० में ८९·१५ करोड़ रुपये से १९२९-३० में ११६·०८ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इसी प्रकार चालू खर्च भी ५०·६४ करोड़ से

७५.४६ करोड़ का हो गया। असल बचत ३८.४६ करोड़ रुपया हो गई। डिप्रीसियेशन फन्ड ११.३१ करोड़ वार्षिक के हिसाब से जमा हुआ। 'ओपरेटिंग रेशियो' ६३% के लगभग था। घिसावट को निकाल देने पर यह ५२% हो आता था। लगी हुई पूँजी पर असल आय ५.३६ प्रतिवर्ष हुई। १६२४ से १६३० के बीच में राज्य को औसतन ५.६८ करोड़ रुपया साल मिला और रिज़र्व फन्ड में २ ७२ करोड़ रुपया साल जमा हुआ।

१६३०-३६ का समय व्यापारिक मंदी के कारण, जो १६३३-३४ तक चलती रही, आर्थिक दृष्टि से संतोषजनक नहीं रहा। इस समय के पहले ७ वर्षों में औसत आय घट कर ६५.०६ करोड़ वार्षिक हो गई। 'ऑपरेटिंग रेशियो' (डिप्रीसियेशन सहित) ७०% हो गया और पूँजी पर मिलने वाली असल आय ३.३% रह गई। १६२६-३० से १६३६-३७ के बीच में रिज़र्व फन्ड में जो रुपया था वह ब्याज चुकाने और १६३०-३१ की भारत सरकार की वार्षिक रक़म चुकाने में ख़तम हो गया और इसके अलावा डिप्रीसियेशन फंड से ३१ करोड़ रुपया ब्याज चुकाने के लिये उधार लिया गया, तथा भारत सरकार को दी जाने वाली वार्षिक रक़म का १६३१-३२ से चुकाना स्थगित कर दिया गया। यह चढ़ी हुई रक़म १६३६-३७ तक ३०.७४ करोड़ रुपये की हो गई थी। रेलवे की इस बिग-ड़ती हुई आर्थिक स्थिति को सुधारना आवश्यक था। इन वर्षों में तीन कमेटियाँ नियुक्त की गईं—रेलवे रिट्रेंचमेंट सब-कमेटी (१६३१), पोप कमेटी (१६३४-३५) और वेजवुड कमेटी (१६३७)। इन कमेटियों ने भी ख़र्च कम करने सम्बन्धी कई सिफ़ारिशें कीं और जहाँ तक सम्भव हुआ उनको स्वीकार भी किया गया। आख़िरकार १६३६-३७ में आर्थिक स्थिति ने पल्टा खाया और १.२१ करोड़ का ब्याज चुकाने के बाद, रेलवे को लाभ हुआ। डिप्रीसियेशन फन्ड से लिया हुआ ऋण, जो नियमानुसार रेलवे के लाभ में सबसे पहले चुकना चाहिये था, कुछ वर्षों तक (१६४३ तक) नहीं चुकाने का प्रस्ताव पास किया गया। रेलों की आम-दनी धीरे धीरे बढ़ने लगी। १६३६-४० में कुल आय ११२.५ करोड़ रुपया हो गई जब कि १६२६-३० में ११६.०३ करोड़ रुपये थी

१६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। रेलों की आय और बढ़ने लगी। १६४४-४५ में कुल आय २३२.६२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। असल आय भी १६३६-४० में ३२ करोड़ से १६४३-४४ में ७६ करोड़ हो गई और इसी वर्ष में ५०.८४ करोड़ रुपये का सरप्लस (बचत) रहा। १६४३ तक डिप्रि-सियेशन फंड का ऋण व भारत सरकार का बक़ाया वार्षिक देनदारी का रुपया भी चुका दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद रेलों की आर्थिक स्थिति फिर बिगड़ी। युद्ध का असर तो था ही पर देश के विभाजन से भी कई समस्यायें खड़ी हो गई थीं। शांति-व्यवस्था के भग होने से भी बहुत हानि हुई। इसका असर आर्थिक स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक था। रेलवे की आय कम हो गई। खर्चा बढ़ गया। देश के विभाजन के बाद १५ अगस्त १९४७ से ३१ मार्च १९४८ के बीच में रेलवे बजट में २·७४ करोड़ का घाटा हुआ जिसकी पूर्ति रिजर्व फन्ड से करनी पड़ी। इसके बाद १९४८-४९ में स्थिति थोड़ी सुधरी और रेलवे की कुल आय की दृष्टि से तब से स्थिति में बराबर सुधार आता जा रहा है। रेलवे की कुल आय १९४७-४८ में १०१ करोड, १९४८-४९ में २१३·१० करोड़, १९४९-५० में २३६·३५ करोड़, और १९५०-५१ में २६३·०१ करोड़ थी और १९५१-५२ में २७९·५० करोड़ की कुल आय का अनुमान किया गया था। संशोधित आंकड़ों के अनुसार यह रक़म २८८·०६ करोड़ रुपया है। १९५२-५३ में कुल आय २९८·४७ करोड़ रुपये होने का अनुमान है। रेलवे की असल आय (नेट रेवेन्यू) के आंकड़े (रुपये में) इस प्रकार हैं:—१९४७-४८ में १०·५३ करोड़, १९४८-४९ में ४२·३४ करोड़, १९४९-५० में ३७·७७ करोड़, १९५०-५१ में ४७·५६ करोड़ और १९५१-५२ के बजट के सशोधित अनुमान के आधार पर ५५·४१ करोड़ तथा १९५२-५३ के बजट के अनुसार ५८·८७ करोड़। पिछले तीन वर्षों के असल बचत के तुलनात्मक आंकड़े इस प्रकार हैं—१९४९-५० में १४·५९, १९५०-५१ में १५·०५ और १९५१-५२ (बजट के सशोधित अनुमान) में २२·०६ तथा १९५२-५३ में २४·८७ करोड़ रुपये। डिप्रीसियेशन फंड, रिज़र्व फन्ड और डेवलपमेंट फंड तीनों में १९४९-५० के आखिर में कुल मिलाकर १२९·६३ करोड़ रुपये थे वह १९५०-५१ के आखिर में १५६·६७ करोड़ और १९५१-५२ के आखिर में बजट के संशोधित अनुमान से १६२·८३ करोड़ और १९५२-५३ में १६३·५५ करोड़ रुपये होगये। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिछले वर्षों में रेलवे की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है।

रेलवे जाँच कमेटियाँ—सन् १९२०-२१ में रेलवे सबंधी प्रश्नों की जांच करने के लिये भारत सरकार ने एकवर्थ कमेटी की नियुक्ति की थी। उसके विषय में पहले ज़िक्र आ चुका है। पिछले बीस वर्षों में तीन और कमेटियां नियुक्त हुईं। सक्षेप में इनके बारे में हम यहां लिखेंगे।

पहली कमेटी १९३२ में पोप कमेटी के नाम से नियुक्त हुई थी। विश्व-मंदी के समय जब रेलवे की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी तो इस कमेटी की नियुक्ति हुई। पोप एक अंग्रेज़ रेल विशेषज्ञ थे। इन्होंने यात्रियों की संख्या बढ़ाने और माल के आवागमन को बढ़ाने सम्बन्धी कई सिफ़ारिशें कीं। जहां मोटर की

प्रतिद्वन्द्विता कड़ी थी वहाँ सस्ते सिंगिल और वीक-एंड रिटर्न टिकिट जारी किये गये, माल का भाड़ा कम किया गया, पार्सल लेने देने के लिये शहरों में दफ्तर खोले गये। तीर्थ स्थानों के लिये स्पेशल ट्रेनें चलाई गईं। पोप कमेटी की एक महत्त्व-पूर्ण सिफ़ारिश 'जॉब एनेलिसिस' से सम्बन्ध रखती थी। खास-खास रेलवे में 'जॉब एनेलिसिस' के लिये संगठन क़ायम किये गये। इनका काम रेलवे के प्रत्येक काम की इस निगाह से जाँच करना था कि वे यह बता सकें कि कार्यक्षमता में सुधार करने के लिये और क़िफ़ायत करने के लिये क्या करना चाहिये। जब काम के तरीक़ों में सुधार हो गया तो यह संगठन समाप्त कर दिये गये। इस कमेटी ने एंजिन, बैठने की गाड़ियां, मशीनरी और प्लान्ट का पूरा-पूरा उपयोग करने, बेकार वेगनों को निकाल देने, विभिन्न रेलों के साधनों का एकीकरण करने, बिना टिकिट की यात्रा पर रोक लगाने और आमदनी बढ़ाने के बारे में भी सिफ़ारिशें की थीं।

दूसरी कमेटी वेजवुड कमेटी थी जो १९३७ में नियुक्त हुई थी। उसी साल इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की। इसकी मुख्य-मुख्य सिफारिशें ये थीं—

भारत सरकार को रेलवे से जो सालाना रक़म दी जाती है वह नहीं देना चाहिये। डिप्रीसियेशन और जनरल रिज़र्व फन्ड में वृद्धि करनी चाहिये। मोटर से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा का बस सर्विस जारी करके और ट्रेनों की गति बढ़ा करके तथा अन्य उपायों से मुकाबला करना चाहिये। इंजीनियरिंग स्टाफ़ में युरोपियन लोगों की संख्या बढ़ानी चाहिये ताकि वे रोलिंग स्टाक से अधिक काम ले सकें। समाचार पत्रों, व्यापारियों आदि से अधिक संपर्क रखना चाहिये। एक प्रकाशन कार्यालय की स्थापना होनी चाहिये। युरोपियन स्टाफ़ बढ़ाने और भारत सरकार को दी जाने वाली रक़म रोकने सम्बन्धी सिफ़ारिशों का देश में बहुत विरोध हुआ। सरकार ने इन सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया। पोप कमेटी की किफ़ायत सम्बन्धी सिफ़ारिशों का भी इस कमेटी ने समर्थन किया था। इस कमेटी की स्थापना १९३५ के विधान लागू होने के पहले रेलवे की स्थिति की जांच करने के लिये हुई थी।

तीसरी कमेटी कुँजरू कमेटी के नाम से विख्यात है जो १९४६ में नियुक्त हुई थी। देश का विभाजन हो जाने से यह कमेटी अच्छी तरह से अपना काम नहीं कर सकी। इस कमेटी ने रेलवे के रीग्रूपिंग की समस्या को फ़िलहाल स्थगित कर देने और रेलवे बोर्ड की जगह यूनियन रेलवे ऑथोरिटी की स्थापना करने की सिफ़ारिश की थी। मज़दूरों की कार्यक्षमता में कमी आ जाने की भी इस कमेटी की रिपोर्ट थी। इस की राय में मज़दूरों को शिक्षा देने से ही यह कमी

पूरी हो सकती है।

रेल-भाड़ा नीति—भारतीय रेलों से सम्बन्ध रखनेवाला एक विवादास्पद प्रश्न यह रहा है कि भारतीय रेलों की भाड़ा नीति देश की आर्थिक उन्नति में सहायक नहीं रही है। इसके अलावा यूरोपियनों के साथ पक्षपात करने की भी शिकायत रही है। कच्चे माल और खाद्यान्न के निर्यात और तैयार माल के आयात को भारतीय रेलों ने बराबर प्रोत्साहन दिया है। औद्योगिक कमीशन (१६१६), फ़िसकल कमीशन (१६२१) और एकवर्थ कमेटी (१६२०-२१) के सामने भी इस तरह की शिकायतें की गईं थीं। एग्रीकलचरल कमीशन (१६२७) ने भी इस प्रश्न पर विचार किया था। इन सबकी यह राय थी कि इस बारे में सुधार की आवश्यकता है। एकवर्थ कमेटी ने इंगलैंड के १६२१ के रेलवे एक्ट के तहत में जैसी रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल है उसी तरह की ट्रिब्यूनल की भारत के लिये भी सिफ़ारिश की। भारत सरकार ने इस तरह की स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल तो नियुक्त नहीं की पर एक रेलवे एडवाइज़री कमेटी अवश्य १६२६ में बनाई। इसकी सिफ़ारिशें सरकार के लिये मानना अनिवार्य नहीं था। इसलिये इससे कोई खास लाभ नहीं हुआ। पर भारत के स्वतन्त्र होने के बाद नई रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल १६४६-५० में नियुक्त हो चुकी है।

पूरी जांच पड़ताल के बाद अक्टूबर १६४८ से भाड़ों सम्बन्धी नई व्यवस्था जारी की गई। पहले की अपेक्षा यह व्यवस्था अधिक सरल है। इसमें स्टेशन से स्टेशन तक जो विशेष रियायती भाड़े थे उनको हटा दिया गया है। पहले की 'फ्लेट क्लास रेट्स' के बजाय अब 'टेलिसकोपिक क्लास रेट्स' जारी की गई हैं जिनके अनुसार दूरी के बढ़ने के साथ-साथ भाड़े के दर में कमी आती है। कई प्रकार के कच्चे माल, जैसे कच्चे खनिज पदार्थ, जिपसम, चूना, चूना पत्थर, रेत, पिग आइरन, रद्दी (स्क्रेप) लोहा और इस्पात, कोयला, गन्ना, आदि पर भाड़ा कम कर दिया गया। कुछ कच्चे माल जैसे चमड़ा, तिलहन, नमक आदि के लिये वेगन की दरें कम करदी गईं। भारतीय कारखानों में तैयार माल—जैसे सीमेन्ट, रासायनिक खाद, शक्कर, लोहा, इस्पात, कॉस्टिक सोडा आदि पर भी भाड़ा कम किया गया। रेलवे के ज़िम्मे पर जाने वाली चीज़ों की संख्या में वृद्धि करदी गई है। भेजने वाले के ज़िम्मे पर जाने वाली और रेलवे के जिम्मे पर जानेवाली चीजों के भाड़े में पहले की अपेक्षा ज्यादा वाजिब अन्तर कर दिया गया है। भाड़े की इस नयी व्यवस्था से निर्यात-आयात व्यापार को अनुचित प्रोत्साहन देने की शिकायत तो अब नहीं रही है। पर 'टेलिसकोपिक प्रणाली' और संशोधित भाड़े की दरों का सम्मिलित असर यह हुआ है कि बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के बन्दरगाहों में

स्थित कारखानों को पहले की तरह अब भी अनुचित रियायत मिल जाती है। नई भाड़ा व्यवस्था का परिणाम थोड़े दूर की अपेक्षा अधिक दूर जाने वाले माल को प्रोत्साहन देने का भी हुआ है। इसका असर कच्चे माल को नज़दीक में ही उपयोग में लाने के प्रतिकूल पड़ा है। थोड़ी दूर आने-जानेवाले माल का भाड़ा बढ़ने की भी शिकायत है। इसके जवाब में यह कहा जाता है कि चीज़ों की क़ीमत जिस मात्रा में बढ़ी है उसके अनुपात में भाड़े में हुई वृद्धि नगण्य है। फ़िसकल कमीशन (१९५०) ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की है कि औद्योगिक विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये रेलवे अधिकारियों को भाड़ा नीति में आवश्यक संशोधन करने के प्रश्न पर विचार करना चाहिये ताकि कच्चे माल को जहां वह पैदा होता है उसके पास ही तैयार माल की शकल में बदलने में सुभीता हो। कच्चे माल और तैयार माल के लिये स्टेशन से स्टेशन के बीच में जो भाड़े की विशेष दरें निश्चित करने का रेल्वे अधिकारियों को अधिकार दिया गया है उसका अधिक उदारता के साथ पालन करने की भी फ़िसकल कमीशन ने सिफ़ारिश की है।

देश के व्यवसायी वर्ग को रेलों की भाड़ा नीति से अब भी पूरा संतोष नहीं है। उनकी शिकायत है कि १९४८ में जो नई भाड़ा नीति स्वीकार की गई उसमें कई वस्तुओं का ऊंचा वर्गीकरण कर दिया गया और टर्मिनल और दूसरी लागतें बढ़ा दी गईं। ये लागतें निश्चित होने से इनका कम दूरी के यातायात पर अधिक बोझ पड़ता है, यह भी एक शिकायत है। कुल मिलाकर कई उद्योगों पर किराये का बोझ विशेष पड़ता है और इससे उनकी उत्पादन लागत बढ़ गई है। इसलिये फेडरेशन ऑव चेम्बर्स ऑव कॉमर्स ने इस भाड़ा नीति में सुधार करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। उसने यह मांग भी की है कि इस मामले पर एक कमेटी द्वारा पूरी पूरी जांच की जाये। फ़िसकल कमीशन ने भी कुछ संशोधन आवश्यक समझे हैं, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर भारत सरकार इन विचारों से सहमत नहीं है। उसने १९५२ के बजट में ही कोयले पर ३०% भाड़ा बढ़ाने की घोषणा की है। इससे कोयले के खान मालिकों में असंतोष हुआ है। इसके अलावा कुछ अन्य चीज़ों पर भी भाड़ा बढ़ाया गया है पर इसका उद्देश्य विभिन्न रेलों पर भाड़ों की दरों में जो असमानता थी उसको ठीक करना है।

रेलवे द्वारा आवागमन की स्थिति—पिछले वर्षों में रेल यात्रा करने की जितनी कठिनाइयां बढ़ गईं थीं उनसे सब परिचित हैं। यहां हम संक्षेप में इस सम्बन्ध में विचार करेंगे। कुछ वर्षों को अपवाद के रूप में यदि छोड़ दिया जाय

तो पिछली दो दशाब्दियों में रेलें अपने 'मेन्टीनेन्स और रिन्यूअल्स' (टूट-फूट-सुधार और मरम्मत) पर पर्याप्त मात्रा में खर्च नहीं कर सकी हैं। आज तो स्थिति यह है कि १९५० में एक तिहाई एञ्जिन और एक चौथाई माल के और मुसाफिरों के डिब्बे अपनी आयु पूरी कर चुके थे। विश्व मन्दी के समय में आर्थिक समस्या मुख्य थी। रेलों की आय कम हो गई थी। परिणामस्वरूप उनको पूंजीगत खर्च (केपिटल आउटले) कम करना पड़ा। दूसरे महायुद्ध के समय और युद्ध के बाद रेलों की समस्या एक तो यात्रियों की संख्या बढ़ जाने की और दूसरी सामान आदि नहीं मिलने की रही। जब जापान लड़ाई में शामिल हो गया तो समुद्रतटीय आवागमन बहुत कम हो गया और वह सारा बोझ खास तौर से कोयले को लाने ले जाने का रेलों पर आ पड़ा। इससे साधारण जनता के लिये उपलब्ध डिब्बों की कमी आ गई। रेलवे वर्कशाप युद्ध-सामग्री बनाने के काम में लग गये। इसका भी असर रेलों की कार्य-क्षमता कम करने का हुआ। रेल के यात्रियों की संख्या आज युद्ध के पहले की अपेक्षा २½ गुनी होगई है। १९३८-३९ में जितना रेलों में यात्रियों को स्थान मिलता था उसी को माप-दण्ड मान लें तब भी मौजूदा डिब्बों की संख्या को दुगनी कर देने से भी आज काम नहीं चल सकता। सामान लाने ले जाने के डिब्बों की भी भारी कमी आ गई है। युद्ध के समय में जो लाइनें नष्ट करदी गईं थी उनको दुबारा बनवाना है। और भी कई प्रकार के सुधार करने की आवश्यकता है। मुसाफिरों की, खास तौर से तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की सहूलियतों को बढ़ाने का भी सवाल। इधर रेल किराये में बराबर वृद्धि हुई है। इन सब बातों का सार यह है कि युद्ध के वर्षों में रेल द्वारा आवागमन की स्थिति काफी बिगड़ गई थी। देश-विभाजन ने इस स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे और आसाम बगाल रेलवे का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया। सांप्रदायिक झगड़ों के कारण भारत और पाकिस्तान में रेलवे स्टाफ़ का बड़े पैमाने पर परिवर्तन होने से भी अव्यवस्था फैली। बहुत कुछ अंग्रेजी स्टाफ़ भी स्वतन्त्रता आजाने के साथ-साथ चला गया। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि युद्ध के समय की स्थिति का फिर भी जैसे-तैसे मुकाबला कर लिया गया था, पर १९४७ और १९४८ में तो रेलों की व्यवस्था बिल्कुल ही बिखरने की सीमा तक पहुँच गई थी। पर यह संतोष की बात है कि पिछले तीन-चार वर्षों में स्थिति में लगातार सुधार होता जा रहा है। बाहर से नए एंजिन मँगाये गए हैं और आगे भी मँगाये जायँगे। डिब्बों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न भी जारी है। चितरंजन लोकोमोटिव वर्कशाप ने २६ जनवरी, १९५० से काम करना शुरू कर दिया है

जिसमें १९५१-५२ के आर्थिक साल में २१ नए एंजिन तैयार किये गये हैं और १९५२-५३ में ४२ एंजिन तैयार होने की आशा है। माल के डिब्बे और मुसाफ़िरों के डिब्बे तैयार करने के लिये पेराम्बुर (मद्रास) में एक कारखाना शुरू करने की भी योजना है। हिन्दुस्थान एयर क्रैफ्ट लि० में भी रेलवे कोचें तैयार की जा रही हैं। रेलों के पुनःसंस्थापन पर पिछले वर्षों में बराबर खर्च बढ़ रहा है। १९४९-५० में इस काम पर ३१ करोड़ रुपये खर्च हुए और १९५२-५३ के बजट में ५८ करोड़ रुपये रखे गये हैं। युद्ध के समय में जो माल लेजाने-लाने के बारे में प्राथमिकता पद्धति (प्रायरटी सिस्टम) जारी की गई थी वह अब हटा ली गई है। केवल रेलवे बोर्ड को प्राथमिकता की स्वीकृति देने का अधिकार है पर यह अधिकार बहुत कम काम में लाया जाता है। रेलवे गाड़ियों की संख्या बढ़ा कर, और तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के लिये जनता एक्सप्रेसें चालू करके भीड़ को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है, हालांकि इस समय भी स्थिति में काफ़ी सुधार की आवश्यकता है। मीटर गेज की रेलों पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया जाता रहा है। अब इस दिशा में भी अधिक ध्यान देना शुरू हुआ है। रेलवे स्टोर्स के बारे में विचार करने के लिए एक कमेटी की सितम्बर १९५० में नियुक्ति की गई थी जिसने सारी स्थिति पर विचार करने के लिये एक रिपोर्ट अप्रेल १९५१ में पेश करदी है। कमेटी ने यह सिफारिश की है कि स्टोर्स खरीदने की वर्तमान व्यवस्था जिसमें रेलवे के अलावा भारत सरकार के दूसरे मन्त्रालय भी रेलवे स्टोर्स खरीदते हैं, असन्तोषजनक है, और उसमें आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। 'रेलवे स्टोर्स' की उपयुक्त व्यवस्था करने के लिये रेलवे बोर्ड के तहत में एक केन्द्रीय स्टोर्स संगठन कायम करने, और सामान के स्टेन्डर्डाइजेशन की ओर विशेष ध्यान देने की कमेटी ने सिफारिश की है। वैज्ञानिक खोज की अधिक अच्छी सुविधा पर भी कमेटी ने जोर दिया है। कमेटी की सिफारिशों को रेलवे मन्त्रालय ने स्वीकार कर लिया है और उनके अनुसार कार्रवाई करने का प्रयत्न आरम्भ हो गया है। ईंधन की किफ़ायत करने की दृष्टि से भी एक कमेटी नियुक्त की है। रास्ते में माल के गुम जाने या नुकसान हो जाने सम्बन्धी मामलों की जाँच करने के लिये एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया है। इसके अलावा एक केन्द्रीय एफीशियेन्सी ब्यूरो भी स्थापित किया जा रहा है। मज़दूरों के हितों की ओर ध्यान दिया जा रहा है यद्यपि मज़दूरों की माँगें सन्तुष्ट नहीं हो सकी हैं और संघर्ष का वातावरण जब-तब उत्पन्न होता रहता है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि १ जनवरी १९५२ से एक स्थायी समझौते की मशीनरी कायम हो गई है। रेल दुर्घटनाओं को कम करने का भी प्रयत्न किया गया है। दो फ्रेंच विशेषज्ञों को इसलिये बुलाया गया था

कि वे नए एंजिन और रेल-मार्ग के बारे में जाँच करके अपनी रिपोर्ट दें। उनकी रिपोर्ट भारत सरकार के विचाराधीन है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की अधिक सुविधा की व्यवस्था करने का एक उपाय तो भीड़ को कम करने का है ही, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके अलावा तीसरे दर्जे के डिब्बों और मुसाफिरखानों में बिजली के पंखों तथा स्टेशन पर ठन्डे पानी की सुविधा करने की ओर भी ध्यान दिया गया है। स्टेशनों पर बिजली की रोशनी का प्रबन्ध भी किया जारहा है, और प्लेटफार्मों पर छाया कराई जा रही है। डिब्बों में बैठने की अच्छी सुविधा, सफाई का अच्छा प्रबन्ध, टिकट बाँटने की अधिक सुविधा आदि बातों की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पर इस सम्बन्ध में रेलवे अधिकारियों को अधिक समझ-बूझ से काम लेने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को रेफ्रीजरेटर के ठन्डे पानी की और मुसाफिर-घरों में बिजली के पखों की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी डिब्बों की गुंजाइश बढ़ाने, बैठने की दृष्टि से उनको अधिक सुविधाजनक बनाने, डिब्बों में अन्दर चलने-फिरने के लिये यथेष्ट गुंजाइश करने और सामान रखने की अधिक अच्छी व्यवस्था करने की जरूरत है। इसके अलावा तीसरे दर्जे का जो किराया बढ़ाया गया है वह बहुत ही आपत्तिजनक है। इस सम्बन्ध में दूसरे देशों से तुलना करना सर्वथा हास्यास्पद है। अगर इंगलैंड में तीसरे दर्जे का किराया यहाँ से पांच गुना और अमेरिका में चार गुना है तो यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि इंगलैंड की औसत आय यहाँ से १४ गुनी और अमेरिका की २४ गुनी है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि पिछले वर्षों में रेल द्वारा आवागमन की स्थिति सुधार की ओर जा रही है पर अभी बहुत कुछ करना बाकी है और तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के लिये अधिक विवेक से काम लेने की ज़रूरत है।

रेलवे का फिर समूहीकरण—रेलों के नये समूहीकरण के पहले भारतीय रेलों की व्यवस्था अलग-अलग कंपनियों के आधार पर होती थी, हालांकि सब में प्रबंध का ज़िम्मा भारत सरकार का ही था। कुछ समय से इस व्यवस्था की बजाय देश की समस्त रेलों को प्रदेश के आधार पर बाँटने का प्रस्ताव चल रहा था। रेलवे बोर्ड की एक उपसमिति भी इस प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी। इस कमेटी की सिफ़ारिशों को स्वीकार करने के पहले राज्य की सरकारों, व्यापारिक संस्थाओं, रेलवे मजदूर संघों की राय भी जानली गई। सब ने कमेटी की सिफ़ारिशों का सामन्यैतया समर्थन किया है। प्रस्ताव यह था कि भारतीय रेलों को छह बड़े ज़ोनों में संगठित किया जाये। ज़ोन बनाते समय एक तो इस बात का

ध्यान रखा जाये कि प्रत्येक ज़ोन में आर्थिक एकरूपता हो और दूसरा यह कि ट्रेफ़िक की स्वाभाविक दशा क्या है ? उपर्युक्त योजना के अनुसार भारतीय रेलों का छः समूहों में संगठन का कार्य अब पूरा हो चुका है। ये छः समूह इस प्रकार हैं :— (१) उत्तरी रेलवे—इसका केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में होगा और इसमें पूर्वी पंजाब रेलवे, जोधपुर और बीकानेर की छोटी लाइनें और ई० आई० आर० के लखनऊ-मुरादाबाद डिवीज़न और दिल्ली-रेवाड़ी-फ़ाजिलका विभाग बम्बई बड़ौदा की बड़ी लाइन का शामिल किया गया है। इलाहाबाद डिवीज़न का निर्णय अभी (अप्रैल १९५२) होना बाक़ी है। इसकी लम्बाई लगभग ६ हज़ार मील है। (२) उत्तरी-पूर्वी रेलवे—इसका केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता है। इसमें अवध-तिरहुत-आसाम रेल्वे, बम्बई बड़ौदा का फ़तेहगढ़ डिस्ट्रिक्ट, और ईस्ट इंडियन रेल्वे के कुछ भाग शामिल किये गये हैं। सियालदा डिवीज़न का निर्णय होना बाक़ी है। इसकी लम्बाई भी ६ हज़ार मील के लगभग है। (३) पूर्वी-रेल्वे—इसका केन्द्रीय कार्यालय भी कलकत्ते में है। इसमें बंगाल-नागपुर रेलवे पूरी, और ईस्ट इंडियन रेलवे के कुछ भाग शामिल हैं। इसकी लम्बाई भी ६ हज़ार मील के लगभग है। इन तीनों रेलवे का उद्घाटन १४ अप्रैल १९५२ को किया गया। (४) मध्यवर्ती रेलवे—इसका केन्द्रीय कार्यालय बंबई है। इसमें बंबई बड़ौदा की बड़ी लाइन, जी० आई० पी० का अधिकांश भाग, और सिंधिया, धौलपुर तथा हैदराबाद की रेलें शामिल हैं। इसकी लम्बाई भी ६ हज़ार मील के लगभग है। (५) पश्चिमी रेलवे—इसका केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। इसमें बम्बई बड़ौदा की छोटी लाइन (कानपुर-आगरा लाइन के अलावा) और सौराष्ट्र, राजस्थान तथा कच्छ की रेलों का समावेश है। इन दोनों का उद्घाटन नवम्बर १९५१ में हुआ था। (६) दक्षिणी रेल्वे—इसका केन्द्रीय कार्यालय मद्रास है। इसमें एस० आई०, एम० एंड एस० एम० की पूरी छोटी लाइन और बड़ी लाइन का अधिकतर भाग और मैसूर राज्य की रेल शामिल है। इसकी लंबाई भी छः हज़ार मील के लगभग है। इसका उद्घाटन सबसे पहले अप्रैल १९५१ में हुआ था।

उपर्युक्त व्यवस्था से कई प्रकार के लाभ होने की आशा है। कार्यक्षमता में उन्नति, खर्चे में किफ़ायत और शासन प्रबंध में सुधार होने की पूर्ण आशा की जाती है। दो या अधिक रेलों के एक ही ज़ोन में हो जाने से ऊँचे दर्जे का शासन प्रबन्ध का एकीकरण हो जायगा। इससे खर्च कम होगा। अलग-अलग रेलों के बीच में जो आज बहुत सा पत्र-व्यवहार होता है और आपस में जो कई तरह का मेल बिठाना होता है वह सब कम हो जायेगा। इससे काम भी जल्दी

होगा, स्टाफ़ की कम आवश्यकता रहेगी और इससे खर्च में कमी आयेगी। व्यापारी व्यवसायी वर्ग का भी अलग-अलग कंपनियों की बजाय एक बड़े प्रदेश में एक अधिकारी वर्ग से ही काम पड़ेगा। इससे उनको सुविधा होगी। एंजिन तथा डिब्बे आदि का बड़े प्रदेश में समूहीकरण होने से अधिक अच्छा उपयोग हो सकेगा। रेलवे वर्कशाप का भी अधिक अच्छा उपयोग हो सकेगा। 'स्टोर्स' को बड़ी मात्रा में एक केन्द्रीय व्यवस्था द्वारा खरीदने आदि का प्रबंध भी किफ़ायत से हो सकेगा। छोटी-छोटी कई रेलों के सीमित साधनों और कम कुशल संचालन का स्थान बढ़े हुए साधन और अच्छा तथा योग्य शासन प्रबन्ध ले लेगा। रेल्वे के जनरल मैनेजरों और दूसरे ऊँचे अधिकारियों को रेलों में सुधार संबंधी बड़ी बातों, खोज और प्रशिक्षण संबधी समस्याओं पर ध्यान देने का पूरा समय मिल सकेगा। एक विचारधारा ऐसी भी है जो इस प्रकार के ग्रूपिंग का कोई लाभ नहीं देखती। इस विचारधारा के अनुसार खर्चे में किफ़ायत तो कुछ बातों में होगी पर वृद्धि अधिक बातों में हो जायगी। नए हैडक्वार्टर्स, वर्कशाप और स्टाफ क्वार्टर बनाने में खर्च होगा। स्टाफ़ का दूर-दूर तबादला होने लगेगा क्योंकि एक ज़ोन में कई रेलें आयेंगो। इससे स्टाफ़ की असुविधा बढ़ेगी। इसका असर काम पर भी पड़ेगा। प्रबंध के मामले में स्थानीय स्वतंत्रता कम हो जाने से भी कार्यक्षमता पर असर पड़ेगा। किन्तु हमारे विचार से यह आपत्तियाँ बहुत ठोस आधार पर उठाई हुई नहीं हैं। इसके अलावा याद रखने की बात यह है कि जोन्स बनते समय चालू आन्तरिक व्यवस्था को ज्यों का त्यो रखने का विचार है। इस समय अधिकांश रेलों की व्यवस्था विभागीय आधार पर है न कि प्रादेशिक आधार पर। इस व्यवस्था को फ़िलहाल जैसी है वैसी ही चलती रहने देना टीक होगा। इससे स्टाफ़ का इधर से उधर परिवर्तन भी अधिक नहीं होगा और नई व्यवस्था का काम आसानी से शुरू हो जायगा। इसके अलावा समूहीकरण का जो अब तक का अनुभव हुआ है वह उपर्युक्त बातों की पुष्टि नहीं करता। अस्तु इसमें संदेह करने की आवश्यकता नहीं है कि रेलों का यह समूहीकरण उपयोगी साबित होगा।

रेलों का आर्थिक प्रभाव—हमारे देश के आर्थिक विकास के लिये रेलों का महत्त्व है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि विदेशी शासन-काल में भारतीय रेलों का विकास होने से उनके द्वारा कई प्रकार की राष्ट्र की हानि हुई है। हमारे औद्योगिक विकास में रेलों की भाड़ा नीति बाधक हुई। हमारे गृह उद्योगों के विनाश में वे सहायक हुईं। हमारे जंगलों को उन्होंने अपने ईंधन की आवश्यकता पूरी करने के लिये बर्बाद किया। पर यह सब त

अब इतिहास की बातें है। आज तो भारत एक स्वतंत्र देश है और भारतीय रेलें राष्ट्रीय सरकार का उसके द्वारा संचालित सबसे बड़ा उद्योग है। भारत के भावी आर्थिक विकास के लिये रेलों का विस्तार आवश्यक है। देश के किसी प्रदेश में अकाल पड़ने पर रेलों से ही वहाँ अनाज पहुँचाया जा सकता है। रेलें ही कारखानों तक कच्चा माल और बाज़ार तक तैयार माल लातीं और ले जातीं हैं। लोगों को आने-जाने की सुविधा रेलों के कारण बहुत कुछ हुई है। रेलों से भारत सरकार को काफी आय होती है। इसी तरह के और लाभ भी गिनाये जा सकते हैं। रेलों का देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्त्व है यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

सड़क यातायात—हमारे देश में सड़कों की वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है। देश में चार तो बड़ी 'ट्रंक रोड' हैं। ये सड़कें बहुत पुरानी हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सड़क ग्रांड ट्रंक रोड है जो कलकत्ता से दिल्ली और दिल्ली से खैबर तक जाती है। एक सड़क कलकत्ते से मद्रास, एक मद्रास से बंबई, और एक बंबई से दिल्ली को जाती है। इन सड़कों के अलावा फिर सहायक सड़कें है जिनमें से कई इन ट्रंक रोडों से मिली हुई हैं। पर न तो ये सड़कें काफ़ी हैं और न जो हैं उनकी हालत ही अच्छी है। इस असंतोषजनक स्थिति के कई कारण हो सकते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह रही है कि रेलों की अपेक्षा सड़कों पर ध्यान ही बहुत कम दिया गया। देश के विभाजन के बाद की भारत की सड़क संबंधी स्थिति यह है कि १९४९ में कुल २३९,०८१ मील पक्की (मेटल्ड) और कच्ची (अन-मेटल्ड) सड़कें हमारे देश में थीं। इनमें ८५,७८८ मील पक्की और १,५३,२९३ मील लंबी कच्ची सड़कें थीं। अगर मोटर चल सकने न चल सकने की दृष्टि से देखें तो १८१,४०६ मील लंबी मोटर चल सकने योग्य और ५७,५७५ मील लंबी मोटर न चल सकने योग्य सड़कें थीं। सड़कों संबंधी हमारी इस स्थिति का दुनियाँ के कुछ दूसरे देशों से मुकाबला करने पर नीचे लिखी स्थिति सामने आती है :—

देश का नाम	वर्ष	जन सं० करोड़	क्षेत्रफल ला०व०मी	मोटर योग्य सड़क मील	मोटर अयो० सड़क मील	कुल मील
सं०रा०अमे०	(१९४०)	१३·२	३०·२७	१,०००,०००	२,००९,०००	३,००९,०००
यूना० किंग०	(१९३९)	४·६	००·८९	१६०,१२०	१९,१७०	१७९,२९०
फ्रान्स	(१९३९)	४·२	२·१३	—	—	४०५,०२८
भारत	(१९४९)	३१·९	१२·१७	१८१,४०६	५७,५७५	२३९,०८१
पाकिस्तान	(१९४९)	७·१	३·६५	५,५९६	४८,११९	५५,९१३

उपर्युक्त तालिका से यह मालूम पड़ता है कि भारत और पाकिस्तान में क्रमशः प्रतिवर्ग मील ०·१६ मील और ०·१५ मील लम्बी सड़क है, जब कि अमेरिका में १ मील, ब्रिटेन में २·०२ मील, और फ्रान्स में १·६ मील है। प्रति १००० व्यक्ति के पीछे भारत और पाकिस्तान में क्रमशः सड़क की लंबाई ०·७५ मील और ०·७६ मील है, जब कि अमेरिका में २२·७ मील, युनाइटेड किंगडम में ३·६ मील, और फ्रान्स में ६ मील है। यदि हम विभिन्न प्रदेशों की दृष्टि से विचार करें तो दक्षिण भारत में सड़कों की स्थिति सब से अच्छी और उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में स्थिति सब से अधिक खराब मिलेगी। हिमालय की निचली तलहटियों की भी सड़क संबंधी स्थिति काफी असंतोषजनक है।

सड़कों का वर्गीकरण—हमारे देश में सड़कों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है : - (१) राष्ट्रीय सड़कें (नेशनल हाईवेज़), (२) प्रान्तीय सड़कें, (३) ज़िला सड़कें, (४) गाँव की सड़कें। राष्ट्रीय सड़कों द्वारा राज्य की राजधानियाँ, बड़े-बड़े शहर और मुख्य-मुख्य बन्दरगाह आपस में एक दूसरे से मिलाये गये हैं। भारत को बर्मा, नेपाल और तिब्बत से भी ये ही सड़कें मिलाती हैं। १ अप्रैल, १९४७ से इन सड़कों को बनाने और इनको ठीक दिशा में रखने का ज़िम्मा भारत सरकार ने ले लिया है। इस समय इन सड़कों की कुल लंबाई १३,४०० मील है जिसमें से लगभग ११,८०० मील लम्बी सड़कें तो बनी हुई हैं और लगभग १६०० मील लम्बे बीच-बीच के टुकड़े छूटे हुए हैं। प्रान्तीय सड़कें प्रान्त की प्रमुख सड़कें हैं और राष्ट्रीय सड़कों के साथ वे मिली हुई हैं। ज़िले की सड़कें ज़िलों के विभिन्न हिस्सों को आपस में जोड़ती हैं और बड़ी सड़कों से तथा रेलों से भी उनका सबध है। गांवों को आपस में मिलाने वाली गाँव की सड़कें हैं। प्रायः ये पगडंडियाँ मात्र हैं।

सड़कों का प्रबन्ध—प्रबन्ध की दृष्टि से राष्ट्रीय सड़कें भारत सरकार का विषय हैं। इनके अलावा बाक़ी की सब सड़कें राज्य की सरकारों का विषय हैं। राज्य का सार्वजनिक निर्माण विभाग सड़कों के चार्ज में रहता है। इसके अलावा ज़िला बोर्ड और म्यूनिसिपैल्टी की सड़कें भी हैं। म्यूनिसिपल सड़कों को छोड़कर लगभग ८०, प्रतिशत सड़कें स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के तहत में ही हैं। सड़कों के विकास सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये प्रति वर्ष 'इंडियन रोड कांग्रेस' भी होती है।

सड़कों का विकास—हमारे देश में सड़कों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है, यह दुहराने की ज़रूरत नहीं। एक अर्थ में देश का भावी विकास

ही इस पर निर्भर है। प्रथम महायुद्ध के बाद जब मोटर द्वारा आवागमन की मात्रा बढ़ गई तो सड़कों का महत्त्व खास तौर से सामने आया। १६२७ में डा० एम० आर० जयकर के सभापतित्व में 'रोड डेवलपमेंट कमेटी' की नियुक्ति हुई। इस कमेटी की सिफ़ारिश पर भारत सरकार ने मार्च १६२६ को सेन्ट्रल रोड डेवलपमेंट फण्ड का निर्माण किया। मोटर स्प्रिट पर मार्च १६२६ में जो आयात और उत्पादन-कर बढ़ाया गया था उस बढ़े हुए भाग की आय से यह फण्ड बना था। इस फण्ड में से राज्यों को सड़कों के निर्माण के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। इस फण्ड में ३१ मार्च १६४७ तक २७·०३ करोड़ रुपया एकत्रित हो चुका था। इसमें से ५·०६ करोड़ रुपया तो रिज़र्व में रखा गया था और २१·६४ करोड़ रुपया राज्यों में बाँटने के लिये उपलब्ध था। इसमें से १८·५ करोड़ रुपया ३१ मार्च १६४७ तक वास्तव में बाँटा जा चुका था। रोड फण्ड के निर्माण के बाद प्रान्तों और राज्यों की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। आज तक भी यही हालत चली आ रही है। इसलिये प्रान्त और राज्य की सरकारें अपनी आय में से जो रुपया सड़कों पर खर्च करना चाहती थीं और करती थीं उसमें उन्हें कमी करनी पड़ी। पहले रोड फण्ड का रुपया अन्तर्राज्य और अन्तर-जिला के महत्त्व की सड़कों पर ही खर्च हो सकता था। पर बाद में भारत सरकार को यह मजूर करना पड़ा कि रोड फण्ड से राज्य को मिलने वाले रुपये का २५ प्रतिशत सहायक सड़कों पर खर्च किया जा सकता है। जो सड़कें रेलों के मुक़ाबिले में आती हैं उन पर भी अपने हिस्से के २५ प्रतिशत से अधिक रुपया राज्य की सरकारें खर्च नहीं कर सकतीं। रुपये की कठिनाई के कारण सड़कों का विकास नहीं हो सका। हमारे देश में सड़कों का विकास कितने धीमे हुआ है इसका अनुमान इसी से लग जाता है कि १६००-१६४५ तक ४५ वर्षों में हमने जितनी मील सड़कें बनाई उतनी मील सड़कें संयुक्त राज्य अमेरिका ने १½ वर्ष में ही बनाली थीं। सन् १६०० में उस समय के अंग्रेज़ी भारत में १७६,००० मील कुल सड़कों की लम्बाई थी। १६४५ में यह लम्बाई बढ़कर २३६,५३५ मील लम्बी हो गई थी—यानी केवल ६०,५३५ मील लम्बी सड़क इन ४५ वर्षों में बनी। यदि हम केवल पक्की सड़कों को ही लें तो सन् १६०० में ४७,००० मील जब सड़कों की लम्बाई थी वह १६४५ में ७८,६६० मील हो गई—यानी ३१,६६० मील लम्बी नई पक्की सड़कें ४५ साल में ब्रिटिश भारत में बन पाई। सड़कों पर जो खर्च होता रहा है उससे भी इस धीमे विकास का पता चलता है। रोड फण्ड बनाने के बाद सड़कों पर होने वाला कुल खर्च द्वितीय युद्ध के समय तक पहले की अपेक्षा उल्टा कम ही हुआ, क्योंकि प्रान्तों और राज्यों ने अपनी आय में से

सड़कों पर बहुत कम खर्च किया, हालांकि इन वर्षों में मोटर यातायात पर लगने वाले करों में बहुत अधिक वृद्धि हुई। प्रान्त की सरकारों और केन्द्र की सरकार, सभी ने करों में वृद्धि की। मोटर के यातायात के लिये करों से आने वाली आय सड़कों में ही लगाई जाय और उसका प्रथक कोष स्थापित किया जाय यह सुझाव भी रखा जाता है। किसी हद तक करों के बोझ को कम करने की भी आवश्यकता महसूस की जाती है।

जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो सड़कों का महत्त्व और अधिक सामने आया और इस ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा। देश के पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही सरहदों पर सड़कों का यथेष्ट विस्तार और सुधार हुआ। यह विस्तार और सुधार युद्धजनित आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही किया गया था। १९४०-४१ में गवर्नर-प्रान्तों में सड़कों पर कुल खर्च ६·२६१ करोड़ रुपया हुआ था। १९४३-४४ में यह खर्च ७·८४९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था और १९४५-४६ में १३·३७ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। मोटर यातायात से होने वाली आय इस खर्च के मुकाबले १९४०-४१ में १०·९७ करोड़ थी और १९४३-४४ में ८·१२७ करोड़ थी और १९४५-४६ में २६·४९ करोड़ थी। खर्च की अपेक्षा आय बराबर अधिक रही है यह इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। १९४६-४७ में आय २०·१० करोड़ रुपया और खर्च १२·८७ करोड़ का हुआ।

नागपुर योजना—सड़कों के भावी विकास के प्रश्न पर विचार करने के लिये नागपुर में १९४३ में चीफ़ इंजीनियर्स की एक कान्फ्रेंस हुई थी। इस कान्फ्रेंस में आगामी बीस साल की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सड़कों सम्बन्धी एक योजना स्वीकार की गई थी। योजना के अनुसार अविभाजित भारत में ४ लाख मील लम्बाई की ४४८ करोड़ रुपये की लागत पर सड़कें बनाने का प्रस्ताव था। भारत का विभाजन हो जाने से भारत के हिस्से में ३७३ करोड़ रुपये की लागत पर ३११,००० मील लम्बाई की सड़कें बनाना रहा। इनमें ९०,००० मील की राष्ट्रीय और राज्य की सड़कें, ६०,००० मील की ज़िले की बड़ी सड़कें, १००,००० मील की ज़िले की दूसरी सड़कें और १५०,००० मील की गांव की सड़कें शामिल हैं। इस योजना में यह सिफ़ारिश भी की गई थी कि राष्ट्रीय सड़कों को बनाने और उनको ठीक हालत में रखने का पूरा आर्थिक ज़िम्मा भारत सरकार का होना चाहिए। इसके अलावा भारत सरकार का काम देश के विभिन्न भागों की सड़क योजनाओं में समन्वय करना होना चाहिये और इस दृष्टि से सेन्ट्रल रोड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सेन्ट्रल स्टैंडर्ड्ज़ स्पेसीफिकेशन्स, और टेकनिकल सलाह की भारत सरकार को व्यवस्था करनी चाहिये। योजना का मुख्य

ले जाने योग्य बन सकें। राज्य को अपनी सड़कों की योजना समझ-सोचकर केन्द्रीय सड़क संगठन की सलाह से बनानी चाहिये। गाँवों की सड़कें बनाने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसमें गाँव वालों का सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिये। ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि सड़क बनाने का ⅓ खर्च गाँव वालों ने दिया और ⅔ सरकार ने। पंच वर्षीय योजना में २३ करोड़ रुपया भारत सरकार, ५०·५८६५ करोड़ 'ए' श्रेणी के राज्य, १४·७७६ करोड़ 'बी' श्रेणी के राज्य और ५·३७१६ करोड़ 'सी' श्रेणी के राज्य, कुल ६३·७३७६ करोड़ रुपया सड़कों पर खर्च करने का प्रस्ताव है।

मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण—भारत के स्वतन्त्र होने के बाद मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति सब राज्यों ने अपना ली है। पिछले तीन वर्षों में इस दिशा में विभिन्न राज्यों में यथेष्ट प्रगति भी हुई है। बम्बई में 'स्टेट रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन' की स्थापना दिसम्बर १६४६ में हुई थी। इसमें पूँजी भारत सरकार और राज्य की सरकार ने १:३ अनुपात में लगाई है। इसका उद्देश्य धीरे-धीरे राज्य भर के मोटर यातायात को अपने हाथ में ले लेना है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की सरकार ने १६४७ में ही पैसेंजर बस ट्रान्सपोर्ट का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय कर लिया था। सरकारी विभाग द्वारा ही मोटर सर्विस का संचालन किया जाता है। पंजाब और मद्रास में भी सरकारी विभागों द्वारा ही मोटर सर्विस का संचालन होता है। उड़ीसा में रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन की स्थापना की जाने वाली है जो राज्य द्वारा संचालित मोटर यातायात को अपने हाथ में ले लेगा। पश्चिमी बंगाल में फिलहाल कलकत्ते और वृहत कलकत्ते की बस सर्विस तक ही राष्ट्रीयकरण सीमित रहने वाला है। मध्य प्रदेश में सी० पी० ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज़ लि० और प्रोविंशियल ट्रान्सपोर्ट कम्पनी लि० द्वारा मोटर सर्विसें चलाई जा रही हैं और इसी तरह की तीन और कम्पनियाँ बनाने का विचार है। 'बी' श्रेणी के राज्यों में ट्रावंकोर, कोचीन, मैसूर, सौराष्ट्र आदि में भी मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण शुरू हो गया है। दिल्ली में केन्द्रीय सरकार द्वारा मोटर यातायात का सचालन होता था। पर अब यह सचालन दिल्ली रोड ट्रान्सपोर्ट ऑथोरिटी नामकी स्वतन्त्र संस्था के हाथ में चला गया है।

मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण का भी अन्य राष्ट्रीयकरण की योजनाओं की तरह पूँजीपति वर्ग बराबर विरोध करता आया है, पर इस मामले में हमारी सरकारों ने दृढ़ता से काम लिया है। दिसम्बर १६५० में भारतीय संसद् ने 'रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन बिल' पास कर दिया। इस बिल के पास हो जाने से राज्य

की सरकारों को सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण का अधिकार मिल गया है और राज्य को अपनी बस सर्विसों को स्टेट्यूटरी कारपोरेशन द्वारा प्रबन्ध-व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। राष्ट्रीयकरण से मुसाफिरों को सुविधा बढ़ी है इसमें कोई संदेह नहीं। व्यक्तिगत हाथों में जब मोटर यातायात था उससे यदि आज किराया कुछ अधिक है और लाभ कम भी है तो इसे राष्ट्रीयकरण की असफलता मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इसका एक कारण यह भी है कि पहले की अपेक्षा यात्रियों और काम करने वाले दोनों ही को अब अधिक सुविधा दी जाती है। सरकार के हाथ में जो व्यवसाय है उसका एकमात्र दृष्टि-कोण शोषण द्वारा अनुचित लाभ कमाना नहीं हो सकता। फिर भी जहाँ कार्य-क्षमता की कमी हो और अपव्यय हो वहाँ बराबर सुधार करने का प्रयत्न करने चाहियें। राष्ट्रीयकरण की सफलता के लिये यह आवश्यक है। इसके अलावा यह भी जरूरी है कि राज्य की ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज़ जिन मोटर गाड़ियों को काम में लें उनका स्टेंडर्डाइज़ेशन हो, और देश के मोटर उद्योग के विकास से पुरानी के स्थान पर नई गाड़ियां बदलने और उनकी संख्या बढ़ाने की योजना का मेल बिठाया जाये। मोटर गाड़ी सुधारने के कारखानों की स्थापना करने और 'टेकनिकल मेन' को शिक्षा देने की व्यवस्था करने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिये।

पाँच वर्षीय योजना में राज्य द्वारा चलने वाली मोटर सर्विसेज़ के लिए 'अ' श्रेणी के राज्यों के लिए ५.६ करोड़ रुपया, 'ब' श्रेणी के राज्यों के लिये १.६ करोड़ रुपया और 'सी' श्रेणी के राज्यों के लिये २० लाख रुपया—इस प्रकार कुल ७.४ करोड़ रुपया रखा गया है।

आन्तरिक जल यातायात—जल यातायात दो प्रकार के हैं—एक तो नदी यातायात और दूसरा समुद्रतटीय यातायात। पहले हम नदी यातायात के बारे में विचार करेंगे।

नदी यातायात—भारत में नदी यातायात अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। लिखित इतिहास के पहले से नदी यातायात का इस देश में विकास हो चुका था। 'युक्ति कल्पतरु' नाम की एक प्राचीन संस्कृत की पुस्तक है, जिसकी प्राचीनता का ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी कठिन है, उसमें समुद्र और नदी में चलने योग्य नावों की निर्माणकला का उल्लेख आता है। सांची के स्तूप में एक नाव का चित्र खुदा हुआ है। मेगस्थनीज़ ने भी नदी द्वारा यातायात का ज़िक्र किया है। १४ वीं शताब्दी में भी नदी यातायात उन्नत दशा में था। पर यह तो प्राचीन इतिहास की बात हुई। वर्तमान युग में भार

से चलने वाले स्टीमर का सबसे पहले १८३३ में उपयोग हुआ। १८४२ में कलकत्ता और आगरा के बीच में यमुना नदी में नियमित रूप से पाक्षिक यात्रा का प्रबन्ध था। पर स्टीमर का महत्त्व नदी यातायात में कभी बहुत अधिक नहीं हुआ। देशी नावों द्वारा कहीं अधिक मात्रा में यातायात होता था।

देश में नदी यातायात का ह्रास रेलों के विकास के साथ-साथ १८५५ से आरम्भ हुआ। सिंचाई के लिये जब बड़ी बड़ी नहरें बनने लगीं तो उनका असर भी नदी यातायात पर बुरा पड़ा क्योंकि नदियों में, खासतौर से उनके ऊपरी हिस्सों में, नहरों में पानी चले जाने से, पानी की कमी होने लगी। बाद में नदी यातायात की मात्रा थोड़ी बढ़ी है, पर फिर भी इस समय नदी यातायात देश के उत्तरी-पूर्वी भाग में—गंगा-ब्रह्मपुत्रा मार्ग पर—ही सीमित है। देश के विभाजन के कारण और भारत-पाकिस्तान के सम्बन्ध अच्छे नहीं होने से भी नदी यातायात में अड़चन उत्पन्न हुई है और यह आवश्यक समझा जा रहा है कि हमारे नदी यातायात की इस तरह पुनर्व्यवस्था हो जाय कि पाकिस्तान में से होकर कम से कम आना-जाना पड़े।

भारत में साल भर जारी रह सकने वाले जल-मार्ग की लम्बाई ४१,००० मील के लगभग है। इस पर स्टीमर्स और देशी बड़ी-बड़ी नावें चल सकती हैं। इसके अलावा ऐसे जलमार्ग भी कई हैं जहाँ छोटी-छोटी नावें चल सकती हैं। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ३,६०० मील लम्बी नहरों पर यातायात होता था। १९३८-३९ में इनकी ४,२०५ मील की लम्बाई हो गई थे। कुल किश्तियों की संख्या इस शताब्दी के आरम्भ में २०८,००० थी। यह संख्या द्वितीय महायुद्ध के पहले २०६,००० हो गई थी। इस बीच में जल-यातायात से आने-जाने वाले माल की मात्रा २१ लाख टन से १०७ लाख टन (१९३८ ३९) होगई थी और यात्रियों की संख्या ६ लाख से १६ लाख होगई थी। विभाजन के बाद जल यातायात के लिए उपलब्ध नहरों की लम्बाई ५७२४ मील, आने-जाने वाले माल की मात्रा १९२ लाख टन और यात्रियों की संख्या ३८०,००० है (दिसंबर १९५० के कॉमर्स से)। गंगा-ब्रह्मपुत्रा जलमार्ग पर स्टीमर से होने वाले ट्रैफिक की मात्रा साल भर में ६२½ करोड़ टन मील है। इन्हीं नदियों में देशी नावों से इससे दुगना ट्रैफिक होता है। कलकत्ते से आने जाने वाले कुल माल का मुश्किल से १/१२वाँ हिस्सा जल-मार्ग से आता है। दक्षिण में बकिंघम नहर जो मद्रास और बेजवाड़ा को मिलती है, गोदावरी और कृष्णा नदी की नहरें, और कुम्भगुदन नहरें जल यातायात के प्रमुख साधन हैं। दक्षिण भारत की नदियां उत्तर भारत की नदियों की अपेक्षा आवागमन के लिये कम उपयोगी हैं। इस

प्रतिनिधि भी बोर्ड के मेम्बर होंगे। भारत सरकार इसका एक सेक्रेट्री भी नियुक्त करेगी। इस बोर्ड का काम ब्रह्मा, गंगा और इनकी सहायक नदियों के यातायात संबंधी प्रश्नों को हल करना और इस दृष्टि से उनका विकास करना होगा। विभिन्न राज्यों द्वारा इन नदियों के यातायात के संबंध में किये जाने वाले कामों में समीकरण करना भी इस बोर्ड का काम होगा। इसका केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में रहेगा और इसका व्यय सब सबंधित सरकारें उठावेंगी। जल यातायात के विकास में विभिन्न राज्यों और केन्द्रीय सरकार में आवश्यक पारस्परिक सहयोग की दिशा में उठाया गया यह एक उल्लेखनीय क़दम है।

नदी यातायात के मार्ग में, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एक कठिनाई यह है कि सिंचाई की नहरों के कारण पानी की कमी आ जाती है। इसका उपाय यह है कि जल संचय (रिवर कजरवेन्सी) की उचित व्यवस्था की जाये। यह व्यवस्था बड़ी खर्चीली होती है और केवल जल यातायात के लिये इतना खर्च करना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये नदी के उपयोग की बहु-उद्देशीय (सिंचाई, बिजली, बाढ़ नियंत्रण और यातायात) योजनाओं के बनने पर ही यह व्यवस्था सम्भव है। इसीलिये भारत-सरकार ने नदियों की बहु-उद्देशीय योजना की नीति को स्वीकार किया है। इससे जल यातायात की यह कठिनाई दूर हो सकेगी।

इस समय जो नदी घाटी योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं उनमें से कई एक के पूरी होने पर देश के जल यातायात में भी विस्तार होगा। उदाहरण के लिये उड़ीसा की हीराकुड बाँध योजना पूरी होने पर महा नदी का ३०० मील का टुकड़ा जल यातायात के योग्य हो सकेगा। इसी प्रकार दामोदर घाटी योजना के फलस्वरूप रानीगंज की निचली कोयले की खानों को हुगली नदी से एक जल यातायात की नहर के द्वारा मिलाया जा सकेगा। गंगा बेरेज प्रोजेक्ट के अन्तर्गत भी एक नहर बनाने की योजना है जो भागीरथी से झाँसीपुर के पास मिलेगी। गंगा और घागरा नदी को भी यातायात के योग्य बनाने का विचार चल रहा है। सेन्ट्रल वाटर पावर इरीगेशन एण्ड नेवीगेशन कमीशन की अब तक की जाँच से यह मालूम होता है कि पूर्वी और पश्चिमी घाट को भी जल यातायात से जोड़ना सम्भव है। पर यह योजना बहुउद्देशीय हो सकती है। इसी प्रकार आसाम और पश्चिमी बंगाल के बीच में भी जल यातायात की स्थापना सम्भव है। सारांश यह है कि भारत में जल यातायात के विकास के लिये बहुत गुंजाइश है। यह विकास आवश्यक है। इस ओर सरकारों का ध्यान भी है।

समुद्रतटीय यातायात—प्राचीन काल में भारतीय जहाजों द्वारा समुद्री व्यापार होता था, यह बात सर्वसिद्ध है। सिकन्दर की फौजें जब लौटने लगीं तो २००० जहाजों के बेड़े का उन्होंने अपनी समुद्री यात्रा के लिये उपयोग किया था। अकबर के शासनकाल में ४०,००० जहाज तो केवल सिंध नदी के व्यापार में लगे हुए थे। जब वास्को-डी-गामा पहली बार भारत में आया तो उसे यहाँ ऐसे नाविक मिले जो जल यातायात के बारे में उससे कहीं अधिक जानकारी रखते थे। उन्नीसवीं सदी तक भारतीय जहाज़ विदेशी और समुद्रतटीय व्यापार में अच्छा हिस्सा लेते रहे। पर बाद में अंग्रेजी जहाज़ों ने अनुचित प्रतिस्पर्द्धा और अनुचित उपायों से भारतीय जहाज़ी यातायात को प्रायः नष्ट सा कर दिया। अंग्रेज़ी जहाजों के मालिकों का ब्रिटिश सरकार पर काफ़ी असर था। उन्होंने 'नेवीगेशन लाज़' पास करवाये। इन क़ानूनों के बाद भारतीय जहाज़ ब्रिटिश बन्दरगाहों में जा नहीं सकते थे। जहाज़ों के निर्माण में वैज्ञानिक तरीकों के उपयोग और लोहे के जहाज़ बनने से भी भारतीय जहाज़ी यातायात को बहुत धक्का पहुँचा। इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापार में तो भारतीय जहाज़ों का कोई स्थान बचा ही नहीं, पर समुद्रतटीय व्यापार में भी ब्रिटिश जहाज़ों का प्रभुत्व कायम हो गया। ब्रिटिश नेवीगेशन कम्पनीज़ ने 'कान्फ्रेंस' के रूप में अपना एक संगठन बना लिया था। यह संगठन हर प्रकार से भारतीय जहाज़ों का विरोध करता था। भारतीय जहाज़ों का विरोध करने के दो उपाय ख़ास तौर से काम में लाये जाते थे। एक तरीक़ा तो यह था कि पहले तो किराये को कम करके भारतीय जहाजों को इस क्षेत्र से हटा दिया जाये और फिर किराया बढ़ा दिया जाये। यही किराये की लड़ाई का तरीक़ा था। दूसरा तरीक़ा यह था कि यदि माल भेजने वाले 'कान्फ्रेंस' के जहाज़ों से ही अपना माल भेजते हैं तो उन्हें भाड़े का एक अंश, प्रायः १०%, एक निश्चित समय के बाद वापस मिल जाता था। अब तो इस 'कान्फ्रेंस' में दो भारतीय जहाज़ी कंपनियाँ भी शामिल करली गई हैं। भारतीय जहाजों के मार्ग में और भी कई कठिनाइयाँ थीं, जैसे ब्रिटिश और यूरोपियन बीमा कम्पनियाँ उनके विरुद्ध पक्षपात का व्यवहार करतीं और समुद्रतटीय व्यापार और मुसाफ़िरों के आवागमन को ब्रिटिश जहाज़ प्रोत्साहन नहीं देते।

मरकेन्टाइल मेरीन कमेटी—प्रथम महायुद्ध के बाद भारत में राष्ट्रीय जहाज़ी बेड़े के निर्माण की माँग की जाने लगी। देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से तो यह आवश्यक था ही पर देश की सुरक्षा के लिये भी इसका महत्त्व था। भारत सरकार ने १९२३ में एक मरकेन्टाइल मेरीन कमेटी की नियुक्ति की।

कमेटी ने भारतीय युवकों को जहाज़ी शिक्षा देने की व्यवस्था करने, भारतीयों को विदेशी जहाज़ों पर अनिवार्य रूप से काम देने, समुद्रतटीय बेड़े का भारतीय-करण करने, और जहाज़ निर्माण के उद्योग को सहायता देकर पुनर्जागृत करने की सिफारिशें कीं। तत्कालीन भारत सरकार ने इन सिफारिशों में से एक सिफ़ा-रिश को स्वीकार किया। भारतीय युवकों की जहाज़ी शिक्षा के लिए 'डफरिन' जहाज़ की स्थापना की गई।

समुद्रतटीय व्यापार के भारतीयकरण के प्रयत्न—समुद्रतटीय व्यापार भारतीय जहाज़ों के लिये सुरक्षित रखने की माँग भी देश में उठी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में १६२८ में इस आशय के बिल भी पेश किये गये। पर तत्कालीन भारत सरकार के विरोध के कारण इन बिलों का कोई नतीजा नहीं आया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—जब गत महायुद्ध आरम्भ हुआ तो भारत सरकार को यह अनुभव हुआ कि भारतीय जहाज़ी बेड़े की कितनी आवश्यकता है। १६४५ में जहाजों सम्बन्धी 'रिकन्स्ट्रक्शन पॉलिसी सब-कमेटी' की भारत-सरकार ने नियुक्ति की। इस कमेटी ने जनवरी १६४७ में अपनी रिपोर्ट पेश की और सरकार द्वारा राष्ट्रीय जहाजी नीति अपनाने की सिफारिश की। आने वाले पाँच से सात साल में २० लाख टन का जहाज़ी बेड़ा खड़ा कर लेने का लक्ष्य इस कमेटी ने देश के सामने उपस्थित किया। समुद्रतटीय व्यापार पूर्णतया भारतीय हाथों में ले लेने की इस कमेटी ने सिफ़ारिश की। इसी प्रकार दूसरे देशों के व्यापार के बारे में भी इसने कुछ अनुपात निश्चित किये। भारतीय शिपिंग बोर्ड की स्थापना करने की भी कमेटी की राय थी।

अगस्त १६४७ में भारत स्वतंत्र हो गया। तभी से भारत-सरकार भारतीय जहाज़ी बेड़े के निर्माण के लिए आवश्यक प्रोत्साहन दे रही है। जहाज़ी यातायात के एक नये सरकारी विभाग की स्थापना की जा चुकी है जो डाइरेक्टर जनरल, इंडियन शिपिंग की तहत में काम करता है। १६४७ के अगस्त में भारत-सरकार ने तीन नए शिपिंग कोरपोरेशन्स स्थापित करने की घोषणा की थी। इनमें से प्रत्येक की १० करोड़ की पूँजी मानी गई थी जिसका ५१% भाग भारत सरकार से मिलने की बात थी। प्रत्येक कोरपोरेशन का अपना निश्चित मार्ग और निश्चित टनेज हो, यह भी तय किया गया था। इन कोरपोरेशन्स का उद्देश्य भारतीय टनेज की शीघ्रातिशीघ्र मात्रा बढ़ाना और जहाज़ी यातायात का विकास करना था पर भारत सरकार आर्थिक और अन्य कठिनाइयों के कारण अभी तक केवल एक कारपोरेशन की ही स्थापना कर सकी है। इसका काम आस्ट्रेलिया, सुदूरपूर्व और

निकट पूर्व के साथ व्यापार करना है और इसकी मैनेजिंग एजेंसी सिंधिया स्टीम नेवीगेशन लिमिटेड के पास है।

१९४८ से तटीय यातायात पर भारत सरकार का नियंत्रण है और लाइसेंस से जहाज़ चलाने की आज्ञा है। तभी से तटीय व्यापार में भारतीय जहाज़ों की संख्या बढ़ने लगी है। जनवरी १९५० में जो शिपिंग कान्फ्रेंस हुई थी उसमें समुद्रतटीय व्यापार की भारतीय मात्रा को और अधिक बढ़ाने के प्रश्न पर विचार किया गया था। मौजूदा ब्रिटिश जहाज़ों में से कुछ के लाइसेंस रद्द करने और आगे नए लाइसेंस नहीं देने का कान्फ्रेंस में निर्णय किया गया। भारतीय कम्पनियों को सरकार ने यह आश्वासन दिया कि जहाँ तक सम्भव होगा सरकारी माल लाने ले जाने का काम वह उन्हीं से लेगी। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी यह निर्णय किया गया कि आगे से विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी समझौतों में यह धारा रखी जाय कि ५०% माल भारतीय जहाज़ों में लाया-ले जाया जायगा। अगस्त १९५० में भारत-सरकार ने समुद्रतटीय यातायात केवल भारतीय जहाज़ों के लिये ही सुरक्षित रखने का निर्णय कर लिया है। सरकार की इस नीति को कहाँ तक सफलता मिली है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि समुद्रतटीय व्यापार में जहाँ आज से दो साल पहले १,३८,००० विदेशी टनेज था वहाँ अब केवल ४८,००० टन ही है। द्वितीय युद्ध के बाद हमारा भारतीय ग्रोस रजिस्टर्ड टनेज ७५,००० था वह १ जनवरी १९५२ को ३ लाख ९० हज़ार ७०७ टन था। हमारे जहाज़ी बेड़े में ५ हज़ार टन से ऊपर के ४१ जहाज़ हैं। इनमें आधे से ज़्यादा जहाज़ तीन शिपिंग कम्पनियों के हैं। विदेशी व्यापार का जहाँ तक सम्बन्ध है १९४६-४७ में इस क्षेत्र में एक भी भारतीय जहाज काम नहीं करता था, पर आज २४ जहाज १,७३,५०५ ग्रोस टनेज के काम कर रहे हैं। बाकी २,१७,२०२ ग्रोस टनेज के ७९ जहाज़ तटीय व्यापार तथा बर्मा, लंका, पाकिस्तान जैसे निकट के देशों से व्यापार के काम में आते हैं। हमारे जहाजों में प्रायः सभी सामान ले जाने वाले हैं और केवल दो जहाज मुसाफिर ले जाने वाले हैं। सन् १९४७-४८ में समुद्रतटीय व्यापार का ४३% और १९४८-४९ में ५३% भाग भारतीय जहाज़ों का था। पर विदेशी व्यापार का केवल ५% भाग हमारे जहाजों का है। समुद्र तटीययातायात के विकास के लिये बन्दरगाहों के विकास की भी पूरी आवश्यकता है। देश में छोटे छोटे बन्दरगाहों को स्थिति में सुधार करने के लिये भारत सरकार के एक विशेष अधिकारी ने आवश्यक जाँच के बाद रिपोर्ट पेश की है। नेशनल हार्बर बोर्ड ने इस रिपोर्ट पर नवम्बर १९५१ में विचार किया।

पाँच साला योजना—हमने ऊपर यह लिखा है कि १६४७ में शिपिंग सब-कमेटी ने भारतीय जहाजों के लिये आगामी ५-७ वर्षों में २० लाख टन का लक्ष्य उपस्थित किया था। इस लक्ष्य तक हम पहुँच नहीं सके हैं। युद्ध के पहले भारतीय टनेज २,४५,००० था और १६४६ में १,२७,०८८ ही रह गया था, वह १६५० के अन्त में ३,७७,५०० हो गया था। जैसे ऊपर लिखा गया है, इस समय ७६ जहाज २,१७,२०२ ग्रो टनेज के भारतीय समुद्र तट पर हैं और उनमें से आधे से ज्यादा २० वर्ष से अधिक आयु के हैं। भारतीय जहाजों की संख्या में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना न समुद्रतटीय व्यापार भारतीय जहाजों के हाथ में पूर्ण तौर से आ सकता है और न पुराने जहाजों को बदला जा सकता है और न विदेशी व्यापार में ही हम अपना उचित हिस्सा ले सकते हैं। इसीलिए पंचवर्षीय योजना में इस काम के लिये १४.६ करोड़ रुपया खर्च करने का प्रस्ताव है। ८०००० टन तो समुद्रतटीय व्यापार के लिये और १,२५,००० टन विदेशी व्यापार के लिये; और ६०,००० टन ईस्टर्न शिपिंग कोरपोरेशन के लिये, जो भारत सरकार ने स्थापित किया है, प्राप्त करने की योजना है। टनेज बढ़ाने के लिये भारत सरकार भी ऋण के रूप में कम्पनियों को आर्थिक सहायता देती है और इसलिये वह कम्पनियों पर अपनी देख-रेख भी रखती है ताकि उचित भाड़ा वसूल किया जाये, प्रबन्ध अच्छा हो और मुनाफ़ा वापस इसी काम में लगे। मेरीन इंजीनियरिंग और मर्चेंट नेवी--गेटिंग की शिक्षा के लिए भी योजना में व्यवस्था की गई है।

हवाई यातायात—भारत में हवाई उड़ान १६११ में आरम्भ हुई। इस समय कुछ स्थानों में केवल प्रदर्शन की दृष्टि से हवाई उड़ान की व्यवस्था की गई थी। पहली बड़ी लड़ाई के बाद हवाई यातायात की हमारे देश में वास्तविक शुरूआत हुई। भारत सरकार ने कुछ लैंडिंग ग्राउन्ड की व्यवस्था की। १६२७ में सिविल एवियेशन डिपार्टमेंट की स्थापना की गई। सिविल एरोड्रोम्स बनवाए गए और हवाई जहाज चलाना सिखाने के लिये फ्लाइंग क्लबें कायम हुईं। १६२६ में भारत और लन्दन के बीच में नियमित रूप से हवाई यातायात आरम्भ हुआ। १६३२ में भारत में ही कुछ स्थानों के बीच में हवाई यातायात की सुविधा हो गई। विदेशी कम्पनियों द्वारा भी भारत में होकर पश्चिम और पूर्व के बीच हवाई यातायात की शुरूआत की गई।

गत महायुद्ध के समय हवाई यातायात को अच्छा प्रोत्साहन मिला और इस समय तो हवाई यातायात का देश के यातायात में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद हवाई यातायात ने अच्छी प्रगति की है। भारत सरकार ने बराबर प्रोत्साहन दिया। 'इन्टरनेशनल सिविल एवियेशन ओरगेनीजेशन में भी भारत

सरकार क्रियात्मक भाग लेती रही है।

वर्तमान स्थिति—१ अप्रैल, १९५१ को भारत में ६ हवाई यातायात की कम्पनियाँ थीं—एयर इंडिया, बम्बई, इंडियन नेशनल एयरवेज़, नई दिल्ली; एयर सरविसेज़ आव इंडिया, बम्बई; डेकन एयरवेज, बेगम पेट; एयरवेज़ (इंडिया), कलकत्ता; भारत एयरवेज़, कलकत्ता; एयर इंडिया इंटरनेशनल, बम्बई; हिमालया एवियेशन, कलकत्ता; कलिंगा एयर लाइन्स, कलकत्ता। इनमें से एयर इंडिया इन्टरनेशल बम्बई (१९४७ में स्थापित) लन्दन तथा बम्बई, अदन, नेरोबी के बीच में चलती है। इसमें भारत सरकार का भी हिस्सा है। भारत एयरवेज़ कलकत्ता, बैंगकोक के बीच में भी चलती है। संसार के हवाई यातायात की दृष्टि से भारत की भौगोलिक स्थिति कुछ अच्छी है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम के बीच में यह स्थित है। बी० ओ० सी०, के० एल० एम०, टी० डब्लू० ए० तथा पेन एमरिकन एयरवेज़ आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की हवाई यातायात की कम्पनियों द्वारा हवाई यातायात की व्यवस्था भारत में होकर है।

१९५० में हवाई जहाजों ने १,८८,९६,१३९ (१ करोड़ ८८ लाख ९६ हजार १३९) मील की यात्रा की और ४½ लाख यात्रियों ने इन यात्राओं से लाभ उठाया। १९४६ में हवाई जहाज से १०,१२३ हजार मील की यात्रा १,०५,२५१ यात्रियों ने की थी। १ अप्रैल १९५१ को हवाई जहाज के अन्दरूनी और बाहरी दोनों मिलाकर ५१ मार्ग इस समय काम करते थे। हवाई मार्गों की कुल लम्बाई २६ हजार मील के लगभग है। हवाई जहाजों से यात्रियों के अलावा सामान और डाक भी लाई-लेजाई जाती है। शरणार्थियों को लाने-लेजाने में, आसाम में बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में सहायता पहुँचाने में और दूसरे ऐसे मौकों पर हवाई जहाजों से बहुत मदद मिली है।

सिविल एवियेशन डिपार्टमेंट के नियन्त्रण में इस समय ६६ एरोड्रोम हैं। इसमें से दिल्ली, बम्बई और कलकत्ते के अन्तर्राष्ट्रीय एरोड्रोम्स हैं। कुछ बड़े एरोड्रोम्स हैं, कुछ बीच के दर्जे के और कुछ छोटे हैं। कुछ एरोड्रोमों पर—लगभग ३१ पर—रात को उड़ने की व्यवस्था भी है।

ऐरोनॉटिकल कम्यूनिकेशन के इस समय ५१ अच्छे स्टेशन हैं। ट्रेनिंग की सुविधा करने के लिये भी पिछले वर्षों में प्रयत्न हुए हैं। इलाहाबाद में सिविल एवियेशन ट्रेनिंग सेंटर है जिसमें चार विभागों की शिक्षा दी जाती है—उड़ना, एरोड्रोम, इंजीनियरिंग और कम्यूनिकेशन। सहारनपुर में भी सिविल एवियेशन ट्रेनिंग सेन्टर है जहां रेडियो टेकनीशियन्स को तैयार किया जाता है।

पूना में इंडियन ग्लाइडिंग एसोसियेशन है। इसे भारत सरकार से आर्थिक

सहायता मिलती है। इसका काम 'ग्लाइडिंग' को प्रोत्साहन देना है।

इंडियन एरोनॉटिकल सोसाइटी की भी दिसम्बर १९४८ में स्थापना हो चुकी है। इसका उद्देश्य एरोनॉटिकल साइन्स और एंजीनियरिंग की उन्नति में सहायक होना है।

अनुसंधान और विकास के लिये भी सफ़दरजंग एरोड्रोम, नई दिल्ली में कुछ व्यवस्था की गई है। बंगलोर, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव साइन्स में एरोनॉटिकल एंजीनियरिंग की पोस्ट ग्रेजूएट शिक्षा भी दी जाती है।

बंगलौर में एयर क्रैफ्ट फेक्टरी कई वर्षों से काम कर रही है। यह भारत सरकार के अधिकार में है। भारत सरकार का उद्देश्य-इसे पूर्णतया हवाई जहाज़ बनाने के कारखाने का रूप देना है।

भावी विकास—भारतवर्ष में हवाई यातायात के विकास के लिये यथेष्ट गुंजाइश है। युद्धोत्तर विकास योजना के अन्तर्गत, भारत सरकार ने हवाई यातायात के विकास और नियन्त्रण की भी एक योजना बनाई। इस योजना के अनुसार हवाई यातायात का क्षेत्र व्यक्तिगत व्यवसाय के लिए खुला छोड़ने का निश्चय किया गया, एयर ट्रांसपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड की स्थापना का फैसला किया गया और कोई भी हवाई यातायात की कम्पनी बिना इससे लाइसेंस लिये कार्य नहीं कर सकती यह भी तय किया गया। हवाई यातायात की सब लाइनें केवल चार कंपनियों द्वारा चलाई जानी चाहियें, और सरकार हवाई यातायात की कंपनियों को आर्थिक सहायता दे सकती है—यह भी इस योजना के अन्तर्गत था। दूसरे महायुद्ध के बाद एयर ट्रांसपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड के पास देश में हवाई यातायात की व्यवस्था करने के लिए कंपनियाँ खोलने के कई आवेदनपत्र आये और कई कंपनियाँ खुलीं भी। पर तुरन्त ही यह अनुभव किया जाने लगा कि इन कंपनियों की आर्थिक हालत संतोषजनक नहीं है। फ़रवरी १९५० में भारत सरकार ने एयर ट्रांसपोर्ट इनक्वायरी कमेटी की, सारी स्थिति की जांच करने और हवाई यातायात की भावी उन्नति के लिये उपयुक्त सुझाव देने के लिये नियुक्ति की। कमेटी की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि हवाई यातायात उद्योग की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है, और इसका मुख्य कारण यह है कि देश में हवाई यातायात की वर्तमान मांग की दृष्टि से हवाई यातायात की कंपनियों की संख्या कहीं अधिक है। इसका नतीजा यह है कि अनावश्यक और अधिक खर्च होता है, आपस में अनुचित प्रतिस्पर्द्धा होती है, और कंपनियों की आय में कमी आती है। कंपनियों के पास हवाई जहाज और उनके अतिरिक्त भाग भी आवश्यकता से कहीं अधिक

है। लाइसेंसिंग बोर्ड ने आवश्यकता से अधिक लाइसेंस जारी करके भी किसी हद तक इस स्थिति को बिगाड़ने में सहायता पहुँचाई है।

हवाई यातायात के लिये कमेटी ने जो सिफारिशें की हैं उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—(१) मौजूदा स्थिति में केवल चार हवाई यातायात की कंपनियाँ होनी चाहियें—बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और हैदराबाद में। इसके लिये मौजूदा कंपनियों को मिला देना चाहिये। इंडियन एयरवेज और एयर सर्विसेज को मिलाने की उन्होंने सिफारिश की है। (२) किराये के बारे में उन्होंने इस मत का समर्थन नहीं किया है कि जो किराया कंपनियाँ इस समय लेती हैं वह अनुचित है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि स्थायी एम्प्लॉयमेन्ट पर १०% की आय होनी ही चाहिये और इसी आधार पर किराया तय होना चाहिये. इसलिये वह अत्यधिक न हो साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। (३) भारत सरकार हवाई यातायात कंपनियों को जो आर्थिक सहायता दे रही है उसे कुछ समय (१९५२ दिसम्बर) तक जारी रखने की भी कमेटी की सिफारिश है। यह सहायता पेट्रोल पर लगने वाले आयात-कर पर रिबेट के रूप में दी जाती है। (४) मुनाफे पर सरकार द्वारा नियंत्रण रखने की भी कमेटी की सिफारिश है। (५) कमेटी ने यह भी कहा है कि आने वाले पांच साल तक तो कम से कम इस उद्योग में से व्यक्तिगत व्यवसाय को समाप्त नहीं करना चाहिये। पर अगर सरकार राष्ट्रीयकरण का निर्णय करे ही तो कमेटी की राय में स्टेटूटरी कारपोरेशन के द्वारा ही हवाई यातायात का संचालन होना चाहिये।

कमेटी की सिफारिशें सरकार के विचाराधीन हैं। हाल में ही संसद में भारत सरकार की ओर से यह बताया गया था कि सरकार इंडियन एयरवेज का राष्ट्रीयकरण करने का प्रायः निश्चय कर चुकी है और कमेटी की सिफारिश के अनुसार स्टेटूटरी कारपोरेशन द्वारा इसका संचालन किया जायेगा। इंडियन एयरवेज की अधिकांश हिस्सा पूँजी अब सरकार ने खरीदली है।

पाँच वर्षीय योजना—प्रस्तावित पाँच वर्षीय योजना में हवाई यातायात पर पहले दो वर्ष में ९.८८ करोड़ प्रतिवर्ष के हिसाब से खर्च करने का सुझाव है। बाकी के तीन सालों में वे कुल ६.६७ करोड़ रुपया खर्च करने की योजना है। पहले दो वर्षों में १३ करोड़ 'ग्रान्ट' पर और बाकी का 'इक्विपमेंट' पर खर्च करने की सिफारिश है। इसी तरह से पिछले तीन वर्षों में भी ७०% पर खर्च और ३०% इक्विपमेंट पर खर्च करने की योजना है। इसके अलावा मौजूदा हवाई जहाजों के स्थान पर अधिक आधुनिक ढंग के हवाई जहाज खरीदने की

आवश्यकता है। इसके लिये ५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त पूंजी की जरूरत होगी। इस सम्बन्ध में भारत सरकार को कंपनियों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता हो सकती है। इस काम के लिये योजना में २½ करोड़ रुपया रखा गया है। भारत सरकार यह आर्थिक सहायता कर्ज के रूप में या पूंजी में भाग लेकर या और किसी प्रकार से दे सकती है।

यातायात के साधनों में समन्वय—यातायात के विभिन्न साधनों, रेल, सड़क, जल यातायात, समुद्रतटीय यातायात और हवाई यातायात पर ऊपर विचार किया जा चुका है। हम देख चुके हैं कि भारत में सभी प्रकार के यातायात के लिये यथेष्ट गुंजाइश है। पर यहाँ इस विषय में इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि यातायात के इन विभिन्न साधनों में समुचित समन्वय की आवश्यकता है। समन्वय के अभाव में अनुचित प्रतिस्पर्द्धा होने से सिवा सब पक्षों को हानि होने के और कोई नतीजा नहीं आ सकता। अब तक इस समन्वय नीति का हमारे देश में अभाव रहा है। यही कारण है कि रेल और मोटर की प्रतिस्पर्द्धा ने १९२९ के बाद एक समस्या का रूप ले लिया था और उस पर विचार करने के लिये रेल-रोड कम्पीटीशन कमेटी (मिचेल कर्कनेस कमेटी) की १९३२ में भारत सरकार को स्थापना करनी पड़ी थी। इस कमेटी ने कई सिफ़ारिशें की थीं। पर उसकी एक मुख्य सिफ़ारिश यह थी कि एक सेन्ट्रल बोर्ड ऑव कम्यूनिकेशन्स की स्थापना होनी चाहिये जो सब प्रकार के यातायात के साधनों का समुचित समन्वय करे। कुँजरू कमेटी ने भी इसी उद्देश्य से 'नेशनल ट्रान्सपोर्ट ऑथोरिटी' स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिये ही १९३१ में मोटर व्हिकिल्स एक्ट पास किया गया था। १९३५ में सेन्ट्रल ट्रान्सपोर्ट एडवायजरी कौंसिल की स्थापना की गई। भारत सरकार ने रेल-रोड समन्वय की एक योजना प्रकाशित की जो सब प्रान्तों के पास भेजी गई। कुछ प्रान्तों ने इसके अनुसार काम भी किया है। यातायात के विभिन्न साधनों के बीच में समन्वय नहीं होने का दूसरा उदाहरण रेलों और समुद्र-तटीय जहाज़ी यातायात के बीच का है। समुद्रतटीय जहाज़ी यातायात और रेलों के बीच में भाड़ा नीति में पारस्परिक सम्बन्ध, तथा सम्मिलित यातायात, और सम्मिलित भाड़ों की व्यवस्था होनी चाहिये। अब तक रेलवे की भाड़ा नीति से समुद्रतटीय यातायात को हानि पहुँची है। इसी प्रकार रेलवे और जल यातायात तथा हवाई यातायात में भी समन्वय की आवश्यकता है। अब तक हमारे देश में रेलों की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। इसका परिणाम जल यातायात और सड़क यातायात के लिये हानिकर हुआ है। अब इस कमी को पूरा करना

है। प्लानिंग कमीशन ने अपनी प्रस्तावित रिपोर्ट में लिखा है—"यातायात के विकास की तमाम- केन्द्रीय योजनाएँ एक केन्द्रीय संस्था द्वारा जाँची जानी चाहिये ताकि उचित समन्वय हो सके।"

यातायात के भावी विकास के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि देश की औद्योगिक और कृषि विकास की योजनाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही यातायात की विकास योजना बनानी चाहिये। यातायात के उन साधनों का उन स्थानों के पहले विकास होना चाहिये जो औद्योगिक और कृषि-उन्नति में सहायक हो सकें। देश में उद्योग-धंधों के विकेन्द्रीकरण के लिये यातायात का विस्तार आवश्यक है, यह स्पष्ट है।

एक तीसरी बात और है जो सड़क यातायात से सम्बन्ध रखती है। आज भी हमारे देश में सड़क यातायात का बैलगाड़ियाँ बहुत बड़ा साधन हैं। हमें बैलगाड़ियों के साधन को विकसित और उन्नत करना है न कि इनको नष्ट हो जाने देना है। भारतीय कृषि की दृष्टि से भी यह एक उपयोगी सहायक धंधा है। बैलगाड़ियों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि लगभग १० करोड़ टन माल उनके द्वारा लाया-लेजाया जाता है—अर्थात् जितना माल रेलों द्वारा लेजाया-लाया जाता है उतना ही बैलगाड़ियाँ लाती-लेजाती हैं। बैलगाड़ियों में देश की कुल २६१ करोड की पूँजी लगी हुई है और लगभग ८५ लाख उनकी संख्या है। भारत के यातायात के विकास की कोई योजना यातायात के इतने व्यापक और सुलभ साधन की ओर से उदासीन नहीं हो सकती।

परिच्छेद १०
बैंकिंग व्यवस्था

आधुनिक अर्थ व्यवस्था में बैंकिंग (अधिकोषण) व्यवस्था का बड़ा महत्त्व है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। आज की अर्थ व्यवस्था मुद्रा प्रधान अर्थ व्यवस्था है। मुद्रा के माध्यम से सारा आर्थिक जीवन संचालित होता है, फिर चाहे उत्पादन का प्रश्न हो या उपभोग का या वितरण का। मुद्रा व्यवस्था का यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि उसमें साख (क्रेडिट) का बड़ा स्थान है। जब तक मुद्रा (मनी) और साख (क्रेडिट) व्यवस्था का किसी देश में समन्वय न हो तब तक वहां के आर्थिक जीवन का समुचित संचालन असंभव हो जाता है। ऐसी हालत में आज के आर्थिक जीवन में साख-व्यवस्था का बड़ा महत्त्व है। साख की व्यवस्था करने का काम बैंकों का है। तात्विक दृष्टि से यही देश की बैंकिंग व्यवस्था का महत्त्व है।

इस प्रश्न पर हम सरल और प्रत्यक्ष ढंग से भी विचार कर सकते हैं। कोई व्यापार और व्यवसाय बिना साख के या उधार के नहीं चल सकता। कारण यह है कि जब उत्पादन बेचने के लिये होता है तो उत्पादन में पूंजी तो आज लगानी पड़ती है और उसकी बिक्री से आय बाद में होती है। इस बीच के समय के लिये मुद्रा (मनी) का उपयोग करने से कोई लाभ नहीं और यह व्यावहारिक भी नहीं, क्योंकि उस हालत में आज से कई गुनी अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। बैंक इस काम को बड़ी आसानी से साख की व्यवस्था करके कर देते हैं। इसलिये आज के आर्थिक जीवन में बैंकिंग व्यवस्था का ठीक-ठीक विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत की बैंकिंग व्यवस्था के विषय में अब हम विचार करेंगे।

देशी बैंकर (Indigenous Bankers)—भारतवर्ष में बैंकिंग व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। वैदिक युग के साहित्य (ईसा से २००० वर्ष पूर्व से १४०० वर्ष पूर्व तक) में इसका उल्लेख मिलता है किन्तु बैंकिंग के सम्बन्ध में विस्तृत और क्रमबद्ध विवरण ईसा के ५०० वर्ष के पहले नहीं मिलता। ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से आगे हमें भारतीय प्राचीन बैंकिंग व्यवसाय का पूरा विवरण प्राप्त है। उस समय भारत का बैंकिंग व्यवसाय उन्नत दशा में था। तत्कालीन सहित्य के पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि उस समय देश के सभी व्यापारिक केन्द्रों में 'श्रेष्ठी' या 'बैंकर' होते थे और उनकी व्यापारिक तथा

औद्योगिक संघों और व्यापारी समाज में बहुत प्रतिष्ठा और सम्मान था। ये लोग विदेशों से व्यापार करने वाले साहसी व्यक्तियों, तथा युद्ध इत्यादि अवसरों पर राजाओं और सम्राटों को ऋण देकर आर्थिक सहायता देते थे।

मनुस्मृति से यह पता चलता है कि देश में लेन-देन का कार्य बहुत बढ़ गया था। इसी कारण मनुजी को सूद इत्यादि की दर को निर्धारित करने की आवश्यकता पड़ी। यही नहीं, उस समय देशी बैंकर जमा (डिपाज़िट) भी लेने लग गए थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री कौटिल्य ने ज़मानती ऋण पर अधिक से अधिक १५ प्रतिशत और गैर ज़मानती ऋण पर ६० प्रतिशत सूद की व्यवस्था की थी। किन्तु उस समय सूद की दर भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न थी। ब्राह्मण को सब से कम सूद पर ऋण मिल जाता था किन्तु नीचे वर्ण के लोगों को अधिक सूद देना पड़ता था।

हुन्डियों का भारतवर्ष में चलन बारहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक मुस्लिम शासन काल में तथा मुग़ल बादशाहत में देशी बैंकरों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। उस समय वे देश के अन्दरूनी तथा विदेशी व्यापार के लिए साख का प्रबंध करते थे तथा शासकों को आवश्यकता पड़ने पर ऋण देते थे। मुग़ल शासन काल के देश में भिन्न-भिन्न भागों में बहुत प्रकार के धातु के सिक्के प्रचलित थे, अतएव देश के अन्दरूनी व्यापार के लिए यह आवश्यक था कि इन सिक्कों का एक दूसरे में विनिमय हो सके। अस्तु, इन बैंकरों ने सिक्कों के विनिमय का काम भी अपने हाथ में ले लिया। सिक्कों की अदला-बदली से इन्हें बहुत लाभ होता था। मुग़ल शासन काल में प्रमुख बैंकरों को राज्य की ओर से टकसाल का अध्यक्ष, मालगुजारी वसूल करने वाला तथा राज्य का बैंकर और सिक्के का विनिमय करने वाला नियुक्त कर दिया जाता था। मध्यकालीन भारत में कोई ऐसा दरबार नहीं था जहाँ कोई प्रमुख बैंकर न हो। शासक इन्हें जगत सेठ और नगर सेठ इत्यादि की उपाधियों से विभूषित करते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे शासकों को ऋण देते थे। इन सेठों का समाज और दरबार में बहुत मान और प्रतिष्ठा होती थी।

मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाने से देशी बैंकरों के कारबार और उनकी प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगा। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होजाने के उपरान्त भारतवर्ष में राजनैतिक अशान्ति और लड़ाइयों का काल आरम्भ हुआ। उसका स्वभावतः बैंकिंग के कारबार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। बहुत से शासक अपने ऋण को चुकाने में असमर्थ हो गए, राजनैतिक अशान्ति के कारण देश का व्यापार ठप्प हो गया और उसका

बैंकिंग पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। जब ईस्ट इंडिया कंपनी का देश में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया तो देशी बैंकरों का कारबार और प्रभाव और भी कम हो गया। यद्यपि अंग्रेजों ने आरम्भ में देशी बैंकरों से भी ऋण लेना आरम्भ किया किन्तु अंग्रेजी एजेंसी गृहों की स्थापना के उपरांत बैंकिंग का अधिकतर कारबार उनके द्वारा होने लगा। यही नहीं, १८३५ के उपरान्त देश में जितने सिक्के प्रचलित थे वे गैर कानूनी घोषित कर दिए गए और चाँदी का रुपया सर्व-ग्राह्य सिक्का बनाया गया। इस परिवर्तन से देशी बैंकरों का लाभदायक धंधा अर्थात् सिक्कों की अदला-बदली नष्ट हो गया। इसका भी देशी बैंकरों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। क्रमशः देश में रेल, पोस्ट आफिस का विस्तार हुआ, जहाज़ों द्वारा विदेशों से व्यापार अधिक होने लगा। व्यापार में मूलभूत परिवर्तन हो जाने के कारण भी देशी बैंकरों के कारबार पर बुरा प्रभाव पड़ा। देशी बैंकरों की अवनति के साथ साथ यहाँ पश्चिमीय ढंग के व्यापारिक बैंकों की स्थापना होने लगी तथा सरकार ने स्थान-स्थान पर खज़ाने स्थापित करके मालगुज़ारी तथा करों की वसूली का प्रबन्ध कर दिया। अपने कारबार के कम हो जाने के कारण तथा व्यापारिक बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण देशी बैंकरों की इस देश में अवनति होना आरम्भ हो गया। परन्तु फिर भी वे देश में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं और आज भी उनका कारबार बहुत विस्तृत और व्यापारिक बैंकों से सर्वथा स्वतंत्र है। आज स्थिति यह है कि एक ओर तो देशी बैंकर हैं, जिनके काम करने का ढंग पुराना और सर्वथा अपना है, उन्होंने पश्चिमीय ढंग के व्यापारिक बैंकों से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं समझी; दूसरे प्रकार के व्यापारिक बैंक हैं जिन्होंने देशी बैंकरों की अच्छाइयों को स्वीकार नहीं किया। अस्तु, यह दोनों प्रकार की बैंकिंग संस्थायें सर्वथा एक दूसरे से स्वतन्त्र और भिन्न हैं।

देशी बैंकर और उनके कार्य—इससे पहले कि हम देशी बैंकिंग का अध्ययन करें, हमें महाजन और बैंकर का भेद जान लेना चाहिये। महाजन तो केवल अपनी पूँजी को ऋण स्वरूप देता है किन्तु बैंकर ऋण देने के अतिरिक्त जमा (डिपाज़िट) भी स्वीकार करता है और हुंडी का कारबार भी करता है। किन्तु यह परिभाषा बहुत संतोषजनक नहीं है क्योंकि बहुत से बैंकर—उदाहरण के लिए मुलतानी बैंकर—डिपाज़िट नहीं लेते किन्तु वे मुख्यतः बैंकिंग का ही कारबार करते हैं। कभी-कभी महाजनी और बैंकिंग के कारबार इतने मिले-जुले होते हैं कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। भिन्न-भिन्न बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटियों के मत के अनुसार डिपाज़िट लेना देशी बैंकर का मुख्य लक्षण नहीं है, वरन् हुंडी

का काम करना उसका मुख्य लक्षण है। अस्तु, हुंडी का कारबार करना देशी बैंकर का मुख्य लक्षण है।

साहूकारी और महाजनी का काम (अर्थात् लेन-देन करना) तो सभी जाति के लोग करते हैं। किन्तु बैंकिंग का काम कुछ विशेष जातियाँ ही करती हैं। उनमें मारवाड़ी वैश्य, जैनी, चेट्टी, खत्री और शिकारपुरी मुलतानी प्रमुख हैं। मारवाड़ी राजपूताना के मारवाड़ देश से निकल कर भारत के प्रत्येक प्रमुख औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्र में फैल गए हैं। उनका कारबार कलकत्ता, बम्बई के अतिरिक्त सभी केन्द्रों में फैला हुआ है। चेट्टियों का बैंकिंग कारबार मुख्यत: मद्रास तथा बर्मा में है। खत्री पंजाब में अपना कारबार करते हैं और शिकारपुरी मुलतानी सिन्ध और बम्बई प्रान्त में अपना कारबार करते हैं। वोहरे गुजरात और उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिमीय भाग में बैंकिंग का कारबार करते हैं। देशी बैंकर कोठीवाले, सर्राफ, श्राफ, तथा चेट्टी आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

इनमें से बड़े बैंकर अपने कार्यालय और एजेंसियाँ बम्बई, कलकत्ता मद्रास, देहली, रंगून, इत्यादि प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में भी रखते हैं। इन शाखाओं को उनके मुनीम या गुमाश्ते चलाते हैं। इन मुनीमों को बहुत अधिक अधिकार होते हैं और वे अत्यन्त कुशल, ईमानदार और परिश्रमी होते हैं। ये लोग अपने प्रधान कार्यालय को कारबार की रिपोर्ट भेजते रहते हैं और वहाँ से आज्ञा लेते रहते हैं। समय-समय पर बैंकर स्वयं आकर हिसाब की जाँच करता है।

यद्यपि अधिकांश देशी बैंकर स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं किन्तु उनमें से कुछ अब भी संघों (Guilds) के सदस्य हैं जिन्हें 'महाजन' कहते हैं और जो उत्तर और दक्षिण भारत में अब भी पाये जाते हैं। यद्यपि इन 'महाजनों' अर्थात् संघों का मुख्य कार्य धार्मिक तथा सामाजिक होता है किन्तु वे दो बैंकरों के आपसी झगड़े को निपटाने और दिवालिया अदालत का काम भी करते हैं। पिछले दिनों में देशी बैंकरों ने अपनी कुछ परिषदें (Associations) स्थापित की हैं। उदाहरण के लिए बम्बई, कलकत्ता और अहमदाबाद में श्राफ एसोसियेशन और मारवाड़ी चेम्बर ऑव कामर्स स्थापित हो गई हैं और बम्बई में मुलतानी और शिकारपुरी एसोसियेशन स्थापित हैं। देहली में बैंकर्स एसोसियेशन है। इन एसोसियेशनों द्वारा इन बैंकरों के आपसी झगड़े तय हो जाते हैं तथा उनका संगठन दृढ़ हो गया है। कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर दो एसोसियेशनों की सम्मिलित सभा होती है, क्योंकि एक एसोसियेशन का सदस्य दूसरे एसोसियेशन के सदस्य से कारबार

करता है। मारवाड़ी और चेट्टियर बैंकरों में जातीय सहयोग होता है और वे समय पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता करते हैं। जुलाई १६५१ में एक अखिल भारतीय सर्राफ़ सम्मेलन का बंबई में आयोजन किया गया था। यह अपने ढंग का पहला प्रयत्न था। देशी बैंकरों के संगठित होने की बहुत आवश्यकता है। उक्त कान्फ्रेंस ने एक केन्द्रीय संगठन का विधान बनाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी।

इन बैंकरों का कारबार पारिवारिक होता है और पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। अतएव इनको बैंकिंग की व्यावहारिक शिक्षा अनायास ही अपनी फर्म का काम देखने से प्राप्त हो जाती है। हाँ उन्हें बैंकिंग की सैद्धान्तिक शिक्षा प्राप्त नहीं होती। देशी बैंकर का कारबार सरल और झंझटों से मुक्त होता है, इस कारण देशी बैंकर से काम करने में देरी नहीं लगती और न कोई विशेष झंझट ही होती है। ग्राहक हर समय बैंकर के पास जा सकता है। उसके काम का समय कोई निश्चित नहीं होता, वह हर समय काम करता है। उसके काम करने का ढग बहुत कम खर्चीला और उसके दफ्तर इत्यादि का खर्चा बहुत कम होता है। उसके कार्यालय में कोई विशेष फरनिचर या बहुत से क्लर्क नहीं होते। केवल मुनीम और एक-आध तिजोरी होती है। उनका हिसाब रखने का ढंग सरल और कम खर्चीला होता है, किन्तु हिसाब बहुत ठीक रहता है, उसमें कोई गड़बड़ नहीं होती। हिसाब की जाँच की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती और न कभी लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) ही तैयार किया जाता है। देशी बैंकर बैंकिंग के साथ और भी व्यापार करता है किन्तु दोनों के हिसाब पृथक नहीं रहते और न दोनों का रुपया ही अलग रक्खा जाता है। इन बैंकरों का कारोबार भी अधिकतर पुश्तैनी पुराने ग्राहकों से ही होता है। ऐसे व्यापारी अधिक मिलेंगे जिनकी कई पुश्तें एक ही बैंकर की फर्म से कारबार करती रही हों।

ये बैंकर अपने पुराने ग्राहकों के परिवार से, उनकी आर्थिक स्थिति और उनके व्यापार की दशा से भली भांति परिचित होते हैं। इस कारण उन्हें इस बात का निश्चय करने में देरी नहीं लगती कि किस ग्राहक को कितना ऋण देना चाहिए अथवा नहीं देना चाहिए। ऋण देने के उपरान्त भी ये बैंकर अपने कर्जदारों के कारबार को समीप से देखभाल सकते हैं जैसा कि व्यापारिक बैंकों के लिए सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उनका रुपया बहुत कम मारा जाता है। देशी बैंकरों से जब भी जमा किया हुआ रुपया वापस मांगा जाता है, वे तुरन्त ही वापस कर देते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि कोई बैंकर मांगने पर जमा किया हुआ

अथवा साहूकार को आवश्यकता पड़ने पर ऋण देते हैं। यह महाजन किसानों को ऋण देते हैं। यही नहीं, देशी बैंकर व्यापारियों और आढ़तियों को भी ऋण देते हैं जो खेती की पैदावार को खरीदते हैं। देशी बैंकर व्यापारियों और व्यवसायियों को साख देने का कार्य विशेष रूप से करते हैं। वे हुन्डी भुनाते हैं, हुन्डियाँ खरीदते हैं, पैदावार पर ऋण देते हैं और डिपाज़िट स्वीकार करते हैं। कुछ औद्योगिक केन्द्रों में देशी बैंकर मिलों में अपना रुपया जमा कर देते हैं। रुपया मुद्दती जमा (Fixed Deposit) के रूप में जमा किया जाता है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकर बड़े-बड़े कारखानों को और कोई आर्थिक सहायता नहीं देते। हाँ भाफ कारखानों के डिबेंचर खरीद कर, तथा कम्पनियों के शेयरों को अपने पास रख कर कारखानों को अधिक समय के लिए ऋण देते हैं।

देशी बैंकर बहुधा प्रामिसरी नोट पर ऋण देते हैं। यदि रकम बहुत अधिक हुई तो प्रामिसरी नोट पर जमानती के हस्ताक्षर ले लेते हैं, नहीं तो बहुत अधिक सूद लेते हैं। एक दूसरा तरीका यह है कि ऋण लेने वाला प्रामिसरी नोट लिखने के स्थान पर ऋण को स्वीकार करते हुए रसीद लिख देता है जिसमें सूद की दर का भी उल्लेख रहता है। एक तीसरा तरीका-स्टाम्प पर पुर्जा लिखाकर ऋण देने का है। इस बांड में ऋण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक सभी शर्तों का उल्लेख रहता है। एक चौथा तरीका ऋण देने का यह भी है कि ऋण लेने वाला बैंकर की बही में ही हस्ताक्षर करदे और उस पर स्टाम्प लगा दिए जावें। जब बैंकर बहुत बड़ी रकम ऋण देते हैं तो भूमि तथा इमारत इत्यादि को बधक रख लेते हैं किन्तु उस दशा में सूद कम कर दी जाती है।

ऋण देने के अतिरिक्त देशी बैंकर हुन्डी का कारबार बहुत अधिक करते हैं। हुन्डियाँ कई प्रकार की होती हैं। दर्शनी हुन्डी का भुगतान तुरंत करना पड़ता है। मुद्दती हुन्डी की एक अवधि होती है (११, २१, ३१, ४१ दिन इत्यादि से ३६१ दिन तक)। धनीजोग और शाहजोग हुन्डियाँ भी होती हैं। उनका भुगतान करने से पूर्व बैंकर को यह निश्चय कर लेना पड़ता है कि वह जिस व्यक्ति को भुगतान कर रहा है वही उस हुन्डी का न्यायोचित स्वामी है। यदि वह गलत व्यक्ति को भुगतान कर देता है तो वह वास्तविक स्वामी के लिये फिर भी देनदार रहेगा। किन्तु दर्शनी हुन्डी और मुद्दती हुन्डी को जो भी व्यक्ति उपस्थित करे उसे भुगतान कर देने से बैंकर का कोई उत्तरादायित्व नहीं रहता। हुन्डियाँ देखनहार (Bearer) और फरमान जोग (Payable to Order) भी होती हैं। कभी-कभी यह लोग हुन्डियों को अपने एजेन्ट तथा अन्य व्यापारियों पर केवल इसलिये लिख देते हैं जिससे उन्हें रुपया प्राप्त हो जावे। उदाहरण के लिए एक

व्यापारी को दस हजार रुपये की आवश्यकता है। वह अपने एजेंट तथा किसी अन्य व्यापारी पर, जिससे उसका सम्बन्ध है, दस हजार की हुन्डी लिख देता है और उसको किसी देशी बैंकर से भुना कर रुपये प्राप्त कर लेता है। जिस छूट की दर पर देशी बैंकर हुंडी भुनाते हैं उसको बाजार-दर कहते हैं। यह बाजार दर घटती-बढ़ती रहती है और भिन्न-भिन्न व्यापारिक केन्द्रों की बाजार-दर में बहुत भिन्नता रहती है। हुंडियों के द्वारा देशी बैंकर रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं।

बैंकिंग का काम करने के अतिरिक्त देशी बैंकर अन्य व्यापार भी करते हैं। उनकी जो पूँजी बैंकिंग के कारोबार में लगी होती है उसमें तथा व्यापार में लगी हुई पूँजी में कोई भेद नहीं किया जा सकता। जब भी आवश्यकता हुई इधर की पूँजी उधर लगा दी जाती है। केवल मद्रास प्रान्त के नट्टकोटाई चेट्टी और बम्बई प्रांत के मुल्तानी ही ऐसे देशी बैंकर हैं जो बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार नहीं करते हैं। नहीं तो अधिकांश देशी बैंकर अनाज, कपास, जूट तथा खेती की अन्य पैदावारों, कपड़े और सोना-चाँदी का व्यापार या सट्टा या फाटका करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जनरल मर्चेंण्ट, आढ़त ब्रोकर, ज्वेलर्स (जौहरी) का भी काम करते हैं। व्यापार के साथ-साथ वे शक्कर, तेल, आटे के कारखानों तथा कपास, जूट, धन, रेशम तथा शीशे के कारखानों को भी चलाते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि देशी बैंकर बैंकिंग के साथ और भी व्यापार तथा व्यवसाय करते हैं और बहुधा उनको अपने व्यापारिक तथा व्यावसायिक कारबार से बैंकिंग की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पिछले दिनों में देशी बैंकरों का बैंकिंग कारबार कम होता जा रहा है इस कारण इन्होंने अपना ध्यान व्यापार तथा व्यवसाय की ओर अधिक लगाना आरम्भ कर दिया है।

देशी बैंकरों की अवनति के कारण—देशी बैंकरों की क्रमशः अवनति हो रही है। उसके नीचे लिखे कारण मुख्य हैं :—

(१) इम्पीरियल बैंकों, मिश्रित पूँजी के व्यापारिक बैंकों (Joint Stock Banks) तथा सहकारी बैंकों (Co-operative Banks) की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा। इम्पीरियल बैंक को रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए बहुत सुविधा है। इस कारण देशी बैंकर रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में उससे होड़ नहीं कर सकते। सहकारी बैंकों का सरकार से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण वे सरलतापूर्वक डिपाजिट आकर्षित कर लेते हैं और मिश्रित पूँजी वाले बैंक ऋण देने में उनसे होड़ करते हैं। इस बढ़ती हुई प्रति-

स्पर्द्धा के होते हुए भी देशी बैंकरों ने अपनी कार्यपद्धति में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जिससे वे इस प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सकते।

(२) उनकी अवनति का दूसरा कारण यह है कि हुंडियों पर स्टाम्प-ड्यूटी बहुत अधिक है, इस कारण हुंडियों का चलन और कारबार कम होता है।

(३) बैंकर्स साक्षी एक्ट (Bankers Evidence Act) में जो बैंकों को कानूनी सुविधायें प्राप्त हैं वे देशी बैंकरों को प्राप्त नहीं हैं।

(४) वस्तुओं का निर्यात (Export) करने वाली फर्में अब प्रमुख मंडियों और व्यापारिक केन्द्रों में अपनी शाखायें स्थापित करने लगी हैं। वे अभी तक इनको ही अपना एजेंट बना देती थीं। इस परिवर्तन का फल यह हो रहा है कि देशी बैंकरों का एजेंसी का कारबार भी कम होता जा रहा है।

(५) देश में व्यापार का विस्तार होने के कारण देशी बैंकरों को व्यापार में अधिक लाभ दिखलाई देने लगा है अतएव वे सट्टा और व्यापार की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कुछ ऊँचे दर्जे के देशी बैंकर अपनी कार्य-पद्धति को बदलने लगे हैं और आधुनिक बैंकिंग के ढंग को अपनाने लगे हैं। वे चेक और पास बुक का उपयोग करते हैं और सेविंग्स डिपाज़िट भी स्वीकार करते हैं।

देशी बैंकरों तथा उनके ग्राहकों का सम्बन्ध—सभी बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने देशी बैंकरों की सच्चाई और ईमानदारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके ग्राहक उनका बहुत आदर करते हैं और उन्हें अपना हितू और मित्र समझते हैं। वे केवल अपने ग्राहकों से बैंकिंग का कारबार ही नहीं करते वरन् उनको व्यापार सम्बन्धी सलाह और परामर्श भी देते हैं। वे अपने ग्राहकों के कारबार पर दृष्टि रखते हैं और इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि वे किस प्रकार का कारबार करते हैं। अपने ग्राहकों से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उन्हें उनकी आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक पता रहता है जिसका वे अपने बैंकिंग कारबार में पूरा लाभ उठाते हैं।

देशी बैंकरों का व्यापारिक बैंकों (Commercial Banks) से सम्बन्ध —यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि साधारणतः देशी बैंकर अपनी पूँजी और डिपाज़िटों से ही काम चलाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे एक दूसरे से रुपया ले लेते हैं। किन्तु जब व्यापार की तेजी होती है और उनके ग्राहक ऋण की माँग करते हैं तो उनके यह साधन पर्याप्त नहीं होते। उन्हें इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक (Exchange Banks) तथा व्यापारिक बैंकों के पास आर्थिक सहायता के लिए विवश होकर जाना पड़ता है। किन्तु यह

बैंक उन्हीं बैंकरों को ऋण देते हैं जिनका नाम उनकी स्वीकृति सूची में है। इम्पीरियल बैंक तथा प्रत्येक व्यापारिक बैंक उन देशी बैंकरों की एक स्वीकृत सूची रखता है जिनको वह ऋण देना उचित समझता है। यही नहीं, उस सूची में यह भी निर्धारित रहता है कि किस बैंकर को अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है। अधिकतर यह बैंक देशी बैंकरों की हुंडियाँ भुनाकर ही उन्हें ऋण देते हैं।

केन्द्रीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों के सामने साक्षी देते हुए देशी बैंकरों के प्रतिनिधियों ने बार-बार यह शिकायत की थी कि इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक उनके साथ वैसी सहानुभूति का व्यवहार नहीं करते जैसा कि एक बैंकर होने के नाते उनके साथ होना चाहिए। जब वे इम्पीरियल बैंक से ऋण लेते हैं तो इम्पीरियल बैंक उनके कारबार की जिस भद्दे ढंग से जाँच-पड़ताल करता है वह उनको बहुत अखरती है। फिर भी इम्पीरियल बैंक उन्हें वह सुविधायें प्रदान नहीं करता जो व्यापारिक बैंकों को प्रदान करता है। यही स्थिति बड़े व्यापारिक बैंकों की है। कभी-कभी बहुत ऊँचे दर्जे के प्रतिष्ठित देशी बैंकरों को भी ऋण देना अस्वीकार कर दिया जाता है। इन आरोपों के उत्तर में इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों का कहना है कि देशी बैंकर हमारे साथ कोई हिसाब नहीं रखते और वे बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापार तथा सट्टे में इतने अधिक फँसे रहते है कि उनको अधिक ऋण देना जोखिम का काम है। उनकी ठीक-ठीक आर्थिक स्थिति को जान सकना कठिन होता है, क्योंकि वे कभी अपनी लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) तैयार नहीं करते। इस कारण उनको ऋण देने में सावधानी बरतना आवश्यक है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ऊपर लिखे आक्षेपों में बहुत तथ्य है। जब इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंक को किसी देशी बैंकर की अच्छी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विश्वास और भरोसा हो जाता है तो वे उनकी सब प्रकार आर्थिक सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए मद्रास के चेट्टियों और बम्बई के मुलतानी बैंकरों को इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। बैंकिंग के सिद्धान्त के भी यह सर्वथा विरुद्ध है कि जो देशी बैंकर सट्टे तथा अन्य व्यापार में अधिक फँसा हो उसको अधिक ऋण दिया जावे।

देशी बैंकरों के संगठन के दोष और गुण—यदि हम ध्यानपूर्वक देशी बैंकरों के कार्यों का अध्ययन करें तो हमें उनके संगठन में निम्नलिखित दोष

दिखलाई पड़ेंगे :—

(१) उनमें से अधिकांश दकियानूसी और रूढ़िवादी हैं और आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। उनमें समय के साथ अपनी कार्यपद्धति को बदलने की क्षमता नहीं है और न वे नई दिशाओं में अपने कारबार को बढ़ाने की ही क्षमता रखते हैं। वे अपना कारबार पुराने ढंग से अकेले और बहुधा गुप्त रूप से करने के अभ्यस्त हैं। इस कारण सर्वसाधारण की दृष्टि को वे आकर्षित नहीं कर पाते और न उनका जनता पर अधिक प्रभाव ही पड़ता है। इसका सम्भवतः एक कारण यह है कि देशी बैंकिंग का कारबार केवल कुछ परिवारों में ही सीमित है इस कारण उसमें नया रुधिर नहीं आता। इस कारण उनमें नये विचारों का समावेश नहीं हो पाता। इनके दकियानूसी होने तथा पुराने ढंग से चिपटे रहने का एक कारण यह भी है कि वे आधुनिक बैंकों के सम्पर्क में बहुत कम आते हैं।

(२) उनके संगठन का दूसरा दोष यह है कि वे बहुत कम जमा (डिपाज़िट) लेते हैं जो आधुनिक संगठित बैंकों का मुख्य कार्य है। इसका फल यह होता है कि देशवासियों की बचत डिपाज़िट के रूप में आकर्षित नहीं होती और न उसका उपयोग अधिक उत्पादन के लिए हो पाता है। बहुत-सी पूँजी देश में बेकार पड़ी रहती है।

(३) वे व्यापार में हुंडियों का उपयोग कम करते हैं। नक़द रुपये का उपयोग अधिक करते हैं।

(४) उनका व्यापारिक बैंकों से कोई व्यवस्थित सम्बन्ध नहीं होता इस कारण देश में दो द्रव्य-बाज़ार (Money Markets) साथ-साथ एक दूसरे से पृथक रह कर काम करते हैं और सूद की दरें प्रचलित रहती हैं। यही नहीं, रिज़र्व बैंक का भी इन पर कोई नियंत्रण नहीं है। इस कारण देशी बैंकिंग असंगठित रहता है।

यद्यपि देशी बैंकरों के संगठन में ऊपर लिखे दोष हैं, परन्तु फिर भी उनकी देश को बहुत आवश्यकता है, क्योंकि देश में बड़े-बड़े नगरों को छोड़ कर छोटे स्थानों और मंडियों में व्यापारिक बैंकों की शाखायें नहीं हैं। वहाँ केवल देशी बैंकर ही बैंकिंग की सुविधायें प्रदान करते हैं। यद्यपि पिछले वर्षों में देश में मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों का विस्तार बहुत तेजी से हुआ है, नये बैंक खोले गए और पुराने बैंकों ने अपनी शाखाओं का खूब ही विस्तार किया, फिर भी देश के विस्तार को देखते हुए बैंकिंग की सुविधा कम है। और भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में इस बात की तो कभी सम्भावना ही नहीं हो सकती कि बड़े

गाँवों, कस्बों और मंडियों में बैंकों की ब्रांचें स्थापित हो सकें। वहाँ तो देशी बैंकर ही काम कर सकते हैं।

उनके पास शताब्दियों का बैंकिंग-अनुभव है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनको मिला है। उनके काम करने का ढंग कम खर्चीला है और उनका बैंकिंग अनुभव बहुमूल्य है। अतएव उसको नष्ट न होने देना चाहिए और उसका उपयोग करना चाहिए। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने देशी बैंकरों के सुधार के लिए सुझाव रक्खे थे। सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि जब रिज़र्व बैंक की स्थापना हो जावे तो देशी बैंकरों का सम्बन्ध रिज़र्व बैंक से स्थापित कर देना चाहिए।

देशी बैंकर और रिज़र्व बैंक का सम्बन्ध—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि रिज़र्व बैंक के स्थापित हो जाने पर देशी बैंकरों का उससे सम्बन्ध स्थापित हो जाना चाहिए। अस्तु, जब रिज़र्व बैंक की स्थापना हो गई तो रिज़र्व बैंक ने नीचे लिखी शर्तों पर देशी बैंकरों को अपने से सम्बन्धित करने का प्रस्ताव रक्खा :—

(१) जो भी देशी बैंकर रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित होना चाहेगा और रिज़र्व बैंक से सुविधायें प्राप्त करना चाहेगा उसे शुद्ध बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापार को छोड़ देना होगा।

(२) उन्हें अपना हिसाब ठीक प्रकार से, जिस प्रकार रिज़र्व बैंक कहे उस प्रकार, रखना होगा; अपने हिसाब की नियमित रूप से आय-व्यय परीक्षकों से जाँच (आडिट) करवानी होगी।

(३) रिज़र्व बैंक आवश्यकता समझने पर उनके हिसाब और कारबार का निरीक्षण कर सकेगा। उन्हें रिज़र्व बैंक को समय-समय पर अपने कारबार के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी और सूचनायें देनी होंगी। रिज़र्व बैंक जिस प्रकार जानकारी उनसे चाहेगा उन्हें देनी होगी और रिज़र्व बैंक को उनके बैंकिंग के कारबार का नियन्त्रण करने का अधिकार होगा।

(४) प्रत्येक देशी बैंकर की निज की पूँजी कम से कम पाँच लाख रुपये होगी और उनको अपनी जमा का एक निश्चित प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास जमा करना होगा। रिज़र्व बैंक ने उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित न करके अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के प्रस्ताव भी रखे थे, और उसकी अपनी राय अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में ही अधिक थी।

ऊपर लिखा प्रस्ताव केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के मत के विरुद्ध था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) का

यह मत था कि आरम्भ में देशी बैंकरों के साथ नरमी का व्यवहार करना चाहिए, उन पर कड़ी शर्तें न लगाना चाहिए। उदाहरण के लिए आरम्भ में कुछ वर्षों तक देशी बैंकरों को रिज़र्व बैंक में अनिवार्य रूप से जमा (Deposit) रखने पर विवश न करना चाहिए। किन्तु पहली गश्ती चिट्ठी में रिज़र्व बैंक ने जो ऊपर लिखी शर्तें लिखकर भेजीं वे इतनी कठोर थीं कि कोई देशी बैंकर उनको स्वीकार करने के लिए तैयार न था।

इस पहले प्रस्ताव का ऐसा घोर विरोध हुआ कि रिज़र्व बैंक को २६ अगस्त १६३७ को एक दूसरी योजना उपस्थित करनी पड़ी जो केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी की सिफारिशों के अनुरूप थी और उसमें देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध हो जाने की व्यवस्था थी। जिन शर्तों पर रिज़र्व बैंक देशी बैंकरों को अपने से सम्बन्धित करने के लिये तैयार था वे नीचे लिखी थीं :—जो देशी बैंकर रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं उन्हें अपने कारबार को शुद्ध बैंकिंग तक ही सीमित रखना होगा, वे दूसरे प्रकार का व्यापार न कर सकेंगे। उन्हें अपने हिसाब को ठीक-ठीक रखना होगा और रजिस्टर्ड अकाउन्टैन्ट से उसकी जाँच करवानी होगी और रिज़र्व बैंक जब चाहेगा उनके हिसाब का निरीक्षण कर सकेगा। रिज़र्व बैंक आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए जो भी सूचना चाहेगा वह देनी होगी। शिडयूल बैंक जो भी विवरण-पत्र (Statement) अपने कारबार के सम्बन्ध में समय-समय पर रिज़र्व बैंक को भेजते हैं वे उन्हें भी भेजने होंगे और लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) इत्यादि जो कंपनी एक्ट के अनुसार बैंकों को प्रकाशित करना अनिवार्य है वे उन्हें भी प्रकाशित करने होंगे। जब देशी बैंकरों की जमा (Deposit) उनकी पूँजी से पाँच गुना अधिक हो जावे तभी उन्हें रिज़र्व बैंक में अनिवार्य जमा (Compulsory Deposit) रखनी होगी अन्यथा उन्हें रिज़र्व बैंक में अनिवार्य जमा रखने की कोई आवश्यकता न होगी। प्रत्येक देशी बैंकर को कम से कम २ लाख की पूँजी (Capital) रखनी होगी जिसे ५ वर्षों में बढ़ा कर पाँच लाख करना होगा। जो देशी बैंकर इन शर्तों को पूरा करेंगे रिज़र्व बैंक उनकी हुण्डियों और बिलों को भुनावेगा, सरकारी सिक्यूरिटी की जमानत पर ऋण देगा और रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए वही सुविधायें देगा जो वह शिडयूल (Scheduled) बैंकों को देता है।

इस प्रस्ताव को भी देशी बैंकरों ने स्वीकार नहीं किया। वे न तो अन्य व्यापार को ही छोड़ना चाहते हैं और न अपने हिसाब का निरीक्षण ही कराने के

लिए तैयार हैं। रिज़र्व बैंक का इस प्रस्ताव से उद्देश्य यह था कि देशी बैंकर द्वारा अन्य कारबार छोड़ने से अधिकाधिक डिपाज़िट बैंकिंग की ओर आवें और जिस प्रकार से मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) कारबार करते हैं वे भी कारबार करें। किन्तु देशी बैंकर अपने पुराने ढंग को छोड़ने को तैयार न थे और न वे यही पसन्द करते थे कि वे किसी को अपना हिसाब दिखलावें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्त में देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक के बताये हुए मार्ग पर ही चलना होगा। किन्तु रिज़र्व बैंक के अधिकारियों को यह समझना चाहिये था कि देशी बैंकर एक रात्रि में अपनी पुरानी पद्धति को छोड़कर आधुनिक बैंकिंग पद्धति को किस प्रकार अपना सकते हैं रिज़र्व बैंक को आरम्भ में उन्हें कुछ छूट देनी थी। इस प्रकार अभी तक रिजर्व बैंक और देशी बैंकरों का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका यद्यपि रिज़र्व बैंक ने अपनी ओर से ऊपर लिखी शर्तों पर देशी बैंकरों को सम्बन्धित करने का प्रस्ताव वापस नहीं लिया है।

रिज़र्व बैंक का कहना यह है कि यदि देशी बैंकर रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तो भी भारतीय द्रव्य-बाजार (Indian Money Market) से उनका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, यदि देश में एक खुला बिल बाज़ार (Open Bill Market) स्थापित हो जावे और उन्नति कर जावे। उस बिल बाज़ार में देशी बैंकरों के बिल भी स्वतंत्रतापूर्वक बिना रोक-टोक के प्रचलित हों और भुनाये जावें। रिज़र्व बैंक इस स्थिति को लाने के लिये स्वीकृत देशी बैंकरों के बिलों तथा हुंडियों को स्वीकार कर लेगा यदि वे किसी शिड्यूल बैंक के द्वारा उपस्थित की जावेंगी। किन्तु रिज़र्व बैंक की यह आशा कि इस देश में खुला बिल बाज़ार स्थापित हो जावेगा कब पूर्णतया फलीभूत होगी यह नहीं कहा जा सकता। हम इस सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे।

१ अक्टूबर १९४० को रिज़र्व बैंक ने रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की एक नई योजना निकाली। उस योजना के अनुसार रिज़र्व बैंक रुपया एक से दूसरे स्थान को रिआयती दर पर भेजने की उन देशी बैंकरों और ग़ैर-शिड्यूल (Non-Scheduled) बैंकों को सुविधा देगा जो कुछ शर्तों को पूरा करेंगे, और जो रिज़र्व बैंक की स्वीकृत सूची पर हैं। अभी तक जिन देशी बैंकरों ने इस सुविधा से लाभ उठाने का प्रयत्न किया है और जिन्हें रिज़र्व बैंक ने स्वीकृत किया है उनकी संख्या अँगुलियों पर गिनी जाने लायक है।

अन्त में हमें यह न भूलना चाहिए कि देशी बैंकरों का भविष्य उन्हीं के

हाथ में है। उनके हित में यही है कि वे अपने कारबार के ढग में सुधार करें और व्यापारिक बैंकों के अनुसार ही अपनी कार्य-पद्धति बनालें। साथ ही उन्हें अपने कारबार को भी मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) के रूप में संगठित करना चाहिये। अथवा जैसा कि रिज़र्व बैंक का मत है उन्हें बट्टा कम्पनियों (Discount Companies) में संगठित हो जाना चाहिए और बिलों के भुनाने का कार्य विशेष रूप से करना चाहिए तभी वे पनप सकेंगे।

देशी बैंकरों का देशी व्यापार के लिए बहुत उपयोग है अतएव उनका संगठन उनके लिये तथा देश के व्यापार के लिए हितकर होगा। किन्तु जब तक इस प्रकार की व्यवस्था नहीं होती कि शुद्ध बैंकिंग व्यापार से ही उन्हे यथेष्ट लाभ हो तब तक उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे अन्य व्यापार छोड़ देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें बड़े व्यापारिक बैंक अपना एजेंट बनालें। इस प्रकार उन स्थानों पर भी बैंकिंग सुविधा उपलब्ध हो जावे जहाँ बैंको की ब्राँच कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती, और देशी बैंकर बिलों तथा हुंडियों को भुनाने का अधिकाधिक काम अपने हाथ में लें। यह तभी हो सकता है जब देश में बिल बाज़ार उन्नति हो।

(२) मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) या व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)—एजेंसी गृह (Agency Houses)—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि बैंकिंग व्यवसाय भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है, किन्तु आधुनिक ढंग के बैंक अभी थोड़े समय से ही यहाँ स्थापित हुए हैं। वास्तव में बम्बई और कलकत्ते में जो एजेंसी गृह (Agency Houses) थे वही इन बैंकों के जनक थे। इन एजेंसी गृहों की स्थापना अङ्गरेज व्यापारियों ने की थी। बम्बई और कलकत्ते के यह एजेंसी गृह वास्तव में व्यापार करते थे। वही उनका मुख्य कार्य था, किन्तु वे व्यापार के साथ बैंकिंग का कारबार भी करते थे। उनके पास निज की पूँजी (Capital) नहीं होती थी। वे जनता से डिपाज़िट (जमा) आकर्षित करके ही कार्यशील पूँजी (Working Capital) इकट्ठी करते थे। यह एजेंसी गृह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अवकाश प्राप्त कर्मचारियों ने स्थापित कर लिए थे। जिन कर्मचारियों ने देखा कि भारतीय व्यापार में धनोत्पत्ति का असीम क्षेत्र है उन कर्मचारियों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी छोड़कर व्यापार करना आरम्भ कर दिया। यों तो यह एजेंसी गृह मुख्यतः व्यापार करते थे किन्तु अङ्गरेज व्यापारियों के लिए माल का प्रबन्ध करने के लिए उन्होने बैंकिंग विभाग भी खोल रक्खे थे। देशी

बैंकिंग यों ही अवनति की ओर थी, फिर वे अङ्गरेजों द्वारा किये जाने वाले विदेशी व्यापार के लिए साख का प्रबन्ध कर सकने में असमर्थ थे। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्हें अङ्गरेजी ढंग के विदेशी व्यापार का न तो कुछ ज्ञान ही था और न अङ्गरेज व्यापारी उनकी भाषा को ही समझते थे।

यह एजेंसी गृह दूकानदारी करते थे, जहाजों के मालिक थे, शराब बनाने व चमड़े के कारखानों, कपास, आटा, और लकड़ी की मिलों के स्वामी थे, तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा सरकारी कर्मचारियों और अङ्गरेज व्यापारियों के एजेंट तथा बैंकर का काम करते थे। वे अधिकांशतः योरोपियन लोगों से डिपाज़िट आकर्षित करते थे। इसके अतिरिक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी भी अपनी बचत तथा लूट का रुपया इन एजेंसी गृहों के बैंकिंग विभागों में जमा कर देते थे। डिपाजिट द्वारा प्राप्त रुपये को यह एजेंसी गृह अङ्गरेज व्यापारियों को दस्तों की खरीद के लिए तथा अफ़ीम, नील, कपास तथा रेशम के व्यापार के लिए बहुत ऊँचे सूद पर उधार देते थे। उनमें से कुछ एजेंसी गृह कागज़ी मुद्रा (Paper Money) भी निकालते थे। इनमें से कुछ एजेंसी गृहों ने भारत में सर्व प्रथम योरोपियन ढंग के बैंक स्थापित किये। उदाहरण के लिए मेसर्स एलैक्ज़ेंडर एण्ड कम्पनी ने १७७० में 'बैंक आव हिन्दोस्तान' स्थापित किया, मेसर्स पामर एण्ड कम्पनी ने 'कलकत्ता बैंक' स्थापित किया, और मेसर्स मेकिन्टास एण्ड कम्पनी ने 'बैंक ऑव कलकत्ता' स्थापित किया। 'बंगाल बैंक' तथा 'जनरल बैंक ऑव इंडिया' १७८५ के लगभग स्थापित किए गए थे। इन्हें भी कलकत्ते के एजेंसी गृहों ने स्थापित किया था। यह एजेंसी गृह अपने व्यापार के साथ-साथ बैंकिंग का कारबार भी करते थे अतएव उनको व्यापारिक लाभ के अतिरिक्त बैंकिंग विभाग से सूद और कमीशन की आमदनी भी होती थी। अस्तु; भारतवर्ष में प्रथम योरोपियन ढंग के बैंक न मिश्रित पूँजी के बैंक थे और न वे केवल शुद्ध बैंकिंग कारबार ही करते थे। कॉक्स या ग्रिंडले जैसी साधारण व्यापार करने वाली योरोपियन फ़र्में और पैनिनसुलर और ओरियंटल जैसी जहाजी कम्पनियाँ भी बैंकिंग कारबार करती थीं। बैंकिंग और साधारण व्यापार के इस मिश्रण का जो परिणाम होना था वही हुआ। इसके अतिरिक्त इन एजेंसी गृहों ने डिपाज़िट किए हुए रुपये से सट्टा (Speculation) करना आरम्भ किया; इमारतों, कोयले की खानों, जहाज़ों, कहवा तथा गरम मसाले के बागों तथा भूमि के खरीदने और आटे, कपास और रेशम की मिलों को चलाने में अनाप-शनाप रुपया लगाया। इस सब का परिणाम यह हुआ कि १८२८-३२ में यह एजेंसी गृह डूब गए। एजेंसी गृहों के डूबने के साथ ही उनके बैंकिंग विभाग तथा इनके

स्थापित किए हुए बैंक भी डूब गए क्योंकि बैंकों का रुपया उन एजेंसी गृहों के कारबार में लग गया था। कलकत्ता बैंक १८२६ में, बैंक ऑव हिन्दुस्तान १८३२ में, और कमर्शियल बैंक आव कलकत्ता १८३३ में डूब गए।

इन बैंकों ने सर्व प्रथम भारत में कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) का चलन आरम्भ किया। हिन्दुस्तान बैंक के प्रचलित नोटों का मूल्य २५ लाख रुपये था। बंगाल बैंक के नोटों का चलन ८ लाख रुपये के लगभग था। इनमें से प्रत्येक बैंक यह चाहता था कि उसके नोट सरकारी दफ्तरों तथा खजानों में स्वीकार हों। सरकार ने पहले जनरल बैंक के नोटों को स्वीकार किया किन्तु १७६३ में उसके बन्द हो जाने पर 'बैंक ऑव कलकत्ता' के नोटों को स्वीकार किया। १८७० में इस बैंक के ४३ लाख रुपये के नोट प्रचलित थे। इसी प्रकार का एक बैंक मद्रास (१६८८) और दूसरा बैंक बम्बई (१७२४) में स्थापित हुआ किन्तु १८२६-३० में एजेंसी गृहों के साथ ही यह बैंक भी डूब गए। इस प्रकार योरोपियन ढग के बैंकों की स्थापना का पहला युग समाप्त हुआ।

इस बैंकिंग संकट के उपरान्त १८६० तक बहुत कम बैंक स्थापित हुए। इस काल में १२ बैंक स्थापित हुए जिनमें आधे बैंक डूब गए। यह सब योरोपियनों द्वारा स्थापित हुए थे। डूबने वाले बैंकों ने जनता को धोखा दिया और डिपाजिट करने वालों का रुपया मारा गया। किन्तु इस काल में तीन प्रेसीडेंसी बैंक भी स्थापित हुए जिनका विशेष महत्त्व था।

प्रेसीडेंसी बैंक—प्रेसीडेंसी बैंक तीन थे जो कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर द्वारा स्थापित हुए थे। बैंक ऑव बंगाल १८०६ में, बैंक ऑव बम्बई १८-४० में और बैंक आव मद्रास १८४३ में स्थापित हुआ। बैंक ऑव बंगाल १८०६ में बैंक आव कलकत्ता के नाम से स्थापित हुआ था। १८०६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे चार्टर दे दिया। तब से वह बैंक ऑव बंगाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इन तीन प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार की बैंकिंग आवश्यकताओं को पूरी करने तथा देश के भीतरी व्यापार को आर्थिक सहायता देने के लिए की गई थी। जब कि बैंक ऑव बंगाल की स्थापना की गई थी तो उससे यह आशा की गई थी कि जब सोने या चाँदी की मांग होगी तो वह जनता को उचित मूल्य पर देगा तथा सरकारी सिक्यूरिटियों और सरकारी हुंडियों (Treasury Bills) के मूल्य को गिरने से बचावेगा तथा कागजी मुद्रा को निकालेगा। उस समय बंगाल में करेंसी (मुद्रा) की दशा बड़ी खराब थी। इस कारण वहाँ कागजी मुद्रा चलाने की बहुत बड़ी आवश्यकता थी।

आरम्भ में प्रेसीडेंसी बैंक सरकार के कोष (Funds) भी रखते थे, किन्तु अठा-रहवीं शताब्दी के अन्त में सरकार ने रिज़र्व खजाने (Reserve Treasuries) तथा जिला और तहसील में खज़ाने स्थापित किए। इस कारण प्रेसीडेन्सी बैंकों का सरकारी कारबार से उतना सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु सरकार के इस निश्चय से द्रव्य बाजार में रुपये की कभी-कभी बहुत कमी पड़ जाती थी। लगान तथा मालगुज़ारी के रूप में बहुत सा द्रव्य इन खजानों में जाकर बेकार हो जाता था क्योंकि द्रव्य बाजार के लिए वह अप्राप्य था। ठीक उसी समय द्रव्य बाज़ार (Money Market) को द्रव्य की बहुत अधिक आवश्यकता होती थी क्योंकि मंडियों में वह समय खरीद-बिक्री का होता था। फिर भी सरकार ने प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास एक न्यूनतम द्रव्य-राशि रखने का निश्चय कर लिया था। इस न्यूनतम द्रव्य-राशि पर प्रेसीडेंन्सी बैंक कोई भी सूद नहीं देते थे। यदि उस न्यूनतम द्रव्य-राशि से कम रुपया सरकार प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास रखती तो सरकार को उस कमी पर सूद देना पड़ता था। किन्तु व्यवहार में सरकार ने निर्धारित न्यूनतम राशि से सदैव अधिक रुपया प्रेसीडेंसी बैंकों के पास रक्खा। इसके अतिरिक्त प्रेसीडेन्सी बैंक सरकारी ऋण को निकालते तथा उसका प्रबन्ध करते थे। सरकार ने उन पर कुछ नियन्त्रण भी स्थापित कर रक्खा था। उनके आय व्यय-निरीक्षण पर सरकारी नियंत्रण था, सरकार उनसे समय-समय पर उनके कारबार के सम्बन्ध में पूँछ-ताँछ करती थी तथा उन्हें अपने हिसाब का साप्ताहिक लेखा निकालना पड़ता था।

१८७६ के प्रेसीडेन्सी बैंक ऐक्ट के अन्तर्गत प्रेसीडेन्सी बैंकों पर कुछ बन्धन भी लगा दिए गए थे। प्रेसीडेन्सी बैंक विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का काम नहीं कर सकते थे, वे भारत के बाहर डिपाज़िट नहीं ले सकते थे, वे ६ महीने से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकते थे और न वे अचल सम्पत्ति की जमानत पर ही ऋण दे सकते थे। ऐसे प्रामिसरी नोटों पर भी वे ऋण नहीं दे सकते थे जिन पर दो स्वतंत्र व्यक्तियों से कम के हस्ताक्षर हों। इसलिए जमानत पर ऋण नहीं दिया जा सकता था और माल की जमानत पर तभी ऋण दिया जा सकता था कि जब वह माल या उसके स्वामित्व सम्बन्धी कागज़-पत्र (Titles) जमानत के रूप में जमा कर दिये गये हों।

•बैंक ऑव बंगाल की आरम्भ में ५० लाख पूँजी थी जिसमें १० लाख सरकार के हिस्से थे। बाद को बैंक की पूँजी बढ़ा दी गई। करेंसी की अस्त-व्यस्त दशा को सुधारने के लिए बैंक ऑव बंगाल ने कागजी मुद्रा निकाली। सरकार केवल बैंक आव बंगाल के ही नोटों को स्वीकार करती थी, इस दृष्टि से

बैंक ऑव बंगाल प्रमुख प्रेसीडेन्सी बैंक था। बैंक ऑव बाम्बे की हिस्सा पूँजी ५२,२५,००० रु० थी जो कि ५२२५ हिस्सों में बँटी हुई थी। इसमें २ लाख रुपये के हिस्से बम्बई सरकार ने लिए थे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में गृह-युद्ध होने के कारण संसार में कपास का अकाल पड़ा और भारतीय कपास की माँग और मूल्य बेहद बढ़ गये। उसके कारण बम्बई में नये कारखाने इत्यादि स्थापित हुए और वहाँ शेयरों का सट्टा बहुत हुआ। बैंक ऑव बाम्बे का रुपया इस सट्टे में डूब गया। इस कारण यह बैंक भी १८६८ में डूब गया। किन्तु उसी वर्ष तक एक नया बैंक १ करोड़ रुपये की पूँजी से स्थापित किया गया। बैंक ऑव मद्रास ३० लाख रुपये की पूँजी से स्थापित किया गया। मद्रास सरकार ने उसमें ३ लाख रुपये के हिस्से लिए थे। इस बैंक की कार्य पद्धति वही थी जो अन्य दो प्रेसीडेन्सी बैंकों की थी।

आरम्भ से ही सरकार तथा प्रेसीडेन्सी बैंकों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सरकार ने इन बैंकों के केवल हिस्से ही नहीं लिये थे किन्तु सरकार इनके संचालक बोर्ड में अपने डायरेक्टर की नियुक्ति करती थी। इन बैंकों को सरकारी बैंकिंग कारबार करने का एकाधिकार प्राप्त था। १८६२ तक उन्हें काग़जी मुद्रा (Paper money) निकालने का भी अधिकार था, किन्तु १८६२ के उपरान्त उनसे यह अधिकार छीन लिया गया और सरकार ने कागजी मुद्रा निकालना आरम्भ किया। १८६२ में जब प्रेसीडेन्सी बैंकों से नोट निकालने का अधिकार ले लिया गया तो उनकी हानि को पूरा करने के उद्देश्य से सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रेसीडेन्सी नगरों (कलकत्ता, बम्बई, मद्रास) में सरकार अपनी सारी रोकड़ (Cash Balances) प्रेसीडेन्सी बैंकों के पास रक्खेगी। वास्तव में प्रेसीडेन्सी बैंकों ने कागजी नोट बहुत अधिक कभी भी नहीं निकाले क्योंकि सरकार ने इस सम्बन्ध में प्रेसीडेन्सी बैंकों पर कड़े बन्धन लगा दिये थे। उदाहरण के लिए एक प्रतिबन्ध तो यह था कि सब चालू जमा (Current Deposit) तथा कागजी नोट जो चलन में हैं बैंकों के नक़द कोष (Cash Reserve) के तीन गुने से अधिक नहीं हो सकते। बाद को इसको बढ़ा कर चार गुना कर दिया गया।

१८७६ में सरकार ने जो प्रेसीडेन्सी बैंक एक्ट बनाया उससे इन बैंकों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कानून के अनुसार सरकार ने इन बैंकों से अपनी हिस्सा पूँजी निकाल ली। हिस्सा पूँजी निकालने के साथ ही सरकार ने डायरेक्टरों तथा बैंक के सेक्रेटरी तथा खजांची को नियुक्त करने का भी अधिकार छोड़ दिया। साथ ही बैंकों के पास सरकारी रुपया रखने की सुविधा

भी समाप्त कर दी गई। आगे से यह बैंक जनता से डिपाज़िट ले सकते थे तथा सरकारी सिक्यूरिटियों तथा कुछ अन्य प्रकार की सिक्यूरिटियों में रुपया लगा सकते थे; बिलों को खरीद सकते थे, उनको भुना सकते थे, स्वीकृत बिलों तथा प्रामिसरी नोटों के आधार पर कर्ज दे सकते थे; सिक्यूरिटियों को अपने पास धरोहर के रूप में सुरक्षित रखने के लिए स्वीकार कर सकते थे तथा सोने और चाँदी की खरीद-बिक्री का काम कर सकते थे। किन्तु जैसा ऊपर हम बता चुके हैं, इन बैंकों को भारत के बाहर डिपाज़िट लेने तथा विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का काम करने की मनाही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks) नहीं चाहते थे कि प्रेसीडेंसी बैंक उनसे प्रतिस्पर्द्धा कर सकें। सरकार ने कुछ प्रतिबन्ध तो बैंकों को ठीक रास्ते पर रखने के लिए लगाये थे किन्तु यह प्रतिबन्ध विशेष कर विदेशी विनिमय बैंकों की ईर्ष्या के कारण लगाये गए थे। प्रेसीडेंसी बैंकों को लंदन द्रव्य बाज़ार में डिपाज़िट न लेने-देने का परिणाम यह होता था कि जहाँ द्रव्य बाजार (Money Market) में द्रव्य की कमी होती थी तो सूद की दर बहुत ही ऊँची हो जाती थी और व्यापार को हानि पहुँचती थी। इस प्रतिबन्ध से प्रेसीडेंसी बैंकों की उपयोगिता तथा कारबार पर बुरा प्रभाव पड़ता था।

इन सब रुकावटों के होते हुए भी प्रेसीडेंसी बैंकों ने बहुत उन्नति की। उन्होंने देश में बहुत ब्रांचें स्थापित कीं तथा उन ब्रांचों पर सरकारी करेंसी नोटों को भुनाने की सुविधा देकर सरकारी करेंसी नोटों के चलन को बहुत अधिक बढ़ाया। यही नहीं, उन्होंने डिपाज़िट बैंकिंग की उन्नति की। सरकार से सम्बन्धित होने के कारण देश में उनकी प्रतिष्ठा थी और भारतीय बैंकों में उनका प्रमुख स्थान था। प्रथम महायुद्ध के समय इन बैंकों ने सरकार को सरकारी ऋण निकालने तथा सरकारी हुण्डियाँ (Treasury Bills) बेचने में बहुत सहायता की। इस प्रकार १६२१ तक यह प्रेसीडेंसी बैंक सफलतापूर्वक बैंकिंग कार्य करते रहे। १६२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई और उसने इन तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को ले लिया। इस प्रकार वे समाप्त हो गए।

मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks)—वे सभी बैंक जो कि भारत में इंडियन कंपनी एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर हुए हैं इस श्रेणी में आते हैं। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि १६८० तक भारत में बैंकों का प्रारम्भिक काल था। सीमित उत्तरदायित्व (Limited Liability) का सिद्धान्त उस समय तक कानून द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ था। अस्तु, उस समय तक जो भी बैंक यहाँ स्थापित हुए वे असीमित दायित्व (Unlimited Liability)

के आधार पर थे। केवल 'जनरल बैंक आव इंडिया' जो १७८६ में स्थापित हुआ इसका अपवाद था। अधिकांश लोगों का विचार है कि अलकजेंडर एण्ड कम्पनी एजेंसी गृह द्वारा स्थापित बैंक आव हिन्दुस्तान, भारत में सबसे पहला बैंक था किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारत में सम्भवतः सबसे पहला बैंक मद्रास सरकार ने १६८८ में स्थापित किया। दूसरा बैंक १७२४ में बम्बई प्रान्त में स्थापित हुआ। बैंक आव हिन्दुस्तान तीसरा बैंक था। यह तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि १८२६-३० में एजेंसी गृहों के डूबने से यह बैंक संकट में आ गए और उसके उपरान्त १८६० तक जो १२ बैंक स्थापित हुए वे भी डूब गए। केवल तीन प्रेसीडेन्सी बैंक ही इस काल के बैंकों में सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। इस काल के बैंकों का केवल एक ही उल्लेखनीय कार्य हुआ अर्थात् उन्होंने भारत में सर्वप्रथम कागजी मुद्रा को प्रचलित किया।

भारतीय बैंकिंग के विकास का दूसरा काल १८६० से १९०० तक था। इस काल में परिमित दायित्व (Limited Liability) का सिद्धान्त अपना लिया गया था। फिर भी इन ४० वर्षों में बैंकों का विकास बहुत धीरे हुआ। उत्तर अमेरिका के गृह-युद्ध के फलस्वरूप बम्बई में जो सट्टे का बाजार गरम हुआ उसमें अवश्य बम्बई में कई बैंक स्थापित हुए किन्तु वे शीघ्र ही डूब गए और पीछे कटु अनुभव छोड़ते गए। १८७० में भारत में केवल दो मिश्रित पूँजी वाले बैंक थे जिनकी पूँजी (Capital) और रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख से अधिक था। १९०० तक इस प्रकार के बैंकों की संख्या ९ हो गई। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण बैंक नीचे लिखे थे—इलाहाबाद बैंक (१८६५), एलाएंस बैंक आव शिमला (१८७४) जो १९२३ में डूब गया, अवध कमर्शियल बैंक (१८८१), यह पहला बैंक था जो भारतीयों द्वारा स्थापित हुआ था, पंजाब नेशनल बैंक (१८९४), यह बैंक मुख्यतः लाला हर-किशन लाल के प्रयत्नों से स्थापित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम २० वर्षों मे बैंकों का विकास शीघ्रतापूर्वक हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में उनकी डिपाजिट में ५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जब कि विनिमय बैंकों (Exchange Banks) की डिपाजिट में केवल ३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और प्रेसीडेन्सी बैंकों की डिपाजिट में १॥ करोड़ की कमी हुई। परन्तु यदि हमे समस्त काल (४९ वर्षों) पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि बैंकों का विकास बहुत धीमी गति से हुआ और उनकी उन्नति सतोषजनक नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस काल में देश की आर्थिक उन्नति नहीं हुई, साथ ही

वस्तुओं का मूल्य गिरता गया। यही कारण था कि बैंकों की उन्नति की गति बहुत धीमी रही।

तीसरा काल १६०० से १६१३ तक कहा जा सकता है, जिसके बाद का समय (१६१३-१८) भारतीय बैंकों के लिए बहुत ही संकट का था। इस काल में भारतीय बैंकों की उन्नति की गति तीव्र रही और उनके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आई। इस काल में बैंकों की उन्नति का एक कारण स्वदेशी आन्दोलन भी था। १६०५ के उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन की लहर के साथ देश में बहुत से धन्धे और उनके साथ ही बैंक भी स्थापित हुए। १६०१ में लाला हरकिशन लाल के प्रयत्नों से पीपुल्स बैंक स्थापित हुआ किन्तु उसके उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव से जो बैंक स्थापित हुए उनमें बैंक आव बर्मा (१६०४) सर्वप्रथम था। इसके उपरान्त उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में कई बैंक स्थापित हुए। इनमें बैंक आव बर्मा के अतिरिक्त बैंक आव इंडिया, बैंक आव मैसूर, बैंक आव बड़ौदा, दी इंडिया स्पेशी बैंक, तथा सेन्ट्रल बैंक आव इण्डिया अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ तो आज 'बड़े पाँच' की श्रेणी में हैं। १६०६ तक भारतीय मिश्रित पूँजी के बैंकों की डिपाज़िट में ११ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई, जबकि विनिमय बैंकों की डिपाज़िट में १३ करोड रुपये और प्रेसीडेन्सी बैंक की डिपाज़िट में ६ करोड़ की वृद्धि हुई। इस काल में (१६००-१३) उन बैंकों की संख्या जिनकी पूँजी और रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख रुपये से अधिक था, ६ से बढ़ कर १८ होगई। इनके अतिरिक्त उस काल में छोटे-छोटे बैंकों की संख्या बहुत अधिक हो गई। बहुत से नये छोटे बैंक स्थापित किये गए।

१६१३-१४ के बीच भारतीय बैंकों को भयंकर संकट का सामना करना पड़ा। इस संकट काल में ६५ बैंक डूब गए और उनकी २ करोड़ रुपये की पूँजी डूब गई। डूबने वाले बैंकों में अधिकांश छोटे-छोटे बैंक थे किन्तु आधे दर्जन के लगभग बड़े बैंक भी थे जो डूब गए। इसका भारत के बैंकिंग कारबार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और जनता का उन पर से विश्वास उठ गया। भारत में यह सबसे बड़ा बैंकिंग संकट था। १८२६-३२ में एजेंसी गृहों के डूबने से, १८५७ में विद्रोह के कारण, तथा १८६४-६६ में अमेरिकन गृह-युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न सट्टे के कारण जो बैंकिंग संकट हुए वे इसके सामने नगण्य थे। सबसे पहले १७ सितम्बर १६१३ को पीपुल्स बैंक ने अपना कारोबार बन्द किया और फिर स्थिति बिगड़ती ही गई। पंजाब, उत्तर प्रदेश और बम्बई में विशेष रूप से बहुत बैंक डूबे। अकेले १६१३-१४ में ५५ बैंक डूब गए। यद्यपि इस काल में पीपुल्स

बैंक, बैंक आव-अपर इंडिया तथा इंडियन स्पीशी बैंक जैसे बड़े-बड़े बैंक भी डूब गये, किन्तु अधिकांश डूबने वाले बैंक बहुत छोटे थे। यों भारतवर्ष में व्यक्तिगत निर्बलता के कारण कभी-कभी एक दो बैंक डूब जाते हैं किन्तु ऐसा बड़ा संकट कभी भी नहीं आया। इस सम्बन्ध में हमें एक बात न भूल जानी चाहिए कि केवल भारत में ही बैंक डूबे हों ऐसा नहीं था। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि सभी देशों में बैंकों पर संकट आये हैं और वे डूबे हैं। अस्तु, इस संकट-काल को लेकर जो बहुत से पाश्चात्य विद्वान् इस बात की घोषणा करते हैं कि भारतीयों में आधुनिक ढंग के बैंक चलाने की योग्यता ही नहीं है, गलत है। इन बैंकों के डूबने के मुख्य कारण नीचे लिखे हैं।

बहुत से बैंक नक़द कोष (Cash Reserve) कम रखते थे, बहुत से डूबने वाले बैंकों का प्रबन्ध खराब था और उनके संचालक ईमानदार नहीं थे, हिस्सेदारों ने कभी बैंकों के प्रबन्ध में दिलचस्पी नहीं ली। वे उसकी ओर से उदासीन रहे। इन बैंकों ने अपने रुपये को लगाने में बैंकिंग सिद्धान्तों की नितान्त अवहेलना की, रुपये को उद्योग में लम्बे समय के लिए अटका दिया। यह बैंक जब अपना लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) निकालते थे तो उस समय दिये हुए ऋण को वापस बुला कर नक़द कोष को अधिक दिखला देते थे, किन्तु वास्तव में नक़द कोष बहुत कम होता था। यह बैंक लाभ न होते हुए भी लाभ बाँटते थे। इन बातों से जमा करने वाले धोखे में आ जाते थे। सरकार ने भी बैंकों के इन दोषों को दूर करने का कोई प्रयत्न न किया और न देश में कोई केन्द्रीय बैंक (Central Bank) ही था कि जो बैंकों को बैंकिंग के सिद्धान्तों की अवहेलना करने से रोकता और उनका नियंत्रण करता। इसके अतिरिक्त इन बैंकों में आपस में कोई सहयोग नहीं था वरन् ये एक दूसरे से ईर्ष्या रखते और परस्पर हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के डूबने का एक और भी कारण था। अधिकांश डूबने वाले बैंकों की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) बहुत अधिक थी, किन्तु उनकी चुकती पूँजी (Paid-up Capital) बहुत कम थी। इस कारण उन्हें ऊँची दर पर सूद देकर डिपाज़िट आकर्षित करनी पड़ती थी और जब वे अपने ग्राहकों को उनकी डिपाज़िट पर अधिक सूद देते थे तो उन्हें अपने रुपये को जोखिम के कारबार में लगाना पड़ता था, क्योंकि तभी वे उस पर अधिक सूद कमा सकते थे और डिपाज़िटों पर अधिक सूद दे सकते थे। ऊपर लिखे कारणों से ही देश में बैंकिंग संकट उपस्थित हुआ था। इस बैंकिंग संकट का एक अच्छा परिणाम भी हुआ। राज्य तथा जनता सभी को एक केन्द्रीय बैंक (Central

Bank) की आवश्यकता का अनुभव होने लगा जो कि देश में बैंकिंग कारबार का नियन्त्रण कर सके, और साथ ही इस बात की भी आवश्यकता का अनुभव हुआ कि एक बैंकिंग ऐक्ट बनाया जावे जिससे बैंक सुव्यवस्थित और अच्छे ढंग से चल सकें। रिज़र्व बैंक की स्थापना से पहली कमी दूर होगई और बैंकिंग कानून बन जाने से दूसरी। यही नहीं, मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को भी अनुभव ने यह बतला दिया कि आरम्भ में जब कि बैंकों की किसी देश में स्थापना हो तो अधिक द्रव्य कोष (Cash Reserve) रखने की जरूरत है। तब से भारतीय व्यापारिक बैंक सतर्क हो गए और अधिक नकद कोष रखने लगे।

यद्यपि भारतीय बैंकिंग व्यवसाय को १६१३ के संकट से धक्का लगा किंतु, युद्ध के कारण उनकी अवनति और पतन अधिक नहीं हुआ। १६१४ से १६२० तक युद्ध काल में तथा १६२१ की आर्थिक तेज़ी (Boom) में इन बैंको की सख्या तथा उनकी डिपाज़िट दोनों में ही वृद्धि हुई। १६१८ में ताता औद्योगिक बैंक की स्थापना हुई तथा अन्य बैंक भी स्थापित हुए, किन्तु १६२० से आर्थिक मंदी (Depression) तथा मुद्रा संकोचन (Deflation) दोनों ही आरम्भ हुए और बैंकों को फिर संकट का सामना करना पड़ा। यह आर्थिक संकट १६२४ तक रहा। बैंकों की कुल डिपाज़िट जो १६२१ में ८० करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी, गिरने लगी और १६२४ में केवल ५५ करोड़ रह गई। यद्यपि सकट उतना तीव्र नहीं था फिर भी कुछ बैंक डूब गए। १६१६ से १६२५ के बीच में ८४ बैंक डूब गए जिससे ४ करोड़ ८० लाख रुपये की पूँजी की हानि हुई। १६२३ सबसे बुरा वर्ष था। उस एक वर्ष में २० बैंक, जिनकी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) चार करोड़ ६५ लाख रुपये थी, डूब गए। १६२३ में डूबने वाले बैंकों में ताता औद्योगिक बैंक तथा एलाएंस बैंक आव शिमला मुख्य थे। अन्त में ताता औद्योगिक बैंक को सैंट्रल बैंक ऑव इंडिया ने ले लिया।

१६२३-२४ की आर्थिक मंदी (Depression) के उपरान्त भारत में व्यापारिक बैंकों के इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहला काल १६२४-२५ से १६३० तक का है। यद्यपि इस काल में बैंकों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ किन्तु उन्नति संतोषजनक नहीं हुई। डिपाज़िट १६२१ से (अर्थात् ८० करोड़ से) बहुत कम रही। १६३० में कुल डिपाज़िट ६८ करोड़ रुपये थी। इस सुधार के पश्चात् १६३१ में फिर बैंक डिपाज़िट २ करोड़ कम हो गई और बैंकों को थोड़ी मंदी का सामना करना पड़ा। फिर १६३२ से १६३७ तक दूसरा काल माना जा सकता है। इस काल में बैंकों की स्थिति में पहले की अपेक्षा तेज़ी से सुधार हुआ। १६३७ में बैंकों की डिपाज़िट बढ़ कर १०८ करोड़ रुपये हो गई।

इस काल के उपरान्त १९३८ में फिर आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ा और बैंकों की कुल डिपाज़िट २ करोड़ रुपये घट गई यद्यपि छोटे बैंकों की डिपाज़िट में वृद्धि हुई। इस काल में छोटे-छोटे बैंक डूबे किन्तु ट्रावंकोर नेशनल एण्ड क्विलन बैंक, बनारस बैंक, बंगाल नेशनल बैंक उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त १९३९ के उपरान्त आश्चर्यजनक तेजी से बैंकों की संख्या तथा डिपाज़िट में वृद्धि हुई।

नये बैंकों में नीचे लिखे बैंक उल्लेखनीय हैं:—भारत बैंक, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, जयपुर बैंक, हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, बैंक आव बीकानेर, जोधपुर बैंक, हबीब बैंक, एक्सचेंज बैंक आव इंडिया एण्ड अफ्रीका, हिन्द बैंक, डिस्काउन्ट बैंक आव इन्डिया, हिन्दुस्तान मरकैंटाइल बैंक, नेशनल सेविंग्स बैंक। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से बैंक स्थापित हुए। यही नहीं कि इस काल में सैकड़ों छोटे बड़े बैंक स्थापित हुए और उन्होंने अपनी शाखायें तेज़ी से स्थापित करना आरम्भ कर दिया वरन् पुराने बैंकों ने भी अपनी पूँजी बढ़ाई तथा अपने कारबार के क्षेत्र का विस्तार किया और ब्रांचों की वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। सेठ रामकृष्ण डालमियाँ के द्वारा भारत बैंक की स्थापना होते ही प्रत्येक बड़े व्यवसायी ने अपना-अपना बैंक स्थापित करना आरम्भ कर दिया और देश में बैंकों की एक बाढ़ सी आ गई। इनमें छोटे-छोटे बैंकों की संख्या ही अधिक थी। जहाँ १९३९-४० में देश में केवल ५५ शिड्यूल बैंक थे वहाँ १९४६-४७ में ९६ शिड्यूल बैंक हो गये और १९४७-४८ में यह संख्या १०१ हो गई। देश के विभाजन के बाद १९४९-५० में भारत में शिड्यूल बैंकों की संख्या ९४ थी। १९५१ के अन्त में यह संख्या ९५ थी। इसी प्रकार जहाँ १९३८ में शिड्यूल बैंकों की १२७८ ब्रांचें थीं वहाँ ३१ मार्च १९४९ में उनकी संख्या ३००८ हो गई। पर १९४९-५० से शिड्यूल बैंकों की ब्रांचों में २४० ब्रांचें कम हो गईं। १९५०-५१ में यह संख्या १०४ से और कम होकर २७९६ ही रह गई। क्योंकि आर्थिक दृष्टि से जो ब्रांचें सफल नहीं हो रहीं थीं वे बन्द कर दी गईं। सितंबर १९५१ के अन्त में शेड्यूल बैंक की शाखाओं की संख्या २६७८ थी। द्वितीय महायुद्ध के समय से जो बैंकिंग में विस्तार हो रहा था उसका यह स्वाभाविक परिणाम था। बैंकों की डिपाज़िट में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। जहाँ १९३९-४० में शिड्यूल बैंकों की कुल डिपाज़िट २३४.५९ करोड़ थी वहाँ १९४७-४८ में शिड्यूल बैंकों की डिपाज़िट १०५०.५४ करोड़ के लगभग हो गई और देश के विभाजन के बाद १९४९-५० में केवल भारत के बैंकों की डिपाज़िट ८७०.३८ करोड़ थी। फरवरी १९५२ को भारत के शिड्यूल बैंकों की कुल डिपा-

जिट लगभग ८६३-८२ करोड़ की थी। नॉन-शिड्यूल बैंकों की ३१ मार्च १९५० को कुल डिपाजिट ३६ करोड़ रुपये के लगभग थी। बैंकिंग कम्पनीज् एक्ट के तहत में जो नॉन-शिड्यूल बैंक अपना हिसाब पेश करते हैं उनकी संख्या बराबर कम होती जा रही है और इसी से उनके डिपाजिट में भी कमी होती जा रही है। मार्च १९४९ में इनके डिपोजिट ४७ करोड़ थे जो दिसम्बर १९५० को कम होते-होते ३७ करोड़ तक पहुँच गये।

युद्ध काल और उसके उपरान्त बैंकों की यह बाढ़ मुद्राप्रसार (Inflation) का परिणाम थी। सरकार के आदेश पर रिज़र्व बैंक ने जिस तेज़ी से कागजी मुद्रा छापनी आरम्भ कर दी उसके ही परिणामस्वरूप बैंकों की बाढ़ आ गई और डिपाजिटों में वृद्धि हुई। परन्तु बहुत से बैंकों ने बिना यह समझे कि उनके पास यथेष्ट योग्य और कुशल कर्मचारी हैं ब्रांचें खोलनी आरम्भ कर दीं। ब्रांचों के खोलने में उन्होंने इस बात का भी ध्यान नहीं रक्खा कि कहाँ ब्रांच खोलना लाभदायक होगा और कहाँ ब्रांच खोलना लाभदायक नहीं होगा। बहुत से बैंकों की पूँजी बहुत ही कम थी किन्तु उन्होंने भी ब्रांचें स्थापित कर दीं। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४६-४७ में बहुत से छोटे छोटे बैंक जो कि शिड्यूल बैंक नहीं थे (विशेषकर बंगाल के) डूब गए। १५ अगस्त १९४७ के उपरान्त भारत में जो भीषण लूट-पाट और नर-संहार हुआ उसमें भी पंजाब के बैंकों को बहुत बड़ी हानि हुई। सन् १९४८ के मध्य तक बैंकों ने देश के विभाजन के असर से अपने आपको सँभाल लिया था। युद्ध और युद्ध के बाद बैंकिंग के विस्तार की प्रवृत्ति का भी अब अन्त हुआ। डिपोजिट की मात्रा में कमी आई। कुछ शिड्यूल बैंक और कई नॉन-शिड्यूल बैंक सितम्बर-अक्टूबर १९४८ में डूब गए। फिर भी बैंकों के बहुत अधिक हो जाने के कारण कहीं-कहीं बहुत अनुचित प्रतिस्पर्द्धा दिखलाई पड़ती है। भविष्य में बहुत से छोटे-छोटे बैंकों को बड़े बैंकों से मिल जाना होगा, नहीं तो वे खड़े नहीं रह सकते। यद्यपि लड़ाई के उपरान्त अभी तक आर्थिक मंदी (Depression) का भारतीय बैंकों को सामना नहीं करना पड़ा है फिर भी यह कहा जा सकता है कि रिज़र्व बैंक के नेतृत्व में भारतीय बैंक उन्नति कर रहे हैं और शिड्यूल बैंकों की स्थिति अच्छी है।

मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के कार्य—अब हम मिश्रित पूँजी वाले बैंकों (Joint Stock Banks) के कार्यों का विवेचन करेंगे। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि मिश्रित पूँजी वाले बैंक व्यापारिक बैंक (Commercial Banks) होते हैं और वे उन सभी कार्यों को करते हैं जो कि व्यापारिक

बैंक करते हैं। इन बैंकों का मुख्य कार्य चालू (Current), मुद्दती (Fixed) और सेविंग्स डिपाज़िट आकर्षित करना तथा थोड़े समय के लिए ऋण देना है, बिलों को भुनाना या खरीदना (यद्यपि भारतीय बैंक यह कार्य कम करते हैं, क्योंकि यहाँ बिल-बाज़ार का उदय नहीं हुआ है), सरकारी सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) में अपना रुपया लगाना, नक़द साख (Cash Credit) देना, खेती की पैदावार को गाँव से नियत बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से विदेशों से आए हुए माल को देश के भीतरी बाज़ारों तक पहुँचाने में आर्थिक सहायता देना है। इसके अतिरिक्त यह बैंक और भी छोटे-मोटे कार्य करते हैं, उदाहरण के लिये रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना इत्यादि।

यह बैंक कृषि के धंधे को सीधी आर्थिक सहायता नहीं देते। वे केवल बड़े जमींदारों, चाय इत्यादि के बगीचों के मालिकों तथा ऐसे व्यक्तियों को ही ऋण देते हैं जो कि बाजार में शीघ्र बिक सकने योग्य ज़मानत (Security) देते हैं। पहले तो यह बैंक मुद्दती जमा (Fixed Deposits) पर ४ से ५ प्रतिशत वार्षिक सूद देते थे और चालू खाते (Current Account) पर १½ से ½ प्रतिशत सूद देते थे किन्तु अब अधिकांश बैंक चालू खाते पर कुछ भी सूद नहीं देते और मुद्दती जमा पर भी २ प्रतिशत से अधिक सूद नहीं देते थे। नवंबर १९५१ में जब बैंक रेट ३०% से ३½% कर दी गई तो डिपाज़िट की सूद की दर भी बढ़ीं। बंबई की तीन महीने की जमा पर फ़रवरी १९५२ में सूद की दर ३% और ६ महीने की जमा पर २¾% थी पर कलकत्ते और मद्रास में ये दरें २¼% और १½% या २% क्रमशः थीं। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन मार्च १९५२)

बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में जहाँ स्टाक बाज़ार की सिक्यूरिटी अधिक मिलती है वहाँ यह बैंक उनकी जमानत पर ऋण देते हैं। किन्तु जिन मंडियों तथा बाज़ारों में स्टाक बाज़ार की सिक्यूरिटी अधिक नहीं मिलती वहाँ खेती की पैदावार को रख कर यह बैंक ऋण दे देते हैं। भारतवर्ष में सार्वजनिक गोदाम नहीं हैं इस कारण बैंक अपने गोदाम रखते हैं जहाँ ग्राहक का माल रख कर उसकी ज़मानत पर उसे ऋण दे दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि बैंक ग्राहक के गोदाम पर ही अधिकार कर लेते हैं और वहीं माल बंद करके ग्राहक को ऋण दे देते हैं। वे सोना, चाँदी, कपड़ा इत्यादि वस्तुओं को रखकर भी ग्राहकों को ऋण दे देते हैं। कारखानों को उनको तैयार माल के विरुद्ध तथा अन्य सिक्यूरिटियों के विरुद्ध ऋण देते हैं। कभी-कभी बैंक इमारतों तथा अन्य स्थावर सम्पत्ति को गिरवी रखकर कर्ज़ दे देते हैं किन्तु इस प्रकार का कर्ज़ अधिक नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की सम्पत्ति शीघ्र

नहीं बेची नहीं जा सकती।

बैंक व्यक्तिगत ज़मानत पर भी कर्ज़ दे देते हैं। ऐसी दशा में कर्ज़दार जो प्रॉमिसरी नोट लिखता है उस पर दो अच्छे हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं। मालिक तथा मैनेजिंग एजेंटों के हस्ताक्षर होने पर बैंक आसानी से कर्ज़ दे देते हैं। हुंडी जो कि आज भी भारतीय बाज़ारों में प्रचलित है (यद्यपि पहले से उसका प्रचार कम है) वास्तव में दो हस्ताक्षरों वाला पत्र है, क्योंकि उस पर देशी बैंकों का बेचान (Endorsement) होता है। किन्तु व्यापार की मात्रा को देखते हुए तथा व्यापारियों की आवश्यकताओं को देखते हुए जितने दो हस्ताक्षर वाले पत्रों को यह बैंक स्वीकार करके व्यापारियों कर्ज़ या साख देते हैं वे अपेक्षाकृत कम ही होते हैं।

कर्ज़ देने का सबसे अधिक प्रचलित ढंग यह है कि कर्ज़दार बैंक को प्रॉमिसिरी नोट लिख देता है और कम्पनियों के हिस्से माल या बांड अथवा अन्य कोई सिक्यूरिटी बैंक के पास जमानत के रूप में रख देता है और बैंक उस कर्ज़दार के नाम नकद साख खाता (Cash Credit Account) खोल देता है। यह ढंग दोनों पक्षों के लिए सुविधाजनक है। कर्ज़दार जितना रुपया वास्तव में निकालता है उस पर ही उसे सूद देना पड़ता है। फिर उसे यह भी सुविधा रहती है कि वह जब चाहे उस खाते में रुपया जमा करके अर्थात् कुछ कर्ज़ चुकादे। किन्तु कर्ज़दार को जितनी नकद साख दी गई है उसकी आधी रकम पर अवश्य सूद देना होगा। कर्ज़ देने का यह ढंग भारत में बिल-बाज़ार को विकसित नहीं होने देता। किन्तु यह अधिक प्रचलित है, क्योंकि बैंक और व्यापारी दोनों ही उसे पसन्द करते हैं। बैंक को सुविधा यह है कि जब चाहे नकद साख (Cash Credit) की इस सुविधा को वापस ले सकता है अर्थात् कर्ज़दार को अधिक कर्ज़ या साख देना अस्वीकार कर सकता है और कर्ज़ देने वाले को यह सुविधा होती है कि उसे निश्चित रक़म पर ही सूद देना पड़ता है—पूरी रकम पर सूद नहीं देना पड़ता।

यह बैंक अधिकतर देश के भीतरी व्यापार के लिये अल्पकालीन साख (Short Term Credit) का प्रबन्ध करते हैं। विदेशी व्यापार, उद्योग-धन्धों तथा कृषि को यह बहुत कम साख देते हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत के कुछ बड़े बैंकों ने विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का कारबार करना आरंभ किया है परन्तु अभी तक वह नहीं के बराबर है। उद्योग-धन्धों को यह बैंक थोड़े समय के लिये नक़द साख के रूप में या कर्ज़ के रूप में सहायता देते हैं। अधिक समय के लिये स्थायी पूँजी (Block Capital) के रूप में यह बैंक उद्योग-

धन्धों को सहायता नहीं देते।

भारतीय व्यापारिक बैंकों की कार्य-पद्धति की एक विशेषता यह है कि वे बिलों की अपेक्षा सरकारी सिक्यूरिटियों में अपना रुपया अधिक लगाते हैं। इसका कारण यह है कि देश में व्यापारी बिलों तथा बैंक के स्वीकार योग्य पत्रों (Papers)-की कमी या अभाव है। अस्तु, बैंक अपना अधिकतर रुपया सरकारी सिक्यूरिटियों में लगाते हैं।

इनके अतिरिक्त भारतीय बैंक और भी सहायक बैंकिंग कार्य करते हैं। उदाहरण के लिये वे अपने ग्राहकों को अर्थ सम्बन्धी सलाह देते हैं, उन्हें व्यापार सम्बन्धी जानकारी कराते हैं, अपने ग्राहकों के लिए सरकारी सिक्यूरिटी तथा कम्पनियों के हिस्से खरीदते और बेचते हैं, अपने ग्राहकों के एवज में रुपया चुकाते हैं और वसूल करते हैं, अपने ग्राहकों के एजेंट या प्रतिनिधि का काम करते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त वे यात्रियों की सुविधा के लिए साख-पत्र (Letter of Credit) देते हैं, रुपये को दूसरे स्थान पर भेजने के लिए बैंक-ड्राफ्ट देते हैं तथा सरकार, कम्पनियों तथा म्यूनिस्पैलटी तथा कारपोरेशन द्वारा निकाले हुए ऋण का अभिगोपन (Underwriting) करते हैं। वे अपने ग्राहकों की साख, आर्थिक स्थिति तथा प्रसिद्धि के सम्बन्ध में अन्य व्यापारियों को अपना मत देते हैं। वे अपने ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुओं को सुरक्षित रूप से रखते हैं।

भविष्य में भारतीय बैंकों को अधिकाधिक विदेशी व्यापार की ओर ध्यान देना होगा। भारतीय बैंकों ने 'ट्रस्ट' का कारबार भी करना आरम्भ नहीं किया है और वे ग्राहकों के लिए शेयरों की खरीद-बिक्री का भी काम बहुत कम करते हैं। भविष्य में उन्हें इस ओर अधिक ध्यान देना होगा।

भारतीय व्यापारिक बैंकों के दोष तथा उनकी कठिनाइयाँ—(१) भारतीय बैंकों को अभी तक सरकार से प्रोत्साहन नहीं मिला। म्यूनिस्पैलटियाँ, विश्वविद्यालय, पोर्ट ट्रस्ट, कोर्ट आव वार्डस् ट्रस्टों इत्यादि का रुपया उनमें नहीं रक्खा जाता यद्यपि अब धीरे-धीरे स्थिति बदल रही है। १९३५ के पूर्व देश में कोई केन्द्रीय बैंक न होने के कारण उन्हें कठिनाई के समय ठीक नेतृत्व तथा सहायता नहीं मिलती थी और न उनमें आपस में सहयोग ही स्थापित हो पाता था। किन्तु रिज़र्व बैंक की स्थापना से अब यह कठिनाई दूर हो गई है।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों (Exchange Banks) तथा इम्पीरियल बैंक की प्रतिस्पर्द्धा तथा आपसी सहयोग और सहानुभूति का अभाव भी उनकी उन्नति के मार्ग में एक रुकावट है। यह भी आशंका है कि भविष्य में सहकारी बैंक (Co-

operative Banks) भी उनसे होड़ करेंगे। जहाँ तक इन बैंकों की एक्सचेंज बैंकों तथा इम्पीरियल बैंकों से स्पर्द्धा का प्रश्न है, हम उन बैंकों से सम्बन्धित अध्यायों में लिख चुके हैं; और जहाँ तक उनमें आपस में तथा द्रव्य बाज़ार (Money Market) के अन्य सदस्यों में सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करने का प्रश्न का है, उसके लिए अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन की स्थापना की आवश्यकता है।

(३) अभी तक बहुत से भारतीय धंधे तथा भारतीय व्यापार विदेशियों के हाथ में हैं और वे स्वभावतः अपने देश के बैंकों को प्रोत्साहन देते हैं, इस कारण भी भारतीय बैंकों की उन्नति तेजी से नहीं हुई। किन्तु अब भारत स्वतंत्र हो गया है और यह कठिनाई अब क्रमशः दूर हो जावेगी।

(४) यही नहीं कि विदेशी व्यवसायी तथा विदेशी व्यापारी फर्में अपने देश के बैंकों से अपना कारबार करती हैं वरन् जो भारतीय व्यापारी उनके ब्रोकर या एजेंट का काम करते हैं अथवा जिनका विदेशी बीमा कम्पनियों तथा विदेशी जहाज़ी कम्पनियों से कारबार होता है उनको भी यह विदेशी फर्में और कम्पनियाँ विदेशी विनिमय बैंकों से कारबार करने पर विवश करते हैं।

(५) पिछले बैंक संकटों के कारण जो बैंक डूब गए उनसे बैंकों की स्थापना में कठिनाई होती थी, लोग बैंकों में हिस्से नहीं लेते थे और उनमें रुपया जमा करने से हिचकिचाते थे; किन्तु अब यह कठिनाई दूर हो गई है। पिछले वर्षों में बैंकों की संख्या तथा डिपाज़िट में जैसी तेज़ी से वृद्धि हुई है उसे देखते यह कहना पड़ेगा कि बैंकों के विरुद्ध अब अविश्वास जाता रहा है।

(६) भारत की आर्थिक उन्नति न होने के कारण भी भारतीय बैंकों की उन्नति रुकी रही। अस्तु, भारत की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ भारत में बैंकिंग कारबार का विकास होना तथा जनता में बैंकिंग की आदत बढ़ना अनिवार्य है। अभी तक जनता में बैंकिंग की आदत कम है।

(७) इनके अतिरिक्त बैंकों को कुछ अन्य कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों के पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून इतने उलझे हुए हैं कि इस प्रकार की सम्पत्ति की ज़मानत पर ऋण देना बैंकों के लिए खतरे से खाली नहीं है। अस्तु बैंक उस सम्पत्ति की ज़मानत पर ऋण देने से हिचकते हैं।

थोड़े समय के लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि व्यापारी अपनी सम्पत्ति के प्रलेख (Documents) बैंक के पास बिना बंधक पत्र (Mortgage Deeds) लिखे और उनकी रजिस्ट्री कराये रख दें और उन प्रलेखों (Doc-

ments) का बैंकों के पास जमा कर देना ही बन्धक मान लिया जावे। किन्तु भारत में यह सुविधा केवल बम्बई, कलकत्ता, मद्रास नगरों में दी गई है। अन्य स्थानों में यह सुविधा बैंकों को प्राप्त नहीं है।

(८) व्यापारिक बैंक इस आशा से सरकारी सिक्यूरिटियों में अपना रुपया लगाते हैं कि संकट काल में सरकारी सिक्यूरिटियाँ शीघ्र ही नकदी में परिणित की जा सकती हैं। किन्तु कभी-कभी उसमें कठिनाई पड़ जाती है। ऐसा बहुत बार हुआ कि बैंक इम्पीरियल बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की ज़मानत पर ऋण प्राप्त न कर सके। अभी हाल में रिज़र्व बैंक ने भी इसी आशय की घोषणा की है कि यदि किसी बैंक की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है तो यह आवश्यक नहीं है कि सरकारी सिक्यूरिटी के आधार पर उन्हें ऋण दे ही दिया जावेगा।

(९) भारत में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे बैंक हैं कि जिनके पास अपनी निज की यथेष्ट पूँजी नहीं है, इस कारण उन्हें बहुत कठिनाई पड़ती है। वे डिपाजिट अधिक आकर्षित करने के लिए सूद अधिक देते हैं और इस कारण उन्हें अपना रुपया ज़ोखिम के कारबार में लगाना पड़ता है, तभी वे अधिक सूद कमा सकते हैं। डिपाजिट आकर्षित करने के लिए यह छोटे-छोटे बैंक दूर-दूर अन्य प्रान्तों में ब्राँचें स्थापित करते हैं, इस कारण उनकी देख-भाल और व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो पाती और उन्हें बड़े बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा को सहन करना पड़ता है। इस प्रकार के बैंक स्वभावतः निर्बल होते हैं और संकट के समय वे नहीं ठहर सकते।

(१०) इसके अतिरिक्त बहुत से बैंकों के डाइरेक्टर योग्य और अनुभवी नहीं हैं और योग्य बैंकिंग कर्मचारियों की कमी है। यही नहीं, नये बैंकों को समाशोधन गृह अर्थात् क्लियरिंग हाउस (Clearing House) का सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई होती है। क्लियरिंग हाउस पर विदेशी बैंकों का बहुत प्रभाव है और वे नये बैंकों को उसका सदस्य नहीं बनने देना चाहते। किन्तु अब क्रमशः यह कठिनाई दूर हो जावेगी।

(११) भारत के सभी बैंक अंग्रेज़ी में अपना कारबार करते हैं। उनके चेक, रसीदें, तथा हिसाब सभी अंग्रेज़ी में होता है। केवल कुछ हीं बैंक ऐसे हैं जो हिन्दी में लिखे गए चेकों को तथा हिन्दी में किये गए हस्ताक्षरों को स्वीकार करते हैं। भारत में व्यापारियों तथा जनता का एक बहुत बड़ा भाग अंग्रेजी नहीं जानता। भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त अंग्रेजी का महत्त्व अब घटता जा रहा है अतएव अब बैंकों को अपना कारभार हिन्दी में अथवा प्रान्तीय भाषा में करना चाहिए।

(१२) भारतीय बैंकों के सामने एक यह भी कठिनाई है कि यहां बिलों तथा ऐसे पत्रों (Papers) की बहुत कमी है जिन्हें बैंक स्वीकार कर सकें। इस कारण बैंकों को विवश होकर अपना अधिकांश कोष सरकारी सिक्यूरिटियों में लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में बिना किसी सम्पत्ति की जमानत पर अथवा दूसरे हस्ताक्षर लिए हुए व्यक्तिगत साख पर ऋण देने की पद्धति नहीं है, जब कि अन्य देशों में यह बहुत प्रचलित है और अधिकांश ऋण इसी प्रकार दिये जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमीय देशों में 'एक व्यक्ति एक बैंक' का चलन है अर्थात् एक व्यक्ति अपना सारा कारबार केवल एक बैंक से ही करता है। दूसरा कारण मैनेजिंग एजेंट हैं। बैंक जब किसी कम्पनी को ऋण देते तो वे कम्पनी के डायरेक्टर के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेंट के हस्ताक्षर अवश्य लेते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि कंपनी के वास्तविक कर्ता-धर्ता तो मैनेजिंग एजेंट ही हैं। तीसरा एक कारण यह भी है कि अभी तक इस देश में ऐसी व्यापारिक एजेंसियाँ नहीं हैं जो व्यक्तियों की साख के सम्बन्ध में बैंकों को सारी जानकारी दे सकें।

(१३) भारतीय बैंकों ने अभी तक भारतवर्ष की परिस्थिति के अनुसार अपने संगठन को नहीं बनाया। वे ऐक्सचेंज बैंकों तथा इम्पीरियल बैंकों की नक़ल मात्र करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रबन्ध-व्यय अधिक होता है। फिर भी उनके कर्मचारियों में न तो वह कुशलता है और न वह योग्यता। भारतीय बैंकों ने न तो विदेशी ऐक्सचेंज बैंकों की कुशलता ही प्राप्त की और न देशी बैंकरों की सादगी और मितव्ययिता ही वे अपना सके। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय बैंक भारत के अनुकूल बैंकिंग संगठन की नवीन पद्धति निकालें जो कि कम खर्चीली हो, क्योंकि भारत में ऐसे स्थान बहुत हैं जहाँ इतना कारबार आरम्भ में तो नहीं मिल सकता कि एक आधुनिक ब्रांच का खर्च निकल सके परन्तु फिर भी वहाँ बैंकिंग की सुविधा की आवश्यकता है।

(१४) बहुधा लोग भारतीय बैंकों पर यह दोष लगाते हैं कि वे अपने वास्तविक लाभ का बहुत बड़ा अंश हिस्सेदारों को इसलिये बाँट देते हैं कि इससे जनता में उनके प्रति विश्वास बना रहे, क्योंकि भारतीय जनता की यह धारणा है कि जो बैंक जितना अधिक लाभ बाँटता है वह उतना ही अच्छा है। जहाँ तक बड़े और पुराने बैंकों का प्रश्न है यह आरोप निराधार है, किन्तु छोटे बैंक ऐसा करते हैं और इसका मुख्य कारण भारतीय जनता की यह अनुचित धारणा है।

अब परिस्थिति बदल गई है। यद्यपि भारत के विभाजन से पाकिस्तान में जिन बैंकों की अधिक ब्रांचें थीं उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी है, परन्तु फिर भी बैंकों का तेज़ी से विस्तार हुआ है और बड़े बैंक उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

बैंकों का वर्गीकरण—भारतवर्ष में बैंकों का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है। एक वर्गीकरण सरकार का है और दूसरा रिज़र्व बैंक का है। भारत सरकार जो बैंक सम्बन्धी आँकड़े छापती है उसमें दो प्रकार के बैंकों का उल्लेख होता है—(१) पहली श्रेणी तो उन बैंकों की होती है जिनकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) तथा रक्षित कोष (Reserve Fund) पाँच लाख रुपये से अधिक है। दूसरी श्रेणी उन बैंकों की है जिनकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष एक लाख रुपये से अधिक है और पाँच लाख रुपये से कम है। १६३६ के उपरान्त बैंकिंग सम्बन्धी आँकड़े रिज़र्व बैंक छापने लगा है, तब से दो अन्य श्रेणियाँ और जोड़ दी गई हैं। तीसरी श्रेणी के बैंक वह हैं जिनकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष ५० हज़ार रुपये से अधिक तथा १ लाख से कम है और चौथी श्रेणी में वे बैंक आते हैं जिनकी पूँजी तथा रक्षित कोष ५० हजार रुपये से कम है।

रिज़र्व बैंक बैंकों को दो श्रेणियों में बाँटता है—(१) शिड्यूल बैंक (Schedule Banks) और गैर-शिड्यूल बैंक (Non-Schedule Banks)। जिस बैंक की चुकता पूँजी और रक्षित कोष ५ लाख रुपये से अधिक हो तथा जो कुछ अन्य शर्तें पूरी करे वह शिड्यूल बैंक बन सकता है। किन्तु इस प्रकार के सभी बैंक शिड्यूल बैंक नहीं बन गए हैं।

भारतवर्ष में इङ्गलैंड के आधार पर बैंकिंग विषय पर लिखने वाले पाँच प्रमुख बैंकों को 'बड़े पाँच' के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि भारत के बड़े पाँच तथा ब्रिटेन् के बड़े पाँच में कोई समानता नहीं है, परन्तु फिर भी अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार का विभाजन किया जाता है। यह 'बड़े पाँच' नीचे लिखे हैं—(१) बैंक आव इण्डिया, (२) सेन्ट्रल बैंक आव इण्डिया, (३) इलाहाबाद बैंक, (४) पंजाब नेशनल बैंक, (५) बैंक आव बड़ौदा। इनमें इलाहाबाद बैंक तो विदेशी बैंक है और शेष चार भारतीय बैंक हैं। इनमें सेंट्रल बैंक आव इण्डिया तथा बैंक आव इण्डिया के साधन बहुत अधिक हैं, वे 'दो बड़े' कहलाये जा सकते हैं।

नये बैंक जो कि १६४१ के उपरान्त स्थापित हुए उनमें नीचे लिखे 'बड़े पाँच' हैं—(१) भारत बैंक, (२) यूनायटेड कमर्शियल बैंक, (३) हिंदुस्तान कमर्शियल

बैंक, (४) जयपुर बैंक तथा (५) हबीब बैंक। अब भारत बैंक पंजाब नेशनल बैंक द्वारा ले लिया गया है।

(२) विनिमय बैंक या एक्सचेन्ज बैंक (Exchange Banks)—एक्सचेंज बैंक वास्तव में व्यापारिक बैंक हैं किंतु उनमें तथा भारतीय मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों (Indian Joint Stock Banks) में केवल इतना ही अंतर है कि एक्सचेंज बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में है और उनकी शाखायें भारतीय बन्दरगाहों और मुख्य व्यापारिक केन्द्रों में है तथा वे मुख्यतः विदेशी व्यापार में आर्थिक सहायता और विनिमय (Exchange) की सुविधा प्रदान करते हैं। वास्तव में भारतवर्ष के बैंकिंग संगठन की एक विचित्र विशेषता यह है कि थोड़े से विदेशी बैंकों के एक समूह ने भारत के विदेशी व्यापार पर प्रायः अपना एकाधिपत्य-सा जमा लिया है। भारतीय व्यापारिक बैंकों का अभी तक इस क्षेत्र में बहुत थोड़ा प्रवेश हो पाया है। बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में अधिकतर भारत का विदेशी व्यापार लन्दन से होता था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि लन्दन में ऐसे बैंक स्थापित हों जो कि दोनों देशों में विनिमय का काम करें। आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और एजेंसी हाउस जो भारत में व्यापार तथा बैंकिंग का कारबार करते थे इसके विरुद्ध थे कि इस प्रकार के बैंक स्थापित हों। किन्तु १८५३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस प्रकार के बैंकों की स्थापना का विरोध करना छोड़ दिया और एजेंसी हाउसों के समाप्त हो जाने से उस प्रकार के बैंकों की स्थापना और भी आवश्यक हो गई।

१८५३ के पूर्व केवल ओरियंटल बैंक विनिमय का काम करता था किन्तु १८५३ में चारटर्ड बैंक आव इंडिया, आस्ट्रेलिया और चीन तथा मरकैंटाइल बैंक इंगलैंड में स्थापित हुए। १८८४ में ओरियंटल बैंक फेल हो गया। १८८३ में नेशनल बैंक आव इन्डिया कलकत्ता बैंकिंग कारपोरेशन के नाम से स्थापित हुआ किन्तु बाद को इसका नाम बदल दिया गया और इसका प्रधान कार्यालय लन्दन ले जाया गया। इसके उपरान्त फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड, पुर्तगाल, रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान ने भी इसी नीति को अपनाया और भारत तथा अन्य एशियाई राष्ट्रों से अपने व्यापार को बढ़ाने के उद्देश्य से अपने बैंकों की शाखायें भारतीय बन्दरगाहों में स्थापित कर दीं। इंगलैंड के तीन अन्य बैंकों ने भी अपनी शाखायें यहाँ स्थापित कर दीं। (लायड्स, नेशनल प्राविंशियल तथा यानस)। १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ जरमन बैंक (Deutsch Asiatische Bank) तथा रूसी एशियाटिक

बैंक की भारतीय शाखायें बन्द हो गईं और फिर नहीं खुलीं। १९४१ में जब जापान मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हुआ तो तीन जापानी बैंकों की शाखाये (याकोहाम स्पीसी बैंक, मित्सुई बैंक तथा तैवान बैंक) बन्द हो गईं।

एक्सचेंज बैंकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। एक तो वे बैंक जिनका अधिक कारबार भारत से होता है अर्थात् उनकी डिपाज़िट का २५ प्रतिशत से अधिक भारत में है। दूसरी श्रेणी में वे बैंक आते हैं कि जो बहुत बड़े बैंक हैं और जिनका कारबार अन्य देशों में अधिक फैला हुआ है, अर्थात् भारत में उनकी कुल डिपाज़िट का २५ प्रतिशत से कम है। किन्तु यह श्रेणी-विभाजन बहुत उपयुक्त नहीं है क्योंकि दूसरी श्रेणी के बैंक—लायड बैंक, हांगकांग शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन तथा अमेरिका का न्यू सिटी बैंक—बहुत बड़े बैंक हैं, और यद्यपि भारत में उनकी डिपाज़िट उनकी कुल डिपाज़िट की २५ प्रतिशत से कम है परन्तु उनकी भारतीय डिपाज़िट पहली श्रेणी के बैंकों की डिपाज़िट से कहीं अधिक है। १९३९ तक प्रथम श्रेणी में ६ बैंक थे किन्तु १९३९ में चारटर्ड बैंक ने पी० ओ० बैंकिंग कारपोरेशन को खरीद लिया। अस्तु, अब पहली श्रेणी में केवल पांच बैंक हैं और १५ बैंक दूसरी श्रेणी में हैं। (इनमें जापान के ३ बैंकों का युद्ध काल में कारबार बन्द हो गया)।

बात यह थी कि भारत का व्यापार बढ़ता जा रहा था, बैंकिंग में अधिक लाभ था और उसी लाभ के लालच से उन देशों के प्रमुख बैंकों ने भारत में अपनी शाखाएँ स्थापित करदीं जिनका भारत से व्यापार होता था। केवल इटली और बेलजियम ही ऐसे देश हैं जिनका भारत के साथ यथेष्ट व्यापार होता है किन्तु उनके किसी बैंक ने भारत में अपना कारबार स्थापित नहीं किया।

ऐक्सचेंज बैंक भारत के अत्यन्त प्राचीन बैंक हैं। जबकि आधुनिक ढंग के मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों की भारत में स्थापना भी नहीं हुई थी तब से ही वे भारत में अपना कारबार करते आये हैं। चारटर्ड नेशनल, और मरकैन्टाइल तो १८७० के पूर्व ही काम करते थे। वास्तव में भारतीय व्यापारिक बैंकों का प्रादुर्भाव तो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। अतएव एक्सचेंज बैंकों का देश के व्यापार में प्रधान हाथ रहा तो उसमें आश्चर्य ही क्या है।

एक्सचेंज बैंकों का भारतीय द्रव्य-बाज़ार पर प्रभाव—इन एक्सचेंज बैंकों का भारतीय द्रव्य-बाज़ार पर गहरा प्रभाव रहा है। बहुधा इन बैंकों ने भारतीय आर्थिक हितों के विरुद्ध अपने प्रभाव का प्रयोग किया है। यह इन बैंकों के

विरोध का ही परिणाम था कि भारत के प्रेसीडेंसी बैंकों को लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में सीधे ऋण लेने की आज्ञा नहीं मिली और बहुत समय तक भारत में केन्द्रीय बैंक (Central Bank) ही स्थापित न हो सका। इन बैंकों के प्रधान कार्यालय लन्दन में थे, इस कारण वे लन्दन द्रव्य-बाज़ार के द्वारा भारत मंत्री पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हो जाते थे। यही नहीं, भारत सरकार को प्रतिवर्ष इंग-लैंड में अपने खर्चे (Home Charges) को चुकाने के लिए करोड़ों रुपये के स्टर्लिंग की आवश्यकता होती थी जो कि एक्सचेंज बैंक ही देते थे, इस कारण भारत सरकार पर भी उनका प्रभाव रहता था। एक्सचेंज बैंकों को अपने प्रधान कार्यालयों के द्वारा लन्दन द्रव्य बाजार में ऋण लेने की सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं, इस कारण वे रिज़र्व बैंक पर निर्भर नहीं हैं और इस कारण रिज़र्व बैंक का उन पर कभी पूरा नियंत्रण नहीं हो सकता।

एक्सचेंज बैंकों के कार्य—एक्सचेंज बैंकों का मुख्य कार्य भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। अब भी एक्सचेंज बैंक भारत के विदेशी व्यापार के लगभग २/३ भाग की साख व्यवस्था करते हैं। भारतीय बैंकों ने भी अब इस क्षेत्र में प्रवेश करना आरम्भ किया है। १९३५ से पूर्व इम्पीरियल बैंक को कानून द्वारा विदेशी बिलों (Foreign Bills) को खरीदने, बेचने या भुनाने की मनाही थी। वह केवल अपने ग्राहकों की व्यक्तिगत आवश्य-कताओं के लिए ही भारत के बाहर रुपया भेज सकता था, विदेशी व्यापार का कारबार नहीं कर सकता था। भारतीय मिश्रित पूँजीवाले बैंकों (Indian Joint Stock Banks) के ऊपर कोई ऐसा कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था परन्तु वे विदेशी व्यापार को अपने हाथ में लेने में असमर्थ थे, क्योंकि एक्सचेंज बैंकों का उस पर एकाधिकार स्थापित था। भारतीय बैंक इन एक्सचेंज बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकते क्योंकि वे बहुत अधिक मज़बूत और साधन सम्पन्न हैं। उनके पास योग्य कर्मचारी हैं। उनकी पूँजी और सुरक्षित कोष (Reserve Fund) भारतीय बैंकों की अपेक्षा कई गुना अधिक है और उन्हें लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में बहुत कम सूद पर ऋण लेने की सुविधा प्राप्त है। उन पर व्यापारियों का अधिक विश्वास है। भारतीय बैंकों के सामने दूसरी कठिनाई यह है कि उनकी शाखायें अन्य देशों में नहीं हैं, इस कारण वे विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का लाभदायक काम सुविधापूर्वक नहीं कर सकते। तीसरा कारण यह कि भारत में ही भारतीय बैंकों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) की माँग रहती है अतएव उन्हें विदेशी व्यापार में अपने कोष को लगाने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। परन्तु पिछले वर्षों में

विशेषकर १६४० के उपरान्त भारत में नये बैंकों की स्थापना इस तेज़ी से हुई है और पुराने बैंकों ने अपनी पूँजी और शाखाओं का इस तेज़ी से विस्तार किया है कि बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई है और भारतीय बैंकों को भी विदेशी व्यापार में हाथ डालने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है। सैन्ट्रल बैंक आव इन्डिया इत्यादि कुछ बड़े भारतीय बैंकों ने इस कार्य को करना आरम्भ कर दिया है। यही नहीं, एक भारतीय एक्सचेंज बैंक "एक्सचेंज बैंक आव इन्डिया एंड अफ्रीका" भी स्थापित हुआ है जो अफ्रीका के व्यापार का काम करता है। इस बैंक ने अफ्रीका में अपनी शाखायें भी स्थापित की हैं। अभी तक भारतीय बैंक विदेशों में अपनी ब्रांचें स्थापित करने में सफल नहीं हुए उसके मुख्य कारण नीचे लिखे हैं :—

(१) भारतीय बैंकों की पूँजी इतनी अधिक न थी कि विदेशों के द्रव्य बाजारों में अपनी साख को सरलता से स्थापित कर सकते।

(२) विदेशों में ब्रांचों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कार्यशील पूँजी (Working Capital) भी अधिक होनी चाहिए।

(३) आरम्भ में कुछ वर्षों तक विदेशों में ब्रांचें घाटे पर चलेंगी, अतः बैंकों को उस घाटे को सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय (International Exchange) के कारबार को करने के लिए बहुत कुशल बैंक कर्मचारियों की आवश्यकता है जिनकी भारत में कमी है।

(५) आरम्भ में भारतीय बैंकों को विदेशों में अधिक जमा मिलने की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ के व्यवसायी, व्यापारी और जनता अपने देशीय बैंकों में ही अपना रुपया जमा करते हैं।

(६) भारतीय बैंकों को उन देशों के बड़े बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ेगा।

(७) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत में होने के कारण भारतीय बैंकों का संसार के मुख्य द्रव्य बाज़ारों (न्यू यार्क और लंदन) से सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता, इस कारण वे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी हलचलों से दूर रहते हैं और निर्यात (Export) और आयात (Import) बिल उन्हें इतने अधिक प्राप्त नहीं हो सकते।

इन्हीं कारणों से भारतीय बैंक विदेशों में अपनी ब्रांचें स्थापित करने में सफल न हो सके। किन्तु अब भारतीय बैंक उस ओर ध्यान दे रहे हैं और उन्हें भविष्य में परिस्थितिवश अधिकाधिक इस ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि एक्सचेंज बैंकों का मुख्य कार्य व्यापार को आर्थिक सहायता देना है। किन्तु वे प्रायः उन सभी कार्यों को करते हैं जिनको कि व्यापारिक बैंक करते हैं। वे चालू (Current), मुद्दती (Fixed) तथा सेविंग्स डिपाज़िट स्वीकार करते हैं, विदेशी बिलों को खरीदते हैं, नौ-निक्षेप प्रलेखों (Shipping Documents) की जमानत पर ऋण देते हैं और सोना तथा चाँदी के आयात (Import) में सहायता देते हैं। भारत में नेशनल बैंक तथा चारटर्ड बैंक के सोने के पासे बहुत प्रचलित रहे हैं। यही नहीं, एक्सचेंज बैंक आभ्यन्तर व्यापार (Internal Trade) में भी आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। जब माल देश के एक भीतरी स्थान से निर्यात (Export) के लिए बन्दरगाहों तक भेजा जाता है अथवा विदेशों से आया हुआ माल बन्दरगाहों से भीतरी केन्द्रों तक भेजा जाता है तब उस व्यापार को भी एक्सचेंज बैंक ही बहुधा करते हैं। अब हम यहाँ विदेशी व्यापार का विवेचन विस्तारपूर्वक करेंगे।

जब भारतीय निर्यात (Export) करने वाला व्यापारी विदेशियों को माल बेचता है तो किसी लन्दन बैंक से साख (Credit) का प्रबन्ध कर लिया जाता है। माल खरीदने वाला लंदन के किसी बैंक या फाइनेंस हाउस (माल देने वाले व्यापारी) से साख का प्रबन्ध कर लेता है और एक्सचेंज बैंक के ज़रिये भारतीय व्यापारी को इसकी सूचना दे देता है तब भारतीय व्यापारी उस साख (Credit) के विरुद्ध उस लन्दन स्थित बैंक या फाइनेंस हाउस पर 'बिल' (Bill) लिख देता है। अधिकतर बिलों की स्वीकृति हो जाने पर ही प्रलेख (Documents), जहाज की रसीद (Bill of Lading) इत्यादि दे दिए जाते हैं परन्तु कुछ बिल ऐसे भी होते हैं कि जिनका भुगतान हो जाने पर ही प्रलेख (Documents) दिये जाते हैं।

ये बिल लंदन भेज दिये जाते हैं। एक्सचेंज बैंक उन्हें स्वीकृति के लिए पेश करता है। उनकी स्वीकृति हो जाने पर एक्सचेंज बैंक उन पर बेचान (Endorsement) कर देता है और लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में भुना लेता है। इस प्रकार एक्सचेंज बैंक उन बिलों को भारत में खरीद कर उनका जो मूल्य रुपयों में चुकाते हैं वह लन्दन में स्टर्लिंग में वसूल कर लेते हैं। यदि एक्सचेंज बैंकों के पास यथेष्ठ कोष (Funds) होता है और उसका उस समय कोई लाभदायक उपयोग होने की सम्भावना नहीं होती तो वे बिलों को पकने (Maturity) तक अपने पास ही रखते हैं, किन्तु यदि द्रव्य की बाज़ार में कमी होती है और व्यापार में तेजी होती है तो वे इन बिलों को लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में तुरन्त भुना लेते हैं। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उपनिवेशों और भारत के अंग्रेज़ी

बिल होते हैं वे बहुधा स्टर्लिंग में होते हैं। जापान के बिल येन (Yen) में होते हैं तथा चीन के बिल रुपयों में होते हैं। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों को होने वाले निर्यात में लंदन पर जारी किये गये स्टर्लिंग बिलों का अनुपात १६५०-५१ में १६४६-५० की अपेक्षा कम हुआ है। और जिस देश को माल निर्यात हुआ उसी की मुद्रा में जारी किये जाने वाले बिलों का अनुपात बढ़ा है। रुपये के बिलों का प्रयोग बढ़ने की प्रवृत्ति भी पाई गई है।

भारत के आयात व्यापार (Import Trade) का आर्थिक प्रबन्ध दो प्रकार से किया जाया है। जब भारतीय व्यापारी विदेशों से माल मँगाते हैं अथवा वे योरोपियन व्यापारी माल मँगवाते हैं जिनका लन्दन में ऐसा कोई कार्यालय नहीं है कि जिसकी द्रव्य-बाज़ार में साख हो, तो माल भेजने वाला व्यापारी भारतीय या ऐसे यूरोपियन व्यापारियों पर जिन्होंने माल मँगवाया है ६० दिन का देखनहार बिल (Sight Bill) काट देते हैं। उसके साथ माल सम्बन्धी सभी प्रलेख (Documents) जहाज़ की रसीद और समुद्री बीमा पालिसी इत्यादि रहते हैं और वे आवश्यक प्रलेख भारतीय व्यापारी को तभी दिए जाते हैं जब कि वह बिल का भुगतान करदे। माल भेजनेवाला लन्दन स्थित व्यापारी इन बिलों को लन्दन में ही एक्सचेंज बैंक से भुना (Discount) लेता है। इस प्रकार एक्सचेंज बैंक वास्तव में उस माल का स्वामी हो जाता है। जब प्रलेखों के साथ एक्सचेंज़ बैंक की भारतीय शाखा के पास बिल आता है तो माल मँगाने वाला व्यापारी या तो बिल का भुगतान कर देता है और जहाज़ की बिल्टी (Bill of Lading) तथा समुद्रीय बीमा पालिसी लेकर अपना माल छुड़ा लेता है ; अथवा यदि व्यापारी बिल का भुगतान नहीं करना चाहता तो वह एक्सचेंज बैंक से प्रार्थना करता है कि उसे बिना भुगतान किए ही माल लेने दे। ऐसी दशा में माल मँगाने वाला व्यापारी एक्सचेंज बैंक को माल की ट्रस्ट रसीद (Trust Receipt) लिख देता है। अर्थात् वह यह स्वीकार करता है कि जो माल उसने छुड़ाया है वह वास्तव में एक्सचेंज़ बैंक का है। वह तो उस माल का केवल ट्रस्टी या अमानतदार है। माल लेकर व्यापारी अपने गोदाम में रख लेता है और उसके बिक जाने पर बिल का भुगतान कर देता है। इस सुविधा के लिए उसे एक्सचेंज बैंक को सूद देना पड़ता है।

जिन भारतीय या यूरोपीय फर्मों के कार्यालय लन्दन में हैं उनके साथ दूसरा ढंग बरता जाता है। लदन का कार्यालय उस माल की खरीद करता है जिसकी भारतीय फर्म को आवश्यकता होती है। जब लंदन का कार्यालय जहाज से माल भारत को भेज देता है तो वह अपनी भारतीय शाखा अर्थात् माल

व्यापारी (माल भेजने वाले) ने जो बिल लिखा है कानपुर शाखा को भेज दिया जाता है और कानपुर की शाखा उससे रुपया वसूल करके उसे जहाज़ी बिल्टी और समुद्री बीमा पालिसी इत्यादि दे देती है। इसी प्रकार भीतरी केन्द्र से विदेशों को माल भेजने वाला व्यापारी स्थानीय एक्सचेंज बैंक की ब्राँच को अपना बिल जो उसने विदेशी व्यापारी पर लिखा है बेच देता है।

किन्तु यदि किसी भीतरी व्यापारिक केन्द्र में एक्सचेंज बैंक की शाखा नहीं होती तो वहां से बन्दरगाहों तक का कारबार भारतीय व्यापारिक बैंक करते हैं और बन्दरगाहों से विदेशों तक का कारबार एक्सचेंज बैंक करते हैं। जिन भीतरी स्थानों में एक्सचेंज बैंक की शाखा होती है वहाँ के व्यापारी एक्सचेंज बैंक से ही दोनों व्यवहार (Transaction) करते हैं क्योंकि वह सरल और कम खर्चीला बैठता है।

विदेशी व्यापार के लिए आर्थिक प्रबंध करने के अतिरिक्त एक्सचेंज बैंक भीतरी व्यापार के कारबार को भी करते हैं। वे व्यापारियों को ऋण देते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजते हैं, तीनों प्रकार की जमा लेते हैं। उनकी साख और प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण वे भारतीय व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा कम सूद देते हैं। वे एजेंसी का काम भी करते हैं और सोना-चाँदी के आयात (Import) व्यापारी के लिए भी आर्थिक प्रबंध (Finance) करते हैं।

एक्सचेंज बैंकों के विरुद्ध आरोप—यह तो सभी लोग स्वीकार करते हैं कि विदेशी व्यापार के लिए जितनी साख की आवश्यकता होती है उसमें से काफी बड़े भाग की व्यवस्था विदेशी बैंक करते हैं, किन्तु भारतीय व्यापारियों तथा भारतीय व्यापारिक बैंकों को उनसे बहुत सी शिकायतें हैं। जब भारत में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी बैठी थी उस समय भारतीय बैंकों तथा भारतीय व्यापारियों ने उन पर नीचे लिखे आरोप लगाये थे :—

(१) एक्सचेंज बैंकों पर भारत का कोई बैंकिंग सम्बन्धी-कानून लागू नहीं होता। कानून ने जो दायित्व भारतीय बैंकों पर लगा दिये हैं वे भी एक्सचेंज बैंकों पर लागू नहीं होते। उनके डायरेक्टर और हिस्सेदार सभी विदेशी हैं अतः उनका नियंत्रण विदेशियों के हाथ में है। रिज़र्व बैंक का उन पर कोई नियंत्रण नहीं है। एक्सचेंज बैंकों के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वे भारत में आय-व्यय निरीक्षकों से अपने आय-व्यय की जाँच करावें। वे भारत सम्बन्धी कारबार का पृथक लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) तक नहीं छापते। भारत सरकार को जो वर्ष में एक बार वे अपनी लेनी-देनी का लेखा भेजते हैं उसमें उनके विदेशी और भारतीय कारबार के सम्मिलित आंकड़े रहते हैं, जिनसे उनके भार-

तीय कारबार का कोई पता नहीं चलता। इसका परिणाम यह होता है कि एक्स-चेंज बैंकों का कारबार भारतीयों से एकदम गुप्त रहता है। यह बैंक भारत में बहुत अधिक डिपाज़िट आकर्षित करते हैं। उनके कोष का भारतीय डिपाज़िट एक बहुत बड़ा भाग होती हैं किन्तु भारतीय जमा करने वालों की डिपाज़िटों की सुरक्षा का कोई भी नियम उन पर लागू नहीं होता। यदि कोई एक्सचेंज बैंक किसी कारण-वश फेल हो जाय (टूट जाय) तो भारतीय जमा करने वालों का अपनी डिपाज़िटों को वसूल करने के लिए एक्सचेंज बैंक की भारतीय सम्पत्ति पर पहला हक भी नहीं है। (१९४९ में बैंकिंग कानून पास हो जाने से यह आपत्ति समाप्त हो गई है क्योंकि यह क़ानून विदेशी बैंकों पर भी समान रूप से लागू है।)

(२) दूसरी शिकायत उनके विरुद्ध यह थी कि वे बहुधा भारत में उनकी डिपाज़िटों को देखते हुए यथेष्ट नकद कोष (Cash Reserves) भी नहीं रखते। इस कारण भारतीय द्रव्य-बाजार के लिए निर्बलता का कारण बनते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय इसी कारण एक्सचेंज बैंक कठिनाई में पड़ गए थे और उनकी सहायता करनी पड़ी थी। तब से कुछ वर्षों तक उन्होंने अधिक नकद कोष रक्खा। बाद में फिर उनका नकद कोष गिरने लगा। अपने पक्ष में एक्सचेंज बैंकों का कहना यह था कि वे सरकारी प्रतिभूति (सिक्यूरिटियों) और सरकारी हुंडियों (Treasury Bills) में अपना यथेष्ट कोष लगाते हैं। इस संबंध में भी वर्तमान स्थिति बदल गई है। १९५० के आंकड़ों के अनुसार इन बैंकों का नकद कोष ११% था। भारतीय शेड्यूल्ड बैंकों का नकद कोष १५% के आसपास था। १९५१ में बैंकिंग एक्ट में जो संशोधन हुआ उसमें यह प्रतिबंध लगा दिया गया है कि बैंकों को नकद सोना और स्वीकृत प्रतिभूतियों में अपनी कुल जमा का कम से कम २०% रखना होगा।

(३) एक्सचेंज बैंक भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध (Finance) भारत में प्राप्त की हुई जमा (डिपाज़िट) से ही करते हैं। इस प्रकार भारत को बैंकिंग लाभ और व्यापारिक लाभ से वंचित रहना पड़ता है। एक्सचेंज बैंकों के भारतीय विदेशी व्यापार में बढ़ते हुए प्रभाव का ही परिणाम यह हुआ कि भारत के विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा घटता गया और विदेशियों का हिस्सा बढ़ता गया। यहाँ तक कि भारतीयों का विदेशी व्यापार में केवल १५ से २० प्रति-शत भाग ही रह गया। इसी प्रकार भारतीयों को करोड़ों रुपये के वैदेशिक व्यापार से होने वाले लाभ से वंचित रहना पड़ता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) के सामने गवाही देते हुए बहुत सी व्यापारिक संस्थाओं ने इस बात की शिकायत की थी कि विदेशी एक्सचेंज बैंक

विदेशी व्यापारियों को अधिकाधिक सुविधायें देकर और भारतीय व्यापारियों को उन सुविधाओं से वंचित रखकर उन्हें बढ़ाते रहे हैं। इसी का परिणाम हुआ कि भारत का व्यापार विदेशियों के हाथ में चला गया।

इन एक्सचेंज बैंकों का एक ढंग तो यह है कि जब कोई भारतीय व्यापारी विदेशियों से कारबार करना चाहता है तो यह बैंक विदेशों को उनके बारे में बहुधा अच्छी सम्मति नहीं देते। इस सम्बन्ध में एक्सचेंज बैंकों का कहना है कि हम इस सम्बन्ध में भारतीय और विदेशी व्यापारियों में जो भेद करते हैं उसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय व्यापारी बैंकों को अपना लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) देना नहीं पसंद करते। जब तक हमें उनका आडीटरों द्वारा जांचा हुआ लेनी-देनी का लेखा न मिले तब तक हम उनकी आर्थिक स्थिति का अनुमान नहीं लगा सकते। भारतीय व्यापारियों का कहना है कि एक्सचेंज बैंकों का इससे अर्थ यह है कि जिन आय-व्यय निरीक्षकों (Auditors) को वे स्वीकार करें उनसे ही हम अपने हिसाब की जाँच कराएँ तभी वे उसे स्वीकार करेंगे। किन्तु एक्सचेंज बैंकों के प्रतिनिधियों ने इसको अस्वीकार किया। उनका कहना था कि हम सरकार द्वारा स्वीकृत आय-व्यय निरीक्षकों से जाँचा हुआ लेनी-देनी का लेखा मात्र ही चाहते हैं। भारतीय व्यापारियों का कहना है कि भारत में एक फर्म और एक बैंक की परिपाटी प्रचलित नहीं है इस कारण एक्सचेंज बैंकों को लेनी-देनी के लेखे को माँगने का कोई अधिकार नहीं है। सच बात तो यह है कि एक्सचेंज बैंकों के मैनेजर सब विदेशी हैं इस कारण वे भारतीय व्यापारियों के अधिक सम्पर्क में नहीं आते और उनकी आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते।

भारत में जो विदेशी व्यापारी हैं उन्हें माल साख (Credit) पर मँगाने की सुविधा दी जाती है जब कि भारतीय व्यापारी को नकद मूल्य देना पड़ता है। भारतीय व्यापारियों का यह भी कहना है कि विदेशों के व्यापारी भारतीय व्यापारियों को साख इस कारण नहीं देते क्योंकि एक्सचेंज बैंक उनके सम्बन्ध में अच्छी सम्मति नहीं देते। एक्सचेंज बैंकों का कहना था कि हम जो भारतीय व्यापारियों से ट्रस्ट की रसीद (Trust Receipt) लेकर जहाजी बिल्टी इत्यादि दे देते हैं उससे उन्हें भी साख (Credit) की सुविधा मिल जाती है। परन्तु भारतीय व्यापारियों ने इसके उत्तर में यह कहा कि ट्रस्ट-रसीद पर सूद अधिक देना पड़ता है, अतएव भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों की अपेक्षा हानि उठानी पड़ती है।

भारतीय व्यापारियों ने इस बात की भी शिकायत की कि जब कोई भारतीय

व्यापारी माल बाहर भेजता है तब एक्सचेंज बैंक उसके बिल को बिना अन्तर (Margin) के और बिना जमानत लिए कभी नहीं भुनाते, किन्तु जब कोई विदेशी फर्म माल बाहर भेजती है और अपने बिल को भुनाती है तो अन्तर या ज़मानत नहीं माँगी जाती। एक्सचेंज बैंकों का कहना है कि विदेशी फर्मों के प्रधान कार्यालय विदेशों में होते हैं और बिल उन्हीं पर होते हैं अतः उनके भुगतान न होने का कोई भय नहीं होता, परन्तु भारतीयों के साथ ऐसी बात नहीं है। इसी कारण एक्सचेंज बैंक उनके बिलों का पूरा मूल्य नहीं चुका देते हैं। जो भी हो, किन्तु यह सत्य है कि भारतीयों को विदेशी फर्मों की तुलना में हानि होती है।

भारत में एक्सचेंज बैंक विदेशों के व्यापारियों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में यहाँ के व्यापारियों को कोई जानकारी नहीं देते। संसार के प्रत्येक देश में बैंकों का यह मुख्य कार्य है, किन्तु एक्सचेंज बैंक ऐसा नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि भारत में जो विदेशी फर्में काम करती हैं उन्हें तो अपने विदेशी कार्यालयों से विदेशों के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है, किन्तु भारतीय व्यापारियों को उनके बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

पहले तो भारतीय व्यापारी जब विदेशों से माल मँगवाते हैं तो उन्हें साख ही नहीं मिलती, किंतु जिन थोड़े से प्रथम श्रेणी के भारतीय व्यापारियों का साख मिलती भी है उन्हें भी मँगाये हुए माल के मूल्य का १५ प्रतिशत तक बैंकों के पास जमा कर देना होता है, जबकि उन विदेशी फर्मों को जो भारत में हैं कोई डिपाज़िट बैंकों के पास नहीं रखनी पड़ती।

भारत के अधिकांश आयात (Import) और निर्यात (Export) व्यापार में स्टर्लिंग बिलों का उपयोग होता है। इसका फल यह होता है कि भारतीय व्यापारी को माल मँगाने वाले विदेशी व्यापारी पर स्टर्लिंग में ही बिल काटना पड़ता है अतएव उसका बिल भारतीय द्रव्य बाजार के लिए व्यर्थ की वस्तु हो जाता है। उसे एक्सचेंज बैंकों से ही उसे भुनाना पड़ता है, जिसकी बट्टा-दर (Discount Rate) ऊँची होती है। इसके विरुद्ध भारत में कारबार करने वाली विदेशी फर्में अपने लंदन स्थित कार्यालयों से माल मँगवाती हैं तो ये लंदन स्थित कार्यालय अपनी भारतीय शाखाओं पर बिल न काट कर लंदन स्थित एक्सचेंज बैंकों के आफ़िसों पर बिल काटते हैं और वे एक्सचेंज बैंक के आफ़िस उसको स्वीकार कर लेते हैं। एक्सचेंज बैंक से बिल को स्वीकार कराने के बाद वे उस बिल को लंदन-द्रव्य बाजार में भुना लेते हैं। लंदन-द्रव्य बाजार में बट्टे की दर जब कम होती है तो उसका लाभ इस प्रकार मिल जाता है।

(४) इन आरोपों के अतिरिक्त भारतीय व्यापारियों का एक्सचेंज बैंकों के विरुद्ध एक सबसे बड़ा आरोप यह रहा है कि वे भारतीय ब्रोकरों, भारतीय बैंकों, भारतीय बीमा कम्पनियों और भारतीय जहाजी कम्पनियों के विरुद्ध अपने देशों के ब्रोकरों, बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा जहाज़ी कम्पनियों को प्रोत्साहित करते हैं। जब भारतीय व्यापारी विदेशों को माल भेजते हैं तो एक्सचेंज बैंक उन्हें विदेशी जहाजी कम्पनियों से माल भेजने तथा विदेशी बीमा कम्पनियों से उसका बीमा करवाने पर विवश करते हैं। इस प्रकार भारतीय बीमा कम्पनियों तथा भारतीय जहाज़ी कम्पनियों को करोड़ों रुपये की हानि होती है और वे पनप नहीं पातीं।

(५) एक्सचेंज बैंक एसोसियेशन बिना भारतीय व्यापारियों से कोई परामर्श किए ही अपने नियमों में जब चाहती है परिवर्तन कर देती है, और भारतीय व्यापारियों के लिए नियम कठोर रक्खे जाते हैं। यही नहीं, एसोसियेशन किसी भी सदस्य को भारतीय बैंक तथा ब्रोकर से कारबार नहीं करने देती जो कि विनिमय (Exchange) का काम करता है। दूसरे शब्दों में एक्सचेंज बैंक भारतीय बैंकों को इस लाभदायक कारबार के क्षेत्र से बाहर ही रखना चाहते हैं।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि एक्सचेंज बैंक भारत के भीतरी व्यापार को भी करने लगे हैं। इस प्रकार वे भारतीय मिश्रित पूँजीवाले व्यापारिक बैंकों (Indian Joint Stock Banks) से होड़ करते हैं और उनकी बढ़वार को रोकते हैं। उनकी प्रतिष्ठा और साधन अधिक होने के कारण उनकी प्रतिस्पर्द्धा में भारतीय बैंकों को कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इन एक्सचेंज बैंकों के कारण भारतीय बैंकों को एक और भी हानि होती है। जब कोई देश विदेशों से माल मँगवाता है तो साधारणतः होता यह है कि माल भेजने वाला माल मँगाने वाले के देश की करंसी में बिल लिखता है। यह बिल जहाज़ी बिल्टी इत्यादि के साथ भेज दिए जाते हैं और जब माल मँगाने वाला उस बिल को स्वीकार कर लेता है तो उनको भुनाया जाता है। क्योंकि बिल उस देश की करंसी में होते हैं इस कारण वहाँ के बैंक उनको भुनाते हैं और उन्हें लाभ होता है। परन्तु भारत के व्यापारी जब माल मँगाते हैं तो आयात बिल (Import Bill) रुपये में न होकर स्टर्लिंग में काटे जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों के वह काम के नहीं होते और केवल एक्सचेंज बैंक ही इस लाभदायक धंधे को कर सकते हैं। एक्सचेंज बैंक इन बिलों को रुपयों में नहीं कटने देते और इस प्रकार भारतीय बैंकों को वे इस लाभदायक कारबार से वंचित रखते हैं।

एक्सचेंज बैंक के विरुद्ध एक आरोप यह भी रहा है कि जिन देशों के एक्स-

चेंज बैंक भारत में नहीं हैं उनकी करंसी यह बैंक बहुत ऊँची कीमत पर देते हैं। यही नहीं, यदि किसी अन्य देश का कोई बैंक अपनी शाखा भारत में स्थापित करना चाहता है तो वे उसका विरोध करते हैं। जब कभी कोई विदेशी बैंक अपनी ब्रांच भारत में स्थापित करने में सफल हो गया तो उन देशों की करंसी भारतीयों को कम मूल्य में मिलने लगी जिससे कि भारतीय व्यापारियों को लाभ हुआ। एक्सचेंज बैंकों ने ऐसा गुट्ट बना लिया है कि यदि किसी देश के बैंक की भारत में ब्रांच भी हो तो भी उन देशों की करंसी (स्टर्लिंग को छोड़ कर) का मूल्य यहाँ ऊँचा ही रहता है। यदि कोई उसी करंसी को लन्दन के द्रव्य बाजार में खरीदे तो उसे कम मूल्य देना पड़ता है। उदाहरण के लिए युद्ध के पूर्व यदि कोई डालर लन्दन से खरीदता तो कलकत्ता और बम्बई की अपेक्षा कम मूल्य पर खरीद सकता था।

इसके अतिरिक्त इन एक्सचेंज बैंकों का समाशोधन गृह या क्लियरिंग हाउस (Clearing House) में बहुत प्रभाव है और यह भारतीय बैंकों को क्लियरिंग हाउस का सदस्य बनने नहीं देते। जहाँ तक हो सकता है यह भारतीय बैंकों को क्लियरिंग हाउस के बाहर ही रखते हैं। इससे भारतीय बैंकों की प्रतिष्ठा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। एक्सचेंज बैंक भारतीय बैंकों से स्वतन्त्रतापूर्वक जब चाहते हैं तब याचना-द्रव्य (Call Money) लेते रहते हैं, किन्तु भारतीय बैंकों को जब आवश्यकता होती है तो वे उन्हें उतनी आसानी से याचना-द्रव्य नहीं देते।

यद्यपि एक्सचेंज बैंक भारत के सबसे पुराने बैंकों में से हैं और इनको स्थापित हुए लगभग ८० वर्ष हो गए, किन्तु फिर भी कोई भारतीय इनमें ऊँचे पदों पर नहीं रक्खा गया। इसका परिणाम यह होता है कि बैंकों में सभी उच्च कर्मचारी विदेशी व्यक्ति होते हैं। वे न भारतीय भाषा ही जानते हैं और न भारतीय व्यापारियों के घनिष्ठ सम्पर्क में ही आ सकते हैं, अतएव भारतीय व्यापारियों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती। यह एक्सचेंज बैंक अपने देशवासियों को ही लाकर उच्च पदों पर रखते हैं। जबकि ये भारतीय व्यापार से इतना अधिक लाभ उठाते हैं तब उनका भारतीयों को ऊँचे पदों पर न रखना उचित नहीं कहा जा सकता।

एक्सचेंज बैंक पिछले वर्षों में इस बात का भी प्रयत्न करते रहे हैं कि भारतीय पूँजी विदेशी धंधों या सिक्यूरिटियों में न लगे।

एक्सचेंज बैंकों ने सदैव ही भारत के आर्थिक हितों के विरुद्ध अपने प्रभाव का उपयोग किया है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यह इन्हीं के विरोध का फल था कि प्रेसीडेंसी बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक को विदेशी विनिमय

(Exchange) का कारबार करने की आज्ञा नहीं दी गई। यही नहीं, इन एक्सचेंज बैंकों के कारण ही भारत में कोई केन्द्रीय बैंक १६३५ के पूर्व स्थापित न हो सका। इण्डिया आफिस के द्वारा यह एक्सचेंज बैंक भारत-सरकार की अर्थ-नीति पर भी गहरा प्रभाव डालते थे जिससे भारत के आर्थिक हितों की हानि होती थी।

किन्तु अब भारत स्वतन्त्र हो गया है। एक्सचेंज बैंकों के भारत-विरोधी दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन होना अनिवार्य है। भारत सरकार की अर्थनीति पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड सकता। रिज़र्व बैंक के नेतृत्व को उन्हें अब स्वीकार करना ही होगा। बैंकिंग कानून बन जाने से उन पर अन्य बैंकों की तरह नियंत्रण भी हो गया है। अब हम आगे उन सुझावों का अध्ययन करेंगे कि जो केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के सामने एक्सचेंज बैंकों की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय बैंकों की रक्षा करने के लिए रक्खे गए थे।

केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का मत—इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी (Central Banking Committee) का मत था कि भारत-सरकार को विदेशी बैंकों को बिना किसी रोक-टोक के भारत में कारबार करने की छूट न देनी चाहिए। प्रत्येक विदेशी बैंक को जो कि भारत में काम करना चाहे, रिजर्व बैंक से एक लायसेंस प्राप्त करना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि भारतीयों के हितों की रक्षा हो सकेगी। रिजर्व बैंक का एक्सचेंज बैंकों पर नियंत्रण स्थापित हो सकेगा और भारतीय बैंकों के लिए विदेशों में वही सुविधायें प्राप्त की जा सकेंगी जो कि भारत में विदेशी बैंकों को दी जावेंगी।

कमेटी का बहुमत इस पक्ष में था कि जो एक्सचेंज बैंक भारत में कारबार कर रहे हैं उनको बिना किसी रोक-टोक के लायसेंस दे देना चाहिए। प्रत्येक बैंक को लायसेंस एक निश्चित काल के लिए दिया जाना चाहिए और उस अवधि के समाप्त होने पर यदि रिजर्व बैंक देखे कि लायसेंस की शर्तों का किसी बैंक ने संतोषजनक ढंग से पालन किया है तो उसको फिर लाइसेंस दे दें, अन्यथा उसका लायसेंस समाप्त कर दिया जा सकता है। एक्सचेंज बैंकों के लायसेंस की यह आवश्यक शर्त होनी चाहिए कि वे रिज़र्व बैंक को अपनी रिपोर्ट भेजें जिसमें भारतीय तथा गैर भारतीय कारबार का लेनो-देना लेखा (Balance Sheet) अलग अलग हो।

कमेटी के बहुमत की यह भी सम्मति थी कि एक्सचेंज बैंकों को अपनी कार्यपद्धति में इस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिए कि वे भारतीय आयात करने वाले व्यापारियों (Importers) के बिलों को खरीदने के बजाय स्वीकार

(Accept) कर लिया करें जिससे कि वे बिल लन्दन से भुनाये जा सकें और भारतीय व्यापारी लन्दन के द्रव्य-बाज़ार में सस्ते द्रव्य का लाभ उठा सकें।

इसके अतिरिक्त यदि भारतीय आयात व्यापारी (Importers) चाहें कि विदेशी निर्यात व्यापारी (Exporters) उन पर रुपयों में बिल लिखें तो एक्सचेंज बैंकों को भारतीय व्यापारियों की सहायता करनी चाहिए।

कमेटी की यह भी राय थी कि जब एक्सचेंज बैंकों की एसोसियेशन अपने नियमों में कोई परिवर्तन करे तो उसे भारतीय व्यापारियों से परामर्श करना चाहिए।

कमेटी की यह भी सम्मति थी कि एक्सचेंज बैंकों को भारतीय बीमा कम्पनियों को प्रोत्साहित करना चाहिए, भारतीय युवकों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करना चाहिए और जहाँ एक्सचेंज बैंक की भी शाखा हो वहाँ एक स्थानीय परामर्शदाता बोर्ड (Local Advisory Board) होना चाहिए जो ऋण देने के सम्बन्ध में बैंक को परामर्श दे। यद्यपि बोर्ड की सलाह बैंक मान ही ले यह आवश्यक नहीं था, फिर भी इस प्रकार भारतीय ग्राहकों तथा एक्सचेंज बैंकों में परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं।

यद्यपि केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने ऊपर लिखे सुझाव रक्खे थे किन्तु एक्सचेंज बैंकों ने उन सुझावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और न अपनी कार्य-पद्धति में ही कोई अन्तर किया।

कुछ भारतीय विद्वानों (जिनमें श्री सूबेदार और सरकार मुख्य थे) की राय थी कि एक्सचेंज बैंकों पर कड़ा नियंत्रण रक्खा जावे। रिज़र्व बैंक को इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह चाहे जिस बैंक को लायसेंस देना अस्वीकार कर दे। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना था कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में केवल उतनी ही डिपाज़िट लेने देना चाहिए जितनी भारतीय व्यापार के लिए आवश्यक हो। एक मत यह भी था कि एक्सचेंज बैंक जितनी डिपाज़िट ले उस पर ½ प्रतिशत कर लगाया जावे। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह भी कहना था कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में तभी डिपाज़िट लेने का अधिकार होना चाहिए, जब उनकी रजिस्ट्री भारत में हुई हो, उनकी पूँजी रुपये में हो और भारतीय उनके डायरैक्टर हों। कोई-कोई इस मत के थे कि एक्सचेंज बैंकों को भारत में डिपाज़िट लेने की मनाही कर दी जावे। किन्तु ऊपर लिखे सुझावों को केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने स्वीकार नहीं किया।

भारतीय एक्सचेंज बैंक—केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का यह भी मत था कि यदि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक की सहायता से विदेशी विनिमय (Foreign

Exchange Business) का कारबार न कर सका तो एक भारतीय विनिमय बैंक स्थापित किया जावे। कमेटी का मत था कि वह बैंक सरकार की सहायता से स्थापित हो। किन्तु कमेटी यह भी मानती थी कि पहले इम्पीरियल बैंक के द्वारा ही यह कार्य करना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तभी कोई नया बैंक खोलना चाहिए। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी का यह भी मत था कि भारतीय तथा विदेशियों के सम्मिलित एक्सचेंज बैंक स्थापित होने चाहिएँ जिससे भारत तथा उन देशों का जिनमें भारत व्यापार करता है दोनों का ही लाभ हो। किन्तु कमेटी की एक भी सिफ़ारिश कार्य रूप में परिणत नहीं की गई।

सच तो यह है कि विदेशी विनिमय बैंक का एकाधिकार तभी समाप्त होगा जब कि भारतीय व्यापारिक बैंक भी विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) के कारबार को अपने हाथ में लें। अभी तक भारतीय बैंक इस ओर से उदासीन रहे हैं। अब कुछ बैंकों (विशेष कर सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया) ने इधर ध्यान दिया है। आशा है कि भविष्य में वे इस ओर अधिक ध्यान देंगे। रिज़र्व बैंक को भी इस बारे में ध्यान देना चाहिये।

परन्तु विदेशी बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा में विदेशों में कारबार करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय बैंक आपस में सहयोग करें और एक दूसरे को सहायता प्रदान करें।

भारतीय बैंक विदेशी विनिमय के कारबार में अधिक भाग ले सकें इस दृष्टि से नीचे लिखे उपायों की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(१) भारत सरकार को भारतीय व्यापारियों को विदेशों में अपनी शाखाएँ कायम करने की सुविधायें देना चाहिये ताकि भारत के विदेशी व्यापार के विदेशों वाले अंश में भी भारतीयों का हिस्सा हो सके और वे विदेशी विनिमय का कारोबार भारतीय बैंकों को दे सकें।

(२) भारतीय व्यापारियों को विदेशी बैंकों से अपना सम्बन्ध छोड़कर भारतीय बैंको से स्थापित करना चाहिये।

(३) भारतीय बैंकों को विदेशी व्यापार के लिये आर्थिक व्यवस्था करने के काम को प्रोत्साहन देना चाहिये और व्यापारियों से यह समझौता करना चाहिये कि विदेशी विनिमय का कारोबार वे इन्हीं को देंगे।

(४) विदेशी विनिमय के कारोबार के लिये भारतीय बैंकों को अपने कर्मचारी और विशेषज्ञ तैयार करने चाहियें।

(५) भारत सरकार को भारतीय बैंकों को विदेशों में अपनी शाखायें स्थापित करने में सहायता देनी चाहिये। अगर किसी देश की सरकार भारतीय

बैंकों के विरुद्ध पक्षपात करे तो भारत सरकार को भी उस देश के बैंकों के प्रति वही नीति अपनानी चाहिए। जहाँ अपनी शाखायें न हों वहाँ भारतीय बैंक दूसरे बैंकों को अपना एजेन्ट नियुक्त करें।

(६) भारत सरकार और रिज़र्व बैंक को अपने पास के कुछ विदेशी विनिमय का उपयोग भारतीय बैंकों को देना चाहिये। रिज़र्व बैंक को, विदेशी एजेंट भारतीय बैंकों को जो उधार दें उस पर, गारन्टी देनी चाहिये और उसकी लन्दन शाखा को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय के कारोबार में अधिक भाग मिल सके।

(७) भारत सरकार को अपना विदेशी विनिमय का कारोबार भी भारतीय बैंकों द्वारा ही अधिकाधिक कराना चाहिये।

(८) विदेशी निर्यात के व्यापारियों पर भारत सरकार को यह दबाव डालना चाहिए कि वे भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं के द्वारा अपना भुगतान स्वीकार करें।

(५) इम्पीरियल बैंक आव इण्डिया—इम्पीरियल बैंक की स्थापना १९२१ में एक स्वतन्त्र ऐक्ट, इम्पीरियल बैंक एक्ट, के अन्तर्गत हुई थी। तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक बना था। १९३४ में इम्पीरियल बैंक ऐक्ट को संशोधित कर दिया गया।

इम्पीरियल बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) ११ करोड़ ७५ लाख रुपये हैं जिसमें से आधी पूँजी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) है और शेष आधी रक्षित दायित्व (Reserve Liability) है। बैंक का रक्षित कोष है। आरम्भ से १९३१ तक बैंक ने १६ प्रतिशत लाभ बाँटा और १९३१ के उपरान्त वह १२ प्रतिशत लाभ बाँट रहा है। इस कारण बैंक के हिस्सों का मूल्य बाज़ार में बहुत अधिक है।

प्रबन्ध—इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध तीन स्थानीय बोर्ड और एक केन्द्रीय बोर्ड करते हैं। तीन स्थानीय बोर्ड ये हैं—बम्बई, कलकत्ता और मदरास। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड के सदस्य उस क्षेत्र के रजिस्टर में दर्ज हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते हैं और यह बोर्ड अपने मंत्री तथा खजांची की सहायता से उस क्षेत्र में बैंक के दैनिक कारबार को देखते हैं।

बैंक का कार्य संचालन केन्द्रीय बोर्ड करता है। केन्द्रीय बोर्ड नीति का निर्धारण करता है, स्थानीय बोर्डों का नियंत्रण करता है, बैंक की दर जिसे हम 'बैंक रेट' कहते हैं, निश्चित करता है और बैंक के साप्ताहिक स्टेटमेंट के प्रकाशन की व्यवस्था करता है। पूरे बोर्ड की मीटिंग जल्दी-जल्दी नहीं बुलाई जा सकती इस कारण एक

छोटी सी प्रबन्धकारिणी समिति बना दी गई है जो कि केन्द्रीय बोर्ड के कुछ कार्य सम्पन्न करती है। प्रान्तीय ईर्ष्या को बचाने के लिए केन्द्रीय बोर्ड का प्रधान कार्यालय किसी एक स्थान पर नहीं है। बोर्ड की मीटिंग कभी कलकत्ते में होती है तो कभी बम्बई में।

१९३४ के पूर्व इम्पीरियल बैंक—१९३४ के पूर्व इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बोर्ड का संगठन नीचे लिखे अनुसार था :—(१) गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये गए (क) दो मैंनेजिंग गवर्नर, (ख) चार गैर-सरकारी अधिकारी जिन्हें भारतीय स्वार्थों की रक्षा के लिये गवर्नर जनरल मनोनीति करता था; (२) करसी का कंट्रोलर जो कि भारत सरकार का प्रतिनिधि होता था; (३) स्थानीय बोर्ड (Local Boards) के प्रेसीडेंट, वाइस-प्रेसीडेंट तथा मन्त्री। उपर्युक्त सदस्यों में से कन्ट्रोलर ऑव करेंसी, और स्थानीय बोर्ड के मंत्रियों को मत देने का अधिकार नहीं था। केन्द्रीय बोर्ड के ऊपर दिये हुए संगठन से यह स्पष्ट था कि यद्यपि इम्पीरियल बैंक हिस्सेदारों का बैंक था, किन्तु भारत सरकार का उस पर पूरा नियंत्रण था। करंसी के कन्ट्रोलर को यह अधिकार था कि वह बोर्ड के किसी भी निर्णय को, जो कि सरकारी जमा तथा अर्थनीति से सम्बन्ध रखता हो, कार्य रूप में न परिणत होने दे और उसे सरकार के निर्णय के लिए भेज दे। वह इम्पीरियल बैंक को उसकी नीति तथा नकद कोष की सुरक्षा के सम्बन्ध में आज्ञा दे सकता था और सरकार जो भी जानकारी इम्पीरियल बैंक से करना चाहे, करा सकता था। बैंक को अपना हिसाब का लेखा तथा लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) सरकार की इच्छानुसार प्रकाशित करना होता था। सरकार इम्पीरियल बैंक के हिसाब की जांच के लिए आडिटर नियुक्त कर सकती थी।

इम्पीरियल बैंक के कार्य—१९३५ तक इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर था। जितना भी सरकारी कोष (Funds) होता वह इम्पीरियल बैंक में ही रक्खा जाता था। सरकार का खजाने का काम भी इम्पीरियल बैंक ही करता था। इम्पीरियल बैंक इस कार्य के लिए कोई कमीशन न लेता था। सरकार को जितना रुपया मिलना होता था वह इम्पीरियल बैंक लेता था और सरकार अपने खर्चे के लिए उससे रुपया निकालती थी। भारत सरकार के ऋण का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक ही करता था। सरकार जो नवीन कर्ज निकालती थी वह भी इम्पीरियल बैंक ही निकालता था।

सरकारी कारबार के अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक १९३५ के पूर्व केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के भी कुछ कार्य करता था। भारत के अधिकांश बैंक उसके साथ डिपाज़िट रखते थे। इसके अतिरिक्त भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों

में स्थापित ११ क्लियरिंग हाउसों का भी वह प्रबन्ध करता था। इम्पीरियल बैंक जहाँ-जहाँ उसकी ब्रांचें थीं वहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान तक रुपया भेजने की सुविधा प्रदान करता था। बैंक तथा जनता दोनों ही इम्पीरियल बैंक के द्वारा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकते थे। इम्पीरियल बैंक रुपया भेजने के लिए जो कमीशन लेता था उसको सरकार नियन्त्रित करती थी। इसके बदले में इम्पीरियल बैंक को सरकार ने सरकारी खजानों के द्वारा देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना कुछ लिए ही रुपया भेजने की सुविधा दे रखी थी।

जब देश के द्रव्य-बाजार में रुपये की कमी पड़े तो उस कमी को पूरा करने के लिये कागजी मुद्रा विभाग (Paper Currency Department) बैंक को १२ करोड़ रुपये तक ऋण दे सकता था। किन्तु बैंक को उसके जमानत स्वरूप हुंडी या बिल रखने पड़ते थे। सरकार बैंक से पहले ४ करोड़ रुपये के लिए ६ प्रतिशत और शेष ८ करोड़ रुपये के लिए ७ प्रतिशत सूद लेती थी। देश में बैंकिंग की सुविधा बढ़ाने के उद्देश्य से इम्पीरियल बैंक के लिए कानून में ५ वर्षों के अन्दर १०० शाखायें स्थापित करना अनिवार्य कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक ने इस शर्त को पूरा कर दिया था। आधी ब्रांचें ऐसे स्थानों पर स्थापित की गई थीं जहाँ कोई बैंक न था। इसके बदले सरकार इम्पीरियल बैंक के पास अपना रुपया बिना सूद के रखती थी।

एक व्यापारिक बैंक होने के नाते इम्पीरियल बैंक वह सभी कार्य करता था जो कि एक व्यापारिक बैंक करता है। इम्पीरियल बैंक भारतवर्ष में डिपाजिट ले सकता था और ऋण ले सकता था किन्तु देश के बाहर वह न तो डिपाजिट ही ले सकता था और न ऋण ही ले सकता था। केवल लन्दन ब्रांच को यह अधिकार था कि वह प्रेसीडेंसी बैंकों के पुराने ग्राहकों से डिपाजिट ग्रहण कर सकता था और बैंक की सम्पत्ति या लेनी-देनी (Assets) की जमानत पर बैंक के कारबार के लिए ऋण ले सकता था। इम्पीरियल बैंक अपना रुपया कहाँ लगाये इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गये थे। इम्पीरियल बैंक केवल इन्हीं सिक्यूरिटियों में रुपया लगा सकता था। उदाहरण के लिए भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियों में, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त सिक्यूरिटियों में, म्युनिसिपल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड-सिक्यूरिटियों तथा डिबेंचरों में ही इम्पीरियल बैंक अपना रुपया लगा सकता था। इम्पीरियल बैंक ऊपर लिखी सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण दे सकता था। इम्पीरियल बैंक बिलों और प्रामिसरी नोटों को सकार कर सकता था तथा माल अथवा उनके प्रलेखों (Documents) को यदि वे बैंक में जमा कर दिये गये हों अथवा बैंक के नाम कर दिये गये हों

तो उन्हें ज़मानत के रूप में स्वीकार करके ऋण दे सकता था। किन्तु ६ महीने से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता था और न किसी ऐसे विनिमय साध्य पुर्ज़े (Negotiable Instrument) को ही स्वीकार कर सकता था जिस पर दो व्यक्तियों तथा दो फर्मों के हस्ताक्षर न हों (जो आपस में साझेदार न हों) और जिसके पकने की अवधि ६ महीने से अधिक हो। इसी प्रकार किसी व्यक्ति या फर्म को कितना ऋण अधिक से अधिक दिया जा सकता है वह भी निर्धारित कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक केवल उन बिलों तथा अन्य विनिमय साध्य पुर्ज़ों को लिख सकता था, भुना सकता था और स्वीकार कर सकता था जिनका कि भारत में या लंका में भुगतान होने वाला हो। किन्तु कानून द्वारा इम्पीरियल बैंक को 'विदेशी विनिमय' (Foreign Exchange) का कार्य करने की मनाही थी। इम्पीरियल बैंक किसी ऐसे बिल इत्यादि को भुना भी नहीं सकता था जिसकी अवधि ६ महीने से अधिक हो, और न किसी ऐसी विनिमय साध्य सिक्यूरिटी (प्रतिभूति) को ही खरीद सकता था जिसकी अवधि ६ महीने से अधिक हो। बैंक सिक्यूरिटियों, जेवर तथा सोना इत्यादि को सुरक्षित रखने के लिये ले सकता था, सोना खरीद और बेच सकता था, ग्राहकों के लिये सिक्यूरिटियों की खरीद-बिक्री कर सकता था तथा उन पर ग्राहकों के लिये लाभ और सूद वसूल कर सकता था।

१९३४ में रिज़र्व बैंक की स्थापना होने के उपरान्त अब इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर नहीं रहा। ऊपर लिखे प्रतिबन्ध इम्पीरियल बैंक पर इस लिये लगाये गये थे क्योंकि वह सरकार का बैंकर था और सरकार का रुपया उसके पास रहता था, किन्तु रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त जब वह सरकार का बैंकर नहीं रहा तो इम्पीरियल बैंक पर सरकार का जो नियन्त्रण था और उसके कार्यों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे उनको ढीला कर दिया गया।

१९३४ के इम्पीरियल बैंक ऐक्ट के अनुसार बैंक के केन्द्रीय बोर्ड के १६ सदस्यों में से सरकार अब केवल दो सदस्यों को, जो सरकारी कर्मचारी न हों, मनोनीत कर सकती है। इनके अतिरिक्त सरकार एक सरकारी अफसर को भी मनोनीत कर सकती है जो कि बोर्ड की मीटिंगों में जा सकता है किन्तु वोट नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को केवल इतना अधिकार और है कि वह चाहे तो आडिटर नियुक्त करे जो बैंक के हिसाब की जाँच करके उसे रिपोर्ट दें।

केन्द्रीय बोर्ड के १६ सदस्य नीचे लिखे अनुसार हैं:—

१ मैनेजिंग डायरैक्टर—केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त

१ डिप्टी मैनेजिंग डायरैक्टर—केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त
२ सरकार द्वारा मनोनीत किए हुए गैर सरकारी सदस्य
६ स्थानीय बोर्डों के सभापति और उपसभापति
३ स्थानीय बोर्डों के मंत्री
३ स्थानीय बोर्डों द्वारा निर्वाचित उनके सदस्यों में से।

१६३४ के एक्ट के अनुसार सरकार का इम्पीरियल बैंक के प्रबन्ध पर जो प्रभाव और नियन्त्रण था वह दूर कर दिया गया। इसी प्रकार उसके कार्य पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए थे वे भी हटा दिए गए। अब इम्पीरियल बैंक भारत के बाहर भी डिपाज़िट ले सकता है तथा ऋण प्राप्त कर सकता है। इम्पीरियल बैंक अब विदेशी विनिमय के काम को कर सकता है तथा विदेशी बिलों को खरीद सकता है तथा भुना सकता है और बेच सकता है। पहले इम्पीरियल बैंक ऊपर लिखे कार्य नहीं कर सकता था। पहले इम्पीरियल बैंक ६ महीने से अधिक के लिए न तो ऋण ही दे सकता था और न ६ महीने की अवधि से अधिक की अवधि वाले बिलों को भुना या खरीद सकता था, किन्तु अब खेती के धन्धे को आर्थिक सहायता देने के लिये ६ महीने तक के लिए ऋण दे सकता है अथवा सहकारी बैंक के पत्र (Co-operative paper) स्वीकार कर सकता है। जिन सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) के विरुद्ध इम्पीरियल बैंक पहले ऋण दे सकता था उनकी संख्या में वृद्धि कर दी गई है। अब बैंक कम्पनियों के डिबैंचरों की जमानत पर, बन्धक रखे हुए माल पर, (न कि केवल उस माल पर जो कि बैंक के पास जमा कर दिया जावे) म्युनिसपैलिटियों द्वारा निकाले हुए डिबैंचरों या अन्य सिक्यूरिटियों पर तथा रिज़र्व बैंक के हिस्सों की जमानत पर भी ऋण दे सकता है। अब भी पहले की कुछ रुकावटें इम्पीरियल बैंक पर लागू हैं। उदाहरण के लिए बैंक अपने हिस्सों की जमानत पर, अचल सम्पति की जमानत या बन्धक पर अथवा ऐसे विनिमय साध्य पुर्जे (Negotiable Instrument) पर जिन पर कम से कम दो स्वतन्त्र व्यक्तियों अथवा फर्मों के हस्ताक्षर न हों, जो कि आपस में साझेदार भी न हों, ऋण नहीं दे सकता। इम्पीरियल बैंक अधिक से अधिक कितना ऋण किसी एक व्यक्ति को अथवा फर्म को देगा यह अब भी कानून द्वारा सीमित है।

ऊपर लिखे प्रतिबन्धों को लगाने की आवश्यकता इस कारण पड़ी, क्योंकि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक का एकमात्र एजेंट है और जहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच नहीं है वहाँ इम्पीरियल बैंक ही सरकारी खज़ाने का काम करता है तथा कोष को रखता है। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक की यह भी ज़िम्मेदारी है कि

रिज़र्व बैंक की स्थापना के समय इम्पीरियल बैंक की जितनी ब्रांचें थीं कम से कम उतनी ब्रांचें वह अवश्य बनाये रक्खे। रिज़र्व बैंक के एकमात्र एजेंट का काम करने के लिए इम्पीरियल बैंक से १५ वर्ष के लिए पहला इक़रारनामा किया गया और इम्पीरियल बैंक को उस कार्य के लिये एक निर्धारित रक़म कमीशन के रूप में दी जाना निश्चय हुआ। १९५१ में इम्पीरियल बैंक और रिज़र्व बैंक में एक नया समझौता हुआ जो १ अप्रैल १९५० से ३१ मार्च १९५५ तक लागू रहेगा।

वर्तमान स्थिति —यद्यपि इम्पीरियल बैंक सरकार का बैंकर नहीं रहा, किन्तु फिर भी उसका भारतीय द्रव्य बाज़ार (Money Market) में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब भी वह बहुत अधिक डिपाज़िट आकर्षित करता है। इम्पीरियल बैंक के ऊपर से प्रतिबन्धों के उठ जाने से वह आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार को अधिकाधिक सहायता प्रदान कर सकेगा। किन्तु भारतीय व्यापारियों को उसके विरुद्ध बहुत सी शिकायतें रही हैं। इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध भारतीयों को सबसे अधिक गम्भीर आरोप यह रहा है कि उसका संचालन मुख्यतः विदेशियों के हाथ में है और वे भारतीयों के साथ सहानुभूति का व्यवहार नहीं करते। यदि कोई भारतीय व्यापारी या फर्म उनसे आर्थिक सहायता माँगता है तो उसे कठिनाई होती है, किन्तु अंग्रेजों को आर्थिक सहायता आसानी से मिल जाती है। इम्पीरियल बैंक के अधिकांश उच्च अधिकारी विदेशी हैं। इस कारण से भारतीयों को इम्पीरियल बैंक से इस प्रकार की शिकायतें रही हैं। यही नहीं, १९३४ के पूर्व भारतीय व्यापारिक बैंकों (Commercial Banks) को यह भी शिकायत थी कि इम्पीरियल बैंक यद्यपि एक केन्द्रीय बैंक (Central Bank) है परन्तु वह अन्य बैंकों से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करता है। आज भी उनको यह शिकायत है कि रिज़र्व बैंक के एकमात्र एजेंट होने के नाते उसे जो प्रतिष्ठा मिली हुई है उसके कारण वह अन्य बैंकों की उन्नति में एक रुकावट उत्पन्न करता है। भारतीय बैंकों की यह माँग है कि केवल इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक का एकमात्र एजेंट बना देना उचित नहीं है। जितने बड़े और सुदृढ़ बैंक हैं उन सभी को यह प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिये। रूरल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी ने इन शिकायतों के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं उनके बारे में आगे हमने लिखा है। उससे पता चलता है कि स्थिति में किसी हद तक सुधार हुआ पर अभी पूरा सुधार नहीं हुआ है।

यद्यपि रिज़र्व बैंक की स्थापना हो चुकी है परन्तु फिर भी अभी तक केवल व्यक्ति ही नहीं बैंक तथा देशी बैंकर भी इसी के पास ऋण तथा अपने बिल या हुण्डी भुनाने के लिए आते हैं। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक द्रव्य बाज़ार (Money Market) तथा रिज़र्व बैंक के बीच में एक मध्यस्थ का काम करता है। इम्पी-

रियल बैंक के पुराने इतिहास, उसके अतुल साधन और असीम प्रतिष्ठा को देखते हुए कुछ दिनों तक रिज़र्व बैंक को इम्पीरियल बैंक के साथ मिलकर द्रव्य बाज़ार का नियंत्रण तथा उसका नेतृत्व करना होगा।

इम्पीरियल बैंक को रिजर्व बैंक में क्यों न परिणित कर दिया गया—रिज़र्व बैंक के अध्याय में हमने यह बतलाया है कि हिलटन-यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को ही रिज़र्व बैंक में परिणित किये जाने की राय क्यों न दी। इसके मुख्य कारण दो थे। एक कारण तो यह था कि यदि इम्पीरियल बैंक को ही रिज़र्व बैंक बना दिया जाता तो उस समय जो इम्पीरियल बैंक की बहुत सी ब्रांचें थीं वे बन्द करनी पड़तीं। इससे बैंकिंग कारबार को धक्का लगता जबकि देश को अधिकाधिक बैंकों की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि यदि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक बना दिया जाता तो उसके लाभ को कानून के द्वारा सीमित कर दिया जाता जोकि इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदार कभी भी पसंद न करते। पिछले दिनों से इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की चर्चा चल रही है और इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के अपने निर्णय की सरकार ने घोषणा भी कर दी थी। पर फिलहाल सरकार ने अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करने से स्थगित कर दिया है।

इम्पीरियल बैंक का भविष्य में महत्त्व—भविष्य में देश की बैंकिंग-व्यवस्था में इम्पीरियल बैंक का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। 'रूरल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए इम्पीरियल बैंक के सामने यह लक्ष्य उपस्थित किया है कि देश के प्रत्येक ज़िले, तालुका या मंडी में इम्पीरियल बैंक की शाखा या पे ऑफिस कायम किया जाये। बैंकिंग कमेटी ने यह राय दी है कि इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के सहायक के रूप में काम करेगा और उसे कमज़ोर बनाने का कोई क़दम नहीं उठाना चाहिये।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध जो शिकायतें की जाती हैं उन पर भी कमेटी ने अपने विचार प्रकट किये हैं। बैंक के राष्ट्रीय व्यवहार की बात देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद कोई महत्त्व नहीं रखती, ऐसा कमेटी का मानना है। इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक के एजेंट के तौर पर काम करने का एकाधिकार है इसलिये यह शिकायत रही है कि बैंक अपनी इस विशेष स्थिति का दूसरे बैंकों के विरुद्ध उपयोग कर सकता है जो कि अनुचित है। रूरल बैंकिंग कमेटी ने यह सिफारिश की है कि बैंक की इस विशेष स्थिति को समाप्त करने की तो आवश्यकता नहीं है, पर सरकार को बैंक पर पहले जितना नियंत्रण कायम करना चाहिये। उदाहरण के लिये बैंक के मैनेजिंग और डिप्टी मैनेजिंग डाइरेक्टर्स की नियुक्ति

सरकार की स्वीकृति से होनी चाहिये। सरकारी अधिकारी को यह अधिकार होना चाहिये कि सरकार की नीति से सम्बन्ध रखने वाले केन्द्रीय बोर्ड के किसी निर्णय को वह स्थगित करा सके और उसे सरकार के पास भिजवा सके। सरकार द्वारा मनोनीत डाइरेक्टर केन्द्रीय बोर्ड की समिति के सदस्य होने चाहियें और उन्हें वोट देने का अधिकार होना चाहिये। बैंक के उच्च कर्मचारी आज भी विदेशी हैं पर भारतीयकरण का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है और बैंक ने भारत-सरकार को यह आश्वासन दिया है कि १९५५ तक बैंक के सब उच्च कर्मचारी भारतीय हो जायँगे। देश में बैंकिंग के प्रसार में योग देने की दृष्टि से बैंक को अधिक शाखायें खोलना चाहिये, यह भी कमेटी ने सिफ़ारिश की है। जहाँ तक इम्पीरियल बैंक द्वारा दूसरे बैंकों के साथ अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सवाल है, बैंकिंग कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिये कि इम्पीरियल बैंक सरकारी खाता रखने के कारण अनुचित लाभ न उठावे और दूसरे बैंकों के साथ इस प्रकार अनुचित प्रतिस्पर्द्धा न कर सके। पर साथ ही कमेटी की यह भी सिफ़ारिश है कि इम्पीरियल बैंक को उन स्थानों में भी सरकारी बैंक का काम करना चाहिये जहाँ अभी उसकी शाखायें न होने से वह नहीं कर सकता।

(५) रिज़र्व बैंक आव इण्डिया—भारतवर्ष में एक केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता बहुत पहले से अनुभव की जा रही थी, किन्तु भारत सरकार ने इसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया। १९१३ में जब भारत की करेंसी के सम्बन्ध में जांच करने के लिए 'चेम्बरलेन कमीशन' बिठाया गया उस समय श्रीयुत कीन्स महोदय ने एक केन्द्रीय बैंक की योजना उपस्थित की जो कि चेम्बरलेन रिपोर्ट के साथ प्रकाशित हुई, किन्तु भारत ने उसकी ओर ध्यान तक न दिया। १९१४-१८ के महायुद्ध में सभी को केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव हुआ। जब १९२० में ब्रुसल्स अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्मेलन ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया कि "जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहाँ भी शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक स्थापित होना चाहिए" तब कहीं भारत-सरकार का ध्यान उधर गया। अतएव १९२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। किन्तु इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य नहीं करता था, इस कारण एक स्वतंत्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता होने लगी। जब १९२६ में हिल्टन यंग कमीशन बैठा तो यह समस्या उसके सामने भी उपस्थित हुई। देश में कुछ विद्वानों का मत था कि इम्पीरियल बैंक को ही भारत का केन्द्रीय बैंक बना देना चाहिये किन्तु कुछ उसके विरुद्ध थे। हिल्टन यंग कमीशन ने इस प्रश्न का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया और एक स्वतंत्र हिस्सेदारों के केन्द्रीय बैंक की स्थापना का

समर्थन किया।

जिन कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक न बनने की सम्मति दी वे निम्नलिखित हैं :—

(१) इम्पीरियल बैंक के पास यथेष्ट पूँजी और डिपाजिट हैं और उसकी सैकड़ों शाखायें भारत भर में फैली हुई हैं। भारत जैसे देश में जहाँ बैंकिंग की सुविधायें नहीं के बराबर हैं, यदि इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बना दिया गया तो उसको अपनी शाखाओं को बन्द करना होगा। इससे भारतीय व्यापार को गहरा धक्का लगेगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि इम्पीरियल बैंकों को बन्धनों से मुक्त कर दिया जावे और उसे एक सुदृढ़ और महान् व्यापारिक बैंक के रूप में देश की सेवा करने दी जावे। इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक भी बना दिया जावे और व्यापारिक बैंकिंग का काम भी करता रहे, यह नहीं हो सकता, क्योंकि यदि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंकिंग करेगा तो अन्य व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करेगा जो कि अनुचित होगा। केन्द्रीय बैंक के पास राज्य की बिना सूद की डिपाज़िट रहेगी और उसके पास इतने विशेष अधिकार रहेंगे कि उसको अन्य बैंकों से होड़ करने देना सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा। साथ ही केन्द्रीय बैंक को काग़ज़ी मुद्रा निकालने का एकाधिकार दिया जावेगा अतएव उसे व्यापारिक बैंकिंग के खतरे को न उठाना चाहिए।

(२) इम्पीरियल बैंक को भारतीय व्यापारिक बैंक अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते रहे हैं, क्योंकि वह भारतीय बैंकों से द्रव्य बाज़ार में प्रतिद्वन्द्विता करता रहा है अतएव उसको केन्द्रीय बैंक बनाना उचित नहीं है। केन्द्रीय बैंक को सभी अन्य बैंकों का नेतृत्व करना होगा। अस्तु; किसी ऐसे बैंक को जिसे अन्य बैंक अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते रहे हैं केन्द्रीय बनाना उचित न होगा।

(३) इम्पीरियल बैंक के प्रति भारतीय व्यापारियों, देशी बैंकरों तथा भारतीय व्यापारिक बैंकों की अच्छी धारणा नहीं है। उनका कहना है कि इम्पीरियल बैंक की नीति अभारतीय है। अंग्रेज़ व्यापारियों तथा अंग्रेज़ों द्वारा संचालित बैंकों के साथ उसका व्यवहार नरम, सहानुभूतिपूर्ण और उदार होता है। हिल्टन यंग कमीशन का मत था कि जिस बैंक के प्रति देश में ऐसी धारणा हो वह केन्द्रीय बैंक के उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार से न निबाह सकेगा।

(४) कमीशन की यह भी राय थी कि हिस्सेदार भी इस परिवर्तन को पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि यदि इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक बना दिया जावेगा तो सरकार को कानून के द्वारा उसके लाभ को मर्यादित कर देना होगा। हिस्सेदारों को ४ प्रतिशत के लगभग लाभ मिल सकेगा जिसे इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदार

कभी पसन्द न करेंगे, क्योंकि उन्हें अभी बहुत अधिक लाभ मिलता है। इन्हीं कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने एक स्वतंत्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना का समर्थन किया। कमीशन ने केवल एक स्वतंत्र संस्था के स्थापित किये जाने का ही समर्थन नहीं किया वरन् उसने इस बात का भी समर्थन किया कि रिज़र्व बैंक राज्य का न होकर हिस्सेदारों का होना चाहिए।

हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत-सरकार ने एक बिल केन्द्रीय धारा सभा (Central Legislative Assembly) में उपस्थित किया। इस बिल में एक हिस्सेदारों के रिज़र्व बैंक की स्थापना की व्यवस्था थी और उसके संचालन बोर्ड में हिस्सेदारों द्वारा चुने हुए डायरेक्टरों का बहुमत था और बैंक के गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर के सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने का विधान था। किन्तु सेलेक्ट कमेटी ने उसमें महत्वपूर्ण परिवर्त्तन कर दिये। उसमें विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन यह था कि बैंक हिस्सेदारों का न होकर सरकार का होगा। सरकार इस परिवर्तन के लिये तो तैयार हो गई थी कि बैंक राज्य का हो पर संचालक-मंडल के प्रश्न पर एसेम्बली और सरकार में समझौता न हो सका। इस पर भारत-सरकार ने हिस्सेदारों का बैंक कायम करने का नया बिल पेश करना चाहा, पर जब तक पुराना बिल सरकार वापस नहीं ले, नये बिल को पेश करने की इजाज़त नहीं मिली। पुराने बिल के साथ तो झगड़ा लगा ही था। अस्तु; उस समय भारत में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित न हो सका। किन्तु जब भारत में नवीन शासन सुधार की योजना तैयार हुई और भारत में संघीय सरकार (Federal Government) की स्थापना का आयोजन होने लगा जो संघीय धारा सभा के लिये उत्तरदायी होती, तो एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता हुई जो कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) को निकालने का प्रबन्ध करे। अतएव १९३४ में रिज़र्व बैंक ऐक्ट पास हुआ और उसको हिस्सेदारों के बैंक के रूप में स्थापित किया गया। रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक होना चाहिए अथवा राज्य का, इस सम्बन्ध में भारत में बहुत वाद-विवाद चला। अस्तु; हम यहाँ दोनों पक्षों का मत देंगे।

बैंक हिस्सेदारों का हो अथवा राज्य का हो—जिन लोगों का कहना था कि बैंक राज्य का होना चाहिए वे नीचे लिखे तर्क उपस्थित करते थे :—

(१) रिज़र्व बैंक को इतने अधिकार दिये गये हैं कि यदि बैंक पर पूंजीपतियों का प्रभाव हो गया तो वे उसका दुरुपयोग करेंगे जिससे देश के आर्थिक हितों को धक्का पहुँचेगा। यदि बैंक हिस्सेदारों का रहा तो पूँजीपतियों का उस पर प्रभाव हो जाना स्वाभाविक है। अतः ऐसा करना खतरनाक है।

(२) क्योंकि बैंक कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) निकालेगा तथा राज्य के कोष (Funds) अपने पास रक्खेगा अतएव उसको बहुत अधिक लाभ होगा। यह लाभ देश के लाभ के लिये राज्य को मिलना चाहिए न कि हिस्सेदारों को।

(३) भारत में राज्य अधिकांश रेलों, पोस्ट आफिस इत्यादि का प्रबन्ध करता है। लोगों को राज्य के प्रबन्ध में अधिक विश्वास है और पूँजीपतियों के प्रबन्ध को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

(४) रिज़र्व बैंक के कार्य ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं कि राज्य को उसे अपने नियन्त्रण में रखना ही होगा। अतः उसे राज्य का बैंक ही क्यों न बना दिया जाये।

(५) जिन देशों में केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारों की संस्था है वहाँ भी उसका गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर इत्यादि सरकार ही नियुक्त करती है तथा बैंक की नीति के निर्धारण में उसका प्रमुख हाथ रहता है। कहना इस प्रकार चाहिये कि राज्य ही बैंक की नीति निर्धारित करता है। ऐसी दशा में हिस्सेदारों का बैंक स्थापित करने का अर्थ नहीं होता।

(६) इस बात का भय है कि हिस्सेदारों का बैंक योरोपियनों के प्रभाव में आ जायेगा और इससे भारतीयों के हितों की उपेक्षा होगी।

तत्कालीन केन्द्रीय धारा सभा का यह भी विचार था कि बैंक केवल राज्य का ही न हो, वरन् उसके संचालक बोर्ड में कुछ डायरेक्टर धारा सभा के चुने हुए सदस्य होने चाहियें। क्योंकि सरकार जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं है, अतः जनता के चुने हुए डायरेक्टर बोर्ड में होने चाहिये।

इसके विरुद्ध हिस्सेदारों के बैंक के पक्ष में जो लोग थे उनके निम्नलिखित तर्क थे :—

(१) संसार में जितने केन्द्रीय बैंक हैं उनमें से कुछ को छोड़कर सभी हिस्सेदारों के बैंक हैं।

(२) देश के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह आवश्यक है कि रिज़र्व बैंक पर कोई राजनैतिक प्रभाव न हो और वह अपने कार्यों को स्वतन्त्र रूप से कर सके।

(३) हिस्सेदारों के बैंक में पूँजीपतियों के प्रभाव बढ़ जाने का जो भय है उसको ऐसा नियम बनाकर कि एक व्यक्ति अधिक हिस्से न खरीद सके, दूर किया जा सकता है। रहा लाभ का प्रश्न, वह तो कानून द्वारा सीमित कर दिया जायेगा और अतिरिक्त लाभ राज्य को मिलेगा।

इन पिछले कारणों को अधिक महत्त्व देते हुए १९३४ के कानून के [illegible] में रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया।

रिज़र्व बैंक का विधान—यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि रिज़र्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया है। बैंक की हिस्सा पूँजी (Share-Capital) ५ करोड़ रुपया रखी गई। प्रत्येक हिस्सा १०० रु० का रखा गया जो कि पूरा चुका दिया गया था। इस उद्देश्य से कि बैंक पर किसी एक प्रदेश का प्रभाव न हो जावे भारत को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया और हिस्सेदारों के पाँच रजिस्टर खोले गए। भिन्न-भिन्न रजिस्टरों को नीचे लिखे अनुसार हिस्सा पूँजी बाँट दी गई :—

बम्बई	१४० लाख
कलकत्ता	१४५ लाख
देहली	११५ लाख
मद्रास	७० लाख
रंगून	३० लाख

इसके अतिरिक्त यह नियम भी बना दिया गया कि प्रत्येक हिस्सेदार को पाँच हिस्सों के पीछे एक मत (Vote) देने का अधिकार होगा, और किसी हिस्सेदार को दस मत (वोट) से अधिक देने का अधिकार न होगा। यह नियम इस उद्देश्य से बनाया गया था कि रिज़र्व बैंक के हिस्सों को कुछ लोग न हथिया लें। किन्तु ऊपर लिखे नियमों के रहते हुए भी रिज़र्व बैंक के हिस्से क्रमशः बम्बई रजिस्टर में अधिक बढ़ते गए। यही नहीं कि अन्य रजिस्टरों में हिस्से कम होते गए और बम्बई रजिस्टर में बढ़ते गए, वरन् साथ ही हिस्सेदारों की संख्या कम होती गई। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि रिज़र्व बैंक के हिस्से क्रमशः कुछ थोड़े से हाथों में इकट्ठे होते गए।

बैंक के हिस्सेदारों की संख्या में ३० जून १९४१ तक ३८ प्रतिशत की कमी हो गई। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए मार्च १९४० में रिज़र्व बैंक एक्ट में इस आशय का संशोधन किया गया कि यदि कोई व्यक्ति २६ मार्च १९४० के उपरान्त रिज़र्व बैंक के हिस्से खरीदता है और उन हिस्सों के सहित उसके पास अपने व्यक्तिगत नाम में अथवा व्यक्तियों के साथ सम्मिलित नाम में २०,००० रु० के मूल्य के हिस्सों से अधिक हो जाते हैं तो उन अधिक खरीदे हुए हिस्सों को उसके नाम नहीं रजिस्टर किया जावेगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि २६ मार्च १९४० के उपरान्त कोई भी व्यक्ति कुल मिलकर २०,००० रु० के हिस्सों से अधिक नहीं खरीद सकता था। किन्तु इतना होने पर भी रिज़र्व बैंक के हिस्सेदारों की संख्या कम होती गई और क्रमशः हिस्से कुछ हाथों में केन्द्रित होते गये।

रिज़र्व बैंक एक्ट से बैंक की हिस्सा पूँजी को घटा-बढ़ा सकने का अ-

नहीं दे सकते थे। गवर्नर की अनुपस्थिति में एक डिप्टी गवर्नर वोट दे सकता था, यदि वह भारत सरकार की लिखित आज्ञा प्राप्त कर ले। अन्य दूसरे सभी डायरेक्टर केवल पाँच वर्षों तक अपने पद पर रहते थे।

केन्द्रीय तथा राज्य की धारा सभा का सदस्य, कोई वेतनभोगी सरकारी कर्मचारी, किसी बैंक का नौकर या कर्मचारी, किसी बैंक का डायरेक्टर (सहकारी बैंक के डायरेक्टरों को छोड़कर), रिज़र्व बैंक का डायरेक्टर या स्थानीय बोर्ड (Local Boards) का सदस्य नहीं हो सकता था। कोई व्यक्ति जो कि केन्द्रीय बोर्ड का डायरेक्टर या स्थानीय बोर्ड का सदस्य चुना गया हो या मनोनीत किया गया हो यदि रिजर्व बैंक के ५,००० रु० के हिस्सों का ६ महीने के अन्दर रजिस्टर्ड स्वामी नहीं बन जाता तो वह डायरेक्टर या सदस्य नहीं रह सकता था। यदि कोई डायरेक्टर बिना गवर्नर से छुट्टी प्राप्त किये तीन लगातार मीटिंगों में अनुपस्थित हो जाता तो वह बैंक का डायरेक्टर नहीं रहता था।

स्थानीय बोर्ड और उनका कार्य—इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण के पहले प्रत्येक रजिस्टर का एक स्थानीय बोर्ड होता था जिसका संगठन इस प्रकार होता था—(१) उस रजिस्टर के हिस्सेदार अपने में से पाँच सदस्य चुनते थे। (२) केन्द्रीय बोर्ड उस रजिस्टर के हिस्सेदारों में से अधिक से अधिक तीन सदस्यों को मनोनीत करता था। केन्द्रीय बोर्ड को अधिकार इसलिए दिया गया था कि जिससे कृषि सहकारी बैंक, तथा अन्य ऐसे हितों का स्थानीय बोर्ड में प्रतिनिधित्व हो सके।

स्थानीय बोर्ड के दो कार्य होते थे। एक तो वे अपने में से केन्द्रीय बोर्ड के लिये डायरेक्टर चुनते थे और दूसरे वे केन्द्रीय बोर्ड को उन सब बातों पर अपनी राय देते थे कि जो उसकी सम्मति के लिये भेजी जाती थी। स्थानीय बोर्ड के अधिकार बहुत ही सीमित हैं और उनका कोई महत्त्व नहीं है।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—भारत के स्वतन्त्र होने के बाद भारत-सरकार ने रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया और इस उद्देश्य से रिज़र्व बैंक ऑव इण्डिया (ट्रान्सफर टू पब्लिक ओनरशिप) एक्ट, १९४८, पास किया गया। १ जनवरी १९४९ से यह एक्ट लागू हो गया। इस सम्बन्ध में आगे लिखा गया है।

रिजर्व बैंक के कार्य—रिजर्व बैंक के व्यापारिक कार्य—रिज़र्व बैंक नीचे लिखे व्यापारिक कार्य कर सकता है :—

(१) रिज़र्व बैंक बिना सूद की डिपाज़िट स्वीकार कर सकता है। रिज़र्व बैंक पर सूद न दे सकने का प्रतिबन्ध इस कारण लगाया गया है कि वह व्यापारिक

बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा न कर सकें।

(२) रिज़र्व बैंक ऐसे बिलों (Bills) और प्रामिसरी नोटों को जो वास्तविक व्यापारिक व्यवहारों (Commercial Transactions) के कारण उत्पन्न हुए हों, जिन पर दो अच्छे हस्ताक्षर हों, उनमें से एक हस्ताक्षर किसी शिड्यूल (Schedule) बैंक का हो और जिनके चलन की अवधि ६० दिन से अधिक बाक़ी न हो, और जो भारत पर काटे गए हों और जिनका भुगतान भारत में होने वाला हो, खरीद या बेच सकता है अथवा उन्हें पुनः भुना सकता है।

इसका अर्थ यह है कि रिज़र्व बैंक रुपयों में काटे या लिखे गये आयात-बिलों (Rupee Import Bills) को भुना सकता है, यदि इस प्रकार के बिलों का आयात व्यापार (Import Trade) में चलन होने लगे। भारत सरकार या 'ए' श्रेणी के राज्यों की सरकारों की सिक्यूरिटीज़ में व्यापार करने की दृष्टि से काटे गये बिलों को भी यदि वे ६० दिन में पकने वाले हों तो रिज़र्व बैंक बेच, खरीद या भुना सकता है। यदि इस प्रकार के बिल या प्रामिसरी नोट कृषि के धन्धों के लिए लिखे गए हों या फसलों की बिक्री का प्रबन्ध करने के लिए काटे गए हों तो उनके चलन की अवधि, जो पहले अधिक से अधिक ६ महीने की बाक़ी होनी चाहिये थी, अब १५ महीने की कर दी गई है। इन बिलों पर भी दो अच्छे हस्ताक्षरों की आवश्यकता है और उसमें से एक हस्ताक्षर या तो किसी शिड्यूल बैंक का अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक का होना चाहिए। इस प्रकार के बिलों को रिज़र्व बैंक पुनः भुना सकता है।

(३) रिज़र्व बैंक ऐसे बिलों को जो कि यूनाइटेड किंगडम में अथवा कहीं किसी स्थान पर काटे गए हों और ६० दिन के अन्दर पकने वाले हों, खरीद, बेच और भुना सकता है किन्तु यह कार्य वह किसी शिड्यूल बैंक के द्वारा ही कर सकता है।

(४) भारत में कम से कम १ लाख रुपये की कीमत के शिड्यूल बैंकों से स्टर्लिंग खरीदने और उन्हें स्टर्लिंग बेचने का काम भी रिज़र्व बैंक कर सकता है।

(५) रिज़र्व बैंक 'बी' श्रेणी के राज्यों, स्थानीय शासन संस्थाओं (म्यूनिस्पैलटी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादि), शिड्यूल बैंकों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ऋण दे सकता है किन्तु इस प्रकार का ऋण [illegible] से अधिक ६० दिन के लिए दिया जा सकता है। यह ऋण स्टाक, फंड (Funds) या सिक्यूरिटी (अचल सम्पत्ति को छोड़ कर) की जमानत पर ही मिल सकता है। जो भी सिक्यूरिटी ट्रस्टी सिक्यूरिटी है उसके विरुद्ध रिज़र्व बैंक [illegible] दे सकता है। इसके अतिरिक्त सोना या चाँदी अथवा उन बिलों की [illegible] पर

भी ऋण दिया जा सकता है कि जिन्हें रिज़र्व बैंक खरीद या भुना सकता है। किसी शिड्यूल बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के प्रामिसरी नोट पर भी रिज़र्व बैंक ऋण दे सकता है यदि वह वास्तव में व्यापारिक व्यवहारों (Commercial Transaction) के लिये लिया जावे।

(६) रिज़र्व बैंक केन्द्रीय तथा 'ए' श्रेणी के राज्यों को तीन महीने से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकता।

(७) रिज़र्व बैंक यूनाइटेड किंगडम की उन सिक्यूरिटियों की खरीद-बिक्री कर सकता है जो कि खरीदने की तारीख से १० वर्षों के अन्दर पक जावे। भारत सरकार या प्रान्तीय सरकार की किसी प्रकार की सिक्यूरिटी, चाहे उसके पकने की अवधि कितनी ही क्यों न हो, रिज़र्व बैंक ख़रीद या बेंच सकता है। 'बी' श्रेणी के राज्यों अथवा स्थानीय शासन संस्थाओं में से केवल उनकी ही सिक्यू-रिटी रिज़र्व बैंक खरीद या बेच सकता है जिनकी भारत सरकार बैंक-बोर्ड की सिफारिश पर स्वीकृति दे। १ जनवरी, १६४६ से जो संशोधन रिज़र्व बैंक एक्ट में लागू हुआ है उसके अनुसार अब रिज़र्व बैंक उन देशों की सिक्यूरिटियों में भी अपना रुपया लगा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य हैं। इन देशों में भुगतान किये जाने वाले व्यापारिक बिलों को जिनकी मियाद ६० दिन के अन्दर पूर्ण होती हो, रिज़र्व बैंक खरीद, बेच और भुना सकता है। इन देशों के केन्द्रीय बैंकों में रिज़र्व बैंक रुपया भी जमा कर सकता है।

(८) रिज़र्व बैंक अपनी पूँजी से अधिक ऋण नहीं ले सकता, और वह भी एक महीने से अधिक के लिए नहीं। ऋण केवल किसी शिड्यूल बैंक से अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक (Central Bank) से लिया जा सकता है।

(६) कुछ दशाओं में बैंक को सीधे खुले बाज़ार में ६० दिन के बिल भुनाने तथा ३० दिन के लिए ऋण देने का अधिकार दे दिया गया है अर्थात् बैंक कुछ दशाओं में बिना किसी शिड्यूल बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के हस्ता-क्षरों के ही ऋण दे सकता है या बिलों को भुना सकता है। इसे बैंक की खुले बाज़ार की क्रिया (Open Market Operations) कहते हैं।

वह व्यापार-कार्य जो कि बैंक नहीं कर सकता— (१) बैंक कोई व्यापारिक तथा व्यवसायिक कार्य नहीं कर सकता। अर्थात् व्यापार तथा व्यवसाय में दिलचस्पी नहीं ले सकता और न आर्थिक सहायता दे सकता है।

(२) वह अपने हिस्सों या अन्य किसी बैंक या कम्पनी के हिस्सों को नहीं खरीद सकता और न उन हिस्सों की जमानत पर ऋण ही दे सकता है।

(३) वह किसी अचल सम्पत्ति को रेहन रखकर ऋण नहीं दे सकता और

न अचल सम्पत्ति को खरीद ही सकता है। केवल अपने काम के लिए जो भी इमारत इत्यादि की आवश्यकता हो उसे अवश्य खरीद सकता है।

(४) बैंक अरक्षित (Unsecured) ऋण नहीं दे सकता।

(५) वह मुद्दती जमा (Deposits) या चालू खाते (Current Account) पर कोई सूद नहीं दे सकता।

(६) वह ऐसे बिलों को न काट सकता है और न स्वीकार ही कर सकता है कि जिनका माँगने पर भुगतान न हो।

ऊपर लिखे व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक को भारत का केन्द्रीय बैंक (Central Bank) होने के नाते और बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य सौंप दिए गए हैं। वे नीचे लिखे हैं :—

कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) को निकालने का एकाधिकार—रिज़र्व बैंक को कागज़ी मुद्रा निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त सरकार का कागज़ी मुद्रा निकालने का अधिकार समाप्त हो गया। रिज़र्व बैंक के नोट कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) हैं और भारत-सरकार उनकी गारंटी करती है। भारत-सरकार के पुराने नोट रिज़र्व बैंक ने ले लिए फिर उन्हें अपने नोटों के रूप में चलाया। जनवरी १९३८ में सबसे पहले रिज़र्व बैंक के नोट निकाले गये। रिज़र्व बैंक पर अपने नोटों को रुपयों में बदलने का कानूनी उत्तरदायित्व है। रिज़र्व बैंक पांच रुपये, दस रुपये, सौ रुपये, पांच सौ रुपये, और दस हज़ार रुपये के नोट निकाल सकता है।

कागज़ी मुद्रा निकालने का काम बैंक का नोट विभाग (Issue Department) करता है। नोट विभाग को बैंकिंग विभाग (Banking Department) से सर्वथा पृथक् रक्खा जाता है। भारत में यह विभाजन अनावश्यक था। यह विभाजन बैंक आव इङ्गलैंड के आधार पर किया गया था। किन्तु बैंक आव इङ्गलैंड में यह विभाजन इसलिए आवश्यक था क्योंकि वहाँ नोट विभाग में होने वाला लाभ तो सरकार को जाता था और बैंकिंग का लाभ हिस्सेदारों को मिलता था। किन्तु जब तक राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ था तब तक भी भारत में तो कानून द्वारा निर्धारित (४ प्रतिशत) से अधिक लाभ सरकार को मिलता था, इस कारण यह विभाजन अनावश्यक था। राष्ट्रीयकरण के बाद तो इस विभाजन का कोई महत्त्व ही नहीं है। इससे हानि यह है कि बैंक की लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है।

जहां तक कागज़ी मुद्रा की सुरक्षा के लिए सुरक्षित कोष (Reserves)

रखने का प्रश्न है रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कुल नोटों का ४० प्रतिशत रक्षित कोष सोने के सिक्के, सोने के पाटों अथवा स्टर्लिङ्ग के रूप में होना चाहिए और शेष रुपयों तथा सरकारी सिक्यूरिटियों तथा स्वीकृत व्यापारिक पत्रों (Eligible Paper) के रूप में होना चाहिये। पर १ जनवरी, १९४९ से बैंक को उन देशों की सिक्यूरिटीज--जिनमें बिल और नकद भी शामिल है--भी रक्षित कोष में रखने का अधिकार हो गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य हैं।

सरकार का बैंकिंग कार्य--नोट निकालने के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक सरकार के बैंकर का कार्य भी करता है। वह सरकार की ओर से रुपये का भुगतान करता है और सरकार का रुपया स्वीकार करता है। उसे सरकार की विदेशी देनी को चुकाना पड़ता है। सरकारी रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना पड़ता है तथा अन्य बैंकिंग कार्य करने पड़ते हैं। जब सरकार ऋण लेती है तो इन ऋणों को रिज़र्व बैंक ही निकालता है और वही उनका प्रबन्ध करता है। केन्द्रीय तथा 'अ' श्रेणी के राज्यों की सरकारों का नकद रुपया बैंक के पास ही बिना सूद के डिपाज़िट के रूप में रहता है। बैंक को यह कार्य मुफ़्त में नहीं करने पड़ते।

रिज़र्व बैंक का यह भी कार्य है कि वह रुपये की विनिमय-दर (Exchange Rates) को स्थिर रक्खे। इसी उद्देश्य को लेकर रिज़र्व बैंक को कानून द्वारा विवश कर दिया गया है कि वह अधिक से अधिक १ शि० ६ $\frac{३}{१६}$ पें० प्रति रुपये के हिसाब से स्टर्लिङ्ग खरीदेगा और कम से कम १ शि० ५ $\frac{४९}{६४}$ पें० प्रति रुपये के हिसाब से स्टर्लिङ्ग बेचेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी के पास स्टर्लिङ्ग हैं और वह उनके रुपये करना चाहता है तो वह रिज़र्व बैंक को ऊपर लिखी दर पर स्टर्लिङ्ग बेच सकता है। रिज़र्व बैंक को उसके स्टर्लिङ्ग खरीदने होंगे और यदि किसी व्यक्ति को स्टर्लिङ्ग की आवश्यकता है तो उपर्युक्त दर पर स्टर्लिङ्ग खरीद सकता है। रिज़र्व बैंक को उसे स्टर्लिङ्ग बेचने होंगे। इस बारे में एक मर्यादा यह है कि खरीदने और बेचने का सौदा दस हज़ार पौंड से कम का नहीं होना चाहिए। जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो गया तो अप्रेल १९४७ में इस सम्बन्ध में बैंक के विधान में यह संशोधन कर दिया गया कि रिज़र्व बैंक को विदेशी विनिमय बेचना और खरीदना होगा और इस बारे में बेचने तथा खरीदने की दरें तथा और शर्तें भारत-सरकार समय-समय पर तय करेगी।

रिज़र्व बैंक की अन्य विशेषताएँ--यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि रिज़र्व बैंक की पहली विशेषता यह है कि वह दो विभागों में विभक्त है--(१) नोट विभाग (Issue Department) और (२) बैंकिंग विभाग

(Banking Department)। इन दोनों विभागों के सम्बन्ध में आगे लिखेंगे। इस विशेषता के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक की नीचे लिखी विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :—

(१) कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)—रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक को बाध्य रूप में एक कृषि साख विभाग स्थापित करना पड़ा है। इस विभाग के कार्य हैं:—कृषि साख के सम्बन्ध में खोज करने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर कृषि साख के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए कृषि साख के विशेषज्ञों को नियुक्त करना। जब कभी भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों को कृषि साख के सम्बन्ध में कुछ परामर्श लेना होता है तो वे रिज़र्व बैंक के कृषि साख विभाग से लेते हैं। यह विभाग रिज़र्व बैंक तथा सहकारी बैंकों के सम्बन्धों को निर्धारित करता है और रिज़र्व बैंक की कृषि साख नीति (Agricultural Credit Policy) को निर्धारित करता है।

(२) रिज़र्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का सम्बन्ध—रिज़र्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक को अपना एकमात्र एजेंट (Sole Agent) स्वीकार किया है। रिज़र्व बैंक ऐक्ट में इसका विधान है। जो प्रथम समझौता हुआ था उसके अनुसार १५ वर्षों के लिए इम्पीरियल बैंक के साथ यह समझौता हुआ था कि जहाँ-जहाँ इम्पीरियल बैंक की ब्रांच हैं, और रिज़र्व बैंक की ब्रांच नहीं हैं, वहां-वहां इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करेगा। १० वर्ष पूरे होने पर समझौते की शर्तों में संशोधन करना निश्चित हुआ था और उसके बाद हर पांच साल बाद।

इस सेवा के उपलक्ष में रिज़र्व बैंक इम्पीरियल बैंक को मार्च १९४५ तक नीचे लिखे अनुसार कमीशन देता था—२५० करोड़ रुपये तक एक प्रतिशत का सोलहवां भाग अर्थात् सौ रुपये पर एक आना और २५० करोड़ रुपये के ऊपर टर्नओवर पर एक प्रतिशत का बत्तीसवां भाग कमीशन दिया जाता था अर्थात् सौ रुपये पर दो पैसा। इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के एजेन्ट की हैसियत से जितना सरकारी काम करता है उस पर यह कमीशन दिया जाता है। उस समझौते के अनुसार १ अप्रैल १९४५ से ३१ मार्च १९५० तक के लिए कमीशन की नई दरें कायम की गईं जिनका आधार बैंक को इस काम में होने वाला वास्तविक खर्च था। १५ वर्ष की इस अवधि के उपरान्त पांच वर्षों (१ अप्रैल १९५० से ३१ मार्च १९५५ तक) के लिए नया समझौता अक्टूबर १९५१ में किया गया है। दोनों बैंकों में से किसी को भी यह अधिकार है कि पांच वर्ष की पूर्व सूचना देकर समझौता भंग कर सकता है।

इसके अतिरिक्त इस समझौते का एक अंग यह भी था कि यदि इम्पीरियल बैंक की जितनी ब्रांचें रिज़र्व बैंक ऐक्ट के लागू होने पर खुली हुई थीं, कम से कम उतनी ब्रांचें खोले रखता है तो पहले पांच वर्षों में ६ लाख वार्षिक और तीसरे पांच वर्षों में ४ लाख वार्षिक रुपये रिज़र्व बैंक इम्पीरियल बैंक को देगा।

शिड्यूल बैंकों की डिपाज़िट—जिस बैंक की चुकता पूंजी (Paid-up Capital) और सुरक्षित कोष (Reserves) पांच लाख रुपये से अधिक हों वह रिज़र्व बैंक ऐक्ट की दूसरी शिड्यूल में सम्मिलित किया जा सकता है अर्थात् शिड्यूल बैंक बन सकता है। रिजर्व बैंक साख (Credit) पर नियन्त्रण स्थापित कर सके इस उद्देश्य से प्रत्येक शिड्यूल बैंक को अपनी चालू जमा (Current Deposits) का पांच प्रतिशत और मुद्दती जमा (Fixed Deposits) का २ प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास रखना होता है। यदि कोई शिड्यूल बैंक इस शर्त को पूरा न करें तो उसको दंड दिया जाता है। निर्धारित प्रतिशत से जिस बैंक का रिजर्व बैंक के पास कम कोष रहता है उसको कमी पर प्रचलित-रिज़र्व-बैंक रेट से अधिक सूद देना पड़ता है। और यदि शिड्यूल बैंक अगला लेखा (Return) भेजने के दिन तक उस कमी को पूरा न कर सके तो बैंक रेट से कमी पर पॉच प्रतिशत अधिक सूद देना होता है। यदि उसके आगे लेखा भेजने के दिन तक वह कमी पूरी न हो तो रिज़र्व बैंक प्रतिदिन ५०० रु० जुर्माना कर सकता है और उस बैंक को और अधिक जनता से डिपाज़िट लेने की मनाही कर सकता है। प्रत्येक शिड्यूल बैंक को प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक को एक लेखा भेजना पड़ता है जिसमें नीचे लिखी बातों का उल्लेख रहता है—(१) बैंक की चालू जमा (Current Deposit) और मुद्दती जमा (Fixed Deposit), (२) बैंक के पास कितने मूल्य के नोट हैं, (३) बैंक के पास कितने रुपये और छोटे सिक्के हैं, (४) बैंक ने कितना ऋण दिया है और कितने मूल्य के बिल भुनाये हैं, (५) बैंक का कितना रुपया रिज़र्व बैंक में जमा है। इस लेखे को न भेजने पर प्रतिदिन १०० रु० के हिसाब से जुर्माना किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक का लाभ और रक्षित कोष—रिज़र्व बैंक ऐक्ट (१९३४) में इस बात का उल्लेख कर दिया गया था कि रिज़र्व बैंक अपने हिस्सेदारों को अधिक से अधिक ५ प्रतिशत लाभ दे सकता है, किन्तु लाभ कितना बॉटा जावेगा इसका निर्णय भारत-सरकार करेगी। आरम्भ में सरकार ने ३½ प्रतिशत लाभ बाँटने की अनुमति दी थी, किन्तु १९४३ से रिज़र्व बैंक अपने हिस्सेदारों को ४ प्रतिशत लाभ बाँटता रहा। हिस्सेदारों के बाँटने के उपरान्त जो भी लाभ शेष रहता वह सरकार को दे दिया जाता था। ऐक्ट में यह विधान

था कि जब तक रक्षित कोष (Reserve Fund) पूँजी के बराबर न हो जावे तब तक कम से कम ५० लाख रुपया रक्षित कोष में प्रतिवर्ष रक्खा जावेगा। यदि लाभ इतना न हो तो हिस्सेदारों को बाँटने के उपरान्त जो भी लाभ शेष बचे सब रक्षित कोष में रख दिया जावे। जब रक्षित कोष पूँजी के बराबर हो जावे तो सारा शेष लाभ सरकार को दे दिया जावे। १९३९ के पूर्व बैंक का रक्षित कोष पाँच करोड़ रुपये हो गया था अतएव उसके बाद हिस्सेदारों को लाभ बाँटने के उपरांत शेष लाभ सरकार को चला जाता था। १ जनवरी, १९४९ से रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से बैंक का सारा लाभ सरकार को ही मिलता है क्योंकि अब बैंक के सब हिस्से सरकार के पास आ गये हैं।

रिजर्व बैंक संशोधन एक्ट १९५१—नवंबर १९५० में रिज़र्व बैंक एक्ट का संशोधन करने के लिये भारतीय संसद में एक बिल पेश हुआ था, वह २७ अप्रेल १९५१ के संसद में पास हो गया है। इस संशोधन के फलस्वरूप रिज़र्व बैंक एक्ट जम्मू-काश्मीर को छोड़ कर समस्त भारत में लागू हो गया है। रिज़र्व बैंक के कामों के बारे में नीचे लिखे परिवर्तन किये गये हैं :—

(१) कृषि संबंधी बिल या प्रामिसरी नोट जो बैंक बेच, खरीद और भुना सकता है उनकी अवधि ९ महीने से बढ़कर १५ महीने कर दी गई है—अर्थात् जिन बिलों की मियाद १५ महीने के अन्दर-अन्दर समाप्त होती है उन्हें रिज़र्व बैंक खरीद, बेच और भुना सकेगा। 'राज्य सहकारी बैंक' के हस्ताक्षर दो अच्छे हस्ताक्षरों में स्वीकार किये जायें यह भी संशोधन हो गया है।

(२) सरकारी बैंकिंग कारोबार के संबंध में यह साफ कर दिया गया है कि 'बी' श्रेणी के राज्यों का रिज़र्व बैंक उस तरह से काम नहीं करेगा जैसे 'अ' श्रेणी के राज्यों का। पर एक नई धारा इस आशय की जोड़ दी गई है कि किसी भी 'बी' श्रेणी के राज्य से समझौता होने पर रिज़र्व बैंक उसके बैंकर का काम कर सकता है और उसके ऋण की व्यवस्था कर सकता है। ऐसा समझौता होने पर संसद के सामने रखा जायगा।

(३) शिड्यूल बैंक रिज़र्व बैंक को जो साप्ताहिक स्टेटमेंट पेश करते हैं उसको पेश करने का समय अब तक जिस दिन का स्टेटमेंट होता है उससे दो दिन बाद तक था। पर अब वह पांच दिन का कर दिया गया है और विशेष परिस्थिति में यह समय १० दिन तक भी हो सकता है। अस्तु, साधारणतया शुक्रवार तक का स्टेटमेंट बुध को दिया जा सकता है। इसके अलावा बैंकों को यह भी अनिवार्य रूप में बताना होगा कि सरकारी सिक्यूरिटियों और ट्रेजरी बिलों आदि में उनका कितना रुपया लगा हुआ है। विशेष परिस्थिति में रिज़र्व बैंक को यह अधिकार भी

मिल गया है कि वह किसी शेडूल्ड बैंक को अनिवार्य नकद कोष की शर्त से मुक्त करदे।

(४) विदेशों की सरकारों का रिज़र्व बैंक हिसाब रख सकेगा और दूसरी बैंकिंग संबंधी सेवाएँ भी कर सकेगा। अब तक वह ऐसा नहीं कर सकता था।

(५) बैंक पर खुले बाज़ार की क्रिया (ओपिन मार्केट आपरेशन्स) के संबंध में जो सरकारी प्रतिभूतियों की रक़म या उनके समय विषयक प्रतिबंध थे वे हटा दिये गये हैं और बैंक को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों के हिस्सों और सिक्यूरिटियों में रुपया लगा सके।

(६) केन्द्रीय सरकार की अनुमति से रिज़र्व बैंक विदेशी सरकारों या सरकार द्वारा स्वीकृत विशेष व्यक्तियों के एजेन्ट का काम कर सकता है, यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है।

(७) रिज़र्व बैंक का इम्पीरियल बैंक एकमात्र एजेंट होने का केवल 'ए' और 'सी' राज्यों में ही अधिकारी रहेगा, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है।

रिज़र्व बैंक और द्रव्य बाजार (Money Market)—रिज़र्व बैंक का मुख्य कार्य देश के हित में साख (Credit) का नियंत्रण करना है। इस कार्य को भली प्रकार कर सकने के लिये यह आवश्यक है कि रिज़र्व बैंक का साख, करंसी या मुद्रा (Currency) पर भी पूरा नियंत्रण स्थापित हो जावे। यह पहले के अध्यायों में बता चुके हैं कि साख पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि करसी या मुद्रा पर भी नियंत्रण स्थापित किया जावे, क्योंकि मुद्रा के आधार पर ही साख का विस्तार होता है। यदि केवल करंसी या मुद्रा से व्यापारिक कारबार होता तब तो मुद्रा पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने मात्र से साख पर भी स्वतः नियंत्रण स्थापित हो जाता। परन्तु यदि इसके विपरीत चेक या धनादेश (Cheques) का व्यापारिक कार्यों में बहुत अधिक प्रयोग होता है, जैसा कि व्यापारिक दृष्टि से उन्नत देशों में आजकल हो रहा है, तब केवल मुद्रा पर नियंत्रण स्थापित करने से साख पर नियंत्रण स्थापित नहीं हो सकता। क्योंकि केवल मुद्रा का करंसी पर नियंत्रण स्थापित हो जाने से बैंकों की जमा या डिपाजिट अथवा बैंक द्रव्य (Bank Money) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अस्तु; एक ऐसे देश में जहाँ कि चेक का व्यवहार अधिक होता है, केन्द्रीय बैंक (Central Bank) को बैंकों की जमा या डिपाजिट पर भी नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

भारत में क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के तीन मुख्य रूप हैं:—

रुपये का सिक्का, कागज़ी मुद्रा अर्थात् करंसी नोट तथा बैंकों की जमा या बैंक डिपाज़िट। इनमें रुपये का सिक्का अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसका व्यवहार अपेक्षाकृत कम ही है, अतएव भुगतान करने के मुख्य साधन या तो करंसी नोट हैं या वे बैंक डिपाज़िट (जमा) हैं जिन पर चेक काटे जा सकते हैं। इनमें भी चेकों का चलन तेज़ी से बढ़ रहा है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि भारत में करंसी नोटों के चलने से चेकों का चलन अधिक है, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि चेकों का महत्त्व काफ़ी है और शीघ्र ही वह समय आने वाला है जबकि भारत में भी चेकों का चलन करंसी नोटों से बहुत अधिक बढ़ जावेगा।

यही कारण है कि रिज़र्व बैंक को करंसी पर पूरा नियंत्रण स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है, अर्थात् रिजर्व बैंक को कागजी मुद्रा अर्थात् करंसी नोट निकालने का अधिकार प्राप्त है। रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व करंसी नोट निकालने का कार्य तो सरकार करती थी और कुछ सीमा तक साख का नियंत्रण इम्पीरियल बैंक के हाथ में था। भारतीय द्रव्य बाज़ार की यही दुर्बलता थी जो कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त दूर हो गई। रिज़र्व बैंक को कानून द्वारा शिड्यूल बैंकों के बैलैंस को रखने का अधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक के पास सरकारी कोष (Funds) भी रहता है तथा उसको सरकार का बैंकर होने का भी गौरव प्राप्त है। इन सुविधाओं से रिज़र्व बैंक को साख पर नियंत्रण स्थापित करने में बहुत सुविधा होती है। इन अधिकारों और सुविधाओं के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक ऐक्ट में रिज़र्व बैंक को आवश्यकता पड़ने पर सीधे जनता से व्यवहार करने की आज्ञा दे दी गई है। ऐक्ट की धारा १८ के अनुसार यदि भारत के व्यापार-व्यवसाय और कृषि के हितों में यह आवश्यक प्रतीत हो, तो रिज़र्व बैंक सीधे बिलों को भुना सकता है और ऋण दे सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि रिज़र्व बैंक बिना शिड्यूल बैंक या प्रान्तीय सहकारी बैंक की दलाली या मध्यस्थता के खुले बाज़ार (Open Market) का कारबार कर सकता है। यह अधिकार रिज़र्व बैंक साधारणतः काम में नहीं लावेगा। यह असाधारण अवसरों पर ही काम में लाया जा सकता है।

रिज़र्व बैंक और साख का नियंत्रण—रिज़र्व बैंक साख (Credit) का नियंत्रण करने में कहाँ तक सफल हुआ है इसके निर्णय में एक कठिनाई यह है कि यद्यपि रिज़र्व बैंक को स्थापित हुए इतने वर्ष हो गए किन्तु अभी थोड़े समय पहले तक उसकी साख-नियंत्रण-शक्ति की परीक्षा होने का कोई अवसर नहीं आया था क्योंकि जब से रिज़र्व बैंक की स्थापना हुई है तब से द्रव्य-बाज़ार में प्रायः द्रव्य (Money) की बहुतायत ही रही। अतएव द्रव्य-बाज़ार को रिज़र्व

बैंक की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। पर पिछले वर्षों में (१६५० और १६५१ में) बाज़ार में द्रव्य की कमी रही और बैंकों ने साख की मात्रा में यथेष्ट प्रसार किया। आरंभ में तो रिज़र्व बैंक ने कोई नियंत्रण किया नहीं पर नवंबर १६५१ में बैंक रेट को ३% से ३½% कर दिया गया और सरकारी प्रतिभूतियों से रिज़र्व बैंक ने अपना समर्थन वापिस कर लिया, अर्थात् बैंक ने यह घोषणा कर दी कि विशेष स्थिति को छोड़कर १६५१-५२ के तेज़ी के महीनों (बिज़ी सीज़न) में वह शेड्यूल्ड बैंकों से सरकारी प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदेगा। रिज़र्व बैंक की रेट बढ़ते ही इम्पीरियल बैंक तथा दूसरे बैंकों ने भी अपनी ब्याज की दरें कई बार बढ़ाईं और रिज़र्व बैंक के पास उनको साख के लिये जाना पड़ा। रिज़र्व बैंक ने अपनी दर जब बढ़ा दी तो उसके बाद इम्पीरियल बैंक की हुंडी रेट ४% से ४½%, एडवांस रेट ३½% से ४%, ५ लाख और ऊपर के ऋणों की काल रेट ३% से ३½% और उससे कम की काल रेट २½% से ३⅓% तक बढ़ गई है। इसी प्रकार बम्बई में और बैंकों की काल रेट १% से २⅜%, तीन महीने की डिपोज़िट रेट २½% से ३% और छः महीने की २½% से २¾% हो गई। रिज़र्व बैंक साख नियंत्रण में सफल हुआ यह स्पष्ट है। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन मार्च १६५२)

भारतीय द्रव्य बाज़ार की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो कि अन्य देशों में नहीं पाई जातीं और उनसे यह संदेह होने लगता है कि क्या रिज़र्व बैंक वास्तव में साख का नियंत्रण करने में सफल होगा। पहली विशेषता तो यह थी कि इम्पीरियल बैंक का भारतीय द्रव्य बाज़ार में अत्यधिक प्रभाव है, किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे इम्पीरियल बैंक के इस अत्यधिक प्रभाव से रिज़र्व बैंक का प्रभाव कम नहीं होता। इम्पीरियल बैंक की भारतीय द्रव्य बाज़ार (Indian Money Market) में विशेष परिस्थिति के कारण साख के नियंत्रण की यहाँ एक नई पद्धति का आविर्भाव हुआ जो रिज़र्व बैंक और द्रव्य बाज़ार के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

भारतीय द्रव्य बाज़ार की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ विनिमय बैंकों (एक्सचेंज बैंकों) का एक ऐसा प्रभावशाली समूह है कि जो यदि चाहे तो रिज़र्व बैंक की साख नीति (Credit Policy) को असफल कर दे सकता है, क्योंकि उनकी लन्दन-द्रव्य बाज़ार में सीधी पहुँच है। किन्तु अब जैसी राजनैतिक स्थति है एक्सचेंज बैंकों का यह साहस नहीं हो सकता है कि वे रिज़र्व बैंक की भारतीय हितों की दृष्टि से निर्धारित नीति के विरुद्ध कार्य करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनके विरुद्ध सरकार को कार्यवाही करनी पड़ सकती है। अस्तु; एक्सचेंज बैंकों तथा रिज़र्व बैंक में संघर्ष होने की सम्भावना नहीं है। अभी बैंक रेट बढ़ने पर एक्सचेंज

बैंकों ने भी अपनी दरें बढ़ाईं यह इसका प्रमाण है।

कुछ विद्वानों या यह मत है कि भारत जैसे देश में जहाँ कि द्रव्य-बाजार असंगठित है, रिज़र्व बैंक का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। किन्तु भारत में तथा अन्य देशों में जहाँ कि द्रव्य-बाजार संगठित नहीं है, वहाँ के अनुभव ने हमें यह बतला दिया है कि ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में वहाँ के केन्द्रीय बैंकों (Central Banks) का द्रव्य-बाज़ार पर पूरा प्रभाव पड़ता है।

भारतीय द्रव्य-बाज़ार पर रिज़र्व बैंक का प्रभाव इसी से ज्ञात होता है कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व बाज़ार में जो मौसमी द्रव्य की कमी पड़ती थी और बैंक की सूद की दर बहुत अधिक घटती-बढ़ती थी वह रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद दूर हो गई और वर्ष भर बैंक रेट एक समान रहती है। यही नहीं कि रिज़र्व बैंक की स्थापना के उपरान्त बैंक रेट कम हो गई, साथ ही उसमें घटा-बढ़ी भी बहुत कम हो गई।

सूद की भिन्न-भिन्न दरों में भी कमी ही नहीं आई है वरन् उनका आपसी अन्तर भी कम हो गया है। इसका एक कारण सम्भवतः रिज़र्व बैंक की स्थापना है। रिज़र्व बैंक की स्थापना से भारत में बैंकों को प्रोत्साहन मिला है, बैंकिंग पद्धति में सुधार हुआ है और रिज़र्व बैंक के नियंत्रण और नेतृत्व के फलस्वरूप बैंकिंग की इस देश में उन्नति हुई है। सर्व-साधारण का शिड्यूल बैंकों पर अधिक विश्वास बढ़ा है और उनके कारण देश में चेक का अधिक प्रचलन हुआ है। रिज़र्व बैंक सरकारी हुंडियों (Treasury Bills) के बाज़ार का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहा है। यदि वह इसमें सफल हुआ तो रिज़र्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर अधिकाधिक नियंत्रण स्थापित हो जावेगा।

रिज़र्व बैंक और इम्पीरियल बैंक—यह कहा जा सकता है कि इम्पीरियल बैंक का भारतीय द्रव्य-बाज़ार में इतना अधिक प्रभाव होने से रिज़र्व बैंक की प्रतिष्ठा को आघात पहुँच सकता है और उसके सफलतापूर्वक कार्य करने में बाधा उपस्थित हो सकती है। यदि दोनों महान् प्रभावशाली संस्थाओं के परस्पर सम्बन्ध अच्छे न होते तब ऐसी सम्भावना हो सकती थी, किन्तु भाग्यवश ऐसी कोई भी सम्भावना नहीं है। दोनों बैंकों के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं और दोनों ही अपने कर्तव्य और कार्यों को भले प्रकार समझते हैं। यदि रिज़र्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर साख (Credit) का निर्माण करता है तो इम्पीरियल बैंक उसका थोक व्यापारी (Wholesale Dealer) बनकर उसे व्यापारिक बैंकों को बेचता है और व्यापारिक बैंक उसे जनता के हाथ बेचते हैं। यद्यपि शिड्यूल बैंक रिज़र्व बैंक से सीधे ऋण ले सकते हैं, किन्तु वे कानूनी [illegible]

इम्पीरियल बैंक के पास आर्थिक सहायता के लिये जाना अधिक पसन्द करते हैं। पहला कारण तो यह है कि इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों का बहुत पुराना सम्बन्ध स्थापित है, दूसरे रिज़र्व बैंक से ऋण तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करने में इम्पीरियल बैंक की अपेक्षा कठिनाइयां अधिक हैं। इम्पीरियल बैंक ऋण अथवा आर्थिक सहायता देने में कानूनी बन्धनों से इतना अधिक जकड़ा नहीं है जितना कि रिजर्व बैंक। यदि इम्पीरियल बैंक को, किसी व्यापारिक बैंक की आर्थिक स्थिति अच्छी है, ऐसा विश्वास हो जावे, तो वह ऋण देने में अधिक उदार हो सकता है।

रिजर्व बैंक और बाज़ार-मार्केट—अभी तक हमने रिज़र्व बैंक का संगठित द्रव्य-बाज़ार किस प्रकार नियंत्रण हो सकता है इसका उल्लेख किया। जहां तक बाज़ार-मार्केट का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक का उस पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ सकता। जब तक कि देशी बैंकर तथा साहूकार अपनी व्यापार-पद्धति को नहीं बदलते तब तक रिज़र्व बैंक उनकी कोई सहायता नहीं कर सकता और न वे रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण में ही आ सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि रिज़र्व बैंक के पास बाजार-मार्केट को सीधे प्रभावित करने के अधिकार नहीं हैं तो वह उस पर बिल्कुल प्रभाव नहीं डाल सकता। यह सभी जानते हैं कि देशी बैंकरों को जो बाज़ार-मार्केट में कारबार करते हैं, परिस्थिति से विवश होकर इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण या आर्थिक सहायता लेनी पड़ती है। वे अपने बिलों को इन बैंकों से भुनाते हैं और स्वीकृत सिक्यूरिटियों की ज़मानत पर ऋण लेते हैं। जहां तक उन्हें अपने बाज़ार की परिस्थितियों से विवश होकर सगठित द्रव्य-बाज़ार में सहायता के लिए आना पड़ता है, वे रिज़र्व बैंक के अप्रत्यक्ष प्रभाव में आते हैं। इसके अतिरिक्त पिछले दिनों में इम्पीरियल बैंक की हुन्डी रेट और बाज़ार रेट में जो समानता दृष्टिगोचर होती है वह इस बात को बतलाती है कि दोनों बाज़ारों में सम्बन्ध बढ़ रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि रिज़र्व बैंक का प्रभाव बढता जा रहा है।

साख के नियंत्रण के उपाय—केन्द्रीय बैंक (Central Bank) साख (Credit) का नियन्त्रण करने के लिए दो उपाय काम में लाता है। एक तो बट्टा-दर (Discount rate) घटा-बढ़ा कर केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है, दूसरे खुले बाज़ार में व्यवहार (Open Market Operations) करके। हम यहां रिज़र्व बैंक के सम्बन्ध में इन दोनों उपायों का उल्लेख करेंगे।

बट्टा-दर (Discount Rate)—बट्टा-दर प्रभावशाली है अथवा नहीं

यह केवल उसके स्तर (Level) से ही नहीं जाना जा सकता वरन् इसका निर्णय करने में हमें यह भी देखना चाहिये कि रिज़र्व बैंक की दृष्टि में कौन से व्यापारिक पत्र (Commercial Papers) भुनाने के तथा ऋण के आधार स्वरूप किये जाने के योग्य हैं और उन व्यापारिक पत्रों का द्रव्य-बाज़ार में क्या महत्त्व है।

जहाँ तक कि बट्टा-दर (Discount Rate) का प्रश्न है, रिज़र्व बैंक की बट्टा दर, जब से वह स्थापित हुआ है तब से १५ नवंबर तक, तीन प्रतिशत रही है। १५ नवंबर १९५१ से यह दर बढ़कर ३½% होगई है। इसका प्रभाव द्रव्य बाज़ार पर कारगर हुआ यह हम ऊपर लिख चुके हैं।

जहाँ तक रिज़र्व बैंक को कुछ व्यापारिक पत्रों (Commercial Papers) को भुनाने और उनके आधार पर ऋण देने का अधिकार प्राप्त है उसका हम दो दृष्टियों से अध्ययन कर सकते हैं। पहला तो यह कि रिज़र्व बैंक इस अधिकार का उपयोग साख का नियंत्रण करने के लिए कर सकता है, दूसरे यह कि रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों की आड़े समय में केवल उन्हीं व्यापारिक पत्रों (अर्थात् बिलों और सिक्यूरिटियों) को स्वीकार करके आर्थिक सहायता कर सकता है। व्यापारिक बैंकों को आड़े समय में आर्थिक सहायता करने के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक ने अपनी नीति को स्पष्ट कर दिया है। वह इस प्रकार है :—

यद्यपि रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक कुछ सिक्यूरिटियों (जिनके सम्बन्ध में पहले कह आये हैं) के विरुद्ध व्यापारिक बैंक को साख देकर उनकी सहायता कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी भी बैंक को, जो स्वीकार योग्य व्यापारिक पत्र तथा सिक्यूरिटी दे सके उसे ऋण देने या आर्थिक सहायता करने पर विवश है। रिज़र्व बैंक किसी भी बैंक को आर्थिक सहायता देते समय इस बात का ध्यान रक्खेगा कि उस बैंक ने अपना रुपया ठीक तरह लगाया है अथवा नहीं, अथवा वह आवश्यकता से अधिक सूद देकर तो डिपाज़िट आकर्षित नहीं करता है ; क्या वह, जब बाज़ार में यथेष्ट कोष (Funds) होता है तब भी रिज़र्व बैंक से सहायता चाहता है और क्या वह सट्टे (Speculation) के लिए साख देता रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि रिज़र्व बैंक किसी बैंक की आर्थिक सहायता, स्वीकार योग्य बिल या सिक्यूरिटी लेकर, तभी करेगा जब उसे विश्वास होगा कि सहायता माँगने वाले बैंक ने बैंकिंग के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की है और उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है।

खुले बाज़ार व्यवहार (Open Market Operations)—बट्टा-दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक को खुले बाज़ार में

व्यवहार करने का भी अधिकार दे दिया गया है। संक्षेप में खुले बाज़ार के व्यवहारों से अर्थ यह है कि रिज़र्व बैंक सरकारी सिक्यूरिटियों को खरीद और बेच कर व्यापारिक बैंक के नकद कोष (Cash Balances) में वृद्धि या कमी करता है और इस प्रकार वह व्यापारिक बैंकों को अप्रत्यक्ष रूप से साख का अधिक निर्माण करने या साख को कम करने पर विवश करता है। रिज़र्व बैंक खुले बाजार में किस प्रकार की सिक्यूरिटियों (प्रतिभूतियों) की खरीद-बिक्री कर सकता है उनका ऐक्ट में उल्लेख कर दिया गया है।

अन्य उपाय—ऊपर लिखे दो मुख्य उपायों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक को जनता से सीधा कारबार करने का भी अधिकार है। किन्तु इस अधिकार को रिज़र्व बैंक विशेष अवस्था में ही काम में ला सकता है। जनता सीधे अपने बिलों को रिज़र्व बैंक से भुना सकती और स्वीकार योग्य सिक्यूरिटी पर आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकती है। इस अधिकार के फलस्वरूप रिज़र्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर बहुत अधिक प्रभाव स्थापित हो गया है। यदि व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक के द्वारा निर्धारित नीति के विरुद्ध आचरण करते हैं तो रिज़र्व बैंक उस अधिकार का उपयोग कर सकता है। अतएव व्यापारिक बैंक का रिज़र्व बैंक की नीति के विरुद्ध आचरण करने का कभी साहस ही नहीं हो सकता।

अन्य उपायों में साख की राशनिंग करना तथा सदस्य बैंकों या शिड्यूल बैंकों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करने का इस देश में अधिक महत्व नहीं है, क्योंकि व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक से अधिक ऋण नहीं लेते। विज्ञप्ति (Publicity) का संयुक्त राज्य अमेरिका में साख को नियन्त्रित करने में सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है, किन्तु भारत में इसका अधिक उपयोग नहीं हो सकता; क्योंकि व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक से अधिकतर ऋण नहीं लेते। हाँ, रिज़र्व बैंक का नैतिक प्रभाव अवश्य कारगर हो सकता है। जैसे-जैसे रिज़र्व बैंक भारत के व्यापारिक बैंकों के अधिक सम्पर्क में आता जावेगा वह अपना नैतिक प्रभाव उनके कारबार पर डालने में सफल होगा और व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक की साख सम्बन्धी नीति को स्वतः स्वीकार कर लेंगे।

रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—कुछ समय से भारतवर्ष में यह विवाद चल रहा था कि रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नहीं। अन्त में सरकार ने रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और ३ सितम्बर १९४८ को रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी बिल पास होने पर यह विवाद समाप्त हो गया।

१ जनवरी १९४९ से रिज़र्व बैंक की नवीन व्यवस्था हो गई। भारत-

सरकार ने रिज़र्व बैंक के सारे हिस्से ११८ रुपये १० आना प्रति हिस्से के हिसाब से खरीद लिए और इस प्रकार रिज़र्व बैंक भारत सरकार का बैंक हो गया। हिस्सों के एवज़ में भारत सरकार ने कुछ तो नकद दिया और कुछ ३ प्रतिशत ब्याज के प्रोमिसरी नोट दिये गये।

बैंक की व्यवस्था और प्रबन्ध पहले की ही भाँति केन्द्रीय तथा स्थानीय बोर्ड करेंगे। केन्द्रीय बोर्ड का संगठन इस प्रकार का होगा :—

(क) एक गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी।

(ख) चार डायरेक्टर चारों स्थानीय बोर्डों में से केन्द्रीय सरकार मनोनीत करेगी।

(ग) ६ डायरेक्टर केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किए जावेंगे।

(घ) एक सरकारी कर्मचारी सरकार मनोनीत करेगी।

स्थानीय बोर्डों में प्रत्येक में पाँच डाइरेक्टरों की नियुक्ति पाँच साल की बजाय अब चार साल के लिये ही होगी, जिन्हें केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी। स्थानीय बोर्ड चार होंगे।

केन्द्रीय सरकार बैंक के गवर्नर की सलाह से बैंक को उचित परामर्श देगी जो कि बैंक के हित में हो।

देश की बैंकिंग व्यवस्था को रिज़र्व बैंक से सहायता—प्रायः कई नहीं जानने वाले लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि रिज़र्व बैंक की नीति दूसरे बैंकों के बारे में सहानुभूति की नहीं रहती है। जब शिड्यूल बैंक या कोपरेटिव बैंकों को आवश्यकता होती है या वे किसी कठिनाई में होते हैं तो बैंक उनकी पूर्ण सहायता नहीं करता। पर वास्तव में बैंक पर इस प्रकार का दोष लगाना ठीक नहीं है। पिछले दस वर्षों में रिज़र्व बैंक ने शिड्यूल बैंकों को डूबने से बचाने के लिये जो भी प्रयत्न वह कर सकता था बराबर किया है। बैंक शिड्यूल बैंकों या कोपरेटिव बैंकों को ट्रस्टी सिक्यूरिटियों के आधार पर ऋण दे सकता है। और जब जब ऐसा अवसर आया है बैंक ने बराबर सहायता की है। १९४८ में २१·२५ करोड़ और १९४९ में ३४·७५ करोड़ रुपये इस प्रकार रिज़र्व बैंक ने शिड्यूल बैंकों को [illegible] १९४९ में [illegible] के रूप में दिये। कोपरेटिव बैंकों को १९४८ में १·२२ करोड़ और १९४९ में [illegible] करोड़ रुपया ट्रस्टी सिक्यूरिटीज़ के आधार पर एडवांस किया गया था। [illegible] से १९४७ तक केवल १९४६ को छोड़कर बाकी के वर्षों में [illegible] और कोपरेटिव बैंकों ने बहुत कम सहायता ली क्योंकि [illegible] तर्गा नहीं थी। उपर्युक्त १० वर्षों में कुल ४२·४८ करोड़ रुपये [illegible] सहायता के रूप में दिये जिसमें २५·०२ करोड़ केवल १९४९ में ही [illegible]।

पर १९४८ और १९४९ में रुपये की तंगी होने से बैंक ने काफ़ी सहायता की। बैंक से अधिकांश सहायता थोड़े समय के लिये ही ली गई है। ऐसी सहायता जो रुपये की भारी माँग को पूरा करने के लिए ली गई है बहुत थोड़ी रही है। आपत्ति के समय या कृषि सहायता के लिए दिये गए रुपयों पर रिज़र्व बैंक ब्याज भी ३% से कम लेता है। २% और कोपरेटिव बैंकों को १½% सूद पर भी रिज़र्व बैंक रुपया एडवांस करता है।

इसके अलावा रिज़र्व बैंक ने आगे होकर ऐक्ट में भी १९४७ में यह संशोधन करवा लिया है कि किसी संकट की स्थिति में बैंक को इस बात की पूरी आजादी रहे कि वह चाहे जिस प्रकार की सिक्यूरिटी के आधार पर रुपया एडवांस करदे और ट्रस्टी सिक्यूरिटी का बंधन उस पर ऐसे अवसरों पर लागू न रहे। एक्सचेंज बैंक ऑव इंडिया और अफ्रीका लि० को बैंक ने इसी आधार पर सहायता दी, पर वह बैंक डूबने से नहीं बचाया जा सका।

रिज़र्व बैंक की सहायता देने की गुञ्जाइश बढ़ाने का एक उपाय यह है कि देश में गोदामों की जगह-जगह व्यवस्था हो ताकि उनमें माल जमा कराकर उनकी रसीद के आधार पर रिज़र्व बैंक से रुपया एडवांस कराया जा सके, जो कि कानून से संभव है। क्योंकि रिज़र्व बैंक शिड्यूल बैंकों को उनके डिमान्ड प्रोमिसरी नोट के आधार पर उस दशा में एडवांस दे सकता है जब ऐसे प्रोमिसरी नोटों के साथ 'डोक्यूमेंट ऑव टाइटल टू दी गुड्ज़' हों। गोदाम की रसीद इस प्रकार के डोक्यूमेंट का काम दे सकती है। रूरल बैंकिंग कमेटी ने भी यह सिफ़ारिश की है कि केन्द्रीय सरकार और रिज़र्व बैंक मिलकर 'वेयर हाउस डेवेलपमेंट बोर्ड' बनायें जो गोदाम बनाने के लिये बैंकों आदि को सहायता दे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था की अपनी शक्ति भर सहायता की है। आगे भी वह ऐसा ही करेगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

(६) पोस्ट आफिस, ऋण कार्यालय (Loan Offices), निधि, तथा चिट फंड—पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक—पोस्ट आफिस भी भारत में सेविंग्स बैंक का कारबार करते हैं और इस प्रकार वे भी द्रव्य बाज़ार के एक अंग है। पोस्ट आफिस निम्नलिखित बैंकिंग कार्य करते हैं। वे सेविंग्स बैंक का काम करते हैं, कैश सर्टिफिकेट बेंचते हैं, नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट देते हैं, सरकारी सिक्यूरिटियों की खरीद और बिक्री करते हैं तथा जीवन बीमा करते हैं।

सभी हेड पोस्ट आफिसों में, सब-पोस्ट आफिसों में तथा बहुत से ब्रांच पोस्ट आफिसों में सेविंग्स बैंक का काम होता है। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों,

मजदूरों तथा मध्यम श्रेणी के लोगों में मितव्ययिता की भावना जाग्रत करना है। किन्तु पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंकों में अधिकांश मध्यम श्रेणी के ही व्यक्ति अपनी बचत जमा करते हैं। इनमें अधिकतर सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी कर्मचारी, वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा अन्य पेशे वाले लोग ही अपना रुपया जमा करते हैं।

पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में अधिक से अधिक पांच हज़ार रुपये जमा किये जा सकते हैं। पहले यह नियम था कि एक वर्ष में कोई ७५० रु० से अधिक जमा नहीं कर सकता था किन्तु अब यह बंधन हटा दिया गया है। कोई भी व्यक्ति ५ हज़ार रुपये तक एक बार में जमा कर सकता है। कम से कम दो रुपये जमा किये जा सकते हैं। सेविंग्स बैंक में अब दो सौ रुपये से कम पर १½ प्रतिशत और २०० रुपये से ऊपर २ प्रतिशत सूद दिया जाता है। कोई भी व्यक्ति रुपया जमा कर सकता है। रुपया एक सप्ताह में केवल एक बार निकाला जा सकता है।

भारतवर्ष में पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक की स्थापना १८८२ में हुई। तब से उसमें जमा करने वालों की संख्या तथा जमा किया हुआ रुपया बराबर बढ़ता ही गया। पहले महायुद्ध के आरम्भ होने पर (१९१४-१५) अवश्य लोगों में घबराहट फैल गई और लोगों ने करोड़ों रुपया निकाल लिया, परन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास फिर लौट आया और डिपाज़िट बढ़ने लगीं। १९३०-३१ में आर्थिक मंदी के कारण जितना रुपया जमा हुआ उससे अधिक रुपया निकाला गया किन्तु फिर डिपाज़िट की वृद्धि होने लगी। ३१ मार्च १९३८ में ३३.९ करोड़ जमा करने वाले थे और ७७.५ करोड़ रुपये की डिपाज़िट थी। जब दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ और जापान का आक्रमण हो गया तो जनता में फिर घबराहट फैली और लोगों ने अपना रुपया निकालना आरम्भ कर दिया, किन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास लौट आया और डिपाज़िटों में वृद्धि होने लगी। १९५०-५१ के अन्त में पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में ५८८.८२ करोड़ रुपये थे। इसमें देश के विभाजन के पहले की रकम से भारत के हिस्से की रकम शामिल नहीं है।

पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में सुधार—केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सम्मति थी कि अधिकतम जमा करने की सीमा पांच हज़ार से बढ़ा कर दस हज़ार रुपया कर देना चाहिये। कुछ चुने हुए पोस्ट आफिसों में सेविंग्स बैंक हिसाब से चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा प्रदान करना चाहिए और क्रमशः अधिकाधिक पोस्ट आफिसों में इस प्रकार की सुविधा दे देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सेविंग्स बैंक हिसाब को संयुक्त नामों में खोले जाने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। रुपया जमा करने वालों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने

उत्तराधिकारी को मनोनीत कर दें जो कि उनकी मृत्यु के उपरान्त उसका मालिक हो। इससे यह झंझट नहीं रहेगा कि रुपया जमा करने वाले का उत्तराधिकारी अपने अधिकार को प्रमाणित करे। ऊपर लिखे सुधारों की आवश्यकता तो केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने भी बतलाई किन्तु हम यहाँ नीचे अन्य सुधारों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं—

(१) उन पोस्ट आफ़िसों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए जहाँ सेविंग्स बैंक हिसाब खोला जा सके। यदि इस प्रकार के पोस्ट आफ़िसों को पूरे सप्ताह भर खोलना लाभदायक न हो तो वहाँ वे केवल सप्ताह में दो बार खोले जावें।

(२) स्कूल के अध्यापकों का इन पोस्ट आफ़िसों के चलाने के लिए उपयोग किया जावे।

(३) सप्ताह में कम से कम दो बार रुपया निकालने की सुविधा दी जावे और यदि सम्भव हो तो तीन बार रुपया निकाला जा सके। चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा देना आवश्यक है।

(४) हिसाब हिन्दी में अथवा जमा करने वाले की इच्छानुसार प्रान्तीय भाषा में रक्खा जावे।

(५) औद्योगिक केन्द्रों में—जहाँ मज़दूर रहते हों वहाँ—कुछ पोस्टआफिस-सेविंग्स बैंक ऐसे स्थापित किये जावें जहाँ सेविंग्स बैंक का काम सायंकाल को हो सके और मज़दूर तथा छोटे दुकानदार उसका उपयोग कर सकें।

यदि इस प्रकार पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में आवश्यक सुधार हो जावें तो वे सर्वसाधारण में मितव्ययिता की भावना जाग्रत कर सकते हैं और उनका अधिकाधिक उपयोग हो सकता है। अभी उसकी कार्य-पद्धति में कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण उसका अधिक उपयोग नहीं होता।

पोस्ट आफिस कैश सर्टिफिकेट तथा नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट—प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९) से पोस्ट आफिसों ने कैश सर्टिफिकेट निकालना आरंभ किया है। इन सर्टिफिकेटों को निकालने का उद्देश्य यह है कि जनता में रुपया बचाने की प्रवृत्ति बढ़े। कैश सर्टिफिकेटों में अधिकतर मध्यम श्रेणी के पेशेवर लोग तथा सरकारी और अर्द्ध सरकारी कर्मचारी अपनी बचत को लगाते हैं। कारण यह है कि इनमें सूद अच्छा मिलता है और जोखिम बिलकुल नहीं है। मध्यम श्रेणी के लोग अधिकतर पोस्ट आफिस कैश सर्टिफिकेटों तथा नव प्रचलित नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेटों में ही अपना रुपया लगाते हैं। यह सर्टिफिकेट पाँच वर्ष के होते हैं और कोई व्यक्ति १०,००० रुपये से अधिक के सर्टिफिकेट नहीं रख सकता। कैश सर्टिफिकेट १० रु० से लेकर १ हज़ार रुपये तक के होते हैं। जब पाँच वर्ष के

उपरान्त सर्टिफिकेट की अवधि समाप्त हो जाती है तो उसकी जो रकम मिलती है उसमें और उस सर्टिफिकेट के खरीदने में जो मूल्य देना पड़ता है उसका अन्तर ही सूद होता है। इस पर आय-कर नहीं देना पड़ता। १६३६ के पूर्व समय-समय पर सर्टिफिकेटों की कीमत में इस प्रकार परिवर्तन किया जाता रहा है कि सूद की दर घटती गई। आरम्भ में ६ प्रतिशत सूद मिलता था किन्तु १६३६ से सूद की दर २½ प्रतिशत चक्र व्याज की दर से रह गई है। यह सर्टिफिकेट समय पूरा होने से पहले भी भुनाए जा सकते हैं, किन्तु खरीदने के एक वर्ष के अन्दर भुनाने पर कोई सूद नहीं मिलता दूसरे वर्ष से सूद की दर बढ़ती जाती है किन्तु पूरा सूद तभी मिलता है जब कि पाँच वर्ष समाप्त हो जावें।

सर्टिफिकेटों का आकर्षण सूद की दर के अनुसार कम होता या बढ़ता रहा है। दूसरे महायुद्ध के पूर्व कैश सर्टिफिकेटों का मध्यम श्रेणी की जनता को बहुत आकर्षण था, क्योंकि सूद अच्छा मिलता था और उन पर आय-कर (Income-Tax) नहीं लिया जाता था। ३१ मार्च १६३६ को कैश सर्टिफिकेटों का मूल्य ६० करोड़ रुपये था। ३१ मार्च १६४३ को केवल ३५ करोड़ रुपये के कैश सर्टि-फिकेट रह गए। इसका कारण यह था कि बहुत से लोग युद्ध के कारण भयभीत हो गए कि कहीं रुपया डूब न जावे। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने कैश सर्टिफि-केटों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए इस बात की सिफारिश की थी कि प्रत्येक व्यक्ति को जो कि सर्टिफिकेट खरीदे इस बात का अधिकार दिया जावे कि वह अपने मरने पर वह रुपया किसको मिले उसका नाम घोषित कर दे। देश के विभाजन के बाद से कैश सर्टीफिकेट की मात्रा बराबर कम होती जा रही है क्योंकि पुरानों का चुकारा किया जा रहा है और नयों का जारी होना बंद कर दिया गया है।

नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट—नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट द्वितीय महा-युद्ध के समय निकाले गए थे। यह बारह वर्षों के लिए होते हैं। सर्टिफिकेट खरीदने वाला उन्हें कभी भी भुना सकता है किन्तु पहले ३ वर्षों में कोई सूद नहीं मिलता और उसके उपरान्त क्रमशः सूद की दर बढ़ती जाती है। १२ वर्ष पूर्ण हो जाने पर आरम्भ में लगाया हुआ रुपया ड्योढ़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति १००० रुपये के कैश सर्टिफिकेट लेता है तो १२ वर्ष के उपरान्त उसको १५०० मिलेंगे। एक व्यक्ति २५ हजार रुपये से अधिक के नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट नहीं खरीद सकता। इन पर भी आय-कर नहीं लिया जाता। नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेटों पर सूद की दर अच्छी है तथा जोखिम बिलकुल नहीं है इस कारण मध्यम श्रेणी का व्यक्ति उनकी ओर अधिक आकर्षित होता है। यदि

खरीदने वाले को यह सुविधा दे दी जावे कि वह अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सके जिसे उसकी मृत्यु के उपरान्त रुपया दिया जावे तो यह और भी अधिक प्रचलित हो सकते हैं। १९५०-५१ के अन्त में लगभग ५८ करोड़ के नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट थे।

इन कार्यों के अतिरिक्त पोस्ट आफिस जनता के लिए सरकारी सिक्यूरिटियों (प्रतिभूतियों) को खरीदने और बेचने का काम भी करता है। इस कार्य के लिए पोस्ट आफिस कोई फीस नहीं लेता। किन्तु एक वर्ष में पोस्ट आफिस किसी एक व्यक्ति के लिए ५००० रु० से अधिक की सिक्यूरिटी नहीं खरीदेगा। कोई भी व्यक्ति चाहे तो सिक्यूरिटी स्वयं ले सकता है अथवा डिप्टी अकाउन्टैंट जनरल की सुरक्षा में छोड़ सकता है। उसकी सिक्यूरिटियों को सुरक्षित रखने के लिए पोस्ट आफिस कुछ नहीं लेता।

इसके अतिरिक्त पोस्ट आफिस सरकारी कर्मचारियों, म्युनिस्पैलिटी, ज़िला बोर्ड तथा विश्वविद्यालयों के कर्मचारियों का जीवन बीमा भी करता है।

ऋण कार्यालय (Loan Offices)—ऋण कार्यालय बंगाल की एक विशेष संस्था है। यह देशी बैंकरों तथा मिश्रित पूँजी वाले बैंकों (Joint Stock Banks) के बीच की संस्था है। भारत के अन्य प्रान्तों में जब १८६०-७० के आस-पास मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंकों की स्थापना हुई तब बंगाल में इन बैंकों का उदय हुआ। पहला ऋण कार्यालय (Loan Office) १८६५ में स्थापित हुआ। इनकी रजिस्ट्री कम्पनी ऐक्ट के अन्तर्गत होती है। यह अधिकतर बंगालियों द्वारा स्थापित किए गए हैं और वे ही इनका सचालन करते हैं। इनकी संख्या लगभग १००० है तथा उनकी कार्यशील पूँजी ९-१० करोड़ रुपये है। इनकी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) बहुत कम होती है। बहुत कम ऐसे ऋण गृह हैं जिनकी चुकता पूँजी एक लाख से अधिक हो। यह अधिकतर डिपाज़िटों पर निर्भर रहते हैं, क्योंकि वे ऋण पत्र अर्थात् डिबेंचर नहीं निकालते और जो नये हैं उनका रक्षित कोष (Reserve Fund) भी बहुत कम है। यह मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों से डिपाज़िट लेते हैं। यह एक वर्ष से ७ वर्षों तक के लिए डिपाज़िट लेते हैं और ४ से ८ प्रतिशत तक सूद देते हैं। अधिक्तर डिपाज़िट ५ वर्षों के लिये होती हैं।

यह ऋण कार्यालय मुख्यतः ज़मीदारों तथा उन किसानों को जिनका भूमि पर अधिकार है, भूमि बंधक रखकर ऋण देते हैं। एक प्रकार से यह भूमि बंधक बैंक (Land Mortgage Banhs) हैं। इसके अतिरिक्त यह जेवर रखकर भी ऋण दे देते हैं। परन्तु यह व्यापार या धन्धों के लिये बहुत कम ऋण देते हैं।

इनमें से कुछ व्यापार में भी अपना रुपया लगाते हैं। पुरानी कम्पनियां सुरक्षित ऋण पर १२ से १८ प्रतिशत सूद लेती हैं तथा अरक्षित ऋण (Unsecured Debt) पर इससे भी अधिक सूद लिया जाता है। नई कम्पनियाँ तो बहुत सूद लेती हैं। यह कम्पनियां डिपाज़िट आकर्षित करने के लिये दलाल रखती हैं और अत्यधिक सूद देती हैं। इनका प्रबन्ध ठीक नहीं है और वे अपना रुपया बहुत जोखिम के साथ लगाती हैं। यही कारण है कि अभी हाल ही के संकट में बहुत से बंगाली बैंक डूब गये क्योंकि वस्तुतः वे ऋण कार्यालय ही के थे।

निधि या चिट-फंड —निधियाँ मद्रास प्रान्त में पाई जाती हैं। आरम्भ में यह पारस्परिक ऋण देने वाली संस्थाओं के रूप में काम करती थीं, किन्तु क्रमशः वे अर्द्ध बैंकिंग संस्था बन गईं। इस समय मद्रास प्रान्त में २२८ निधियां काम कर रही हैं। वे कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर की गई हैं। वे या तो डिपाज़िटें लेती हैं अथवा हिस्सा पूँजी के रूप में मासिक किश्तों में रुपया स्वीकार करती हैं जो कि निकाला जा सकता है। उनका मुख्य उद्देश्य सदस्यों में बचत की भावना जाग्रत करना है, उनके पुराने ऋण को चुकाना तथा महाजन के चंगुल से निकालना तथा उनको उत्तम ज़मानत पर सभी कार्यों के लिए ऋण देना है। यदि निधि के पास अधिक रुपया होता है जिसकी सदस्यों के लिये कोई ज़रूरत नहीं है, तो बाहर वालों को भी ऋण दे दिया जाता है। निधियों में डिपाज़िट आकर्षित करने पर ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि वे अधिकतर रुपया हिस्सा पूँजी (Share-capital) के द्वारा प्राप्त करती हैं। निधियाँ सूद की दर पर ऋण देती हैं। साधारणतः वे ६¼ प्रतिशत पर सदस्यों को ऋण देती हैं, परन्तु समय पर न चुकाये जाने वाले ऋण पर वे अधिक सूद लेती हैं और उससे उनको खूब लाभ होता है। मद्रास बैंकिंग कमेटी का कथन था कि अधिकतर निधियों का संचालन और प्रबन्ध बहुत अच्छा था।

चिट-फंड—चिट-फंड थोड़े से लोगों का एक संगठन मात्र होता है जो एक दूसरे को रुपया उधार देने तथा बचत की भावना को जाग्रत करने के लिए स्थापित किया जाता है। यह अधिकतर मद्रास प्रान्त में पाए जाते हैं। इनकी ठीक-ठीक संख्या तो किसी को ज्ञात नहीं किन्तु यह कई हज़ार होंगे। इसका विधान इस प्रकार होता है :— कुछ लोग आपस में यह तय कर लेते हैं कि वे एक निश्चित रकम एक निश्चित समय पर अपने में से एक को दे दिया करेंगे। सदस्यों द्वारा पहली बार दिया हुआ रुपया चिट-फंड को स्थापित करने वाले को उसकी सेवाओं के उपलक्ष में मिल जाता है। इसके उपरान्त प्रत्येक बार का रुपया या तो बारी बारी से प्रत्येक सदस्य को मिलता रहता है अथवा

लाटरी डाल ली जाती है। उदाहरण के लिए १०० आदमी एक चिट-फंड स्थापित करते हैं और प्रत्येक प्रति मास दस रुपये फंड को दे देता है, तो पहले महीने का रुपया तो चिट-फंड के संस्थापक को मिल जावेगा और दूसरे महीने से १००० रु० या तो बारी-बारी से प्रत्येक सदस्य को मिलता रहेगा या लाटरी डाल दी जावेगी। जिस सदस्य को १००० रु० मिल गया उसको तब तक दुबारा रुपया नहीं मिल सकता जब तक बाकी सब सदस्यों को एक बार १००० रु० न मिल जावे। इससे एक लाभ यह होता है कि प्रत्येक सदस्य को एक मुश्त १००० रु० मिल जाते हैं जबकि उसके लिए सम्भवतः इतना रुपया एक साथ इकट्ठा करना कठिन हो जाता। किन्तु कभी-कभी चिट-फंड स्थापित करने वाले धोखा देते हैं और बेईमानी करते हैं तथा अन्य सदस्यों का रुपया मारा जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इनका प्रबन्ध ठीक हो। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी का मत था कि निधियों तथा चिट फंडों की ठीक व्यवस्था हो, इसके लिये एक कानून बना दिया जावे जिसके अन्तर्गत उनकी रजिस्ट्री हो।

(८) भारतीय समाशोधन गृह अर्थात् क्लियरिंग हाउस (Clearing House)—किसी भी देश में जब व्यापारिक बैंकों की स्थापना हो जाती है तो समाशोधन गृह (क्लियरिंग हाउस) की आवश्यकता पड़ती है। बिना क्लियरिंग हाउस के बैंकिंग व्यवसाय की उन्नति एक स्थान पर जाकर रुक जाती है। क्लियरिंग हाउस से होने वाले अनेकों लाभों को यहाँ गिनाना आवश्यक नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्लियरिंग हाउस की स्थापना से बैंक के कर्मचारियों को एक दूसरे से चेक तथा ड्राफ्ट इत्यादि का रुपया वसूल करने के लिए बार-बार जाना नहीं पड़ता, और न इन पुर्जों का भुगतान ही नकद रुपयों में करना पड़ता है जिससे मार्ग में रुपयों के लुट जाने का भय नहीं रहता। इसकी स्थापना से बैंकों को अधिक नकद कोष (Cash Balance) नहीं रखना पड़ता। क्लियरिंग हाउस की स्थापना से बैंक कम नकदी रखकर भी अपना काम चला सकते हैं। यह एक ऐसा लाभ है जिससे बैंकों की कार्यक्षमता बढ़ती है।

भारतवर्ष में नीचे लिखे स्थानों पर क्लियरिंग हाउस स्थापित हो चुके हैं और सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं :—बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, देहली, मद्रास, आगरा, इलाहाबाद, अहमदाबाद, अमृतसर, कालीघाट, कोयम्बटूर, देहरादून, जालंधर, लखनऊ, लायलपुर, मदुरा, मंगलौर, नागपुर, पटना, शिमला, बंगलौर राजकोट, और एलेपी हिन्दुस्तान में, तथा लाहौर, करांची, और रावलपिंडी पाकिस्तान में।

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में अभी क्लियरिंग

हाउस की सुविधा बहुत थोड़े से स्थानों पर है। यह बैंकिंग व्यवसाय के लि अनिवार्य आवश्यकता है। आज अधिकांश बड़े शहरों में यथेष्ट बैंक हैं परन्तु व क्लियरिंग हाउस स्थापित नहीं हुए हैं। रिज़र्व बैंक को इस ओर शीघ्र ध्यान दे चाहिये। बनारस, मेरठ, बरेली, जबलपुर, जमशेदपुर, सूरत, पूना जैसे व्यापारि नगरों में इतने अधिक बैंक होते हुए भी क्लियरिंग हाउस न होना किसी प्रक भी उचित नहीं कहा जा सकता।

सदस्यता —प्रत्येक स्थान की क्लियरिंग एसोसियेशन एक स्वतन्त्र संस्थ होती है और उसके अपने नियम होते हैं। परन्तु कुछ क्लियरिंग हाउस को छो कर अधिकांश स्थानों की क्लियरिंग एसोसियेशनों ने यह नियम बना दिया है कि जिस बैंक की चुकता पूँजी (Paid-up Capital) पाँच लाख रुपये हो व उसका सदस्य हो सकता है। कलकत्ता तथा कुछ अन्य क्लियरिंग हाउसों का निय यह है कि जिन बैंकों की चुकता पूँजी १० लाख रुपये हो वही उसके सदस्य हो सकते हैं। केवल शर्तें पूरी हो जाने मात्र से ही कोई बैंक क्लियरिंग हाउस का सदस्य नहीं बन जाता। बैंक को क्लियरिंग हाउस के मन्त्री को एक प्रार्थनापत्र देना पड़ता है जिसका प्रस्ताव और समर्थन क्लियरिंग हाउस के सदस्य ही कर सकते हैं। और जब तीन चौथाई सदस्य उस बैंक के पक्ष में अपना मत दें तभी वह बैंक सदस्य बन सकता है। इस नियम का परिणाम यह हुआ कि जिन व्यापारिक केन्द्रों में एक्सचेंज बैंक का प्रभाव तथा बहुमत था वहाँ भारतीय बैंकों को सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई हुई। होना यह चाहिये कि सदस्यता के नियम तनिक सरल बना दिये जायँ। जो भी शिड्यूल बैंक हों उन्हें क्लियरिंग हाउस का सदस्य स्वीकार कर लिया जावे।

उप-सदस्य—जो बैंक ऊपर की शर्तों को पूरा नहीं करते हैं अर्थात् जिनकी चुकता पूँजी १० लाख या ५ लाख से कम है और उनकी ब्रांच उस केन्द्र में है जहाँ क्लियरिंग हाउस है तो वे उप-सदस्य बनने की प्रार्थना कर सकते हैं। ऐसे बैंकों को एक प्रार्थनापत्र किसी सदस्य बैंक के द्वारा क्लियरिंग एसोसियेशन के मन्त्री को देना होता है। जिस सदस्य बैंक के द्वारा प्रार्थनापत्र दिया जाता है उसे प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) कहते हैं। प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) को प्रार्थना करने वाले बैंक की ज़िम्मेदारी लेनी पड़ती है तब वह उप-सदस्य बना लिया जाता है।

प्रबन्ध—क्लियरिंग हाउस का प्रबन्ध एक प्रबन्धकारिणी समिति करती है जिसमें एक सदस्य रिज़र्व बैंक का (यदि वहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच हो) एक सदस्य इम्पीरियल बैंक का तथा एक्सचेंज बैंक और मिश्रित पूँजी वाले बैंकों

(Joint Stock Banks) के निर्धारित प्रतिनिधि होते हैं। बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्रों के एक्सचेंज बैंकों का बहुत अधिक प्रतिनिधित्व और प्रभाव है।

निरीक्षक बैंक (Supervising Bank)—जहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच है वहाँ तो रिज़र्व बैंक ही क्लियरिंग हाउस के निरीक्षक बैंक का काम करता है, और जहाँ रिज़र्व बैंक की ब्रांच नहीं होती वहाँ इम्पीरियल बैंक यह काम करता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित रकम जमा करनी पड़ती है। कलकत्ता और बम्बई को छोड़कर अन्य स्थानों पर दिन भर में केवल एक बार निष्कासन (Clearing) होता है किन्तु बम्बई और कलकत्ता में दिन में दो बार निष्कासन होता है। अब हम कलकत्ता में निष्कासन (Clearing) किस प्रकार होता है इसका संक्षिप्त विवरण देंगे।

कलकत्ता क्लियरिंग हाउस—कलकत्ता के सदस्य तथा उप-सदस्य बैंकों के सब चेक, बिल, तथा प्रलेखों (Documents) का निष्कासन (Clearing) क्लियरिंग हाउस द्वारा होता है। किसी उप-सदस्य बैंक को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने चेक या बिल इत्यादि सीधे क्लियरिंग हाउस को दे सके। उप-सदस्य के चेक इत्यादि उसके प्रवेशकर्ता बैंक (Sponsor Bank) के द्वारा ही क्लियरिंग हाउस को दिये जा सकते हैं। होता यह है कि प्रवेशकर्ता बैंक का प्रतिनिधि अपने बैंक के रजिस्टर में ही उप-सदस्य के चेक इत्यादि चढ़ा लेता है।

प्रत्येक सदस्य बैंक को क्लियरिंग हाउस में एक प्रतिनिधि रखना पड़ता है और उसे एक रजिस्टर देना पड़ता है जिसमें उन सब चेकों, बिलों और प्रलेखों (Documents) को वह दर्ज कर लेता है जो उसे अन्य बैंकों से प्राप्त होते हैं, अथवा वह अन्य बैंकों को देता है।

प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि एक पृथक स्लिप पर उन सब चेकों, बिलों और प्रलेखों (Documents) का ब्यौरा तथा रकम लिख लेता है जो कि वह अन्य सदस्य बैंकों को देता है और उस रकम को वह सदस्य बैंकों के नाम रजिस्टर में लिख लेता है। तदुपरान्त प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि दूसरे सदस्य बैंकों के प्रतिनिधियों को उन पर लिखे गये चेकों और बिलों इत्यादि का बण्डल तथा उनके ब्यौरे की स्लिप दे देता है और वे अपने रजिस्टर में उनको दर्ज कर लेते हैं। स्लिपों को बिलों, चेकों तथा प्रलेखों से मिलाकर प्रत्येक प्रतिनिधि अपने रजिस्टर के दोनों कालमों को जोड़ लेता है। इससे उसे यह ज्ञात होता है कि उसको अन्य सदस्य बैंकों को कुल कितना लेना है तथा उसके बैंक को अन्त में कितना देना या लेना है। इतना कर चुकने के उपरान्त वह रजिस्टर को क्लियरिंग

हाउस के निरीक्षक को सौंप देता है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि कलकत्ते में प्रतिदिन साधारण निष्कासन (Clearing) होते हैं परन्तु एक विशेष निष्कासन सायंकाल को और होता है जिनमें वापस किये हुए चेक, बिल तथा प्रलेखों का निष्कासन होता है और जिस बैंक के चेक इत्यादि वापस कर दिये जाते हैं उसको इतनी रकम देनी पड़ती है।

कलकत्ते में जो बहुत से छोटे बैंक हैं और जिन्हें क्लियरिंग हाउस का सदस्य होने का गौरव प्राप्त नहीं है उन्होंने एक नई संस्था को जन्म दिया है जिसे मैट्रोपोलिटन बैंकिंग एसोसियेशन कहते हैं। यह संस्था उन बैंकों के चेकों, बिलों तथा प्रलेखों के निष्कासन की व्यवस्था करती है। उसमें दिन में केवल एक बार निष्कासन होता है। इसी तरह बंबई में भी एक मेट्रोपोलिटन बैंकिंग एसोसियेशन काम कर रही है। भारत में ६-७ करोड़ का साल भर में समाशोधन होता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में निष्कासन की व्यवस्था बहुत असंतोषजनक है और भविष्य में सभी केन्द्रों में क्लियरिंग हाउसों की स्थापना होना आवश्यक है। यही नहीं, क्लियरिंग हाउस के सदस्य होने के लिये जो कड़ी शर्तें रख दी गई हैं उन्हें भी नरम करने की ज़रूरत है।

(८) भारतीय द्रव्य-बाजार (Indian Money Market): भारतीय द्रव्य बाज़ार के भिन्न भिन्न विभागों में घनिष्ठ सम्बन्ध का होना—भारतीय द्रव्य-बाज़ार को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पहला आधुनिक या केन्द्रीय भाग कहलाता है और दूसरा देशी या बाज़ार भाग कहलाता है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया, इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी वाले बैंक तथा एक्सचेंज बैंक (विनिमय बैंक) आधुनिक या केन्द्रीय भाग के अन्तर्गत हैं और साहूकार, देशी बैंकर, ऋण कार्यालय, चिट फंड तथा निधि देशी या बाज़ार भाग के अन्तर्गत आते हैं। सहकारी बैंकों (Co-operative Banks) की स्थिति इन दोनों के बीच की है। भारतीय द्रव्य-बाज़ार के इन दोनों भागों में अपूर्ण सम्बन्ध है क्योंकि भारतीय बैंकिंग का संगठन अच्छा नहीं है और न एक-दूसरे से वे अच्छी तरह सम्बद्ध ही हैं। १९३५ तक अर्थात् रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व तो उनको भारत में मिलाने वाला कोई केन्द्रीय बैंक भी नहीं था। द्रव्य-बाज़ार का केन्द्रीय भाग सरकार की मुद्रा नीति (Currency Policy) से बहुत अधिक प्रभावित रहता था और उसके द्वारा सरकार बैंक रेट (Bank Rate) पर भी प्रभाव डालती थी। यही कारण था कि भारतीय द्रव्य-बाज़ार दोष पूर्ण था और संसार के अन्य

उन्नत द्रव्य-बाज़ारों की समता नहीं कर सकता था। पर अब स्थिति में सुधार होता जा रहा है। रिज़र्व बैंक क़ानून में १९५१ में हुए संशोधन के अनुसार रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि शेड्यूल्ड बैंकों की तरह वह राज्य सहकारी बैंकों से भी 'रिटर्न' मांग ले फिर चाहे राज्य सहकारी बैंकों का रिज़र्व बैंक से लेन-देन हो या नहीं।

केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के अभाव में १९३५ तक इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य करता था। व्यवहार में अन्य बैंक उसके पास अपनी नकदी रखते थे। वह भारत सरकार की सिक्यूरिटियों पर व्यापारिक बैंकों को ऋण देता था। यद्यपि बैंकों के लिए यह एक बड़ी सुविधा थी किन्तु अधिक ऊँचा सूद लेने के कारण व्यापारिक बैंकों के लिए उनका लाभ कम हो जाता था। पहले भारत सरकार से और अब रिज़र्व बैंक से इम्पीरियल बैंक को जो विशेष सुविधाएँ मिली हुई हैं उनके कारण मिश्रित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) उसे अपना अनुचित प्रतिद्वन्द्वी ही मानते आये हैं न कि मित्र और सहायक। और इसी कारण मिश्रित पूँजी वाले बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक में कभी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका।

भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंक एक्सचेंज बैंकों (विनिमय बैंकों) को भी अपना प्रबल प्रतिस्पर्द्धी और विरोधी मानते हैं, क्योंकि विनिमय बैंकों के साधन बहुत अधिक हैं, वे कम सूद पर यथेष्ठ डिपाज़िट प्राप्त कर लेते हैं और वे बन्दरगाहों तथा भीतरी व्यापारिक केन्द्रों में देश के अन्दरूनी व्यापार को भी हथिया लेना चाहते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-operative Banks) इम्पीरियल बैंक के पास थोड़ी सी चालू जमा (Current Deposit) रखते हैं और इम्पीरियल बैंक उन्हें नकद साख (Cash Credit) तथा ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) देता है। सैन्ट्रल सहकारी बैंक भी इम्पीरियल बैंक या कुछ बड़े मिश्रित पूँजीवाले बैंकों से चालू खाता (Current Account) रखते हैं, किन्तु प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ केवल सहकारी बैंकों से ही सम्बन्ध रखती हैं, इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजी वाले बैंकों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता।

सहकारी बैंकों (Co-operative Banks) का देशी बैंकरों तथा महाजनों और साहूकारों से तनक भी सम्बन्ध नहीं होता। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की यह शिकायत है कि सहकारी बैंक भी उनसे प्रतिस्पर्द्धा करने लगे हैं। उनका कहना है कि सहकारी बैंक वह कारबार भी करने लगे हैं जिनका सहकारिता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए सहकारी बैंक चालू खाता

(Current Account) रखते हैं, रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं तथा बिलों को खरीदते और भुनाते हैं। देशी बैंकर भी सहकारी बैंकों के विरुद्ध यही शिकायत करते हैं।

देशी बैंकरों और महाजनों में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। यह दोनों अधिकतर इम्पीरियल बैंक में अपना खाता नहीं रखते। इम्पीरियल बैंक से तो देशी बैंकर अपने बिल या हुन्डियाँ भुना लेते हैं किन्तु रिज़र्व बैंक से तो उनका तनक भी सम्बन्ध नहीं है। जब कारबार अधिक होता है तो जिन देशी बैंकरों का नाम स्वीकृत सूची पर होता है उनकी हुंडियों को इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजी वाले बैंक भुना देते हैं या दो देशी बैंकरों के हस्ताक्षरों सहित प्रामिसरी नोट पर ऋण दे देते हैं। इस प्रकार देशी बैंकरों का बहुत थोड़े समय के लिए इम्पीरियल बैंक या मिश्रित पूँजीवाले बैंकों से सम्बन्ध स्थापित होता है। वह भी सब देशी बैंकरों का सम्बन्ध उनसे स्थापित नहीं होता। केवल स्वीकृत देशी बैंकरों को ही यह सुविधा दी जाती है और उनके लिए भी अधिक से अधिक कितने मूल्य की हुंडियाँ भुनाई जा सकती हैं यह निश्चित कर दिया जाता है।

द्रव्य-बाजारों में सूद की दर—संसार के सभी उन्नतिशील राष्ट्रों में लम्बे समय के लिए लगाये हुए रुपये पर थोड़े समय के लिए लगाये हुए रुपये से अधिक सूद मिलता है। उदाहरण के लिए इङ्गलैंड अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकारी ऋण तथा प्रथम श्रेणी की कम्पनियों के डिबेंचरों (ऋणपत्र) पर जो सूद मिलता है वह तीन महीने के बिलों पर दिये जाने वाले सूद से अधिक होता है। किन्तु भारतवर्ष में इसका उलटा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले ३० वर्षों में थोड़े समय की सूद की दर लम्बे समय की सूद की दर से एक प्रतिशत अधिक थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में और विशेषकर पहले महायुद्ध के उपरान्त थोड़े समय की सूद की दर तथा लम्बे समय के सूद की दर का यह भेद कम हो गया है। भारत में थोड़े समय के लिए लिये गये ऋण पर अधिक सूद दर होने का मुख्य कारण यह है कि थोड़े समय के लिए सबसे अधिक ऋण खेती के धन्धे के लिए आवश्यक होता है और खेती का धन्धा इस देश में अत्यन्त पिछड़ा और असंगठित है। अतएव जो भी ऋण किसानों को दे दिया जाता है बहुधा वह जल्दी वसूल नहीं होता, उसकी अवधि बढ़ानी ही पड़ती है. अतएव वह लम्बे समय के लिए ही ऋण बन जाता है। और खेती के धन्धे को दिये जाने वाले ऋण के डूब जाने का बहुत भय रहता है जबकि सरकारी ऋण में लम्बे समय के लिए रुपया लगाने में इस प्रकार की कोई जोखिम नहीं रहती। यही कारण है कि इस प्रकार के थोड़े समय के वास्ते लिये हुए ऋण पर सूद बहुत अधिक लिया जाता

रहा है। किसानों से अधिक सूद मिलने के कारण गाँवों में थोड़े समय के लिए जब सूद की दर ऊँची रहती है तो उसका प्रभाव संगठित द्रव्य-बाज़ार पर भी बिना पड़े नहीं रहता। यही कारण है कि भारतीय द्रव्य-बाज़ार में थोड़े समय की दर अधिक समय के लिये लगाये हुए रुपये पर मिलने वाले सूद की दर से ऊँची रही है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है। यहाँ कम्पनियों के डिबेंचर इत्यादि तो अधिक प्रचलित हैं नहीं, केवल भारत सरकार के लम्बे समय के लिए ऋण पर मिलने वाले सूद की दर से ही हम तुलना कर सकते हैं। किन्तु वास्तव में भारत सरकार के ऋण पर मिलने वाले सूद को हम लम्बे समय की दर नहीं कह सकते, क्योंकि सरकारी ऋण अर्थात् सरकारी सिक्यूरिटी प्रत्येक समय बेची जा सकती है। उनके लिये सदैव बाज़ार में माँग रहती है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि भारत में थोड़े समय के लिए लिये जाने वाले ऋण पर सूद की दर ऊँची रही है और उसके कारणों के सम्बन्ध में हमने ऊपर लिखा है। इसके विपरीत भारतवर्ष में जो विदेशी पूँजी आई वह लम्बे समय के लिए लगाई गई। विदेशी पूँजी-पतियों ने भारत में अपनी पूँजी को अधिक लम्बे समय के लिए लगाना पसन्द किया क्योंकि यहाँ लम्बे समय के लिए रेलों, धंधों, तथा सरकारी ऋण में लगाई जाने वाली पूँजी अधिक सुरक्षित थी, परन्तु थोड़े समय के लिए खेती के धन्धे में लगने वाली पूँजी को बहुत जोखिम उठानी पड़ती थी। यही कारण था कि लम्बे समय के लिए विदेशी पूँजी कम सूद पर प्राप्त हो सकती थी। किन्तु वही विदेशी पूँजी अधिक सूद मिलने पर भी थोड़े समय के ऋण के रूप में गांवों के लिये प्राप्त नहीं थी।

भारतवर्ष में केवल १८९१-९२ में, १९२१-२२ में और १९२९-३० में ही ऐसा अवसर आया जब थोड़े समय की सूद की दर (Short-term interest rate) अधिक लम्बे समय की सूद की दर (Long-term rate) से नीचे गिर गई। १८९१-९२ में थोड़े समय की सूद की दर के गिरने का कारण यह था कि रुपये का विनिमय दर (Exchange rate) गिरने से देश में चाँदी का आयात (Import) बहुत अधिक हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों के पास आवश्यकता से बहुत अधिक नकदी (Cash) इकट्ठी हो गई इस कारण कम समय की सूद की दर नीचे गिर गई। १९२१-२२ में थोड़े समय के सूद की दर के नीचे गिरने का कारण यह था कि सरकार ने लड़ाई के खर्चे को चलाने के लिये अन्धाधुन्ध कागजी मुद्रा (Paper Currency) छाप दी थी। इस कारण थोड़े समय की सूद की दर नीचे गिर गई। उधर सरकार ने बहुत से युद्ध-ऋण निकाल कर जनता की बचत को लड़ाई के लिए खींच कर लम्बे समय की सूद की

दर को ऊँचा कर दिया। और १६२६-३० में जो थोड़े समय की सूद की दर लम्बे समय की सूद की दर की तुलना में गिर गई उसका कारण वह महान् आर्थिक मन्दी (Economic Depression) थी जो १६२६ में आई। तब से नवंबर १६५१ में बैंक दरों में वृद्धि हुई तब तक यही स्थिति चली आ रही थी। बैंक दरों के ३½% हो जाने से स्थिति में परिवर्तन आया है। यहाँ थोड़े समय की सूद की दर से हमारा मतलब बैंक दर से है।

बैंक डिपाजिटों पर सूद की दर—डिपाजिटों पर सूद की दर निर्धारित करते समय बैंकों को दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो यह कि वे कितना कोष आकर्षित करना चाहते हैं और कितना कोष लाभदायक ढंग से लगा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से बैंक चालू जमा (Current Deposits) पर सूद नहीं दे सकते क्योंकि चालू खाते (Current Account) में रुपया जमा करने वाले लोग सुविधा की दृष्टि से ही चालू खाता रखते हैं न कि सूद पाने के लिए। सूद प्राप्त करने के लिए जो रुपया उनकी आवश्यकता से अधिक है वह मुद्दती जमा (Fixed Deposits) में जमा किया जाता है। अस्तु: यदि चालू जमा पर थोड़ा सूद दे भी दिया जावे तो भी चालू जमा (Current Deposits) अधिक नहीं बढ़ जावेंगी ! किन्तु चालू जमा पर सूद देने का बैंकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें अधिक सूद कमाने के लिए रुपये को कहीं न कहीं लगाना ही पड़ता है, फिर चाहे कुछ जोखिम ही क्यों न उठानी पड़े। इसका परिणाम बुरा होता है। यही कारण है कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में चालू खाते पर सूद नहीं दिया जाता। किन्तु भारतवर्ष में इम्पीरियल बैंक को छोड़कर सभी बैंक चालू खाते पर सूद देते हैं। १६३० तक भारतीय व्यापारिक बैंक चालू खाते पर २½ प्रतिशत तक सूद देते थे। किन्तु यही उनकी निर्बलता थी क्योंकि भारत में प्रथम श्रेणी के बिलों तथा याचना द्रव्य (Call money) का बाजार अभी निर्मित नहीं हुआ है इस कारण बैंकों को जिस लेनी (Assets) में अपना रुपया लगाना पड़ता है वह शीघ्र ही नकदी में परिणत नहीं की जा सकती। परन्तु क्रमशः भारतीय बैंकों ने चालू जमा पर सूद की दर को कम करना आरम्भ कर दिया। १६२१ में वे १ प्रतिशत सूद देते थे। बाद को घटाकर उन्होंने चालू खाते पर ½ प्रतिशत सूद कर दिया और दूसरे संसारव्यापी महायुद्ध के समय जबकि देश में रुपये की बहुतायत थी उन्होंने सूद घटाकर ½ प्रतिशत कर दिया। आशा है कि भारतवर्ष में भी बैंक चालू जमा पर सूद देना बन्द कर देंगे।

मुद्दती जमा (Fixed Deposit) पर सूद की दर—मुद्दती जमा पर बैंक जो सूद देते हैं उस पर ही मुद्दती जमा का अधिक होना या कम होना निर्भर

रहता है। यदि सूद अधिक दिया जाता है तो मुद्दती जमा अधिक आती है और यदि सूद की दर कम कर दी जाती है तो मुद्दती जमा घट जाती है, क्योंकि मुद्दती जमा वही करता है जिसे उस रुपये की कुछ समय के लिए आवश्यकता नहीं होती या वह उस पर सूद कमाना चाहता है। यदि मुद्दती जमा पर सूद बहुत कम हो जावे तो मुद्दती जमा चालू जमा में परिणत हो सकती है, क्योंकि यदि मुद्दती जमा पर सूद बहुत कम हो जावेगा तो लोग अपने रुपये को उस पर लम्बे समय के लिये अटकाये रहना पसन्द नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त बैंक मुद्दती जमा पर सूद की दर निर्धारित करते समय यह भी देख लेते हैं कि वे अपने ग्राहकों से कितना सूद ले सकते हैं। अस्तु; मुद्दती जमा पर सूद की दर दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो इस बात पर कि अन्य सिक्यूरिटियों में रुपया लगाने पर कितना सूद मिल सकता है, दूसरे द्रव्य-बाजार में थोड़े समय के लिये ऋण देने में कितना सूद मिल सकता है। जहाँ तक रुपया जमा करने वाले का प्रश्न है उसके लिए बैंक में रुपया जमा करने के अतिरिक्त दूसरा सीधा रास्ता यह है कि वह भारत-सरकार की सिक्यूरिटी में अपना रुपया लगा दे। अस्तु; सरकार अपने ऋण जिस सूद की दर पर निकालती है उसका मुद्दती जमा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, यद्यपि दोनों में बहुत भेद भी है। भारतवर्ष में अधिकतर मुद्दती जमा ६ महीने या उससे अधिक समय के लिए ली जाती हैं। अधिकांश डिपाजिट एक वर्ष के लिये होती हैं। बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े केन्द्र में ६ महीने से कम की भी मुद्दती डिपाज़िट ले ली जाती हैं।

कर्ज पर सूद की दर—बैंक दिये हुए कर्जे पर कितना सूद लेंगे यह अन्य देशों में, जहाँ द्रव्य-बाज़ार पूर्ण रूप से संगठित हैं, बैंक-रेट (Bank rate) पर निर्भर रहता है। यदि केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की सूद की दर, जिस पर वह अन्य बैंकों को कर्ज देता है, ऊँची हो जाती है तो अन्य बैंक भी अपने कर्जदारों से और ऊँची दर से सूद लेते हैं; और यदि केन्द्रीय बैंक की सूद की दर घटती है तो अन्य बैंक भी कर्ज पर सूद की दर घटा देते हैं। अन्य बैंक जब किसी को ऋण देते हैं तो उस समय जो केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की सूद की दर (Bank rate) होती है उससे एक निश्चित फी सदी अधिक सूद लेते हैं। उन देशों में यह बैंक मुद्दती जमा पर जो सूद देते हैं वह कुछ निश्चित प्रतिशत 'बैंक रेट' से कम होता है। इस प्रकार उन देशों में जहाँ द्रव्य-बाज़ार संगठित है वहाँ मुद्दती जमा पर दिये जाने वाले तथा कर्ज पर लिए जाने वाले सूद की दर वहाँ के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की बैंक-रेट पर निर्भर रहती है और उससे सम्बन्धित होती है।

किन्तु भारतवर्ष में स्थिति दूसरी ही है। यहाँ सूद की दर का कोई नियम नहीं है। प्रत्येक स्थान और प्रत्येक बैंक की सूद की दर भिन्न होती है। उदाहरण के लिये यदि किसी स्थान पर केवल एक ही बैंक है तो वह अपने एकाधिकार का पूरा लाभ उठाता है और अधिक सूद लेता है; और यदि कोई दूसरा बैंक वहाँ अपनी ब्रांच खोल देता है तो सूद की दर गिर जाती है। यह नहीं कि भिन्न-भिन्न स्थानों में सूद की दर भिन्न होती है, प्रत्येक बैंक का कारबार भी बहुत भिन्न होता है इस कारण उनकी सूद की दर में बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। भारतवर्ष में कुछ बैंक ऐसे हैं जो कर्ज पर बहुत उचित सूद लेते हैं, फिर भी वे यथेष्ट लाभ कमाते हैं। किन्तु यदि दूसरे बैंक उसी सूद की दर पर ऋण दें तो उन्हें बहुत घाटा सहन करना पड़े। भारतवर्ष में बैंकों की सूद की दर में दुगुने से अधिक का अन्तर पाया जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में बैंकों की सूद की दर में बहुत भिन्नता पाई जाती है।

सूद की दरों में समन्वय—भारत जैसे विशाल देश में जहाँ अभी उद्योग धन्धों का पूरी तरह से विस्तार नहीं हुआ है और जहाँ द्रव्य-बाजार अभी पूर्ण रूप से संगठित नहीं है, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सूद की दर भिन्न होना कुछ सीमा तक अनिवार्य है। किन्तु यहाँ बैंकों में अस्वास्थ्यकर प्रतिस्पर्द्धा के कारण जो सूद की भिन्नता पाई जाती है वह भारतीय बैंकिंग का एक बड़ा दोष है। कुछ बैंक केवल इसलिए अधिक सूद देते हैं जिससे वे डिपाजिट प्राप्त करने में सफल हों। इसका फल यह होता है कि उन्हें अपना रुपया ऐसी जगह लगाना पड़ता है जो बहुत सुरक्षित नहीं होती और उनकी स्थिति कमजोर रहती है। तनिक से संकट में इस प्रकार के बैंक डूब जाते हैं और सभी बैंकों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। सभी देशों में अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि डिपाजिटों पर दिए जाने वाले सूद की दर में अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा न तो किसी एक बैंक के ही लिए लाभदायक होती है और न बैंकिंग संस्था (Banking System) के लिए ही लाभदायक सिद्ध होती है। अन्य देशों में बैंक स्वयं मिलकर डिपाज़िट पर सूद की दर क्या हो यह निश्चित कर लेते हैं; किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार सूद की दर को नियन्त्रित नहीं किया जाता। आवश्यकता इस बात की है कि भारतवर्ष में भी प्रतिस्पर्द्धा को नियन्त्रित किया जावे और कम से कम एक वर्ष की मुद्दती जमा की दर की दर निश्चित कर दी जावे।

विनियोग (Investments) पर मिलने वाले सूद की दरें—आधुनिक द्रव्य-बाजार में दो प्रकार की सूद की दर पाई जाती है। वे सूद की दरें जो खुले बाजार में प्रचलित होती हैं और जिन्हें हम खुले बाजार की दरें (Open

market rates) कहते हैं, और दूसरी वे सूद की दरें जो ग्राहकों से ऋण देने पर ली जाती हैं। ग्राहकों से जो सूद लिया जाता है उसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक आंकड़े प्राप्त नहीं हैं, परन्तु खुले बाज़ार की दरों के बारे में हमें प्रामाणिक आंकड़े मिलते हैं। ग्राहकों से लिये जाने वाले सूद की दरों में बहुत भिन्नता होती है। यदि किसी एक प्रदेश में सूद की दर बहुत ऊँची है तो दूसरे प्रदेश में सूद की दर नीची होती है। बात यह है कि जहाँ तक ग्राहकों से लिये जाने वाले सूद की दर का प्रश्न है वह स्थानीय कारणों पर निर्भर रहती है, अतएव सूद की दर का भिन्न होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए बैंकों को किसी प्रदेश में डिपाज़िट कम मिलती है तो वे वहाँ ऋण अधिक सूद लेकर ही देंगे ; और जहाँ डिपाज़िट बहुत अधिक मिलती है वहाँ कम सूद लेकर भी उस रुपये को लगाने का प्रयत्न करेंगे। जिस स्थान या प्रदेश का देश के केन्द्रीय बैंक से सम्बन्ध होता है वहाँ सूद की दर कुछ कम रहती है। अतएव कहने का तात्पर्य यह है कि ग्राहकों से लिए जाने वाले सूद की दर स्थानीय कारणों पर निर्भर रहती है और उन्हीं कारणों से उसमें भिन्नता पाई जाती है।

खुले बाजार की दरें (Open Market Rates)—(१) अभियाचन ऋण (Demand Loan) पर इम्पीरियल बैंक जो सूद लेता है वह देश में अल्पकालीन पूँजी (Short-term capital) पर कितनी आय हो सकती है इसको बतलाया है। इम्पीरियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर अल्प-कालीन पूँजी पर होने वाली आय को नापने का यन्त्र है। यह दर नकद साख (Cash credits) तथा साधारण ऋणों पर लिए जाने की सूद की दरों का भी प्रतिनिधित्व करती है।

(२) इम्पीरियल बैंक हुंडी रेट वह सूद की दर है जिस पर इम्पीरियल बैंक प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों को भुनाता है। १९३५ तक इम्पीरियल बैंक केवल ३ महीने की अवधि के बिलों को ही भुना सकता था। किन्तु व्यवहार में उन बिलों की पकने की अवधि केवल ६० या ६१ दिन होती थी।

हुंडी रेट यद्यपि इम्पीरियल बैंक की अभियाचन ऋण (Demand Loan) की सूद की दर के साथ-साथ घटती बढ़ती है, किन्तु कभी-कभी इम्पीरियल बैंक की हुंडी दर उसकी अभियाचन ऋण की दर से ऊँची हो जाती है और कभी नीचे गिर जाती है।

(३) याचना द्रव्य रेट (Call money rate) उस सूद की दर को कहते हैं जो कि २४ घन्टे के लिए दिए हुए ऋण पर लिया जाता है। याचना द्रव्य (Call money) को बैंक जिस समय चाहे वापस माँग सकता है और

लेने वाला उसे जब चाहे वापस दे सकता है। भारतवर्ष में बैंक इस प्रकार ऋण केवल उन्हीं व्यक्तियों को देता है जो उसके जाने-बूझे होते हैं और जिनकी साख बहुत अच्छी होती है। बैंक इस प्रकार के ऋण के लिए कोई ज़मानत नहीं लेते केवल ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत साख पर दे देते हैं।

भारतवर्ष में याचना द्रव्य (Call money) अधिकतर केवल सोने-चांदी के बाज़ार और शेयर बाज़ार में कारबार करने के लिए लिया जाता है। परन्तु बम्बई में बड़े व्यापारी साधारण व्यापार के लिये भी याचना द्रव्य लेते हैं, क्योंकि उन्हें कम सूद पर रुपया मिल जाता है।

याचना द्रव्य की दर इम्पीरियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर (Demand Loan rate) के अनुसार घटती-बढ़ती है। कभी-कभी याचना द्रव्य की दर बहुत ही ऊँची चढ़ जाती है, यहाँ तक कि इम्पीरियल बैंक की अभियाचन ऋण की दर (Demand Loan rate) के बराबर पहुँच जाती है। जब कारबार की बहुत तेजी होती है तो कभी-कभी याचना द्रव्य ऊँची दर पर भी नहीं मिलता और मन्दी के समय उसकी सूद की दर बहुत गिर जाती है। इन अवसरों पर याचना द्रव्य की सूद की दर का इम्पीरियल बैंक के अभियाचन ऋण की दर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(४) बाज़ार बिल रेट या बाज़ार हुंडी रेट भारतीय द्रव्य बाज़ार (Money market) में सबसे ऊँची सूद की दर होती है। यह सूद की दर उन बिलों पर ली जाती है जो श्राफ़ छोटे व्यापारियों के लिये भुनाते हैं। बाज़ार बिल रेट कलकत्ता की अपेक्षा बम्बई में कम रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि बम्बई में श्राफ़ों (Shroffs) का बैंकों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुसंगठित द्रव्य-बाज़ारों की भांति भारतीय द्रव्य-बाज़ार में प्रचलित सूद की दरों का एक दूसरे से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। यदि बाज़ार में कारबार की तेज़ी हुई और रुपये की मांग अधिक हुई और रुपया कम हुआ तो सूद की दरें ऊंची चढ़ जाती हैं, और यदि कारबार मंदा हुआ तो सूद गिर जाता है। किन्तु बाज़ार में प्रचलित सूद की दरों का आपस में कोई निश्चित और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि भारतीय बैंकों में इस बात की भावना नहीं है कि उनके स्वार्थ एक हैं। रिज़र्व बैंक अभी तक इतना अधिक प्रभावशाली नहीं है कि द्रव्य-बाज़ार पर अपना पूरा प्रभाव डाल सके और पूँजी (Capital) के एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रतापूर्वक पहुंचाने में रुकावटें हैं। फिर भी संगठित द्रव्य-बाज़ार पर रिज़र्व बैंक का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और उस हद तक रिज़र्व बैंक की दर के

साथ अन्य बैंकों की दरों में परिवर्तन होता है जैसा कि नवंबर १९५१ में रिज़र्व बैंक की दर को ३% से ३½% करने के बाद और बैंकों की दरों के सबंध में देखने को मिला।

बैंकों की उन्नति और द्रव्य-बाज़ार को अधिक सगठित बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सूद की दरों के सम्बन्ध में बैंक एक आपसी समझौता कर लें तथा एक परम्परा बना लें। इसी से एक बड़ा लाभ यह होगा कि बैंकों में आपस में अस्वास्थ्यकर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जायेगी। उदाहरण के लिए लदन में बैंकों ने यह निश्चय कर लिया है कि अल्पकालीन डिपाज़िट पर बैंक रेट से १ प्रतिशत सूद कम दिया जावे। बैंक रेट तथा डिपाज़िटों पर दिये जाने वाले सूद की दर का सम्बन्ध जोड़ देने से एक लाभ यह होगा कि बैंक डिपाज़िटों को खींचने के लिए अस्वास्थ्यकर होड़ नहीं कर सकेंगे।

भारतीय द्रव्य-बाज़ार में अस्थिरता तथा अधिक उतार-चढ़ाव का होना—भारतीय द्रव्य-बाज़ार का एक बड़ा दोष यह था कि उसमें स्थिरता नहीं रहती थी। बैंक रेट में बहुत अधिक परिवर्तन होते रहते थे। १९३२ के पूर्व अर्थात् आर्थिक मदी (Economic Depression) के अधिक गहरे हो जाने के पूर्व जब व्यापार मंदा होता तब तो बैंक रेट ३ प्रतिशत पर रहती और तेज़ी के मौसम में ७ और ८ प्रतिशत तक बढ़ जाती। इस अस्थिरता के कारण व्यापार का जोखिम बढ़ जाता था तथा व्यापारियों को बहुत आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। उद्योग-धंधों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता था क्योंकि वे भी बहुत कुछ थोड़े समय के लिए प्राप्त किए ऋण पर निर्भर रहते थे। जब कारबार की तेज़ी होती और बैंक रेट ऊची हो जाती तो देश के भीतरी व्यापार तथा खेती के लिए पूँजी मिलने में बहुत कठिनाई होने लगती थी, क्योंकि बन्दरगाहों में भी उस समय पूँजी की बहुत अधिक आवश्यकता होती थी और वहां के व्यापार में अधिक सूद देने की गुंजाइश रहती थी। अतएव बैंक उस समय अपना रुपया बदरगाहों को भेज देते थे तथा देश के भीतरी व्यापार तथा खेती के लिए द्रव्य (Money) का टोटा पड़ जाता था। बात यह है कि भारतवर्ष के खेतिहर देश होने के कारण जब खेती की पैदावार की फसल के समय खरीद होती है तो बहुत अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है, और जो भी करेंसी (मुद्रा) देश में साधारणतः होती है वह इस कार्य के लिए पूरी नहीं पड़ती है। किन्तु गरमियों तथा वर्षा के मौसम में जब कारबार मंदा रहता है तो वही करंसी आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है।

१९२१ में इम्पीरियल बैंक के स्थापित होने से पूर्व सरकार पृथक और स्वतंत्र

खज़ाने रखती थी जो चलन में से बहुत अधिक द्रव्य (Money) को खींचकर रख लेते थे। कारण यह था कि मालगुज़ारी के रूप में किसान जो द्रव्य देते थे वह इन खज़ानों में जाकर बन्द हो जाता था और यह उस समय होता था जब कि बाज़ार में द्रव्य की बहुत अधिक मांग होती थी। इस कारण बाज़ार में द्रव्य का बेहद टोटा पड़ जाता था। १६२१ के उपरान्त यह रुपया इम्पीरियल बैंक के पास आने लगा और वह इसको व्यापारियों को दे देता था अतः १६२१ के उपरान्त इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ। फिर भी भारत-सरकार तथा भारत-मंत्री पृथक् और स्वतंत्र रूप से बैंकिंग का कारबार करते थे जिसके कारण द्रव्य-बाज़ार में बहुत अस्थिरता उत्पन्न हो जाती थी। बात यह थी कि भारत-सरकार तो मुद्रा (Currency) का नियंत्रण करती थी और इम्पीरियल बैंक कुछ हद तक साख (Credit) का नियंत्रण करता था। इस दोहरे नियंत्रण का फल यह होता था कि मुद्रा नीति (Currency Policy) और साख नीति (Credit need में कभी साम्य स्थापित नहीं हो पाता था। यदि उत्पादन और व्यापार में वृद्धि होती तो अधिक साख (Credit) की आवश्यकता होती थी, परन्तु अधिक साख का निर्माण तभी हो सकता था जब अधिक द्रव्य (Money) हो। परन्तु यदि उस समय सरकार अधिक नोट छापकर द्रव्य-राशि को न बढ़ाती तो बैंकों को साख कम करनी पड़ती थी। इस प्रकार उस समय देश में मुद्रा (Currency) तथा साख का कोई ठीक प्रबन्ध न था। कारण यह था कि साख का ठीक नियंत्रण तो था नहीं और जो कुछ भी नियंत्रण था वह इम्पीरियल बैंक के हाथ में था और मुद्रा का (Currency) जिस पर साख निर्भर रहती है, नियंत्रण सरकार के हाथ में था।

रिज़र्व बैंक की स्थापना से द्रव्य-बाज़ार (Money Market) का यह दोष दूर हो गया। अब रिज़र्व बैंक के अधिकार में दोनों ही कार्य हैं। वह कागज़ी मुद्रा (Paper Currency) तथा साख (Credit) दोनों का ही नियंत्रण करता है, अतः अब रिज़र्व बैंक द्रव्य की अधिक माँग होने पर अधिक नोट निकाल कर द्रव्य की कमी को दूर कर सकता है।

रिज़र्व बैंक दर में वृद्धि—रिज़र्व बैंक ने १५ नवम्बर १६५१ से अपनी दर जो पिछले १६ वर्षों से ३% चली आ रही थी बढ़ाकर ३½% करदी। साथ ही यह घोषणा भी करदी कि रिज़र्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को आने वाले तीन महीनों में नहीं खरीदेगा। रिज़र्व बैंक की इस घोषणा का यह अर्थ है कि १६२६-३० की आर्थिक मन्दी के समय से जो सस्ते रुपये की नीति चली आ रही थी और जो युद्ध तथा युद्धोत्तर वर्षों में अपनी सर्वोच्च सीमा पर पहुँच चुकी थी उसमें अब परिवर्तन करना रिज़र्व बैंक ने स्वीकार कर लिया। इससे पूर्व बैंक ऑव इंगलैंड ने

भी अपनी वैंक दर में वृद्धि की और २% से बढ़ाकर २½% कर दी। बाद में बैंक आव इंगलैंड ने तो १२ मार्च १९५२ को अपनी वैंक दर में और वृद्धि करके उसे ४% कर दिया। इस तरह के परिवर्तन दुनिया के अन्य देशों में भी हुए जैसे फ्रांस और केनाडा में वैंक दर बढ़ाई गई।

एक प्रकार से देखा जाये तो हमें यह मानना होगा कि पिछले कुछ वर्षों में भारत में व्याज की दरों में कुछ सख्ती आ रही थी। १९५१ में तो यह प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट हो गई थी। इसलिये रिज़र्व वैंक दर में वृद्धि करके रिज़र्व बैंक ने वस्तुस्थिति की मांग पूरी की है। उसका ऐसा करना उचित था।

रिज़र्व बैंक दर को बढ़ाने का सबसे आधारभूत कारण यह था कि देश की मुद्रा-स्फीति को रोका जाये और मूल्यों में कमी लाई जावे। १९५० में और उससे भी अधिक १९५१ में वैंकों द्वारा दिये गये 'एडवान्सेज' और उनके द्वारा भुनाए गये बिलों की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि हुई। १९५० की अपेक्षा १९५१ में १०३ करोड़ रुपये के अधिक 'एडवान्सेज' दिये गये। यह स्थिति साख-स्फीति की थी और सस्ते वैंक दर और रिज़र्व बैंक की सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदते रहने की नीति का परिणाम थी। कोरिया युद्ध आरम्भ होने के बाद जो मूल्यों में वृद्धि हुई थी वह भी इस साख-स्फीति का एक कारण था। वस्तुओं का संचन और क्षमता के बाहर व्यापार करने की प्रवृत्ति को भी इस नीति से प्रोत्साहन मिल रहा था। आखिरकार वैंक ने अपनी बैंक दर बढ़ाने का निश्चय कर लिया।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है वैंक दर के बढ़ते ही अन्य सूद की दरें भी बढ़ीं। साख-स्फीति पर इससे रोक लगी। और मूल्य वृद्धि को रोकने में भी इससे सहायता मिलेगी—यह निस्सदेह है। बल्कि किसी हद तक इस नीति का असर हुआ भी है।

कई लोगों का यह कहना था कि वैंक दर नहीं बढ़ाई जानी चाहिये थी। इससे व्यापारी-व्यवसायी को व्याज अधिक देना पड़ेगा और उत्पादन लागत बढ़ जायगी और साख में कमी आ जाएगी। पर यह तर्क सही नहीं है। एक तो उत्पादन लागत में व्याज का हिस्सा बहुत कम होता है। इसके अलावा कुल साख में कमी होने पर भी उत्पादन के लिये आवश्यक साख में कमी नहीं की जायेगी। इसके साथ साथ बैंक दर को बढ़ाने के और भी कई लाभ होंगे। आवश्यक वस्तुओं की संचय वृत्ति पर और सट्टे पर इससे रोक लगेगी। अनावश्यक कम्पनियाँ स्थापित नहीं होंगी क्योंकि नई पूँजी जारी करना अब अपेक्षाकृत कठिन होगा। बचाने और विनियोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। लोगों का रुपये में विश्वास बढ़ेगा। देश के आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है। यह तो ठीक है कि वर्षों तक

सस्ते रुपये की नीति के चले आने के कारण इस नीति परिवर्तन से उन लोगों को हानि उठानी पड़ेगी जो पहली नीति से लाभ उठा रहे थे। पर देश के हित में इस हानि को उठाना अनिवार्य था।

बैंक रेट के बढ़ाने के विरुद्ध कई लोग उल्टा यह तर्क भी उपस्थित करते हैं कि ब्याज की दर बढ़ने से उत्पादन लागत बढ़ेगी और उससे मूल्य बढ़ेंगे। पर जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं पहली बात तो यह है कि ब्याज का उत्पादन लागत में बहुत कम हिस्सा होता है। इसलिये जो विनियोग करने वाले हैं वे इस कारण विनियोग और उत्पादन में कमी नहीं करेंगे। पर जो लोग उधार रुपया लेकर माल गोदाम में रखते हैं या सट्टा करते हैं उन पर बढ़ी हुई ब्याज की दर का असर पड़ेगा और उनके द्वारा माल की माँग कम होगी और फलस्वरूप बाजार में मुद्रा की मात्रा कम हो जायेगी। इससे मूल्यों में कमी होगी और मुद्रा-स्फीति पर रोक लगेगी। इसके अलावा माल का लेनदेन भी जल्दी होगा क्योंकि माल में रुपया रोकना लाभदायक नहीं होगा। इससे भी मूल्यों में गिरावट आवेगी। ब्याज दर के बढ़ने से उत्पादन लागत पर जो असर होगा उससे ज्यादा असर मुद्रा की मात्रा में कम होने का होगा। इसके विपरीत जब बैंक रेट कम होती है तो रुपये की मात्रा बढ़ती है। प्रतिभूतियाँ, खास तौर से सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर नकद रुपया वसूल किया जाता है और उसे सट्टे आदि ऐसे काम में लगाया जाता है जिससे प्रतिभूतियों पर होने वाली आय से अधिक आय मिलती है। इससे रुपये की मात्रा बराबर बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है और उससे मूल्य बढ़ते हैं। जब बैंक रेट बढ़ती है तो प्रतिभूतियों को बेचकर रुपया प्राप्त करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इससे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और मूल्यों में कमी आती है।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि बैंक रेट का मुद्रा की मात्रा पर जो असर पड़ता है वह अधिक महत्वपूर्ण होता है और उत्पादन लागत पर जो असर होता है वह उसकी अपेक्षा बहुत कम महत्व रखता है। इस लिये बैंक दर में वृद्धि होने से मुद्रा-स्फीति पर रोक लगेगी यह निश्चित है।

भारतीय द्रव्य-बाजार में व्यापारिक बिलों का अभाव—भारतीय द्रव्य-बाजार में मुख्य दोष यह है कि यहाँ व्यापारिक बिलों की कमी है। भारतीय बैंकों की लेनी (Assets) में बिल बहुत कम होते हैं जबकि विदेशों में बैंक अपने धन (Funds) का बहुत बड़ा भाग इनमें लगाते हैं। भारतीय मिश्रित पूंजी वाले बैंक तथा इम्पीरियल बैंक अपनी कुल डिपाजिटों का केवल ५ से ६ प्रतिशत रुपया बिलों के भुनाने में लगाते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय द्रव्य-बाजार में बिलों का नितान्त अभाव है। इसके नीचे लिखे मुख्य कारण हैं :—

(१) भारत में बैंक अपना रुपया सरकारी सिक्यूरिटियों अर्थात् परम प्रतिभूतियों (Gilt-edged Securities) में लगाना अधिक पसन्द करते हैं। इसके कारण दो हैं, एक तो भारत में बैंकिंग अभी अधिक उन्नत अवस्था में नहीं है इस कारण बैंक अपना रुपया ऐसी जगह लगाना चाहते हैं जो शीघ्र ही नकदी में परिणत किया जा सके; और दूसरे सरकारी सिक्यूरिटियों पर सूद अच्छा मिलता था। किन्तु अब जितना सूद बिलों के भुनाने से मिलता है उससे अधिक परम प्रतिभूतियों (Gilt-edged Securities) अर्थात् सरकारी सिक्यूरिटियों पर नहीं मिलता। अतएव जैसे-जैसे सर्वसाधारण का बैंकों पर अधिक विश्वास जमता जावेगा वैसे-वैसे बैंक सरकारी सिक्यूरिटियों में कम रुपया लगाने लगेंगे।

(२) जब-जब बैंकों को ऋण की आवश्यकता होती है तब तब वे इम्पीरियल बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण लेना पसन्द करते हैं और अपने बिलों को इम्पीरियल बैंक से पुनः भुनाना (Rediscount) पसन्द नहीं करते। इसके नीचे लिखे कारण हैं :—

(क) इम्पीरियल बैंक केवल उन्हीं बिलों को पुनः भुनाता है जिन्हें वह ठीक समझता है और पसन्द करता है। किन्तु वह किस प्रकार के बिलों को पसन्द करेगा इसका उसने कोई मापदण्ड (Standard) कायम नहीं किया है जिसके अनुसार अन्य बैंक यह जान सकें कि वह किन बिलों को पसन्द करेगा। अतएव बैंकों को सदैव यह खतरा रहता है कि कहीं उनके बिलों को इम्पीरियल बैंक अस्वीकार न कर दे।

(ख) भारतीय द्रव्य-बाजार में यह प्रचलित धारणा है कि बिलों का पुनः भुनाना आर्थिक निर्बलता का सूचक है, अतएव भारतीय बैंक बिलों को पुनः इम्पीरियल बैंक से भुनाने में इस कारण हिचकते हैं कि इससे उनकी साख पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(ग) इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों के लिये बट्टा दर (Discount Rate) में कोई रियायत नहीं करता। वह उनसे भी वही सूद लेता है जो वह देशी बैंकरों से लेता है।

(घ) क्योंकि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंकों का प्रतिद्वन्द्वी है इस कारण ये उसे यह नहीं बतलाना चाहते कि उनके पास कितने और कैसे बिल हैं।

(३) भारत में बिलों या हुंडियों पर हस्ताक्षर करने वालों की आर्थिक स्थिति या साख कैसी है यह जानने की सुविधा नहीं है। इंगलैंड तथा अमेरिका में ऐसी एजेंसियाँ हैं जो किसी भी व्यापारी या व्यवसायी की आर्थिक स्थिति और साख के सम्बन्ध में थोड़ी सी फीस लेकर ठीक जानकारी दे देती हैं।

(४) भारत में हुंडियों तथा बिलों का उपयोग बहुधा ऋण देने और लेने में किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि 'क' 'ख' से २ हजार ऋण लेना चाहता है तो 'क' 'ख' पर हुंडी या बिल लिख देगा और 'ख' उसको स्वीकार कर लेगा। अब 'क' उसी हुंडी या बिल को भुना कर रुपया प्राप्त कर लेगा। इन हुंडियों को देखने मात्र से यह कोई नहीं बता सकता कि यह केवल कर्ज लेने के उद्देश्य से लिखी गयी है अथवा व्यापारिक हुंडी है; क्योंकि हुंडी के साथ न तो रेल की बिल्टी होती है और न अन्य प्रकार के कोई कागज-पत्र होते हैं।

(५) भारत में मुद्दती हुन्डी का चलन लगभग समाप्त हो गया, क्योंकि इन पर स्टाम्प ड्यूटी का खर्चा अधिक होता है; वह केवल बंगाल में तथा बम्बई और शिकारपुर में ही अधिक प्रचलित हैं। अब मुद्दती हुन्डी का स्थान दर्शनी हुन्डी ने ले लिया है, किन्तु उनसे बहुत थोड़े दिनों की ही साख मिल पाती है। यहाँ हुन्डियों के चलन में एक कठिनाई यह है कि उनके सकारने में बहुत सी शर्तें होती हैं। यही नहीं, हुन्डियों का कोई निश्चित रूप भी नहीं है। न तो उनकी लिपि और भाषा ही एक होती है और भिन्न-भिन्न स्थानों पर निकराने और सकारने (Acceptance and payment) के नियम भी भिन्न होते हैं।

(६) भारत में बिल या हुन्डियों के अभाव का एक कारण यह भी है कि बैंक नकद साख (Cash Credit) अधिक देते हैं। नकद साख बैंकों तथा कर्ज लेने वालों दोनों के ही लिए लाभदायक सिद्ध होती है। कर्ज लेने वालों का लाभ तो यह है कि जितनी साख का वह उपयोग करते हैं उतने पर ही उन्हें सूद देना पड़ता है और बैंक का लाभ यह होता है कि बैंक रुपया जब चाहे वापस माँग सकता है। यदि कर्जदार की आर्थिक स्थिति बिगड़ी मालूम पड़े तो बैंक तुरन्त उससे रुपया वापस ले सकता है। किन्तु नकद साख से बिल दोनों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे क्योंकि कर्ज लेने वालों को बिलों की अवधि तक एक निश्चित रकम की साख (Credit) मिल जावेगी और यदि पुनः भुनाने की सुविधा हो तो बैंकों को एक अत्यन्त तरल लेनी (Liquid Asset) में अपना रुपया लगाने का अवसर मिल जावेगा। फिर कर्जदार को यह भी लाभ होगा कि वह नकद साख पर जितना सूद देता है उससे कम पर बिल को भुना सकेगा।

(७) भारतीय द्रव्य-बाजार में बिलों या हुन्डियों का चलन न होने का एक यह भी कारण है कि भारत सरकार बहुत अधिक राशि में सरकारी हुंडियाँ (Treasury Bills) बेचती है। बैंक इन सरकारी हुंडियों को बहुत बड़ी राशि में खरीदते हैं, क्योंकि वे बहुत सुरक्षित होते हैं और निश्चित समय पर उनका भुगतान हो जाता है। वे तरल भी होते हैं क्योंकि रिज़र्व बैंक उन्हें खरीदने के लिए

सदैव तैयार रहता है।

सेन्ट्रल बैंकिंग जाँच कमेटी तथा सभी बैंकिंग विशेषज्ञों की राय है कि जब तक देश में व्यापारिक बिलों का चलन और उपयोग नहीं बढ़ता और भारत में सगठित बट्टा बाजार (Discount Market) का उदय नहीं होता तब तक भारतीय बैंक सबल और उन्नत नहीं हो सकते। रिजर्व बैंक ही इस देश में हुडियों और बिलों के चलन और उपयोग को बढ़ा सकता है और देश में बट्टा बाजार (Discount Market) स्थापित कर सकता है। रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह अन्य बैंकों को अपने बिलों को पुनः भुनाने (Rediscount) की सभी सुविधायें दें; उन्हें यह निश्चित रूप से बतला दिया जाय कि किस प्रकार के बिल या हुन्डियों को वह पसन्द करेगा। रिजर्व बैंक को यह भी चाहिये कि वह देशी बैंकरों (Indigenous Bankers) को बट्टा गृह (Discount Houses) का काम करने के लिए प्रोत्साहित करे। देशी बैंकर व्यापारियों के बिलों या हुंडियों को भुनावें और यदि उन्हें अधिक कोष (Fund) की आवश्यकता हो तो वे रिजर्व बैंक से उन बिलों या हुडियों को पुनः भुनालें। रिज़र्व बैंक को देशी बैंकरों को अपने बिलों को पुनः भुनाने की सभी सुविधायें देना चाहिये। इससे एक लाभ यह भी होगा कि देशी बैंकरों तथा द्रव्य-बाजार का सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा। यदि देश में प्रमाणित भंडारों तथा गोदामों की व्यवस्था हो जावे, जिनका प्रबन्ध विश्वसनीय हो, तो हुडियों और बिलों का चलन अधिक बढ़ सकता है; क्योंकि इन गोदामों और भण्डारों की रसीद के साथ जो बिल या हुंडी होगी उसके व्यापारिक बिल या हुंडी होने में तनक भी सन्देह नहीं रहेगा और बैंक उन हुंडियों को भुनाने से नहीं हिचकेंगे। जो कुछ भी हो, बैंकिंग की उन्नति के लिए बिलों और हुंडियों की बहुत आवश्यकता है। इस पृष्ठभूमि में जनवरी १९५२ में रिजर्व बैंक ने जो एक योजना प्रकाशित की थी। अब हम इसके विषय में विचार करेंगे।

बिल बाजार और रिजर्व बैंक की योजना—जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का एक प्रमुख दोष यह रहा है कि हमारे यहाँ अन्य देशों की भाँति 'बिल बाजार' का विकास नहीं हुआ। भारत में रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद यह आशा थी कि अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी 'बिल बाजार' का विकास हो सकेगा पर हमारी यह आशा पूरी नहीं हुई। १५ जनवरी १९५२ को भारतीय रिज़र्व बैंक ने द्रव्य बाजार में रुपये की उस समय जो तंगी अनुभव हो रही थी उसे दूर करने की दृष्टि से एक योजना प्रकाशित की। ऐसी आशा की जारही है कि यह योजना समय पाकर हमारे देश में 'बिल बाजार'

के विकास की आधारशिला रखने में सहायक होगी। यह योजना क्या है और वह 'बिल बाजार' का विकास करने में कहाँ तक सहायक होगी, निम्न पंक्तियों में हम इसी विषय पर विचार करेंगे। रिज़र्व बैंक ने जो योजना प्रकाशित की है और जिसके अनुसार रिज़र्व बैंक दूसरे बैंकों को साख दे रहा है वह इस प्रकार है :—

पिछले वर्षों में शेड्यूल्ड बैंकों को व्यापारिक तेजी के समय जब रुपये की विशेष आवश्यकता होती रही है तो वे या तो रिजर्व बैंक से ऋण लेकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में यह सुझाव प्रायः आता रहा है कि इस प्रणाली की अपनी मर्यादायें हैं और इसलिये रुपये की आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से यह वांछनीय है कि देश में बिल बाजार का विकास किया जाये और रुपयों की बैंकों को जब आवश्यकता हो तब वे बिलों को भुनाकर अपनी आवश्यकता पूरी कर लिया करें। इसी लक्ष्य को सामने रखकर रिज़र्व बैंक ने यह योजना तैयार की है।

रिज़र्व बैंक एक्ट की धारा १७ (४) (सी) के अनुसार रिज़र्व बैंक उन मुद्दती प्रोमिजरी नोटों या बिलों की प्रतिभूति पर शेड्यूल्ड बैंकों को हवालगी दे सकता है जो भारत पर जारी किए गए हैं और भारत में चुकाए जाने वाले हैं तथा जो उन पर दिए जाने वाली हवालगी के समय से तीन महीने के अन्दर चुकाए जाने के हैं। इस धारा के अन्तर्गत शेड्यूल्ड बैंकों को 'डिमाण्ड लोन्स' के रूप में भी हवालगी दी जा सकती है यदि शेड्यूल्ड बैंक अपने द्वारा दिये गये दर्शनी प्रोमिजरी नोट (डिमान्ड प्रोमिजरी नोट) के साथ साथ अपने ग्राहकों (कोन्स्टीट्यूएंट्स) द्वारा दिये गये मुद्दती प्रोमिजरी नोट भी रिज़र्व बैंक को दे सकें। शेड्यूल्ड बैंक अपने ग्राहकों द्वारा दिये गये मुद्दती प्रोमिजरी नोट रिज़र्व बैंक को तभी दे सकेंगे जब कि शेड्यूल्ड बैंकों को अपने ग्राहकों से जो दर्शनी प्रोमिजरी नोट उनको ऋण ओवर-ड्राफ्ट, या नकद-साख स्वीकार करते समय मिलते हैं उन दर्शनी प्रोमिजरी नोटों को वे ६० दिन के मुद्दती प्रोमिजरी नोटों में बदल दें। आजकल होता यह है कि शेड्यूल्ड बैंक जब अपने ग्राहकों को ऋण, ओवर-ड्राफ्ट, या नकद साख स्वीकार करते हैं तो उसको किश्तों में चुकाने की उनके ग्राहकों को वे सुविधा देते हैं ताकि उनके पास जब भी थोड़ा रुपया हो वे अपना ऋण, ओवर-ड्राफ्ट, या नकद-साख का आंशिक चुकारा करदें और उन पर लगने वाले व्याज से बच जावें। इसी प्रकार नक़द-साख ओवरड्राफ्ट में से उनको (ग्राहकों को) थोड़ा थोड़ा करके रुपया लेने की सुविधा भी रहती है ताकि बैंक ने कुल जितने का नकद-साख या ओवर-ड्राफ्ट स्वीकार किया है उस सारी रकम पर ही व्याज न लगे। इसलिए शेड्यूल्ड बैंकों को यदि अपने ग्राहकों द्वारा दिये गए मुद्दती प्रोमिजरी नोट रिजर्व बैंक को

देने के लिए चाहियें तो उनको यह तभी मिल सकते हैं जबकि वे अपने ग्राहकों को स्वीकृत मौजूदा ऋण, ओवरड्राफ्ट, या नकद-साख के खातों को दो भागों में बांटें—(१) एक भाग तो वह जो दर्शनी प्रोमिजरी नोट पर आधारित हो जैसा कि इस समय है हो ताकि उन खातों में से समय समय पर रुपया निकाला भी जा सके, और (२) दूसरा भाग वह जो तीन महीने के मुद्दती प्रोमिजरी नोट पर आधारित हो। यह भाग ग्राहक को तीन महीने तक कम से कम जितना ऋण चाहिए उतना बड़ा ही हो सकेगा।

ऋण, ओवर-ड्राफ्ट और नकद-साख के खातों को इस प्रकार दो भागों में बाँट देने से दोनों ही काम हो जायंगे—एक तो शेड्यूल्ड बैंकों को रिजर्व बैंक को देने के लिये मुद्दती प्रोमिजरी नोट उपलब्ध हो जायेंगे और दूसरे शेड्यूल्ड बैंकों के ग्राहकों को भी अपने उधार के खातों में से आवश्यकतानुसार रुपया निकालने या उनमें जमा कराने की सुविधा आज है वह जितनी चाहिये उतनी मिलती रहेगी।

रिजर्व बैंक द्वारा जारी की गई मूल योजना का ब्यौरा तो ऊपर दिया जा चुका है। पर योजना के सम्बन्ध में कुछ और बातें भी ऐसी हैं जिन्हें जान लेना आवश्यक है। रिजर्व बैंक के बंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास और कानपुर में स्थित कार्यालयों द्वारा शेड्यूल्ड बैंकों को दर्शनी ऋण (डिमाण्ड लोन्स) के रूप में हवालगी दी जा सकेगी और यह हवालगी शैड्यूल्ड बैंकों द्वारा भारत भर में कहीं भी अपने ग्राहकों की दी गई हवालगी के संबध में होगी। जो शैड्यूल्ड बैंक इस सुविधा का लाभ उठाना चाहे उसे अपनी माँग रिजर्व बैंक के प्रधान या स्थानीय किसी भी कार्यालय के सामने उपस्थित करनी होगी। रिजर्व बैंक से शेड्यूल्ड बैंक को शेड्यूल्ड बैंक ने जितनी हवालगी अपने ग्राहक को दी है उससे अधिक रुपया नहीं मिल सकेगा। जब हवालगी के लिये शेड्यूल्ड बैंक रिजर्व बैंक को बिल पेश करे तो उसे प्रत्येक पेश किये गये बिल के संबंध में एक विस्तृत ब्यौरा पेश करना चाहिये जिसमें बिल की क्रम संख्या, बिल जारी करने वाले का नाम, तारीख, रकम, मुद्रा, चुकारे की तारीख, डिस्काउन्ट दर, डिस्काउन्ट की रकम जो वसूल की गई, और बिल की असल रकम जो ग्राहक को दी गई या उसके खाते में जमा की गई—इन सब बातों का उल्लेख हो। शेड्यूल्ड बैंक को बिल के जारी करने वाले या उस पर हस्ताक्षर करने वाले से यह प्रमाण पत्र भी स्वयं द्वारा आवश्यक जांच-पड़ताल करने के बाद, लेना चाहिये कि बिल का रुपया व्यापार-व्यवसाय के लिये ही काम में आया है क्योंकि रिज़र्व बैंक कानून के अनुसार तभी बैंक हवालगी दे सकता है। यह प्रमाण पत्र अपने स्वय के एक और प्रमाण पत्र के साथ शेड्यूल्ड बैंक को रिजर्व बैंक के पास जमा कराना आवश्यक है। इसके अलावा

शेड्यूल्ड बैंक को यह भी प्रमाणित करना होगा कि उसके जिस ग्राहक से बिल आया है उसकी आर्थिक स्थिति बिल की रकम की दृष्टि से अच्छी है क्योंकि रिज़र्व बैंक कानून के अनुसार उन्हीं बिलों को स्वीकार कर सकता है जिन पर विश्वसनीय (गुड) हस्ताक्षर हों। शेड्यूल्ड बैंक का यह भी कर्तव्य है कि रिज़र्व बैंक को अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति के बारे में बराबर सूचित करे और इस दृष्टि से स्वयं भी पूरी-पूरी जानकारी रखें। चुकारे की तारीख आने पर या उससे पहले शेड्यूल्ड बैंक को रिज़र्व बैंक को बिल का रुपया चुकाना होगा क्योंकि रिज़र्व बैंक उसको प्रत्याभूति के तौर पर दिये गये इन बिलों को चुकारे के लिए पेश करने का जिम्मा अपने पर नहीं लेगा। योजना में शेड्यूल्ड बैंकों को यह स्वतन्त्रता दी गई है कि रिज़र्व बैंक के पास यदि हवालगी की दृष्टि से अधिक रकम के बिल हैं तो वे अतिरिक्त बिल उससे वापिस लेलें और एक के स्थान पर उसी रकम का दूसरा स्वीकार्य बिल पेश करदें। यद्यपि यह अनिवार्य तो नहीं है पर इसे वांछनीय माना गया है कि शेड्यूल्ड बैंक पहले से ही रिज़र्व बैंक से यह स्वीकृति हासिल करलें कि वह अपने अमुक अमुक ग्राहकों को दी गई हवालगियों को बिल के रूप में परिवर्तित करने जा रहा है ताकि बाद में रिज़र्व बैंक द्वारा उन बिलों को स्वीकार करने के संबंध में कोई सन्देह ही न रहे। इसके लिये शेड्यूल्ड बैंकों को अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति और उनके साथ उसके संबंध के बारे में विस्तृत जानकारी देनी होगी। जब रिज़र्व बैंक के पास उपरोक्त योजना के अन्तर्गत हवालगी चाहने वाले के लिये आवेदन पत्र पेश होगा तो रिज़र्व बैंक को यह अधिकार होगा कि शेड्यूल्ड बैंक के हिसाब और दस्तावेज़ों का निरीक्षण करले तथा अन्य प्रकार से अपना इस विषय में समाधान करले कि जो बिल उसके पास प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे स्वीकार्य हैं। हवालगी स्वीकार करने के बाद भी रिज़र्व बैंक किन्हीं अस्वीकार्य बिलों को, शेड्यूल्ड बैंक को उनकी रकम शेड्यूल्ड बैंक से वसूल करके, वापिस कर सकता है।

ऋण देते समय रिज़र्व बैंक इस बात का भी ध्यान रखेगा कि जो शेड्यूल्ड बैंक हवालगी चाहता है वह व्यापार-व्यवसाय के अलावा सट्टे आदि के कामों के लिये तो रुपया उधार नहीं देता है। इन हवालगियों पर प्रचलित बैंक-रेट से १ प्रतिशत कम दर रिज़र्व बैंक वसूल करेगा ताकि बिल बाजार के निर्माण में प्रोत्साहन मिले। पर रिज़र्व बैंक को ब्याज-दर बदलने की पूरी आज़ादी है। इन बिलों पर जो स्टेम्प शुल्क लगता है उसका आधा व्यय भी रिज़र्व बैंक ने देना स्वीकार किया है।

उपरोक्त योजना का मूल उद्देश्य जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है

व्यापारिक तेजी के समय की रुपये की तंगी को दूर करना है। इसलिये यह निश्चय किया गया है कि २५ लाख रुपये से कम की हवालगी इस योजना के अन्तर्गत नहीं दी जायेगी। साथ ही साथ यह भी निर्णय किया गया है कि प्रत्येक बिल जो इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को पेश किया जाये वह एक लाख रुपये से कम रकम का नहीं होगा। योजना के प्रकाशित होने के कुछ समय पश्चात् एक शर्त यह भी लगादी गई है कि केवल वे बैंक जिनकी जमा १० करोड़ रुपया या अधिक है इस योजना से लाभ उठाने के अधिकारी होंगे।

रिजर्व बैंक द्वारा जारी की गई योजना का विवरण ऊपर दिया गया है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह हमारे देश में 'बिल बाजार' का विकास करने में सफल होगी। इस सबंध में पहली बात जो ध्यान में आती है वह इस योजना के सीमित उद्देश्य के बारे में है। योजना, जैसा कि लिखा जा चुका है, द्रव्य बाजार में आई तात्कालिक तगी को दूर करने की दृष्टि से बनी है। पर यह सम्भव है कि यदि अनुकूल हो तो योजना को स्थायी रूप दे दिया जाये। इसका अर्थ यह है कि स्थायी बिल बाजार के विकास की आधार शिला इस योजना के द्वारा रखी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि इस योजना के सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि व्यापारी व्यवसायी नकद-साख, ओवर-ड्राफ्ट और ऋण के स्थान पर बिलों के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकता पूरी करें। जब रुपये की तंगी न हो तब भी वे ऐसा करेंगे या नहीं यह भविष्य ही बतलायेगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि हमारे व्यापारी-व्यवसायी इस काम में सहयोग दें। तीसरी बात जो इस योजना के संबंध में ध्यान में आती है वह यह है कि योजना का लाभ बड़े-बड़े बैंक ही उठा सकते हैं। अगर इस योजना के द्वारा देश में बिल बाजार का विकास करना है तो इसमें इस दृष्टि से परिवर्तन करने होंगे कि छोटे बैंक और देशी बैंकर भी इससे लाभ उठा सकें। इसके लिए बिल की रकम, हवालगी की रकम और बैंकों की जमा की रकम पर जो मर्यादायें लगाई गई हैं उनको ढीली करनी होंगी। इस योजना के अन्तर्गत हवालगी प्राप्त करने का जो तरीका दिया गया है वह बहुत दिक्कत का है। इसको भविष्य में सुविधाजनक बनाया जा सकता है पर आरंभ में सावधानी की दृष्टि से और स्वास्थ्य पर पराये डालने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक है। इसलिये शेड्यूल्ड बैंकों और व्यापारी-व्यवसायी वर्ग को इसमें रिजर्व बैंक की सहायता करनी चाहिये।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि रिजर्व-बैंक की यह योजना देश में बिल बाजार का विकास करने की एक भूमिका के तौर पर है। संबधित लोगों का कर्तव्य है कि वह इस सीमित योजना को सफल बनाने में योग दें ताकि भविष्य में इसके

आधार पर एक पूर्ण विकसित बिल बाजार हमारे देश में कायम हो सके। इस दृष्टि से रिज़र्व बैंक के मार्ग दर्शन में शेड्यूल्ड बैंकों और दूसरे बैंकों तथा व्यापारियों-व्यवसायियों सभी को अपना-अपना योग दान देना होगा।

(९) भारत में बैंकिंग सम्बन्धी कानून—१९३६ तक भारत में बैंक सम्बन्धी कोई विशेष कानून नहीं था। बैंक भी अन्य मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) की भाँति (१९१३ के कम्पनी ऐक्ट के अन्तर्गत) रजिस्टर होते थे और बैंकों के लिए वही नियम थे जो अन्य कम्पनियों के लिए लागू थे। १९१३ के कम्पनी ऐक्ट में बैंकों तथा अन्य कम्पनियों के बीच में केवल दो बातों में भेद किया गया था। एक अन्तर तो यह था कि १० व्यक्तियों से अधिक साझेदारों वाली फर्म बैंकिंग कारबार नहीं कर सकती थी; और बैंकों की लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) एक निर्धारित ढंग से बनाये जाने की व्यवस्था थी जिसमें सुरक्षित ऋण (Secured Debts) तथा अरक्षित ऋण (Unsecured Debts) अलग-अलग दिखलाना आवश्यक था।

किन्तु इस कानून के द्वारा बैंकों का ठीक नियन्त्रण नहीं किया जा सकता था। सभी देशों में बैंकिंग का कारबार विशेष महत्त्व का समझा जाता है, क्योंकि वे जनता की डिपाज़िट आकर्षित करते हैं और देश के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। यही कारण है कि संसार के प्रत्येक देश में बैंकों का नियन्त्रण करने के लिये विशेष बैंकिंग कानून आवश्यक समझा गया। भारतवर्ष में बैंकिंग सम्बन्धी विशेष कानून का न होना सब को खटकता था और विशेषकर जब १९१३ और १४ में भारतवर्ष में बैंकों का संकट उपस्थित हुआ और बहुत से बैंक डूब गये उस समय से सबका विश्वास दृढ़ हो गया कि देश में विशेष और स्वतंत्र बैंकिंग कानून के बन जाने से शक्तिवान और अच्छे बैंकों के उदय होने में सहायता मिलेगी।

यद्यपि हमें यह न भूल जाना चाहिये कि चाहे कैसा ही अच्छा बैंकिंग कानून क्यों न बनाया जावे वह बुरे प्रबंध, हानि और बैंकों के डूबने को नहीं रोक सकता। बैंक या बैंकर को केवल कानूनों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यही नहीं, यदि बैंकों के लिये बहुत लम्बा-चौड़ा कानून बना दिया जावे तो उनकी उन्नति में रुकावट होती है। बैंकों पर बहुत अधिक बन्धन लगा देना उनकी उन्नति को रोकना है। बैंकों को जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। हाँ रिज़र्व बैंक के नियंत्रण की बैंकों की उन्नति के लिये अवश्य आवश्यकता है। इतना सब होते हुए भी बैंकिंग कानून की इसलिये आवश्यकता है

कि जिससे बेईमानी, धोखे और कुप्रबन्ध को कुछ हद तक रोका जा सके। यही कारण था कि सेन्ट्रल बैंकिंग जाँच कमेटी ने एक स्वतंत्र बैंक कानून की आवश्यकता बतलाई।

उस समय भारत-सरकार ने यद्यपि स्वतन्त्र बैंक कानून तो नहीं बनाया परन्तु १९०६ के कंपनी ऐक्ट में बैंकों के लिए कुछ विशेष नियम बना दिये जो नीचे दिये गये हैं :—

(१) बैंकिंग कम्पनी की कम्पनी ऐक्ट में इस प्रकार परिभाषा की गई—बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जिसका मुख्य कारबार जनता के रुपये को ऐसी डपाज़िटों के रूप में स्वीकार करना है, जो चेक, ड्राफ़्ट या आज्ञा के द्वारा निकाली जा सकें। इसके अतिरिक्त वह नीचे लिखे कार्य को भी कर सकती हैं :—(क) रुपया कर्ज़ लेना और देना, बिलों और हुन्डियों, प्रामिसरी नोटों, कंपनियों के हिस्सों, डिबेंचरों, रेलवे रसीद तथा सोने-चाँदी की खरीद-बिक्री करना और द्रव्य और सिक्यूरिटियों को वसूल करना और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना। (ख) सरकार, म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, तथा व्यक्तियों के एजेंट का काम करना। लेकिन बैंक किसी कम्पनी का मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकता। (ग) सरकार तथा व्यक्तियों के लिए ऋण दिलाना तथा ऋण को निकालना। (घ) सरकारी तथा म्युनिसिपल ऋण का अभिगोपन (Under-writing) करना तथा कम्पनियों के हिस्सों या डिबेंचरों का अभिगोपन करना। (ङ) किसी व्यापारी कारबार को आर्थिक सहायता देना। (च) चल अथवा अचल सम्पत्ति की खरीद-बिक्री करना। (छ) किसी का ट्रस्टी बनना। (ज) किसी दूसरी कम्पनी के हिस्से खरीदना या प्राप्त करना जिसके उद्देश्य उसके ही समान हों। (झ) उन संस्थाओं और कोषों (Funds) को स्थापित करना जो कम्पनी के कर्मचारियों के लाभ के लिये हों। (ञ) कम्पनी के लिए आवश्यक इमारतों को खरीदना।

(२) कोई भी बैंकिंग कम्पनी ऊपर लिखे कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य नहीं कर सकती थी और भविष्य में कोई बैंकिंग कम्पनी रजिस्टर नहीं की जा सकती थी जिसके उद्देश्य डिपाज़िट लेने तथा ऊपर के कार्यों तक ही सीमित न हों।

(३) किसी भी बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्ट नहीं कर सकते थे। भविष्य में कोई भी बैंकिंग कम्पनी जो रजिस्टर की जा चुकी हो, उस समय तक कार्य नहीं कर सकती थी जब तक कि उसकी चुकता पूँजी कम से कम ५०,००० रुपये न हो।

(४) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के लिये यह आवश्यक था कि उस समय तक जब

तक उसका रक्षित कोष (Reserve Fund) उसकी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) के बराबर नहीं हो जाता लाभ का कम से कम २० प्रतिशत रक्षित कोष में जमा करे और शेष लाभ ही हिस्सेदारों में बाँटें। रक्षित कोष या तो सरकारी अथवा ट्रस्ट सिक्यूरिटियों में लगाया जा सकता था, अथवा किसी अन्य शिड्यूल बैंक में जमा कर दिया जा सकता था।

(५) प्रत्येक बैंक (शिड्यूल बैंकों को छोड़कर) को रिज़र्व बैंक के पास अपनी चालू जमा (Current Deposit) का ५ प्रतिशत तथा मुद्दती जमा (Fixed Deposit) का १½ प्रतिशत जमा करना आवश्यक था और प्रत्येक महीने रजिस्ट्रार को एक लेखा भेजना होता था जिसमें पिछले महीने के प्रत्येक शुक्रवार को उनकी कितनी देनी (Liability) थी तथा उसके पास कितना नक़द कोष (Cash Reserve) था यह बताना होता था।

(६) जो भी व्यक्ति किसी बैंकिंग कम्पनी का ऋणी हो अथवा आगे चल कर उसका कर्ज़दार हो जावे, उसका आडिटर (आय-व्यय निरीक्षक) नहीं बनाया जा सकता। बैंकिंग कंपनी को अपने लेनी-देनी के लेखे (Balance Sheet) में बैंक के डायरेक्टरों, मैनेजरों तथा कम्पनी के अन्य कर्मचारियों पर कितना ऋण है यह अलहदा दिखलाना होता था।

रिज़र्व बैंक का बैंक ऐक्ट बनाये जाने का प्रस्ताव—नवम्बर १९३९ में रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार को एक पत्र लिखा और उसमें स्वतंत्र बैंक ऐक्ट बनाये जाने की आवश्यकता बतलाई। साथ ही बैंक ऐक्ट में किन बातों का समावेश होना चाहिये उसका एक लेखा बनाकर भेजा। रिज़र्व बैंक का कहना यह था कि अधिकांश बैंकों की पूँजी और रक्षित कोष बहुत कम है तथा वे डिपाज़िटरों के हितों की चिन्ता नहीं करते इस कारण सरकार को एक क़ानून बनाकर डिपाज़िटरों के हितों की रक्षा करनी चाहिये।

रिज़र्व बैंक का प्रस्तावित बैंक बिल इस प्रकार था—"बैंक की परिभाषा अधिक निश्चित और सीमित कर देनी चाहिए और कोई भी कंपनी जो बैंकिंग कार्य नहीं करती उसे अपने नाम के आगे बैंक शब्द जोड़ने का अधिकार नहीं होना चाहिये। जो कंपनी बैंकिंग कार्य करती है वह अपने नाम के साथ बैंक शब्द अवश्य जोड़े। कोई भी बैंक उन कार्यों के अतिरिक्त अन्य कारबार नहीं करेगा जिनका बिल में समावेश है।

"कोई भी बैंक उस समय तक बैंकिंग कार्य न कर सकेगा जब तक उसकी चुकता पूँजी और रक्षित कोष (Reserve) कम से कम एक लाख रुपये न हो, और यदि बैंक नीचे लिखे स्थानों में से किसी में कारबार करता है अर्थात् उसके

खोलता है तो उसको प्रत्येक स्थान के लिए नीचे लिखे अनुसार पूँजी रखनी होगी :—बम्बई और कलकत्ते के लिए ५ लाख रुपये, प्रत्येक ऐसे स्थान के लिए जिसकी आबादी एक लाख से अधिक हो कम से कम २ लाख रुपये। यदि बैंक उस प्रान्त या राज्य के बाहर ब्रांच खोलना चाहता है जिसमें उसका हैड आफ़िस है तो उसकी चुकता पूँजी (Paid-up Capital) और रक्षित कोष कम से कम २० लाख रुपये होना चाहिए। अर्थात् यदि बैंक की चुकता पूँजी और रक्षित कोष २० लाख रुपये या उससे अधिक है तो वह भारतवर्ष भर में जहाँ चाहे ब्रांचें खोल सकता है।

"किसी बैंक को विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) उसकी अधिकृत पूँजी (Authorised capital) की आधी से कम और चुकता पूँजी (Paid-up capital) विक्रीत पूँजी से आधी से कम न होगी। उदाहरण के लिए यदि किसी बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised capital) ४ करोड़ रुपये है तो कम से कम २ करोड़ रुपये उसकी विक्रीत पूँजी होनी चाहिए और १ करोड़ रुपये उसकी चुकता पूँजी होनी चाहिए।

"प्रत्येक बैंक को रिज़र्व बैंक के पास अपनी चालू जमा और मुद्दती जमा का ३० प्रतिशत नक़द कोष (Cash Reserve) के रूप में अथवा रिज़र्व बैंक द्वारा स्वीकृत सिक्यूरिटियों के रूप में रखना होगा। प्रत्येक बैंक को प्रत्येक वर्ष १ फरवरी के पहले रिज़र्व बैंक में अपनी कुल डिपाज़िटों का लेखा तथा बैंक के पास कितनी लेनी (Assets) है उसका लेखा भेजना होगा। कुल देनी (Liabilities) की ७५ प्रतिशत लेनी वह होगी जिन्हें रिज़र्व बैंक स्वीकार करे।"

भारत सरकार ने उस समय बैंक ऐक्ट बनाना अस्वीकार कर दिया। भारत सरकार का कहना था कि युद्ध समाप्त हो जाने के उपरान्त ही इस प्रकार का कानून बनाना उचित होगा। १९४१ और १९४२ में नये बैंकों की एक बाढ़-सी आ गई, बहुत से नये बैंक स्थापित हुए। उनमें से बहुतों की अधिकृत पूँजी (Authorised capital) तो बहुत अधिक थी किन्तु चुकती पूँजी बहुत कम थी। साथ ही बहुत से बैंकों ने पूर्वाधिकार वाले हिस्से (Preferential Shares), साधारण हिस्से (Ordinary Shares) तथा विलम्बित हिस्से (Deferred Shares) निकाले और पूर्वाधिकार वाले हिस्सों को मत देने का अधिकार हो नहीं दिया और विलम्बित हिस्सों (Deferred Shares) का मूल्य बहुत थोड़ा रक्खा—एक या दो रुपया—और उनको भी मत का अधिकार उतना ही दिया जितना साधारण हिस्से वालों को था जिनका मूल्य बहुत अधिक था। सच तो यह था कि यह युक्ति कुछ लोगों ने बैंक में बहुत कम पूँजी लगा कर बैंक को अपने हाथ में रखने

के लिए निकाली थी। उदाहरण के लिए एक बैंक स्थापित किया जाता है, जिसकी विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) केवल एक करोड़ रुपया है। इसमें २० हज़ार पूर्वाधिकार वाले हिस्से (Preferential Shares) हैं, जिनका मूल्य प्रति हिस्सा १०० रुपया है जो पूरा चुका दिया गया है। ७५ हज़ार साधारण हिस्से हैं जिनका मूल्य प्रति हिस्सा १०० रुपया है जो पूरा चुका दिया गया है और केवल २ लाख विलम्बित हिस्से (Deferred Shares) हैं जिनका मूल्य प्रति हिस्सा २½ रु० है और जिन पर प्रति हिस्सा केवल १ रुपया चुकाया गया है। इस बैंक को स्थापित करने वाले चतुर व्यवसायी विधान में यह नियम बना दें कि पूर्वाधिकार वाले हिस्सों को मतदान का कोई अधिकार न होगा अथवा एक हिस्से का एक वोट होगा, और प्रत्येक साधारण हिस्से का एक वोट होगा और प्रत्येक विलम्बित हिस्से का भी एक वोट होगा, और वे सब विलम्बित हिस्से खरीद लें और उन पर प्रति हिस्से के हिसाब से एक रुपया चुका दें तो वे केवल २ लाख रुपये लगा कर २ लाख वोट प्राप्त कर लेंगे और साधारण हिस्सेदार और पूर्वाधिकार वाले हिस्सेदार ९५ लाख रुपये लगाकर भी कुल ९५ हज़ार वोटों के अधिकारी होंगे। इस प्रकार बैंक उन लोगों के, जिन्होंने चालाकी से विलम्बित हिस्से खरीद लिए हैं, अधिकार में चला जावेगा।

जब रिज़र्व बैंक ने देखा कि नवीन स्थापित बैंकों में यह दोष बड़ी मात्रा में पाया जाता है तो उसने भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। भारत सरकार ने १९४२ में कम्पनी ऐक्ट में संशोधन कर दिया और उसके अनुसार यह निश्चित होगया कि जिस कम्पनी के नाम के साथ बैंकिंग या बैंकर लगा है उसको बैंकिंग कम्पनी स्वीकार किया जावेगा; फिर चाहे उसका मुख्य कार्य ऐसा डिपाज़िट लेना, जो कि चेक से निकाली जा सके, हो या न हो। उसके साथ ही सरकार ने यह भी नियम बना दिया कि प्रत्येक बैंक की विक्रीत पूँजी (Subscribed capital) कम से कम अधिकृत पूँजी (Authorised capital) की आधी होगी और चुकता पूँजी (Paid-up capital) विक्रीत पूँजी की कम से कम आधी होगी, और बैंक या तो केवल साधारण हिस्से (Ordinary Shares) ही रक्खेंगे और यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के हिस्से रक्खेंगे तो उनके मतदान का अधिकार उनकी पूँजी के अनुपात में ही होगा। उदाहरण के लिए ऊपर जिस कल्पित बैंक का हमने उल्लेख किया है, उसमें पूर्वाधिकार वाले हिस्सेदारों को २० हज़ार, साधारण हिस्सेदारों को ७५ हज़ार तथा विलम्बित हिस्सेदारों को केवल २ हज़ार मत देने का अधिकार होगा।

इतना सब कुछ होने पर भी कुछ काल में नये बैंकों की स्थापना इस तेज़ी से

हुई और उनमें कुछ ऐसे दोष दृष्टिगोचर होने लगे कि भारत सरकार को स्वतंत्र बैंक कानून बनाने के लिए विवश होना पड़ा और १९४५ में भारत सरकार ने एक बिल धारा सभा में उपस्थित किया। यह प्रस्तावित बैंक कानून रिज़र्व बैंक के प्रस्तावित बैंक बिल के अनुसार ही था। केवल उसमें इतना ही अन्तर था कि इस प्रस्तावित कानून में बैंक की परिभाषा इस प्रकार की गई—बैंक वह है जो अभियाचन डिपाज़िट या जमा (Demand Deposit) स्वीकार करे। इस प्रस्तावित कानून के अनुसार कोई भी बैंक अपने डायरेक्टरों को अथवा उस फ़र्म या कम्पनी को जिसका साझेदार, डायरेक्टर या मैनेजिंग एजेंट बैंक का कोई डायरेक्टर हो अरक्षित ऋण (Unsecured Loan) नहीं दे सकता था और प्रत्येक बैंक को जो अपने जन्म प्रांत के बाहर कारबार करे, कम से कम २० लाख रुपये की चुकता पूँजी और रक्षित कोष रखना आवश्यक था। इसी प्रकार बम्बई या कलकत्ता में ब्राञ्च खोलने के लिए ५ लाख, प्रत्येक ऐसे स्थान पर जिसकी आबादी १ लाख से ऊपर हो २ लाख और प्रत्येक ब्रांच के लिए प्रति ब्राञ्च के हिसाब से १० हज़ार रुपये की पूँजी और रक्षित कोष आवश्यक था। कोई भी बैंक एक लाख की पूँजी और रक्षित कोष के बिना बैंक-कार्य नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त प्रस्तावित कानून में प्रत्येक बैंक को अपनी कुल डिपाजिट का २५ प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास नकद कोष (Cash Reserve) अथवा सरकारी और ट्रस्ट सिक्यूरिटियों के रूप में रखना अनिवार्य किया गया था।

इस बिल में उन कार्यों का भी उल्लेख किया गया था जो एक बैंक कर सकता था। यह इसलिये किया गया था कि जिससे रुपया जमा करने वालों की अमानत (जमा) की सुरक्षा हो। बिल का उद्देश्य यह था कि व्यापारिक बैंक अपना धन उद्योग धन्धों में लम्बे समय के लिये न लगावें। उसके लिये औद्योगिक बैंकों की स्थापना की जानी चाहिये। जर्मनी, इटली और बेलजियम में जिस प्रकार व्यापारिक कारबार करने के साथ-साथ स्थायी अथवा अर्ध स्थायी रूप से उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने की परिपाटी चल पड़ी है उसे भारत में न पनपने देना ही इस धारा का उद्देश्य था।

बिल में दो धारायें इस आशय की भी थीं कि बैंक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी प्रकार की व्यापारिक जोखिम को अपने ऊपर नहीं लें और इस उद्देश्य से वे बैंकिंग कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार को नहीं करें।

बिल में एक धारा इस आशय की भी थी कि जो बैंक भारत या ब्रिटेन के बाहर स्थापित हुए हैं और वे भारत में अपना कारबार करते हैं उन्हें रिज़र्व बैंक के पास रिज़र्व बैंक द्वारा निश्चित अमानत (जमा) रखनी होगी। इसके द्वारा उन

भारतीयों को जो विदेशी बैंकों में अपना रुपया जमा करते हैं थोड़ी सुविधा देने का प्रयत्न किया गया था।

इस बिल के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए यह भी अनिवार्य कर दिया गया था कि वह प्रत्येक महीने अपने कारबार का लेखा और उसने अपनी पूँजी कहाँ लगाई इसका ब्यौरा रिज़र्व बैंक को दे जिससे रिज़र्व बैंक उसकी गतिविधि से पूरी तरह परिचित हो सके।

बिल के अनुसार रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों की जाँच करने का भी अधिकार प्राप्त था।

किन्तु १९४५ का यह बैंकिंग बिल व्यवस्थापिका सभा के भंग हो जाने के कारण व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित न किया जा सका।

अन्त में ११ अप्रेल १९४६ को तत्कालीन अर्थ सदस्य सर रोलैंड्स ने पुराने बिल का संशोधन करके फिर एक बिल व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित किया जो सेलेक्ट कमेटी के सुपुर्द कर दिया गया। यह बिल १९४५ के बिल के आधार पर ही बनाया गया था। इसमें केवल कुछ संशोधन किये गये थे। इस नये बिल के अनुसार रिज़र्व बैंक को किसी भी बैंक के हिसाब तथा कारबार की जाँच करने का अधिकार था। यह बिल विदेशी बैंकों पर भी लागू होता था। इसके अनुसार एक विशेष प्रकार की लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet) निर्धारित किया गया था तथा रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों से सारी जानकारी प्राप्त करने का अधिकार दिया गया था। बैंकों को बैंकिंग कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की मनाही कर दी गई थी। बिना पूर्व आज्ञा लिए कोई दो बैंक मिलकर एक नहीं हो सकते थे। जहाँ तक पूँजी के संगठन का प्रश्न था वह पूर्ववत् ही रक्खा गया।

किन्तु यह बिल भी शीघ्र पास न हो सका। इस बीच में आवश्यकता पड़ने के कारण सरकार ने १९४६ में एक आर्डिनेंस बनाकर रिज़र्व बैंक को अन्य बैंकों की जाँच का अधिकार दे दिया। साथ ही रिज़र्व बैंक को यह भी अधिकार दे दिया गया कि यदि उसकी जाँच का परिणाम यह निकले कि बैंक का कार्य ठीक नहीं है तो रिज़र्व बैंक उस बैंक को आगे जमा न लेने की आज्ञा दे सकता है और उसको शिड्यूल बैंक की श्रेणी से निकाल सकता है। रिज़र्व बैंक ने इस अधिकार का प्रयोग किया और इंटर नेशनल बैंक ऑव इंडिया, आर्यन बैंक तथा न्याना बैंक को आगे डिपाज़िट की न लेने आज्ञाएँ दी गईं।

एक दूसरे आर्डिनेंस से भारतीय बैंकों को बेयरर प्रामिज़री नोट निकालने की मनाही कर दी गई। बात यह थी कि यदि कोई बैंक बेयरर प्रामिज़री नोट

निकाले तो वे बिना किसी अड़चन के एक हाथ से दूसरे हाथ में जा सकते हैं और उनका चलन बैंक नोटों के अनुसार होने लग सकता है।

एक तीसरा विधान यह बनाया गया कि कोई बैंक बिना रिज़र्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किए कोई नई शाखा नहीं खोल सकेगा और न स्थापित शाखा के स्थान को ही बदल सकेगा। रिज़र्व बैंक उस बैंक की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध, उस बैंक का पुराना इतिहास, लाभ की आशा तथा जनहित को ध्यान में रखकर किसी बैंक की स्थापित ब्रांच को बंद करने तथा उसके स्थान परिवर्तन की आज्ञा देगा अथवा नहीं देगा।

१६४६ का बैंकिंग एक्ट—१६४६ का बैंक बिल भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में न लाया जा सका क्योंकि अगस्त १६४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया अतएव उस बिल में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अस्तु; पुराने बिल को सरकार ने वापस ले लिया और १६४८ में एक नया बिल सारे देश के बैंकों के लिये व्यवस्थापिका सभा के सामने उपस्थित किया गया। फरवरी, १६४६ में संसद से यह बिल पास हो गया, और १६ मार्च १६४६ से वह एक्ट के रूप में लागू कर दिया गया। इस एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं :—

(१) बैंक की एक विस्तृत परिभाषा स्वीकार कर ली गई है। उस परिभाषा के अनुसार जो भी संस्था ऋण देने के लिए अथवा विनियोग (Investment) के लिए किसी भी प्रकार की जमा (डिपाज़िट) स्वीकार करे और जो चैक, ड्राफ्ट, आदेश या अन्य प्रकार से वापिस लिया जा सके, वह बैंक की श्रेणी में गिनी जावेगी।

(२) प्रत्येक बैंक को रिज़र्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त करना होगा। विदेशी बैंक के बारे में रिज़र्व बैंक यह इतमीनान करेगा कि उसके देश में भारतीय बैंक के विरुद्ध जो भारत में रजिस्टर हुआ है कोई पक्षपात तो नहीं होता। लाइसेंस जारी करने का यह काम अप्रैल १६५२ में आरंभ कर दिया गया।

(३) बैंक की न्यूनतम पूँजी और रक्षित कोष के बारे में एक्ट में विधान किया गया है।

(४) शिड्यूल बैंक तो पहले से ही रिज़र्व बैंक एक्ट १६३४ के तहत में रिज़र्व बैंक के पास जमा रखते हैं और साप्ताहिक स्टेटमेंट पेश करते हैं। इस एक्ट के तहत में नॉन-शिड्यूल बैंकों को भी 'डिमान्ड लाइबिलटी' का ५% और 'टाइम लाइबिलटी' का २% रिज़र्व बैंक में जमा के रूप में रखना होगा और मासिक स्टेटमेंट, जिसमें नक़द और 'डिमांड तथा टाइम लाइबिलटीज़' दिये होंगे, पेश किया जायगा।

(५) एक्ट के लागू होने के दो वर्ष बाद बैंकिंग कम्पनियों को उनकी भारत में जितनी 'डिमांड और टाइम लाइबिलटीज़' हैं उनका २०% नक़द, सोना, या देसी स्वीकृत सिक्यूरिटीज़ में जिन पर कोई देनदारी नहीं है, रखना होगा। उनको राज्यों में हर तीसरे माह के अंत में उनकी 'टाइम और डिमांड लाइबिलटीज़' के कम से कम ७५% के बराबर ऐसेट्स रखने होंगे। १६ मार्च १६५१ से यह धारा लागू होगई।

(६) बैंकों में डाइरेक्टरों की आपस में नियुक्ति (इंटर लॉकिंग) नहीं हो सकेगी। बैंकों में मैनेजिंग एजेंट नहीं नियुक्त किये जा सकेंगे। बैंकों के डाइरेक्टरों या जिन फ़र्मों में वे दिलचस्पी रखते हैं उनको बिना जमानत के क़र्ज़ नहीं दिया जा सकेगा। जिन कम्पनियों में बैंक के डाइरेक्टरों का स्वार्थ है उनको बिना ज़मानत पर दिये गये क़र्ज़ का स्टेटमेंट प्रतिमास रिज़र्व बैंक को भेजना होगा।

(७) रिज़र्व बैंक देश के बैंकों पर हर प्रकार से नियंत्रण रख सकेगा। जैसे उनको उनकी ऋण नीति के बारे में आदेश दे सकेगा। किस काम के लिये क़र्ज़ दिया जाय या न दिया जाय, कितने सूद पर दिया जाय, कितना मार्जिन रक्खा जाय, अमुक या अमुक प्रकार के सौदे किये जायें, यह सब आदेश रिज़र्व बैंक दे सकेगा। आवश्यक जानकारी मांगने, उसे प्रकाशित करने और बैंकों का निरीक्षण करने का भी उसे अधिकार होगा। नई ब्रांच खोलने या मौजूदा ब्रांच का स्थान बदलने के लिए बैंक को स्वीकृति आवश्यक होगी। देश की बैंकिंग स्थिति के बारे में रिज़र्व बैंक भारत सरकार को सालाना रिपोर्ट पेश करेगा।

(८) रिज़र्व बैंक को स्वेच्छा से कारोबार बन्द करने और बैंकों के आपस में मिलने के सम्बन्ध में भी कुछ अधिकार होंगे। उसे ऑफिशियल लिक्विडेटर भी नियुक्त किया जा सकेगा। मार्च १६५० में मुख्यतः बैंकों के आपस में मिलने या उनके लिक्वीडेशन के बारे में सरल पद्धति की व्यवस्था करने के उद्देश्य से उपर्युक्त एक्ट का संशोधन भी किया जा चुका है।

(१०) द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद की स्थिति—(१) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर पहला प्रभाव यह पड़ा कि यहाँ नये बैंकों की बाढ़ सी आ गई, अनेक नये बैंक स्थापित हुए और पुराने बैंकों ने तेज़ी से अपनी ब्रांचों को बढ़ाया। इसका कारण यह था कि युद्धकाल में धन्धों को खड़ा करने के लिए मशीन तथा यन्त्र तो विदेशों से आ नहीं सकते थे जो फैक्टरियाँ स्थापित की जा सकतीं; और न इमारतें इत्यादि बनाने की सुविधा थी। किन्तु बैंक स्थापित करने में इन चीज़ों की आवश्यकता न थी। उसके लिए केवल अल्पकालीन कोष (Short-

term Funds) की आवश्यकता थी और वह युद्ध-काल में इस देश में बहुतायत से उपलब्ध था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक बड़े पूँजीपति या व्यवसायी ने अपना बैंक खड़ा कर लिया। आज ऐसा कोई प्रसिद्ध भारतीय व्यवसायी नहीं है जिसने इस समय में बैंक स्थापित नहीं किया हो। यदि भारत सरकार नई मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के स्थापित होने पर रोक न लगा देती तो सम्भवतः भारत में अनाप-शनाप बैंकों की वृद्धि होती। फिर भी जहाँ १९३८-१९३९ में शिड्यूल बैंकों की संख्या ५१ थी वह १९४७-१९४८ में बढ़ कर १०१ हो गई थी और १९४९-५० में ९४ थी। १९५१ के अन्त में शेड्यूल्ड बैंकों की संख्या ९५ थी। इसी प्रकार १९३८ में शिड्यूल बैंकों की ब्रांचों की संख्या जो १२७८ थी वह ३१ मार्च १९४९ को बढ़ कर ३००८ हो गई थी। इसके बाद इस संख्या में कमी हुई और सितंबर १९५१ के अन्त में यह संख्या २६७८ थी।

बैंकों की इस कल्पनातीत वृद्धि के होने पर प्रति ब्रांच बड़े बैंकों में १५ लाख रुपये और साधारण और छोटे बैंकों में ३ लाख रुपये से डिपाजिटों का औसत कम नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि युद्ध-काल में बैंकों की डिपाज़िट भी वेहद बढ़ गई। इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक और भारतीय मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की स्थिति १९४१ तक लगभग पूर्ववत् ही रही, परन्तु जापान के युद्ध में सम्मिलित होते ही विनिमय बैंकों (एक्सचेंज बैंकों) की आनुपातिक डिपाज़िट गिरने लगीं। जहाँ युद्ध के पूर्व एक्सचेंज बैंकों की डिपाज़िट कुल बैंकों की डिपाज़िटों का २९·५ प्रतिशत थीं वहाँ १९४२ में वह २५ प्रतिशत और १९४३ में २० प्रतिशत से भी कम हो गई। ३१ दिसम्बर १९५० को कुल डिपाजिट का १८ प्रतिशत भाग एक्सचेंज बैंक, ७४ प्रतिशत भाग दूसरे शिड्यूल बैंक और ८ प्रतिशत भाग नॉन-शिड्यूल बैंकों का था।

युद्ध का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि बैंकों की डिपाज़िट में कल्पनातीत वृद्धि हुई। इम्पीरियल बैंक, एक्सचेंज बैंक तथा अन्य शिड्यूल बैंकों की कुल डिपाजिट युद्ध आरम्भ होने के समय २३८ करोड़ रुपये थी। १९४४ में वही बढ़कर ७८२ करोड़ रुपये हो गई और जनवरी १९४८ में वही बढ़कर १०८० करोड़ रुपये के लगभग हो गई। इसके बाद कई कारणों से डिपाजिट कम हुई पर १९५० में 'बैलेंस ऑव पेमेंट' की स्थिति में सुधार होने से, रिजर्व बैंक के खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ खरीदने से और बैंक द्वारा साख में वृद्धि करने से डिपाजिट की मात्रा बढ़ी। लेकिन फिर १९५१ में कुछ कमी आई। २९ फरवरी १९५२ को शेड्यूल्ड बैंकों की कुल जमा ८९८·८५ करोड़ रुपये थी। युद्ध काल में डिपाजिट वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि युद्ध के व्यय के कारण मुद्रा का देश में बहुत

विस्तार हुआ था। रिजर्व बैंक तथा सरकार ने अनाप-शनाप नोट छापे थे। बैंकों की डिपाजिटों की वृद्धि का एक कारण यह भी था कि बैंकों ने नये क्षेत्रों में प्रवेश किया था तथा ब्रांचों का बहुत विस्तार हुआ था।

बैंकों की डिपाजिटों के सम्बन्ध में एक और आश्चर्यजनक बात हुई। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व मुद्दती जमा (Fixed Deposits) का कुल डिपाजिटों का अनुपात ५० प्रतिशत था अर्थात् मुद्दती जमा आधी थी, किन्तु युद्ध काल में मुद्दती जमा तो बहुत कम बढ़ीं किन्तु चालू जमा (Current Deposits) बहुत अधिक बढ़ गईं। इसके तीन मुख्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि सूद की दर बहुत गिर गई थी। १९३१ के उपरान्त सूद की दर गिरती ही चली जा रही थी, इस कारण जनसाधारण को एक वर्ष के लिए रुपया अटकाने में कोई लाभ नहीं दिखता था। वह चालू खाते में रुपया जमा करना पसन्द करते थे। किन्तु यह प्रभाव युद्ध के पहले से ही काम कर रहा था। दूसरा कारण यह था कि जनसाधारण कीमतें बहुत ऊँची होने के कारण अपनी बचत को तरल रूप (Liquid Form) में रखना चाहते थे ताकि जब अवसर आवे तभी अपनी बचत का इन चीजों के खरीदने में उपयोग कर सकें। तीसरा कारण चालू जमा की अत्यधिक वृद्धि का यह था कि युद्ध काल में मशीनें तथा अन्य सामान न मिलने के कारण नये कारखाने तो स्थापित हो नहीं सकते थे कि जिनमें व्यवसायी तथा व्यापारी अपने बढ़ते हुए लाभ को लगा सकते, अतएव वे उस धन को अपने कारखानों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) को बढ़ाने में लगाते थे जिससे वे उसी कारखाने से अधिक से अधिक उत्पादन कर सकें। २९ फरवरी १९५२ को ८६८.८५ की कुल जमा में २९१.८४ करोड़ मुद्दती जमा और ५७७.०१ करोड़ चालू जमा था। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन, मार्च १९५२, स्टेटमेंट ३)। पिछले दो वर्षों में मुद्दती जमा की स्थिति में बहुत थोड़ा सुधार हुआ है।

युद्ध का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि बैंकों की चुकता पूँजी या परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) और रक्षित कोष उनकी डिपाजिटों की तुलना में बहुत घट गई। इम्पीरियल बैंक की पूँजी और रक्षित कोष उसकी डिपाजिटों की तुलना में जहाँ १९३९ में १२.८ प्रतिशत था वह घट कर ४.५ प्रतिशत रह गया, पाँच बड़ों की परिदत्त पूँजी और रक्षित कोष ९.२ प्रतिशत से घट कर ४.५ प्रतिशत रह गई। इसका फल यह हुआ कि बहुत से बैंकों ने अपनी पूँजी (Capital) को बढ़ाया।

युद्ध का चौथा प्रभाव यह हुआ कि उद्योग-धन्धों और व्यापार के लिये

जो ऋण की माँग थी वह कम हो गई किन्तु सरकार ने एक के बाद दूसरे ऋण निकालने आरम्भ किये। १६३६ में जहाँ शेड्यूल्ड बैंक अपनी कुल डिपाज़िटों का ५० प्रतिशत ऋण, नकद साख तथा बिलों के रूप में धन्धों और व्यापार में लगाते थे वहाँ १६४५ में उन्होंने अपनी डिपाजिटों का कुल ३२ प्रतिशत इस रूप में लगाया (इण्डियन एण्ड पाकिस्तान इयर बुक, पृष्ठ १५६) जैसे-जैसे युद्ध चलता गया उद्योग-धन्धों को बैंकों से उधार लेने की आवश्यकता कम होती गई। उनके लाभ को व्यवसायी चालू खाते में रखते थे और उसी को कार्यशील पूँजी (Working Capital) के रूप में लाते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बैंकों ने अपने कोष (Funds) को सरकारी सिक्यूरिटियों में अधिकाधिक लगाना आरम्भ कर दिया। यही नहीं, बैंकों ने नकद कोष (Cash Reserve) भी अधिक रखना आरम्भ कर दिया। शिड्यूल बैंक १५ प्रतिशत, इम्पीरियल बैंक १५ से २५ प्रतिशत, बड़े पाँच १८ प्रतिशत, और वे बैंक जो शिड्यूल बैंक नहीं हैं ११ प्रतिशत नकद कोष रखने लगे। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की प्रतिभूतियों में १६४५ में शेड्यूल्ड बैंकों ने कुल जमा का ५३% लगा रखा था (रिजर्व बैंक बुलेटिन, मार्च १६५२, पृष्ठ १६६)। दूसरे शब्दों में युद्ध काल में बैंकों की तरल लेनी (Liquid Assets) का अनुपात बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों को अपने रुपये पर सूद की कम आय होने लगी। इस कारण उन्होंने भी डिपाज़िटों पर सूद कम कर दिया। १६५० में विदेशी विनिमय बैंक की नक़द रोकड़ ११·०७%, भारतीय शेड्यूल्ड बैंकों की १४·८३% और नॉन-शेड्यूल्ड बैंकों की १६·४६% थी। जहां तक 'एडवान्सेज़' का सवाल है युद्ध के बाद से स्थिति बदली है। १६४६ में कुल जमा का ५०% एडवांसेज़ और बिलों के भुनाने में लगा था (इंडियन एण्ड पाकिस्तान इयर बुक, १६५१)। मार्च १६५२ में एडवांसेज़ और बिलों में कुल जमा का ६८·५६% लगा हुआ था। इसी प्रकार सरकारी प्रतिभूतियों में कुल जमा का ३५% दिसंबर १६५१ के अन्त में लगा हुआ था। डिपाज़िट पर सूद के बारे में भी परिवर्तन हुआ है। युद्धकाल में सूद की दर २% से घटकर १¾% होगई तो फिर बढ़कर २% पर १६४७-४८ में पहुँच गई (इंडियन इयर बुक, १६५१)। नवम्बर १६५१ के बाद इस दर में और वृद्धि हुई।

युद्ध का पाँचवाँ प्रभाव यह पड़ा कि बैंकों में कुछ खराबियाँ और उनकी कार्य-पद्धति में कुछ कमी दृष्टिगोचर होने लगी। अतएव रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया और भारत सरकार ने कंपनी एक्ट में कुछ सुधार किये तथा एक बैंक-कानून पास किया।

युद्ध का छठा प्रभाव यह पड़ा कि बैंकों की वृद्धि होने के कारण बैंक कर्मचारियों का टोटा पड़ गया। नये बैंकों ने पुराने बैंकों के कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर अपने यहाँ रख लिया और प्रत्येक बैंक को यह आवश्यकता अनुभव होने लगी कि युवकों को अपरैंटिस रखकर उनको बैंक-कार्य सिखाने का प्रबन्ध किया जावे।

अन्तिम प्रभाव यह हुआ कि भारतीय बैंक यह अनुभव करने लगे कि अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन स्थापित की जावे जो अस्वास्थकर होड़ को रोके तथा बैंकों में सद्भावना और परस्पर सम्बन्ध स्थापित करे। साथ ही ऊँचे दर्जे की बैंकिंग परम्परा का निर्माण करे तथा बैंकों और रिज़र्व बैंक के बीच में एक कड़ी का काम दे। यह एसोसियेशन भारतीय बैंकों की कठिनाइयों तथा माँगों को सरकार के सामने रख सकेगी और उनका प्रतिनिधित्व कर सकेगी। यही कारण था कि बम्बई के बैंकरों ने उसको स्थापित करने का प्रयत्न किया।

यद्यपि युद्ध के फलस्वरूप भारत में बैंकों का तेज़ी से विस्तार हुआ किन्तु उस बाढ़ में बहुत से निर्बल बैंक भी स्थापित किये गये और वे डिपाज़िट लेने के लिए अस्वास्थकर प्रतिस्पर्धा करने लगे। विशेष कर बंगाल और पंजाब में इस प्रकार के बहुत से छोटे-छोटे बैंक स्थापित हुए। १६४७ में इनमें से पचास से अधिक बैंक डूब गये। भविष्य में बैंकों को सबल और सुदृढ़ बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि छोटे बैंक दूसरे बैंकों से मिल जावें। देश में इस समय बैंकिंग सम्मिश्रण (Banking Amalgamation) की आवश्यकता है। तभी बैंकिंग व्यवसाय उन्नति कर सकेगा।

देश के विभाजन का प्रभाव—१५ अगस्त १६४७ को भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया किन्तु साथ ही उसका विभाजन भी हो गया। उसके फलस्वरूप जो पंजाब, सीमाप्रान्त तथा सिंध इत्यादि में हत्याकांड हुआ उसमें उत्तर-पश्चिम भारत में फैले हुए बैंकों की बहुत अधिक हानि हुई। वहाँ का व्यापार तथा व्यवसाय चौपट हो गया और बैंकों का जो रुपया लगा हुआ था वह बहुत कुछ डूब गया। फिर भी यह कहना होगा कि बैंकों ने इस हानि को सहन कर लिया और उनमें से अधिकांश की स्थिति अच्छी है। हाँ, इसका एक प्रभाव अवश्य हुआ है। पंजाब तथा पाकिस्तान के बहुत से बैंक अपने हेड आफिसों को वहाँ से हटाकर भारत में ले आये हैं। साथ ही बहुत से बैंक सम्भवतः वहाँ अपनी ब्रांचों को भी बन्द कर दें।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank)—द्वितीय संसारव्यापी महायुद्ध (१६३६ से १६४५) के समय संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के अर्थशास्त्रियों

ने यह अनुभव किया कि संसार के प्रत्येक देश की करंसी को स्थायित्व प्रदान करना तथा भिन्न-भिन्न देशों की करंसी की विनिमय दर (Exchange Rates) को अधिक घटने या बढ़ने न देना देशों की आर्थिक उन्नति तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए आवश्यक है। अतएव जुलाई १६४४ में संयुक्त राज्य अमेरिका में ब्रेटन वुड्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का निश्चय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति या द्रव्य पद्धति (Monetary System) की पुनः स्थापना करना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी सहयोग स्थापित हो सके। अर्थशास्त्रियों का यह दृढ़ विचार था कि बिना इसके संसार के भिन्न-भिन्न देशों में उत्पादन को तेजी से बढ़ाया नहीं जा सकता और न बेकारी को ही दूर किया जा सकता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के साथ ही एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की भी स्थापना आवश्यक समझी गई जो भिन्न-भिन्न देशों की औद्योगिक उन्नति में सहायक हो सके। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष-सदस्य देशों की अल्पकालीन साख (Short-term Credit) की आवश्यकताओं को पूरा करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों के औद्योगिक विकास के लिए लम्बे समय के लिए पूँजी की व्यवस्था करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उपस्थित सभी विद्वानों का मत था कि संसार-व्यापी महायुद्ध से अधिकांश देशों का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया है। अस्तु, यदि प्रत्येक देश युद्ध की समाप्ति के उपरान्त अपनी-अपनी करसी का स्वतंत्र रूप से प्रबन्ध करेगा तो विनिमय दर (Exchange Rates) में बहुत घट-बढ़ होगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति अवरुद्ध होगी। इसका प्रभाव उन देशों की आर्थिक स्थिति पर बुरा होगा और उनकी आर्थिक उन्नति नहीं होगी। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि भिन्न-भिन्न देशों की करंसी तथा उनकी विनिमय दर (Exchange Rates) को स्थायित्व प्रदान किया जावे। इसी के साथ 'कोष' का यह उद्देश्य भी है कि विनिमय दर सम्बन्धी तमाम प्रतिबंध और मुद्रा सम्बन्धी भेद नीति का अन्ततोगत्वा अन्त हो। हां, कुछ समय के लिए किन्हीं प्रतिबन्धों को रहने दिया जा सकता है।

१६३१ के पूर्व स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard) के द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों की करंसी की विनिमय दर को स्थायित्व (Stability) प्रदान होता था। किन्तु एक के बाद दूसरे देश ने स्वर्ण प्रमाण को छोड़ दिया और अब अधि-

कांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard) बहुत ही कम लचीला और अव्यवहार्य है। अस्तु; इस बात की आवश्यकता हुई कि एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य पद्धति (International Monetary System) को जन्म दिया जावे जो अधिक लचीली हो। इसी उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विनिमय दर का स्थायित्व—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों की करंसी की विनिमय दरों को स्थायित्व प्रदान करना है। इसके लिए आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न देशों की करंसी के लिए एक सर्वमान्य आधार हो। अस्तु; प्रत्येक सदस्य देश को अपनी करंसी का मूल्य सोने में निश्चित करना होगा। सोने के द्वारा संसार के प्रत्येक देश की करंसी की विनिमय की सममूल्य दर (Parity of Exchange) निर्धारित हो जावेगी। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के द्वारा भिन्न-भिन्न सदस्य देशों की विनिमय दरों को एक सीमा के अन्दर ही रखने का आयोजन किया जावेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि देशों की करंसी की विनिमय दर एक निश्चित सीमा से अधिक घट-बढ़ न सकेगी।

युद्ध के कारण बहुत से देशों का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया है इस कारण आरम्भ में बहुत से देशों का व्यापार संतुलन (Balance of Trade) उनके विरुद्ध में होगा, अर्थात् वे जितने मूल्य का माल बाहर भेजेंगे उससे बहुत अधिक मूल्य की वस्तुएँ बाहर से मँगावेंगे। ऐसी दशा में उन देशों को विदेशों की करंसी की बहुत अधिक आवश्यकता होगी और यदि उनको विदेशों की करंसी को निश्चित विनिमय दर (Exchange Rates) पर देने का प्रबन्ध न किया गया तो उनकी करंसी की विनिमय दर कभी स्थिर नहीं रह सकती। यदि युद्ध-जनित आर्थिक गड़बड़ी को छोड़ भी दें तो भी साधारण व्यापार में कभी-कभी व्यापार का संतुलन किसी समय किसी देश के पक्ष में हो सकता है और किसी समय किसी देश के विपक्ष में। ऐसी अवस्था में उन देशों को जिनका व्यापार सन्तुलन उनके विपक्ष में है यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से सहायता न मिले तो उनकी करंसी की विनिमय दर स्थिर नहीं रह सकती।

अस्तु; इस अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उन देशों को अन्य देशों की करंसी ऋण स्वरूप दे देगा ताकि वे अपनी देनी का भुगतान कर सकें। इस कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष सफलता-पूर्वक कर सके इस उद्देश्य से प्रत्येक सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में जो उसका भाग निर्धारित है उसका

कुछ भाग सोने में और शेष अपनी करंसी (मुद्रा) में चुकावेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास प्रत्येक सदस्य देश की करसी यथेष्ट मात्रा में रहेगी जिसमें से आवश्यकता पड़ने पर सदस्य देशों को एक दूसरे की करंसी उधार दी जा सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में भिन्न-भिन्न प्रमुख देशों का भाग इस प्रकार है :—

ब्रेटन वुड्स द्रव्य-सम्मेलन में जो ४४ राष्ट्र सम्मिलित हुए थे (शत्रु राष्ट्र उस समय सम्मिलित नहीं हो सके थे) उनके लिए सम्मेलन ने कुल ८,८००-०००,००० डालर का कोटा निर्धारित किया था और १,२००,०००,००० डालर का कोष शत्रु राष्ट्रों के लिए छोड़ दिया गया था कि युद्ध के उपरान्त वे भी कोष में सम्मिलित हों तो उनको उसमें हिस्सा दिया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में प्रमुख राष्ट्रो का भाग इस प्रकार है—सयुक्त राज्य अमेरिका २,७५०,०००,००० डालर, यूनाइटेड किंगडम १,३००,०००,०००डालर,सोवियत रूस १,२००,०००-००० डालर, चीन ५५०,०००,००० डालर फ्रांस ४५०,०००,००० डालर, भारत-वर्ष ४००,०००,००० डालर, कनाडा ३००,०००,००० डालर, निदरलैंड २७५,-०००,००० डालर, बैलजियम २२५,०००,००० डालर, आस्ट्रेलिया २००,०००,००० डालर, जेकोस्लोवाकिया तथा पौलैंड १२५,०००,००० डालर, दक्षिण अफरीका यूनियन १००,०००,००० डालर, मैक्सिको ६०,०००,००० डालर, चाइल और कोलंबिया ५०,०००,००० डालर इत्यादि। अप्रैल १६५१ में फंड के ४६ सदस्य थे जिनका कुल 'कोटा' ८०३६.५ मिलियन डालर था।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने भाग का २५ प्रतिशत अथवा सदस्य राष्ट्र के पास कुल जितना सोना या अमरीकन डालर होगा उसका १० प्रतिशत सोना देना होगा (जो भी उस समय कम हो) और शेष रकम प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी करसी (मुद्रा) में चुकावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास सभी सदस्य राष्ट्रों की करंसी (मुद्रा) यथेष्ट राशि में इकट्ठी हो जावेंगी और जब किसी सदस्य राष्ट्र का व्यापार सतुलन (Balance of Trade) उसके विपक्ष में होगा और उसके पास अपने विदेशी व्यापार ऋण को चुकाने के कोई साधन नहीं रहेंगे तो वह अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से उसी देश की करंसी को खरीद लेगा और अपने व्यापार ऋण को चुका देगा। इस प्रकार उस देश की करंसी की विनिमय दर (Exchange Rates) में विशेष घट-बढ़ न होगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र आरम्भ से ही अपने विदेशी व्यापार के ऋण को चुकाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष पर निर्भर रहेगा। साधारणतः प्रत्येक देश अपने व्यापारिक बैंकों के द्वारा अपने लेन-देन का

भुगतान करते रहेंगे और जब कोई देश विदेशी व्यापार का संतुलन (Balance of Foreign Trade) अपने विपक्ष में होने के कारण किसी विदेशी करंसी को साधारणतः पाने में असमर्थता अनुभव करेगा तभी वह अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से करंसी को खरीद लेगा।

साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के पास प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की करंसी इतनी मात्रा में होगी कि उसकी कमी नहीं पड़ेगी। परन्तु विशेष परिस्थितियों में यह सम्भव है कि किसी देश विशेष का व्यापार-संतुलन (Balance of Trade) इतना अधिक उसके पक्ष में हो और अन्य सदस्य राष्ट्रों को उस देश विशेष की करंसी को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से इतनी अधिक राशि में खरीदना पड़ जावे कि उस देश विशेष की जितनी भी करंसी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास है वह सभी समाप्त हो जावे। ऐसी स्थिति में कठिनाई उपस्थित हो सकती है। उदाहरण के लिए पिछले महायुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का व्यापार-संतुलन उसके इतना अधिक पक्ष में था और संसार के अन्य राष्ट्र उसके इतने अधिक देनदार हो गये थे कि प्रत्येक देश को अमेरिका की करंसी अर्थात् डालर की आवश्यकता थी और डालर का टोटा पड़ गया था। और डालर की यह कमी आज भी चल रही है। यदि कभी ऐसी स्थिति खड़ी हो जावे कि किसी देश विशेष की करंसी का संसार में टोटा पड़ जावे और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास भी वह करंसी कम होने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उस करंसी का टोटा है ऐसी घोषणा कर देगा और जितनी भी उस देश की करंसी 'कोष' के पास होगी वह प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर बांट देगा। अन्य सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से परामर्श करके थोड़े समय के लिये अस्थायी रूप से उस देश से माल के आयात (Import) पर रोक लगा सकेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश से अन्य देशों का निर्यात (Export) कम हो जावेगा और उसकी करंसी की माँग कम हो जावेगी। किन्तु व्यापार पर यह रोक केवल उतने समय के लिये लगाई जा सकेगी जितने से करंसी की यह कमी दूर की जा सके। जब अन्तर्राष्ट्रीय-द्रव्य-कोष इस बात की घोषणा कर देगा कि उस देश की करंसी की अब कमी नहीं है तो फिर इस देश के व्यापार पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के पास किसी देश की करंसी की कमी को दूर करने के और भी उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि 'कोष' उस देश में जिसकी करंसी की कमी है अपना सोना बेचें या उस देश से उधार ले।

ऐसा करने से अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के पास उस देश की करंसी अधिक मात्रा में आ जावेगी और फिर वह उन सदस्य राष्ट्रों को दी जा सकेगी जिनको उस करंसी की आवश्यकता हो। ऊपर लिखे उपायों के अतिरिक्त दो उपाय और भी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (Internatinal Bank) उन देशों को न्यून करंसी (Scarce Currency) में ऋण दे सकता है जिन्हें 'न्यून करंसी' की आवश्यकता हो, या फिर वह देश जिसकी करंसी न्यून है स्वय अन्य देशों को ऋण दे दें, नहीं तो उसके निर्यात (Export) पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जावेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष प्रत्येक देश की विनिमय दर (Exchange Rates) को स्थायी बनाने का प्रयत्न करेगा।

कोई भी सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से एक सीमा तक अपनी करंसी देकर अन्य किसी भी राष्ट्र की करंसी खरीद सकता है और उस सीमा के उपरान्त वह सोना देकर कभी भी किसी देश की करंसी खरीद सकता है। जहाँ तक अपनी करंसी देकर किसी अन्य देश की करंसी खरीदने का प्रश्न है प्रत्येक देश अपने भाग (कोटा) का केवल २५ प्रतिशत तक एक वर्ष के अन्दर खरीद सकता है। जब कोई देश अपनी करंसी देकर दूसरे देश की करंसी 'कोष' से खरीदेगा तो 'कोष' के पास खरीदने वाले देश की करसी अधिक बढ़ जावेगी। परन्तु एक वर्ष में उस देश का 'कोष' में जो भाग (कोटा) है उसकी १५ प्रतिशत से अधिक उस देश (खरीदने वाले) की करंसी कोष के पास बारह महीने में इकट्ठी नहीं होनी चाहिए और कुल मिलाकर २०० प्रतिशत अर्थात् दुगुने से अधिक उस देश (खरीदने वाले) की करंसी 'कोष' में कभी भी इकट्ठी न होनी चाहिए।

जब कोई देश अन्य देश की करंसी खरीदेगा तो सममूल्य दर (Parity) के अनुसार मूल्य देने के अतिरिक्त उस देश को ३/४ प्रतिशत खर्चे का और देना होगा। परन्तु यदि 'कोष' के पास किसी देश की करंसी उस देश के 'कोटा' से अधिक मात्रा में लगातार तीन महीने से ऊपर समय तक इकट्ठी रहती है तो उस देश को तीन महीने व्यतीत हो जाने के उपरान्त जितनी करंसी उसके भाग से अधिक 'कोष' के पास होगी उस पर बढ़ती हुई दर से सूद देना होगा।

पहले तीन महीने तक कोई सूद नहीं लिया जावेगा। तीन महीने के उपरान्त शेष ६ महीने के लिए १/२ प्रतिशत अतिरिक्त (३/४ प्रतिशत के ऊपर) सूद लिया जावेगा और उसके उपरान्त प्रतिवर्ष के हिसाब से १/२ प्रतिशत अधिक सूद देना होगा। इस प्रकार जितने अधिक समय के लिए करंसी ली जावेगी उतनी ही प्रतिवर्ष के हिसाब से सूद की दर १/२ प्रतिशत बढ़ती चली जावेगी। यही नहीं यदि

किसी देश की करंसी उस देश के भाग (कोटा) से २५ प्रतिशत से अधिक इकट्ठा हो जावे किन्तु ५० प्रतिशत से कम रहे तो ½ प्रतिशत अधिक सूद लिया जावेगा और उसके उपरान्त प्रति २५ प्रतिशत के लिए ½ प्रतिशत अधिक सूद देना होगा। इस प्रकार करंसी की राशि और जितने अधिक समय के लिए करंसी ली जावेगी उसी हिसाब से सूद की दर बढ़ती जावेगी। अधिक सूद लेने की व्यवस्था इस कारण की गई है जिससे विदेशों की करसी खरीदने वाले देश जल्दी से जल्दी उस करंसी को वापस करने का प्रबन्ध करें। अन्य देशों की करंसी लेने वाले देश को केवल अधिकाधिक सूद ही नहीं देना पड़ता वरन् उसका अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष में जितने वोट (मत) देने का अधिकार है वह भी क्रमशः कम होता जाता है और जिस देश की करंसी उसने उधार ली है उसकी वोट बढ़ती जाती है।

समसूल्य परिवर्तन (Changes in Par Values)—प्रत्येक देश को अपनी करंसी की सममूल्य दर (Par of Exchange) में तभी परिवर्तन करने का अधिकार होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उसको अनुमति दे दे। जब तक कोई सदस्य राष्ट्र अपनी करंसी के सममूल्य (Par of Value) में केवल १० प्रतिशत तक वृद्धि या कमी करता है तब तक कोष उसमें कोई आपत्ति नहीं करेगा, अर्थात् १० प्रतिशत तक प्रत्येक देश में अपनी करंसी के सममूल्य में परिवर्तन कर सकेगा। किन्तु इसके उपरान्त परिवर्तन तभी हो सकेगा जब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष उसकी अनुमति दे दे।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank): अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति और उनके पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाना है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए उन्हें ऋण देगा और अन्य देशों द्वारा दिए गए ऋण को गारन्टी देगा। इस प्रकार सदस्य राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के लिए पूँजी (Capital) की व्यवस्था करेगा, यही उसका मुख्य कार्य होगा।

साधारणतः जब कोई सदस्य राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों का औद्योगिक उन्नति के लिए उपयोग करना चाहेगा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पूँजी चाहेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपनी योजनायें बतला कर उससे गारंटी की व्यवस्था कर लेगा। यह सब होजाने के उपरांत वह सदस्य राष्ट्र संसार के प्रमुख द्रव्य-बाजारों (Money Markets) में, उदाहरण के लिए लंदन या न्यूयार्क के द्रव्य-बाजारों में, ऋण लेने की व्यवस्था करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस ऋण की गारन्टी कर देगा। जब किसी सदस्य राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से द्रव्य-बाजारों में ऋण नहीं मिल सकेगा तब बैंक उस राष्ट्र को सीधा अपने पास

से ऋण देगा। जब तक किसी देश को अन्य देशों से साधारणतः ऋण मिल सकेगा तब तक बैंक उसे स्वयं ऋण नहीं देगा। इस व्यवस्था का परिणाम यह होगा कि पिछड़े और निर्धन राष्ट्र जिनको अपने उद्योग-धन्धों के विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता होगी वे पूँजी पा सकेंगे और जिन राष्ट्रों के पास यथेष्ट अतिरिक्त पूँजी (Surplus Capital) इकट्ठी हो जावेगी वे बैंक की गारन्टी होने के कारण उन राष्ट्रों को ऋण स्वरूप दे सकेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस ऋण की अदायगी की गारन्टी देगा और अपनी इस सेवा के पारिश्रमिक स्वरूप वह कर्ज लेने वाले राष्ट्र से गारन्टी किये हुये ऋण पर कम से कम १ प्रतिशत और अधिक से अधिक १½ प्रतिशत फीस लेगा। कर्ज लेने वाले राष्ट्र को साधारण तौर पर अपनी आर्थिक योजनाओं को पूरा करने के लिए ऋण न मिल सके तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उसे अपने पास से ऋण दे देगा।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारन्टी तभी करेगा या स्वय तभी ऋण देगा जब वह उस योजना को देख लेगा और ऋण लेने वाले देश की अदायगी की क्षमता की जाँच कर लेगा। साथ ही यदि ऋण सदस्य राष्ट्र की सरकार नहीं ले रही है तो वह ऋण लेने वाले देश के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) से उस ऋण की अदायगी की गारन्टी ले लेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) १०,०००,०००,००० डालर है। उसमें से ब्रेटन वुड्स द्रव्य सम्मेलन ने ६,१००,०००,००० डालर मित्र राष्ट्रों में (उन ४४ राष्ट्रों में जो सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे) बांट दी और शेष शत्रु राष्ट्रों के लिए छोड़ दी गई। प्रत्येक राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी में उतना ही भाग मिला जितना उसको अन्तर्राष्ट्रीय कोष में मिला था। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका को ४२५,०००,००० डालर, चीन को ५०,०००,००० डालर, और कनाडा को २५,०००,००० डालर की पूँजी अधिक दी गई और दक्षिण अमेरिका के देशों, यूगोस्लाविया, ग्रीस और मिस्र को कुल मिला कर २००,०००,००० डालर की पूँजी कम दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का वही राष्ट्र सदस्य हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का भी सदस्य हो।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी का जितना भाग प्रत्येक देश को दिया गया है उसकी केवल २० प्रतिशत पूँजी ही सदस्यों ने चुकाई है। शेष ८० प्रतिशत पूँजी सुरक्षित गारंटी के तौर पर है जिसे बैंक जब चाहे माँग सकता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के मुख्य कार्य सदस्य बैंकों द्वारा लिये हुए ऋण की गारंटी . है। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को बहुत अधिक पूँजी इकट्ठी करने की

नहीं थी। यदि कोई देश अपना ऋण न चुका सके तभी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को उस ऋण का मूलधन तथा उसका सूद देना होगा क्योंकि उसने उस ऋण की गारन्टी दी है। ऐसी स्थिति बहुत कम उपस्थित होगी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के लिए यह जरूरी नहीं था कि वह प्रत्येक देश से उसके हिस्से की पूरी रकम वसूल कर लेता। अस्तु, बैंक ने प्रत्येक देश से उसके हिस्से की २० प्रतिशत रक़म ही वसूल की है। शेष ८० प्रतिशत जब बैंक चाहे तब वसूल कर सकता है।

प्रत्येक देश ने अपने हिस्से की २० प्रतिशत रक़म को इस प्रकार चुकाया है:— २ प्रतिशत स्वर्ण या अमेरिकन डालर के रूप में और शेष उस देश की अपनी मुद्रा में। यदि कभी बैंक को शेष ८० प्रतिशत पूँजी को माँगना पड़ा तो सदस्य देश की सुविधानुसार स्वर्ण में, अथवा अमेरिकन डालर में, अथवा उस मुद्रा में जिसकी बैंक को भुगतान करने के लिए उस समय आवश्यकता हो चुकाया जावेगा।

यह तो हम ऊपर कह आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने प्रत्येक देश से उसके भाग की केवल २० प्रतिशत रक़म ही वसूल की है। यही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की कार्यशील पूँजी है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इससे ही बैंक की सदस्य देशों को ऋण देने की शक्ति सीमित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारन्टी देने अथवा सीधा ऋण देने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर किसी सदस्य देश के बाजार में अपनी सिक्यूरिटी (ऋण-पत्र) बेंचकर धन प्राप्त कर सकता है और उस धन को ऋण स्वरूप अन्य देश को दे सकता है। उदाहरण के लिए मान लें कि पाकिस्तान को अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए ऋण चाहिए और उसे अमेरिका से अधिकतर मशीनें मँगाना है तो स्वभावतः पाकिस्तान अमेरिका से ऋण लेना चाहेगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पाकिस्तान की योजनाओं को ठीक समझे तो पाकिस्तान को सीधे अपने पास से ऋण दे सकता है, अथवा पाकिस्तान द्वारा अमेरिका में लिये जाने वाले ऋण की अदायगी की गारन्टी दे सकता है। यदि इस प्रकार ऋण न मिल सके तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अमेरिका की सहमति से अपने ऋण-पत्र अथवा सिक्यूरिटी अमेरिका के बाज़ार में बेचेगा और इस प्रकार उसे जो धन प्राप्त होगा वह उसे पाकिस्तान को ऋण के रूप में दे देगा। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की ऋण देने की शक्ति केवल उसकी कार्यशील पूँजी तक ही सीमित नहीं है।

किसी भी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक गारंटी के रूप में अथवा ऋण के रूप में बैंक की विक्रित पूँजी (Subscribed Capital), सुरक्षित कोष तथा अन्य बचत से अधिक ऋण नहीं देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों से उस देश के केन्द्रीय बैंक, अथवा सरकारी

खज़ाने (Treasury) के द्वारा ही कारबार करेगा और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अपने केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कारबार करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक नीचे लिखी दशाओं में ही ऋण देगा :—

(१) यदि कोई सदस्य राष्ट्र की सरकार स्वयं ऋण लेना चाहे तब तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बिना केन्द्रीय बैंक की गारंटी के ही ऋण दे देगा अन्यथा जिस देश में कोई योजना कार्यान्वित की जा रही है उसको ऋण देने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस देश के केन्द्रीय बैंक से ऋण की अदायगी की गारंटी लेगा।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उसी दशा में आर्थिक सहायता देगा जब उसको विश्वास हो जावे कि वर्तमान स्थिति में उचित सूद पर उस कार्य के लिये किसी देश में ऋण नहीं मिल सकता।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस योजना की जाँच के लिये विशेषज्ञों की एक समिति बिठायेगा और जब उस समिति की सम्मति में वह योजना आर्थिक दृष्टि से ठीक होगी तभी वह आर्थिक सहायता देगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस योजना से प्रत्यक्ष रूप में लाभ होना आवश्यक है। ऐसी योजना के लिये भी बैंक ऋण दे सकता है जिसका देश के आर्थिक विकास के लिए अप्रत्यक्ष महत्व हो। किसी योजना विशेष का विचार करते हुए बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि देश के आर्थिक विकास की पृष्ठ भूमि में उसका निर्णय किया जाय, न कि एकांकी दृष्टि से।

(४) ऋण देते समय बैंक इस बात का भी ध्यान रखता है कि सदस्य राष्ट्र उस ऋण को चुकाने की क्षमता रखता है या नहीं। यदि बैंक स्वयं किसी सदस्य राष्ट्र को ऋण देगा तब तो वह उचित सूद लेगा ही, परन्तु यदि बैंक किसी राष्ट्र को दिये गये ऋण की अदायगी की गारंटी देगा तो भी वह इस जोखिम के बदले में कुछ गारंटी कमीशन लेगा।

बैंक इस बात की देख-भाल रखेगी कि किसी राष्ट्र ने जिस योजना को कार्यान्वित करने के लिये ऋण लिया है वह रकम उसी योजना पर व्यय होती है। इस दृष्टि से बैंक ऋण देने वाले सदस्यों को टेकनिकल सलाह भी देता है। इसके अलावा ऋण नहीं लेने के हालत में भी वह देश अपने आर्थिक विकास के सम्बन्ध में बैंक से टेकनिकल सलाह चाहते हैं और बैंक ऐसी सलाह देता है।

साधारणतया बैंक किसी योजना के संबंध में जितना विदेशी विनिमय खर्च होने वाला है उसके लिये ही ऋण देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रबन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) के १२ संचालक (Directors) होंगे। उनमें से पाँच डायरैक्टर तो क्रमशः संयुक्त राज्य

अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन के प्रतिनिधि होंगे। इन पाँचों राष्ट्रों को एक-एक स्थायी सदस्य रखने का अधिकार होगा। दो डायरैक्टर अमेरिकन प्रजातन्त्रों की ओर से चुने जावेंगे और शेष पाँच डायरैक्टर अन्य सब देशों की ओर से चुने जावेंगे। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि फंड पर बड़े राष्ट्रों का प्रभाव रहेगा। भारतवर्ष ने इस योजना का इसी प्रश्न को लेकर विरोध किया था कि भारतवर्ष का व्यापारिक महत्त्व फ्रांस तथा चीन से अधिक है। इन देशों का कोटा राजनैतिक कारणों से अधिक रक्खा गया और भारत का कम रक्खा गया। फिर भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य के प्रबन्ध संचालक बोर्ड पर कोई स्थायी जगह भी नहीं दी गई। परन्तु बाद को भारतवर्ष को सचालक बोर्ड में एक जगह मिल गई। परन्तु यह कहना कठिन है कि जब सभी देश उसके सदस्य हो जावेंगे तो भारतवर्ष की चुनाव में क्या स्थिति रहेगी। उसे शेष पाँच जगहों में से एक जगह के लिये चुनाव लड़ना पड़ेगा। होना तो यह चाहिये कि भारत के महत्त्व को देखते हुए उसे एक स्थायी जगह दी जावे। यदि कोई सदस्य चाहे तो नोटिस देकर फंड से पृथक् हो सकता है।

जो स्वर्ण कोष में इकट्ठा होगा वह संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस, फ्रांस या चीन में रहेगा। कोष का प्रधान कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के भी १२ डायरैक्टर होंगे। उनमें से ५ डायरैक्टर क्रमशः संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन नियुक्त करेंगे और ७ डायरैक्टर शेष सदस्यों द्वारा चुने जावेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स पर भी भारत को कोई स्थायी स्थान नहीं मिला।

रूस अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य नहीं बना इस कारण भारत पाँच बड़े राष्ट्रों की श्रेणी में आ गया और उसको बैंक के बोर्ड पर एक स्थायी स्थान मिल गया। अब संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन और भारत को स्थायी स्थान प्राप्त है और शेष ७ स्थानों को शेष सदस्यों में से चुनकर भरा जाता है।

डायरैक्टर एक प्रेसीडेन्ट का चुनाव करते हैं। प्रेसीडेन्ट बोर्ड का अध्यक्ष होता है। बोर्ड ही वास्तव में बैंक का संचालन करता है।

बैंक का कार्य—जैसे ही बैंक स्थापित हुआ डालर ऋण के लिये कई देशों के प्रार्थना पत्र आये किन्तु मई १९४७ में जाकर कहीं बैंक ने पहला ऋण दिया। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों को ऋण देने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य बाजार में ऋण लेना होगा। ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक देश जो डालर ऋण लेना चाहेगा वह

अपने बौंड संयुक्त राज्य अमेरिका में वेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उनकी अदायगी की गारन्टी दे देगा। विद्वानों का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारन्टी अमेरिकन पूँजीपतियों को इन देशों के बौंडों में अपना धन लगाने के लिये प्रोत्साहित करेगी। परन्तु बैंक ने द्रव्य-बाजार की अव्यवस्थित दशा के कारण अन्य देशों के बौंडों की गारन्टी न देकर स्वयं अपने बौंड सयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य-बाजार में बेंचकर धन प्राप्त करना आरम्भ किया। बैंक की जून १९५० में समाप्त होने वाले साल की रिपोर्ट से विदित है कि मार्च १९५० में बैंक ने स्विस बैंकों और "बैंक फार इन्टरनेशनल सेटिलमेंट" को भी अपने बौंड वेंचे। जून १९५१ में समाप्त होने वाले साल में बैंक ने पहली बार बिना अपनी गारन्टी के अपने कर्ज़दारों के बौंड यूरुप, कनाडा, और सयुक्त राज्य अमेरिका में बेचे। लंदन के बाजार में भी बैंक ने स्टरलिंग प्रतिभूतियां वेचीं।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मई १९४७ से, जबकि उसने सबसे पहला ऋण स्वीकार किया था, ३१ जुलाई १९५० तक जो ऋण भिन्न-भिन्न देशों को दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

यूरुप :	करोड़ डालर (अमेरिकन)
फ्रान्स	२५.०
नेदरलैंड्स	२२.२
डेनमार्क	४.०
लक्ज़म्बर्ग	१.२
वेलजियम	१.६
फिनलैंड	१.४८
तुर्की	१.६४
युगोस्लेविया	०.२७
	कुल ५७.३९

लेटिन अमेरिका :	
चाइल	१.६
मेक्सिको	६.०
ब्राज़ील	९.०
कोलंबिया	०.५

एलसेलवेडर	१·२५५
	कुल १८·३५५

एशिया और मध्य पूर्व :

भारत	६·२५
इराक	१·२८
	कुल ७·५३

महा योग ८३·२७५

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अभी तक युरोपीय देशों को ही अधिकतर ऋण दिया है। भारत को तीन ऋण मिले हैं। पहला ऋण ३ करोड़ ४० लाख का रेलवे एंजिन, उनके हिस्से और बोयलर्स खरीदने को दिया गया था। दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का कृषि के लिये ट्रेक्टर तथा अन्य यंत्र खरीदने के लिये दिया गया है और तीसरा ऋण १ करोड़ ८५ लाख का दामोदर घाटी योजना के लिये दिया गया है। बैंक की छठी सालाना रिपोर्ट से प्रकट होता है कि ३० जून १९५१ तक बैंक ने कुल ४८ ऋण स्वीकार किये और ऋण की कुल रकम १११·४ करोड़ डालर है।

जून १९५१ तक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा कुल ६९·१७ करोड़ अमेरिकन डालर का कर्ज बाँटा गया। कर्ज का यह रुपया जिन जिन देशों में खर्च हुआ उसका मोटे रूप में ब्यौरा इस प्रकार है:—संयुक्त राज्य अमेरिका ५०·५६ करोड़ डालर, कैनाडा ४·५५ करोड़ डालर, लेटिन अमेरिका ५·७५ करोड़ डालर, यूरप ७·८२ करोड़ डालर, अफ्रीका, निकटपूर्व और सुदूरपूर्व ०·४९ करोड़ डालर। प्रारम्भ में पश्चिमी यूरप के देशों को युद्ध के बाद के पुनर्निर्माण के लिये दिये गये ऋण के अलावा, अधिकांश ऋण विद्युत शक्ति, यातायात और कृषि के लिये दिये गये हैं।

आर्थिक विकास के लिये ऋण देने के अलावा बैंक आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने में, तथा उसके लिये आवश्यक पूँजी पदार्थ आदि प्राप्त करने में भी अपने सदस्य-देशों को मदद करता है।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा बैंक—भारत इन दोनों संस्थाओं का उनके जन्म से ही सदस्य है। ३१ दिसंबर १९४५ के पहले पहले आरम्भ से ही सदस्य बनने की अवधि निश्चित थी। भारत ने २७ दिसंबर १९४५ को अपने सदस्यता के हस्ताक्षर कर दिये।

जहाँ तक रुपये के सममूल्य (पेरिटी) का संबन्ध था भारत ने १ शि० ६ पैं० के आधार पर ही रुपये का सोने में मूल्य निश्चित किया। इस अधार पर रुपये का मूल्य ४·१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोना तय किया गया है। 'कोष' ने इस सममूल्य को स्वीकार कर लिया। बाद में जब स्टरलिंग का अवमूल्यन हुआ तो उसके साथ रुपये का भी अवमूल्यन हो गया। इस अवमूल्यन के फलस्वरूप रुपये का सोने में सममूल्य भी बदल गया।

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपने हिस्से का सोना और बाकी का हिस्सा रुपयों और प्रोमिज़री नोट्स की शकल में चुका दिया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपने हिस्से की पूँजी (४० करोड़ अमेरिकन डालर) का जो भाग बैंक ने वसूल किया है (२०%) वह भी चुका दिया है।

भारत के गाँवों में बैंकिंग का विस्तार—आज देश के सामने सब से बड़ी समस्या उत्पादन बढ़ाने की है। उसके लिये पूँजी की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूरी करने के लिये एक ओर तो इस बात की ज़रूरत है कि आम जनता राष्ट्र की दृष्टि से जहाँ तक सभव हो अपनी आय में से बचत करके उत्पादन के काम में रुपया लगाने को तैयार हो और दूसरी ओर यह आवश्यक है कि इस प्रकार लोग जो कुछ बचत करें उसे उत्पादन में लगाने की ठीक ठीक व्यवस्था हो। इन दोनों ही बातों के लिये इस बात की ज़रूरत है कि देश में बैंकिंग का अधिक से अधिक विस्तार हो और यह विस्तार गाँवों में होना चाहिए क्योंकि भारत की ९० प्रतिशत जनसख्या गाँवों में ही रहती है। गाँवों में बैंकिंग के विस्तार के महत्त्व का एक तात्कालिक कारण और है। दूसरे महायुद्ध के समय से जो मँहगाई बढ़ी है उसके कारण उन किसानों की आर्थिक स्थिति सुधरी है जो खेतिहर मज़दूर की श्रेणी में नहीं आते हैं। पर इस बढ़ी हुई आय का आज कोई सदुपयोग नहीं हो रहा है। अगर इस आय का कुछ भाग उत्पादन के लिये काम में आ सके तो देश का बहुत भला हो। इसके लिये भी आवश्यक है कि गाँवों में बैंकिंग का विस्तार किया जावे।

इस समय देश में बैंकिंग का विस्तार नगण्य सा है। अभी रिज़र्व बैंक ने १९४९ के व्यापारिक बैंकिंग के बारे में आँकड़े प्रकाशित किये हैं और बैंकिंग की प्रगति के बारे में एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की है। इससे प्रकट हुआ है कि यदि हम केवल उन स्थानों का विचार करें जहाँ कि बैंक का दफ्तर है तो बैंक का प्रत्येक दफ्तर औसतन ७४९० व्यक्तियों के पीछे है। अगर हम देश की सपूर्ण जनसंख्या का विचार करें तो ६८५७६ व्यक्तियों के पीछे बैंक का एक दफ्तर आता है। उसके बाद इस स्थिति में और बिगाड़ आया है। सितंबर १९५१ में जहां बैंक-

की शाखाएं हैं उनका विचार करने पर प्रति ६८०० व्यक्ति एक बैंक का दफ्तर था, और समस्त भारत के आधार पर विचार करें तो ७०,३५० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक का दफ्तर था। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि देश में इस समय जो भी इस तरह के बैंक हैं वे कुछ ही प्रान्तों और शहरों में केन्द्रित हैं। इस दृष्टि से बम्बई, मद्रास और पश्चिमी बंगाल में ही बैंकिंग का एक प्रकार से केन्द्रीयकरण है। यही देश के औद्योगिक प्रान्त हैं। सार यह है कि गाँवों में बैंकिंग का विस्तार होना बाकी है।

भारत सरकार ने पिछले वर्ष हमारे गांवों में बैंकिंग के विस्तार के प्रश्न पर जांच करने के लिये श्री० पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में 'रूरल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट भी अगस्त १९५० में प्रकाशित हो चुकी है। उसने गांवों में बैंकिंग के विस्तार के संबंध में अनेकों सिफ़ारिशें की हैं। कमेटी का कहना है कि किसी एक प्रकार का बैंकिंग संगठन इस काम को नहीं कर सकता। सब प्रकार के बैंकिंग संगठनों का देश भर में समन्वय होना आवश्यक है। कमेटी ने यह कल्पना की है कि देश की बैंकिंग का ढाँचा निम्न आधार पर खड़ा किया जाना चाहियेः—(१) रिजर्व बैंक जिसकी प्रत्येक बड़े राज्य में शाखा या दफ्तर हो; (२) इम्पीरियल बैंक और अन्य व्यापारिक बैंक जो तालुका और तहसील के प्रमुख नगरों तथा दूसरे कस्बों तक फैले हों; (३) प्रान्तीय सहकारी बैंक और केन्द्रीय सहकारी बैंक जिनकी शाखाएं या जिनसे संबंधित बैंक तमाम कस्बों और बड़े बड़े गाँवों तक में हों; (४) राज्य द्वारा स्थापित राज्य के कृषि बैंक; (५) प्रत्येक प्रदेश के लिये भूमि बंधक बैंकों की शृंखला। गांवों में बचत की आदत को प्रोत्साहन देने के लिये कमेटी ने व्यापारिक बैंकों की शाखा खोलने की अपेक्षा पोस्ट ऑफिस सेविंग्ज़ बैंक पर ही अधिक ज़ोर दिया है। सहकारी बैंकों के महत्त्व को भी कमेटी ने स्वीकार किया है। जहाँ तक कि गांवों में साख की व्यवस्था करने का सवाल है, कमेटी ने अल्पकालीन साख के लिये सहकारी बैंकों और दीर्घकालिक साख के लिये भूमि बंधक बैंकों के विस्तार पर ज़ोर दिया है। व्यापारिक बैंको को अपना कारोबार इस दिशा में बढ़ाने की सिफारिश भी कमेटी ने की है। साथ ही उसका यह भी कहना है कि गांव के महाजन और देशी बैंकर का बड़ा महत्त्व है और उनके प्रतिकूल पड़ने वाले कानूनों को बना कर उनके कारोबार को मर्यादित करने के पक्ष में कमेटी ने राय नहीं दी है। कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि गोदामों का निर्माण करके, यातायात के साधनों का विस्तार करके, रुपये लाने लेजाने की सुविधाओं को बढ़ाकर और उन्हें अधिक सस्ता बना कर तथा ऋण, महाजन और भूमि संबंधी अब तक के बने हुए और नए बन रहे क़ानूनों में महाजन आदि के

अनुकूल परिवर्तन करके, तथा बैंकों की किन्हीं शाखाओं को 'शॉप्स एंड एस्टे-ब्लिशमेंट एक्ट्स' और औद्योगिक ट्रिब्यूनल के निर्णयों से मुक्त करके हम व्यापारिक और सहकारी बैंकों को गांवों में अपना कारोबार बढ़ाने के लिये अधिक प्रोत्साहित कर सकते हैं।

रूरल बैंकिंग कमेटी ने जो सिफ़ारिशें की हैं उन में कोई विशेष बात नहीं है। इस संबंध में एक बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। यदि हम देश के मौजूदा आर्थिक ढांचे की पृष्ठभूमि में देश की किसी आर्थिक समस्या को हल करना चाहेंगे तो वह वास्तव में हल होगी नहीं। यदि हम चाहते हैं कि हमारे गांव के लोग कठिनाई उठाकर भी रुपया बचाने की कोशिश करें, तो वह तभी हो सकता है जब उनको यह मालूम हो कि उनकी इस कोशिश का लाभ उन्हें ही मिलने वाला है। इसकी एवज़ में अगर यह आशा की जाए कि उनकी बचत का रुपया चन्द पूँजीवादी व्यवसायों और उद्योगों में लगाने के लिये शहरों में पहुचाया जाय, तो इसमें कभी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये यदि हम गाँव वालों में रुपया बचाने की आदत पैदा करने के लिये उत्सुक हैं तो वह तभी हो सकता है जब उस बचत का सीधा उपयोग गाँव के विकास में हो सके, इसकी भी व्य-वस्था की जावे। देश के आर्थिक विकास की जो योजना बन रही है उसमें इस बात का अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। यह तभी संभव हो सकेगा जब हमारी आर्थिक योजना में गांवों के कुटीर उद्योगों का स्थान किसी सुनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर तय होगा और हमारे गांवों में जो साधन आज उपयोग में नहीं आ रहे हैं या कम आ रहे हैं उनका गांवों की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से उपयोग करने पर पूरा-पूरा विचार किया जायगा।

परिच्छेद ११

मुद्रा और विनिमय

रुपया पूर्ण क़ानूनी सिक्का—मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में उस समय के हिसाब से भारत की आर्थिक स्थिति सुव्यवस्थित थी जिसका यह अर्थ भी था कि देश में मुद्रा की व्यवस्था भी संतोषजनक थी। सोने और चांदी दोनों के सिक्कों का देश में चलन था। अकबर के समय से सोने की मुहर और चांदी का रुपया चला आ रहा था। क़ानून की दृष्टि से दोनों सिक्कों का सापेक्षिक मूल्य निश्चित नहीं था, पर दोनों का वज़न समान था, अर्थात् १७५ ग्रेन ट्रॉय। दक्षिण भारत में चांदी का सिक्का नहीं था। वहां का सिक्का सोने का 'पैगोडा' था। इसका कारण यह था कि दक्षिण में मुग़लों का, जो चांदी का सिक्का पसंद करते थे, प्रभाव स्थापित नहीं हो सका था।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ देश में जो अव्यवस्था पैदा हुई उसका असर आर्थिक क्षेत्र में भी पड़ा। कई स्वतंत्र सिक्कों का, जिनका आपस में कोई संबंध नहीं था, चलन जारी होगया। एक सिक्के को दूसरे सिक्के में बदलने का धंधा खूब चल निकला। यह अवस्था आर्थिक दृष्टि से संतोषजनक नहीं थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपने व्यापार का विस्तार करने के लिये इस स्थिति का अन्त करना ज़रूरी मालूम पड़ा। थोड़े वाद-विवाद के बाद आख़िरकार १८३५ में यह तय होगया कि भारत में चांदी के रुपये को पूर्ण क़ानूनी सिक्का मान लिया जाय। इस आशय का एक क़ानून बन गया। रुपये का वज़न १८० ग्रेन का निश्चित हुआ और उसमें ११/१२ वां हिस्सा ख़ालिस चाँदी का रखा गया। सोने के सिक्कों की क़ानूनी हैसियत ख़त्म होगई हालांकि उन की टकसालें क़ायम रहीं। चांदी के सिक्के ढालने की टकसालें सर्वसाधारण के लिये खोल दी गईं। चाँदी के रुपये का क़ानूनी मूल्य और उसमें की चांदी का मूल्य समान हो गया। १८९३ तक यह व्यवस्था हमारे देश में चलती रही।

स्वर्णमान की मांग—१८३५ में रुपया पूर्ण रूप से क़ानूनी सिक्का (फुल लीगल टेंडर मनी) घोषित कर दिया गया। यह वैसे तो भारतीय मुद्रा के क्षेत्र में एक बड़ा सुधार था, पर चांदी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होने से, देश को जितनी संख्या में रुपये चाहियें थे उतने [illegible] रहती थी। चांदी की कमी के दो कारण थे। यूरप के देशों ने चांदी के निर्यात पर रोक लगा रखी थी। जब यह रोक हट गई थी तब भी बाहर से चांदी नहीं आती थी क्योंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी जो माल यहां से ख़रीद कर बाहर भेजती थी उसके लिये उसको यहां की

काफ़ी होती थी। जब यह आय कम पड़ने लगी तो दुनिया में चांदी का उत्पादन कम हो गया। १८५० से चाँदी के उत्पादन की यह कमी सामने आने लगी। जो चांदी आती भी थी और जिसके रुपये भी ढाल लिये जाते थे तो वे रुपये ही सिक्के के तौर पर काम में न लेकर जेवर आदि दूसरे कामों में लिये जाते थे। सारांश यह है कि देश में मुद्रा की बराबर तंगी अनुभव होती रही। बैंकिंग व्यवस्था का तो उस समय ज़िक्र ही क्या था, जो साख के द्वारा इस कमी को पूरी करती। नतीजा यह हुआ कि देश में सोने की मुद्रा कायम करने की मांग की जाने लगी। सरकार ने यह माँग तो अस्वीकार करदी पर मुद्रा की कमी पूरी करने के लिये काग़ज़ी मुद्रा का चलन जारी कर दिया गया। १८६१ में पहला 'पेपर करेन्सी ऐक्ट पास हुआ।

पर इससे मुद्रा की तंगी की समस्या हल नहीं हुई। काग़ज़ी मुद्रा का देश में चलन बढ़ा नहीं। स्वर्णमान के पक्ष में ब्रिटिश सरकार थी नहीं। भारत सरकार ने १८६४ में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की कि ब्रिटेन का जो सोने का 'सोवरिन' नाम का सिक्का है उसका मुद्रा के रूप में भारत में उपयोग हो सकेगा और भारत सरकार के खज़ानों में 'सोवरिन' दस रुपये की और 'अर्द्ध सोवरिन' पाँच रुपये की दर से स्वीकार किये जायंगे और जो व्यक्ति स्वीकार करेंगे उनको वे दिये भी जायंगे। बाद में, २८ अक्टूबर १८६८ की एक विज्ञप्ति द्वारा यह दर बढ़ाकर १०½ रु० प्रति सोवरिन करदी गई। पर इस से भी सोवरिन का देश में चलन बढ़ा नहीं और मुद्रा की तंगी चलती रही। सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए मेन्सफ़ील्ड कमीशन नियुक्त किया। उसने सोने की मुद्रा को क़ानूनी मुद्रा बनाने की सिफ़ारिश की पर उसकी यह सिफ़ारिश स्वीकार नहीं की गई। आखिर मुद्रा की तंगी समय से अपने आप कम हो गई। पर स्वर्णमान की मांग देश में बनी रही, यद्यपि इस समय यह मांग विफल ही हुई।

रुपया पूर्ण क़ानूनी मुद्रा नहीं रहा—ऊपर हमने चाँदी की कमी का ज़िक्र किया है। पर अब १९वीं शताब्दी के अन्तिम चौथाई में एकदम स्थिति बदल गई और भारत में यूरुपीय देशों से बहुत चांदी आने लगी। इसका कारण यह था कि कई यूरुपियन देशों (नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैंड, फ्रान्स, बेलजियम, स्विज़रलेंड, इटली, रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी) ने १८७१ में चांदी को मुद्रा के काम में नहीं लेने का फैसला कर लिया और इससे बहुत चाँदी उपलब्ध हो गई। फिर चांदी की पैदावार भी इसी समय बढ़ने लगी। साथ ही साथ चांदी के स्थान पर सोने की मुद्राओं का यूरुपीय देशों ने चलन जारी किया। इससे सोने की मांग बढ़ी। पर सोने का उत्पादन कम हो गया। इस प्रकार एक ओर तो

चांदी की मांग घटी और उसकी पूर्ति बढ़ी और दूसरी ओर सोने की मांग बढ़ी और उसकी पूर्ति कम होगई। परिणाम चांदी की कीमतें घटने का आया। १८७५ में ५८ पैंस प्रति औंस से १८७९ में ५२½ पैंस, १८८८ में ४२ पैंस, १८९२ में ३७½ पैंस और १८९६ में २७ पैंस प्रति औंस होगया। इसका असर हमारे और ब्रिटेन के बीच में विनिमय दर पर पड़ा और वह कम होने लगी। अभी तक विनिमय दर १ रु० = १ शि० १०½ पैंस के आस पास रहा करती थी। अब वह गिरने लगी। १८७१ में विनिमय की दर १ रु० = २ शि० थी, वह १८९२ में १ रु० = १ शि० २ पैंस रह गया।

रुपये की विनिमय दर गिरने से भारत सरकार को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत सरकार को 'होम चार्जेज़' के लिये सोने में हर साल ब्रिटेन को रुपया भेजना पड़ता था। रुपये की विनिमय दर गिरने से भारत सरकार को इस कारण से रुपये में अब बहुत खर्च करना पड़ने लगा। इससे उसके बजट पर असर पड़ने लगा और उसे पूरा करने के लिये जनता पर कर का बोझ बढ़ाना पड़ा। फिर रुपये की विनिमय दर कम होने का तत्काल असर आयात को मंहगा करने का भी हुआ। निर्यात के सस्ता होने से निर्यात में विस्तार होने का लाभ अवश्य हुआ पर वह लाभ अल्पकालिक ही था क्योंकि निर्यात की मांग बढ़ने से आखिरकार मूल्य वृद्धि होनी ही थी। पर मज़दूर वर्ग की मज़दूरी मूल्य वृद्धि के अनुपात में बढ़ती नहीं, और इसलिये ग़रीब मज़दूर को तो इससे भी हानि हुई और थोड़े से व्यवसायी उस लाभ को उठा सके। जो अंग्रेज कर्मचारी भारत में थे उनको भी विलायत रुपया भेजने में नुकसान होने लगा। इसके अलावा चांदी के गिरते हुए मूल्य से आने वाली विनिमय दर की अस्थिरता का विदेशी व्यापार पर बुरा असर पड़ा। उधर विदेशी पूंजी लगाने वाले भी सशंकित हो उठे क्योंकि चांदी की गिरती हुई क़ीमतों ने उनके मन में से विश्वास उठा दिया।

इस डांवाडोल स्थिति का हल निकालने के लिये फिर स्वर्णमान कायम करने की मांग उठी। स्वर्णमान की योजनायें, जैसे १८७२ में अर्थमन्त्री सर आर० टेम्पल की और बाद में मिंट मास्टर कर्नल जे० टी० स्मिथ की योजनायें तैयार हुईं। पर भारत की विदेशी सरकार ने कुछ समय तो चुपचाप रहने की नीति अपनाये रखी। उधर इसी प्रश्न को लेकर १८७८ से १८९१ तक कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन यूरुप में हो रहे थे। यह आशा थी कि शायद सोना और चांदी दोनों ही धातुओं के चलन के पक्ष में इन सम्मेलनों का निर्णय हो जाय। यह आशा भी पूरी नहीं हुई। १८९२ की जुलाई में ब्रुसल्स सम्मेलन के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका

ने भी शर्मन एक्ट को, जिसके अनुसार मुद्रा के लिये अमेरिका एक निश्चित मात्रा में चांदी खरीदता था, रद्द कर दिया। इससे चांदी की स्थिति और गिर गई। भारत सरकार ने आखिरकार १८९२ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हरशल कमेटी की नियुक्ति की। हरशल कमेटी ने ये सिफ़ारिशें कीं कि सोने और चांदी दोनों का मुक्त टंकन (फ्री कोएनेज) बन्द कर दिया जाये, रुपया असीमित क़ानूनी सिक्का (अनलिमिटेड लीगल टेंडर) बना रहे, कुछ समय तक, किसी हद तक, सोने को मुद्रा की तरह काम में लिया जाय, और आखिरकार पूरी तौर पर स्वर्णमान कायम कर दिया जाय।

भारत सरकार ने उक्त सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। १८९३ के एक क़ानून के अन्तर्गत रुपये का मुक्त टंकन बंद कर दिया गया, और सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह चाहे तब रुपये का टंकन करा ले। एक विज्ञप्ति द्वारा १ रु० = १६ पैंस के दर से टकसाल में अगर कोई सोना या सोने का सिक्का रुपये में बदलवाने को ले जाये तो उसका बदलना अनिवार्य कर दिया गया। एक दूसरी विज्ञप्ति के अनुसार यदि कोई इसी दर से सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन में सरकारी चुकारा करना चाहे तो कर सकेगा, यह घोषित कर दिया गया। और एक तीसरी विज्ञप्ति द्वारा सोना या सोने के सिक्के के एवज़ में उपरोक्त दर (१ रु० = १ शि० ४ पैंस) पर ही सरकार को नोट जारी करने का अधिकार होगया। इन सब आदेशों का अर्थ यह था कि १८३५ में स्थापित मुद्रा व्यवस्था समाप्त होगई, रुपये का विनिमय दर १६ पैंस से न गिर सके इसकी रोक लग गई, और आम लोग सोने के सोवरिन के चलन के आदी बनाये जायें, इसकी कोशिश आरम्भ हुई, तथा रुपया असीमित क़ानूनी मुद्रा के रूप में बना रहा, यद्यपि वह पूर्ण मुद्रा नहीं रहा। इस व्यवस्था का सब से बड़ा दोष यह था कि जिस प्रकार सरकार पर सोने या सोने के सिक्के के बदले में रुपया देने का ज़िम्मा था उसी प्रकार रुपये के बदले में सिक्का देने का ज़िम्मा उस पर नहीं डाला गया।

फाउलर कमेटी—रुपये का मुक्त टंकन जब बन्द होगया तो रुपये का विनिमय दर ऊँचा जाने लगा। १८९४ में औसत विनिमय दर १ रु० = १ शि० १½ पैंस थी। १८९८ तक १ शि० ४ पैं० तक विनिमय दर पहुँच गई थी। १८९८ के अन्त तक मुद्रा की तंगी भी फिर अनुभव होने लगी। भारत सरकार ने यह सोचा कि सोने के सिक्के का चलन जारी करने का यह उपयुक्त समय है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये १८९८ में उसने फ़ाउलर कमेटी की नियुक्ति की।

फ़ाउलर कमेटी ने सारे प्रश्न पर विचार किया। उसके सामने कुछ दूसरे व्यक्तियों द्वारा पेश की गई योजनायें भी थीं। उदाहरण के लिये लिन्डसे और

प्रोबीन योजनायें थीं। लिन्डसे योजना के अनुसार किन्हीं निश्चित दरों पर भारत में भारत सरकार द्वारा लन्दन पर स्टरलिंग बिल बेचने और लन्दन में भारत मन्त्री द्वारा भारत पर रुपया बिल बेचने की बात कही गई थी ताकि रुपये का विनिमय दर एक मर्यादा से न नीचे गिर सके और न ऊपर जा सके। स्टरलिंग बिल की दर १५३/४ पैंस और रुपया बिल की दर १६१/१६ पैंस सुझाई गई थी। इन बिलों का चुकारा करने के लिये भारत में और लन्दन में स्वर्णमान कोष (गोल्ड स्टैंडर्ड रिज़र्व) क़ायम करने की बात थी। फ़ाउलर कमेटी ने यह योजना नापसंद करदी क्योंकि उसकी राय में यह ठीक नहीं था कि भारत की स्वर्णमान पद्धति का आधार इंग्लैंड में रखा जाने वाला छोटा सा कोष हो। प्रोबीन की योजना का सार यह था कि भारत में स्वर्णमान तो क़ायम हो पर देश के अन्दर सोने के सिक्के का चलन न हो। योजना यह थी कि मौजूदा दस हज़ार के नोट तो रद्द कर दिये जावें और नये दस हज़ार के नोट सोने के एवज़ में ही जारी हों और उनके एवज़ में लेने वाले की इच्छानुसार सरकार सोना या रुपया देने को तैयार रहे। अनुमान यह था कि देश के अन्दर उपयोग के लिये तो कोई इतने बड़े कोटों के एवज़ में सोना चाहेगा नहीं, इसलिये केवल अन्तर्राष्ट्रीय चुकारे के लिये ही सोने का उपयोग होगा। फ़ाउलर कमेटी को यह योजना भी पसंद नहीं आई। कमेटी के सामने फिर से चांदी के मान (सिल्वर स्टेन्डर्ड) को क़ायम करने का सुझाव भी आया था पर वह भी उसे मंजूर नहीं था।

फ़ाउलर कमेटी की सिफ़ारिशें—सारे प्रश्न पर विचार करने के बाद फ़ाउलर कमेटी ने यही सिफ़ारिश की कि भारत में सोने के सिक्के के चलन सहित स्वर्णमान की स्थापना होनी चाहिये और सोने के आयात-निर्यात की पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। इसके लिये नीचे दी गई बातों की कमेटी की राय में आवश्यकता बताई गई—(१) सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन क़ानूनी सिक्के मान लिये जायें और भारत में उनके मुक्त टंकन की व्यवस्था की जाय, (२) रुपये का मुक्त टंकन बंद रहे हालांकि रुपया असीमित क़ानूनी सिक्के रूप में बना रहे; (३) रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पैंस निश्चित कर दी जाय; (४) भारत सरकार सोने के बदले में रुपये देने का ज़िम्मा न ले; (५) जब तक सोने के सोवरिन, अर्द्ध सोवरिन की मात्रा आवश्यकता से अधिक न हो जावे, सरकार नए रुपये न ढलवावे, पर नए रुपये जब भी ढाले जाएं तो उससे होने वाले लाभ से एक नया कोष क़ायम किया जाय, इस कोष में सोना रहे; (६) जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन भारत के विरुद्ध चला जाये और उसकी पूर्ति के लिये सोने का निर्यात करना हो तो सरकार

उपरोक्त कोष में से तथा और कोषों में से और चलन में से सोना उपलब्ध करने की व्यवस्था करे। उपरोक्त मुद्रा पद्धति का संक्षेप में यह सार आता था कि सोना और चांदी दोनों के सिक्के असीमित क़ानूनी मुद्रा के रूप में माने जायें, दोनों का सापेक्षिक मूल्य निश्चित हो, पर स्वतंत्र टंकन केवल सोने के सिक्कों का हो।

फ़ाउलर कमेटी का मानना था कि उक्त मुद्रा पद्धति को मंजूर करने से स्वर्णमान वाले देशों से भारत का जो अधिकांश व्यापार है उस व्यापार में अनिश्चितता नहीं रहेगी, और विदेशी पूंजी को भारत में लगाने का प्रोत्साहन मिलेगा, तथा मुद्रा की तंगी दूर होगी।

सरकार की कार्रवाई—फ़ाउलर कमेटी ने जो सुझाव दिये थे उनको कार्यान्वित करने का सरकार ने प्रयत्न किया। सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन को १८९९ के एक्ट द्वारा फ़ाउलर कमेटी द्वारा प्रस्तावित दर पर कानूनी मुद्रा का रूप दे दिया गया। १९०० में सरकार ने नये रुपये ढलवाये और जो लाभ हुआ उससे गोल्ड स्टेन्डर्ड रिज़र्व (स्वर्णमान कोष) कायम किया गया। रुपये का विनिमय दर १ शि० ४ पैं० तक पहुँच ही गया था और उसे कायम रखा जा रहा था। रुपये का स्वतंत्र टंकन बन्द ही था और उसे असीमित मुद्रा के रूप में माना हुआ था ही। सोने के बदले में सरकार रुपया देती ही थी। अब तो सोने के सिक्के ढालने की टकसाल क़ायम करने का सवाल और था पर फ़ाउलर कमेटी की यह सिफ़ारिश ब्रिटिश ट्रेज़री के विरोध करने से कार्यान्वित नहीं हुई। भारत में स्वर्णमान कायम करने के लिये यह पहली आवश्यक शर्त थी, और यही पूरी नहीं की जा सकी।

स्वर्णमान से स्वर्ण विनिमय मान की ओर—इसके बाद भारत की मुद्रा पद्धति में कुछ ऐसी घटनायें परिस्थितिवशात् घटीं कि स्वर्णमान के बजाय एक दूसरी ही पद्धति—स्वर्ण विनिमय मान—की स्थापना हमारे देश में होगई। इस पद्धति को क़ायम करने का कोई सोचा हुआ निश्चय नहीं था, न भारत सरकार ने ही यह सोचा था कि इस समय उसके द्वारा किये गये निर्णयों का यह नतीजा आयेगा। यह सब कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में अब हम लिखेंगे।

स्वर्ण मुद्रा के चलन का प्रयत्न—१८९९-१९०० में भारत सरकार ने सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन का, जो अब क़ानूनी मुद्रा क़रार दे दिये गये थे, चलन जारी किया। पर लोगों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और वे लौट लौट कर सरकार के पास वापिस आने लगे। सरकार ने यह सोचा कि सोने के सिक्कों का भारत में चलन हो ही नहीं सकता। वास्तव में बात यह थी कि भीषण अकाल पड़ जाने से उस समय आम जनता को छोटे छोटे सिक्कों की विशेष माँग थी। फिर सरकार ने एक भूल यह की कि ठीक इसी समय नए रुपये भी ढलवाये और

इस वजह से भी सोने के सिक्कों का जनता में प्रवेश होना कठिन हो गया। सरकार को इस प्रकार जल्दी से निर्णय नहीं कर लेना चाहिये था। ज़रूरत होने पर सरकार द्वारा नोट और सोवरिन के बदले रुपया देने की अनिवार्यता को भी समाप्त करके सरकार की इच्छा पर रुपया देने न देने की बात छोड़ी जा सकती थी। पर सच्ची बात तो यह है कि बिना पूरा प्रयत्न किये सरकार ने यह मान लिया कि भारत में सोने के सिक्के लोकप्रिय नहीं हो सकते। सोने के सिक्के ढालने के लिये टकसाल क़ायम करने का सवाल १६१२ में दुबारा उठा। भारत मंत्री ने दस रुपये के बराबर का सोने का सिक्का ढालने की स्वीकृति भी दे दी। पर भारत सरकार ने चेम्बरलेन कमीशन की राय के लिये यह प्रश्न उस समय छोड़ दिया।

स्वर्णमान कोष—जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं सन् १६०० में नए रुपये ढालने से जो मुनाफ़ा हुआ उससे स्वर्णमान कोष की स्थापना तो करदी गई, पर उसमें फ़ाउलर कमेटी की राय के विरुद्ध कुछ बातें हुईं। बजाय सारा कोष सोने की शकल में रखने के, भारत मंत्री ने यह फ़ैसला किया कि वह लंदन में स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ की शकल में रहे। नये रुपये ढालने के लिये चांदी पेपर करेन्सी रिज़र्व के सोने से खरीदी जाती थी। १६०६ में स्वर्णमान कोष की रुपये की शाखा भी हिन्दुस्तान में क़ायम की गई। १६०७ में फ़ाउलर कमेटी की सिफ़ारिश के विरुद्ध भारत मंत्री ने यह फ़ैसला भी कर दिया कि नए रुपये ढालने से होने वाले मुनाफ़े का आधा हिस्सा उस समय तक भारत में रेलवे विकास के लिये अलग रखा जाय जब तक कि स्वर्णमान कोष में २ करोड़ पाउण्ड नहीं हो जाते हैं।

कौंसिल ड्राफ्ट—भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति कैसे क़ायम होगई यह समझने के लिये कौंसिल ड्राफ़्ट की पद्धति के बारे में जानकारी करना आवश्यक है। भारत सरकार को हर साल 'होम चार्जेज़' का कुछ रुपया ब्रिटेन में भारत मंत्री को चुकाना पड़ता था। इसके लिये भारत मंत्री भारत सरकार पर रुपये में बिल काटते थे। ये बिल भारत मंत्री ब्रिटेन में उन लोगों को बेच देते थे जिन्हें व्यापार आदि किसी कारण से भारत को रुपया भेजना होता था। बदले में भारत मंत्री को स्टरलिंग मिल जाते थे। बिल खरीदने वाले उन बिलों को हिन्दुस्तान में उनके लेनदार को भेज देते थे। वे बिल भारत सरकार के नाम कटे होते थे इसलिये वे लेनदार भारत सरकार से रुपया वसूल कर लेते थे। इन बिलों को कौंसिल ड्राफ़्ट इस वजह से कहते थे कि भारत मंत्री अपनी कौंसिल सहित अपना काम करता था। ये बिल या ड्राफ्ट भी उस कौंसिल के नाम पर पुकारे जाने लगे।

१८६३ तक भारत मंत्री उतने रुपये के कौंसिल ड्राफ़्ट बेचते थे जितना

रुपया 'होम चार्जेज़' के नाम का भारत सरकार को भारत मंत्री का चुकारा करने के लिये खर्च करना पड़ता था। १८६३ के बाद कुछ वर्षों तक इन कौंसिल ड्राफ्ट का बेचना भारत मन्त्री कभी-कभी, रुपये की विनिमय दर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से, बंद भी कर देते थे। अर्थात् विनिमय दर का एक निश्चित दिशा में नियन्त्रण करने के लिये इन कौंसिल ड्राफ़्ट का उपयोग होने लगा। सन् १८६८ से इनका उपयोग भारत में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने के लिये किया जाने लगा। इन ड्राफ़्ट को बेचने से भारत मंत्री को जो सोना मिलता वह बैंक ऑव इंगलैंड में भारत सरकार की पेपर करसी रिज़र्व में जमा हो जाता और उसके एवज़ में भारत सरकार हिन्दुस्तान में नोट जारी कर देती। बाद में इसी सोने का उपयोग नये रुपये ढालने के लिये आवश्यक चांदी खरीदने में किया जाने लगा था, जैसा पहले लिखा जा चुका है। १९०४ में भारत मंत्री ने यह घोषणा कर दी कि रुपये के विनिमय दर को १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० से ऊपर न जाने देने के लिये जितने कौंसिल बिल या ड्राफ्ट बेचने की आवश्यकता होगी उतने बेचेंगे। अर्थात् कौंसिल बिल का उपयोग विनिमय दर को अमुक मर्यादा से ऊँची जाने से रोकने के लिए भी होने लगा। मिस्र और आस्ट्रेलिया से जो सोवरिन भारत जाते थे उनको भारत जाने से रोकने और उन्हें इंगलैंड भेजने के लिए इन सोवरिनों के बदले में १ शि० ४ पैं० से १ शि० ४$\frac{1}{32}$ पैं० तक के दर पर 'टेलीग्राफिक ट्रान्सफर' बेचने का फैसला भी किया गया। भारत सरकार यह मानती थी कि भारत में सोवरिन की कोई आवश्यकता नहीं है और इसलिये उनका भारत को निर्यात नहीं होने देना चाहिये। भारत मंत्री द्वारा बराबर बेचे जाने वाले कौंसिल बिलों का चुकारा करने के लिए भारत सरकार के पास हर समय पर्याप्त मात्रा में रुपये का होना आवश्यक था। इसलिये जैसा ऊपर लिखा जा चुका है स्वर्णमान कोष की रुपये या चाँदी की शाखा भारत में क़ायम की गई। कौंसिल बिलों की बिक्री द्वारा भारत स्थित स्वर्णमान कोष और दूसरे कोषों की रक़म लन्दन भेजने का भी एक सरल तरीका निकल आया। इस प्रकार भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति को चालू रखने के तरीके के एक अनिवार्य अंग का कौंसिल बिलों के रूप में विकास हो गया। स्वर्ण मान कोष का उपयोग यह भी समझा गया कि इसके आधार पर १ शि० ४ पैं० की दर पर सोवरिन को रुपये में बदलने के लिये भारत सरकार हर समय तैयार रह सकती है। १८६३ की वह विज्ञप्ति भी वापस ले ली गई जिसके अनुसार 'सोवरिन' से अलग सोने के बदले में भी नोट या रुपये जारी करने का भारत सरकार को अधिकार था।

ऊपर हम लिख चुके हैं कि कौंसिल बिलों का उपयोग स्वर्ण विनिमय मान

पद्धति को कायम रखने के लिये होने लगा। पर कौंसिल बिलों का उपयोग रुपये की विनिमय दर को एक मर्यादा से ऊपर जाने से रोकने का ही हो सकता था। स्वर्ण विनिमय मान को कायम रखने के लिये यह भी जरूरी था कि रुपये की विनिमय दर अमुक मर्यादा से नीचे भी न गिरे क्योंकि स्वर्ण विनिमय मान पद्धति का अर्थ ही यह था कि रुपये का पौंड के, जो स्वर्ण मान पर आधारित मुद्रा थी, साथ एक निश्चित विनिमय दर बना रहे। रुपये की विनिमय दर को एक निश्चित मर्यादा से नीचे गिरने से रोकने के लिए कौंसिल बिल तो काम दे नहीं सकते थे। इसलिए किसी दूसरे उपाय की आवश्यकता थी। वह उपाय १९०७-८ में 'रिवर्स कौंसिल बिलों' के रूप में निकल आया। बात यह थी कि जब विदेशी व्यापार के संतुलन के भारत के विरुद्ध जाने से रुपये की विनिमय दर गिरने लगी तो उसे रोकने की भारत सरकार को आवश्यकता हुई। भारत सरकार ने भारत मन्त्री पर स्टर्लिंग में बिल काट करके उन लोगों को बेचना शुरू कर दिया जिन्हें लन्दन स्टरलिंग भेजना था। इस प्रकार भारत सरकार को रुपये में चुकारा करके खरीदने वाले इन बिलों को अपने लेनदार को लन्दन भेज दिया करते थे और वहाँ वह भारत मन्त्री से स्टरलिंग वसूल कर लिया करता था। भारत मन्त्री इन 'रिवर्स कौंसिल बिलों' का चुकारा करने के लिये पेपर करंसी रिज़र्व के सोने, और गोल्ड स्टेंडर्ड रिज़र्व की सिक्यूरिटीज़ का उपयोग करता था। पेपर करंसी रिज़र्व से जितना सोना इस काम में लिया जाता था उसके एवज में पेपर करंसी रिजर्व की भारत की शाखा में उतनी कीमत के रुपये जमा कर दिये जाते थे। भारत सरकार रिवर्स कौंसिल १ शि० ३$\frac{३१}{३२}$ पैं० प्रति रुपये के हिसाब से बेचती थी। इन बिलों का नाम 'रिवर्स कौंसिल' इस वजह से पड़ा कि रुपये की विनिमय दर पर भारत मन्त्री द्वारा बेचे जाने वाले कौंसिल बिलों से बिल्कुल उल्टा (रिवर्स) असर इनका पड़ता था। इनको बेचने का एक असर यह भी हुआ कि भारत सरकार के पास जो सोना विभिन्न कोषों में था उसमें काफी कमी आ गई। इस पर से १९०९ में भारत सरकार ने भारत मन्त्री के पास एक तो यह प्रस्ताव रखा कि स्वर्ण मान कोष में कम से कम २½ करोड़ पौंड रहने चाहिये और वे सोने की शकल में न कि सिक्यूरिटीज़ की शकल में होने चाहिये। भारत मन्त्री ने २½ करोड़ पौन्ड की बात तो मान ली पर वह सोने की शक्ल में रहें यह उसे स्वीकार नहीं हुआ। केवल १० लाख पौन्ड बैंक जमा या अल्पकालिक ऋण में रखने को वह तैयार हुआ। भारत सरकार ने दूसरा प्रस्ताव यह किया था कि पेपर करंसी रिज़र्व में जितना सोना है उसका २/३ भाग भारत में रहना चाहिये क्योंकि भारत में सोवरिन का चलन बढ़ता जा रहा था और इसके लिये पेपर करंसी

रिजर्व में रुपये की अपेक्षा सोना रहना ज्यादा आवश्यक था। पर भारत मन्त्री ने इस प्रस्ताव को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया।

स्वर्ण विनिमय मान पद्धति के प्रमुख लक्षण—भारत में स्वर्ण विनिमय मान (गोल्ड एक्सचेंज स्टेण्डर्ड) की स्थापना किस प्रकार बिना किसी पूर्व निश्चय के हो गई, इसका विवरण ऊपर आ चुका है। इस मुद्रा पद्धति में मुख्य-मुख्य कारण ये थे :—

(१) रुपया असीमित कानूनी मुद्रा था और कानून के अन्तर्गत सोने में उसका परिवर्तन नहीं हो सकता था।

(२) सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन भी असीमित कानूनी मुद्रा मान लिये गये थे और १५ रु० का एक सोवरिन माना गया था।

(३) एक सोवरिन के १५ रु० के हिसाब से भारत सरकार रुपये की एवज़ में सोवरिन दिया करती थी हालाँकि उस पर इस बात का कानूनी जिम्मा नहीं था।

(४) सोना, सोवरिन या स्टरलिंग के एवज़ में जो लन्दन में दिया जाता था, १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पैं० प्रति रुपये के हिसाब से भारत सरकार कलकत्ते या बम्बई में रुपया या रुपये के नोट बेचने को बराबर तैयार रहती थी। यही कौंसिल बिलों की प्रथा थी।

(५) इसी प्रकार भारत सरकार भारत में रुपये लेकर १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पैं० के दर से लन्दन में सोना, सोवरिन या स्टरलिंग देने को तैयार रहती थी। ये ही 'रिवर्स कौंसिल्स' को बेचने की प्रथा थी।

नं० ४ और ५ में दिये गये लक्षण इस पद्धति के आधारभूत लक्षण थे क्योंकि इन्हीं के द्वारा रुपया और सोना या सोवरिन आपस में एक दूसरे में बदले जा सकते थे। इस काम के लिये भारत मन्त्री के पास जो पेपर करेन्सी और गोल्ड स्टेन्डर्ड के कोष में सोना उपलब्ध होता था उसका या जो नकद उसके पास रहता था उसका उपयोग वह करता था। इसी प्रकार भारत सरकार भी गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व की रुपये की शाखा, भारत स्थित पेपर करेंसी रिजर्व, और नकद जो उसके पास हो उसका उपयोग करती थी। इस प्रकार पेपर करेंसी रिजर्व और नकद रुपया जो कि इस काम के लिये नहीं थे उनका भी रुपये की विनिमय दर को स्थिर रखने में उपयोग हो जाता था, हालांकि ऐसा करना सही नहीं था। इस मुद्रा पद्धति के बारे में देश में एक मत नहीं था। कुछ लोगों की राय में इसमें कम खर्च था और लोच था जबकि कुछ की राय यह थी कि इस में स्थिरता का अभाव था और इसमें सस्तापन भी नहीं था।

म्बरलेन कमीशन—१९१३ की अप्रेल में आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता

में इस समस्या की जाँच करने के लिये एक कमीशन बैठा और फ़रवरी, १६१४ में उसने अपनी रिपोर्ट दी। कमीशन ने यह राय दी कि स्वर्ण विनिमय मान पद्धति ठीक-ठीक चल रही है और सोने के सिक्के का चलन जरूरी नहीं है; भारतवासियों की इच्छा पूरी करने के अलावा सोने के सिक्के ढालने के टकसाल की देश में कोई आवश्यकता नहीं है; स्वर्णमान कोष की मात्रा बढ़नी चाहिये, उसमें केवल सोना होना चाहिये और वह लंदन में रहना चाहिये; रुपये की शाखा समाप्त कर देनी चाहिये; रुपये ढालने से जो लाभ हो उसका सिवाय इस कोष में जमा करने के दूसरा कोई उपयोग कुछ वर्षों तक तो नहीं होना चाहिये और भारत सरकार को २ शि० ३$\frac{2}{3}$ पैं० की दर से रिवर्स कौंसिल्स वेचने को बराबर तैयार रहना चाहिये।

प्रथम महायुद्ध—प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन ने व्यक्तियों द्वारा देश से सोना निर्यात करने पर प्रतिबंध लगा दिया। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से स्टरलिंग के एवज़ में सोना मिलना बंद हो गया और भारत की मुद्रा पद्धति स्वर्ण विनिमय मान की बजाय स्टरलिंग विनिमय मान पर स्थापित हो गई। लड़ाई का असर रुपये की विनिमय दर को कम करना भी हुआ, क्योंकि रुपये पर से लोगों का विश्वास उठता हुआ लगा। रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री के ज़रिये विनिमय दर गिरने से रुक गई। बाद में १६१६ के अन्त तक कोई खास बात सामने नहीं आई। पर फिर भारतीय मुद्रा की कई कारणों से माँग बढ़ने लगी। एक कारण तो यह था कि भारत से दूसरे देशों को निर्यात बढ़ा क्योंकि युद्ध सामग्री के लिये आवश्यक माल यहाँ से मित्र राष्ट्रों को भेजा जाता था। इससे विदेशी व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में होगया। युद्ध से पहले तो सोना और चाँदी भेजकर इस संतुलन को बराबर किया जाता था पर लड़ाई के कारण इन धातुओं के निर्यात पर तो रोक थी। इसलिये यह उपाय काम में लिया जाने लगा कि जिन्हें भारत को रुपया चुकाना होता था वे भारत मंत्री द्वारा बेचे जाने वाले कौंसिल बिल लन्दन में खरीद कर भारत में भेज देते थे और भारत सरकार को यहाँ उनका चुकारा करना पड़ता था और इसके लिये उनको रुपये की आवश्यकता होती थी। इसके अलावा भारत सरकार को भी युद्ध के कारण काफी खर्च करना पड़ता था और ब्रिटिश सरकार और मित्र राष्ट्रों की ओर का खर्च भी उसे यहाँ करना होता था। इससे भी रुपये की माँग बढ़ने का परिणाम आता था।

इस बढ़ती हुई रुपये की माँग को पूरा करने का एक उपाय नए रुपये ढालना भी था। भारत सरकार ने थोड़ा बहुत ऐसा किया भी। पर चाँदी की माँग बढ़ने

और पूर्ति की कमी होने से चाँदी की क़ीमत ऊँची जाने लगी । उदाहरण के लिये जहाँ चांदी की क़ीमत प्रति औंस १९१५ में २७ पैं० थी, वह १९१६ में ३७ पैं०, अगस्त १९१७ में ४३ पैंस से ऊपर (४३ पैंस पर १ शि० ४ पैं० की दर से रुपये में की चाँदी की क़ीमत एक रु० होती थी), सितंबर १९१७ में ५५ पैं०, दिसंबर १९१९ में ७८ पैंस, और फ़रवरी १९२० में ८९ पैंस तक पहुँच गई। मार्च १९१९ में डालर-स्टरलिंग विनिमय दर पर से नियंत्रण हटा और इससे विनिमय दर डालर के पक्ष में जाने लगी। चाँदी की स्टरलिंग में जब क़ीमत बढ़ने लगी तो रुपये में भी बढ़ गई क्योंकि रुपया-स्टरलिंग दर निश्चित थी। नतीजा यह हुआ कि भारत सरकार के सामने बढ़ती हुई रुपये की माँग को पूरा करना एक समस्या हो गई।

इस समस्या को हल करने के लिए भारत सरकार ने जिन उपायों को काम में लिया वे इस प्रकार थे :—

(१) भारत मंत्री द्वारा बेचे जाने वाले कौंसिल बिलों की बिक्री १२० से १३० लाख रुपये प्रति सप्ताह से अधिक नहीं करना।

(२) निर्यात पर नियंत्रण करने की दृष्टि से उन्हीं स्वीकृत बैंकों और फर्मों को कौंसिल ड्राफ्ट बेचना जो मित्र-राष्ट्रों को लड़ाई के लिये जो समान भारत से मंगाना हो उसी के लिये बिलों का उपयोग करें।

(३) रुपये की विनिमय दर में वृद्धि करना ताकि कौंसिल बिलों का चुकारा करने के लिये अपेक्षाकृत कम रुपयों की आवश्यकता हो। उदाहरण के लिये ३ जनवरी १९१७ को रुपये की विनिमय दर १ शि० ४$\frac{1}{2}$ पैं० थी, वह २८ अगस्त १९१७ को १ शि० ५ पैंस०, १२ अप्रैल १९१८ को १ शि० ६ पैं०, १३ मई १९१९ को १ शि० ८ पैं०, १२ अगस्त १९१९ को १ शि० १० पैं०, १५ सितम्बर १९१९ को २ शि०, २२ नवंबर १९१९ को २ शि० २ पैं०, और १२ दिसंबर १९१९ को २ शि० ४ पैं० तक चली गई। रुपये की विनिमय दर को इस प्रकार बढ़ने देने का अर्थ था कि स्टरलिंग-विनिमय मान का अन्त हो गया।

(४) भारत सरकार ने नये रुपये ढालने के लिये अमेरिका से २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी। भारत से चाँदी के निर्यात और व्यक्तियों द्वारा चाँदी के आयात पर रोक लगा दी गई।

(५) भारत सरकार ने १ रु० और २$\frac{1}{2}$ रु० के कागज़ के नोट छाप कर, और चाँदी के बजाय निकल की दोअन्नी, चवन्नी, और अठन्नी बनाकर चांदी के उपयोग में किफ़ायत करने का भी प्रयत्न किया।

(६) २९ जून १९१७ को सोने और चांदी के सिक्कों के, सिक्कों के अति-

रिक्त और दूसरे प्रकार के उपयोगों पर क़ानूनी रोक लगा दी गई। भारत में जितना भी सोना बाहर से आयात किया जाये वह सभी इसी तारीख के एक आर्डिनेन्स के अनुसार भारत सरकार के सुपुर्द करना अनिवार्य कर दिया गया ताकि उसके 'सोवरिन' ढाले जायें। इस उद्देश्य से अगस्त १९१८ में एक सोने के सिक्के का मिन्ट भी क़ायम हुआ पर अप्रैल १९१९ में वह बन्द होगया।

(७) नई कागज़ी मुद्रा को चालू किया गया और उसको रुपये में परिवर्तन करने की सुविधायें कम करदी गईं ताकि नई कागज़ी मुद्रा के जारी करने में इस कारण कम अड़चन महसूस हो।

(८) सरकार ने युद्ध के अतिरिक्त और बातों पर खर्चा कम करने का प्रयत्न किया और साथ ही कर अथवा ऋण के द्वारा जनता से ज्यादा रुपया वसूल करने का प्रयत्न किया।

वेविंगटन स्मिथ कमेटी—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम महायुद्ध के समय में देश की मुद्रा प्रणाली अस्तव्यस्त हो गई। ३० मई, १९१९ को भारत मंत्री ने श्री हेनरी वेविंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी की नियुक्ति की। कमेटी की मुख्य-मुख्य सिफ़ारिशें नीचे लिखे अनुसार थीं :—

(१) रुपये का सम्बन्ध स्टरलिंग की जगह सोने से होना चाहिये क्योंकि स्टरलिंग की स्थिरता का कमेटी को भरोसा नहीं था। विनिमय दर के बारे में कमेटी ने १ रु० = २ शि० (सोना) की सिफ़ारिश की थी। इस ऊंची दर को निश्चित करने का कारण यह था कि अगर चांदी का मूल्य ४३ पेंस प्रति औंस से भी ऊपर चला जाय तब भी रुपये की विनिमय दर पर कोई असर नहीं पड़ेगा। कमेटी चाहती यह थी कि रुपये की सोने के साथ ऐसी विनिमय दर निश्चित किया जाये कि चांदी के मूल्य में संभवत: जितनी वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है उतनी वृद्धि होने पर भी रुपये की विनिमय दर पर असर न पड़े। रुपये का सोने के साथ सम्बन्ध रखने का कमेटी के सामने एक कारण यह भी था कि बिना इस संबन्ध के रुपये और सोवरिन दोनों का देश में एक साथ चलन बावजूद दोनों के क़ानूनी मुद्रा होने के असंभव हो सकता है, क्योंकि उनका आपसी मूल्य उस हालत में सोने के रुपये में मूल्य के उतार-चढ़ाव के साथ बदलता रहना आवश्यक है।

(२) रुपये की विनिमय दर जब २ शि० सोना तक पहुँच जाये तो युद्ध-कालीन सोने और चांदी के आयात पर जो प्रतिबंध हैं उन्हें हटा लेना चाहिये।

(३) सोवरिन का टंकन करने के लिये बम्बई में दुबारा रॉयल मिंट की

शाखा क़ायम होनी चाहिये।

(४) सोवरिन के बदले में रुपये देने का ज़िम्मा सरकार को अपने पर नहीं रखना चाहिये ताकि चाँदी की क़ीमत यदि बढ़ जाय तब भी सरकार को परेशानी न हो।

(५) स्वर्णमान कोष पर रक़म की कोई मर्यादा नहीं रहनी चाहिये। उसमें सोने का अंश काफी मात्रा में होना चाहिये और बाक़ी सिक्यूरिटीज़ में लगाना चाहिये। कुल सोने का आधा भाग भारत में रहना चाहिये।

(६) भारत मंत्री को अपनी आवश्यकता से अधिक कौंसिल बिल खरीदने वालों की प्रतियोगिता के आधार पर बेचना चाहिये। विनिमय दर जब गिरने लगे तो रिवर्स कौंसिल भी भारत सरकार को बेचना चाहिये।

श्री दलाल का मतभेद—सर दादा भाई दलाल इस पक्ष में नहीं थे कि रुपये की विनिमय दर १ रु०=२ शि० सोना जितनी ऊंची रखी जाये। देनदार और लेनदार के आपसी संबन्धों पर इसका बड़ा असर पड़ेगा, निर्यात करने वालों को हानि होगी, और कागज़ी मुद्रा के कोषों का जितना अंश सोने या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की शकल में है उसकी रुपये में क़ीमत कम हो जायगी। "चांदी के मूल्य को बढ़ने से रोकने के लिये," श्री दलाल ने लिखा, "सरकार को चांदी के निर्यात पर से रोक हटा लेती थी, और नये रुपये ढालना बन्द करके तथा भारत मंत्री की ज़रूरत के अनुसार ही कौंसिल बिलों को बेच कर भी इस स्थिति को सरकार सम्हाल सकती थी।"

सरकार का निर्णय—भारत सरकार ने कमेटी के बहुमत की राय स्वीकार की और फ़रवरी १९२० में कई विज्ञप्तियें प्रकाशित करके नीचे लिखे कदम उठाये :—

(१) रुपये की विनिमय दर २ शि० सोना ही निश्चित की गई।

(२) चांदी के आयात और चांदी सोने के सिक्कों को गलाने पर से प्रतिबंध हटा लिये गये। चांदी से आयात कर भी हटा लिया गया। २१ जून को सोना और सोने के सिक्कों के आयात पर से रोक हटा ली गई। सरकार के चांदी में चुकारा करने पर से प्रतिबंध हटा लिये गये और नोटों को रुपये में बदलने की पूर्ववत् सुविधायें फिर से जारी कर दी गईं।

(३) सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन के बदले में रुपया देने का सरकार का ज़िम्मा हटा लिया गया।

(४) जून २१, १९२० के एक आर्डिनेन्स से सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन की क़ानूनी मुद्रा की हैसियत समाप्त कर दी गई, पर २१ दिन तक १५ रु० प्रति सोव-

रिन के हिसाब से सरकार ने उनको स्वीकार करने की घोषणा कर दी। उसके बाद ब्रिटिश सोने के सिक्कों के भारत में आयात पर जो प्रतिबंध था वह भी हटा लिया गया। १६२० के इंडियन कोयनेज एक्ट के अन्तर्गत सोवरिन और अर्द्ध सोवरिन १० रु० और ५ रु० के दर से फिर कानूनी मुद्रा करार दे दिये गये। पर सोवरिन का बाज़ार-भाव इससे अधिक था और इसलिये मुद्रा के रूप में इनका चलन नहीं हो सका। इसी कारण सोने की टकसाल खोलना भी अनावश्यक समझा गया। सोने के बाज़ार-भाव को कम करने के लिये भारत सरकार ने आयात का सोना अपने सुपुर्द करा कर बाज़ार में सोने की सितम्बर १६१६ से ही पाक्षिक बिक्री करनी शुरू करदी थी पर जब वेबिंगटन कमेटी ने २ शि० सोने की विनिमय दर निश्चित की थी तब भी सोने का बाजार-भाव ऊँचा था। फ़रवरी १६२० और सितम्बर १६२० के बीच में भी सरकार ने काफी सोना बेचा। पर जब तक सरकार बिक्री करती रही तब तक तो सोने का भाव कुछ मंदा रहा और ज्यों ही बिक्री बंद हुई कि भाव फिर ऊंचा चला गया। भारत सरकार इस काम में बिल्कुल असफल रही।

(५) यह घोषणा करदी गई कि प्रति सप्ताह खुले टेन्डर से कौंसिल ड्राफ्ट और 'टेलीग्राफिक ट्रान्सफर' की बिक्री होगी और रुपये की विनिमय दर में जब कमजोरी मालूम पड़ेगी तो भारत को लंदन सोना भेजने के खर्च पर आधारित दर के हिसाब से 'रिवर्स कौंसिल्स' भी बेचे जायँगे।

२ शि० सोने की विनिमय दर की असफलता—जब २ फरवरी, १६२० को रुपये की विनिमय दर २ शि० सोना तय हो गई तो रुपया स्टरलिंग दर बढ़ने लगी और ११ फरवरी, १६२० को यह दर २ शि० १०$\frac{7}{8}$ पैं० प्रति रुपया तक पहुँच गई। विनिमय दर के बढ़ने में इससे भी सहायता मिली कि निर्यात के व्यापारियों ने अपने निर्यात बिलों को भुनाने की जल्दी करना शुरू कर दिया ताकि विनिमय दर के बढ़ने से होने वाले नुकसान से वे बच सकें। जब विनिमय दर २ शि० १०$\frac{3}{4}$ पैंस स्टरलिंग तक पहुँच गई को उसका गिरना आरम्भ हुआ। इसके कई कारण थे। निर्यात के व्यापारियों द्वारा निर्यात बिलों की बिक्री तो कम हो गई और आयात करने वालों की ओर से बढ़ी हुई दर से लाभ उठाने के लिये स्टरलिंग की मांग आने लगी। हमारे विदेशी व्यापार का संतुलन विपक्ष में चले जाने से भी विनिमय दर में गिरावट आने लगी। सरकार ने रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री द्वारा विनिमय दर को गिरने से रोकने का प्रयत्न किया पर उसमें वह सफल नहीं हुई। सरकार ने हार मान कर २ शि० सोने की बजाय २४ जून, १६२० से २ शि० स्टरलिंग की दर पर कायम रखने का निर्णय किया। पर विनिमय दर

तो गिरती ही गई और सरकार भी उस हिसाब से अपने द्वारा निश्चित दर को कम करती गई। बाजार-दर से सरकारी दर कुछ ऊँची अवश्य रखी जाती थी। आखिरकार हार मान कर सरकार ने सितम्बर १९२० के अन्त में विनिमय दर पर नियंत्रण रखने का इरादा ही छोड़ दिया। इस मौके पर भारत सरकार ने ५ करोड़ ५३ लाख ८२ हजार पौंड के रिवर्स कौंसिल्स बिल बेचे जिनका चुकारा करने के लिये पेपर करेन्सी रिज़र्व की स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ और ट्रेजरी बिलों को नुकसान उठाकर भी बेचना पड़ा क्योंकि १५ रु० प्रति पौंड की दर से वे खरीदी हुई थीं और ७ से १० रु० तक की दर पर वे बेचनी पड़ीं। रिवर्स कौंसिल्स की बिक्री से देश में मुद्रा संकुचन भी हुआ। सरकार ने विनिमय दर का जब नियंत्रण करना छोड़ा था उस समय १ शि० १० पैंस की दर थी। दिसम्बर १९२० में १ शि० ५½ पैं०, दिसम्बर १९२१ में १ शि० ३⅞ पैं० और अप्रैल १९२२ में १ शि० ३⅞ पैं० ही रह गई थी।

असफलता के कारण—विनिमय दर के नियंत्रण में सरकार की इस असफलता का मुख्य कारण यह था कि बेबिंगटन कमेटी ने देश की मुद्रा स्थिति का जो निदान किया वह ग़लत था और सरकार ने उसी ग़लत निदान के अनुसार कार्रवाई की। बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की यह धारणा थी कि चांदी का मूल्य बढ़ जाने से ही रुपये की विनिमय दर बढ़ी और इसीलिये उन्होंने रुपये की विनिमय दर इतनी ऊँची निश्चित करने की सिफ़ारिश की कि फिर चाँदी का मूल्य बढ़ जाने से कोई गड़बड़ी न पैदा हो सके। कमेटी का इस ओर भी ध्यान नहीं गया कि चांदी का मूल्य स्थायी रूप से इतना ऊँचा रहने वाला नहीं था। इसके अलावा चांदी की कीमत बढ़ने का एक कारण यह था कि रुपये और स्टरलिंग दोनों का ही चीजों में सामान्य मूल्य गिर गया था और इसलिये चाँदी में भी उसका मूल्य गिर गया था। रुपया सांकेतिक मुद्रा के रूप में बना रहे और उसका चलन जारी रहे इसके लिये तो आवश्यकता यह थी कि रुपये में चांदी की मात्रा कम करदी जाती न कि उसके विनिमय दर को बढ़ाया जाता। इसके अलावा चाहे रुपये का सांकेतिक मुद्रा का रूप न भी रहता तब भी उसका चलन तो जारी रहता ही, क्योंकि काफी संख्या में रुपये चलन में थे। जब बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफ़ारिश को सरकार ने स्वीकार किया तब चांदी का मूल्य गिरने लग गया था और ४४ पैंस प्रति औंस तक आ गया था। सारांश यह है कि कमेटी ने रुपये की इतनी ऊँची विनिमय दर की सिफ़ारिश करके गलती की और उससे भी बड़ी गलती सरकार ने उस सिफ़ारिश को मान कर और असंभव दिखते हुए भी उस पर जमे रहने का प्रयत्न करने की। सच्ची बात यह थी कि रुपये

की जो क्रय शक्ति थी उसके हिसाब से कहीं अधिक उसकी विनिमय दर को कायम नहीं रखा जा सका।

विनिमय दर का १ शि० ६ पैं० तक पहुँचना—यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब सरकार ने विनिमय दर का नियंत्रण करना छोड़ दिया था तो विनिमय दर बराबर कम होती गई पर थोड़े समय के बाद परिस्थिति बदली। यूरोपीय देशों की क्रय शक्ति बढ़ने से १६२२-२३ में हमारा विदेशी व्यापार बढ़ने लगा। इसके अलावा विनिमय दर को ऊँची रखने के प्रयत्न में देश में मुद्रा संकुचन भी काफी हुआ था। १६२१-२२ और १६२२-२३ में लन्दन में जो स्टरलिंग सिक्यूरिटीज थी वह भारत मन्त्री की रोकड़ में जमा कर दी गई, और इंडियन ट्रेजरी बिल जो रिजर्व में थे उनको भी रुपये में बदल लिया गया। इसका असर भी मुद्रा संकुचन का हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो निर्यात के बढ़ने से और दूसरी ओर मुद्रा संकुचन से रुपये के विनिमय दर में फिर वृद्धि होने लगी। सितम्बर १६२३ में रुपये की कीमत १ शि० ३½ पैं० सोना के बराबर थी और उस समय प्रथम महायुद्ध के पहले का १ शि० ४ पैं० की विनिमय दर फिर से आसानी से निश्चित हो सकती थी। पर सरकार ने ऐसा न करके विनिमय दर को बढ़ने दिया। कौंसिल बिलों के स्थान पर अब सरकार ने इम्पीरियल बैंक और विदेशी विनिमय बैंकों के द्वारा स्टरलिंग खरीदना शुरू कर दिया। ये स्टरलिंग तो भारत मन्त्री के पास रह जाता और भारत में सरकार बैंकों को रुपये में स्टरलिंग के एवज में चुकारा कर देती। अप्रैल, १६२५ में जब इंगलैंड ने फिर स्वर्णमान स्वीकार कर लिया तो रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैंस सोना हो गई। सितम्बर १६३१ तक यही विनिमय दर कायम रखी गई।

हिल्टन यंग कमीशन की स्थापना—२५ अगस्त, १६२५ को भारतीय मुद्रा और विनिमय पर विचार करने के लिए लेफ्टीनेन्ट कमान्डर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की नियुक्ति हुई। ४ अगस्त, १६२६ को इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कमेटी की सिफारिशों को विषय के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मुद्रा मान (मोनिटरी स्टेन्डर्ड), (२) विनिमय दर और (३) केन्द्रीय बैंक। हम इस परिच्छेद में पहले दो विषयों के बारे में ही विचार करेंगे। तीसरे विषय के बारे में पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष—हिल्टन यंग कमीशन ने मुद्रा पद्धति के बारे में अपनी राय देने से पहले स्वर्ण विनिमय मान पद्धति के दोषों का उल्लेख

किया। कमीशन की राय में ये दोष इस प्रकार थे—

(१) स्वर्ण विनिमय मान सरल पद्धति नहीं थी और रुपये और सोने का सम्बन्ध साधारण जनता को स्पष्ट नहीं हो सकता था। कौंसिल बिल्स और रिवर्स कौंसिल बिल्स का इस पद्धति में स्थान; रुपया नोट; और सोवरिन तथा अर्द्ध सोवरिन के कानूनी मुद्रा होने पर सोवरिन तथा अर्द्ध सोवरिन का चलन में नहीं होना और नोट के बदले में रुपये मिल सकना—ये सब पेचीदगी पैदा करने वाली बातें थीं।

(२) इस पद्धति में मुद्रा का संकुचन या विस्तार किसी निश्चित परिस्थिति में अपने आप न होकर सरकार की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर था। कौंसिल बिलों के बदले अगर सरकारी खजाने से रुपये चुका दिये जायँ तो रुपये का विस्तार नहीं होता और इसी तरह रिवर्स कौंसिल का चुकारा गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व से उधार लेकर कर दिया जाय तो मुद्रा का सकुचन नहीं होता। इस तरह से मुद्रा विस्तार और मुद्रा संकुचन के जो ये उपाय थे उनका असर मुद्रा विस्तार और मुद्रा संकुचन का होगा ही, ऐसा अनिवार्य नहीं था।

(३) देश में पेपर करेन्सी रिजर्व नोटों का नकदी में परिवर्तन करने के लिये, गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व रुपये के बदले सोना देने और इस प्रकार रुपये की विनिमय दर स्थिर रखने के लिये, और सरकारी खजाने सरकारी रोज-बरोज के काम को चलाने के लिये कायम किये गये थे। पर वास्तव में इन कोषों और सरकारी खजानों का उपयोग अपनी-अपनी मर्यादा में होता नहीं था; जैसे पेपर करेन्सी रिजर्व का उपयोग विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये या नया रुपया ढालने के लिये चाँदी खरीदने में कर लिया जाता था और गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व का उपयोग भी मौका पड़ने पर कर लिया जाता था। देश में विभिन्न बैंकों के कोष भी थे पर उनका और करेन्सी रिजर्व का आपस में कोई समन्वय नहीं था। इसके अलावा गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व में वास्तव में सोना ही हो या वह भारत में ही रखा जाय ऐसा नहीं था। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज में भी यह रिजर्व रहता था। १९०६ में इस रिजर्व की रुपये की शाखा खुली पर बाद में चेम्बरलेन कमीशन की राय पर वह बन्द करदी गई। पेपर करेन्सी रिजर्व का भी एक भाग लन्दन में रखा जाता था।

(४) स्वर्ण विनिमय मान में कुछ और दोष भी थे। यह किसी सोची-समझी हुई नीति या योजना के अनुसार स्वीकार किया गया हो, ऐसी बात नहीं थी। इसका कुछ आधार तो कानूनी था पर जैसे कौंसिल और रिवर्स कौंसिल बिलों को बेचने की प्रथा का आधार कोई कानून नहीं था। कौंसिल बिलों को बेचने का असर भारत में सोने के आयात पर प्रतिकूल पड़ता था।

(५) इस पद्धति का एक गुण तो यह बताया जाता था कि बिना सोने के सिक्के का खर्च किये स्वर्णमान का लाभ देश को मिल जाता था। पर इस बात में मतभेद था। प्रत्यक्ष स्वर्णमान से जनता में जो भरोसा पैदा होता वह तो इससे पैदा हो ही नहीं सकता था। दूसरा इसका गुण यह था कि रुपये की विनिमय दर में स्थिरता रहती थी पर उसी के साथ रुपये की आन्तरिक क्रय-शक्ति की स्थिरता जो अधिक महत्त्वपूर्ण थी इसके द्वारा प्राप्त नहीं होती थी।

उपर्युक्त कारणों से हिल्टन यंग कमीशन ने इस पद्धति को अस्वीकार कर दिया।

कुछ विकल्प—हिल्टन यंग कमीशन के सामने कुछ विकल्प उपस्थित किये गये थे। उनमें से एक तो यह था कि स्टरलिंग या स्वर्ण विनिमय मान में ही सुधार किया जावे। पर कमीशन भारत की मुद्रा पद्धति को किसी दूसरे देश की पद्धति पर आश्रित रखने के सिद्धान्ततः ही विरोध में था। फिर स्टरलिंग या स्वर्ण विनिमय मान में यह डर तो था ही कि चाँदी के मूल्य में अमुक मर्यादा के बाद वृद्धि हो जाने पर चांदी के रुपये को सिक्के के तौर पर काम में लेना लाभप्रद न होने से उसका चलन न रहे। तीसरे सर्व साधारण में विश्वास पैदा करने के लिये आन्तरिक उपयोग के लिये रुपये को सोने में बदलना आवश्यक था। इसलिये ये विकल्प कमीशन ने स्वीकार नहीं किये।

अब रहा सोने के सिक्के के साथ स्वर्णमान स्थापित करने का प्रश्न। कमीशन सोने के सिक्के के पक्ष में भी नहीं था क्योंकि उसे भय था कि इस कारण एक ओर तो सोने की इतनी माँग बढ़ेगी कि उसे पूरा करना संभव न होगा और उससे संसार का उद्योग-व्यापार भी अस्त-व्यस्त हो जायगा, क्योंकि चाँदी का सोने में मूल्य गिर जायगा। इससे भारत को भी हानि होगी। दूसरे उसे चाँदी की कीमत गिर जाने का भी भय था। यह भी उन भारतीयों के लिये जिनके पास चाँदी जमा है हानिकर होगा।

गोल्ड बुलियन स्टेन्डर्ड—कमीशन ने अपनी राय गोल्ड बुलियन स्टेन्डर्ड के पक्ष में दी। उसने जो सिफारिशें की वे ये थीं :—

(१) चाँदी के रुपये और नोटों का चलन बदस्तूर जारी रहे।

(२) सोने का सिक्का चलने में रखना आवश्यक नहीं है। इसलिये सॉवरिन और अर्द्ध सॉवरिन को कानूनी मुद्रा न माना जावे। इससे यह लाभ भी होगा कि देश में जो रिजर्व में सोना है उसका उपयोग साख व्यवस्था को सुदृढ़ करने में हो सकेगा।

(३) करेंसी अधिकारी पर कानून से यह जिम्मा रहे कि अमुक मर्यादा में

बाद रुपये या नोटों के बदले सोना दिया जाय। यह मर्यादा कम से कम ४००
औंस सोना की मांग होने की रखी जाये।

(४) कमीशन ने रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैं० स्वीकार की। इसी दर के समानांतर करेंसी अधिकारी के सोना खरीदने का भाव २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला तय करने की सिफ़ारिश की गई। सोना बेचने के तीन भाव तय करने को कहा गया। (अ) लन्दन पर टेलीग्राफ़िक ट्रान्सफर की दर जब १ शि० ६$\frac{13}{64}$ पैं०, जो कि स्वर्ण आयात बिन्दु [गोल्ड इम्पोर्ट पोइंट था,] हो तो बम्बई में सोना देने की बिक्री दर वही रखी जाय जो खरीदने की दर थी—अर्थात् २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला। जब लंदन पर टेलीग्राफ़िक ट्रान्सफ़र की दर १ शि० ६$\frac{11}{64}$ पैंस से कम हो उस हालत में (आ) लंदन में सोना देने की बिक्री दर २१ रु० ७ आ० ६ पा० रखी जाय। इसमें लंदन से सोना भेजने का मार्ग व्यय शामिल किया गया था (इ) और बम्बई में सोना देने की बिक्री दर २१ रु० ११ आ० ६ पा० रहे। इसमें सोना भेजने के मार्ग व्यय के दुगने खर्च को शामिल किया गया था। बिक्री की उक्त दरों की सिफ़ारिश करने के पीछे कमीशन का दृष्टिकोण यह था कि सोना बेचने से करेंसी अधिकारी को कोई हानि न उठानी पड़े। इसलिये जब स्वर्ण आयात बिन्दु से कम विनिमय दर हो और इसलिये अपने आप से भारत को बिलों से रुपया भेजने में लाभ हो न कि सोना भेजने में, तो सरकार के सोना बेचने की लंदन में सोना देने की हालत में तो ऐसी दर की सिफारिश की जिसमें लदन तक सोना भेजने का मार्ग व्यय शामिल था, ताकि यहां से सोना भेजने से सरकार को कोई हानि न हो और बम्बई में सोना देने की हालत में सोना बेचने के ऐसे भाव की कमीशन ने सिफ़ारिश की जिसमें कि सोना भेजने के मार्ग व्यय का दुगना खर्च शामिल था। इस प्रकार सोने के क्रय-विक्रय का सबसे सस्ता बाज़ार करेंसी अधिकारी नहीं हो सकता था और इस कारण मुद्रा संबंधी जरूरत के अलावा सोना बेचने से वह मुक्त रह सकता था।

(५) जो नोट नये जारी किये जायँ उनको रुपये में बदलने का कानून से ज़िम्मा तो न लिया जाये पर व्यवहार में अधिक से अधिक सुविधा दी जाये। एक रुपये के नोटों के अलावा जो नोट जारी किये जाने चाहियें, उनको छोटे नोटों या रुपयों दोनों में से किसी में बदलने का करेंसी अधिकारी को विकल्प होना चाहिये। चांदी की कीमत बढ़ने से पैदा होने वाली स्थिति से बचने के लिये ये सिफ़ारिशें की गई थीं।

(६) तीन साल या पांच साल में, कानूनी मुद्रा या सोना जिसमें भी लेने

वाले पसंद करें उसमें चुकाये जाने वाले सेविंग सार्टिफ़िकेट जारी किये जाने चाहिये। इन पर अच्छा व्याज भी मिलना चाहिये। इससे जनता में बचाने की आदत पड़ने और देश की मुद्रा पद्धति में विश्वास पैदा होने की आशा थी।

(७) गोल्ड स्टैन्डर्ड और पेपर करेंसी रिज़र्व को मिला कर एक ही रिज़र्व स्थापित होना चाहिये और किस अनुपात में रिज़र्व में क्या-क्या रहे इसका क़ानून से निश्चय होना चाहिये। कमीशन आनुपातिक कोष पद्धति (प्रोपोरशनल रिज़र्व सिस्टम) के पक्ष में था और कुल कोष का ४० प्रतिशत सोना या सोने की सिक्यूरिटीज़ में रखने की उसकी सिफ़ारिश थी। तत्काल सोने का अंश २० प्रतिशत और दस वर्ष के अन्दर २५ प्रतिशत तक करने की कमीशन ने सिफ़ारिश की थी। चादी के अंश को जो ३० अप्रैल १६२६ को ८५ करोड़ रुपया का था दस वर्ष में घटाकर २५ करोड़ रुपया तक ले आने की सिफ़ारिश की गई थी। सोने के अंश का आधा भाग भारत में रखा जाय, यह भी कमीशन ने राय दी थी। रिज़र्व का बाकी अंश भारत सरकार की रुपये की सिक्यूरिटीज़ और व्यापारिक बिलों का हो सकता था। पर रुपये की सिक्यूरिटीज़ का अंश कुल रिज़र्व का २५ प्रतिशत या ५० करोड़ रुपये का, जो भी कम हो, रहना चाहिये। दस साल के अन्दर-अन्दर सरकार द्वारा अपनी ज़रूरत से जारी की गई सिक्यूरिटीज़ (क्रियेटेड सिक्यूरिटीज़) का स्थान बाज़ार में बिकने वाली सिक्यूरिटीज़ को ले लेना चाहिये। रुपये के संकुचन के बारे में ५० करोड़ की मर्यादा निश्चित करदी गई थी।

हिल्टन यंग कमीशन ने जिस मुद्रा पद्धति की भारत के लिये सिफ़ारिश की वह वास्तव में भारत के उपयुक्त थी या नहीं यह एक मतभेद का प्रश्न था। एक ओर तो कमीशन की सिफ़ारिशों में यह बताया जाता था कि सरकार द्वारा सोना बेचने की ४०० औंस की न्यूनतम मात्रा संबंधी जो मर्यादा लगादी गई थी उसको देखते हुए वास्तव में सर्व साधारण के सोना खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। ऐसी हालत में भारत की मुद्रा का सोने के साथ का संबंध सर्व साधारण को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था और न इस कारण उत्पन्न होने वाला विश्वास उनमें आ सकता था। इसके आलावा बंबई की अपेक्षा लंदन में सस्ते मूल्य पर सोना बेचने की सिफ़ारिश की भी इसलिये आलोचना की गई थी कि भाव के इस अन्तर से भारत से लंदन सोना जाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता। दूसरी बात यह थी कि भारत जैसे देश में जहां आम जनता अशिक्षित है इसका बड़ा महत्त्व है कि सोने के सिक्के का चलन हो। इससे लोगों के मन में मुद्रा पद्धति के बारे में आसानी से भरोसा हो सकता है। कमीशन ने इस बारे में यह अवश्य कहा था कि बाद में जब सोना रिज़र्व में पर्याप्त मात्रा में हो जाय तो सोने का सिक्का अगर ज़रूरी समझा

जाय तो चालू किया जा सकता है।

सारांश यह है कि स्वर्ण विनिमय मान को अस्वीकार करके तो हिल्टन यंग कमीशन ने सही फैसला किया पर भारत में सोने के सिक्के वाला स्वर्ण मान स्थापित करने की सिफारिश न करके भारत का अहित किया। उस समय भारत में सोने के सिक्के वाला स्वर्ण मान कायम करना चाहिये था।

विनिमय दर की समस्या—हिल्टन यंग कमीशन के सामने रुपये का विनिमय दर १ शि० ६ पैं० तय किया जाय या १ शि० ४ पैं०, यह बहुत वाद-विवाद का प्रश्न रहा। बाद में भी हमारे देश में यह वाद-विवाद बहुत वर्षों तक चलता रहा। कमीशन ने बहुमत से १ शि० ६ पैं० के पक्ष में राय दी और उसके नीचे दिये कारण उपस्थित किये :—

(१) कीमतों और मज़दूरों के वेतन का इस दर के साथ सामञ्जस्य बैठ गया है।

(२) जो अल्पकालिक मुआहिदे (कॉन्ट्रैक्ट्स) थे उन पर तो विनिमय दर को १ शि० ६ पैं० तय करने का कोई असर पड़ेगा नहीं, और जो लगान जैसे दीर्घ कालिक मुआहिदे हैं उनके बारे में कमीशन का यह कहना था कि १६१४ के बाद कृषि पदार्थों का मूल्य बढ़ जाने से उनका लगाने देने वालों पर वास्तविक भार कम हो गया है।

१ शि० ४ पैं० के विरुद्ध कमीशन ने कई तर्क दिये थे जैसे :—

(१) मूल्य और मज़दूरी का इस दर से सामंजस्य नहीं हुआ था।

(२) उपभोक्ताओं और सरकारी वित्त व्यवस्था पर १ शि० ४ पैं० की दर का बुरा असर पड़ेगा।

कमीशन की इस राय से सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास सहमत नहीं थे और १ शि० ४ पैं० के पक्ष में उन्होंने अपनी राय दी थी। उन्होंने जो कारण पेश किये थे वे इस प्रकार थे :—

(१) वह इस से इन्कार करते थे कि १ शि० ६ पैं० से मूल्यों और मज़दूरी का सामंजस्य हो गया था।

(२) भारतीय उद्योग के लिए यह दर (१ शि० ६ पैं०) हानिकर होगी क्योंकि इसका असर निर्यात को कम करने और आयात को प्रोत्साहन देने का उस समय तक होगा जब तक कि मूल्यों का इसके साथ सामंजस्य न बैठ जाये।

(३) कर्जदारों पर—और अधिकांश किसान कर्ज़दार हैं—कर्ज़ का बोझ अधिक हो जायगा क्योंकि १ शि० ४ पैंस की विनिमय दर के समय का लिया हुआ कर्ज है।

इस प्रकार भारत सरकार ने 'गोल्ड बुलियन-कम-स्टरलिंग एक्सचैंज स्टेन्डर्ड' की स्थापना की। कमीशन की सिफारिश के अनुसार विशुद्ध गोल्ड बुलियन स्टैन्डर्ड यह नहीं था क्योंकि सरकार पर सोना या स्टरलिंग दोनों में से कोई अपनी इच्छानुसार बेचने का ज़िम्मा था, न कि केवल सोना बेचने का। स्टरलिंग स्वर्णमान पर आधारित था इसलिये इसे स्वर्ण विनिमय मान भी कहा जा सकता है। यह स्वर्ण विनिमय मान पहले वाले से इस अर्थ में अच्छा था कि अब सरकार पर कानून से सोना या स्टरलिंग बेचने का भी ज़िम्मा था, खाली खरीदने का ही नहीं। और सब बातों में यह पहले स्वर्ण विनिमय मान की तरह दोषपूर्ण था।

विनिमय दर १६२७-३१—इन वर्षों में रुपये की विनिमय दर की प्रवृत्ति १ शि० ६ पैं० से नीचे की ओर जाने की रही और उसे १ शि० ६ पैं० पर कायम रखने के लिये सरकार को बैंक रेट को ऊंचा करके, मुद्रा संकुचन करके, और ट्रेज़री बिल्स जारी करके विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा। जो लोग १ शि० ४ पैं० के पक्ष में थे उनको बराबर यह शिकायत रही कि वास्तव में १ शि० ४ पैं० के साथ मूल्यों का सामञ्जस्य बैठा नहीं था और वे बराबर विनिमय दर कम करने के पक्ष में आन्दोलन करते रहे। यह सही है कि १६२६ की विश्वव्यापी मदी का भी मूल्यों के गिरने और विदेशी व्यापार के संतुलन के विपक्ष में जाने में हाथ था पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि विनिमय दर ऊंची होने से भी स्थिति बिगड़ी और बाद में उसके सुधार में बाधा भी पहुँची।

१६३१ का संकट—विश्वव्यापी मदी का सामना करने के लिये २० सितंबर १६३१ को इंगलैंड ने स्वर्ण मान का त्याग कर दिया। २१ सितंबर १६३१ को पहले तो भारत सरकार ने एक आर्डिनेन्स इस आशय का जारी कर दिया कि १६२७ के करेन्सी एक्ट के मातहत जो सरकार पर सोना या स्टरलिंग बेचने का ज़िम्मा था उससे वह मुक्त रहेगी। पर उसी दिन भारत मंत्री ने रुपये को १ शि० ६ पैं० की दर से ही स्टरलिंग के साथ संबंधित रखने की घोषणा कर दी। २४ सितंबर को गवर्नर जनरल ने एक और आर्डिनेन्स, 'गोल्ड एन्ड स्टर-लिंग सेल्स रेगूलेशन आर्डिनेन्स', जारी किया जिसने २१ सितंबर के आर्डिनेन्स को रद्द कर दिया और १६२७ के करेन्सी एक्ट को वापिस लागू कर दिया, पर व्यवहार में स्टरलिंग की बिक्री पर कुछ प्रतिबंध भी लगाये—जैसे स्टरलिंग केवल स्वीकृत बैंकों को ही १ शि० ५$\frac{६९}{६४}$ पैं० की दर पर बेचा जाना था, या सामान्य व्यापारिक आवश्यकता पूर्ति के लिये और २१ सितंबर के पहले के कॉन्ट्रैक्ट्स को पूरा करने के लिये, या व्यक्तिगत और पारिवारिक जरूरत पूरी करने के लिये ही बेचा जाना था। सोना चांदी का आयात करने या विदेशी विनिमय सबंधी

(स्पेकूलेटिव) लेन-देन के लिये स्टरलिंग की बिक्री बन्द कर दी गई थी। इस प्रकार हमारे देश में नियंत्रित स्टरलिंग विनिमय मान की स्थापना हो गई।

स्टरलिंग का सोने में मूल्य गिरता जा रहा था। इसका असर रुपये का सोने में मूल्य गिरने का भी हुआ ही क्योंकि स्टरलिंग के साथ रुपये का संबंध स्थिर कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में सोने का मूल्य बढ़ने लगा। १६३१ के अगस्त के अन्त में सोने की क़ीमत २१ रु० १३ आ० ३ पाई प्रति तोला थी, वह दिसम्बर १६३१ में २६ रु० २ आ० प्रति तोला हो गई। तब से सोने की क़ीमत बराबर बढ़ती गई और १६५१ में ११८ रु० प्रति तोला तक पहुँच गई। (उसके बाद कीमत गिरते-गिरते अब ८० रु० तोले से भी कम रह गई है। (सोने के भाव में तेज़ी आने से लोगों ने अपने पास जो सोना जमा था उसे बेचना शुरू किया और सोना भारत से बाहर जाने लगा। इस प्रकार करोड़ों रुपये का सोना बाहर चला गया। बदले में स्टरलिंग की मात्रा बढ़ गई और ३१ जनवरी १६३२ को सरकार ने 'गोल्ड एंड स्टरलिंग सेल्स रेगूलेशन आर्डिनेन्स' रद्द कर दिया। कानून की दृष्टि से तो १६२७ का करेंसी एक्ट फिर लागू हो गया जिसके अनुसार सरकार पर सोना या स्टरलिंग बेचने का ज़िम्मा था पर व्यवहार में भारत मन्त्री का रुपये का १ शि० ६ पेंस की दर पर स्टरलिंग से सबंध रखने का निर्णय ही लागू रहा।

रुपया-स्टरलिंग संबंध—भारतीय जनमत का विचार किये बिना जब भारत मन्त्री ने रुपया-स्टरलिंग सम्बन्ध स्थिर कर दिया तो देश में इसका बहुत विरोध हुआ। रुपया-स्टरलिंग संबंध को निश्चित करने के पक्ष में जो कारण दिये जाते थे वे ये थे :—

(१) भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार स्टरलिंग वाले देशों से है और स्टरलिंग में भारत को बहुत सा चुकारा करना पड़ता है इसलिए रुपया-स्टरलिंग सम्बन्ध में निश्चितता होना आवश्यक है।

(२) स्टरलिंग के साथ साथ सोने की रुपये में भी क़ीमत बढ़ेगी। स्वर्ण-मान के देशों के साथ विनिमय दर घटेगा और फलतः थोड़े समय के लिये ही सही पर उनके साथ का हमारा निर्यात व्यापार बढ़ेगा।

रुपया स्टरलिंग सम्बन्ध को स्थिर करने के विरुद्ध ये तर्क दिये जाते थे:—

(१) किसी भी देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा पर इस प्रकार आश्रित कर देना और उसकी स्वतन्त्रता को छीन लेना, जैसा कि रुपये का स्टरलिंग से सम्बन्ध निश्चित कर देने से हुआ, ठीक नहीं है। हिल्टन यंग कमीशन ने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया था।

(२) भारत जैसे देश में रुपये की आन्तरिक क्रय-शक्ति और मूल्यों तथा उत्पादन की स्थिरता का विदेशी विनिमय की स्थिरता की अपेक्षा बहुत कम महत्त्व है ।

(३) स्वर्णमान के देशों के साथ के निर्यात में जो कुछ भी लाभ हो उसी के साथ आयात में होने वाली हानि का, और इंगलैंड को जो अपने आप से साम्राज्यान्तर्गत संरक्षण (इम्पीरियल प्रिफ़रेंस) मिल जाने वाला है उसका भी ध्यान होना चाहिये ।

(४) कुछ लोगों का यह भी मत था कि स्टरलिंग के अवमूल्यन के बावजूद १ शि० ६ पेंस की दर भारत के लिये ऊँची थी और इसलिये वे इस दर पर स्टरलिंग सम्बन्ध स्थिर करने के विरोध में थे ।

(५) १ शि० ६ पैं० की दर पर स्टरलिंग-रुपये का सम्बन्ध स्थिर करने का ही यह परिणाम था कि भारत से इतना सोना विदेशों को चला गया जो कि भारत के हित में नहीं हुआ । इस राय के अनुसार स्टरलिंग के मुक़ाबले में रुपये का मूल्य कम आंका गया, अर्थात् रुपये की विनिमय दर ऊँची निश्चित होना चाहिये थी । इस दृष्टिकोण से सब लोग सहमत नहीं थे ।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि रुपये का स्टरलिंग के साथ सम्बन्ध निश्चित कर देना अनुचित था । भारत को अपने आर्थिक विकास की आवश्यकता को ध्यान में रख कर अपनी स्वतन्त्र विनिमय नीति बरतनी चाहिये थी । कुछ लोगों की यह राय थी कि स्टरलिंग के साथ संबंध तो निश्चित किया जाता पर कम दर पर ।

सोने के निर्यात की समस्या—भारत से रुपये का स्टरलिंग के साथ सबंध हो जाने पर करोड़ों रुपये का सोना विदेश चला गया, यह हम ऊपर लिख चुके हैं । सोने के इस निर्यात के बारे में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि जो सोना निर्यात हुआ वह ऐसा सोना था जो लोगों ने आर्थिक कठिनाई के कारण बेचा, अन्यथा वे शायद न बेचते । दूसरी बात यह है कि यह सब सोना देश से बाहर इस कारण गया कि भारत में रुपये में सोने का मूल्य, विदेशों में जो रुपये में उसका मूल्य आता था उससे कम था । भारत में मूल्य कम होने के कई कारण थे—जैसे ग्रामवासियो की इस मामले में जानकारी की कमी, सोना खरीदने वालों का प्रचार, और पर्याप्त मात्रा में लोगों के पास सोना होना । यह भी ठीक है कि अगर रुपये-स्टरलिंग का सम्बन्ध १ शि० ६ पैं० से ऊँचा निश्चित होता तो सोने के निर्यात में अवश्य कमी आती क्योंकि विदेशों में सोने की रुपये में कम क़ीमत मिलती ।

जहां तक यह सवाल है कि इतना सोना देश से बाहर चला गया, यह ठीक था या नहीं, इस बारे में भी वैसे तो दो रायें थीं। एक पक्ष का कहना था कि यह अच्छा हुआ कि इतने ऊँचे दामों पर सोना बिक गया क्योंकि इससे लोगों को काफ़ी लाभ हुआ तथा ज़रूरत के समय पैसा मिल गया। सरकार की विनिमय व्यवस्था और देश के व्यापारिक संतुलन पर इसका इन लोगों की राय में अच्छा असर हुआ। सोने के निर्यात के बदले में या वैसे खरीदने से सरकार के पास स्टरलिंग जमा हो गया और बदले में सरकार ने रुपये या नोटों में चुकारा कर दिया। इसका एक ओर तो यह नतीजा हुआ कि सरकार के पास जो स्टरलिंग था उसका उपयोग तो विदेशों के कर्ज़ को चुकाने में कर लिया गया और दूसरी ओर रुपये की मात्रा बढ़ जाने से ब्याज की दर में कमी आ गई और उससे देश के आर्थिक विकास में सहायता मिली। इस पक्ष का यह भी कहना था कि अगर सरकार सोने पर निर्यात-कर लगा देती तो वह बेचने वाले पर ही पड़ता क्योंकि उसे बेचने की ज़रूरत ज्यादा थी। अगर सरकार स्वयं सोना खरीद कर अपने पास जमा रखती तो वह इतने सोने का करती क्या? पर एक दूसरा पक्ष भी था जो यही ठीक समझता था कि सरकार को सोना अपने पास जमा करना चाहिये था। स्टरलिंग जिसका मूल्य गिरता जा रहा था सरकार ने अपने पास जमा करके भूल की। इसके अलावा जब सोने का मूल्य बढ़ता जा रहा था उस समय सोना बेच कर व्यक्तिशः और राष्ट्र ने भी काफ़ी नुकसान उठाया। बात यह थी कि जहां तक लोगों के पास जो सोना जमा था और वह निकल कर बाहर आ गया यह तो अच्छा हुआ, पर यह सोना सरकार को और बाद में रिज़र्व बैंक को अपने पास रखना चाहिये था और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करना चाहिये था। इस प्रकार उसको विदेश जाने देना देश के हित में नहीं था।

विनिमय दर में परिवर्तन की माँग जारी—यह हम लिख चुके हैं कि जब १९२७ में १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर निश्चित की गई तो उसका बड़ा विरोध था। उसके बाद से द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने तक विनिमय दर को कम करने की मांग बराबर उठती रही। १९२९ की विश्वव्यापी मंदी के आरम्भ होने ही, खास तौर से जब सरकार को १ शि० ६ पैं० की दर कायम रखने में कठिनाई हो रही थी और निर्यात गिर रहा था, यह मांग उठाई गई। १९३१ में जब रुपया-स्टरलिंग का संबंध स्थिर किया गया तो यह प्रश्न उठा। रिज़र्व बैंक की १९३५ में जब स्थापना होने लगी तब भी यह सवाल सामने आया। अक्टूबर १९३६ में जब फ्रान्स और दूसरे स्वर्ण मुद्रा वाले देशों ने अवमूल्यन किया तब भी यह सवाल पैदा हुआ। १९३८ की जून में जब रुपये की विनिमय दर फिर नीचे की

ओर जाने लगी तो भी यह मांग की गई और कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने भी इस मांग का समर्थन किया। पर इन तमाम मांगों के बावजूद सरकार अपने निर्णय पर जमी रही। १६३६ में महायुद्ध आरंभ होने तक विनिमय दर स्थिर रही और युद्ध आरंभ होते ही तो सारी स्थिति बदल गई।

१६२६ से १६३६ तक विनिमय दर को कम करने की मांग निम्नलिखित कारणों को लेकर की गई :—

(१) सरकार मुद्रा संकुचन करके ही १ शि० ६ पैं० की दर कायम रख सकी है—जैसे १६२६-२७ और १६३०-३१ के बीच में १०२१ करोड़ रुपया चलन में कम किया गया, रिजर्व बैंक को स्टरलिंग वेचने पड़े, और इम्पीरियल बैंक को विशेष परिस्थिति में १६२३ के ऐक्ट के अन्तर्गत सरकार द्वारा रुपया उधार देने का व्याज भी बढ़ाना पड़ा—यह सब भी इसी बात का संकेत था।

(२) विनिमय दर ऊंची होने का प्रमाण इससे भी मिलता है कि हमारे देश में विश्वव्यापी मंदी के समय में जैसे ब्रिटेन की अपेक्षा मूल्य अधिक गिरे, औद्योगिक उत्पादन अविरुद्ध रहा, हमारे निर्यात के मूल्य आयात की अपेक्षा अधिक गिरे और विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में होते हुए भी उसकी मात्रा में कमी आई।

(३) १६३१ में रुपया-स्टरलिंग दर का संबंध स्थिर कर देने से स्टरलिंग के साथ रुपये का जितना विनिमय मूल्य गिरा वह कम था।

(४) देश से बड़ी मात्रा में सोने का निर्यात होने से १ शि० ६ पैं० की दर बनी रह सकी। यदि ऐसा न होता तो इस दर को कायम रखने में कठिनाई होती।

उपरोक्त दलीलों का जैसा ऊपर लिखा जा चुका है सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। कभी उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के स्पष्ट न होने की दलील दी और कहा कि ऐसी अनिश्चित स्थिति में निर्णय करना अच्छा नहीं होगा, तो कभी उप-भोक्ताओं को बाहर का माल मँहगा पड़ेगा यह दलील दी गई, और कभी सरकार के वित्त व्यवस्था पर प्रतिकूल असर पड़ने की बात कही गई। द्वितीय महायुद्ध तक यही विवाद चलता रहा। रिज़र्व बैंक एक्ट में १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर को कानूनी रूप ही दिया गया था।

भारतीय कागजी मुद्रा

प्रारम्भिक इतिहास—१८६१ के एक एक्ट द्वारा पहली बार भारत में कागज़ी मुद्रा या नोट जारी करने का एकाधिकार भारत सरकार के कागज़ी मुद्रा विभाग को दिया गया। उससे पहले प्रत्येक बैंक को यह अधिकार था; हालांकि

प्रेसीडेन्सी बैंक ही अपनी विशेष स्थिति के कारण इस अधिकार का वास्तव में उपयोग कर पाते थे, अन्य बैंक अपेक्षाकृत बहुत कम। प्रेसीडेंसी बैंकों के नोट गवर्नमेंट भी स्वीकार करती थी।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है १८६१ का पेपर करेंसी एक्ट इसलिये पास किया गया था कि उस समय देश में जो मुद्रा की तंगी महसूस हो रही थी वह दूर हो जावे।

१८६१ के पेपर करेन्सी एक्ट के अन्तर्गत नोट जारी करने के संबंध में इंगलिश बैंक चार्टर एक्ट १८४४ का सिद्धान्त अपनाया गया था। यह सिद्धान्त 'फ़िक्स्ड फाइड्यूशियरी सिस्टम' कहलाता था जिसके अनुसार एक निश्चित मर्यादा तक तो नोट केवल सिक्यूरिटीज़ के बदले में जारी किये जा सकते थे पर उस मर्यादा के बाद सोने और चांदी के एवज़ में। १८६१ के एक्ट में यह मर्यादा ४ करोड़ रुपये की तय की गई थी। इससे अधिक नोट रुपये या चांदी के बदले में ही जारी हो सकते थे।

नोटों की दृष्टि से भारतवर्ष को तीन क्षेत्रों में बांटा गया था—एक का प्रधान कार्यालय बम्बई, दूसरे का कलकत्ता, और तीसरे का मद्रास में था। बाद में इनकी संख्या ७ हो गई और करांची, लाहोर, कानपुर और रंगून के चार नये क्षेत्र और कायम हो गये। १६१० में इस प्रकार ७ क्षेत्र कायम हो गये थे। नोट १०, २०, ५०, १००, ५००, १०००, और १०००० रु० के जारी किये जाते थे। १८६० में ५ रु० के नोट भी जारी होने लग गये। अपने अपने क्षेत्र के अन्दर नोटों को अपरिमित कानूनी मुद्रा का रूप दे दिया गया था। कायदे से तो अपने क्षेत्र के प्रधान कार्यालय में ही नोटों को रुपये में बदलवाया जा सकता था पर वैसे सरकारी खजाने दूसरे क्षेत्रों के नोट स्वीकार कर लेते थे और भुना भी देते थे।

१६१४ के पूर्व की स्थिति—उक्त कागजी मुद्रा पद्धति में कई दोष दिखाई पड़ने लगे। नोटों के अपने अपने क्षेत्र में ही कानूनी मुद्रा स्वीकार किये जाने और भुन सकने से उनकी सर्वमान्यता पर असर पड़ा। इसलिये धीरे धीरे नोटों को देश भर में कानूनी मुद्रा स्वीकार किया जाने लगा। सबसे पहले १६०३ में ५ रुपये के नोट को वर्मा के अलावा शेष ब्रिटिश भारत में कानूनी मुद्रा मान लिया गया। १६३१-३२ तक सब नोटों के बारे में यह सुविधा हो गई। इसके अलावा नोटों को भुनाने की भी कानून से जितनी सुविधा दी गई थी उससे अधिक सुविधा कई स्थानों के सरकारी खज़ानों और प्रेसीडेन्सी बैंकों के प्रधान कार्यालयों और शाखा कार्यालयों में भी दी जाने लगी। १६१४-१८ की लड़ाई के समय यह विशेष सुविधायें स्थगित करदी गई थीं।

'फ़िक्स्ड फाइड्यूशियरी' की मर्यादा भी बढ़ते-बढ़ते १९११ में १४ करोड़ तक पहुच गई और इसमें से ४ करोड़ स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ के बदले में तय की गई। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ के बदले में सबसे पहले १९०५ में नोट जारी हुये और उस समय उसकी मर्यादा २ करोड़ रखी गई।

१८९८ में एक गोल्ड एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार चाँदी के अलावा सोने के सिक्कों के बदले में भी नोट जारी करने की इजाज़त मिल गई। सन् १९०० के एक एक्ट से यह इजाज़त भी मिल गई कि ये सोने के सिक्के लंदन में भी रखे जा सकते हैं। आखिरकार १९०५ के एक एक्ट के अनुसार सरकार को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता होगई कि वह रुपयों के अलावा, जो कि भारत में ही रखे जा सकते थे, बाकी का धातु कोष भारत में या लदन में और सोना या चांदी अथवा सोने या चादी के सिक्कों में जहाँ और जितना उनकी इच्छा हो वहां और उतना वह रखें। इसका अर्थ यह भी था कि जैसे जैसे नोटों की सख्या बढ़ती, धातु कोष का अनुपात अपने आप ही बढ़ता। इससे आवश्यकतानुसार नोटों को जारी करने में भी अड़चन आती थी। जब १८९३ में रुपया सांकेतिक मुद्रा हो गया तो जिस हद तक रुपये के बदले में नोट जारी होते उस हद तक कम मूल्य की धातु के बदले अधिक मूल्य के नोट जारी हो सकते थे। इससे लोच के अभाव की शिकायत किसी हद तक कम हुई। यह भी एक आलोचना का विषय था कि पेपर करेंसी रिज़र्व में स्टरलिंग रहे और उसका उपयोग विनिमय दर को स्थिर रखने में किया जावे। चेम्बरलेन कमीशन ने यह सिफ़ारिश की थी कि नोटों का फाइड्यूशियरी अंश सरकार को रिज़र्व ट्रेजरीज़ में जितने नोट हों उनमें चलन में जितने नोट हैं उनका $\frac{1}{3}$ भाग जोड़ने से जितना रुपया हो उसके बराबर ही निश्चित होना चाहिये। लेकिन लड़ाई आरम्भ हो जाने से यह कुछ किया नहीं जा सका।

१९१४-१८ की स्थिति—प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होते ही लोगों ने नोटों को रुपये में बदलना आरंभ किया। पर जैसे जैसे लोगों का वापस विश्वास जमा, यह प्रवृत्ति तो रुक गई। इस समय देश में मुद्रा की मांग काफी बढ़ी और उसकी पूर्ति नोट जारी करके की गई। नए रुपये ढालना तो संभव था नहीं क्योंकि चाँदी की कमी थी। नए नोट भी सिक्यूरिटीज़ के बदले में जारी किये गये। 'फाइड्यूशियरी' मर्यादा इस प्रकार बढ़ते बढ़ते १९१९ में १२० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। धातु कोष का अनुपात १९१४ में ७८.९% था वह १९१९ में ३५.८% रह गया। १ रुपया और २$\frac{1}{2}$ रुपये के नोट भी जारी किये गये और कानून के अतिरिक्त नोटों को भुनाने की जो सुविधायें थीं वे बंद करदी गईं। नोटों की कुल संख्या ३१ मार्च १९१४ को ६६ करोड़ रुपये की थी

वह ३१ मार्च १९१९ को १५३½ करोड़ के आसपास पहुँच गई।

प्रथम महायुद्ध के बाद—वेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफ़ारिशों के आधार पर १९२० में इण्डियन पेपर करेंसी एमेंडमेंट एक्ट पास हुआ। इस एक्ट के अनुसार :—

(१) धातु कोष की मर्यादा कुल की ५०% निश्चित कर दी गई। वेबिंगटन स्मिथ कमेटी ने ४०% की सिफ़ारिश की थी।

(२) २० करोड़ की उन सिक्यूरिटीज के अलावा जो भारत में थीं बाक़ी सब इंगलैंड में रखना तय किया गया। ये सिक्यूरिटीज़ अल्पकालिक होना चाहिये थीं।

(३) जारी होने से ९० दिन में सिकरने वाले आन्तरिक बिलों की एवज़ में इम्पीरियल बैंक को ५ करोड़ रुपया ८% व्याज पर कर्ज दिया जा सकता था। बाद में १९२३ में यह मर्यादा १२ करोड़ तक बढ़ा दी गई। धातु कोष के लिये इसको गिनने की आवश्यकता नहीं थी।

(४) भारत मंत्री को लंदन में सोने में ५० लाख पौंड से अधिक अपने पास नहीं रखना था।

१९२० के करेंसी एक्ट में उपरोक्त बातों के अलावा कुछ और बातें भी थीं। सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की कीमत २ शि० प्रति रुपये के हिसाब से जब लगाई गई तो सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ के पहले के मूल्य के मुकाबले में अब कमी हो गई क्योंकि पहले २ शि० से कम पर उनका मूल्य आंका गया था। दुबारा मूल्यांकन करने से जो फ़रक रहा उसे पूरा करने के लिये भारत सरकार को रुपया सिक्यूरिटीज़ जारी करने और उन्हें पेपर करेंसी रिज़र्व को देने का अधिकार दिया गया। पर कुल रुपया सिक्यूरिटीज की मर्यादा २० करोड़ पर निश्चित थी जिसमें से १९२३ के एक्ट के अनुसार १२ करोड़ तक की भारत सरकार की अस्थायी सिक्यूरिटीज़ हो सकती थीं। दुबारा मूल्यांकन के कारण उससे अधिक जो अस्थायी रुपया सिक्यूरिटीज़ जमा हो गई थीं उन्हें धीरे धीरे स्टरलिंग सिक्यूरिटीज से बदलना तय किया गया था। जहाँ तक पेपर करेंसी रिज़र्व में सिक्यूरिटीज़ का सवाल था उनकी मात्रा ८५ करोड़ तय की गई क्योंकि दुबारा मूल्यांकन से धातु कोष का अनुपात ५०% से कम रहने वाला था। बाद में १९२५ के एक एक्ट के अन्तर्गत यह मर्यादा १०० करोड़ करदी गई थी पर साथ साथ यह भी तय कर दिया गया था कि इन १०० करोड़ में से ५० करोड़ से ज्यादा की भारत सरकार द्वारा अस्थायी तौर पर जारी की गई सिक्यूरिटीज़ नहीं होनी चाहिये थीं।

भारत सरकार द्वारा जारी की गई अस्थायी सिक्यूरिटीज़ को स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में बदलने के लिये रुपया नहीं था। इसलिये यह निश्चय किया गया कि पेपर करेंसी रिजर्व में कानून के अनुसार जो सिक्यूरिटीज़ हैं उनका व्याज, नये रुपये ढालने पर उससे होने वाला लाभ, और गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व में जब ४ करोड़ पौंड हो जावें (जो ३० सितम्बर १६२१ को हो गये थे) तो उसका व्याज और उन व्यापारिक बिलों का व्याज जो अस्थायी नोट जारी करने के लिये इम्पीरियल बैंक से कन्ट्रोल ऑव करेंसी को प्राप्त हों—यह सब रकम पेपर करेंसी रिज़र्व को दे दी जावे। पर आर्थिक तंगी के कारण ये आमदनी की मदें सरकारी बजट में जमा होती रहीं। १६२१-२२ में गोल्ड स्टेन्डर्ड रिजर्व में जब ४ करोड़ पौंड से अधिक हो गया तो वह अधिक रकम इन भारत सरकार की अस्थायी सिक्यूरिटीज़ को रद्द करने के काम में लिया गया।

१६२७ में जब हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने को करेंसी एक्ट पास हुआ तो सोना और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का १ शि० ६ पैं० की दर के हिसाब से फिर मूल्यांकन किया गया जिसका नतीजा ६·३० करोड़ से उनकी कीमत बढ़ने का आया। इसी बढ़ी हुई रकम का उपयोग इतने ही रुपयों के ट्रेजरी बिलों को रद्द करने में कर लिया गया और उनकी मात्रा ४६·७७ करोड़ से कम हो कर ४०·४८ करोड़ रुपये की रह गई।

१६३५ में जब रिजर्व बैंक कायम हुआ तो नोट जारी करने का एकाधिकार उसके पास आ गया। बैंक का इश्यू डिपार्टमेंट इस काम को करता है। गोल्ड स्टेन्डर्ड और पेपर करेंसी रिजर्व मिला दिये गये और सारा सोना रिजर्व बैंक के इश्यू डिपार्टमेन्ट को सौंप दिया गया। इश्यू डिपार्टमेन्ट में सोने का सिक्का, सोना, स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़, रुपया, और रुपया सिक्यूरिटीज़ एसेट्स के तौर पर रहते हैं। कुल का ४०% सोना और सोने के सिक्के या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में रखना तय किया गया और सोना और सोने के सिक्के ४० करोड़ रुपये से कम के किसी समय न हों यह भी निश्चित कर दिया गया। विशेष परिस्थिति में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से निश्चित कर देने पर सोना, सोने के सिक्के और स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का अनुपात ४०% कम कुछ समय के लिये किया जा सके यह विधान भी किया गया। पर ऐसी आवश्यकता कभी हुई नहीं।

नोटों के प्रचलन के बारे में जानने की बात यह है कि वह बराबर बढ़ता ही गया है। केवल विश्वव्यापी मन्दी के १६२६-३० और १६३०-३१ के वर्ष इस सम्बन्ध में अपवाद के तौर पर माने जा सकते हैं। मन्दी के बाद की मूल्यों के बढ़ने

की प्रवृत्ति और सोने की बिक्री के कारण भी नोटों की वृद्धि हुई। १९१९-२० में औसत क्रियाशील प्रचलन १५१ करोड़ के लगभग था, १९२८-२९ में १७२ करोड़ हो गया, १९३०-३१ में १५१ करोड़ रह गया और १९३७-३८ में १८६ करोड़ तक पहुँच गया। दूसरे महायुद्ध के बाद तो इस संख्या में कई गुनी वृद्धि हो गई है।

कौन कौन से नोट अधिक लोकप्रिय रहे, इस बारे में यह बताना आवश्यक है कि १० रु० और १०० रुपये के नोटों का बहुत प्रचार हुआ और ५० रुपये के नोटों का बहुत कम प्रचार हुआ। १ रुपये और २½ रुपये के नोट १ जनवरी, १९२६ से और २० रुपये के नोट १९१० से बन्द कर दिये गये। रिजर्व बैंक ने १९३८ में यह निर्णय किया कि वह ५० रु० और ५०० रु० के अपने नोट जारी नहीं करेगा हालांकि भारत सरकार के नोट तो चलन में रहेंगे ही।

दूसरी बात ध्यान देने की यह भी है कि जनता में रुपयों की अपेक्षा नोटों का चलन बढ़ा है। रुपये की जगह लोगों ने १९३१ के पहले सोने का संचय करना आरम्भ कर दिया था इससे भी चलन में रुपये की संख्या में कमी आई। विश्व मन्दी के समय तो रुपये और नोट दोनों की ही माँग कम रही। मन्दी समाप्त होने के बाद नोटों की माँग बढ़ी। १९३७-३८ में जब व्यापार की गति फिर थोड़ी धीमी हुई तो देश में मुद्रा की माँग कम हुई और लोगों ने कुल मिला कर रिज़र्व बैंक को मुद्रा लौटाई। दूसरे वर्ष भी यही स्थिति रही। पर १९३९-४० में फिर स्थिति ने पल्टा खाया और मुद्रा की माँग बढ़ने लगी।

पेपर करंसी रिज़र्व में रुपया और सोना दोनों का अनुपात बढ़ा। सोना १९२५ में २२ करोड़ रुपये का था वह १९३५ में ४४ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसका कारण यह था कि भारत सरकार चांदी तो बेचती रही और स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ में उसी हद तक कमी करती रही। यह इस प्रकार हुआ—चांदी बेचने से जो रकम आई वह स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ में लगाई गई और यह सिक्यूरिटीज़ गोल्ड स्टेन्डर्ड रिज़र्व को देकर बदले में पेपर करेंसी रिज़र्व को सोना मिल गया और उस हद तक रुपया सिक्यूरिटीज़ रद्द कर दी गईं। इससे स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ में कमी आते-आते १९३१-३२ में वे रही ही नहीं और फिर १९३४ में उनका आना शुरू हुआ। उनके बाद वह बढ़ती रहीं। स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ में कमी आने का कारण तो यह था कि भारत मन्त्री को रकम भेजना मुश्किल हो रहा था और बाद में वृद्धि इस कारण से हुई कि भारत मन्त्री के खज़ाने में जो अतिरिक्त रकम थी और चाँदी की बिक्री से जो रुपया मिलता था उसका उपयोग पेपर करेंसी रिज़र्व के लिये स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ खरीदने में लगाया जा रहा था।

परिच्छेद १२

द्वितीय महायुद्ध और मुद्रा

जब १६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो उसका असर भारतीय मुद्रा व्यवस्था पर भी कई प्रकार से हुआ। अब हम इस सम्बन्ध में विचार करेंगे।

मुद्रा का विस्तार—महायुद्ध का एक स्वाभाविक असर तो यह हुआ कि देश में बहुत बड़ी मात्रा में मुद्रा का विस्तार हुआ। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १ सितम्बर, १६३६ को भारत में सक्रिय प्रचलन में १८२·१३ करोड़ रुपये के नोट थे जब कि १६ अक्टूबर १६४५ को उनकी संख्या ११५६·८५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि ६७७·७२ करोड़ रुपये या ५३६ प्रतिशत की नोटों में वृद्धि हुई। इसी प्रकार सितम्बर १६३६ से अगस्त १६४५ तक कुल १४२·१६ करोड़ के रुपये के सिक्के और ६७·५६ करोड़ रुपये की रेज़गी भी अधिक प्रचलन में आई। बैंक के डिपाजिटों की मात्रा भी बढ़ी। केवल शिड्यूल बैंकों के डिपाजिटों में युद्ध के आरम्भ से ३१ मार्च १६४५ तक ४६० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। युद्ध काल में मुद्रा के कुल प्रचलन में ११६८·६४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसमें से ८२·५ प्रतिशत वृद्धि नोटों में, ११·६ प्रतिशत रुपये के सिक्कों में और ५·६ प्रतिशत रेजगारी में हुई थी। यह अवश्य है कि मुद्रा प्रचलन की गति में कुछ कमी आगई थी क्योंकि युद्ध की अनिश्चित परिस्थितियों में सर्व साधारण, बैंक और व्यापारी सभी अपने हाथ में नक़द रुपया अधिक मात्रा में रखना चाहते थे।

मुद्रा के उक्त विस्तार के कारणों का जहाँ तक सवाल है, मूल कारण तो एक ही था कि युद्ध के खर्च को चलाने के लिये भारत सरकार को रुपये की आवश्यकता थी। भारत सरकार की इस आवश्यकता का एक विशेष कारण यह भी था कि उसे मित्र राष्ट्रों के लिये भी खर्च करना पड़ता था। अपनी आवश्यकता को पूरी करने का भारत सरकार के पास सबसे बड़ा साधन नए नोट जारी करने का था, क्योंकि जनता पर कर लगा कर या कर्ज लेकर जो रुपया सरकार प्राप्त कर सकती थी उसकी आखिरकार एक मर्यादा थी। इसलिये सरकार को विवश होकर नए नोट जारी करने पड़े। पर नए नोट जारी तभी हो सकते हैं जब उनके बदले में रिजर्व बैंक के पास कोई 'एसेट्स' जमा हों। ये एसेट्स 'स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़' और 'रुपया सिक्यूरिटीज़' की शकल में जमा किये गये और बदले में नोट जारी किये गये। अब हम ये

'स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़' और 'रुपया सिक्यूरिटीज़' कहाँ से आईं इस बारे में थोड़ा सा विचार करेंगे।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का जमा होना—रिजर्व बैंक कानून के अन्तर्गत सोना या सोने का सिक्का, स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़, रुपये का सिक्का, और रुपया सिक्यूरिटीज के एवज़ में नोट जारी कर सकता है। युद्ध काल में नये नोट जारी करने के लिये रिजर्व बैंक को न तो सोना या सोने का सिक्का उपलब्ध हो सकता था और न रुपये का सिक्का ही। सोना या सोने के सिक्के मिलने का तो कोई सवाल ही नहीं था और देश में रुपये की माँग बढ़ने से रुपये का सिक्का भी उपलब्ध नहीं था। बल्कि १ अगस्त १९३९ से लेकर ३१ अगस्त १९४५ के बीच में रिजर्व बैंक के इश्यू विभाग में ५८·४ करोड़ का रुपये का सिक्का और कम हो गया जब कि इस समय में ९७४·८ करोड़ की स्टरलिंग सिक्यूरिटीज और २०·५ करोड़ रुपये की रुपया सिक्यूरिटीज की मात्रा में वृद्धि हुई।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ जो इतनी बढ़ी हुई मात्रा में इकट्ठी हो गईं उसका कारण यह था :—भारत सरकार ब्रिटिश सरकार और दूसरे मित्र राष्ट्रों के लिये यहाँ युद्ध सामग्री खरीदती थी। ब्रिटिश सरकार इस सामग्री की कीमत भारत सरकार को लन्दन में स्टरलिंग में चुका देती थी। भारत सरकार इस स्टरलिंग का उपयोग 'होम चार्जेज' के लिये और भारत पर जो स्टरलिंग ऋण था उसे चुकाने में करती थी और इसके अलावा ब्रिटिश सरकार को ऋण के रूप में दे देती थी। इस ऋण के बदले में ब्रिटिश सरकार उसे अपने आई-ओ-यूज (IOUs) या स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ दे देती थी जो भारत के रिजर्व बैंक के एसेट्स के तौर पर लन्दन में जमा करदी जाती थी। ये स्टरलिंग सिक्यूरिटीज रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग में जमा होतीं पर जब उनके एवज में नोट जारी करने होते तो ये सिक्यूरिटीज बैंक के इश्यू डिपार्टमेंट में जमा करदी जातीं और उतने ही नोट जारी कर दिये जाते। इस प्रकार युद्ध काल में हमारे देश में स्टरलिंग सिक्यूरिटीज तो जमा होती गईं और नोट जारी होते गये और उनके द्वारा मुद्रा प्रसार किया गया। रिजर्व बैंक के पास स्टरलिंग आने का एक दूसरा साधन यह था कि भारत को जिन्हें माल के बदले में रुपया भेजना होता था उनसे बैंक स्टरलिंग तो खरीद लेता था और एवज में उन्हें रुपया चुका देता था।

रुपया सिक्यूरिटीज़—युद्ध काल में देश में जो मुद्रा विस्तार हुआ उसका एक आधार रुपया सिक्यूरिटीज भी थीं। रिजर्व बैंक एक्ट में रुपया

१९४१ के आर्डिनेन्स से यह संशोधन कर दिया गया कि इससे पहले जो रुपया सिक्यूरिटीज़ के बैंक के इश्यू विभाग में जमा होने की ५० करोड़ की अधिकतम मर्यादा थी वह आगे नहीं रहेगी। फलस्वरूप अब भारत सरकार के लिये यह संभव हो गया कि वह रिज़र्व बैंक को अपने ट्रेजरी बिल या आई-ओ-यूज़ (IOUs) जारी करदें। कुछ सिक्यूरिटीज़ उन स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ का स्थान लेने के लिये भी जारी की गईं थीं जो स्टरलिंग ऋण चुकाने के पहले ब्रिटिश लेनदारों या ऋणदारों के पास थीं।

रुपया और रेजगारी की मांग में वृद्धि—युद्ध आरंभ होने के बाद १९४० की गर्मियों तक तो देश की कागज़ी मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहा। पर फ्रांस के पतन और इटली और बाद में जापान के युद्ध में शामिल हो जाने के बाद लोगों का विश्वास डिगने लगा और नोटों को रुपये में बदलवाने की मांग बढ़ने लगी। इसके साथ-साथ लोगों ने रुपया और रेज़गारी इकठा करना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति का सामना करने के लिये एक ओर तो २५ जून, १९४० की एक विज्ञप्ति द्वारा वाजिब व्यक्तिगत या व्यापारिक आवश्यकता से अधिक रुपया या रेज़गारी इकट्ठा करना अपराध घोषित कर दिया गया, दूसरी ओर सरकार ने नए रुपये और रेज़गारी जारी करके नई कम चांदी की (५० प्रतिशत चांदी, $\frac{११}{१२}$ भाग के बजाय) अठन्नी और चवन्नी और बाद में कम चांदी का रुपया भी जारी करके, नए अधन्ने, इकन्नियाँ और दुअन्नियाँ जारी करके और रुपये में नहीं बदले जाने वाले एक रुपये के नोट जारी करके इस स्थिति को सभालने का प्रयत्न किया। इसमें कोई सदेह नहीं कि बहुत समय तक बावजूद सब प्रयत्नों के स्थिति गभीर बनी रही थी। भारत सरकार ने रुपये के पुराने सिक्कों की जिनमें $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी का था धीरे धीरे कानूनी हैसियत ख़तम करदी। विक्टोरिया छाप के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मार्च, १९४१ से, एडवर्ड सप्तम के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मई, १९४२ से और जार्ज पंचम और जार्ज षष्ठम के रुपये और अठन्नियों का चलन ३१ मई, १९४३ से बंद कर दिया गया।

विदेशी विनिमय की स्थिति और उसका नियंत्रण—यह हम पहले लिख चुके हैं कि रुपये की १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर विनिमय दर बनाये रखने में सरकार को बड़ी कठिनाई अनुभव होती रही और इस कारण देश का बहुत सा सोना भी विदेशों को भेजना पड़ा। पर युद्ध के आरम्भ होते ही रुपया-स्टरलिंग दर में दृढ़ता आ गई क्योंकि युद्ध का असर भारतीय व्यवसाय और व्यापार के पक्ष में पड़ा, देश का निर्यात बढ़ा और विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे अनुकूल

जाने लगा। रिज़र्व बैंक ने स्टरलिंग की खरीद बड़ी मात्रा में करना आरम्भ कर दिया। अब १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर कायम रखना आसान हो गया।

पर जैसे ही डालर, येन और दूसरी मुद्राओं की तुलना में स्टरलिंग गिरने लगी, रुपये की विनिमय दर भी इन मुद्राओं में गिरने लगी। बाद में स्टरलिंग-डालर दर ४·२ पर निश्चित करदी गई तो रुपये-डालर की दर भी १०० डालर = ३३२ रुपये की दर पर निश्चित हो गई।

जहाँ तक विदेशी विनिमय के नियंत्रण का प्रश्न है, भारत सरकार ने रिज़र्व बैंक के एक्सचेंज कन्ट्रोल डिपार्टमेंट को यह कार्य सौंप दिया। इस नियंत्रण का उद्देश्य विदेशी विनिमय का अपव्यय रोकने का था, रिज़र्व बैंक ने किन्हीं ज्वाइंट स्टॉक और एक्सचैंज बैंकों को विदेशी विनिमय में लेन-देन करने का अधिकार दे दिया। उनको यह आदेश था कि रुपया–स्टरलिंग दर और लंदन एक्सचैंज कन्ट्रोल की दरों के आधार पर वे अपना लेन-देन करें। ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों को स्टरलिंग क्षेत्र का नाम दिया गया। इस क्षेत्र में विदेशी-विनिमय के लेन-देन बिना किसी रोक-टोक के हो जाते थे। पर इस क्षेत्र के बाहर से होने वाले लेन-देन पर कड़ा नियंत्रण था। केवल वाजिब व्यापारिक या व्यक्तिगत और यात्रा संबंधी आवश्यकता पूर्ति के लिये विदेशी विनिमय मिल सकता था और पूँजी निष्कासन और विदेशी विनिमय में होने वाले स्पेक्यूलेशन को रोकने का प्रयत्न किया जाता था।

आयात-निर्यात नियन्त्रण—विदेशी विनिमय नियंत्रण की एक अनिवार्य शर्त यह थी कि आयात और निर्यात का भी नियन्त्रण किया जावे। भारत सरकार ने आयात निर्यात पर भी नियन्त्रण क़ायम कर दिया। जब तक किसी माल को—जिसको आयात करने के लिये लाइसेंस लेना आवश्यक था—आयात करने का लाइसेंस नहीं मिल जाता उसके लिये विदेशी विनिमय नहीं मिल सकता था। इस प्रकार स्टरलिंग क्षेत्र के बाहर जो माल निर्यात होता था उस पर इस बात का रिज़र्व बैंक के द्वारा नियन्त्रण था कि निर्यात के बदले में विदेशी विनिमय भारत को मिल जावे और निर्यात के बदले में चुकारा इस प्रकार किया जावे कि माल के एवज में अधिक से अधिक विनिमय मूल्य प्राप्त हो सके। भारतवासियों तथा साम्राज्यान्तर्गत दूसरे देशों के निवासियों के पास जो भी डालर की आमदनी होती थी वह सब 'एम्पायर डालर पूल' में जमा करदी जाती थी। इसका उपयोग युद्ध के लिये होता था।

माल के आयात-निर्यात पर होने वाले नियन्त्रण के साथ ही साथ विदेशी सिक्यूरिटीज़ और सोना चाँदी और करेंसी नोटों के आयात-निर्यात पर भी नियन्त्रण कर दिया गया था। सोना और चाँदी के आयात के लिये रिज़र्व बैंक से लाइसेंस लेना होता था। पर आयात के लिये लाइसेंस आसानी से मिल जाता था। निर्यात के बारे में स्थिति यह थी कि बिना रिजर्व बैंक की स्वीकृति के सोने का निर्यात नहीं हो सकता था। चांदी का निर्यात साम्राज्यान्तर्गत देशों और अमेरिका को बिना रोक के और तटस्थ देशों को भारत मत्री की स्वीकृति से जून १९४३ तक होता था पर बाद में लंका को छोड़कर सब जगह के लिये चांदी का निर्यात बंद कर दिया गया। लका को जो विशेष सुविधा दी गई थी वह मई १९५१ में समाप्त करदी गई। इसी प्रकार सिक्यूरिटीज बिना रिजर्व बैंक की इजाज़त के बाहर नहीं भेजी जा सकती थीं और न बाहर से उनका आयात हो सकता था। भारत से बाहर एक सीमा से अधिक जवाहरात और नकद भेजने के लिये भी लाइसेंस लेना आवश्यक था। शत्रुओं का जिन देशों पर अधिकार हो गया था उनके करेंसी नोटों का आयात बन्द था।

एम्पायर डालर पूल—१९३९ में इगलैंड ने स्टरलिंग क्षेत्र के देशो के विदेशी विनिमय के जो रक्षित कोष थे उन पर नियंत्रण कर लिया। अगर किसी स्टरलिंग क्षेत्र से बाहर के देश से होने वाले व्यापार के फलस्वरूप किसी स्टरलिंग क्षेत्र के देश का लेना रहता था तो उस देश को तो चुकारा स्टरलिंग में हो जाता और डालर 'एम्पायर डालर पूल' में जमा हो जाता। अगर किसी सदस्य देश को डालर की आवश्यकता होती तो वह उस पूल में से जो बैंक ऑव इंगलैंड में जमा रहता था ले सकता था। भारत भी इस डालर पूल का सदस्य था। पर इसका देश में बराबर विरोध था कि भारत जो डालर कमाता है उसको डालर पूल में क्यों जमा किया जाय। भारत द्वारा कमाये हुए डालर पर भारत का ही पूरा अधिकार रहना चाहिये। १९४७ में भारत को यह आवश्वासन भी मिल गया कि वह अपने डालर साधनों का स्वतंत्रता से उपयोग कर सकेगा। पर इस बारे मे १९४८ में फिर कुछ प्रतिबंध लगाये गये जो १९४९ में हटा दिये गये। जब स्टरलिंग के साथ रुपये का अवमूल्यन हुआ तो अन्य देशों के साथ भारत ने भी डालर को कम खर्च करने की नीति स्वीकार की। इसके बाद डालर की स्थिति में सुधार आया पर १९५१ में फिर यह स्थिति बिगड़ने लगी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय मुद्रा

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय मुद्रा पर क्या प्रभाव पड़ा, इस बारे में हमने लिखा है। महायुद्ध समाप्त होने के बाद भारतीय मुद्रा संबंधी स्थिति में क्या क्या

परिवर्तन आया, और कौन कौन सी महत्त्वपूर्ण घटनायें घटी तथा आज भारतीय मुद्रा से संबंध रखने वाले जीवित प्रश्न क्या हैं, अब हम इस पर विचार करेंगे।

मुद्रा का विस्तार—इस विषय में सबसे पहला प्रश्न मुद्रा के विस्तार से संबंध रखता है। युद्ध समाप्त होने के बाद प्रतिवर्ष साल के अन्त के आँकड़ों के आधार पर प्रचलन में कुल नोटों की संख्या में तो वृद्धि जारी रही पर प्रचलन में प्रतिशत वृद्धि और कुल वृद्धि में तो १९४३-४४ से ही कमी आना शुरू हो गई थी। १९४८-४९ में पहली बार प्रचलन में नोटों की कुल संख्या में भी कमी आई। जहाँ १९४७-४८ के अन्त में प्रचलन में कुल नोटों की सख्या १३०४ करोड़ तक पहुंच गई थी वह संख्या १९४८-४९ में ११९९ करोड़ और १९४९-५० में ११६३ करोड़ पर आ गई। १९५०-५१ में १२४७ करोड़ रुपये के नोट प्रचलन में थे (रिज़र्व बैंक बुलेटिन अप्रैल १९५२)। भारत में प्रचलन में नोटों की संख्या में १९३७-३८ के बाद पहली बार १९४८-४९ में ७·८४ करोड़ रुपये की और बाद में १९४९-५० में ५·८४ करोड़ रुपये की कमी आई। इसी प्रकार रुपये के सिक्के के बारे में भी हम यही देखते हैं कि १९४२-४३ के बाद से इसकी मांग में कमी आने लगी है यद्यपि कुल रुपये के सिक्के के परिमाण में कुछ न कुछ वृद्धि होती रही। पर १९४७-४८ में तो रुपये के सिक्के के प्रचलन की संख्या में ही १२·३४ करोड़ की कमी आ गई। १९४८-४९ में ४·३१ करोड़ रुपये प्रचलन में कम हुए हालांकि १९४९-५० में २·२९ करोड़ की वृद्धि हो गई। १९५०-५१ में वृद्धि की मात्रा बढ़कर ५·८ करोड़ रुपया हो गई। १९५०-५१ में १५३ करोड़ रुपये के लगभग रुपये के सिक्के प्रचलन में थे। दिसबर १९५१ में १४० करोड़ के लगभग रुपये के सिक्के प्रचलन में थे। रेज़गी को मांग भी १९४४-४५ के पश्चात कम हो गई। यहाँ तक कि १९४८-४९ में केवल २४ लाख रुपये की नई रेज़गी प्रचलन में ज्यादा आई जब कि १९४७-४८ में ४ करोड़ के लगभग, १९४६-४७ में ६ करोड़ के लगभग और १९४५-४६ में १० करोड़ के लगभग की अधिक रेज़गी प्रचलन में आई थी। १९४४-४५ में १९ करोड़ रुपये की नई रेज़गी प्रचलन में आई थी। १९४९-५० में तो २·१६ करोड़ की रेज़गी प्रचलन में कम हो गई। १९५०-५१ में यह कमी ३·२० करोड़ की थी। नोट, रुपया और रेज़गी सबको मिला कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि १९४२-४३ में सबसे अधिक मात्रा में मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। यह मात्रा ३१८ करोड़ से भी अधिक रुपये की थी। उसके बाद कमी आती गई और १९४६-४७ में वृद्धि की यह मात्रा ३१ करोड़ के आसपास ही रह गई। १९४८-४९ में तो कुल मात्रा में १२ करोड़ रुपये के लगभग की और १९४९-५० में ५·७१ करोड़ रुपये की कमी ही आई।

पर १९५०-५१ में एक साथ ८६ करोड़ रुपये से अधिक की वृद्धि होगई। बैंक के डिपाज़िट के बारे में जो आंकड़े मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि मार्च १९४४ तक तो डिपाजिट की वृद्धि की दर बराबर बढ़ती गई पर उसके बाद कमी आने लगी। १९४८-४९ में डिपाज़िट की मात्रा में कमी आ गई और १९४९-५० में भी कमी रही हालांकि १९४८-४९ की अपेक्षा कम। १९५० ५१ में जमा मुद्रा की मात्रा १५.३ करोड़ रुपये से बढ़ गई। १९५१-५२ में जमा मुद्रा में १९५०-५१ की अपेक्षा कुल में कितनी वृद्धि हुई या नहीं इसके आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं पर शेड्यूल्ड बैंक की जमा में लगभग ७ करोड़ की वृद्धि हुई और यह जमा ८८४½ करोड़ रुपया थी (रिजर्व बैंक बुलेटिन अप्रैल १९५२)। यदि हम कुल मुद्रा की मात्रा का जिसमें करेंसी (रेज़गारी के अलावा) और डिपाज़िट दोनों ही का समावेश है, विचार करें तो हम देखेंगे कि कुल मात्रा में मार्च १९४८ तक तो वृद्धि होती रही यद्यपि मार्च १९४३ के बाद से वृद्धि की मात्रा की दर में आने लगी। १९४८-४९ में तो कुल मात्रा में ही ४३ करोड़ के लगभग की कमी हो गई और १९४९-५० में १८ करोड़ के लगभग कमी हो गई। १९५०-५१ में कुल मुद्रा की मात्रा में फिर ६९.२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। (करेंसी फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९५०-५१ स्टेटमेंट १६ अ व १८)

उपरोक्त विवरण का सार यह है कि युद्ध के अन्तिम वर्षों में मुद्रा प्रसार की गति धीरे धीरे कम होने लगी; यहाँ तक कि एक समय ऐसा भी आगया जब कुल मात्रा में ही कमी होना आरम्भ हो गई। पिछले दो वर्षों में मुद्रा की मात्रा में फिर वृद्धि होना आरम्भ हुआ है। इस वृद्धि का मूल कारण हमारे विदेशी लेन-देन के हिसाब में अनुकूलता का होना था।

स्टरलिंग सिक्यूरिटीज—द्वितीय महायुद्ध का एक बड़ा असर यह हुआ था कि रिजर्व बैंक के पास स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ काफ़ी बड़ी मात्रा में जमा हो गई थीं। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की यह वृद्धि अप्रैल १९४६ तक बराबर जारी रही। पर उसके बाद उसकी मात्रा फिर कम होने लगी। स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ में अगस्त १९३९ के मुक़ाबले में सबसे अधिक वृद्धि अप्रैल १९४६ में हुई जब कि १७३१.१७ करोड़ रुपये तक वे पहुच गई थीं। उसके बाद स्टरलिंग सिक्यूरिटीज़ की मात्रा गिरने लगी। ३१ मार्च १९५० में उनका मूल्य ८५९ करोड़ रुपये के बराबर था। पर इसके बाद विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा बढ़ी और उनका मूल्य १९५०-५१ के अन्त में ८८४ करोड़ रुपये के बराबर था। इस वृद्धि का कारण विदेशी लेन-देन का हमारे अनुकूल होना था (करेंसी फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९५०-५१ पृष्ठ ७०)। पर १९५१-५२ में विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा में यथेष्ट कमी आगई

क्योंकि विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे प्रतिकूल रहा। रिज़र्व बैंक के बैंकिंग विभाग में जहां १९५०-५१ के अन्त में २०७·३० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियां या नक़द था वह १९५१-५२ के अन्त में १८७·१४ करोड़ रुपये का रह गया। और १९५२ के मार्च के अन्त में तो उसकी मात्रा १२३·९२ करोड़ रुपया ही रह गई थी। रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में १९५०-५१ के अन्त में ६१४·८८ करोड़ की विदेशी प्रतिभूतियां थीं वे १९५१-५२ के अन्त में तो ६१५·०७ करोड़ की होगईं पर मार्च १९५२ के अन्त में ६०३·१५ करोड़ और दिसंबर १९५१ के अन्त में तो ५८३·१५ करोड़ ही की थीं। १९३८-३९ में विदेशी प्रतिभूतियां इश्यू विभाग में ६७ करोड़ और बैंकिंग विभाग में लगभग ४ करोड़ की थीं; (रिज़र्व बैंक बुलेटिन अप्रैल, १९५२)। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि जनवरी १९४९ से भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हो जाने से रिज़र्व बैंक को स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ के अलावा दूसरी विदेशी सिक्यूरिटीज़ खरीदने का भी अधिकार हो गया और तब से इश्यू विभाग के स्टेटमेंट में स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ की जगह विदेशी सिक्यूरिटीज़ ने ले ली है।

रुपया सिक्यूरिटीज़—रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा में भी बराबर उतार-चढ़ाव आता रहा है। द्वितीय महायुद्ध के समय में आरम्भ होने वाली वृद्धि का जहां तक सवाल है वह मार्च १९४३ तक जारी रही। मार्च १९४४ में समाप्त होने वाले साल में तो एकदम बहुत कमी आ गई। उसके बाद फिर कुछ वृद्धि आरम्भ हुई और मार्च १९४९ में समाप्त होने वाले साल में तो वृद्धि की मात्रा एक साथ बहुत बढ़ गई; इसका मुख्य कारण यह था कि भारत-ब्रिटेन आर्थिक समझौते के अनुसार जब स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज़ ब्रिटेन को दे दी गईं तो उनका स्थान भारत सरकार के ट्रेज़री बिलों ने लिया। ३१ मार्च १९५१ को रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा ५८३ करोड़ थी। १ सितम्बर १९३९ को रुपया सिक्यूरिटीज़ की मात्रा ३३ करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी। युद्धकाल में १३६ करोड़ रुपये की अधिक से अधिक वृद्धि हुई; बैंक के इश्यू विभाग में ३१ अगस्त १९५१ को रुपया सिक्यूरिटीज़ ५२० करोड़ से ऊपर थी। पर उसके बाद उसकी मात्रा में कमी आई और १९५१-५२ में यह मात्रा ४८८·३६ करोड़ थी (रिज़र्व बैंक बुलेटिन, अप्रैल १९५२)। इसका अर्थ यह है कि रुपया सिक्यूरिटीज़ में युद्ध काल से भी अधिक युद्धोत्तर काल में वृद्धि हुई है।

विदेशी विनिमय का नियंत्रण—युद्ध काल में जो विदेशी विनिमय का नियंत्रण आरम्भ हुआ था वह आज तक भी जारी है। इसी प्रकार दूसरे प्रकार के नियंत्रण जैसे चीज़ों के आयात-निर्यात पर नियंत्रण और सोने-चांदी के क्रय-

निर्यात पर भी नियंत्रण क़ायम है। नियंत्रण सम्बन्धी नियमो में अवश्य समय समय पर परिवर्तन होता रहता है। १७ फरवरी १९५१ से पाकिस्तान भी विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के क्षेत्र में आ गया है क्योंकि भारत ने आखिरकार पाकिस्तान का अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं करने का निर्णय स्वीकार कर लिया।

स्टरलिंग पावने की समस्या—यह हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के समय भारत के पास स्टरलिंग पावना एक बड़ी मात्रा में जमा हो गया। यह स्टरलिंग पावना मुख्यतः रिजर्व बैंक के इश्यू डिपार्टमेंट और बैंकिंग डिपार्टमेंट में जमा हुआ। हलांकि यदि हम देश भर के समस्त स्टरलिंग पावने का विचार करने लगें तो हमें रिज़र्व बैंक के अतिरिक्त दूसरे बैंकों और अन्य व्यक्तियों या कंपनियों आदि जिनके पास भी स्टरलिंग हो उनका भी विचार करना चाहिए। पर हमारे पास रिजर्व बैंक के अलावा और किसके पास कितना स्टरलिंग है इसके आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं और इसलिए रिजर्व बैंक के पास जो स्टरलिंग जमा हुआ उसी पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना होग।

स्टरलिंग पावने में किस प्रकार वृद्धि हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अगस्त १९३९ में (अन्तिम शुक्रवार को) रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ५९·५० करोड़ और बैंकिंग विभाग में ३·८० करोड़ इस प्रकार कुल ६३·३० करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना रिजर्व बैंक के पास था। युद्ध के समय में वृद्धि होते होते १९४५-४६ में इश्यू विभाग में १०६१·२६ करोड़ और बैंकिंग विभाग में ४८८·२३ करोड़ रुपये का और इस प्रकार कुल १५४९·४९ करोड रुपये का स्टरलिंग पावना रिजर्व बैंक के पास जमा हो गया। १९४६-४७ में इसकी मात्रा बढ़कर १६६२·७१ करोड़ रुपये तक पहुंच गई। अप्रैल १९४६ में स्टरलिंग पावने की मात्रा सबसे अधिक थी। रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ११२४·०७ करोड़ और बैंकिंग विभाग में ६०७·१० करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना एकत्रित हो गया था। अर्थात् अप्रैल, १९४६ में कुल १७३१·१७ करोड़ रुपये का स्टरलिग पावना रिज़र्व बैंक के पास इकट्ठा हो गया था। इसके बाद स्टरलिंग पावने की मात्रा में कमी आना आरंभ हुआ। १९४७-४८ में इश्यू विभाग में तो स्टरलिंग पावने में वृद्धि हुई और ११३५·३२ करोड़ रुपये तक उसकी मात्रा पहुँच गई पर बैंकिंग विभाग में स्टरलिंग पावने की मात्रा घटकर ४०६·९५ करोड़ रह गई और फलस्वरूप कुल मात्रा १५४२·२७ करोड़ रुपये की ही रही। बैंकिंग विभाग में स्टरलिंग पावने की कमी १९४६-४७ में ही आरम्भ हो गई थी और वह सितम्बर १९४७ तक तो बराबर जारी रही, इस कमी का कारण यह था कि हमारे विदेशी व्यापार का सतुलन प्रतिकूल होने लग गया था। १९४८-४९ में स्टरलिंग पावने की मात्रा इश्यू विभाग में तो

कम होते होते ९०७·४७ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में ३०७·७८ करोड़ रुपये तक और इस प्रकार कुल १२१५·२५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। स्टरलिंग पावने में एकदम इतनी कमी आ जाने के मुख्य कारण तीन थे। सब से बड़ा कारण तो यह था कि विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच रिज़र्व बैंक के एसेट्स का जो बटवारा हुआ उसके कारण पाकिस्तान बैंक को १ जुलाई १९४८ को ३४·५२ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना दिया गया। इसके अलावा पाकि-स्तान को भारत के नोट लौटाने पर भी स्टरलिंग दिया गया। दूसरा कारण यह था कि भारत-इंगलैंड में भारत स्थित युद्ध सामग्री और पेन्शन संबंधी तावान किश्तों को चुकाने के बारे में जो आर्थिक समझौता हुआ था उसके कारण भी भारत को २८४·१६ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना इंगलैंड को देना पड़ा। स्टरलिंग पावने में कमी आने का तीसरा कारण आयात के अधिक होने का भी रहा। सन् १९४९-५० में स्टरलिंग पावने की मात्रा और भी कम हो गई—इश्यू विभाग में ६४७·०४ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में. १८०·९१ करोड़ रुपये के, इस प्रकार कुल ८२७·९५ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बैंक के पास रह गया। इस कमी का एक कारण तो यह था कि साल के प्रारम्भ में अत्यधिक आयात हुआ यद्यपि बाद में आयात नीति में कड़ाई आने से, निर्यात को बढ़ाने से और रुपये के अवमूल्यन से इनकी मात्रा में वृद्धि भी हुई। दूसरे, करेंसी की मात्रा में कमी आने का भी यह असर हुआ कि इश्यू विभाग में स्टरलिंग की मात्रा कम हुई यद्यपि बैंकिंग विभाग में बढ़ी। १९४९-५० का ठीक ठीक अन्दाज़ इस बात से लगाया जा सकता है कि २५ मार्च १९४९ को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ७४१·६२ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में २०२·५२ करोड़ रुपये और इस प्रकार कुल ९४४·१४ करोड़ का स्टरलिंग था। १७ जून १९९४ तक ये मात्रायें कम होकर इश्यू विभाग में ७१०·३४ करोड़ रुपये तक और बैंकिंग विभाग में १२७·९५ करोड़ रुपये तक यानी कुल ८३८·२९ करोड़ रुपये तक ही रह गई। अर्थात १९४९-५० के प्रथम तीन महीनों में १०५·८५ करोड़ की कुल कमी आगई। पर बाद में आयात को कम करने, निर्यात को बढ़ाने और रुपये के अवमूल्यन से स्थिति में सुधार आया और ३१ मार्च १९५० को रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ६५०·३४ करोड़ रुपये और बैंकिंग विभाग में २०८·४३ करोड़ रुपये, इस प्रकार कुल ८५८·७७ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बैंक के पास था। इसका अर्थ यह हुआ कि १७ जून १९४९ के बाद से ३१ मार्च १९५० तक के लगभग ९½ महीने में कुल २०½ करोड़ रुपये का स्टरलिंग पावना बढ़ा। यह, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, आयात की कमी, निर्यात की वृद्धि और रुपये के अवमूल्यन का असर था। दिसम्बर

१९५० के अन्त में स्टरलिंग पावना ८३४ करोड़ रुपये का था। इसके बाद स्टरलिंग पावने में वृद्धि होने लगी। ३१ मार्च, १९५१ को उनका मूल्य ८८४ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। पर बाद में कमी आई। स्टरलिंग पावने के सबसे ताज़ा आँकड़े इस प्रकार हैं कि १९५१-५२ में रिज़र्व बैंक के इश्यू विभाग में ६२५.२७ करोड़ रुपये की और बैंकिंग विभाग में १८७.१४ करोड़ रुपये की विदेशीप्रति भूतियां और रोकड़ मौजूद थी। इस प्रकार १९५१-५२ को कुल विदेशी प्रतिभूतियां मय रोकड़ के ८१२.४१ करोड़ रुपये की थीं जब कि ३१ मार्च, १९५० को कुल ८५८.७७ करोड़ का और दिसम्बर १९५० के अन्त में ८३४ करोड़ का स्टरलिंग पावना मौजूद था।

स्टरलिंग पावने में कब कितनी वृद्धि हुई और कितनी कमी हुई इसका विवरण ऊपर आ चुका है। इसके सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार भारत का इंगलैंड क़र्ज़दार हो गया और भारत और इंगलैंड के बीच की स्थिति सर्वथा बदल गई। पहले भारत से इंगलैंड को क़र्ज़ लेना था पर अब भारत को इंगलैंड से लेना हो गया। भारत की यह स्थिति देश की अत्यन्त ग़रीबी के होते हुए भी बनी। इसका सक्षेप में सार यह है कि भारत की ग़रीब जनता ने अपना पेट काटकर युद्ध के समय इतना खर्च बर्दाश्त किया।

जब युद्ध समाप्त हो गया तो यह सवाल उठा कि इंगलैंड से जो इतना स्टरलिंग लेना है यह शीघ्रातिशीघ्र वसूल हो। भारत का मत इस बारे में यह था कि देश की जनता ने कष्ट उठाकर इंगलैंड तथा दूसरे मित्र राष्ट्रों की मदद की और फलस्वरूप यह स्टरलिंग पावना जमा हुआ। अब इंगलैंड को देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक इस स्टरलिंग पावने का भारत को चुकारा करना चाहिये। इंगलैंड की स्थिति भी युद्ध के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत बिगड़ गई थी। वह ऐसा अनुभव करता था कि उसकी जैसी स्थिति है उसमें भारत का इतना क़र्ज़ चुकाना संभव नहीं है। जिस समय यह क़र्ज़ हुआ उस समय भारत में चीज़ों का मूल्य बहुत ऊँचा था और इस कारण क़र्ज की मात्रा बढ़ गई। इन बातों का विचार करके इंगलैंड कर्ज में कुछ कटौतरी चाहता था। इससे देश में एक बड़ा विरोध खड़ा हो गया। पर आख़िरकार कटौतरी का विचार समाप्त हो गया और भारत को क़र्ज चुकाने के बारे में दोनों देशों में बातचीत आरम्भ होगई।

उपरोक्त बातचीत के फलस्वरूप अगस्त १९४७ में ब्रिटेन और भारत में एक अन्तरिम समझौता हुआ। इस समझौते की अवधि ३१ दिसंबर १९४७ को

समाप्त होती थी और १५ जुलाई १९४७ से यह लागू किया गया था। इस समझौते के अनुसार रिजर्व बैंक ने बैंक ऑफ इङ्गलैंड में अकाउन्ट नं० १ और नं० २ इस प्रकार दो खाते खोले। १४ जुलाई १९४७ को रिजर्व बैंक के कुल स्टर्लिंग पावने की रकम ११६ करोड़ पौंड निश्चित की गई और यह नं० २ के अकाउन्ट में जमा की गई। इस ११६ करोड़ पौंड में से ६.५ करोड़ पौंड नं० १ में जमा किया गया। इस ६.५ करोड़ पौंड में ३.५ करोड़ पौंड तो चालू खर्च के लिये थे, ३ करोड़ पौंड बतौर चालू बैलेंस के थे। समझौते में यह मान लिया गया था कि अकाउन्ट नं० १ में जो स्टर्लिंग है वह चालू खर्च के लिये उपलब्ध रहेगा और सब विदेशी मुद्राओं में परिवर्तित हो सकेगा। समझौते होने की तारीख के बाद स्टर्लिंग की चालू आमद अकाउन्ट नं० १ में जमा रहेगी और नं० २ से जो रकम छुड़ाई जायेगी वह भी नं० १ के अकाउन्ट में जमा होगी। नंबर २ के अकाउन्ट का स्टर्लिंग चालू खर्च में नहीं आयेगा और समय समय पर होने वाले समझौतों के अनुसार ही नंबर २ से नंबर १ में स्टर्लिंग जमा होता रहेगा। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत के स्टर्लिंग पावना में होते हुए भी नंबर १ के अकाउन्ट की रकम का ख्याल रखते हुए यहाँ स्टर्लिंग के खर्चे पर उसी तरह से नियंत्रण करना पड़ा जैसे अन्य स्टर्लिंग देशों को करना पड़ता था।

जनवरी १९४८ में फिर ६ महीने के लिये समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार १.८ करोड़ पौंड की और रकम नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में ३० जून १९४८ तक के चालू खर्च के लिये जमा की गई। इस प्रकार नंबर १ के अकाउन्ट में कुल ८.३ करोड़ पौंड जमा हुये। पर इस बार स्टर्लिंग के दूसरी विदेशी मुद्राओं के परिवर्तन की मर्यादा एक करोड़ पौंड की निश्चित कर दी गई। पहले वाले समझौते में इस तरह की कोई मर्यादा नहीं थी। इसका अर्थ यह था कि १९४८ के पहले छः महीने में भारत को दुर्लभ मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से खरीद करने में या सामान्य व्यापार के निमित्त से जितनी दुर्लभ मुद्रा की आवश्यकता हो उससे अधिक से अधिक एक करोड़ पौंड की दुर्लभ मुद्रा और खर्च कर सकता था। दुर्लभ मुद्रा में बचत करने के हेतु से यह प्रतिबन्ध स्वीकार किया गया था।

भारत और इंग्लैंड के बीच में ९ जुलाई १९४८ को एक और समझौता हुआ। इसके अनुसार भारत-इंग्लैंड के समझौते की अवधि ३० जून १९५१ तक बढ़ा दी गई। छः छः महीने के लिये जो समझौते थे उनसे विदेशी व्यापार और विदेशी विनिमय संबंध में एक प्रकार की अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती थी। इस समझौते में तीन बातों का उल्लेख था—अविभाजित भारत ने अप्रैल १९४७

में ब्रिटेन से जो सामग्री और इन्स्टालेशन्स ले लिये थे उनका मूल्य तय किया गया, भारत के अंग्रेज कर्मचारियों को जो पेंशन चुकाना था उसका पूँजीकरण किया गया और स्टरलिंग पावने के चुकारे के बारे में निश्चय किया गया। हमारा यहाँ आखिरी बात से ही सम्बन्ध है। इस बारे में यह निश्चय हुआ कि जून, १९५१ तक समाप्त होने वाले तीन सालों में से आखिरी दो सालो में ८ करोड़ पौंड स्टरलिंग नंबर २ से नंबर १ खाते में और जमा किया जाय। पहले के ८·३ करोड़ पौंड में से केवल ३० लाख पौंड ही खर्च हुआ था। इसलिये इस नम्बर-१ के खाते में इस प्रकार कुल १६ करोड़ पौंड नंबर २ के खाते से आई हुई रकम में से इन तीन सालों में खर्च के लिये उपलब्ध किया गया। नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में रकम जमा होने के बारे में यह निश्चित किया गया कि ५०-५० लाख पौंड की किश्तों में रकम जमा हो और नंबर १ के अकाउन्ट में ७ करोड़ पौंड से कम रुपया कभी न रहे। समझौते के पहले वर्ष में १½ करोड़ पौंड दुर्लभ मुद्रा में बदलने का तय हुआ और दूसरे और तीसरे साल के लिये यह निर्णय बाद में करना निश्चय हुआ।

इस समझौते के बाद भारत में आयात बहुत हुआ और नंबर १ के अकाउन्ट मे से रकम खर्च हो गई। इस समस्या को हल करने के लिये जून-जुलाई १९४९ में भारत सरकार का प्रतिनिधि मडल इंगलैंड गया। वहाँ यह समझौता हुआ कि जून १९४९ में समाप्त होने वाले साल के लिये जहाँ पहले समझौते में कोई रकम नहीं रखी गई थी अब ८·१ करोड़ पौंड की रकम नंबर २ से नंबर १ के खाते में जमा की जावे। इसके अलावा ५ करोड़ पौंड तक मई १९४९ तक ओपन जनरल लाइसेंस के अन्तर्गत जो माल बाहर से मगाना तय हो गया था उसके चुकारे के लिये देना तय हुआ। इसके अलावा जून १९५० और १९५१ में समाप्त होने वाले वर्षों के लिये नंबर २ से नंबर १ के अकाउन्ट में ४ करोड़ की बजाय ५ करोड़ पौंड का रकम तय की गई। पिछले समझौते में यह मर्यादा भी तय कर दी गई थी कि भारत जुलाई १९४८ तक १½ करोड़ पौंड (६ करोड़ डालर) दुर्लभ मुद्राओं में बदल सकेगा। इस समझौते में यह निश्चय हो गया कि भारत पर इस प्रकार की कोई मर्यादा न लगाई जावे। दूसरे शब्दों में भारत फिर स्टरलिंग क्षेत्र का पूरा सदस्य हो गया। इसके एवज़ में कॉमनवेल्थ के दूसरे राष्ट्रों के साथ साथ भारत ने भी यह स्वीकार किया कि १९४८ में दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से जितना आयात उसने किया था उसका ¾ ही जुलाई १९४९ से जून १९५० तक वह आयात करेगा। जो आयात अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेकर किया जायगा वह इससे अलग होगा।

स्टरलिंग पावने के सम्बन्ध में भारत और इङ्गलैंड में अन्तिम समझौता दिसम्बर १९५० में हुआ। इस सम्बन्ध में फिर फ़रवरी १९५२ में भारत के वित्त मंत्री और ब्रिटिश चांसलर ऑव एक्सचेक्र में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ और उपरोक्त समझौते को पक्का किया गया। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित निश्चय किये गए :—

(१) नं० २ अकाउन्ट से नं० १ अकाउन्ट में तुरन्त ३१ करोड़ पौंड जमा किये जायें। ३० जून १९५१ को नं० २ खाते में ६४·३ करोड़ पौंड थे। यह रक़म भारत के मुद्रा कोष के रूप में रहेगी और विशेष परिस्थिति में यूनाइटेड किंगडम से पूर्व सलाह करने पर ही इसमें से रुपया उठाया जायगा।

(२) उपरोक्त ३१ करोड़ पौंड के अलावा आगामी छः वर्षों में (जुलाई १, १९५१ से जून ३०, १९५७) जिस समय में कि यह समझौता लागू होगा भारत नं० २ अकाउन्ट से प्रति वर्ष ३½ करोड़ पौंड से अधिक नहीं उठा सकेगा। नं० १ अकाउन्ट में ३४ करोड़ पौंड से नीचे रक़म नहीं गिरने दी जायेगी। और नं० २ अकाउन्ट से प्रतिवर्ष इस हिसाब से रक़म दी जावेगी कि उपरोक्त रक़म नं० १ अकाउन्ट में बनी रहे।

(३) यदि किसी साल उस साल की रक़म पूरी न उठाई जा सकेगी तो वह बाद के साल में उठाई जा सकेगी। अगर किसी वर्ष अतिरिक्त रक़म की आवश्यकता होगी तो आगामी वर्ष में उठाई जाने वाली रक़म ५ करोड़ रुपये तक हो सकेगी। पर इससे अधिक रक़म के लिये दोनों सरकारों में पूर्व सहमति आवश्यक होगी।

(४) जून १९५७ के अन्त में नं० २ के खाते में जो भी रक़म होगी वह नं० १ में जमा कर दी जायगी।

(५) अगस्त १९४७ के समझौते के अनुसार पूँजीगत लेन-देन सम्बन्धी हिसाब के खातिर जो रक़म नं० २ से नं० १ के खाते में जमा होने वाली है वह ऊपर जिस वार्षिक रक़म को नं० २ से नं० १ के खाते में जमा करने के लिये निश्चित किया गया है उससे अलग होगी।

(६) दुर्लभ मुद्रा के खर्च के बारे में प्रतिबंध लगाने के बारे में मौजूदा समझौता जारी रहेगा। यदि दोनों सरकारों की असली सहमति से कोई संशोधन करना होगा तो कर दिया जावेगा।

स्टरलिंग पावने के संबंध में भारत और ब्रिटेन के बीच में जो समझौते हुए हैं वे सारी परिस्थिति में ठीक माने जाने चाहिएँ। अब तक स्टरलिंग पावने का उपयोग देश की आर्थिक उन्नति के लिए नहीं हो सका, पर आगे इसका लाभ

रखा जाना चाहिए। स्टरलिंग पावने की मात्रा को बहुत बढ़ने देना भी उचित नहीं होगा। यह भी आशा की जानी चाहिये जून १९५७ तक भारत के पास उतना ही स्टरलिंग पावना बच रहेगा जितना मुद्रा कोष की दृष्टि से आवश्यक है।

रुपये का अवमूल्यन—युद्धोत्तर काल में सितम्बर १९४९ में इंगलैंड द्वारा स्टरलिंग का अवमूल्यन करने के कारण भारत ने अपने रुपये का जो अवमूल्यन किया वह भारतीय मुद्रा क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखना आवश्यक है।

अवमूल्यन का अर्थ यह है कि जिस मुद्रा का अवमूल्यन किया जाय उसकी विदेशी विनिमय में क़ीमत कम कर दी जाय। स्टरलिंग के अवमूल्यन का अर्थ यह था कि अवमूल्यन के पहले जहां १ पौंड स्टरलिंग के बदले में ४'०३ डालर मिलते थे अब अवमूल्यन के फ़लस्वरूप १ पौंड स्टरलिंग के बदले में २·८० डालर ही मिलने लगे। स्टरलिंग के साथ साथ दुनिया के कई देशों ने अवमूल्यन किया। भारत भी उनमें से एक था। इसलिए अवमूल्यन के पहले जहां १ रु० के बदले में ३२ सेंट आते थे अब अवमूल्यन हो जाने से २१ सेंट ही आने लगे। पौंड स्टरलिंग के मूल्य में अवमूल्यन से ३०'५% की कमी की गई थी। भारत ने भी इतनी ही कमी की। दूसरे देशों में कई ने ब्रिटेन के साथ अवमूल्यन किया तो सही पर कइयों की अवमूल्यन की मात्रा अलग अलग थी—जैसे कनाडा ने ९'१% बेलजियम ने १२'३% इटली ने ९'४% अवमूल्यन किया था। अधिकतर अवमूल्यन की दर वही थी जो इंगलैंड की थी। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया।

अवमूल्यन का मूलभूत कारण यह था कि दुनिया के मुद्रा बाज़ार में डालर की कमी आती जा रही थी। इसी कारण डालर एक दुर्लभ मुद्रा बन गया था। डालर की इस बढ़ती हुई कमी के कारण कई थे, जैसे :—

(१) अमेरिका के माल की बढ़ती हुई मांग। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये और युद्धकालीन दबी हुई चीज़ों की मांग को पूरा करने के लिये अमेरिकन माल की यह मांग बढ़ती जा रही थी।

(२) अमेरिका अपने कच्चे माल की आवश्यकता बहुत कुछ स्वयं पूरी करने लगा था। नतीजा यह हुआ कि दूसरे कच्चे माल पैदा करने वाले देशों के लिये अब अमेरिका में अपना कच्चा माल बेचकर डालर कमाना संभव नहीं रहा।

(३) दुनिया के दूसरे देशों में युद्ध के कारण जो विनाश हुआ उससे उत्पादन में बहुत कमी हुई।

(४) इसी तरह से विदेशी विनियोग और इन्शोरेंस तथा जहाज़रानी की सेवाओं से होने वाली आय भी युद्ध के समय से कम हो गई थी।

अमेरिका के साथ शेष दुनिया का घाटा कितना बढ़ गया था इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि युद्धोत्तर काल का सबसे अधिक घाटा १९४७ में ११'२ बिलियन डालर (१ बिलियन = १ अरब) तक पहुँच गया था। इस स्थिति में उतार-चढ़ाव आता रहा। शेष दुनिया के डालर और सोने के रक्षित कोष की मात्रा में भी इसी तरह उतार-चढ़ाव आता रहा। पर १९४९ के दूसरे त्रिमास में शेष दुनिया के डालर और सोने के कोष में ३३० मिलियन डालर की कमी आगई। पर डालर की कमी सम्बन्धी सब देशों की स्थिति समान नहीं थीं। डालर के रक्षित कोष में १९४९ के तीसरे त्रिमास (जुलाई-सितम्बर) में भी कमी आई। इस कमी को ठीक करने के प्रयत्न तो जारी थे, जैसे अमेरिका से निर्यात की मात्रा बढ़ाने और आयात की मात्रा कम करने की कोशिश की जा रही थी, पर इन प्रयत्नों के बावजूद भी स्थिति बिगड़ती जा रही थी। इस समय अमेरिका में जो व्यापारिक और व्यवसायिक गति शिथिलता (रिसेशन) आरही थी उसका असर भी स्थिति को बिगाड़ने का हो रहा था क्योंकि अमेरिका ऐसी स्थिति में अपने आयात में कमी करने के प्रयत्न में था।

उपरोक्त स्थिति का असर स्टरलिंग क्षेत्र पर तो बहुत ही घातक हो रहा था। स्टरलिंग क्षेत्र के देशों के लिए अमेरिकन माल का महत्त्व भी विशेष था। १९४९ के दूसरे त्रिमास की अपेक्षा अमेरिका को जाने वाले माल से ९३ मिलियन डालर की आमदनी कम हुई और अमेरिका से आने वाले माल पर ८५ मिलियन डालर का खर्च कम हुआ। १९४९ के दूसरे त्रिमास में स्टरलिंग क्षेत्र के डालर और सोने के रक्षित कोष में २६१ मिलियन डालर की कमी आ गई और उसकी मात्रा १६५१ मिलियन डालर तक पहुँच गई। १९४५ के बाद यह सबसे कम मात्रा थी। सोने और डालर के रक्षित कोष में जिस दर से कमी आ रही थी अगर वही गति चलती रहती तो वर्ष भर के अन्दर-अन्दर सारा रक्षित कोष समाप्त हो जाने का भय था। इस स्थिति का सामना करने के लिये १२ जुलाई, १९४९ को कॉमनवेल्थ के राष्ट्रों के वित्त मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इसी में यह निश्चय किया गया था कि १९४८ की अपेक्षा १९४९ जुलाई से १९५० जून तक ७५% डालर व्यय में कटौतरी की जाये। १९४९ के तीसरे त्रिमास में स्टरलिंग क्षेत्र की स्थिति तो और भी बिगड़ी यद्यपि सारी दुनिया की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ था। इस तीसरे त्रिमास में इंगलैंड के डालर और सोना रक्षित कोष में २२९ मिलियन डालर की कमी आगई थी।

सितम्बर के दूसरे सप्ताह में अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन की सरकारों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें इस स्थिति का सामना करने के लिए

उपाय सोचे गये, पर स्टरलिंग का अवमूल्यन करने का कोई संकेत नहीं था। पर १८ सितम्बर को यकायक इंगलैंड ने अवमूल्यन की घोषणा करदी।

ब्रिटेन ने अवमूल्यन की घोषणा करने से पहले भारत सरकार से कोई विचार विनिमय नहीं किया था और न इस निर्णय की भारत को कोई पूर्व सूचना दी थी। ऐसा करना ब्रिटेन का नैतिक कर्तव्य था। कॉमनवेल्थ के राष्ट्रों के प्रति उसकी सचाई और वफ़ादारी की यह मांग थी। ब्रिटेन के इस एकांगी निर्णय का भारत में बहुत विरोध हुआ। जहाँ तक भारत के स्वयं के निर्णय का सवाल था भारत के सामने तीन विकल्प थे—(१) अवमूल्यन नहीं करना, जिसका परिणाम रुपया स्टरलिंग दर में वृद्धि होने का आता; (२) अवमूल्यन करना पर ब्रिटेन से कम मात्रा में और (३) ब्रिटेन के बराबर ही अवमूल्य करना। देश में इस प्रश्न पर वाद-विवाद भी चला पर अन्ततोगत्वा भारत ने निर्णय यही किया कि इंगलैंड के बराबर रुपये का भी अवमूल्यन किया जाये। भारतीय रुपया ३०·२२५ सेन्ट से घट कर २१ सेन्ट के बराबर रह गया और सोने में भी रुपये का मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम से गिरकर ०·१८६६२१ ग्राम शुद्ध सोना हो गया। इस नये विनिमय दर का निर्णय तो २० सिम्बर १९४९ को ही घोषित हो गया था पर वह लागू २२ सितम्बर से हुआ क्योंकि बैंक आदि की १९ से २१ सितम्बर तक की छुट्टी थी।

भारत ने अवमूल्यन का निर्णय इसलिये किया कि अन्यथा दूसरे स्टरलिंग देशों की मुद्रा के मुकाबले में रुपये का मूल्य बढ़ जाता। भारत का उन देशों के साथ निर्यात्, जो कि देश के कुल निर्यात् का एक बहुत बड़ा भाग है, कम हो जाता, और भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति पर भी बुरा असर पड़ता। पर भारत के अवमूल्यन से दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र और प्रधानत: अमेरिका से जो माल हमें मँगाना पड़ता है जैसे खाद्यान्न, मशीनरी आदि वह मँहगा हो गया। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया इसका भी असर बुरा पड़ा। कपास और पटसन जैसे कच्चे माल का मूल्य बढ़ गया। अवमूल्यन से देश में मूल्य बढ़ने की और कुछ चीजों का निर्यात मूल्य बढ़ने की आशंका थी। इस स्थिति का सामना करने के लिये भारत सरकार ने कई चीज़ों पर निर्यात-कर लगाया जैसे लोहा और इस्पात तथा वेजीटेबिल तेल पर और जूट और जूट के माल पर निर्यात-कर बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त इसी उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा एक कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें नीचे लिखी आठ बातें शामिल थीं :—

(१) विदेशी व्यापार का इस प्रकार संचालन किया जाय कि विदेशी विनिमय का व्यय कम से कम हो।

(२) जिन देशों की मुद्राओं का रुपये की अपेक्षा मूल्य बढ़ गया है उनसे जो औद्योगिक कच्चा माल खरीदना पड़े उसकी कीमत कम करने का हर तरह से प्रयत्न हो।

(३) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र को निर्यात होने वाली चीजों पर निर्यात-कर लगे ताकि देश को अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त हो और अवमूल्यन से होने वाले लाभ में विदेशी खरीदार और भारतीय बेचने वाले के साथ साथ भारत सरकार का भी हिस्सा हो।

(४) कानूनी और शासन सम्बन्धी उपायों और साख व्यवस्था के नियंत्रण से मूल्य वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया जाये।

(५) विनियोग को प्रोत्साहन दिया जाये और बचत करने के पक्ष में प्रचार किया जाये और गाँवों में बैंकिंग सुविधा की व्यवस्था की जाये।

(६) आय-कर के बकाया को मिलजुल कर तय किया जाये।

(७) सरकारी खर्च में १९४९-५० में ४० करोड़ की और १९५०-५१ में १९४९ ५० के बजट के अनुमान की अपेक्षा कमसे कम ८० करोड़ रुपये की बचत की जाये।

(८) आवश्यक जीवन पदार्थों, निर्मित पदार्थों, अन्न की रिटेल क़ीमतों में १०% कमी की जावे।

उपरोक्त कार्यक्रम के अनुसार भारत सरकार ने कई व्यावहारिक क़दम भी उठाये। आयात नीति में कड़ाई लाई गई। जूट के निर्यात मूल्य तय किये गये, कई चीज़ों का निर्यात-कर बढ़ाया गया और कई पर लगाया गया। जैसे कच्चे कनात पर ४० रु० से १०० रु० निर्यात-कर कर दिया गया और काली मिर्च पर २०% निर्यात-कर लगा दिया गया। कपास के बीज में 'फारवर्ड ट्रेडिंग' बन्द कर दिया गया और गुड़, गुड़ शक्कर और रात में भी सट्टा बन्द कर दिया गया। अनिवार्य बचत की योजना राज-कर्मचारियों पर लागू की गई और १९५०-५१ के बजट में उद्योग धंधों के साथ कई रिआयतें की गईं। ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी भी नियुक्त की गई जिसकी रिपोर्ट भी पेश हो चुकी है। भारत सरकार के खर्चों में कमी करने के प्रयत्न भी जारी हुए यद्यपि उनमें नाम मात्र को कुछ हुआ। अनाज के मूल्य की कमी करने के लिये लेवी वसूली की कीमतें कम की गईं और अनाज के मूल्य भी कम किये गये। कपड़े की क़ीमतों में भी कमी की गई।

अब विचारने का प्रश्न यह है कि अवमूल्यन के बाद हमारे विदेशी व्यापार, विदेशी विनिमय और मूल्यों का हाल क्या रहा।

अवमूल्यन के परिणाम का उल्लेख करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने

अपनी ३० अप्रैल १९५० को समाप्त होने वाली वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है कि १९४८ के अन्तिम त्रिमास और १९४९ के प्रथम त्रिमास में अमेरिका से प्राप्त होने वाले माल और सेवाओं के कारण ६.८ बिलियन डालर प्रति वर्ष के हिसाब से अमेरिका के पक्ष में संतुलन रहता था वह १९४९ के अन्तिम त्रिमास में ४.४ बिलियन डालर प्रतिवर्ष के हिसाब से ही रहा। स्टरलिंग क्षेत्र के विषय में रिपोर्ट में लिखा है कि इङ्गलैंड के सोना और डालर के रक्षित कोष में भी १९४९ के अन्त में १६८८ मिलियन डालर से जून १९५० के अन्त में २४२२ मिलियन डालर तक की वृद्धि हो गई। संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय कोष का यह कहना था कि अवमूल्यन का जो तत्काल का उद्देश्य था वह पूरा हो गया। अवमूल्यन करने वाले देशों की डालर सम्बंधी स्थिति में सुधार होने का प्रधान कारण आयात के कम से कम होने का था और निर्यात बढ़ने का अपेक्षाकृत कम असर था।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है अवमूल्यन का हमारे विदेशी व्यापार पर अनुकूल असर पड़ा। अवमूल्यन के बाद के साल भर के हमारे विदेशी व्यापार के आंकड़ों के अनुसार अगस्त १९५० में समाप्त होने वाले ११ महीनों में हमारा कुल निर्यात ४५८ करोड़ रुपये का हुआ जबकि १९४८-४९ के समान समय में वह ३६० करोड़ रुपये का ही हुआ था। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों को १२७ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ जब कि १९४८-४९ में वह ८९ करोड़ का था। सुलभ मुद्रा क्षेत्र को होने वाले निर्यात का मूल्य ३३१ करोड़ था जबकि १९४८-४६ में उसका मूल्य २७१ करोड़ रुपया ही था। इस बढ़े हुए निर्यात का कारण कुछ चीजों की मात्रा बढ़ना और कुछ का मूल्य बढ़ना दोनों ही था। सूती वस्त्र के निर्यात में बहुत वृद्धि हुई। तम्बाकू, मसाला, अबरक, चमड़ा आदि का निर्यात भी बढ़ा। हाल में रिज़र्व बैंक की करेंसी और फ़ाइनेंस सम्बन्धी १९५०-५१ की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें भी १९५० के विदेशी व्यापार के सतुलन के जो आंकड़े दिये गये हैं उनसे यह प्रगट होता है कि चालू हिसाब में जहाँ १९४९ मे कुल चुकारे का संतुलन १६९.३ करोड़ रुपये से भारत के प्रतिकूल था वह १९५० में ६१.५ करोड़ रुपये से भारत के अनुकूल होगया। यदि हम करेंसी की दृष्टि से विचार करें तो मालूम होता है कि स्टरलिंग क्षेत्र के देशों के सम्बन्ध में जहाँ १९४९ में भारत को ४६ करोड़ रुपये का घाटा था वहाँ १९५० में ५९.७ करोड़ रुपये की बचत हुई। इसी प्रकार दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र के देशों के बारे में भी जहाँ १९४९ में ५३ करोड़ रुपये का घाटा था वहाँ १९५० में २९ करोड़ रुपये की बचत हो गई। दूसरे क्षेत्रों के बारे में स्थिति यह थी कि १९४९ में ७०.२ करोड़ रुपये का घाटा था वह १९५० में कम होकर २७.१ करोड़ रुपये का ही रह गया।

उपरोक्त स्थिति के बारे में हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसके लिये अवमूल्यन के अलावा कोरिया युद्ध से उत्पन्न वह परिस्थिति भी कारण है जिसने युद्ध की आशंका से युद्ध की दृष्टि से आवश्यक चीजों की अन्तर्राष्ट्रीय माँग में वृद्धि करदी है।

अवमूल्यन के बाद मूल्यों पर क्या असर हुआ यह भी जानने का विषय है। यह तो ठीक है कि अवमूल्यन के तुरन्त बाद ही मूल्यों में वृद्धि रोकने में सरकार किसी हद तक सफल हो सकी। अक्टूबर १९४९ में जनरल इन्डेक्स बढ़कर ३९३·३ तक पहुँच गया था पर कहना कठिन है कि यह वृद्धि किस हद तक तो अप्रैल १९४९ में जो मूल्य वृद्धि आरम्भ हुई थी उसका परिणाम थी और किस हद तक अवमूल्यन का। पर उसके बाद जनरल इन्डेक्स में कमी आई और दिसम्बर १९४९ में कम होते-होते वह ३८१·३ पोइंट तक पहुँच गया। पर बाद में वह वापस ऊपर की ओर जाने लगा और मार्च १९५० में ३९२·४ तक पहुँच गया था। इसी समय कोरिया युद्ध के आरम्भ होने से मूल्यों की वृद्धि न केवल भारत में बल्कि संसार के दूसरे देशों में भी अधिक तेज़ी से होने लगी। उदाहरण के लिये अमेरिका में १९५० के पूर्वार्द्ध में जहाँ थोक मूल्यों में ४ प्रतिशत वृद्धि हुई थी वहाँ मार्च १९५१ तक १७ प्रतिशत वृद्धि होगई। इसी प्रकार ब्रिटेन में १९५० के पूर्वार्द्ध में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी पर उसके बाद के ११ महीनों में २५ प्रतिशत तक वृद्धि हो गई। कनाडा में अप्रैल १९५१ तक जून १९५० से १६ प्रतिशत मूल्यों में वृद्धि हुई। भारत में, १९५० के पूर्वार्द्ध में ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई और जून १९५० से अप्रैल १९५१ तक १६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत में जनरल इन्डेक्स जहाँ जून १९५० से ३९५·६ तक पहुँच गया था वह १६ जून १९५१ को ४५८·२ तक पहुँच गया। यह ठीक है कि इसके बाद मूल्यों में कुछ कमी आई है पर अब भी जून १९५० से वह कहीं अधिक हैं। अगस्त १९५१ में भारत में जनरल इन्डेक्स ४३७·६ था।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अवमूल्यन के बाद मूल्यों में वृद्धि आई है। पर इस वृद्धि का एक बड़ा कारण कोरिया युद्ध रहा। १९५१ के मध्य से मूल्यों में जो कमी आई है उसके सम्बन्ध में परिच्छेद १४ में विचार किया गया है।

क्या रुपये का पुनः मूल्यन किया जाय—स्टरलिंग पौंड के अवमूल्यन के साल भर बाद ही ब्रिटेन में यह चर्चा चल पड़ी कि पौण्ड का फिर से मूल्यन (रिवेल्यूशन) किया जाय। भारत में भी पुनः मूल्यन के बारे में चर्चा चली जब भारत ने पाकिस्तान द्वारा उसके रुपये का अवमूल्यन नहीं करने का फैसला कर लिया तो भारत में रुपये के पुनः मूल्यन की चर्चा ने विशेष जोर पकड़ा। अब हम इस सम्बन्ध

में थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

पुनः मूल्यन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते थे :—

(१) पुनः मूल्यन से हमारे देश में मूल्यों में कमी आ सकेगी। कोरिया युद्ध के कारण जो मूल्य वृद्धि दुनिया में हो रही है उसका असर भारत पर भी पड़ा है और पुनः मूल्यन से इस मूल्य वृद्धि को रोका जा सकेगा। यह मूल्य वृद्धि इस तरह से रुक सकेगी कि जब रुपये को विदेशी विनिमय बढ़ जायगा तो बाहर से आने वाले सामान का भारत में रुपयों में बढ़ा हुआ मूल्य नहीं होगा और इस प्रकार भारत में उनका मूल्य वृद्धि करने का असर नहीं होगा। पर यह आशा दुराशा मात्र साबित होगी। इसका एक कारण तो यह है कि रुपये का पुनः मूल्यन अगर कर दिया गया तो जो देश भारत को माल भेजते हैं वे अपने माल का मूल्य बढ़ा सकते हैं—जैसे देश में बाहर से आने वाले खाद्यान्न में ४०-५० प्रतिशत हिस्सा चावल का है जो हमें बर्मा, थाईलैंड, हिन्द-चीन और मिस्र से सरकारों के मारफ़त मिलता है। ये देश अपने चावल की क़ीमत बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार गेहूँ के बारे में भी यह संभव है कि अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ समझौते में जो गुंजाइश छोड़ी गई है उसका लाभ उठा कर गेहूँ की क़ीमत में भी वृद्धि करली जाय। जहाँ तक कि पूँजी पदार्थों का संबंध है उनके बेचने वाले कम हैं और खरीदने वाले अधिक हैं और इसलिए उनकी क़ीमत में भी बेचने वालों द्वारा वृद्धि करना संभव है। जहाँ तक दूसरी आयात की चीजों का संबंध है अगर आयात के व्यापारियों को वे सस्ती मिल भी गईं तो यह आवश्यक नहीं है कि उन सस्ते मूल्यों का लाभ आयात व्यापारी अपने तक ही न रखकर उपभोक्ताओं तक पहुँचने दें। सारांश यह है कि रुपये के पुनः मूल्यन से मूल्य वृद्धि को रोकना संभव नहीं होगा। यह भी स्पष्ट तौर पर समझ लेना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं है कि विदेशी विक्रेता अपने माल की कीमत केवल भारत के लिये न बढ़ा सकें। ऐसा करना सम्भव है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में लगभग १९५१ के मध्य से कुछ गिरावट आई है और मूल्य नियन्त्रण के लिये प्रयत्न भी किया जा रहा है।

(२) पुनः मूल्यन के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में व्यापार का आधार हमारे पक्ष में हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि आज की अपेक्षा समान निर्यात के बदले में हम अधिक मात्रा में आयात कर सकेंगे या कम मात्रा में निर्यात करके समान मात्रा में आयात कर सकेंगे। पर यदि दूसरे देश भी अपनी मुद्राओं का पुनः मूल्यन करें, और ऐसा मानने का कोई कारण नहीं कि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो हमें यह लाभ नहीं मिल सकेगा।

(३) पुनः मूल्यन के समर्थकों की एक दलील यह रही है कि कोरिया युद्ध

के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की वृद्धि हुई है, पर भारत की निर्यात वस्तुओं का डालर की कीमतों की अपेक्षा कम मूल्य है। इसलिये पुनः मूल्यन आवश्यक है ताकि डालर और रुपये में मूल्यों की असमानता जाती रहे। इस बारे में एक बात तो ध्यान देने की यह है कि उन्हीं चीज़ों का मूल्य खास तौर से बढ़ा है जो युद्ध की दृष्टि से आवश्यक है। पुनः मूल्यन का असर इन्हीं चीज़ों तक सीमित न रह कर आम तौर पर पड़ेगा। इसलिए सही यह है कि जहाँ आवश्यक हो निर्यात-कर लगा कर भारत से निर्यात की चीज़ों की मूल्य वृद्धि कर दी जावे।

(४) पुनः मूल्यन के समर्थकों का यह भी कहना था कि रुपये की विनिमय दर अधिक हो जाने से हमारा निर्यात कम नहीं होगा क्योंकि हमारे निर्यात की वस्तुओं की माँग ऐसी अनिवार्य माँग है जिसे पूरा करना ही होगा। पर हमारा सबसे ताज़ा अनुभव इस विषय में ऐसा नहीं है। यदि हम अवमूल्यन नहीं करते और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न नहीं किया जाता तो हमारे निर्यात में अवमूल्यन के बाद जो वृद्धि हुई थी वह न होती। जूट के निर्यात में युरूपीय देशों से प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही है। सूती कपड़े में भी हमारी स्थिति गिरी है और जापान और लंकाशायर की प्रतिस्पर्द्धा से हमारी स्थिति और कठिन होगी। चाय के निर्यात के बारे में भी हम सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व एशिया में अच्छा उत्पादन होने पर काली मिर्च की पूर्ति की स्थिति में सुधार आना आवश्यक है। दूसरी निर्यात की वस्तुओं के बारे में भी हमने विदेशों से जो व्यापारिक समझौते किये हैं उनमें कुछ बन्धन अपने पर लागू रखे हैं। सारांश यह है कि पुनः मूल्यन का हमारे निर्यात पर प्रतिकूल असर पड़ना अनिवार्य होगा।

ऊपर हमने यह लिखा है कि पुनः मूल्यन के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये गये थे वे ठोस आधार पर आधारित नहीं हैं। अब हम उन बातों पर विचार करेंगे जो पुनः मूल्यन के विपक्ष में कही जाती थीं।

(१) पुनः मूल्यन के खिलाफ़ सब से बड़ी दलील यह थी कि इसका असर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और चुकारे की स्थिति पर बुरा पड़ेगा। उसी समय १९५१ में अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में १९५० की अपेक्षा कम बचत की संभावना लग रही थी। १९५१ के प्रथम त्रिमास में १४ करोड़ रुपये की बचत का अनुमान था जब कि १९५० के अन्तिम त्रिमास में ४६ करोड़ की बचत थी। जैसा कि बाद की स्थिति से साफ़ है यह संभावना सही साबित हुई। पिछले महीनों में हमारे आयात में वृद्धि हुई है और निर्यात के मूल्यों में कमी आई है। पुनः मूल्यन का असर आयात को बढ़ाने और निर्यात को कम करने का होगा। रिज़र्व बैंक के रिज़र्व

विभाग ने भी अप्रैल १६५१ में इस बात की पुष्टि की थी। उसका यह मत था कि १५% पुनः मूल्यन से ५० करोड़ के लगभग और ३०% से १३५ करोड़ के लगभग अन्तर्राष्ट्रीय चुकारे की दृष्टि से हमें घाटा होगा।

(२) इससे मिलाजुला प्रश्न विदेशी विनिमय का था। पुनः मूल्यन के कारण हमारा आयात बढ़ेगा पर उसका चुकारा करने के लिये आवश्यक विदेशी विनिमय की पूर्ति होनी चाहिये। पर पुनः मूल्यन से इसमें सहायता नहीं मिलेगी। इसके अलावा विदेशी विनिमय का प्रश्न निर्यात की स्थिति से तय होना चाहिए न कि आयात की स्थिति से।

(३) रुपये के पुनः मूल्यन का असर हमारे स्टरलिंग पावने का रुपयों में मूल्य कम कर देने का होगा।

(४) पुनः मूल्यन का असर सरकार के बजट की स्थिति पर भी बुरा पड़ेगा क्योंकि निर्यात-कर से जो सरकार को आय होती है वह कम हो जायगी और वह लाभ व्यक्तिगत व्यवसायियों को होने लगेगा। इस समय भारत सरकार इस स्थिति में नहीं है कि वह आय के इस साधन का परित्याग कर दे। आयात-कर से भी आय कम होगी क्योंकि बाहर से आने वाले माल की रुपये में पुनः मूल्यन से क़ीमत कम हो जायगी।

(५) पुनः मूल्यन के विपक्ष में एक दलील यह भी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति आज बहुत अनिश्चित अवस्था में है। एक समय हमें पुनः मूल्यन के पक्ष मे स्थिति मालूम हो सकती है और तुरन्त ही वह स्थिति बदल सकती है। ऐसी हालत में बार बार रुपये के विदेशी विनिमय को बदला नहीं जा सकता। ऐसा करना देश के हित में नहीं हो सकता। फिर इस सम्बन्ध में भारत को ही सबसे आगे होकर क़दम उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है, खास तौर से जबकि मूल्यों में व रहन सहन के खर्च में भारत की अपेक्षा दूसरे देशों में अवमूल्यन के बाद स्थिति अधिक बिगड़ी है। उदाहरण के लिये सितम्बर १६४६ से मार्च १६५१ तक जहाँ भारत में मूल्य में १३% और रहन सहन के व्यय में ६% वृद्धि हुई वहां अमेरिका में २०% और ६%, ब्रिटेन में ३६% और ७%, कनाडा में २२% और ११% तथा आस्ट्रेलिया में ४३% और २०% वृद्धि हुई।

उपरोक्त विवेचन का सार यही है कि रुपये के पुनः मूल्यन के पक्ष मे जो तर्क दिये जारहे थे वे ठोस नहीं थे। भारत सरकार भी यह समझती थी जिसकी स्पष्ट घोषणा १६५१-५२ के बजट पर होने वाली बहस के सिलसिले में वित्त मंत्री ने करदी थी। पिछले महीनों मे हमारे विदेशी व्यापार की जो स्थिति सामने आई उस से यह स्पष्ट है कि रुपये के पुनः मूल्यन का निर्णय ग़लत साबित होता।

अवमूल्यन नहीं करने का पाकिस्तान का निर्णय—यह हम लिख चुके हैं कि पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पाकिस्तान के इस निश्चय को स्वीकार कर लिया। भारत-पाकिस्तान का विनिमय दर १०० पाकिस्तान के रुपये = १४४ भारतीय रुपये के आधार पर तय हो गया। प्रश्न यह है कि क्या पाकिस्तान के इस निर्णय का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसे इस बात का भरोसा है कि भारत को उसका कच्चा कपास और जूट हर हालत में खरीदना पड़ेगा और इससे उसे बड़ा लाभ होगा? पर भारत की यह विवशता जल्दी कपास और जूट के उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर समाप्त करदी जायगी। इसके विपरीत पाकिस्तान को लोहे व कोयले जैसी चीज़ों की भारत से मँगाने की ज़रूरत बनी रहेगी और इसलिये अवमूल्यन नहीं करने का निश्चय अन्ततोगत्वा पाकिस्तान के हित में साबित नहीं होगा। पाकिस्तान के सामने एक कारण यह भी था कि पूँजी पदार्थों के आयात में उसे लाभ होगा पर कुल मिलाकर न तो पूँजी पदार्थों का बहुत आयात हो सकेगा और न उनसे होने वाले लाभ के बारे में बहुत निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पाकिस्तान ने यह लाभ भी देखा कि भारत को जो ऋण चुकाना है उसकी मात्रा पाकिस्तान के रुपये में कम हो जायगी। पाकिस्तान का यह भी कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन (दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र में) उसके पक्ष में है और इसलिये उसे अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं थी। पर यह स्थिति अनिश्चित और अस्थिर है। युद्ध की संभावना से जो अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में मूल्य वृद्धि हुई उससे पाकिस्तान के लिये अपने रुपये की इतनी ऊँची विनिमय दर रखना सम्भव हो सका है। इस स्थिति का अन्त होते ही पाकिस्तान के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वर्तमान विदेशी विनिमय की दर को कैसे कायम रखा जाये। जब पाकिस्तान अपने औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक चीज़ों का आयात करेगा, भारत कपास और जूट में स्वावलम्बी हो जायगा, अवमूल्यन नहीं करने का जब आयात को बढ़ाने और निर्यात को कम करने का असर होने लगेगा तो आज जो पाकिस्तान के अनुकूल विदेशी व्यापार का संतुलन है कल वह उसके प्रतिकूल चला जायगा और वर्तमान विनिमय दर से होने वाली कठिनाई सामने आ जायगी।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि आज की स्थिति में चाहे पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने से उसे लाभ हो पर यह स्थिति बहुत समय तक चलना शायद संभव नहीं होगा। पाकिस्तान में इस समय कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत गिर रहे हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि अवमूल्यन नहीं करने के बावजूद भी पाकिस्तान की आन्तरिक आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

विदेशी विनिमय संबंधी नीति क्या हो—अवमूल्यन और पुनः मूल्यन के संबंध में हमने अपने विचार प्रकट किये हैं। पर यहाँ एक आधारभूत प्रश्न यह उठता है कि वास्तव में विदेशी विनिमय संबंधी सही नीति क्या होनी चाहिये। १६३१ के पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के जमाने में विभिन्न देशों के विनिमय दर में सोने के आधार पर सम्बन्ध निश्चित होता था। अगर किसी देश में आयात निर्यात से अधिक हो जाता था तो विदेशी विनिमय उस देश के प्रतिकूल हो जाता था और उसे ठीक करने का उपाय यह होता था कि साख और कारोबार में कमी की जाती थी, इससे आय गिरती थी और चीज़ों का मूल्य गिरता था, आयात कम होता था, निर्यात बढ़ता था और परिणाम स्वरूप सारा सनुलन ठीक हो जाता था।

इस व्यवस्था का यह दोष देखा गया, खास तौर से बीसवीं शताब्दी के तीसों की मन्दी में, कि विदेशी विनिमय की स्थिरता के लिये देश की आन्तरिक स्थिरता का परित्याग करना पड़ता था और देश में बेकारी और मन्दी का सामना करना पड़ता था। नतीजा यह हुआ कि उक्त पद्धति का दुनिया ने परित्याग कर दिया। इसके सर्वथा विपरीत यह नीति हो सकती है कि विदेशी विनिमय का किसी के साथ भी सम्बन्ध स्थिर न किया जाय। विदेशी विनिमय की दर को सर्वथा स्वतंत्र छोड़ दिया जाये और बाज़ार के मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर समय समय पर वह निश्चित होती रहे। सितंबर १६५० के अन्त में कनाडा ने और उससे पहले फ्रान्स और इटली ने इसी नीति को अपनाया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने उक्त दोनों नीतियों के बीच का रास्ता अपनाया है। इस बीच के रास्ते के अनुसार विदेशी विनिमय की स्थिरता के पुराने सिद्धान्त और आन्तरिक स्थिरता के नये सिद्धान्त में मेल बिठाने का प्रयत्न किया गया है। यदि किसी देश को विदेशी विनिमय की अमुक दर को कायम रखने के लिये आन्तरिक अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन करना उचित नहीं मालूम पड़े तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों को विनिमय दर बदलने की इजाजत देता है। यह अवश्य है कि इस प्रकार होने वाले परिवर्तनों के अन्तर काल में विनिमय दर स्थिर रहता है। इस स्थिर दर में १ प्रतिशत तक कम और ज्यादा दोनों दिशाओं में परिवर्तन हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पद्धति में परिवर्तन के लिये गुंजाइश होते हुए भी एक प्रकार की मर्यादा और स्थिरता है।

हमारे सामने सोचने का प्रश्न यह है कि हम स्वतंत्र और स्थायी विनिमय दर पद्धति में से किसके पक्ष में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत पद्धति में जल्दी जल्दी विनिमय दर में परिवर्तन करना संभव नहीं, उसका वस्तुतः आधार

डालर है जिसका भविष्य अनिश्चित मालूम पड़ता है, और अस्थायी तौर पर संभावित विनिमय दर के परिवर्तन से लाभ उठाने के लिये पूँजी के आने-जाने की इसमें गुंजाइश है। पर स्थायी विनिमय दर नीति की इन कमियों के बावजूद स्वतंत्र विनिमय दर पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि अगर दुनियाँ के अधिकांश देश इस पद्धति को अपनालें तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी अनिश्चितता और अस्त-व्यस्तता फैल जाये। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने नियमों में कुछ ऐसे परिवर्तन करे कि जिससे आवश्यकता होने पर विनिमय दर में अपेक्षाकृत कम कठिनाई से परिवर्तन हो सके। होना यह चाहिये कि विनिमय दर में रोज़ बरोज़ परिवर्तन भी न हो, उसमें स्थायित्व भी रहे, और फिर भी वह स्थायित्व अति की सीमा तक पहुँचा हुआ न हो। इसलिये हम इस पक्ष में भी नहीं हैं कि रुपये को सर्वथा स्वतन्त्र कर दिया जाये।

विनिमय दर में कब परिवर्तन करना चाहिये—विनिमय दर में कभी-कभी परिवर्तन करना आवश्यक हो सकता है यह हम ऊपर लिख चुके हैं। प्रश्न यह है कि इस स्थिति की पहचान क्या कि अमुक समय परिवर्तन करना आवश्यक है। सबसे पहले तो हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि इस प्रश्न का निर्णय कई संभावित अवस्थाओं और स्थितियों के अध्ययन पर निर्भर होता है और इस अध्ययन में विचार भेद होना स्वाभाविक है। इसलिये कई बार इस प्रश्न पर मतभेद होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ बातों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि विनिमय दर में परिवर्तन काफ़ी सोच विचार कर और दूसरे उपाय उपलब्ध न होने पर ही किया जाना चाहिये। सही विनिमय दर का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि सामान्यतया एक देश का दूसरे बाकी के देशों से माल और सेवाओं का क्रय-विक्रय इस प्रकार हो कि लेना-देना बराबर सा रहे। इसलिये यदि किसी देश के विदेशी व्यापार में असंतुलन उत्पन्न हो और खास तौर से घाटा हो तो या तो देश के अन्दर लागत-मूल्य का सम्बन्ध ठीक करके असंतुलन मिटाना चाहिये और अगर यह संभव न हो तो विनिमय दर में परिवर्तन करके उसे ठीक करना चाहिये। सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन इसीलिए किया गया कि स्टरलिंग क्षेत्र की चीज़ों का डालर में उस समय इतना अधिक मूल्य था कि अमेरिका में बिक्री कम होती थी और इससे डालर की आमद बहुत कम होती जा रही थी। इस स्थिति को आन्तरिक लागत-मूल्य संबंध को ठीक करके सुधारना संभव नहीं था इसलिए अवमूल्यन किया गया।

इसी प्रकार बाद में हम रुपये के पुनः मूल्यन के विपक्ष में रहे क्योंकि कोरिया युद्ध के कारण जो डालर मूल्यों में वृद्धि हुई और रुपये में निर्यात मूल्य अपेक्षाकृत कम था, इस असंतुलन को हम अन्य उपायों से, जैसे निर्यात-कर लगाकर, ठीक कर सकते थे। इसके अलावा पुनः मूल्यन का असर हमारी राय में हमारे निर्यात को कम करना, आयात को बढ़ाना और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत के प्रतिकूल असंतुलन पैदा करना भी होता। इसलिये रुपये के पुनः मूल्यन की आवश्यकता नहीं थी।

परिच्छेद १३
सार्वजनिक वित्त

सार्वजनिक वित्त का महत्व—आज राज्य के कार्यों का क्षेत्र बराबर बढ़ता जा रहा है। हमारा देश भी इसका अपवाद नहीं है। न केवल शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना बल्कि जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन को उन्नत करना भी राज्य के प्रत्यक्ष कार्यों में समाविष्ट होता है। अपनी बढ़ी हुई ज़िम्मेदारी को पूरा करने के लिये राज्य को बड़ी मात्रा में व्यय करना होता है, और वह व्यय किया जा सके इसलिये उसे अपने आय के साधन जुटाने पड़ते हैं। यदि किसी समय आय की अपेक्षा व्यय अधिक हो तो ऋण लेकर भी काम चलाना पड़ता है। कई ऐसे काम भी राज्य आज अपने हाथ में लेता है जो आगे चलकर आमदनी का जरिया हो जाते हैं पर आरम्भ में उनमें पूँजी लगानी पड़ती है। यह पूँजी भी ऋण लेकर लगाई जाती है। जब युद्ध होता है तो सरकारों को बहुत व्यय करना पड़ता है। ऐसे समय में भी सरकारें ऋण लेती हैं। जब हम किसी देश के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करते हैं तो हमें इन सब पक्षों पर विचार करना पड़ता है—सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय, और सार्वजनिक ऋण। आज के युग में इस अध्ययन का बड़ा महत्व है। देश की शांति, व्यवस्था और उन्नति का इस पर बहुत दारोमदार रहता है।

सार्वजनिक वित्त का जब हम विचार करते हैं तो हमें केन्द्र, राज्य या प्रान्त, और स्वायत्त शासन संस्था—सभी का विचार करना चाहिये। अब हम इसी आधार पर भारत के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करेंगे।

भारत के सार्वजनिक वित्त की विशेषतायें—जिस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था बहुत अंशों में सार्वजनिक वित्त पर निर्भर रहती है, उसी प्रकार देश की वित्त व्यवस्था भी देश विशेष की परिस्थितियों—आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक—से नियन्त्रित अथवा निर्धारित होती है। हमारे देश की वित्त व्यवस्था पर निम्नलिखित आर्थिक व्यवस्थाओं और राजनैतिक परम्पराओं ने प्रभाव डाला है :—

(क) कृषि-उद्योग की प्रधानता, गाँवों की आत्म-निर्भरता और उनका एकाकीपन—देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में रहती है और आज भी वह बहुत अंशों में अपनी आवश्यकताओं के बारे में स्वावलंबी है। ग्रामीण जनता अपनी आवश्यकताओं की कई वस्तुएँ स्वयं ही पैदा कर लेती है। इस बात का प्रभाव उत्पाद-कर (Excise Duty) के ऊपर पड़ता है। उत्पाद-कर की आय

में अधिक प्रसार नहीं किया जा सकता।

भारतीय गाँवों के दूर-दूर बसे हुए होने के कारण उनमें आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जागरूकता पैदा करने के लिये अधिक व्यय की आवश्यकता होती है।

(ख) कृषि-निर्भरता—उद्योगों के समुचित प्रसारित होने के अभाव में देश की लगभग ६६% जनता कृषि पर अवलंबित है। इसीलिये भारतवर्ष में राजकीय वित्त का सबसे अधिक उत्पादक स्रोत राजस्व (Revenue) का मद है और उद्योगों से प्राप्त आय का आनुपातिक महत्व कम है।

भारतीय कृषि की अनिश्चितता और संदिग्धता के ऊपर प्रकाश डालते हुए भारतीय सरकार के वित्त-मन्त्री विल्सन ने यह उक्ति कही थी कि भारतीय कृषि वर्षा के साथ जूआ खेलने के समान है (Indian agriculture is a gamble in the rains)। किसी अमुक वर्ष में अनावृष्टि का हानिप्रद प्रभाव विभिन्न राज्यों की राजस्व-आय के ऊपर ही नहीं पड़ता परन्तु परोक्ष में केन्द्रीय सरकार की आय के ऊपर भी पड़ता है। अनावृष्टि के कारण राजकीय सरकारों के दुर्भिक्ष-सहायता के ऊपर किये गये व्यय में वृद्धि होती है, पीड़ित किसानों को राजस्व (Revenue) से मुक्त करना पड़ता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, केन्द्रीय सरकार के वित्त विभाग के ऊपर भी इसका परोक्ष में प्रभाव पड़ता है। अनावृष्टि के कारण जनता की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, इस कारण केन्द्रीय सरकार की आय के विभिन्न स्रोतों—आयकर, बहिःशुल्क (Custom Duty) और रेल द्वारा प्राप्त आय में भी कमी आ जाती है।*

(ग) निर्धनता—देश की अधिकांश जनता के निर्धन होने के कारण उनकी कर-दान-क्षमता (Taxable Capacity) भी कम है। इसी कारण हम राष्ट्र-निर्माणकारी प्रवृत्तियों पर अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों की तुलना में अधिक व्यय नहीं कर सकते। राष्ट्रीय आय जाँच समिति (National Income Enquiry Committee) के अनुसार १६४८-४६ में हमारे देश में प्रति व्यक्ति औसत आय केवल २५५ रुपया वार्षिक थी।

(घ) केन्द्रित प्रबन्ध की परम्परा—अँग्रेजों के शासन-काल में सत्ता तथा शक्ति का जो केन्द्रीयकरण हुआ उससे परंपरा से प्रचलित स्वतन्त्र ग्रामीण पन्चायतों का विघटन हो गया। तभी से स्थानीय वित्त (Local Finance) का महत्व कम हो गया। आज भी स्थानीय संस्थाओं (जिला बोर्ड और पंचायतों इत्यादि) को अपनी आर्थिक-स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत अंशों में राजकीय सरकारों के अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है। आज भी राजकीय सरकारों की

*B. R. Misra: Indian Provincial Finance, 1919-37, p. 11

वित्तिय नीति का स्थानीय संस्थाओं की वित्तिय नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक स्थानीय स्वायत्त शासन संस्था की कर-नीति भी पृथक है और उसका सम्बन्ध दूसरों की नीति से बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार की अनियंत्रित और पृथक कर-प्रणाली के दोष स्पष्ट हैं। इसने व्यक्तियों के बीच में और जिलों के बीच में आर्थिक असमानता पैदा करदी है। स्थानीय संस्थाओं के परस्पर समीकरण के अभाव में मितव्ययिता और कार्य-कुशलता में भी कमी आ जाती है।[1] इसके अतिरिक्त राजकीय अनुदान पर परावलम्बी होने के कारण और साथ ही साथ अपने क्षेत्र में पूर्ण-रूपेण स्वतन्त्र न होने के कारण स्थानीय संस्थाएँ अपने क्षेत्र की समुचित आर्थिक उन्नति नहीं कर सकतीं। जहां संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल व्यय का ५५% व्यय, जापान में ३७% व्यय और जरमनी में ४०% व्यय स्थानीय प्रबन्ध में होता है वहां भारतवर्ष में (१९३७-३८) केवल १९% व्यय होता है।[2] खेद की बात है कि हमारे देश के नये संविधान में भी स्थानीय वित्त को गौरवशाली और महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है।

(ङ) राजनैतिक स्थिति—लगभग दो शताब्दियों के शासन-काल में देश की पराधीनता का प्रभाव भी हमारे सार्वजनिक वित्त पर पड़ा है। हमारा सार्वजनिक ऋण, सेना-व्यय और ऊँचे सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा सामाजिक सेवाओं पर होने वाला व्यय इसके ज्वलंत उदाहरण माने जा सकते हैं।

केन्द्र और राज्य का वित्त संबंध—भारत एक संघीय राज्य है। यहां के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करने के लिये यह अनिवार्य है कि हमारे संविधान के अनुसार केन्द्र और राज्य के आपस के सम्बन्ध को हम अच्छी तरह से समझ लें। इस सम्बन्ध का आधार केन्द्र और राज्य की सरकारों के कार्य-विभाजन पर भी बहुत हद तक है। जो कार्य केन्द्र के करने के हैं उनके खर्च की जिम्मेदारी भी केन्द्र पर जाती है और उनकी आय भी उसी को मिलती है जैसे सेना, विदेशी नीति, रेल, डाक, तार आदि। इसी प्रकार जो काम राज्य के करने के हैं उनके सम्बन्धी व्यय और आय के लिये राज्य जिम्मेदार है जैसे भूमि का लगान, कृषि-आयकर, आदि। इसके अलावा इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने का प्रयत्न किया गया है कि केन्द्र और राज्य दोनों को आय के पर्याप्त साधन प्राप्त हों। विशेष परिस्थिति में केन्द्र द्वारा राज्य को सहायता देने का विधान भी किया गया है। राज्यों की वित्त व्यवस्था पर केन्द्र को आवश्यक नियंत्रण और

[1] B. R. Misra : Indian Provincial Finance—पृष्ठ २७१

[2] जे. के. मेहता एण्ड एस. एन. अग्रवाल : पब्लिक फायनांस थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस—पृष्ठ ६३७।

पारस्परिक समन्वय का अधिकार भी दिया गया है।

पहले की रियासतों के वित्त का एकीकरण—हमारे पराधीनता के युग में एक महत्वपूर्ण स्थान तत्कालीन देशी रियासतों का था। ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक नियन्त्रण में उन्हें एक खास तरह की आज़ादी थी और तत्कालीन ब्रिटिश प्रान्तों और इन देशी राज्यों की शासन प्रणाली और व्यवस्था में बहुत असमानता थी। भारत ने स्वतन्त्र होते ही इस समस्या को हल किया। छोटी-छोटी रियासतों को या तो पड़ौस के राज्यों में मिला दिया गया या फिर उनका एकीकरण कर दिया गया। कुछ केन्द्र के शासनाधिकार में लेली गईं और कुछ पूर्ववत् बनी रहीं। जो देशी राज्य केन्द्र में या पास के राज्यों में मिल गये उनकी वित्त व्यवस्था भी केन्द्र या संबंधित राज्यों में शामिल हो गई। पर जो देशी राज्य और देशी राज्य संघ बच रहे उनका प्रश्न रहा। इन सबको नए विधान में राज्य का नाम दिया गया, हालाँकि पूर्ववत् प्रान्तों से इनका भेद करने के लिये इनको 'बी' राज्य का नाम दिया गया जबकि प्रान्तों को 'ए' राज्य का नाम दिया गया।

भिन्न भिन्न 'बी' राज्यों का देश के संघीय शासन में शामिल होने का निर्णय अलग अलग समय पर हुआ। पर शासन के इस प्रकार एकीकरण होने के बाद भी वित्त का एकीकरण आवश्यक था। बिना इस एकीकरण के सारे देश के वित्त की समन्वयित व्यवस्था हो नहीं सकती थी। इस विषय में विचार करने के लिये श्री वी० टी० कृष्णमाचारि की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की और उसकी सिफ़ारिश के अनुसार १ अप्रेल १६५० से 'बी' राज्यों के वित्त का (काश्मीर के अलावा) एकीकरण कर लिया गया। इन राज्यों में केन्द्रीय विषय' अब भारत सरकार के नियन्त्रण में आ गये। इस एकीकरण से एकाएक कोई आर्थिक अव्यवस्था न उत्पन्न हो जाये इस दृष्टि से यह निश्चय किया गया कि यह एकीकरण १० वर्षों में धीरे धीरे पूरा किया जावे। इस एकीकरण के फलस्वरूप आयात-निर्यात कर, आय कर, केन्द्रीय उत्पादन कर, और रेल्वे आय केन्द्रीय सरकार के पास चली गई है। इसी प्रकार खर्च में सेना, ब्रॉडकास्टिंग और राष्ट्रीय सड़कों का ज़िम्मा भी केन्द्र पर चला गया है। राजाओं को मिलने वाला खर्च (प्रीवि पर्स) तो संविधान के अनुसार केन्द्र का ज़िम्मा हो ही गया था। 'ए' राज्यों की भांति 'बी' राज्यों को भी केन्द्र से 'सबवेन्शन' और 'ग्रान्ट' लेने का हक़ मिल गया है। राज्य के कार्यों से संबंधित 'एसेट्स' और 'लाइबिलिटीज़' (संपत्ति और देनदारी) राज्यों के पास रह गये हैं और केन्द्र

संबंधी केन्द्रों के पास चले गये हैं। भारत सरकार ने 'बी' राज्यों से समझौते किये हैं जो अधिक से अधिक दस साल तक लागू रह सकते हैं। पाँच साल पूरे होने के उपरान्त भारत सरकार की फाइनेन्स कमीशन की रिपोर्ट का विचार करने पर ये समाप्त या संशोधित भी किये जा सकते हैं। इन समझौतों के अनुसार केन्द्र को संघीय आय और व्यय के विभाग दे देने से राज्य को जो घाटा होगा उसकी पूर्ति आगामी पांच साल तक तो पूरी तौर पर और उसके बाद के पांच सालों में हर साल एक निश्चित आधार पर की जाने वाली कमी के अनुसार केन्द्र की सरकार द्वारा की जायगी। आन्तरिक कस्टम के समाप्त होने से राज्यों को जो हानि होगी वह राज्य को ही उठानी पड़ेगी। एकीकरण होते ही वैसे तो इन आन्तरिक कस्टम करों को समाप्त कर देना चाहिये था पर चूँकि राजस्थान, मध्य भारत और हैदराबाद राज्यों को आन्तरिक कस्टम से काफ़ी आय होती है इसलिये यह तय किया गया है कि राजस्थान और मध्य भारत में ५ साल और हैदराबाद में ४ साल के अन्दर अन्दर आन्तरिक कस्टम समाप्त कर दिया जाये। १९५०-५१ से आय-कर 'पेप्सू' और ट्रावनकोर-कोचीन में पूरे दर पर लागू करने और मध्य भारत तथा राजस्थान में सौराष्ट्र के दरों के हिसाब से लागू करने का निश्चय किया गया है। यह भी तय किया गया है कि दो से छः वर्ष में सब 'बी' राज्यों में पूरे भारतीय दर से आय-कर लागू हो जायगी। भारतीय आय-कर के पूरे दर लागू होने से दो वर्ष तक 'बी' राज्यों को यह स्वतन्त्रता होगी कि वे चाहें तो आय-कर के अखिल भारतीय आधार पर बांटे जाने वाले कोष (पूल) में शामिल न हों। इस बीच में अस्थायी व्यवस्था के तौर पर प्रत्येक राज्य में जितनी आय-कर से आमदनी होगी उसकी आधी उसकी मानी जायगी। संघीय आय-व्यय के केन्द्र के पास चले जाने से प्रत्येक राज्य को जो आय का घाटा (रेवेन्यू गेप) होगा और राज्यों में बटने वाली आय (डिविज़िनल रेवेन्यूज) का जो उसका हिस्सा होगा उनमें से जो भी अधिक होगा वह उसे मिल जायगा। इस आधार पर हैदराबाद, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और सौराष्ट्र का तो 'रेवेन्यू गेप' की रकम मिलेगी और 'पेप्सू', मध्य भारत और राजस्थान को आय-कर का उनका हिस्सा मिलेगा।

केन्द्र और राज्यों में आय के साधनों का विभाजन—केन्द्र और राज्य की सरकारों के बीच में आय के साधनों का क्या विभाजन है, इस सम्बन्ध में जानकारी करना आवश्यक है। तभी हम केन्द्र और राज्यों के सार्वजनिक वित्त का अध्ययन कर सकते हैं।

भारत को १९३५ के विधान में सबसे पहले संघ शासन का रूप दिया गया था। १९३५ के विधान में केन्द्र और राज्यों के बीच में आय के साधनों का एक विभाजन स्वीकार किया गया था। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो स्वतंत्र भारत ने भी एक संघीय शासन व्यवस्था स्वीकार की। केन्द्र और राज्यों में आय के साधनों का भारत के नये विधान में जो विभाजन किया गया वह १९३५ के विधान में जो विभाजन किया गया था लगभग वही है। नये संविधान के अनुसार आय के साधनों का जो विभाजन किया गया है, अब हम उस पर विचार करेंगे।

पहले हम केन्द्रीय सरकार के संबंध में विचार करेंगे। इस बारे में पहली ध्यान देने की बात यह है कि वे तमाम कर जो संघीय सरकार द्वारा लगाये जायँगे, संघीय सरकार के आय के साधन ही हों ऐसा ज़रूरी नहीं है। इस दृष्टि से संघीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करों को पाच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कर और शुल्क आते हैं जो संघीय सरकार ही लगायेगी, वही वसूल करेगी और वही उनका उपयोग कर सकेगी; जैसे—(१) सीमा शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क भी है, (२) निगम (कॉरपोरेशन) कर, (३) मूलधन-मूल्य कर (टेक्स ऑन केपिटल वेल्यू) जिसमें कृषि भूमि को छोड़कर व्यक्तियों या समवायों (कम्पनीज़) की आस्ति (एसेट्स) और समवायों का मूलधन शामिल है, और (४) अमुक निश्चित करों और शुल्कों पर संसद द्वारा लगाया गया अधिभार (सरचार्ज)। दूसरी श्रेणी में वे कर आते हैं जो संघ की सरकार लगायेगी और वसूल करेगी पर जिनकी आय उसमें और राज्यों में निश्चित सिद्धान्त के अनुसार बांटी जायगी। इसमें कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर लगने वाले कर का समावेश है। तीसरी श्रेणी में वे कर आते हैं जो संघ की सरकार लगायगी, वही वसूल करेगी, पर संसद द्वारा ऐसा क़ानून बनाने पर उनकी आय के बराबर की पूरी रक़म या उसका कोई अंश उक्त कानून द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर भारत के संचित कोष (कनसोलिडेटेड फ़न्ड) से लेकर राज्यों में बांट दिया जायगा। इस श्रेणी में केन्द्रीय उत्पादन शुल्क (एक्साइज़ ड्यूटीज़) जिनमें भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा—(क) मानव उपभोग के मद्यसारिक पानों, (ख) अफ़ीम, भांग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों को छोड़कर किन्तु (ग) ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय (टोयलेट) सामग्री जिनमें उपरोक्त (क) और (ख) का कोई पदार्थ शामिल हो, को शामिल करके अन्य सब वस्तुओं पर उत्पाद शुल्क आता है। चौथी श्रेणी में वे कर और शुल्क आते हैं जो संघीय सरकार द्वारा लगाये जायँगे और वसूल

से राज्यों को सहायक अनुदान दिया जायगा। इसी के साथ भारत सरकार आसाम राज्य को अनुसूचित क्षेत्रों के शासन और विकास सम्बन्धी खर्च के बारे में भी सहायक अनुदान देगी।

'बी' राज्यों के साथ समझौता—हमारे विधान में एक धारा 'बी' राज्यों के साथ भारत सरकार द्वारा समझौता करने के सम्बन्ध में भी है। इस धारा के अनुसार विधान में दी गई बातों का लिहाज़ रखे बिना, भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी भी 'बी राज्य से उस राज्य में भारत सरकार द्वारा लगाये जाने वाले किसी कर या शुल्क के, जो अब इस विधान के अनुसार भारत सरकार ही लगा सकती है, नहीं लगा सकने के कारण उसको होने वाली राजस्व की हानि या अन्य कारण से उसको होने वाली राजस्व की हानि की पूर्ति करने के लिये भारत सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के बारे में समझौता करले। इसी तरह किसी 'बी' राज्य में भारत सरकार द्वारा लगाये जाने वाले किसी कर या शुल्क और उससे होने वाली आय के विधान में दी धाराओं के विपरीत बटवारे के बारे में भी समझौता किया जा सकता है। इसके अलावा किसी 'बी' राज्य द्वारा भारत सरकार को उस राज्य के प्रीवि पर्स की भारत सरकार द्वारा चुकाई जाने वाली रक़म की एवज में मिलने वाले अंशदान के बारे में भी समझौता हो सकता है। बात यह है कि धारा २६१ के अनुसार पुरानी देशी रियासतों के राजाओं को उनके साथ हुए समझौते या कवेनेन्ट के अनुसार आयकर से मुक्त जो प्रीवि पर्स मिलेगा। वह भारत सरकार का खर्च होगा। पर 'ए' या 'बी' राज्य में जिन राजाओं के राज्य आज शामिल हैं उन राजाओं को भारत सरकार से जो प्रीवि पर्स का रुपया मिलेगा उसके बदले में भारत सरकार को संबंधित 'ए' या 'बी' राज्य और भारत सरकार में इस विषय में जो भी समझौता हो उसके अनुसार उस राज्य से समझौते में निश्चित समय के लिए अंशदान (कन्ट्रीब्यूशन) मिल सकेगा। ये समझौते विधान लागू होने के समय से अधिक से अधिक दस वर्ष के लिये हो सकते हैं। पर पांच वर्ष पूरे होने पर उनमें संशोधन या उनको समाप्त भी किया जा सकता है।

ऋण के सम्बन्ध में अधिकार—विधान के अन्तर्गत भारत सरकार को भारत की संचित निधि (कनसोलिडेटेड फ़न्ड ऑव इन्डिया) की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। भारत सरकार के इस प्रकार से ऋण लेने की यदि कोई सीमायें होंगी तो वह संसद समय समय पर क़ानून द्वारा निश्चित कर देगी। ऋण लेने के अलावा ऋण की प्रत्याभूति (गारंटी) देने का भी भारत सरकार को अधिकार है।

इसी प्रकार राज्य को राज्य के संचित निधि की प्रतिभूति पर ऋण लेने का अधिकार है। इस प्रकार से ऋण देने की यदि कोई सीमायें होंगीं तो वह संबंधित राज्य का विधान मण्डल कानून द्वारा समय समय पर निश्चित कर देगा। ऋण लेने के अलावा ऋण की प्रत्याभूति (गारंटी) देने का भी राज्य को अधिकार है।

भारत सरकार भी राज्यों को इस सम्बन्ध में संसद् द्वारा बनाये गये क़ानून में जो शर्तें हों उनके अन्तर्गत ऋण या ऋण के लिये प्रत्याभूति दे सकती है। यदि किसी राज्य पर भारत सरकार का ऋण या ऐसा ऋण जिसको भारत सरकार द्वारा प्रत्याभूति दी गई है बाकी है तो भारत सरकार की स्वीकृति के बिना राज्य नया ऋण नहीं ले सकता है।

संचित निधियाँ और लोक लेखे तथा आकस्मिकता निधि—भारत सरकार के पास राजस्व, और ऋण के चुकारे के रूप में जो रुपया आयगा वह एक कोष के रूप में जमा रहेगा। इस कोष को भारत सरकार की संचित निधि (कनसोलिडेटेड फंड) कहा जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य का भी एक संचित कोष होगा; राज्य का अर्थ 'ए' या 'बी' राज्य से है। सचित निधि में जमा होने वाले रुपये के अलावा जो भी दूसरा रुपया भारत सरकार को प्राप्त होगा वह भारत सरकार के लोक लेखे (पब्लिक अकाउन्ट) में, और जो राज्य को प्राप्त होगा वह राज्य के लोक-लेखे में जमा होगा। इसके अलावा भारत की और प्रत्येक राज्य की एक आकस्मिकता-निधि (कन्टिंजेन्सी फंड) होगी जो संसद या राज्य के विधान मंडल द्वारा क़ानून से स्थापित होगी। इस निधि में समय समय पर वह रुपया जमा होगा जो निधि संबंधी क़ानून द्वारा निश्चित होगा। यह निधि भारत के राष्ट्रपति या राज्य के गवर्नर या राजप्रमुख के हाथ में रहेगी जिसमें से अनपेक्षित व्यय किये जायँगे, जब तक कि ऐसे व्यय की बाक़ायदा ससद् या राज्य के विधान-मंडल से स्वीकृति न मिल जाये।

वित्त आयोग—विधान में राष्ट्रपति को इस बात का अधिकार दिया गया है कि विधान लागू होने के दो वर्ष के अन्दर अन्दर और उसके बाद हर पांच साल समाप्त होने पर या उससे पहले जब भी राष्ट्रपति उचित समझे अपनी आज्ञा से एक वित्त आयोग का निर्माण करे। इस वित्त आयोग में अध्यक्ष के अलावा चार और सदस्य होंगे। संसद् को विधि द्वारा यह निश्चय करने का अधिकार है कि आयोग के सदस्यों की क्या योग्यता होनी चाहिये और उनको किस प्रकार चुना जाना चाहिये। वित्त आयोग का कर्तव्य होगा कि वह निम्नलिखित मामलों में राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश करे :—(अ) संघ और राज्यों के बीच में जिन

करों की आय का बटवारा होने वाला हो उसका बटवारा और राज्यों में आपस में उस आय का बटवारा; (आ) भारत के संचित कोष से राज्यों को मिलने वाले सहायक अनुदान (ग्रान्ट-इन-एड) के सिद्धान्त; (इ) 'बी' राज्यों से भारत सरकार के समझौतों (जिनका ऊपर ज़िक्र किया गया है) को जारी रखना अथवा उनमें संशोधन करना ; (ई) समुचित वित्त व्यवस्था की दृष्टि से कोई और बात जिसके बारे में राष्ट्रपति कमीशन की राय जानना चाहें ।

आयोग को अपनी कार्य विधि निश्चित करने का अधिकार होगा। अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिये संसद् विधि द्वारा आयोग के अधिकारों का निश्चय करेगी ।

वित्त आयोग की प्रत्येक सिफ़ारिश और उस पर राष्ट्रपति द्वारा दिया गया निर्णय संसद् के प्रत्येक सदन के सामने प्रस्तुत किया जायगा।

संसद् द्वारा वित्त आयोग (फ़ाइनेन्स कमीशन) कानून पास हो चुका है और वित्त आयोग की स्थापना भी हो चुकी है। इस विधि के अनुसार वित्त आयोग का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसे सार्वजनिक मामलों (पब्लिक अफ़ेयर्स) का अनुभव हो। बाकी के चार सदस्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में से चुनना होगा :—(अ) जो हाई कोर्ट के जज होने की योग्यता रखते हैं या जिनकी यह योग्यता रही है ; (आ) जिनको सरकार के वित्त और हिसाब का विशेष ज्ञान है; (इ) जिनको वित्त संबंधी विषयों और शासन संचालन का व्यापक अनुभव है ; या (ई) जिनको अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान है। आयोग के सदस्य के बारे में राष्ट्रपति को बराबर यह समाधान होना चाहिये कि उसके ऐसे कोई आर्थिक या दूसरे हित नहीं हैं जो उसके आयोग के सदस्य की हैसियत से कर्तव्य में बाधक हों।

वित्त आयोग इस समय विभिन्न राज्यों का दौरा कर रही है और केन्द्र और राज्यों के बीच में क्या वित्त सम्बन्ध हों इस सम्बन्ध में राज्यों से विचार विनिमय करने के बाद ही वह अपनी सिफारिशें पेश करेगी। देशमुख निर्णय की अवधि ३१ मार्च १९५२ को ही समाप्त होने को थी। वित्त आयोग के लिये यह संभव नहीं था कि वह उस समय तक आगे के लिये अपनी सिफारिशें पेश करे। इसलिये उसने यह अन्तरकालीन सिफ़ारिश की कि फ़िलहाल वर्तमान प्रबंध ही जारी रहें पर जब आयोग की पक्की सिफारिशें पेश हो जायें तो उनके आधार पर बाद में १ अप्रैल १९५२ से ही केन्द्र और राज्यों के वित्त सम्बन्ध में आवश्यक संशोधन कर दिये जायें।

केन्द्र और राज्य के वित्त-सम्बन्धों का इतिहास—केन्द्र और राज्य के हमारे संविधान के अनुसार जो वित्त-सम्बन्ध हैं उनका उल्लेख ऊपर किया गया

है। पर इन संबंधों का एक इतिहास रहा है। वर्षों के विकास के बाद हम आज की स्थिति में पहुँचे हैं। संक्षेप में इस इतिहास की जानकारी कर लेना आवश्यक होगा। अब हम इसी पर विचार करेंगे।

१६१६ के सुधार के पहले तक का इतिहास—सन् १८३३ तक प्रत्येक प्रान्त वित्त की दृष्टि से अपने आप में स्वतन्त्र था, अपना राजस्व स्वयं जुटाता और स्वयं व्यय करता था।

सन् १८३३ से लेकर १८७१ तक केन्द्रीय सरकार के हाथ में समस्त वित्त अधिकार केन्द्रित थे। सारे देश का राजस्व केन्द्र के अधिकार में रहता था और प्रान्तों का काम तो राजस्व इकट्ठा करना और उसे खर्च करना मात्र था। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि चूँकि प्रान्तों पर कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी इसलिये राजस्व को बढ़ाने या व्यय में किफ़ायत करने में उनका कोई सहयोग नहीं मिलता था और केन्द्र से अधिक से अधिक रुपया प्राप्त कर लेने का प्रत्येक राज्य प्रयत्न करता था।

उपरोक्त दोष व्यवस्था को सुधारने का लार्ड मेयो ने १८७१ में वित्त सबंधी विकेन्द्रीकरण की नीति अपना कर प्रयत्न आरम्भ किया। लोर्ड मेयो ने कुछ प्रान्तीय महत्व के विभाग—जैसे पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, जेल आदि—प्रान्तों को सौंप दिये। इन विभागों के व्यय को चलाने के लिये विभागीय आय के अलावा केन्द्र से निश्चित रकम सहायता के रूप में दी जाती थी। अगर फिर भी घाटा रह जाता तो केन्द्र की स्वीकृति से स्थानीय कर लगा कर पूरा किया जाता। १८७७ में लार्ड लिटन ने इस व्यवस्था में और सुधार किया। स्थानीय महत्व के कुछ और विभाग प्रान्तों को सौंप दिये गये—जैसे स्टेम्प, क़ानून और न्याय, समान्य शासन आदि। इन नये हस्तांतरित विभागों का खर्च चलाने के लिये प्रान्तों को कुछ आय के साधन भी सौंप दिये गये। स्टेम्प, इक्साइज़, क़ानून और न्याय आदि के कुछ ऐसे आय साधन थे जो प्रान्तों को सौंप दिये गये। इसके अलावा यह भी तय कर दिया कि प्रान्त की विभागीय प्राप्तियों और प्रान्त को सौंप गये आय के साधनों से होने वाली कुल आय का अनुमान लगा लिया जायगा और इस अनुमान में तथा प्रान्त की वास्तविक आया में जो कमी-बेशी होगी वह प्रान्त और केन्द्र दोनों में बँट जायगी। इसके बाद १८८२ में लार्ड रिपन द्वारा किये गये सुधार आते हैं। इन सुधारों की एक विशेषता तो यह थी कि प्रान्तों के साथ वित्तीय समझौते की अवधि पांच वर्ष निश्चित करदी गई ताकि वित्त में अधिक स्थिरता आ सके। १८८७, १८६२, और १८६७ में यह पंचवर्षीय समझौते हुए। १६०४ में ये समझौते अर्द्ध-

स्थायी कर दिये गये और १९१२ में ये सर्वथा स्थायी कर दिये गये। सन् १९१९ तक यह व्यवस्था जारी रही। इसके अलावा एक नई बात यह की गई कि आय के कुछ साधन तो सर्वथा प्रान्तों के पास थे ही पर कुछ अन्य आय के साधनों—जैसे जंगलात, रजिस्ट्रेशन, आबकारी, स्टेम्प आदि—का प्रान्तों और केन्द्रों में विभाजन कर दिया गया। यदि किसी प्रान्त की आय उसका खर्च चलाने के लिये काफ़ी नहीं होती तो उस घाटे को पूरा करने के लिये भूमि के लगान का एक हिस्सा प्रान्त को और दे दिया जाता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, १८९७ तक हर पांचवें वर्ष प्रायः इसी आधार पर यह समझौते होते रहे। १९०४ में केन्द्र की सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक यह न मालूम पड़ेगा कि यह व्यवस्था अमुक प्रान्त या केन्द्र के प्रति पूरा न्याय नहीं करती तब तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। इसलिये १९०४ के समझौते अर्द्ध-स्थायी कहे जाते हैं।

सन् १९०७—०९ के विकेन्द्रीकरण कमीशन ने इस व्यवस्था पर विचार किया। कमीशन के सामने इस सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गये वे प्रायः इस व्यवस्था के विरुद्ध ही थे। केन्द्र की सरकार प्रान्तों पर हावी रहती है, प्रान्तों को निश्चित रक़म में सहायता देने की पद्धति फिर केन्द्र की सरकार ने आरम्भ करदी है और प्रान्तीय राजस्व की दरें वह निश्चित करती है, और एक सीमा के बाद प्रान्तीय खर्चे में उसका हस्तक्षेप होता है—इस तरह की आपत्तियां इस व्यवस्था के बारे में विकेन्द्रीकरण कमीशन के सामने पेश की गईं पर कमीशन ने सारी स्थिति पर विचार करके यह सिफ़ारिश की कि कुछ संशोधन के साथ इसी व्यवस्था को स्थायी कर दिया जाय। इस सिफ़ारिश के अनुसार १९१२ में यह व्यवस्था स्थायी कर दी गई। निश्चित रक़म में सहायता की मात्रा कम करदी गई और विभाजित आय के साधनों में प्रान्तों का हिस्सा बढ़ा दिया गया। इसके अलावा और कोई खास संशोधन नहीं किया गया। १९१९ के सुधारों तक यही व्यवस्था चलती रही। केन्द्र और प्रान्तों की सरकारों की आय के, इस व्यवस्था के अनुसार, निम्न साधन निश्चित किये गये :—(१) केन्द्रीय आय के साधन—अफ़ीम, सीमा-शुल्क, नमक, टकसाल और विनिमय, डाक और तार, रेल, सेना से प्राप्तियां, और देशी राज्यों से मिलने वाला 'ट्रिब्यूट'। (२) केन्द्र और प्रान्त में विभाजित साधन—लगान, आयकर, आबकारी (बम्बई, बंगाल के अलावा) सिंचाई और स्टेम्प। प्रत्येक प्रान्त के साथ विभाजन का आधार अलग अलग था जो प्रायः आधा था। (३) प्रान्तीय आय के इन विभागों के खर्च का विभाजन भी किया गया था।

साधन—जंगलात, आबकारी (बम्बई, बंगाल), रजिस्ट्रेशन और विभागीय प्राप्तियां जैसे शिक्षा, न्याय और क़ानून आदि।

उपरोक्त व्यवस्था में मुख्य मुख्य दोष यह थे :—(१) आय के विभाजित साधनों के कारण केन्द्र और प्रान्तों में संघर्ष, (२) निश्चित रक़म की सहायता पद्धति से आय की व्यवस्था में लचीलेपन का अभाव, (३) कभी कभी केन्द्र द्वारा प्रान्तों को एक मुश्त सहायता देने से प्रान्तों में केन्द्र का हस्तक्षेप, (४) विभिन्न समझौतों की आपस में असमानता, (५) प्रान्तो को कर लगाने और ऋण लेने का अधिकार नहीं होना, (६) केन्द्र का प्रान्तीय खर्च और बजट पर अत्यधिक नियंत्रण। उदाहरण के लिये, प्रान्त घाटे का बजट बनाने और अपनी रोकड़ खर्च करने में स्वतन्त्र नहीं थे।

१६१६ के सुधार और वित्त सम्बन्ध—सन् १६१६ के सुधारो के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन का सीमित आधार पर आरम्भ हुआ। इसी के अनुरूप देश की वित्त व्यवस्था स्थापित की गई। इस वित्त व्यवस्था के मुख्य मुख्य लक्षण ये थे :—(१) आय के साधनों का केन्द्र और प्रान्त में बटवारा कर दिया गया और विभाजित आय के साधन अब नहीं रहे। केन्द्र के आय के साधन इस प्रकार तय किये गये :—(i) अफ़ीम, (ii) नमक, (iii) सीमा शुल्क, (iv) आयकर, (v) रेल, डाक और तार, (vi) सेना से प्राप्तियां। प्रान्त के आय के साधन ये तय किये गये :—(i) लगान और सिंचाई, (ii) स्टेम्प (न्याय और व्यापार दोनो सम्बन्धी), (iii) रजिस्ट्रेशन, (iv) जंगलात। प्रान्तों को आय कर में भी कुछ हिस्सा दिया गया। (२) उपरोक्त आय के विभाजन के आधार पर केन्द्रीय बजट में होने वाले घाटे की पूर्ति करने के लिये प्रान्त केन्द्र को अंशदान दें, यह भी निश्चित किया गया। मेस्टन कमेटी ने अन्य बातों के साथ साथ अंशदान की रक़म तय करने के बारे में सिफारिश की थी। ये अंशदान १६२८-२६ में समाप्त हुए। प्रान्तों ने इनके बारे में बराबर आपत्तियाँ कीं। (३) एक अनुसूचित फ़हरिस्त में दिये गये करों को लगाने का प्रान्त को स्वतन्त्र अधिकार मिल गया, यद्यपि केन्द्र उसे रोक भी सकता था। इस सूची के बाहर केन्द्र की स्वीकृति से कर लगाने का प्रान्तों को अधिकार मिल गया। (४) किन्हीं मर्यादाओं में प्रान्त को ऋण लेने का अधिकार भी मिल गया। (५) उपरोक्त व्यवस्था के कारण केन्द्र और प्रान्तों के अलग अलग बजट बनने लगे।

सन् १६१६ के विधान के अन्तर्गत जो वित्त व्यवस्था स्थापित हुई उसमें निम्नलिखित दोष पाये गये :—(१) प्रान्तों पर राष्ट्रनिर्माण विभागों जैसेके

शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के बढ़ते हुए खर्च की ज़िम्मेदारी तो डाल दी गई पर उनकी आय के साधन अपर्याप्त थे क्योंकि उन साधनों से आय में वृद्धि होने की आशा नहीं थी जैसे लगान, आबकारी आदि। केन्द्र के पास आय कर और सीमा शुल्क जैसे बढ़ने वाली आय के साधन थे हालांकि उसकी ज़िम्मेदारी बंधी हुई थी। (२) विभिन्न प्रान्तों में भी समानता नहीं थी। कृषि-प्रधान प्रान्तों को अधिक लाभ और उद्योग-प्रधान प्रान्तों को अधिक हानि हुई। (३) केन्द्र और प्रान्त में आय के साधनों का इतना पूर्ण बटवारा उचित नहीं था।

१६३५ का विधान और वित्त सम्बन्ध—१६३५ के विधान बनाने के समय देश की वित्त व्यवस्था के बारे में फिर सविस्तार विचार किया गया। अन्त में १६३५ के विधान में जो वित्त व्यवस्था स्वीकार की गई वह लगभग वही थी जो स्वतन्त्र भारत के संविधान में स्वीकार की गई है। संघीय सरकार के आय के साधनों में चार श्रेणियाँ थीं—(१) जो पूर्णतया संघीय सरकार के थे, जैसे सीमा-शुल्क, निगम-कर, रेल, डाक और तार से आय आदि; (२) जो संघ और प्रान्त में बटे हुए थे, जैसे आयकर; (३) जो संघ के पास थे पर जिन्हें संघ सरकार को पूरा या आंशिक रूप से प्रान्त को देने का अधिकार था जैसे केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क, निर्यात-शुल्क, नमक-शुल्क; और (४) अमुक अमुक करों पर संघ के उपयोग के लिये लगाये गये अधिभार (सरचार्ज)।

इसी प्रकार प्रान्तों की आय के निम्न साधन थे—प्रान्तीय कर जैसे लगान, कृषि आयकर, आदि; (२) आयकर में प्रान्त का हिस्सा; (३) मुद्रांक शुल्क (व्यापारिक), सीमा-कर (टर्मिनल टेक्स), उत्तराधिकार शुल्क आदि ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगाये और वसूल किये जायँगे पर जो प्रान्त को मिलेंगे; (४) केन्द्र से मिलने वाली सहायता।

निमयर रिपोर्ट—१६३५ के विधान के अन्तर्गत जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन लागू करने का समय आया तो वित्त की दृष्टि से प्रान्तों की स्थिति पर विचार करने के लिये भारत मन्त्री ने सर ओटो निमयर को नियुक्त किया। १६३६ के अप्रेल में उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में यह कहा गया था कि १६३७ की अप्रेल में प्रान्तीय स्वायत्त शासन और वर्ष भर बाद संघीय शासन की स्थापना की जा सकती है। सर ओटो ने ये सिफारिशें कीं :—(१) आय कर का ५०% (पचास प्रतिशत) प्रान्तों का भाग माना जाना चाहिये। इस आय का प्रान्तों में आपसी बटवारे का आधार भी सर ओटो ने सुझाया। (२) पाँच साल तक केन्द्रीय सरकार को प्रान्तों का यह भाग अपने उपयोग में लेने का अधिकार होना चाहिये।

केन्द्रीय सरकार प्रान्तों का या तो पूरा भाग उपयोग में ले सकती है या उसका उतना अंश जितना केन्द्र को रेलवे से मिलने वाली आय में मिलाने से केन्द्र को १३ करोड़ की रक़म मिल जाय। इन दोनों में से जो रक़म कम होगी वही केन्द्र उपयोग में लेगा। (३) दूसरी पंचवर्षीय अवधि में केन्द्रीय सरकार आयकर के प्रान्तीय भाग को प्रान्तों को धीरे धीरे लौटाना शुरू करदे ताकि आखिरी साल के बाद प्रान्त को अपना पूरा भाग मिल सके। (४) प्रान्तों को तीन तरह से आर्थिक सहायता दी जाये—१ अप्रेल, १९३६ के पहले जो असल ऋण हो उसे रद्द करके, नकद सहायता देकर, और जूट पैदा करने वाले प्रान्तों को ५०% से १२½% अधिक, इस प्रकार कुल ६२½% जूट निर्यात-शुल्क का हिस्सा देकर। बंगाल, बिहार, आसाम, उत्तर-पश्चिम सरहदी प्रान्त, और उड़ीसा के ऋण रद्द किये गये। संयुक्त प्रान्त, आसाम, उड़ीसा, उत्तर-पश्चिम सरहदी प्रान्त, और सिंध को नकद सहायता देने की सिफारिश की गई। भारत सरकार ने सर ओटो की सब सिफारिशें थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार करलीं और ३ जुलाई, १९३६ को आर्डर-इन-कौंसिल जारी कर दिया गया।

निमयर रिपोर्ट से थोड़ा थोड़ा असंतोष केन्द्र और विभिन्न प्रान्तीय सरकारों का रहा, खास कर आयकर के अपने हिस्से के बारे में, पर निमयर निर्णय का पालन हुआ। प्रान्तों को १९३७-३८ में आयकर के उनके भाग से कुछ मिला भी।

निमयर निर्णय में परिवर्तन—द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने से देश की वित्त व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। १९४०-४१ में निमयर निर्णय में पहला संशोधन हुआ। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि केन्द्र की सरकार को, रेल से मिलने वाली आय का विचार किये बिना, आयकर के प्रान्त के भाग में से ४½ करोड़ रुपया प्रति वर्ष दिया जाय और १ अप्रैल, १९३९ से इस निर्णय पर व्यवहार किया जाये। यह संशोधन केन्द्र की सरकार के पक्ष में था। पहले तो इस संशोधन की अवधि १९४१-४२ तक ही निश्चित की गई थी पर बाद में १९४६-४७ तक ही यही संशोधित निर्णय लागू रहा, यद्यपि १९४२-४३ में केन्द्र का हिस्सा ४½ करोड़ से बराबर कम होता गया और १९४७-४८ में प्रान्त के भाग में से केन्द्र के पास कुछ नहीं रहा।

जब देश का विभाजन हुआ तो निमयर निर्णय में दूसरा संशोधन किया गया। यद्यपि इस संशोधित निर्णय का आदेश तो १७ मार्च, १९४८ को जारी हुआ पर इस पर अमल १५ अगस्त, १९४७ से ही किया गया। इस दूसरे संशोधन में प्रान्तों में उनके हिस्से के आयकर के बटवारे का आधार बदला गया, पटसन निर्यात शुल्क में पटसन पैदा करने वालों का हिस्सा ६२½% से घटाकर २०% कर

दिया गया, सहायता के रूप में अनुदान केवल आसाम और उड़ीसा को १९४७-४८ और १९४८-४९ में ही देना तय हुआ, और आयकर की अवल रकम का १% चीफ़ कमिश्नर के प्रान्तों को देना तय किया गया। यह संशोधन १९४७-४८ और १९४८-४९ के लिये ही था।

देशमुख निर्णय—निमयर निर्णय में देश के विभाजन के बाद जो संशोधन हुआ था वह अस्थायी था। नवम्बर १९४९ में रिज़र्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर श्री चिन्तामणि देशमुख को भारत सरकार ने इसलिये नियुक्त किया कि आयकर और पटसन के निर्यात शुल्क का प्रान्तों में किस आधार पर बटवारा किया जाये इस बारे में वह सिफ़ारिश करें। श्री देशमुख ने अपना निर्णय जनवरी १९५० में दिया। १९५०-५१ के आर्थिक वर्ष ही से उसे लागू किया गया। विधान की २८० धारा के अनुसार नियुक्त फ़ाइनेन्स कमीशन की इस सम्बन्ध में सिफ़ारिश नहीं होने तक वह लागू रहेगा और वह केवल 'ए' श्रेणी के राज्यों पर ही लागू होगा। देश के विभाजन के पहले विभिन्न प्रान्तों में आयकर की आय का प्रतिशत के हिसाब से बटवारा हो रहा था। जब कुछ प्रान्त या प्रान्तों के हिस्से पाकिस्तान में चले गये तो उनके हिस्से का प्रतिशत या तो बच गया या कम होगया। इस प्रकार बंगाल ७.५, पंजाब ४, सिंध २, और उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त १ और कुल १४.५ प्रतिशत की बचत हुई। श्री देशमुख ने इन १४.५ का ही भारत के सभी 'ए' राज्यों में जनसंख्या के आधार पर, लेकिन आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर राज्यों का थोड़ा ध्यान रखते हुए, फिर से बटवारा कर दिया। देशमुख निर्णय में जो प्रतिशत प्रत्येक 'ए' राज्य को दिया गया है वह इस प्रकार है:—मद्रास १७.५, बम्बई २१, पश्चिम बंगाल १३.५, उत्तर प्रदेश १८, पंजाब ५.५, बिहार १२.५, मध्य प्रदेश ६, आसाम ३, और उड़ीसा ३—कुल १००।

पटसन निर्यात शुल्क के कारण पश्चिम बंगाल को १०५ लाख रुपये, आसाम को ४० लाख रु० और बिहार को ३५ लाख तथा उड़ीसा को ५ लाख—कुल १८५ लाख की सहायता देने की देशमुख निर्णय में सिफ़ारिश की गई, क्योंकि संविधान के अनुसार पटसन निर्यात शुल्क से सारी आय तो केन्द्र के पास जायगी पर केन्द्र उपरोक्त राज्यों की सहायता देगा। देशमुख निर्णय द्वारा निश्चित सहायता की अवधि १० वर्ष या जब तक पटसन निर्यात शुल्क जारी रहे इनमें से जो भी समय पहले समाप्त हो तब तक रहेगी। देशमुख निर्णय के अनुसार सरकार ने १९५० में ही आदेश जारी कर दिया था।

भारत सरकार और राज्यों के बजट—भारत सरकार का वित्त मंत्रालय भारत सरकार की वित्त व्यवस्था करता है। वित्त मंत्रालय के मंत्री वित्त मंत्री कहे

जाते हैं। भारत सरकार का वित्त वर्ष १ अप्रैल से ३१ मार्च तक का है। इसी आधार पर भारत सरकार का बजट तैयार होता है। भारत सरकार के बजट के दो भाग होते हैं—एक राजस्व बजट (रेवेन्यू बजट) और दूसरा पूँजीगत बजट (केपीटल बजट)। १९५२-५३ के बजट के समय से हिमाचल प्रदेश, विंध्य प्रदेश, दिल्ली, भोपाल और अजमेर इन पांचों 'सी' राज्यों का आय व्यय का बजट जो अब तक भारत सरकार के बजट में शामिल रहता था अब अलग कर दिया गया है क्योंकि इन राज्यों में भी उत्तरदायी मंत्रिमंडल बन गये हैं। कुर्ग का आय-व्यय तो १९२४ से ही अलग है। पर 'सी' राज्यों को अधिक मामलों में 'ए' या 'बी' राज्यों जितने अधिकार नहीं हैं। उनकी रोकड़ अब भी केन्द्रीय सरकार की रोकड़ में शामिल रहेगी। उनकी पूँजीगत आवश्यकतायें, तथा ऋण, जमा और 'रेमिटेंस' सबंधी लेना-देना भी बदस्तूर केन्द्रीय बजट में ही शामिल रहेगा। आवश्यकता होने पर संचित निधि में चालू खर्च के लिये रुपया बना रखने की दृष्टि से केन्द्र की सरकार सहायक अनुदान देगी। आयकर या दूसरे केन्द्रीय राजस्व के विभाजन किये जाने वाले राजस्व में इनको कोई भाग नहीं मिलेगा। इसके अलावा दिल्ली का पुलिस, शांति-व्यवस्था और भूमि तथा इमारतों सबंधी आय-व्यय अब भी केन्द्रीय बजट में ही शामिल रहेगा।

राजस्व बजट में वार्षिक आय और चालू व्यय बताया जाता है। कर और शुल्क तथा व्यापारिक विचारों की आय इसी बजट में दिखाई जाती है। सामान्य खर्च व्यय में बताया जाता है। प्रति वर्ष जो बजट का स्टेटमेंट संसद में पेश होने के लिये तैयार होता है उसमें तीन वर्ष की आर्थिक स्थिति का हाल होता है—(१) आगामी वर्ष के आय और व्यय का अनुमान, (२) चालू वर्ष के आय और व्यय के सशोधित अनुमान और (३) गत वर्ष के वास्तविक आय-व्यय का हिसाब। प्रतिवर्ष फरवरी-मार्च में बजट संसद में पेश होता है। राजस्व बजट में पहले तो यह अनुमान लगाया जाता है कि वर्तमान करों के आधार पर बजट की क्या स्थिति होगी। उसके बाद सरकार यह बताती है कि कोई नये कर लगाये जाने वाले हैं और कोई पुराने कर हटाये जाने वाले या कम होने वाले हैं या नहीं। इस प्रकार नये साल में करों आदि से जो कुल आय होती है उससे व्यय अधिक होने पर बजट में घाटा और कम होने से बजट में बचत मानी जाती है। अगर बचत होती है तो सरकार की नक़द रोकड़ उस हद तक बढ़ जाती है। अगर घाटा होता है तो सरकार की नक़द रक़म उस हद तक कम हो जाती है पर सरकार की मौजूदा रोकड़ (गवर्नमेंट बैलेंसेज़) को बढ़ाने का एक उपाय बाज़ार से ऋण लेने का है। सरकार हर साल कुछ न कुछ ऋण लेती ही रहती है और पुराने ऋण चुकाती भी रहती है।

यहीं पर सरकार के पूंजीगत बजट का प्रश्न उठता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है राजस्व बजट तो सरकार की आमदनी और खर्च का बजट होता है। पूंजीगत बजट में प्राप्ति और चुकारे का अनुमान होता है। प्राप्ति की ओर विभिन्न प्रकार के ऋण, फंड और जमा से जो रकम आने वाली होती है वह दिखाई जाती है और चुकारे की ओर जो पूंजीगत खर्च होता है, जैसे रेल्वे निर्माण और औद्योगिक विकास का व्यय या राज्यों को विकास के लिये दी जाने वाली सहायता आदि का विवरण होता है। यदि चुकारे से प्राप्ति अधिक होती है तो बचत, और कम होती है तो घाटा माना जाता है। घाटा या बचत का असर सरकार की रोकड़ पर पड़ता है।

जब संसद् से बजट पास हो जाता है तो संसद् 'एप्रोप्रियेशन एक्ट' पास करता है जिससे भारत सरकार की संचित निधि से बजट के अनुसार खर्च करने का सरकार को अधिकार मिल जाता है। इस कानून में संसद् कोई संशोधन नहीं करती।

विशेष परिस्थितियों में सहायक बजट भी पास करने की आवश्यकता आ जाती है।

राज्यों के जो बजट बनते हैं उनमें भी आय और व्यय के अलावा ऋण, जमा तथा पूंजीगत खर्च संबंधी आंकड़े तथा साल के आरंभ और अन्त के सरकारी रोकड़ के आंकड़े भी होते हैं। पर भारत सरकार की तरह राज्यों के बजट दो अलग अलग भागों में नहीं बनते।

भारत सरकार के राजस्व और पूँजीगत बजट और राज्य के बजट के नमूने इस परिच्छेद के अन्त में दिये गये हैं।

केन्द्रीय वित्त

अब तक हमने भारतीय वित्त की विशेषताओं और उसके विकास तथा केन्द्र और प्रान्त के वित्त संबंधों के बारे में विचार किया। अब हम भारतीय वित्त का केन्द्रीय वित्त, राज्यकीय वित्त और स्थानीय स्वायत्त शासन संबंधी वित्त की दृष्टि से विस्तार से अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम केन्द्रीय वित्त का अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन आय, व्यय और ऋण तीनों दृष्टियों से करना आवश्यक है। सबसे पहले भारत सरकार की आय के बारे में विचार करेंगे।

भारत सरकार की आय—भारत सरकार की आय की मुख्य मुख्य मदों का अब हम अध्ययन करेंगे।

(१) सीमा-शुल्क (कस्टम्स)—इसमें विदेश से आने वाले माल पर आयात-शुल्क और विदेश को जाने वाले माल पर निर्यात-शुल्क दोनों का ही

समावेश होता है। आयात-शुल्क लगाने के दो अभिप्राय होते हैं—एक तो आय का और दूसरा राष्ट्र उद्योगों को संरक्षण देने का। भारत में प्रथम महायुद्ध तक सीमा-शुल्क का महत्त्व बहुत कम था, क्योंकि तब तक भारत इंगलैंड के तत्त्वावधान में मुक्त व्यापार की नीति पर चलता था। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय फ़िसकल कमीशन की नियुक्ति हुई और उसकी सिफ़ारिश पर भारत ने सन् १६२२ से विवेकपूर्ण संरक्षण नीति अपनाई। तभी से आयात-शुल्क का महत्त्व बढ़ गया। १६३२ में जो ओटावा समझौता हुआ उसके अनुसार इंगलैंड से आने वाले कई तरह के माल पर अपेक्षाकृत कम आयात शुल्क लगाना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के समय फिर भारत सरकार ने आयात-शुल्क में वृद्धि की। युद्ध समाप्त होने के बाद कई चीज़ों पर सीमा शुल्क कम किया गया। पर १६४६-५० से फिर वृद्धि की ओर प्रवृत्ति है। सीमा-शुल्क से होने वाली आय में निर्यात-शुल्क का महत्व कम रहा है, यद्यपि पिछले वर्षों में कई चीज़ों पर निर्यात-शुल्क लगाया या बढ़ाया गया है। इन वर्षों में निर्यात शुल्क लगाने के मुख्यतः दो प्रयोजन रहे हैं—या तो विदेश में ऊँचे मूल्य होने से निर्यात से होने वाले लाभ में सरकार की हिस्सा बटाने की इच्छा, जैसे जूट पर निर्यात-शुल्क का लगाया जाना, या फिर किसी चीज़ को बाहर जाने से रोकने की कोशिश करना, जैसे कच्चे कपास पर या तिलहन पर लगाया गया निर्यात-शुल्क। १६५२ के प्रारम्भ में जब कई चीज़ों का मूल्य गिरने लगा और विदेशों में हमारे माल की मांग कम हो गई तो भारत सरकार ने कई निर्यात कर या तो बिल्कुल हटा दिये (कच्चा ऊन, मूंगफली का तेल आदि) और कई पर कम कर दिये गये (रूई, मुलायम रूई, जूट का माल)। सीमा-शुल्क लगाने की दो पद्धतियां हैं—मूल्य के आधार पर (एड वेलरम ड्यूटी) या मात्रा के आधार पर (स्पेसिफ़िक ड्यूटी)।

भारत सरकार की आय में सीमा शुल्क का हिस्सा बराबर पिछले वर्षों में विभाजन के बावजूद भी बढ़ा है। १६३८-३६ में सीमा-शुल्क से ४०½ करोड़ रुपये की आय थी वह १६४६-४७ में ८६ करोड़ रुपये के लगभग, १६४८-४६ में १२६.१६ करोड़ रुपये के लगभग और १६५०-५१ में १५७ करोड़ रुपये के लगभग थ और १६५१ ५२ के संशोधित अनुमान के अनुसार २३२ करोड़ रुपये के लगभग इस मद से आय होने की आशा है। पर १६५२-५३ के बजट में इस मद से १६० करोड़ की आशा की गई है।

सीमा-शुल्क जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं और विलास वस्तुओं दोनों पर है। आवश्यक वस्तुओं पर का कर आम जनता पर पड़ता है। जिस हद तक यह कम हो सकता हो किया जाना चाहिये।

(२) आयकर—भारत में सबसे पहले १८६० में आयकर पाँच वर्ष के लिये १८५७ के विद्रोह के कारण सरकार की स्थिति को सुधारने के लिये लगाया गया था। पाँच वर्ष बाद यह कर हट गया। १८६६ में फिर यह कर लगाया गया। कर की दरों, न्यूनतम कर से मुक्त आय, और आयकर संबंधी क़ानून में समय समय पर परिवर्तन होता रहा है। आयकर क़ानून में संशोधन का प्रश्न इस समय भी विचाराधीन है।

भारतीय आयकर की कुछ विशेषतायें ये हैं :—आयकर व्यक्तियों, फर्मों (रजिस्टर्ड और अनरजिस्टर्ड), कम्पनियों और संयुक्त परिवारों की आय पर लिया जाता है। कर की दर आय के साथ साथ बढ़ती है। व्यक्तियों, संयुक्त परिवारों, और अनरजिस्टर्ड फर्मों पर आयकर के अलावा २५ हज़ार से अधिक आय पर सुपरटैक्स भी लगाया जाता है। १९३९ के आयकर क़ानून के द्वारा आयकर लगाने की पद्धति भी 'स्टेप' प्रणाली से बदल कर अब 'स्लेब' प्रणाली करदी गई। 'स्टेप' प्रणाली में सारी आय पर कर एक समान दर से ही लगता था। पर 'स्लेब' प्रणाली के अनुसार आय के कई भाग कर दिये जाते हैं और प्रत्येक बाद के भाग पर बढ़ी हुई दर से कर लगता है। इससे कर का भार निर्धन पर कम और धनवान पर ज्यादा पड़ता है। न्यूनतम आय की एक ऐसी सीमा निश्चित होती है जिस पर आयकर नहीं लगता। इस समय यह सीमा एक व्यक्ति के लिये ३६०० रु० और संयुक्त परिवार के लिये ७२०० रु० वार्षिक आय है। सन् १९४५-४६ में एक और सुधार यह किया गया था कि कमाई हुई आय और बिना कमाई हुई आय में भेद कर दिया गया था और कमाई हुई आय के $\frac{1}{5}$ भाग तक को—पर ४००० की अधिकतम मर्यादा के अन्तर्गत—कर से मुक्त कर दिया गया था। पर यह भेद वापस हटा दिया गया है। आयकर उन तमाम व्यक्तियों से जो भारत में रहते हैं वसूल किया जाता है और उस तमाम आय पर जो इन व्यक्तियों द्वारा भारत के अन्दर या बाहर कमाई गई है कर लगाया जाता है। जो व्यक्ति भारत में रहते नहीं हैं पर जो भारत में कमाई करते हैं उनकी इस कमाई पर भी आयकर लगता है। आयकर आय पैदा होने के स्थान पर ही वसूल हो जाता है। उदाहरण के लिये जब कर्मचारियों को वेतन दिया जाता है तो आयकर काट कर दिया जाता है। आयकर भारत सरकार और राज्यों में बँट जाता है, इस सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। आयकर से सम्बन्ध रखने वाला एक बड़ा प्रश्न यह है कि लोग आयकर की चोरी करते हैं। सरकार ने इस चोरी को रोकने के लिये कानून में सुधार किये हैं और आयकर विभाग के अधिकारियों को कई प्रकार के अधिकार भी दिये हैं। आयकर जाँच

कमीशन भी नियुक्त किया गया है जो काम कर रहा है। पर इन सब प्रयत्नों के बाद भी समस्या का हल नहीं हो सका है। ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष ७५ करोड़ रुपये की आयकर की चोरी हमारे देश में होती है।

आयकर कर की दृष्टि से अच्छा कर है। यह प्रत्यक्ष, लचीला, निश्चित और कम खर्च में वसूल होने वाला कर है।

आयकर में कई सुधार आवश्यक हैं—जैसे बच्चों की शिक्षा, चिकित्सा, आर्थिक दृष्टि से निर्भर लोगों की संख्या और वृद्धावस्था का आयकर की दृष्टि से लिहाज़ रखा जाना चाहिये। आयकर की चोरी रोकने के लिये और अधिक कड़ाई व्यवहार में लाना चाहिये और उसके लिये क़ानून में आवश्यक सुधार करना चाहिये।

पिछले वर्षों में भारत सरकार की आयकर से आय भी यथेष्ट मात्रा में बढ़ी है। युद्ध के पूर्व आयकर और निगम-कर से १५–१६ करोड़ रु० के आसपास आय होती थी। आज वह आय १२०–१३० करोड़ रुपये के आसपास है।

(३) निगम-कर (कारपोरेशन टेक्स)—निगम-कर वह कर होता है जो सीमित दायित्व वाली मिश्रित पूँजी की कम्पनियों पर इसलिये लगाया जाता है कि इन कम्पनियों को क़ानून से कुछ विशेष सुविधायें मिली हुई होती हैं जिनके कारण वे अधिक पूँजी इकट्ठी कर सकती हैं, और अधिक लाभ कमा सकती हैं। सब कम्पनियों को समान सुविधाएँ होने से समान कर देना होता है। इसलिये यह अनुपातिक कर है। भारत में सब कम्पनियों को यह कर देना होता है और कोई न्यूनतम सीमा कर नहीं देने की नहीं है। कम्पनियों के कुल असल मुनाफे पर यह कर लगता है। कम्पनियों पर लगने वाला एक तरह से 'सुपरटेक्स' ही निगम-कर है। इससे भारत सरकार को आजकल ३० करोड़ रुपये के आसपास आय होती है। आयकर की तरह राज्यों को इसमें कोई हिस्सा नहीं मिलता।

(४) अतिरिक्त लाभ-कर—जैसा कि इसके नाम से भी संकेत मिलता है, असाधारण लाभ पर ही अतिरिक्त लाभ-कर लगाया जाता है। इसीलिये यह एक स्थायी कर होता है जो युद्ध आदि समय में जब असाधारण लाभ होता है तब लगाया जाता है। अतिरिक्त लाभ की माप या तो किसी वर्ष विशेष से या लाभ की अमुक मात्रा से की जाती है। इस प्रकार का कर लगाना सर्वथा उचित है क्योंकि अतिरिक्त लाभ किसी के व्यक्तिगत परिश्रम का परिणाम न होकर परिस्थितियों का परिणाम होता है।

भारत में प्रथम महायुद्ध के समय १६१६ में अतिरिक्त लाभ-कर सबसे पहले लगाया गया था। १६२० में यह कर हट गया था। उस समय ५०% दर से कर लगा था। द्वितीय महायुद्ध के समय १६४० में फिर यह कर लगाया गया। कर की दर वही ५०% थी। ३०,००० वार्षिक से अधिक आय वालों से ही कर लिया जाता था और अमुक वर्ष विशेष के लाभ से अतिरिक्त लाभ की नाप की जाती थी। १६४१-४२ में कर की दर ६६$\frac{2}{3}$% करदी गई और शेष ३३$\frac{1}{3}$% पर आयकर और सुपरटेक्स लगता था। इतना कर दे देने के बाद अतिरिक्त लाभ का २०% व्यक्ति के पास रहता था। १६४२ में भारत सरकार ने अतिरिक्त लाभ-कर का १/५ अर्थात् अतिरिक्त लाभ का १३$\frac{1}{3}$% सरकार के पास जमा कराना अनिवार्य कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल ६$\frac{2}{3}$% अतिरिक्त लाभ का व्यक्ति के पास में बचता था। १६४४ में अनिवार्य जमा की दर और बढ़ा दी गई जिससे कि अतिरिक्त लाभ में से व्यक्ति के पास कुछ नहीं बचता था। यह अनिवार्य जमा की रक़म वापस की जाने को है। मार्च १६४६ में यह उठा लिया गया।

(५) व्यापार लाभ-कर--अतिरिक्त लाभ कर उठ जाने के बाद उसके स्थान पर, सन् १६४७-४८ के बजट में श्री लियाक़तअली खाँ ने फिर व्यापार लाभ-कर लगाया। यह भी असाधारण लाभ पर लगने वाला कर था। जो लोग १ लाख प्रति वर्ष से अधिक लाभ कमाते थे उन सब पर १६$\frac{2}{3}$% कर लगाया गया। १६४८-४६ में कर की दर १०%और न्यूनतम छूट की मर्यादा २ लाख रुपया कर दी गई। १६५०-५१ में यह कर बिल्कुल ही उठा लिया गया।

(६) पूँजीगत लाभ-कर--जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट होता है यह कर उस लाभ पर लगता है जो किसी चीज़ के मूल मूल्य (कॅपिटल वेल्यू) में वृद्धि हो जाने से उत्पन्न होता है। यह कर बिना कमाई हुई आय पर होने से इसे लगाना उचित है और अमेरिका, इङ्गलैंड आदि देशों में यह लगता है। श्री लियाक़तअली खाँ ने अपने १६४७-४८ के बजट में पहली बार भारत में यह कर लगाया। यह कर केवल उस पूँजीगत लाभ पर लगाया गया था जो कृषि भूमि को छोड़कर दूसरे पूँजीगत 'एसेट्स' के विनिमय या हस्तांतरण से, जो ३१ मार्च १६४६ के बाद किया गया हो, उत्पन्न हो। 'केपिटल एसेट' की परिभाषा से व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुएँ--जैसे ज़ेवर, फ़र्नीचर आदि या कच्चा माल या बिक्री के लिये रखा हुआ माल--अलग करदी गईं थी। कर की दर प्रगतिशील थी। सात साल या अधिक समय से यदि संपत्ति किसी के स्वामित्व में है तो उसके

बेचने पर कर नहीं लगता था। इसी प्रकार उत्तराधिकार में मिलने वाली सम्पत्ति भी कर से मुक्त थी। एक सीमा के बाहर पूँजीगत हानि को पूँजीगत लाभ में से कम करने की व्यवस्था भी थी। १६४६-५० में यह कर भी उठा लिया गया।

(७) संघीय उत्पादन-शुल्क—उत्पादन-शुल्क भारत सरकार और राज्य की सरकारें दोनों ही लगाती हैं। पर राज्य की सरकारें तो देशी शराब, भग, गांजा आदि जैसी वस्तुओं की बिक्री और उत्पादन पर यह शुल्क लगाती हैं और बाक़ी सब वस्तुओं पर भारत सरकार यह शुल्क लगाती है। भारत सरकार द्वारा लगाये गये शुल्क उत्पादन पर ही लगाये जाते हैं। इसलिये उत्पादन करने वाले से वह वसूल होता है और उत्पादन की यात्रा के साथ वह कम-ज़्यादा होता रहता है। भारत सरकार द्वारा मोटर स्पिरिट, केरोसीन, शकर, दियासलाई, इस्पात के टुकड़े, टायर, तम्बाकू, चाय, काफ़ी, सूती कपड़ा, और वनस्पति माल पर उत्पादन-शुल्क लगाया जाता है। इनमें कई चीजें आम लोगों के उपयोग की हैं। इससे उनका भार साधारण जनता पर पड़ता है। उत्पादन-शुल्क से भी भारत सरकार की आय काफ़ी बढ़ी है। जहाँ १६३७-३८ में उत्पादन लागत से ८ करोड़ से कुछ कम ही आय थी वहाँ १६५२-५३ के बजट में उत्पादन लागत से ८६ करोड़ के लगभग आय का अनुमान लगाया गया है।

(८) नमक-शुल्क—नमक-शुल्क से भारत सरकार को लगभग ८ करोड़ रुपये वार्षिक की आय होती थी। विदेश से जो नमक आता था उस पर भी आयात-शुल्क लगता था और हमारे देश में जो उत्पादन होता था उस पर भी उत्पादन-शुल्क लगता था। भारत में पैदा होने वाले नमक पर उत्पादन शुल्क लगाने के दो तरीके थे—(i) सरकार या तो स्वय उत्पादन करती थी या व्यक्तिगत उत्पादन करने वाले पर यह प्रतिबंध था कि वह सारा नमक सरकार को ही बेचे। भारत सरकार फिर उत्पादन शुल्क वसूल करके नमक बेचती थी। (ii) दूसरा तरीका यह था कि नमक पैदा करके बेचने का काम व्यक्तिगत तौर पर व्यापारी करते थे, पर सरकार उनसे उत्पादन शुल्क वसूल करती थी।

नमक शुल्क का देश में जब हम पराधीन थे बड़ा विरोध था क्योंकि इसका भार ग़रीब जनता पर था। जब १६४६ में भारत में अन्तरिम सरकार बनी तो श्री लियाक़तअली ख़ाँ ने १६४७-४८ के बजट में से इस शुल्क को १ अप्रैल १६४७ से बिल्कुल उठा लिया। पर आज इस बारे में बड़ा मतभेद है कि केवल भावना के आधार पर स्वतन्त्र भारत की सरकार को यह शुल्क उठा लेना चाहिये था क्या ? कई अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि भारत सरकार को ८ करोड़ रुपये की यह आय नहीं छोड़ना चाहिये। यहाँ यह ध्यान देने की बात है

कि यह कहना कि कर के मामले में भावना से विचार न करके ठोस आर्थिक आधार पर विचार करना चाहिये, सही नहीं है--न तात्कालिक दृष्टि से और न व्यवहार की दृष्टि से। मनुष्य का कोई व्यवहार ऐसा नहीं होता जो भावना के अंश से मुक्त हो। दूसरे, कर के सम्बन्ध में तो भावना का बड़ा महत्व रहता है। यह कहा जाता है कि जो कर पुराना हो जाता है और जिसे देने के लोग अभ्यस्त हो जाते हैं उस कर को लगाने में आपत्ति नहीं क्योंकि वह लोगों को अखरेगा नहीं। यह सिद्धान्त भावना पर आधारित नहीं है तो और किस पर है? और सब अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसलिये यह तो प्रश्न है नहीं कि भावना का लिहाज रखना बुरा है और वह नहीं रखा जाना चाहिये; प्रश्न तो यह है कि सारी स्थिति को देखकर इस सवाल के बारे में भावना की कितनी क़ीमत होना चाहिये, इस बारे में थोड़ा विचार करना चाहिये।

नमक-शुल्क के पक्ष में दो दलीलें हैं--(i) एक तो यह कि नमक-शुल्क के हटने से सरकार को ८ करोड़ की आय की हानि हो गई; (ii) दूसरी यह कि किसी भी देश की कर-व्यवस्था में आखिर ऐसे कर भी रहते हैं और रहने चाहिये जो ग़रीब से ग़रीब लोगों पर भी पड़ें। नागरिकता के भाव को जागृत करने में और शासन में अपना दायित्व अनुभव करने में प्रत्येक व्यक्ति को इससे सहायता मिलती है और प्रत्येक व्यक्ति से जो कर वसूल होता है वह कितना ही कम हो कुल मिलाकर उसकी मात्रा पर्याप्त हो जाती है। जहाँ तक इन दलीलों का अपने आप से सम्बन्ध है वे ठीक हैं। पर जिस आधार और दृष्टिकोण पर ये दलीलें आधारित हैं उस आधार और दृष्टिकोण को पूरा करने वाले कर और भी हो सकते हैं। केवल नमक ही ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रत्येक व्यक्ति काम में लाता है। और भी ऐसी कई चीजें हैं। कपड़ा उनमें से एक है। बल्कि नमक से कपड़ा एक प्रकार से ज्यादा उपयुक्त है। नमक पशुओं के लिये भी बहुत उपयोगी और आवश्यक पदार्थ है। इसका सार यह है कि नमक-शुल्क से होने वाली आय का घाटा और तरह से समान कोटि के करों से और एक या अधिक करों से पूरा हो सकता है। इधर नमक-शुल्क को दुबारा नहीं लगाने के पक्ष में एक दूसरी बड़ी दलील है। वह दलील यह है कि नमक-शुल्क का देश के स्वतंत्रता-संग्राम से घनिष्ठ लाक्षणिक और भावात्मक सम्बन्ध रहा है। महात्मा गांधी का नमक सत्याग्रह इस देश की आज़ादी में अपना गौरवमय स्थान रखता है। हमें इस ऐतिहासिक घटना को चिरस्थायी बनाना चाहिये। आने वाली असंख्य पीढ़ियों और अनन्त काल तक यह बात घर-घर में और व्यक्ति-व्यक्ति को याद रहे कि भारत से नमक-कर उस समय हटा था जब भारत ने एक अपूर्व ढंग से महात्मा गांधी के अपूर्व नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त की थी।

(९) व्यापारिक विभागों से आय—रेल—भारत सरकार को रेल्वे, डाक और तार, तथा टंकन और मुद्रा से भी आय होती है। रेल से होने वाली आय के बारे में यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। यातायात वाले परिच्छेद में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। यहाँ तो इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि रेल अपना पूरा का पूरा लाभ भारत सरकार को न देकर एक समझौते के अनुसार निश्चित रक़म भारत सरकार को देती हैं। १९२४ में यह समझौता सबसे पहली बार हुआ। समय समय पर उसमें संशोधन हुये। इस समय १९४० में जो संशोधन हुआ उसके आधार पर रेलें भारत सरकार को निश्चित रकम में अंशदान देती हैं। इस समझौते के अनुसार पाँच साल तक ऋण पूंजी जो रेलो में लगी हुई है उस पर ४% रेलें भारत सरकार को देती रहेंगी। युद्ध के समय में भारत सरकार को रेलों से बहुत आय हुई। जहाँ १९३९-४० में यह आय ४ करोड़ रुपये की थी वहाँ १९४२ में १२ करोड़ रुपये से ऊपर और १९४५-४६ में ३२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। उसके बाद इस आय में बहुत कमी आगई और अब ६-७ करोड़ रुपये के आसपास यह है। सरकार को इसके अलावा पूंजी पर ४% डिविडेंड मिलता है। इस प्रकार कुल मिला कर रेलवे से ३३-३४ करोड़ रुपया सरकार को मिल जाता है।

डाक और तार—इस विभाग से भी लड़ाई के दिनो में आय बढ़ी। १९३९-४० में १ करोड़ रु० के लगभग इसकी आय थी वह १९४२-४३ में ८ करोड़ रु० से ऊपर और १९४५-४६ में ११ करोड़ से ऊपर पहुँच गई। इस समय यह आय २-३ करोड़ रुपये के आसपास होती है।

टंकन और मुद्रा—इस मद में आय के दो साधन हैं—एक तो भारत सरकार रुपये और रेज़गी का टंकन करती है उससे, और दूसरे रिज़र्व बैंक से। जब से रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से उससे होने वाली आय भी बढ़ गई है। द्वितीय युद्ध काल में इस मद की आय भी बढ़ गई थी। अब फिर कम होगई है। टंकन और रिज़र्व बैंक से मिलाकर १०-१२ करोड़ रुपये की आय इस समय है। इस में परिवर्तन होता रहता है।

(१०) आय के अन्य साधन—भारत सरकार की आय के महत्वपूर्ण मदों का ऊपर उल्लेख किया गया है। पर इनके अलावा उसकी आय के कुछ अन्य मद भी हैं—जैसे अफ़ीम, ब्याज, 'सिविल एडमिनिस्ट्रेशन', 'सिविल वर्क्स', आदि। यहा अफ़ीम से होने वाली आय के बारे में दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। अफ़ीम के उत्पादन और वितरण दोनों ही पर भारत सरकार का एकाधिकार है। सरकार से लाइसेंस मिलने पर ही अफ़ीम की खेती की जा सकती है जो पैदा करने के बाद

सरकार को ही बेचना होता है। सरकारी कारखानों में वह तैयार की जाती है। अफ़ीम को बेचने से, अफ़ीम पर लगने वाले निर्यात-शुल्क से और अफ़ीम बेचने वालों के बेचने के अधिकार प्राप्त करने के लिये जो फ़ीस देनी होती है उससे, जो आय होती है वह सरकार को मिलती है। पर अफ़ीम की आय का प्रधान भाग निर्यात-शुल्क से ही आता है। जो अफ़ीम बेचने वालों द्वारा दी गई फ़ीस से आय होती है वह उत्पादन शुल्क की श्रेणी में और शेष आय अफ़ीम शीर्षक से ही बजट में दिखाई जाती है। भारत से चीन को पहले बहुत अफ़ीम जाती थी। पर १९०७ में भारत सरकार और चीन की सरकार में यह समझौता हुआ कि धीरे-धीरे भारत चीन को अफ़ीम भेजना कम कर देगा और दस वर्ष में बिल्कुल बंद कर देगा। बाद में राष्ट्र संघ ने भी इस प्रश्न को हाथ में लिया और १९२६ में राष्ट्र संघ के कहने के अनुसार भारत सरकार ने यह घोषणा की कि ३१ दिसंबर १९३५ तक अफ़ीम का निर्यात औषधि और वैज्ञानिक उपयोग के अलावा अन्य प्रकार के उपयोग के लिये बन्द कर दिया जायगा। इस घोषणा के अनुसार अब अफ़ीम का निर्यात बहुत कम होता है। इस समय अफ़ीम से २ करोड़ व ३ करोड़ रुपये के बीच में आय होती है। ब्याज से २ करोड़ से कुछ कम, सिविल एडमिनिस्ट्रेशन से ८ करोड़ के आसपास और सिविल वर्क्स से १½ करोड़ के आसपास आय होती है।

भारत सरकार का व्यय—किसी देश की वित्त व्यवस्था में सार्वजनिक व्यय का बहुत महत्व होता है। किसी हद तक वित्त व्यवस्था का स्वरूप ही इससे निश्चित होता है कि सार्वजनिक व्यय किस प्रकार होता है। भारत सरकार के व्यय को तीन बड़े भागों में बांटा जा सकता है:—रक्षा व्यय, राजस्व एकत्रित करने सम्बन्धी व्यय और नागरिक व्यय।

(१) **रक्षा व्यय**—भारत सरकार के कुल व्यय का एक बड़ा भाग रक्षा पर खर्च होता है। पराधीनता के समय हमारे देश में रक्षा पर जो बड़ा भारी व्यय होता था उसका एक कारण तो यह था कि भारत ब्रिटेन के पूर्वी साम्राज्य की रक्षा का केन्द्र माना जाता था, सेना में विदेशी अधिकारियों की संख्या बहुत थी और उनके वेतन तथा दूसरी आवश्यकताओं पर बहुत व्यय होता था। द्वितीय महायुद्ध के समय तो यह व्यय बहुत ही बढ़ गया। उसके बाद इस खर्च में कमी आई। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो लोगों के मन में स्वाभाविक रूप से यह आशा हुई कि रक्षा व्यय अब कम होगा। पर हुआ इसके विपरीत। स्वतन्त्रता के बाद से रक्षा व्यय बराबर बढ़ता ही गया है। पुरानी रियासतों का रक्षा व्यय भी अब भारत सरकार के पास आ गया है। काश्मीर के झगड़े के कारण व्यय बहुत हो रहा है। सैनिक शिक्षा पर हमें व्यय बढ़ाना पड़ा है क्योंकि हमारे नवयुवकों

को सैनिक शिक्षा देने की व्यवस्था हमारे देश में होना आवश्यक है। संसार में संघर्ष की स्थिति का बना रहना भी एक कारण है। निकट भविष्य में देश का रक्षा व्यय कम हो इसकी आशा नहीं की जा सकती। इस समय रक्षा पर कुल व्यय का लगभग आधा खर्च होता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रक्षा व्यय ५० करोड़ के आसपास था। युद्ध में ४५० करोड़ से ऊपर यह व्यय पहुँच गया। उसके बाद उस में कमी आने लगी और १९४७-४८ में १५ अगस्त १९४७ से ३१ मार्च १९४८ तक का ८७ करोड़ रुपये के लगभग ख़र्च था। १९५२-५३ के बजट में १९८ करोड़ से ऊपर इस ख़र्च का अनुमान लगाया गया है।

(२) राजस्व संग्रह पर होने वाला व्यय—भारत सरकार को करों को वसूल करने के लिये व्यवस्था रखनी होती है। आयकर, निगमकर, उत्पादन-शुल्क, सीमा-शुल्क आदि भारत सरकार ही वसूल करती है। आयकर, निगम-कर के लिये आयकर विभाग है। इसी प्रकार सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क आदि के लिये भी अलग-अलग व्यवस्था है। इस सारी व्यवस्था पर जो व्यय होता है उसे संघीय राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग का नाम दिया जाता है और उसकी रक्षा व्यय या नागरिक शासन व्यय से अलग स्वीकृति लेनी होती है। इस व्यय में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। १९४४-४५ में यह व्यय ८ करोड़ के आसपास था। १९५२-५३ के बजट में इस व्यय का १६ करोड़ के लगभग का अनुमान लगाया गया है। इस व्यय में कमी करने की आवश्यकता है।

(३) नागरिक शासन व्यय—इस श्रेणी में मूलतः दो प्रकार के ख़र्च आते हैं। एक तो वह व्यय जिसका संबंध सामान्य शासन संचालन से है—इसमें सामान्य शासन, विदेशों से संबंध, न्याय, पुलिस, जेल, प्रकाशन, विस्थापितों पर होने वाला व्यय, राज्यों को सहायता और खाद्यान्न पर दी जाने वाली सहायता का खर्च, आदि आते हैं। दूसरा वह व्यय है जिसका संबंध शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, वैज्ञानिक खोज आदि ऐसे विभागों से है जो जनता के हित और भलाई से संबंध रखते हैं। भारत सरकार का यह खर्च भी बराबर बढ़ता गया है। पर इसमें शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य पर आज भी जितना व्यय होता है वह बहुत कम है। इसके विपरीत जो सामान्य शासन संचालन का खर्च है उसमें कमी करने की ज़रूरत है। १९५१-५२ के प्रस्तुत बजट में ५.५३ करोड़ रुपये की किफ़ायत भारत सरकार द्वारा की गई थी। इस विषय में विचार करने के लिये सितंबर १९४७ में भारत सरकार ने एक 'इकोनोमी कमेटी' भी नियुक्त की थी। इस कमेटी ने भी खर्च में कमी करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। इस संबन्ध में भारत के वित्त मंत्री ने १९५१-५२ के प्रस्तावित बजट पर

बोलते हुए कहा था कि नागरिक व्यय में जिनमें कर संग्रह का व्यय भी शामिल कर लिया गया है कमी की गुंजाइश सीमित है। लगभग २०० करोड़ रुपये के कुल नागरिक व्यय में से १०८ करोड़ रु० का व्यय तो ऐसा बताया गया जो अनिवार्य रूप से करना ही होगा जैसे ब्याज, ऋण का चुकारा, पेंशन, राज्यों को निश्चित सहायता, विभाजन-पूर्व संबन्धी देना, अधिक अन्न उपजाओ तथा खाद्यान्न सहायता पर व्यय, और विस्थापितों पर होने वाला खर्च। वित्त मंत्री ने कहा कि इसका अर्थ यह है कि कुल खर्च में केवल ९२ करोड़ रुपये का खर्च ऐसा है जिसमें किफायत करने का प्रयत्न हो सकता है। वित्त मंत्री ने यह भी कहा कि इसमें भी राष्ट्र निर्माण के विभागों तथा कर-संग्रह आदि का ऐसा व्यय है जो बहुत कम नहीं हो सकता। वित्त मंत्री के कहने का सार यह था कि किफायत से बहुत आशा करना व्यर्थ है। वित्त मंत्री का यह दृष्टिकोण सही नहीं है। सन् १९५१ में 'एस्टीमेट्स कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट में कई प्रकार के अपव्यय और सरलीकरण के अभाव का उल्लेख किया है। सरकारी कर्मचारियों की संख्या पहले से अब कई गुनी हो गई है। सारांश यह है कि भारत सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, वैज्ञानिक विभागों जैसे राष्ट्र-निर्माणकारी कामों पर अधिक खर्च करने की और शासन संचालन के दूसरे खर्चे कम करने की बड़ी ज़रूरत है। यह ठीक है कि पिछले वर्षों में शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा और वैज्ञानिक विभागों पर भी व्यय बढ़ा है पर उसमें आवश्यकता को देखते हुए वृद्धि की बहुत गुंजाइश है। १९४६-४७ में १½ करोड़ रुपये की तुलना में १९५०-५१ में ५ करोड़ से ज्यादा वैज्ञानिक विभागों का, १९४६-४७ में ८५ लाख की तुलना में ३ करोड़ के लगभग १९५०-५१ में शिक्षा का, १९४६-४७ में ५० लाख की तुलना में ८३ लाख तक १९५०-५१ में स्वास्थ्य का और १९४६-४७ में ५४ लाख की तुलना में १ करोड़ ३७ लाख तक १९५०-५१ में चिकित्सा का खर्च का बजट में अनुमान लगाया गया था।

(४) पूँजीगत व्यय—भारत सरकार इस सामान्य व्यय के अतिरिक्त पूँजीगत व्यय भी करती है जिसका उल्लेख ऊपर पूँजी बजट के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण—भारत सरकार की आय और व्यय का विचार कर लेने के बाद सार्वजनिक ऋण का विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रत्येक राज्य को समय-समय पर अपना खर्च चलाने के लिये उधार लेना होता है। यह खर्च प्रायः विशेष प्रकार का होता है—जैसे, युद्ध सम्बन्धी या

किसी निर्माण कार्य सम्बन्धी। पर कभी-कभी चालू खर्च को चलाने के लिये भी ऋण लेना होता है। जो विशेष खर्च के लिये ऋण लिये जाते हैं वे अल्प-कालीन ऋण होते हैं। जो ऋण एक वर्ष बाद चुकाने होते हैं या जिनको चुकाने का समय निश्चित होता है उन्हें 'फन्डेड डेट' कहते हैं। जो ऋण साल भर के अन्दर-अन्दर चुका दिये जाते हैं उन्हें 'अनफन्डेड डेट' कहते हैं। ट्रेजरी बौन्ड द्वारा लिया हुआ ऋण दूसरे प्रकार का ही होता है। सार्वजनिक ऋण अन्तर्देशीय और विदेशीय दोनों ही प्रकार के होते हैं। जो देश के अन्दर जारी किये जाते हैं वे अन्तर्देशीय और जो विदेशों में जारी किये जाते हैं वे विदेशीय होते हैं।

भारत सरकार के ऋण के सम्बन्ध में विचार करने से हमें मालूम पड़ता है कि उसमें भी उपरोक्त भेद मौजूद है। रुपया ऋण भी है और स्टरलिंग ऋण भी है जो भारत सरकार को चुकाना है। पर गत महायुद्ध के समय में स्टरलिंग ऋण प्रायः समाप्त सा हो गया। १९३९ की ३१ मार्च को भारत सरकार पर रुपया ऋण ७०९·९६ करोड़ रुपये का, और स्टरलिंग ऋण ४६९·१० करोड़ रुपये का और इस प्रकार कुल ११७९·०६ करोड़ रुपये का ऋण था। द्वितीय महायुद्ध के समय रुपया ऋण तो बढ़ता गया और स्टरलिंग ऋण कम होता गया। ३१ मार्च, १९४५ को रुपया ऋण की मात्रा १५७१·४२ करोड़ रुपये पर पहुँच गई। इसके विपरीत स्टरलिंग ऋण की मात्रा घट कर ३८·१३ करोड़ रुपये पर आ गई। (इस स्टरलिंग ऋण में रेल्वे एन्यूटीज़ शामिल नहीं है।) युद्ध के बाद भी यही प्रवृत्ति जारी रही है। ३१ मार्च, १९४९ को कुल रुपया ऋण की मात्रा २३७७·८२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी और स्टरलिंग ऋण की मात्रा २९·९८ करोड़ रुपये तक आ गई। हाल में १९५१-५२ के बजट को लेकर जो तुलनात्मक आंकड़े प्रकाशित हुये हैं (कॉमर्सः ३ मार्च, १९५१ पृष्ठ ४१२) उनके अनुसार ३१ मार्च १९३९ को रुपया ऋण ४८४·८२ करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण ४६४·९५ करोड़ रुपये का और कुल ऋण ९४९·७७ करोड़ रुपये का था। इसकी तुलना में ३१ मार्च, १९५१ को रुपया ऋण २०३१·०१ करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण ३३ करोड़ रुपये का और डालर ऋण २४·६० करोड़ रुपये का, और कुल ऋण २०८८·६१ करोड़ रुपये का आंका गया था। ३१ मार्च १९५२ को रुपया ऋण १९५४·७१ करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण ३०·४८ करोड़ रुपये का और डालर ऋण ११२·०४ करोड़ रुपये का और कुल ऋण २०९७·२३ करोड़ रुपये का आंका गया है, तथा ३१ मार्च १९५३ को रुपया ऋण १९७३·२६ करोड़ रुपये का, स्टरलिंग ऋण २७·३४ करोड़ रुपये का और डालर ऋण १११·९४ करोड़ रुपये का और कुल ऋण २११२·५४

करोड़ रुपये का आंका गया है। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन मार्च १६५२ पृष्ठ १८७) उपरोक्त स्टरलिंग ऋण में से ब्रिटिश वारलोन की अदायगी स्थगित है और रेलवे एन्यूटीज़ के एवज़ में ब्रिटिश सरकार के पास इकट्ठी रक़म जमा है ताकि वह जैसे जैसे एन्यूटी को चुकाने की ज़रूरत हो स्टरलिंग देती जायगी। इन दोनों रक़मों को कम कर देने पर भारत सरकार का कुल ऋण मार्च १६५२ के अन्त में २०६८ करोड़ और मार्च १६५३ के अन्त में २०८६ करोड़ रुपये का ही रह जाता है। इसके अलावा भारत सरकार को पोस्ट आफिस सेविंग्ज़, कैश सर्टिफ़िकेट्स, प्रोविडेन्ट फन्ड, डिप्रीसियेशन और रिज़र्व फन्ड और कुछ दूसरे डिपोज़िट्स भी चुकाने हैं। ऐसा अनुमान है कि ३१ मार्च १६५२ को यह सारी रक़म ७३७ करोड़ रुपये के लगभग और ३१ मार्च १६५३ को ७७६ करोड़ रुपये के लगभग (पाकिस्तान का हिस्सा निकाल कर) होगी। १६५२-५३ के बजट के अनुसार 'स्माल सेविंग्ज़' की मद में ४१७·१४ करोड़ रुपये का ऋण था। इस मद में पोस्ट ऑफ़िस कैश सर्टिफ़िकेट, सेविंग्ज़ बैंक डिपॉज़िट, डिफ़ेंस सेविंग्ज़ सर्टिफ़िकेट, डिफ़ेंस सेविंग्ज़ बैंक डिपॉज़िट्स, नेशनल सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट और दशवर्षीय ट्रेजरी सेविंग्ज़ डिपॉजिट सर्टिफिकेट शामिल हैं।

रुपया ऋण और स्टरलिंग ऋण के बारे में एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि सारा रुपया ऋण भारतीयों के पास हो और सारा स्टरलिंग या डालर ऋण विदेशियों के पास हो, हालांकि प्राय: ऐसा ही होता है।

भारत सरकार के ऋण के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि सब का सब ही ऋण ऐसा नहीं होता जिस पर भारत सरकार को ब्याज देना पड़ता हो। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मार्च १६५२ के अन्त में २६२० करोड़ और मार्च १६५३ के अन्त में २६७६ करोड़ रुपये का ऐसा ऋण होने का अनुमान है जिस पर ब्याज देना होगा। इन रक़मों में अल्पकालिक ऋण (अनफन्डेड डेट) और जमा भी शामिल हैं और भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपने हिस्से की रुपया-पूँजी चुकाने को जो विशेष फ्लोटिंग ऋण लिया वह शामिल नहीं है और जिस ऋण का समय पूरा हो चुका वह भी शामिल नहीं है। भारत सरकार के ऋण के मुकाबले में १६५२-५३ मार्च के अन्त में सरकार के पास १६५५ करोड़ के ब्याज देने वाले एसेट्स और १४२ करोड़ की नक़द और प्रतिभूतियां होने का अनुमान है।

भारत सरकार के ऋण के सम्बन्ध में एक और जानने योग्य बात यह है कि इसमें अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋण शामिल हैं।

अल्पकालीन ऋण का प्रमुख साधन ट्रेज़री बिल्स हैं। ये बिल सबसे पहले १९१७ में जारी किये गये थे और इनकी अवधि २ से १२ महीने तक की होती है, पर ३ महीने के ट्रेज़री बिल बहुत प्रचलित हैं। रिज़र्व बैंक से ली जाने वाली हवालगी भी इसी श्रेणी में आती है। अल्पकालीन ऋण का तीसरा मुख्य साधन 'ट्रेज़री डिपोज़िट रिसीट' का है। ये १५ अक्टूबर १९४८ को सबसे पहले जारी की गई थीं। इनका उद्देश्य संस्थाओं के लिये अल्पकालीन विनियोग का साधन प्रदान करना है और इसलिये यह २५,००० रुपये से कम रक़म की नहीं होतीं। इनकी अवधि छः, नौ, बारह महीना होती है और यह हस्तांतरित नहीं की जा सकतीं। द्वितीय महायुद्ध के समय भारत सरकार के अल्प-कालीन ऋण की मात्रा बढ़ गई थी। ३१ मार्च, १९३९ को अल्पकालीन ऋण की मात्रा ४६·३० करोड़ रुपये थी जो कुल ऋण का ६·५ प्रतिशत होता था। ३१ मार्च, १९४३ को इसकी मात्रा २६४·७० करोड़ रुपये तक पहुँच गई जो कुल ऋण का २१·९ प्रतिशत था। १९४८ से फिर इस ऋण की मात्रा बढ़ने लगी है। ३१ मार्च, १९४९ को इसकी मात्रा ३५४·३६ करोड़ रुपये की थी। ३१ मार्च १९५१ को ३७३·२० करोड़ रुपये तक इसके पहुँचने का अनुमान था। ३१ मार्च १९५२ और १९५३ को इसकी मात्रा ३३५·०१ करोड़ रुपये होने का अनुमान है।

भारत सरकार के ऋण के वर्गीकरण का एक अन्य आधार उत्पादक और अनुत्पादक ऋण का है। बहुत सा ऋण रेल, डाक-तार और सिंचाई जैसे उत्पादक कामों के लिये लिया गया है। भारत सरकार ने १८६० से उत्पादक कामों के लिये ऋण लेना आरम्भ किया और उत्पादक ऋण की मात्रा तब से बराबर बढ़ती गई। १८९९ से १९१३ के बीच में उत्पादक ऋण १०६·९ करोड़ रुपये से बढ़कर ३६१·९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसी समय में अनुत्पादक ऋण १००·८ करोड़ रुपये से घटते घटते १९·१ करोड़ पर आ गया। १९१५ में इसकी मात्रा केवल ३ करोड़ रुपये रह गई। पर प्रथम महायुद्ध आरंभ हो जाने से अनुत्पादक ऋण में फिर वृद्धि होने लगी। १९२४ में अनुत्पादक ऋण २०४·९५ करोड़ रुपये तक पहुँच गया और उत्पादक ऋण ५७८·३९ करोड़ रुपये का था। व्यापारिक मंदी के कारण, जो १९३९ में आरम्भ हुई, अनुत्पादक ऋण की मात्रा और बढ़ी क्योंकि बजट के घाटों की इसी प्रकार पूर्ति की जा सकती थी। १९३८-३९ में अनुत्पादक ऋण की मात्रा २०९ करोड़ तक पहुच गई। द्वितीय महायुद्ध के समय अनुत्पादक ऋण की मात्रा में फिर वृद्धि हुई। अनुत्पादक ऋण की वर्तमान स्थिति के बारे में यह अनुमान है कि वह १९५३ के

मार्च ३१ को ३३१ करोड़ रुपया होगा। पर इस सारे ऋण को अनुत्पादक मानना ठीक नहीं होगा क्योंकि इसमें राज्यों को विकास के लिये दिया हुआ ऋण और केन्द्रीय सरकार की संपत्ति पर किया गया व्यय (दिल्ली राजधानी के निर्माण में किया गया खर्च) भी शामिल है।

भारत सरकार के सार्वजनिक ऋण के बारे में अन्तिम बात ध्यान में रखने की यह है कि इस ऋण का आरंभ ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिये ही हुआ था। जब देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य था उसी समय हमारे सार्वजनिक ऋण का आरम्भ हो गया था। यह ऋण प्रायः उन लड़ाइयों के लिये लिया गया था जो कम्पनी ने भारतीय राजाओं, नवाबों और दूसरी विदेशी शक्तियों से भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड़ी थीं। जब १८३४ में कम्पनी के स्वतन्त्र नियंत्रण से ब्रिटिश पार्लियामेंट के नियंत्रण में भारत का शासन आ गया तो कम्पनी का सारा ऋण भारत का ऋण मान लिया गया। इस प्रकार कम्पनी का ३·४ करोड़ पौंड का ऋण भारत के सिर पर लाद दिया गया। इसके बाद भी कई लड़ाइयाँ हुईं, १८५७ का विद्रोह दबाया गया और इस सबके लिये जो ऋण लिया गया वह भारत के सिर पर पड़ा। जब कम्पनी से ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारत का शासन आया तो सारा ऋण भी भारत पर बना रहा। १८५७ के विद्रोह के बाद १८६० में भारत पर ६·३ करोड़ पौंड का ऋण था। यह सब अनुत्पादक ऋण था। भारत को पराधीन बनाने में इसका उपयोग किया गया था और भारत को ही इसका देनदार बनाया गया था। भारत के सार्वजनिक ऋण की इस प्रारम्भिक स्थिति को भारत के सार्वजनिक ऋण पर विचार करते समय हम भूल नहीं सकते।

ऋण का चुकारा—ऋण से सम्बन्ध रखने वाली एक समस्या उसे चुकाने की है। १९२४ तक इस सम्बन्ध में भारत सरकार के पास कोई निश्चित योजना नहीं थी। बजट की बचत जब होती थी तो वह ऋण चुकाने के काम में ली जाती थी। इसके अलावा रेल्वे एन्यूटीज़ और सिंकिंग फंड द्वारा भी ऋण चुकाने का प्रयत्न किया गया। फेमीन इन्श्योरेंस फंड का भी इसके लिये उपयोग किया गया। पर १९२४ में तत्कालिक वित्त सदस्य सर बेसिल ब्लेकेट ने एक योजना सिंकिंग फंड कायम करने की जारी की। १९३३-३४ में जब व्यापारिक मंदी के कारण भारत सरकार की स्थिति डांवाडोल हो गई तो सिंकिंग फन्ड में १९२४ की योजना के अन्तर्गत रुपया जमा करना संभव नहीं मालूम पड़ा। इसलिये योजना स्थगित करदी गई। यद्यपि सिंकिंग फंड में कोई रुपया नहीं जमा किया गया पर ऋण के चुकारे के लिये ३ करोड़ रुपया बजट में रखा गया। अभी

तक भी यही प्रणाली चल रही है। केवल इतना अन्तर अवश्य हुआ है कि द्वितीय महायुद्ध के कारण ऋण बढ़ जाने से ३ करोड़ रुपये की जगह १९४६-४७ से ५ करोड़ रुपये ऋण चुकाने के लिये बजट में रखे जाने लगे हैं।

स्टरलिंग ऋण का 'रिपेट्रियेशन'—यह हम लिख चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध के पहले तक भारत के ऋण में स्टरलिंग ऋण का काफी बड़ा अंश था। १९३७ में ही भारत सरकार ने स्टरलिंग ऋण को 'रिपेट्रियेट' (चुकारा) करना आरम्भ कर दिया था। 'रिपेट्रियेट' करने का अर्थ है स्टरलिंग ऋण को चुका देना। पर एक बार तो स्टरलिंग की कमी के कारण यह कार्य रोक दिया गया। जब द्वितीय महायुद्ध के समय स्टरलिंग जमा होने लगे तो स्टरलिंग चुकाने का कार्य-क्रम भारत सरकार ने फिर आरम्भ कर दिया। स्टरलिंग को चुकाने के लिये कई योजनाएँ बनाई गईं; जैसे खुले बाजार में स्टरलिंग ऋण खरीदने की योजना, लाइसेंस योजना, अनिवार्य प्राप्ति योजना, स्वेच्छा से स्टरलिंग ऋण को रुपया ऋण में बदलने की योजना, रेलवे 'एन्यूटीज़' को दीर्घकालीन ऋण में बदलने और रेल्वे डिबेंचर स्टाक को चुकाने की योजना। इन विभिन्न योजनाओं के विस्तार में गये बिना इतना जान लेना काफी होगा कि १९३६-३७ के अन्त में कुल ३५६·०५ मिलियन पौंड भारत सरकार को स्टरलिंग में देना था। इस ३५६·०५ मिलियन पौंड के स्टरलिंग देने में २९१·५३ मिलियन पौंड के ऋण, ३९·८६ मिलियन पौंड की रेलवे एन्यूटीज़ और २४·६६ मिलियन पौंड के रेलवे डिबेंचर थे। १९३७-३८ से १९४४-४५ तक कुल ३२२·८४ मिलियन पौंड के स्टरलिंग ऋण का चुकारा किया गया जो रुपयों में ४३०·४६ करोड़ का होता है। पर इस रकम में १ अक्टूबर १९४२ तक रेलवे एन्यूटीज़ के रूप में जो चुकारा किया गया था वह और रेलवे डिबेंचर्स जो ईस्ट इन्डिया लोन्स एक्ट १९३७ के मातहत खारिज कर दिये गये थे वह भी शामिल हैं। ४३०·४६ करोड़ रुपये के बराबर के स्टरलिंग के इस चुकारे में ११९·८७ करोड़ के टर्मिनेबल स्टाक और २३१·३४ करोड़ के नॉन-टर्मिनेबल स्टाक थे, ३६·०८ की रेलवे एन्यूटीज और ४३·१७ करोड़ के रेलवे डिबेंचर थे। १९३६-३७ के २९१·५३ मिलियन पौंड के स्टरलिंग ऋण के मुकाबले में इस चुकारे के फलस्वरूप १९४४-४५ के अन्त में १० मिलियन पौंड का स्टरलिंग ऋण रह गया। इसमें १५·४७ मिलियन पौंड का 'वार लोन' शामिल नहीं था क्योंकि १९३१ से ही वह स्थगित है। स्टरलिंग देनदारी के चुकारे के बारे में दूसरी याद रखने की बात यह है कि यह नहीं समझना चाहिये कि जितनी स्टरलिंग देनदारी चुकादी गई उतनी कुल देनदारी भारत सरकार की कम हो गई। वास्तव में ऐसा नहीं हुआ क्योंकि एक ओर भारत सरकार ने अपने

पर की स्टरलिंग की देनदारी चुकाई तो दूसरी ओर किसी हद तक उसने उसके एवज़ में रुपया प्रतिभूति (रूपी काउन्टरपार्ट) जारी भी की। इसलिये वास्तव में १६१·६७ करोड़ रुपये की स्टरलिंग देनदारी इस समय में कम हुई थी और २४२·०१ करोड़ रुपये का रुपया ऋण बढ़ गया था। इस २४२·०१ करोड़ रुपये के रुपये ऋण में ३·५२ करोड़ रुपये का रुपया ऋण ऐसे स्टरलिंग ऋण के कारण बढ़ा था जो ४३०·४६ करोड़ रुपये के उपरोक्त स्टरलिंग ऋण में शामिल नहीं था। इसलिये उपरोक्त स्टरलिंग ऋण में से केवल २३८·४६ (२४२ ०१ – ३·५२) करोड़ रुपये का रुपया ऋण नया जारी किया गया और १६१·६७ करोड़ रुपये का स्टरलिंग ऋण चुकाया गया, और इस प्रकार कुल २३८·४६ + १६१·६७ = ४३० ४६ करोड़ रुपये की स्टरलिंग देनदारी अदा की गई। इस सबका सार यह है कि स्टरलिंग देनदारी चुकाने के लिये सरकार को जो स्टरलिंग चाहिये था वह तो जो स्टरलिंग युद्ध के समय जमा हो रहा था उसमें से सरकार को रिज़र्व बैंक ने दे दिया पर उसके एवज़ में सरकार ने या तो रुपया ऋण जारी करके चुकारा किया या फिर बाकी का चुकारा अपनी रोकड़ में से या अस्थायी ट्रेजरी बिल जारी करके किया। इस प्रकार १६४४-४५ तक भारत सरकार ने अपनी स्टरलिंग देनदारी का चुकारा प्रायः समाप्त कर दिया था। इसके बाद स्टरलिंग रिपेट्रियेशन केवल उन स्टाकों का जारी रहा है जो पहले चुकारे के लिये नहीं पेश किये गये थे। १६४६-५० तक ३२८·७६ मिलियन पौंड स्टरलिंग ऋण का ४३७·५३ करोड़ रुपये की लागत पर चुकारा हो चुका था।

देश का विभाजन और सार्वजनिक ऋण—१७ अगस्त १६४७ को देश का विभाजन हुआ। विभाजन के कारण देश के 'एसेट्स' और 'लाइबिलिटीज़' का विभाजन भी किया गया। दिसंबर १६४७ में भारत और पाकिस्तान में एक समझौता हुआ। इस १६४७ के भारत-पाकिस्तान वित्त समझौते में सार्वजनिक ऋण के बारे में हुये समझौते का समावेश भी था। इस समझौते के अनुसार सार्वजनिक ऋण में पाकिस्तान का हिस्सा पाकिस्तान में जो एसेट्स हैं या जो पाकिस्तान सरकार ने ले लिये हैं उनके मूल्य में अविभाजित भारत की लाइबिलिटीज़ में से एसेट् कम करने पर जो ऋण बच जाता है उसका १७½% जोड़ देने पर और इस जोड़ में से पाकिस्तान सरकार ने जो लाइबिलिटीज़ लेली हैं उनको कम करने पर जो बच जाता है उसके बराबर तय किया गया है। ऐसा अनुमान किया गया है कि इस आधार पर पाकिस्तान को ३०० करोड़ रुपया भारत को ऋण के रूप में देना होगा। पाकिस्तान सरकार १५ अगस्त १६५२ से आरम्भ करके बराबर की ५० वार्षिक किश्तों में मूल ऋण और उस पर ३% व्याज दोनों ही रकमों का एक साथ चुकारा करेगी।

मुद्रा बाजार में ऋण मिलने में कठिनाई—पिछले कुछ वर्षों से भारत के

मुद्रा बाज़ार में एक प्रवृत्ति यह देखने में आई है कि सरकार को अपनी आवश्यकता के अनुसार ऋण प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल रही है। १९४७-४८ से स्थिति विशेष तौर से बिगड़ने लगी। इस वर्ष केवल ४०'९५ करोड़ रुपये के नये ऋण सरकार बाज़ार से उधार ले सकी। १९४८-४९ में जहां १५० करोड़ रुपये के ऋण लेने का विचार था वहां केवल ५५'०४ करोड़ रुपये के ऋण मिल सके। इसी प्रकार १९४९-५० में भी ८५ करोड़ रुपये के ऋणों के अनुमान के खिलाफ़ केवल ४०'४५ करोड़ के ऋण ही सरकार प्राप्त कर सकी। १९५०-५१ के बजट में बाज़ार से ७५ करोड़ रुपये के ऋण लेने का अनुमान था उसके मुक़ाबले में भी सरकार ३८ करोड़ रुपये ही उधार ले सकी। १९५१-५२ के बजट में बाज़ार से १०० करोड़ रुपये का ऋण लेने का अनुमान था पर वास्तव में सरकार को बाज़ार से कम रुपया (लगभग ५० करोड़) ऋण के रूप में मिला। १९५२-५३ के बजट में २६ करोड़ के लगभग का नया ऋण लेना माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछले वर्षों में मुद्रा बाज़ार में बहुत तंगी रही है। इसका एक कारण तो सरकार की सस्ती रुपया नीति बताया जाता था। पर जब से रिजर्व बैंक ने अपनी दर ३% से ३½% करदी तब से सस्ती रुपया नीति का तो अन्त होगया। दूसरा कारण बढ़ती हुई मंहगाई का है जिससे मध्यम श्रेणी की बचत की क्षमता बहुत गिरती जा रही है। तीसरा कारण यह है कि गत युद्ध से शहर से गाँव वालों के हाथ में रुपया गया है और गाँव वालों के हाथ का रुपया विनयोग के काम में नहीं आता। पर इन कारणों के अलावा एक बड़ा कारण व्यवसायी वर्ग की छिपी हुई सरकार के प्रति असहयोग की वह नीति है जो वह बराबर सरकार को दबाने के लिये बरत रहा है। देश का पूँजीपति वर्ग इस प्रकार सरकार पर यह छाप डालना चाहता है कि अगर सरकार राष्ट्रीयकरण की बात करती है तो उसका असर पूँजी के निर्माण पर प्रतिकूल होगा। इस सारी स्थिति को ठीक करने का वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत तो यही उपाय हो सकता है कि एक ओर तो सरकार ब्याज की दर कुछ बढ़ावे और दूसरी ओर वह व्यवसायी वर्ग को संतुष्ट करने का भी प्रयत्न करे। पर इस से देश की आधारभूत आर्थिक समस्या का हल नहीं होगा। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सरकार बाज़ार से ऋण लेने के अलावा छोटे पैमाने की बचत से भी कुछ रुपया इकट्ठा करती है। उस श्रेणी में डाकखाने के बचत सर्टिफिकेट, सेविंग्ज़ बैंक डिपॉजिट, नेशनल और रक्षा सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट आदि आते हैं। १९५१-५२ के बजट भाषण में वित्त मंत्री ने कहा था कि इस दिशा में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

राजकीय वित्त

भारत सरकार की वित्त व्यवस्था के विषय में विचार करने के बाद अब हमें राज्यों की वित्त व्यवस्था के बारे में विचार करना होगा। सबसे पहले राज्यों की आय के बारे में हम अध्ययन करेंगे।

राज्यों की आय—राज्यों की आय के मुख्य मुख्य भेद इस प्रकार हैं :—

(१) भूमि राजस्व (लेन्ड रेवेन्यू)—भूमि राजस्व या लगान एक अत्यन्त प्राचीन कर है। कुछ वर्षों पहले तक राज्यों की आय का एक बड़ा आधार भूमि से मिलने वाला लगान था। पर इधर पिछले वर्षों में लगान का महत्त्व कम हो गया है।

भूमि लगान पद्धति में कई दोष हैं जिनको सुधारने की आवश्यकता है। लगान वसूल करने का देश में एकसा आधार नहीं है और जिस दर से लगान वसूल किया जाता है उसमें भी कोई समानता नहीं है। जमीदारी प्रथा का तो शीघ्र अन्त होने जा रहा है। उत्तर प्रदेश में तो उसका अन्त हो भी चुका है। पर केवल इसी से काम नहीं चल सकता। देश में ऐसी भूमि व्यवस्था कायम होनी चाहिये जिसके अन्तर्गत वास्तव में खेती करने वाला किसान भूमि का मालिक हो और लगान वसूल करने का आधार भूमि का उपजाऊपन हो; जो जमीन अधिक उपजाऊ हो उसे अधिक लगान देना पड़े।

लगान से 'ए' श्रेणी के राज्यों की कुल आय १९५२-५३ के बजटों के अनुसार ४० करोड़ रुपये के आस-पास आंकी गई है। १९३८–३९ में २५ करोड़ रुपये के आसपास यह आय थी। आय का यह ज़रिया प्रायः स्थिर सा है। खेती में नई भूमि का उपयोग होने पर और उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर लगान से होने वाली आय में कुछ वृद्धि हो सकती है। 'बी' राज्यों की लगान से कुल आय १६-१७ करोड़ रुपये के लगभग है।

(२) आबकारी शुल्क—राज्यों का थोड़े वर्षों पहले तक लगान के साथ-साथ दूसरा महत्त्वपूर्ण आय का ज़रिया आबकारी का महकमा रहा है। १९१९ के पहले तो केन्द्र के पास ही यह आय का ज़रिया भी था पर १९१९ के सुधारों के बाद यह प्रान्तों के पास आ गया और आज तक उनके पास चला आता है। देशी शराब, ताड़ी, भांग, गाँजा और चड़स पैदा करने वालों से शुल्क और बेचने वालों से लाइसेंस फीस वसूल की जाती है। १९१९ से १९३७ तक प्रान्तों की नीति शराब की बिक्री को कम करने की थी। शराब की दुकानों की संख्या कम करके, उनके खुलने का समय कम करके और शराब पर शुल्क बढ़ाकर बिक्री कम करने का प्रयत्न किया जाता था। १९३७ से जब कांग्रेसी सरकारें

सत्ता में आईं तो मद्य-निषेध के कार्यक्रम की ओर भी कुछ प्रान्तों का ध्यान गया। सबसे पहले १९३७ में ही मद्रास ने इस दिशा में कदम बढ़ाया। १९३८ में बम्बई में भी शुरूआत हुई। उत्तर प्रदेश में भी कुछ किया गया। इस समय मद्रास और बम्बई में पूर्ण मद्य-निषेध है। अन्य राज्य भी इस ओर जाने को प्रयत्नशील हैं।

मद्य-निषेध होना चाहिये या नहीं यह प्रश्न बड़े वाद-विवाद का बना हुआ है। भारत सरकार मद्य-निषेध के विपक्ष में है। सबसे बड़ी दलील यह है कि आज जब राज्यों के सामने आर्थिक संकट है, मद्य-निषेध करके करोड़ों रुपयों की आय खोना उचित नहीं है। पर यह दलील एकांगी है। मद्यपान का प्रसार होना बुरा है। जनता की इससे भलाई नहीं होती। इसलिये आय की हानि का ध्यान किये बिना मद्य निषेध के कार्यक्रम को अपनाना चाहिए।

१९३८-३९ में इस मद से १३ करोड़ रुपये के लगभग आय थी। यह आय आज के ९ 'ए' श्रेणी के राज्यों की थी। १९४५-४६ में ५१ करोड़ रु० के लगभग यह पहुँच गई थी। इस समय इस मद से 'ए' श्रेणी के राज्यों की आय लगभग २५ करोड़ रुपये है। पिछले वर्षों में इस मद का महत्व कम हुआ है और भविष्य में और कम होने की सम्भावना है। 'बी' राज्यों को इस मद से २०·२१ करोड़ की आय होती है।

(३) सिंचाई—किसान से सिंचाई के पानी के लिये भी कर लिया जाता है। नहरों से जो पानी किसान को दिया जाता है उस पर यह कर लगता है। कर की दर अलग अलग जगह अलग अलग है और एक बार निश्चित हो जाने के बाद उसमें साधारणतया परिवर्तन नहीं होता।

(४) जंगलात—राज्य की सरकारों को जंगलात से भी कुछ आय होती है। लकड़ी बेचने, जंगल की अन्य पैदावार बेचने और चराई की फीस से यह आय होती है। १९३९-४० में जंगलात से ३ करोड़ के लगभग तत्कालीन प्रान्तों की आय थी। आज यह आय १६-१७ करोड़ के लगभग है।

(५) रजिस्ट्रेशन—जब अचल संपत्ति सम्बन्धी दस्तावेजों की रजिस्ट्री कराई जाती है तो उसकी फीस वसूल की जाती है। यह भी राज्य की सरकारों की आय का एक साधन है। १९३९-४० में तत्कालीन ब्रिटिश भारत में यह आय १ करोड़ रुपये के लगभग थी।

(६) स्टैम्प्स—स्टैम्प्स या मुद्रांक-शुल्क दो प्रकार का होता है—एक तो न्यायालयों द्वारा वसूल किया जाने वाला और दूसरा जो व्यापारिक दस्तावेजों पर लगता है। इनसे भी राज्य की सरकारों को आय होती है। न्याय

सम्बन्धी मुद्रांक-शुल्क को कम करना उचित हो सकता है। इस समय सब 'ए' राज्यों की आय इस मद से १८ करोड़ से भी ऊपर है। 'बी' राज्यों की आय भी ३ करोड़ के लगभग है।

(७) विक्रय-कर—जैसा कि इसके नाम से प्रकट है विक्रय-कर चीज़ों की बिक्री के समय लगाया जाता है और इसलिये यह बेचने वाले से वसूल किया जाता है। यह कर एक या कई चीज़ों पर लगाया जा सकता है और बिक्री के किसी एक मौके पर या सब मौकों पर लगाया जा सकता है।

भारत में विभिन्न राज्यों की आय का विक्रय-कर आजकल एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। मद्रास में यह कर १६३६ में सबसे पहले लगाया गया था और उत्तर प्रदेश में १६४८ में सबसे बाद में। एक न्यूनतम मर्यादा तक, जो ५००० से ३०००० वार्षिक बिक्री के बीच में विभिन्न राज्यों में पाई जाती है, विक्रय-कर नहीं लगाया जाता। इसी प्रकार कई चीज़ें—जैसे खाद्यान्न, आटा, दाल, ईंधन, मसाला, केरोसीन, किताबें, खादी, साग आदि—भी इस कर से मुक्त हैं। दोनों तरह का विक्रय-कर हमारे राज्यों में है—अर्थात् वह जो एक ही बार वसूल होता है और वह जो जितनी बार किसी एक चीज़ की बिक्री हो उतनी ही बार वसूल किया जाता है। अलग-अलग चीज़ों पर अलग-अलग कर की दरें भी लगाई जाती हैं।

विक्रय-कर अप्रत्यक्ष कर है और अमीरों की अपेक्षा ग़रीबों पर इसका बोझ अधिक पड़ता है। विक्रय-कर से 'ए' राज्यों की कुल आय ४५-५० करोड़ के आस-पास इस समय है। यह 'बी' राज्यों में राजस्थान के अतिरिक्त सब राज्यों में है पर इससे कुल आय ५ करोड़ रुपये के आस-पास है। हमारे सविधान के अनुसार अब राज्य उन चीज़ों पर विक्रय-कर नहीं लगा सकते जो किसी राज्य के बाहर बेचे और खरीदे जाते हैं, या जो अन्तर्राज्य के या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अंग हैं या उनको संसद ने सर्व साधारण के लिये अनिवार्य घोषित कर दिया है। इसका असर इस कर की आय घटने का होगा।

(८) कृषि-आय कर—१६३७ में जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन की देश में स्थापना हुई कृषि-आयकर राज्यों द्वारा लगाया जाने लगा। सबसे पहले बिहार ने यह कर १६३८-३६ में लगाया। बाद में आसाम, बंगाल, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में भी यह कर लगाया गया। 'ए' राज्यों में से इन पाँच राज्यों में ही यह कर लगाया जाता है। 'बी' राज्यों में से हैदराबाद और ट्रावनकोर-कोचीन में ही यह कर (१६५०-५१ तक) था। १६५२-५३ में राजस्थान में भी

कृषि-आयकर लगाने का प्रस्ताव किया गया। केवल उस भूमि की आय पर यह कर लगता है जो लगान देती है। कृषि-आय का एक न्यूनतम भाग कर से मुक्त रहता है। 'ए' राज्यों की इस कर से कुल आय ३ करोड़ रुपये वार्षिक के लगभग है। ज़मींदारी प्रथा उठ जाने पर इस मद से आय और भी कम होने वाली है।

(९) मनोरंजन-कर—मनोरंजन-कर सबसे पहले १९२२ में बंगाल में लगाया गया था। उसके बाद बम्बई में १९२३ में लगा। अन्य प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्राप्त हो जाने के बाद यह कर लगाया गया। इस समय सभी 'ए' श्रेणी के राज्यों में यह कर लगा हुआ है। इस कर को लगाने का तरीक़ा यह है कि मनोरंजन के लिये जब व्यक्ति फ़ीस देता है तो उसी के साथ यह कर भी उससे ले लिया जाता है। मनोरंजन के लिये टिकिट बेचनेवाले जैसे सिनेमा वाले इस कर को वसूल करते हैं और सरकार को चुकाते हैं। कर की दर अलग अलग राज्यों में अलग अलग है और टिकिट के मूल्य के हिसाब से लगाई जाती है। मध्य प्रदेश में १९४९-५० में टिकिट के मूल्य का ५०% कर के रूप में लिया जाता था। अन्य राज्यों में २५% के आस-पास यह कर था। उत्तर प्रदेश में ३३$\frac{1}{3}$% था। इस कर से आय पिछले वर्षों में बराबर बढ़ती जारही है।

(१०) पण लगाने (बेटिंग) पर कर—हमारे देश में वैसे तो सब प्रकार का पण लगाना और जुआ बंद है पर घोड़ों की दौड़ पर पण लगाना जायज़ है। सबसे पहले बंगाल में १९२२ में पण लगाने पर कर लगाया गया था। १९२५ में बम्बई में भी यह कर लगा। मद्रास में १९३५ में यह कर लगा। कुछ और राज्यों में भी इस समय यह कर लगा हुआ है। पण लगाने में जितना रुपया जीता जाता है उसके ऊपर अमुक प्रतिशत के हिसाब से कर लगाया जाता है। अलग-अलग राज्यों में कर की दर अलग-अलग है और ४% से १५% के बीच में विभिन्न राज्यों में यह कर लगा हुआ है। एक प्रकार के व्यसन पर यह कर है और इसलिये इसकी मात्रा और बढ़ाई जानी चाहिये। वास्तव में तो घोड़ों की दौड़ पर पण लगाने का भी निषेध होना चाहिये।

(११) मोटर गाड़ियों पर कर—मोटर गाड़ियों पर भी—जिनमें कार, टेक्सी, बस, लॉरी, मोटर साईकिल सब आ जाती हैं—सब राज्यों में कर लगता है। कर लगने का आधार अलग-अलग प्रकार की गाड़ियों के लिये और अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। कहीं जगह के हिसाब से कर लिया जाता है, तो कहीं खाली गाड़ी का जितना बोझ होता है उसके आधार पर कर लिया जाता है। उत्तर प्रदेश में अलग-अलग मार्गों के आधार पर अलग-अलग कर

लिया जाता है। कर की दर भी अलग-अलग है। इस कर को लगाने का एक औचित्य यह भी है कि मोटर आदि से सड़क खराब होती है और उसका मुआवज़ा किसी हद तक मोटर गाड़ियों के चलाने वालों से लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रख लेना भी आवश्यक है कि मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की ओर राज्यों की दृष्टि १६३७ से ही जा रही है और उत्तर प्रदेश तथा बम्बई में तो व्यापक आधार पर राष्ट्रीयकरण हुआ भी है। और राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। यह प्रयत्न उचित ही है।

(१२) आयकर—उपरोक्त करों के अतिरिक्त राज्यों की आय का एक बड़ा साधन आयकर में जो उनको हिस्सा मिलता है वह है। कुल 'ए' श्रेणी के राज्यों की आय ४५ करोड़ के आसपास इस मद से होती है। 'बी' राज्यों को भी इस आय में हिस्सा मिलने लगा है। यह रक़म १½ करोड़ रुपये से कुछ कम होती है।

(१३) केन्द्र से सहायता—जूट निर्यात-शुल्क की पूरी आय संविधान के अनुसार केन्द्र को जाती है पर उसके एवज़ में केन्द्र से पश्चिम बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा को सहायक अनुदान मिलता है। देशमुख निर्णय के अनुसार इस अनुदान की मात्रा १·८५ करोड़ रुपया है। इसके अलावा भारत सरकार से अधिक अन्न उत्पादन, विस्थापितों की सहायता और पुन: संस्थापन तथा विकास योजनाओं के लिये भी 'ए' और 'बी' राज्यों को अनुदान मिलता था। केन्द्रीय सड़क कोष से भी राज्यों को सहायता मिलती है। इसके अलावा केन्द्र राज्यों को ऋण भी देता है।

राज्यों का व्यय—प्रान्तीय स्वशासन स्थापित होने के पहले तत्कालीन प्रान्तों का अधिकतर खर्च पुलिस और न्याय विभाग पर होता था। पर जब प्रान्तों में १६३७ में लोकप्रिय सरकारें क़ायम हुईं तो राष्ट्र-निर्माणकारी कामों पर व्यय बढ़ने लगा। अब हम राज्यों के व्यय की मुख्य-मुख्य मदों का अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन 'ए' राज्यों पर ही आधारित होगा।

(१) राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग—कुल 'ए' राज्यों का इस मद पर व्यय २५ करोड़ के आसपास है जो कुल खर्चे का ८% के लगभग आता है। यह वह व्यय है जो कर वसूली के लिये करना पड़ता है।

(२) सिंचाई—सिंचाई के मद में 'ए' राज्यों का खर्च पिछले वर्षों में बराबर बढ़ा है। १६५१-५२ के बजट में १४·६२ करोड़ रुपये का इस मद में होने वाले व्यय का अनुमान है जो कुल खर्च का ४·६६% आता है। १६५१-५२ के संशोधित बजटों के अनुसार इस मद पर ४·४४% और १६५२-५३ के बजटों के

राज्यों का यह खर्च बढ़ा है। १९४८-४९ में ७३·३६ करोड़ का खर्च था। उसके मुक़ाबले में १९५१-५२ के बजट में ६०·४० करोड़ का यह खर्च रखा गया है। कुल खर्च का २६·०१% यह खर्च है जबकि १९४८-४९ में कुल खर्च का २९·२५% इस मद पर खर्च होता था। १९५२-५३ के बजटों के अनुसार यह खर्च २८·३३% आँका गया है।

(४) सामाजिक सेवा कार्य—इसमें शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग आदि खर्च आते हैं। इस मद में खर्च बराबर बढ़ता जा रहा है। १९४८-४९ में यह खर्च ६७·६६ करोड़ रुपये का था। १९५१-५२ के बजट में यह खर्च ६६·०६ करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है। १९४८-४९ में २७·०१% कुल खर्च का इस मद में खर्च होता था। १९५१-५२ में कुल खर्च का ३०·८४% इस मद में खर्च होने का अनुमान है। १९५२-५३ के आँकड़ों के अनुसार यह प्रतिशत बढ़कर ३१·४४ होने का अनुमान है।

(५) ऋण सेवाएँ (डैट सर्विसेज)—१९४८-४९ में इस मद में ४·२२ करोड़ अर्थात् कुल खर्च का १·६८% खर्च होता था। उसके बाद यह खर्च कम हुआ है। १९५१-५२ के बजट में २·८० करोड़ रु० अर्थात् कुल खर्च का ०·९०% इस मद पर खर्च होने का अनुमान है। १९५२-५३ में १·०३% खर्च इस मद में आँका गया है।

(६) पूँजीगत खर्च—उपरोक्त सामान्य खर्चों के अलावा राज्यों के पूँजीगत खर्च भी होते हैं। बहु उद्देशीय नदी घाटी योजनायें, सिंचाई, विद्युत, निवास और ज़मींदारों को मुआवजा इस मद के खास-खास खर्च हैं। इसके अलावा राज्य विस्थापितों, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं, सहकारी समितियों और किसानों को ऋण भी देता है। अगर हम अन्न, वस्त्र, खाद आदि चीज़ों का राज्य द्वारा व्यापार पर होने वाली आमदनी और खर्च बराबर भी मान लें तो १९५१-५२ के संशोधित आँकड़ों के अनुसार ६२·०६ करोड़ का पूँजीगत खर्च होगा जब कि १९५०-५१ में ६८·२१ करोड़ और १९४९-५० में ५८·४३ करोड़ का यह खर्च हुआ है। १९५२-५३ में यह खर्च १२६·१४ करोड़ रुपया आँका गया है।

(७) 'बी' राज्यों का खर्च—१९५१-५२ के संशोधित आँकड़ों के अनुसार 'बी' राज्यों का कुल खर्च १०३·२७ करोड़ रु० का बजट किया गया था। शांति-व्यवस्था (सिक्यूरिटी सरविसेज) और सामाजिक सेवाओं संबंधी खर्च की दो बड़ी मदें हैं। शांति-व्यवस्था पर खर्च कुल का २५% से कुछ अधिक और सामाजिक सेवाओं पर ३२% से कुछ अधिक व्यय माना गया है। सामाजिक सेवाओं में शिक्षा

पर सबसे अधिक खर्च है। 'बी' राज्य राष्ट्र-निर्माणकारी कामों पर अधिक और शांति व्यवस्था पर कम खर्च 'ए' राज्यों के मुकाबले में करते हैं। इसका कारण मैसूर और ट्रावंकोर-कोचीन जैसे प्रगतिशील राज्यों पर होने वाला खर्च है। १६५२-५३ में कुल खर्च १११·०१ करोड़ आँका गया है। इसमें शांति-व्यवस्था पर २१% और सामाजिक सेवाओं पर ३५% खर्च होने का अनुमान है। ये राज्य पूँजीगत खर्च भी काफी करते हैं।

राज्यों का सार्वजनिक ऋण—१६१६ के पहले तत्कालीन प्रान्तों को ऋण लेने का कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। उसके बाद से यह अधिकार उनको मिला और हमारे संविधान में भी राज्यों को यह अधिकार प्राप्त है। १६३६-४० के अन्त में तत्कालीन प्रान्तों का कुल ऋण १५० करोड़ रुपये के लगभग था और उसमें से अधिकांश उत्पादक ऋण था। मार्च १६४६ के अन्त में कुल ऋण 'ए' राज्यों का १४५·३८ करोड़ था। मार्च १६५२ को ३३०·१२ करोड़ तक कुल ऋण पहुँच जायेगा, ऐसा सशोधित अनुमान है। मार्च १६४६ को १४५·३८ करोड़ का जो ऋण था उसमें ४५·६३ करोड़ का स्थायी ऋण, १०·८३ करोड़ का चालू (फ्लोटिंग) ऋण, ६३ करोड़ का केन्द्रीय सरकार से लिया हुआ ऋण और २५·६२ करोड़ का अल्पकालीन ऋण था। मार्च १६५२ को ३३०·१२ करोड़ के कुल ऋण में से ६६·०७ करोड़ का स्थायी ऋण, १२·०३ करोड़ का चालू ऋण, २१५·६६ करोड़ का केन्द्रीय सरकार से लिया हुआ ऋण और ३३·०·१६ करोड़ का अल्पकालीन (अनफन्डेड डैट) ऋण का अंश होगा। १६५२-५३ के अन्त में 'ए' राज्यों का ४४४·८५ करोड़ का ऋण आँका गया है।

केन्द्र और राज्य की वित्त-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति—केन्द्र और राज्य के आय-व्यय की मुख्य मुख्य मदों पर हम विचार कर चुके हैं। अब हम केन्द्र और राज्यों की सम्पूर्ण वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध में अलग अलग से विचार करेंगे। पहले केन्द्र की वित्त-व्यवस्था के बारे में हम लिखेंगे।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि भारत सरकार की वित्त नीति क्या कर रही है और आज क्या है। यदि हम पिछले पचास वर्षों पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि भारत सरकार की वित्त नीति किसी निश्चित दीर्घकालीन आर्थिक आदर्श से प्रभावित नहीं रही है बल्कि तात्कालिक परिस्थितियों का उस पर सबसे अधिक असर पड़ा है। जब कोई विशेष तात्कालिक प्रश्न नहीं रहा जैसा कि इस शताब्दी के पहले बीस वर्षों में नहीं था तब तो भारत सरकार की दृष्टि बजट को संतुलित रखने तक ही सीमित रही। जब कोई विशेष तात्कालिक प्रश्न उपस्थित हो गया—जैसे १६२६ की व्यापारिक मंदी, १६३६-४५ का द्वितीय

महायुद्ध और उससे उत्पन्न मँहगाई—तो सरकार की वित्त नीति उस प्रश्न के असर में रही। आजकल भारत की वित्त नीति पर पंचवर्षीय योजनाओं के अनुसार देश का आर्थिक विकास करने का असर सबसे अधिक देखने को मिलता है पर वास्तव में तो वित्त-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा प्रश्न यह है कि भारत सरकार की आर्थिक स्थिति आय और व्यय को देखते हुए कैसी है और भविष्य की संभावनायें क्या हैं। मात्रा का जहाँ तक सवाल है भारत सरकार की आय और व्यय की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। १९३८-३९ में भारत सरकार की कुल आय ८४·४७ करोड़ थी। युद्ध-काल में ३६१·१९ करोड़ तक १९४५-४६ में इसमें वृद्धि हो गई। उसके बाद इसमें कमी आई। पर फिर वृद्धि हुई। इस समय के ताज़ा आँकड़े यह हैं कि १९५३-५४ में आय का अनुमान ४३९ करोड़ रुपये का किया गया है। पिछले १२-१३ वर्षों में लगभग ४½ गुनी आय में वृद्धि हो गई। इस आय में कर से होने वाली आय का १९३८-३९ में ८७·५% भाग था। महायुद्ध के समय इसका अनुपात कम हो गया और १९४३-४४ में ६८·५% तक वह आ गया। पर इसके बाद फिर इसमें वृद्धि हुई और १९४९-५० के स्वीकृत बजट में यह अनुपात ९०·२% तक पहुँच गया था। १९५३-५४ के बजट के अनुसार यह अनुपात ९६% है। यह वृद्धि करों में प्रधानतः आयकर, सीमा शुल्क, और उत्पादन-शुल्क से तथा दूसरे प्रकार की आय में रेल्वे आय से हुई है। आयकर और निगम कर का भाग १९३८-३९ में कुल कर से होने वाली आय का २२·९% था वह १९४९-५० में ४४·७% हो गया। १९५३-५४ के बजट के यह अनुसार अनुपात ३७·६% है। जहाँ तक व्यय का प्रश्न है आय के साथ ही साथ भारत सरकार के व्यय में वृद्धि हुई है। १९३८-३९ में कुल व्यय ८५·११ करोड़ था। युद्ध-काल में अधिक से अधिक व्यय ४९६·२५ करोड़ १९४४-४५ में हो गया था। उसके बाद कमी आई और १९४९-५० के स्वीकृत बजट में ३२२·५३ करोड़ का व्यय माना गया। १९५३-५४ के बजट का अनुमान ४३८·८१ करोड़ का है। इसका अर्थ यह है कि युद्ध के बाद आय की अपेक्षा व्यय अधिक कम हुआ है। भारत सरकार के व्यय में जो वृद्धि हुई है उसमें राष्ट्र-निर्माणकारी विभागों में होने वाली वृद्धि अपेक्षाकृत कम रही है। आय-व्यय को यदि हम मिला कर देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि १९३८-३९ से लगा कर १९४७-४८ तक बराबर घाटा रहा है। जैसे-जैसे युद्ध की भीषणता बढ़ती गई इस घाटे की मात्रा भी बढ़ती गई। यहाँ तक कि १९४३-४४ में घाटे की मात्रा १८९·९० करोड़ तक पहुँच गई। १९५०-५१ में ५९·२२ करोड़ की बचत हुई है और १९५३-५४ के बजट में ४५ लाख की बचत का अनुमान लगाया गया है। भारत सरकार के पूँजीगत

बजटों को देखें तो मालूम होगा कि युद्ध-काल में १९४१-४२ को छोड़कर बराबर उनमें बचत रही है। १९४४-४५ में यह बचत ४३७.५१ करोड़ तक पहुंच गई थी। इसका कारण यह था कि भारत सरकार बाजार से बहुत बड़ी मात्रा में ऋण ले रही थी। इससे युद्ध का वह खर्च जो भारत सरकार को वापिस मिलने वाला था, अवश्य अलग था। पर युद्ध के बाद १९४७-४८ से भारत सरकार के पूँजीगत बजट में बराबर घाटा रह रहा है। १९४८-४९ में यह घाटा १९७.४८ करोड़ तक पहुँच गया। इसके बाद घाटे में कमी आ गई है पर घाटा अभी तक भी जारी है। १९५०-५१ में ६२.०४ करोड़ का घाटा हुआ। १९५१-५२ में पूँजीगत बजट का यह घाटा १२४.३९ करोड़ है। १९५३-५४ के बजट में ३०.५७ करोड़ के घाटे का अनुमान है। यदि हम 'मिसेलेनियस' मद को और राजस्व और पूँजीगत आय व्यय सबको एक साथ करके देखें तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि १९४६-४७ से १९५३-५४ के बजट तक बराबर घाटा रहा है।

भारत सरकार की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाने का एक अन्य तरीका उसकी नकद रोकड़ को देखने का है। १९३८-३९ में साल के आरम्भ में ११.३१ करोड़ रुपया सरकार की रोकड़ (केश बैलेंसेज़) में था। १९४५-४६ के अन्त और १९४६-४७ के आरम्भ में रोकड़ में ५२९.५३ करोड़ रुपया हो गया था। भारत के विभाजन के बाद १५ अगस्त, १९४७ को २७०.८० करोड़ रुपया भारत सरकार की रोकड़ में था। १९५३-५४ के अन्त में नकद रोकड़ ५१.६९ करोड़ रुपये की होगी, ऐसा अनुमान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पिछले वर्षों में और खास तौर से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार की आर्थिक स्थिति बिगड़ी है। यद्यपि १९५०-५१ में कुछ सुधार के चिन्ह दिखाई पड़े पर उसके बाद से फिर राजस्व, पूँजी और अन्य खर्च को मिलाकर घाटे की मात्रा बढ़ी है। अब प्रश्न यह है कि इस स्थिति को सुधारने का क्या उपाय है। जहाँ तक आय को बढ़ाने का सम्बन्ध है, अधिक गुंजाइश नहीं मानी जा सकती। हमारी राष्ट्रीय आय का केन्द्र और राज्यों की कुल आय १०% के लगभग है। यद्यपि आधुनिक औद्योगिक राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय का ३०% तक भी सरकारी आय में जाता है पर भारत की ऐसी पिछड़ी हुई आर्थिक अवस्था में इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि राष्ट्रीय आय की आज से बहुत अधिक मात्रा राज्यों की आय के रूप में ली जा सकती है। इस वास्ते भारत सरकार की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के दो उपाय हैं। तत्काल का उपाय तो यह है कि अनावश्यक खर्च को हर तरह से कम करने का

प्रयत्न किया जाय पर राष्ट्र निर्माणकारी तथा आर्थिक विकास योजनाओं पर यथाशक्ति अवश्य खर्च किया जाय। दूसरी और बड़ी बात यह है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिए योजना पूर्वक और दृढ़ता के साथ प्रयत्न किया जाय। देश की आर्थिक स्थिति ठीक होने पर सरकार की स्थिति अवश्य ही ठीक होगी। खर्च करने के सम्बन्ध में सामाजिक सेवाओं पर होने वाले खर्च को कम करने की प्रवृत्ति को अवश्य यथासम्भव रोकने की आवश्यकता है।

अब हम राज्यों की सरकारों की वित्त व्यवस्था के बारे में विचार करेंगे। जहाँ तक राज्यों की सरकारों की वित्त नीति का सवाल है इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि १९३७ के सुधारों के बाद से उन्होंने राष्ट्र-निर्माण के कामों पर अधिक व्यय करना आरम्भ किया है और इस बढ़े हुए खर्च को उन्होंने अपनी आय बढ़ा कर, भारत सरकार से क़र्ज़ लेकर और मुद्रा बाज़ार में ऋण लेकर पूरा करने की कोशिश की है। युद्ध के समय में राज्य की सरकारों के बजट घाटे के बजट नहीं रहे। १९३८-३९ में तत्कालीन प्रान्तों की कुल आय ८४·७४ करोड़ रुपया थी। वह युद्धकालीन वर्षों में बढ़ते-बढ़ते १९४५-४६ में २२९·३३ करोड़ रु० तक पहुँच गई। इसके बाद भी वृद्धि जारी रही। १९५१-५२ के संशोधित बजट में 'ए' राज्यों की कुल आय ३१२·७१ करोड़ रुपये की आंकी गई और १९५२-५३ के अनुमान के अनुसार ३१४·२० करोड़ की कुल आय मानी गई। १९५१-५२ में संशोधित आधार पर सब 'बी' राज्यों की आय १०६ करोड़ के लगभग आंकी गई है। 'बी' राज्यों की आय १९५२-५३ में १०५·६४ करोड़ आंकी गई है। प्रान्तों की यह आय वृद्धि विभिन्न करों से आमद बढ़ने के कारण ही हुई। नये करों का कोई बोझ जनता के ऊपर नहीं डाला गया। जहाँ तक राज्यों के व्यय का सम्बन्ध है उसमें भी १९३८-३९ में ८५·७६ करोड़ से बढ़ते बढ़ते १९४५-४६ में २१८·१४ करोड़ तक वृद्धि हो गई। बाद में भी यह वृद्धि जारी रही। १९५१-५२ के सब 'ए' राज्यों के व्यय का संशोधित अनुमान ३१३·३४ करोड़ का और १९५२-५३ का ३३०·३० करोड़ का अनुमान है। 'बी' राज्यों का १९५२-५३ का खर्च का अनुमान १११·०१ करोड़ है। आय-व्यय दोनों को मिलाकर देखने से मालूम होगा कि १९५०-५१ तक 'ए' राज्यों के बजटों में घाटा नहीं रहा पर बजट की बचत में बराबर गिरावट आई। १९५१-५२ में ६३ लाख और १९५२-५३ में १६·१० करोड़ के घाटे का अनुमान है। राजस्व और पूँजीगत दोनों प्रकार के आय-व्यय के आँकड़ों को मिलाकर देखें तो 'ए' राज्यों के बारे में यह नतीजा आता है कि विभिन्न ऋणों से असल आमद १९५०-५१ में ५६·०७ करोड़ हुई और १९५१-५२ में ८५·५१ (संशोधित

बजट) करोड़ और १६५२-५३ में ११४·७३ करोड़ होने का अनुमान है। ऋण से होने वाली असल आमद और डिपोज़िट और अन्य मदों के लेन-देन का विचार कर लेने पर राजस्व और पूँजीगत दोनों ही का कुल मिला-जुला घाटा १६५१-५२ में ५१·६८ करोड़ का आता है। १६५१ ५२ में ५१·६८ करोड़ के घाटा का ब्यौरा इस प्रकार है—राजस्व भाग में घाटा ६·५६ करोड़ (रेवेन्यू रिज़र्व फंड से आने वाली रक़म को निकाल कर) और पूँजीगत खर्च और ऋण की मदों में घाटा ४२·०६ करोड़ का। इस घाटे का असर यह हुआ है कि १७ करोड़ की कमी तो नक़द रोकड़ में, ११·७५ करोड़ की कमी नक़द रोकड़ विनियोग खाते (केश बैलेंस इन्वेस्टमेंट ऐकाउन्ट) में आएगी और २२·६३ करोड़ रुपया मद्रास सरकार अपने राजस्व रक्षित कोष से और निकालेगी। इसी प्रकार १६५२-५३ में पूँजीगत खर्च में २३·२४ करोड़ और चालू खाते में २२·४५ करोड़ के घाटे का अनुमान लगाया गया था। इसकी पूर्ति १५·२५ करोड़ रेवेन्यू रिज़र्व फंड से ३०·५० करोड़ नक़द रोकड़ विनियोग खाते से, और ०.६४ करोड़ नक़द रोकड़ से होगी। पर नए करों और नए ऋण से आशा से अधिक आय होने से १२·४५ करोड़ से घाटा कम होगा और उस हद तक रिज़र्व में कम कमी होगी। 'बी' राज्यों की स्थिति भी संतोषप्रद नहीं मानी जा सकती। १६५०-५१ में राजस्व और पूँजीगत आय-व्यय को मिलाकर देखने से १६५०-५१ में 'बी' राज्यों का घाटा ४·०३ करोड़ रुपया था। १६५२-५३ के संशोधित बजटों के अनुसार यह घाटा १५·५६ करोड़ और १६५२-५३ के बजटों के अनुसार ८·४७ करोड़ आंका गया। इसका असर उनके नक़द रोकड़ और नक़द रोकड़ विनियोग खाते की रक़म पर बुरा पड़ा है। १६५१-५२ के आरंभ में इन राज्यों की नक़द रोकड़ ३०·६८ करोड़ आंकी गई थी। वह १६५२-५३ के अंत में १६·२७ करोड़ ही आंकी गई है। नक़द रोकड़ विनियोग खाते में भी १६५०-५१ में ७·४० करोड़ की कमी हुई और १६५१-५२ में ४·६६ करोड़ और १६५२-५३ में २·७२ करोड़ की कमी का अनुमान है। 'ए' राज्यों के बारे में जैसा ऊपर बताया गया है गत दो वर्षों में राज्यों की नक़द रोकड़ में कमी आई है, उन्होंने अपने इन्वेस्टमेंट बेचे हैं, और कहीं-कहीं निश्चित कामों के लिये निर्मित कोषों से रुपया भी लिया गया है। मार्च १६५१ के अन्त में 'ए' राज्यों की नक़द रोकड़ ३०·६२ करोड़ थी। ऐसा अनुमान है कि १६५३ के मार्च के अन्त तक यह रोकड़ की रकम १२·६७ करोड़ ही रह जायगी। उपर्युक्त स्थिति को सुधारने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि राज्य की सरकारें अपने खर्च को अपनी क्षमता की मर्यादा में रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें। तभी पिछले दो वर्षों में राज्यों की आर्थिक स्थिति में जो बिगाड़ आया है उसमें

सुधार होना संभव होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत सरकार और विशेषतया राज्यों की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है।

भारत सरकार और राज्यों की वित्त व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उसकी कर व्यवस्था कैसी है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि यद्यपि पिछले वर्षों में प्रत्यक्ष करों की मात्रा और उनका अनुपात बढ़ा है पर फिर भी अभी उनका अनुपात जितना चाहिये उतना नहीं है। केन्द्र और राज्य दोनों को मिलाकर आज भी उनका भाग ६०% के लगभग है। भारत की कर-व्यवस्था का बोझ सम्पन्न लोगों पर कम और मध्यम और निम्न वर्गों पर अधिक है। पिछले सालों में भारत सरकार ने जो कई उत्पादन-शुल्क और सीमा-शुल्क में वृद्धि की है या नए शुल्क लगाये हैं उनका भी यही असर पड़ा है। पिछले वर्षों में मध्यम वर्ग पर एक ओर तो करों का बोझा बढ़ा है और दूसरी ओर मंहगाई का बुरा प्रभाव भी उन्हीं पर सब से अधिक पड़ा है। इस दृष्टि से हमारी कर-व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है। राज्यों में भी विक्रय-कर का बोझ आम लोगों पर ज्यादा पड़ा है। नये करों में उत्तराधिकार-कर लगाने की आवश्यकता और औचित्य स्पष्ट है। इसी प्रकार राज्यों में कृषि-आयकर सब जगह लगना चाहिये। विक्रय-कर को सरल और सब राज्यों में समान बनाना चाहिये। इसी प्रकार खर्च में राज्यों में भी अनावश्यक व्यय और सामान्य शासन के व्यय में किफ़ायत करने की जरूरत है। इसी सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि केन्द्र, राज्य और स्थानीय स्वराज्य और संस्थाओं के खर्च का आपस में ठीक समन्वय हो। आज तो राज्यों को यह शिकायत है कि है कि केन्द्र उनको पूरे साधन नहीं देता और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को इसी प्रकार की शिकायत राज्यों से है। इस स्थिति में सुधार आवश्यक है। संतोष का विषय है कि देश की कर-व्यवस्था पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने एक 'कर जाँच समिति' नियुक्त की है।

स्थानीय वित्त

अब तक हमने केन्द्रीय सरकार और राज्यों की वित्त-व्यवस्था के बारे में विचार किया है। पर देश की वित्त-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग स्थानीय वित्त का है—अर्थात् नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों आदि की वित्त-व्यवस्था का। अब हम इसी पर विचार करेंगे।

नगरपालिका वित्त :—नगरपालिकाओं को दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं—(१) अनिवार्य और (२) वैकल्पिक। अनिवार्य कार्यों के अन्तर्गत सफाई,

लोक स्वास्थ्य, रोशनी, सड़क, पानी, शिक्षा—प्रारम्भिक और सेकिंडरी—की व्यवस्था आती है। वैकल्पिक कार्यों में पुस्तकालय, म्यूज़ियम, पब्लिक पार्क, खेल-कूद के मैदान आदि की व्यवस्था आती है।

नगरपालिका को उपर्युक्त कार्यों के लिये व्यय करना होता है। इसके लिये उनको आय के साधन चाहियें। प्रत्येक राज्य में एक नगरपालिका एक्ट होता है जिसमें नगरपालिका को कौन-कौन से कर लगाने का अधिकार है यह भी निश्चित रहता है। साधारणतया नगरपालिकाओं द्वारा लगाये जाने वाले करों की सूची इस प्रकार होगी :—

(१) प्रत्यक्ष कर—इस श्रेणी में मकानों, ज़मीन या संपत्ति पर कर, पेशे और व्यापार आदि पर कर, व्यक्तियों पर हैसियत-कर, रोशनी, अग्नि और शौचालय कर तथा दूसरे कई छोटे-छोटे कर—जैसे संपत्ति के हस्तांतरण पर कर, बाज़ार-कर, कुत्तों और नौकरों पर कर, नावों पर कर, सवारी के साधनों और गाड़ियों पर कर आते हैं।

मकान या सम्पत्ति-कर प्रायः सब नगरपालिकायें लगाती हैं। मकान या ज़मीन के वार्षिक मूल्य पर यह कर लगता है : वार्षिक मूल्य वार्षिक किराये की आय के बराबर माना जाता है। कर की दर लगभग ७½% वार्षिक किराये पर होती है। सार्वजनिक उपयोग की इमारतों पर कर नहीं लगता। कर संपत्ति के मालिक से वसूल किया जाता है।

पेशे और व्यापार पर जो कर लगाया जाता है उसके लगाने के दो आधार मुख्य हैं। एक तो व्यक्ति की आय के अनुसार कर लगाया जाता है। दूसरे यह कि विभिन्न पेशों और व्यापारों को आय की समानता के आधार पर कुछ श्रेणियों में बाँट दिया जाता है। फिर अलग-अलग श्रेणी के लोगों को अलग-अलग लाइसेंस फ़ीस देनी होती है। बिहार और उत्तर प्रदेश में म्यूनिसिपैलिटियों को संपत्ति और स्थिति कर नाम का कर लगाने का भी अधिकार है।

हैसियत-कर व्यक्ति की स्थिति और संपत्ति को देख कर लगाया जाता है।

रोशनी, अग्नि, शौचालय-कर सेवा के आधार पर लगाए जाते हैं। मकान के वार्षिक मूल्य को ही इस प्रकार की सेवा से मिलने वाले लाभ का आधार मान लिया जाता है।

संपत्ति के हस्तांतरण पर लगने वाला कर सम्पत्ति के मूल्य के आधार पर तय होता है।

बाज़ार-कर चीज़ों की बिक्री पर कर होता है। इस से बिक्री-कर [illegible]

की सरकारों द्वारा लगाया जाने लगा है नगरपालिकाएँ ये कर नहीं लगा सकती हैं। नगरपालिकाओं की आय का एक साधन लाइसेंस फ़ीस होती है जो विभिन्न कामों और पेशों पर या अमुक स्थान के उपयोग पर लगती हैं।

नौकरों पर कर तो बहुत कम जगह है पर कुत्तों पर और दूसरे पालतू जानवरों पर कर अवश्य है। नावों पर कर उत्तर प्रदेश में लगता है। सवारी गाड़ियों पर कर लाइसेंस फ़ीस के रूप में ताँगे, मोटर, बैलगाड़ी, रिक्शा और साइकिलों आदि पर लिया जाता है।

(२) अप्रत्यक्ष कर—इस श्रेणी में चुंगी सबसे महत्वपूर्ण कर है जो नगरपालिका की हद में बाहर से माल आने पर लगता है। यह कर गरीबों पर पड़ता है और इसलिए इसका बराबर कड़ा विरोध रहा है। इसको वसूल करने में बहुत खर्च होता है। दूसरा कर सीमा-कर (टर्मिनल टेक्स) है जो रेल विभाग के ज़रिये नगरपालिका की हद में उपभोग के पदार्थों पर वसूल किया जाता है। चुंगी का स्थान इस कर को कई नगरपालिकाओं ने दिया पर यह प्रवृति ज्यादा चली नहीं। सीमा-कर सुविधाजनक है—वसूल करने वाले और देने वाले दोनों के लिये। इसे वसूल करने का व्यय भी कम होता है। इसलिये चुंगी से यह हर तरह से अच्छा है। इसकी दर भी कम होती है। सीमा कर के साथ-साथ सड़क या जल मार्ग से आने वाले माल पर 'टर्मिनल टॉल' भी लगाना आवश्यक होता है।

(३) व्यापार कार्यों से आय—नगरपालिकाओं की आय का एक साधन वे व्यापारिक कार्य हैं जो वह करती है—जैसे, पानी की व्यवस्था करने पर पानी की रेट से होने वाली आय, बिजली की व्यवस्था करने पर उससे होने वाली आय, नगरपालिका द्वारा बनाए हुए कसाईखानों के किराये से होने वाली आय, और नगरपालिका द्वारा की गई यातायात की व्यवस्था से होने वाली आय इस श्रेणी में आती है। आय के इन साधनों को बढ़ाना चाहिये।

ज़िला बोर्डों की वित्त-व्यवस्था—ज़िला बोर्डों का मुख्य काम शिक्षा, सड़क, अस्पताल, सफाई आदि होता है। इसके अलावा वे और भी कई काम करते हैं जैसे मेलों और प्रदर्शिनियों का आयोजन, टीका लगाने की व्यवस्था, आदि। ज़िला बोर्डों की आय के मुख्य-मुख्य साधन इस प्रकार हैं:—

(१) भूमि उपकर—ज़िला बोर्डों की कुल कर से होनेवाली आय का ७० से ६० प्रतिशत् भाग इससे मिलता है। लगान के साथ यह उपकर वसूल किया जाता है। इस कर को लगाने का आधार कहीं तो लगान होता है—जैसे मद्रास, बम्बई, आसाम और मध्य भारत के कुछ हिस्सों में है—और कहीं इसका आधार भूमि का वार्षिक मूल्य होता है। कहीं ज़मींदार को दिया जाने वाला 'रेन्ट' भी

इसका आधार होता है—जैसे मद्रास के जमींदारी क्षेत्र में। खेती की प्रति एकड़ भूमि के आधार पर भी यह कर वसूल किया जाता है। लगान के सब दोष इस कर में भी मौजूद हैं।

(२) पेशे पर कर—राज्यों में कई जिला बोर्डों की आय का साधन पेशे पर कर हैं।

(३) स्थिति और सम्पत्ति पर कर—यह एक प्रकार का हैसियत-कर है। यह कर भी पेशे और व्यापार की आय के आधार पर लगाया जाता है और इसलिये पेशे तथा व्यापार पर लगने वाले कर के जैसा ही है।

(४) टोल्स—सार्वजनिक मार्गों के उपयोग पर टॉल वसूल किया जाता है और कभी-कभी यह कर वसूल करने का अधिकार नीलाम भी कर दिया जाता है। नीलाम करने की प्रथा अनुचित है और बन्द की जानी चाहिये।

(५) जुर्माना किराया और लाइसेंस फ़ीस—इन तीनों प्रकार के साधनों से भी ज़िला बोर्डों को आय होती है।

(६) अनुदान—राज्य की सरकारों से जिला बोर्डों को काफी सहायता भी मिलती है। इससे राज्य की सरकारों का इन पर नियंत्रण भी रहता है। कभी कभी यह नियंत्रण और हस्तक्षेप अनुचित सीमा तक भी पहुँच जाता है।

ग्राम पंचायतों की वित्त-व्यवस्था—हमारे स्वायत्त शासन की एक महत्वपूर्ण संस्था ग्राम पंचायतें हैं। ग्राम पंचायतों को भी संपत्ति कर, पेशे पर लगने वाले कर, और लाइसेंस फ़ीस से आय होती है।

स्थानीय वित्त में सुधार की आवश्यकता—स्थानीय वित्त की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन संस्थाओं के साधन बहुत सीमित हैं। इन साधनों में वृद्धि होना आवश्यक है। भारतीय कर जाँच समिति ने १९२४ में इस सम्बन्ध में ये सुझाव दिये थे :—

(१) लगान की दर कम की जाय ताकि स्थानीय संस्थाओं के लिये अधिक गुंजाइश रह सके। (२) प्रान्त की सरकारों को भूमि किराया (ग्राउन्ड रेंट) और कृषि के काम में नहीं आने वाली भूमि की दर में वृद्धि होने से जो आय हो उसका एक भाग स्थानीय संस्थाओं को दिया जाये। (३) नगरपालिकाओं को विज्ञापन पर कर लगाने का अधिकार दिया जाये। (४) मनोरंजन और दांव (बेटिंग) पर लगने वाले करों में स्थानीय संस्थाओं को हिस्सा दिया जाये। (५) संपत्ति और वृत्ति करों की वसूली में सुधार किया जाये। (६) मोटरों के आय-कर को कम करके प्रान्त की सरकारों को पथ-कर (टॉल) के स्थान पर मोटर पर में कर लगाने दिया जाये और उसकी आय स्थानीय संस्थाओं को बांटी जाय। (७) स्थानीय संस्थाओं को विवाहों की रजिस्ट्री करने पर कहीं कहीं कर लगाने

दिया जाये। (८) प्रान्तीय सरकारों से सहायता दी जाय। १६४० की बम्बई की स्थानीय स्वराज्य जाँच समिति ने इन सुझावों का समर्थन किया था। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वराज्य जाँच समिति ने भी इनका समर्थन किया था और सुझाव भी दिये थे—जैसे (i) महाजनों पर कर लगाया जाय; (ii) प्रान्तीय कोर्ट फ़ीस में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को हिस्सा दिया जाये; (iii) स्टेम्प ड्यूटी पर अधिभार (सरचार्ज) लगा कर स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को दिया जाये। ग्राम पंचायतों के बारे में भी इस समिति ने कुछ सिफ़ारिशें की थीं; (अ) लगान का पाँच प्रतिशत् पचायतों को दिया जाये; (ब) भूमि-उपकर का २५% ज़िला बोर्ड पंचायतों को दे दें; (स) जो टिनेन्ट हैं उनसे 'रेन्ट' का ५% लिया जाय। स्थानीय संस्थायें कुछ और कर भी लगा सकती हैं जैसे बरातों पर कर, जब वे सार्वजनिक रास्तों पर चलें, दीवार पर किये जाने वाले विज्ञापन पर कर, सड़क उपकर आदि। मोटर गाड़ियों और पेट्रोल पर जो कर राज्य की सरकारें लगाती हैं उनका कुछ भाग भी स्थानीय स्वराज्य सस्थाओं को दिया जा सकता है। इसी प्रकार नगरपालिकाएं सवारी गाड़ियों—जैसे कार, लौरी आदि पर जो कर लगाती हैं उनका एक हिस्सा ज़िला बोर्डों आदि को दिया जाये क्योंकि ये गाड़ियाँ उनकी सड़कों का भी उपयोग करती हैं।

स्थानीय वित्त से प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने १६४६ में एक कमेटी (लोकल फाइनेन्स इनक्वायरी कमेटी) नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट १६५१ में प्रकाशित हुई है। कमेटी ने स्थानीय वित्त-व्यवस्था में सुधार करने की लिये कई महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। उनका कहना है कि स्थानीय स्वराज्य सस्थाओं को कर लगाने के स्वतंत्र अधिकार जहाँ मिले हुए नहीं हैं और राज्य की सरकार से उन्हें कर लगाने से पहले स्वीकृति लेनी पड़ती है, वहाँ उन्हें स्वतंत्र अधिकार दिये जाने चाहियें। उन्होंने इस बात का भी समर्थन किया है कि स्थानीय संस्थायें अपने वर्तमान वित्त साधनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं करती हैं। जो कर लगाने का उन्हें अधिकार है, उन करों को भी वह पूर्ण तौर से लगाती नहीं हैं। इसके अलावा कर सम्बन्धी व्यवस्था—जैसे बजट बनाने, हिसाब रखने, कर निश्चित करने और लगाने—में भी काफी सुधार की आवश्यकता बताई गई। कमेटी ने यह स्वीकार किया है कि स्थानीय संस्थाओं के वर्तमान साधन सीमित हैं और उनमें वृद्धि होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की है कि नीचे लिखे करों से होने वाली आय स्थानीय सस्थाओं के ही काम में ली जाने की परम्परा डाली जानी चाहिये :—

रेल, समुद्री और हवाई तीनों प्रकार की यात्राओं से।

(१) माल और मुसाफिरों पर लगने वाला सीमा-शुल्क—जो भारत सरकार की करों की सूची में है। बाकी के सब कर राज्य सरकारों की सूची में हैं। (२) जमीन और इमारत पर कर ; (३) खनिज संपत्ति के अधिकारों पर कर ; (४) किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, या बिक्री के लिये आने वाले माल के प्रवेश पर कर ; (५) बिजली के उपभोग या बिक्री पर कर ; (६) विज्ञापन पर (अखबारों में छापने वाले विज्ञापन के अलावा) कर ; (७) माल और मुसाफिर पर कर जो सड़क या आन्तरिक जल-यातायात का उपयोग करते हों ; (८) गाड़ियों पर कर सिवाय उनके जो मशीन से चलती हैं ; (९) पशुओं और नावों पर कर; (१०) टोल्स ; (११) पेशे, व्यापार, आदि पर कर ; (१२) केपिटेशन कर (१३) मनोरंजन कर।

राज्य की सरकारों को स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को अनुदान समानता के आधार पर देना चाहिये ; और अनुदान के अलावा स्थानीय संस्थाओं को व्यापारिक कामों से जैसे पानी, बिजली आदि की व्यवस्था करके भी अपनी आय बढ़ाना चाहिए। सिनेमा घर, बाजार, सभा-भवन आदि बनाकर भी आय में कुछ वृद्धि की जा सकती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि स्थानीय वित्त की अपर्याप्त साधन की समस्या को हल करना कितना आवश्यक है और उसको हल करने के लिये चारों ओर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इस व्यापक प्रयत्न के बिना समस्या का हल होना संभव नहीं होगा।

भारत सरकार का राजस्व और व्यय का बजट
(१९५३-५४)

राजस्व　　करोड़ रुपयों में

राजस्व की मदें	१९५१-५२	१९५२-५३ अनुमान	१९५२-५३ संशोधित अनुमान	१९५३-५४ अनुमान
सीमाशुल्क	२३१'६६	१६५'००	१७०'००	१७०'००
केन्द्रीय उत्पादन कर	८५'७८	८३'००	८०'००	६४'००
निगम कर	४१'४१	३०'५३	३६'८३	३६'६२
(अतिरिक्त लाभ कर)	(१'०३)	(१'००)	(०'७२)	(०'८१)
आय कर (राज्यों के हिस्से सहित)	१४६'१६	१२४'४७	१३०'१७	१२३'३८

(अतिरिक्त आय कर)	(२'४४)	(३'००)	(१'८१)	(–०'८२)ⓧ
करेंसी और रंकन	११'३०	१०.३६	१०'७७	१५'६६
(रिजर्व बैंक का लाभ)	(..... ....)	(७'५०)	(७'५०)	(१२'५०)
सामान्य राजस्व को असल अंशदान	६'६३	७'६५	७'६८	७'६५
रेलवे, डाक और तार	३'४३	१'१६	१'४०	०'४० (+१'९०)ⓧ
कुल कर से प्राप्त राजस्व	५१२'८५	४०८'०८	४२६'११	४२५'३४†
कुल राजस्व	५१५'३६	४०४'६८	४१८'६४	४३७'७६ (+१'५०)ⓧ

ⓧ बजट में प्रस्तावित कर सम्बन्धी परिवर्तन का असर

† बजट में प्रस्तावित परिवर्तन के असर सहित

व्यय

करोड़ रुपयों में

व्यय की मदें	१९५१-५२	१९५२-५३ अनुमान	१९५२-५३ संशोधित अनुमान	१९५३-५४
राजस्व पर प्रत्यक्ष मॉग	१६'२३	१५'७६	३१'०५	३२.४६
सिंचाई	०'१७	०'१८	०'१७	०'१६
ऋण सेवायें	३६'००	३६'१६	३५'०३	३७'१७
नागरिक प्रशासन	५३'६७	५५'६८	५६'२३	७१'२७
करेंसी और मिन्ट	२'५१	३'२०	३'०५	२'५७
सार्वजनिक निर्माण	११'३६	१४'६५	१४'८२	१५'०६
अन्य	६५'१४	४०'६३	५३'११	२६'३०
रक्षा (असल)	१७०'६६	१६७'६५	१६२'७३	१६६'८४
केन्द्र और राज्यों के बीच में लेन-देन	१७'३१	२०'२८	२३'०४	२६'३७
विशेष मदें	१०'६१	१५'८६	१३'२१	२४'४८
राजस्व से होने वाला कुल व्यय	३२७'२७	४०१'२५	४२२'४३	४३८'८१
बचत (+, या घाटा (–)	+१२८'०६	+३'७३	+३'७६	+०'४५†

† बजट प्रस्तावों से होने वाले परिवर्तन के असर सहित

उत्तर प्रदेश का बजट १९५३-५४

भाग १ :

संचित निधि

क—राजस्व प्राप्तियाँ :

संघीय उत्पादक शुल्क	२,२१,३६,५००
कारपोरेशन कर के अतिरिक्त आय पर अन्य कर	६,७१,८०,५००
मालगुजारी	१८,५२,३७,१००
राज्य आबकारी	५,४६,२०,३००
स्टाम्प	२,५५,००,०००
वन	३,११,१६,०००
रजिस्ट्री	२६,६६,०००
मोटर गाड़ियों के एक्ट के अधीन प्राप्तियाँ	६२,४७,०००
अन्य कर और शुल्क	१०,१७,६६,५००
सिंचाई (शुद्ध प्राप्तियाँ)	६,६६,४५,६००
ऋण संबंधी आय	२४,०७,८००
नागरिक प्रशासन	८,०४,२४,६००
नागरिक निर्माण कार्य	६२,८७,१००
बिजली संबंधी योजनायें	३५,२२,८००
विविध	२,८८,०८,४००
केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच विविध समायोजन (एडजस्टमेंट) और अंशदान (कट्रीब्यूशन)	२७,०००
असाधारण मदें	१,५८५,५,३०८
योग, राजस्व प्राप्तियाँ	७४,३८,२४,८००

ख—ऋण संबंधी प्राप्तियाँ :

स्थायी ऋण	८४,२७,५०,०००
अल्पकालीन ऋण	१८,००,००,०००
केन्द्रीय सरकार से ऋण	६,४८,६२,४००
योग, ऋण संबंधी प्राप्तियाँ	१०८,७६,४२,४००

ग—जमा और अग्र ऋण	२,५४,८३,३००

घ—राज्य की सरकारों द्वारा दिये गये ऋणों और अग्र ऋणों की वसूलियाँ	३,१४,५१,०००
योग, संचित निधि	१,८८,८४,०१,५००
भाग २ :	
आकस्मिकता निधि	× × × × ×
भाग ३ :	
लोक लेखा	
(१) अस्थायी ऋण	१,७१,३४,०००
(२) जमा और अग्र ऋण	६४,३३,१८,३००
(३) प्रेषित धन राशियाँ	१,०४,५६,७४,०००
योग, लोक लेखा	१,७०,६४,२६,३००
योग, भाग १,२, और ३	३,५६,४८,२७,८००
प्रारंभिक शेष	१,६४,५०,८६१
बड़ा योग	३,६१,४२,७८,६६१
भाग १ :	
संचित निधि	
क—राजस्व व्यय :	
राजस्व पर सीधी माँगें	६,६१,४५,६००
सिंचाई (ब्याज तथा अन्य विविध व्यय)	३,०७,८३,८७०
ऋण संबंधी व्यय	६,८६,८१,७००
नागरिक प्रशासन	३६,१०,५८,२००
नागरिक निर्माण कार्य	४,३७,७७,६००
बिजली संबंधी योजनायें	१८,५६,०००
विविध	१३,४२,६४,५००
असाधारण मदें	५,११,३८,०००
योग, राजस्व व्यय	७८,८०,०५,७००
ख—पूँजी व्यय :	७,०६,२५,५००
ग—ऋणों का भुगतान	२१,८२,२६,६००
घ—जमा और अग्र ऋण	८०,२५,००,०००

ङ—राज्य की सरकार द्वारा
दिये गये ऋण और

अग्र ऋण	३,१२,३१,६००
योग, संचित निधि	१,६१,०८,६५,४००

भाग २ :

आकस्मिकता निधि	× × × × ×

भाग ३ :

लोक लेखा

(१) अस्थायी ऋण	६४,६७,२००
(२) जमा और अग्र ऋण	६३,४३,४८,२००
(३) प्रेषित धन राशियाँ	१,०४,५६,७४,०००
योग, लोक लेखा	१,६८,६८,१६,४००
योग भाग १,२, और ३	३,६०,०७,१४,८००
अंतिम शेष	१,३५,६३,८६१
बड़ा योग	३,६१,४२,७८,६६१

मध्य प्रदेश का बजट (१९५१-५२)

राजस्व की मदें

१. राजस्व की मुख्य मुख्य मदें

आयकर (निगम-कर को छोड़कर)	...	२,६६,८८,०००
लगान	...	४,०४,५८,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	...	२,१५,०२,०००
जंगलात	...	३,७५,८२,०००
मुद्रांक शुल्क	...	६१,७६,०००
रजिस्ट्रेशन	...	२०,२८,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियाँ	...	३६,६८,०००
अन्य कर और शुल्क	...	१,६८,३५,०००
	...	कुल १६,११,६३,०००

२. सिंचाई	...	१६,३६,०००
३. ऋण संबंधी	...	३३,०४,०००
४. नागरिक प्रशासन	...	
न्याय	...	१७,८२,०००
जेल और कनविक्ट सैटलमेंट्स	...	१,६१,०००
पुलिस	..	६,०८,०००
शिक्षा	...	१७,५१,०००
चिकित्सा	...	३,६७,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	...	२,६०,०००
कृषि	...	६६,००,०००
पशुचिकित्सा	...	५,५०,०००
सहकारिता	...	१,४६,०००
उद्योग और रसद	...	३,१६,०००
अन्य विभाग	...	२,७०,०००
	...	कुल १,३१,८३,०००
५—सार्वजनिक निर्माण	...	२८,६०,०००
६—विजली योजनायें	...	२२,३०,०००
७—अन्य	...	४३,६१,०००
८—केन्द्र और राज्य की सरकारों के वीच में विभिन्न एडजस्टमेंट		१३,०००
९—विशेष प्राप्तियाँ	...	७७,१०,०००
१०—रेवेन्यू रिजर्व फण्ड से	...	६६,००,०००
	कुल राजस्व	२०,४८,५०,०००
११—ऋण, जमा, हवालगी, रेमिटेन्स आदि	कुल जोड़	४८,०६,२६,०००
	कुल राजस्व और प्राप्तियाँ	७६,८६,६६,०००
१२—प्रारम्भिक रोकड़	... ...	७६,८२,०००
	महायोग	८०,६३,५१,०००

मध्य प्रदेश का बजट (१९५१-५२)

व्यय की मदें

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष माँग	
लगान	६४,७६,०००
राजकीय उत्पादन शुल्क	१५,८३,०००
मुद्रांक शुल्क	२,८२,०००
जंगलात	१,३६,४२,०००
रजिस्ट्रेशन	३,६४,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय	२,६७,०००
अन्य कर और शुल्क	४,३५,०००
कुल	२,८०,७६,०००
२—सिंचाई-राजस्व खाता	६४,८३,०००
३—ऋण सम्बन्धी	८८,८७,०००
४—नागरिक प्रशासन	
सामान्य प्रशासन	१,६१,६०,०००
न्याय	४३,१३,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट ...	२३,५८,०००
पुलिस	२,५०,५६,०००
वैज्ञानिक विभाग	१,७६,०००
शिक्षा	३,१६,८४,०००
चिकित्सा	७१,०७,०००
सार्वजनिक स्वास्थ्य	३०,४६,०००
कृषि	१,००,६६,०००
पशु-चिकित्सा	३२,४१,०००
सहकारिता	३६,३०,०००
उद्योग और रसद	७,५०,०००
हवाई यातायात	६५,०००
अन्य विभाग	३,३०,०००
कुल	११,१४,०९,०००
५—सार्वजनिक निर्माण	३,११,५१,०००

६—बिजली योजनायें	३४,५२,०००
७—अन्य	१,८१,१३,०००
कुल व्यय	२०,३०,६०,०००
८—पूँजीगत व्यय	३,४६,४५,०००
९—ऋण, जमा, हवालगी आदि	४७,०९,६४,०००
कुल व्यय और चुकारा	७९,४९,०१,०००
१०—शेष रोकड़	१,१४,५०,०००
महायोग	८०,६३,५१,०००

बम्बई का बजट (१९५१-५२)

राजस्व की मदें

१—राजस्व की मुख्य मुख्य मदें

आयकर (निगम कर को छोड़कर)	९,२४,०८,०००
लगान	६,६०,८७,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	१,०५,०५,०००
मुद्रांक शुल्क—	
जो न्याय सम्बन्धी नहीं है	२,१४,३५,०००
जो न्याय सम्बन्धी है	१,११,३२,०००
जंगलात	२,३०,५५,०००
रजिस्ट्रेशन	३०,६८,०००
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियाँ	१,४५,०७,०००
अन्य कर और शुल्क	१९,७०,५३,०००
कुल	४६,०२,५०,०००

२—नागरिक प्रशासन

न्याय	८५,६४,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	१८,६५,०००
पुलिस	४६,११,०००
पोर्ट्स और पाइलटेज	६६,०००
डेंग्स डिस्ट्रिक्ट	३३,७०,०००
शिक्षा	६८,४०,०००
चिकित्सा	५७,६८,०००

सार्वजनिक स्वास्थ्य	...	...	३६,०६,०००
कृषि ...	...	...	८४,०३,०००
पशु-चिकित्सा ...	...	....	३,२५,०००
सहकारिता	...	...	८,३०,०००
उद्योग ...	...	...	२३,३५,०००
अन्य विभाग ...	...	...	१,४३,८१,०००
		कुल	६,२७,८०,०००
३—सार्वजनिक निर्माण	...	...	६६,५५,०००
४—सिंचाई, जल यातायात आदि (जिनके लिए पूँजी-लेखा रखा जाता है और जिनके लिए नहीं रखा जाता है)			६५,२६,०००
५—ऋण सम्बन्धी	...	...	१,०६,२५,०००
६—अन्य ...	...	...	८४,५०,०००
७—केन्द्र और राज्य की सरकारों में एडजस्टमेंट्स ...			१६,०००
८—विशेष प्राप्तियाँ	...	...	२,६७,८१,०००
९—नागरिक रक्षा ...	...	...	४,०००
१०—राजस्व रक्षित कोष से	...	...	२,००,००,०००
		महायोग	६०,६५,२५,०००
रेवेन्यू खाते में खर्च से अधिक राजस्व		...	४,५०,०००
११—ऋण, जमा और हवालगी आदि		...	२,६६,७४,६१,०००
		कुल प्राप्तियाँ	३,२७,३९,८६,०००
१२—प्रारम्भिक रोकड़	...	...	१,४८,४४,०००
		अखिल महायोग	३,२८,८८,३०,०००

बम्बई का बजट (१९५१-५२)

व्यय की मदें

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष माँग

लगान	...	...	१,६४,३३,०००
प्रान्तीय उत्पादन शुल्क	...	...	३२,३३,०००
मुद्रांक शुल्क	...	...	५,०३,०००

जंगलात	१,१३,६८,०००
रजिस्ट्रेशन	१४,४७,०००
मोटर विहकल्स एक्ट के कारण व्यय ...	१,१२,७५,०००
अन्य कर और शुल्क	७६,६६,०००
कुल	५,१९,०८,०००
२—सिंचाई-राजस्व खाता	३,२७,४७,०००
३—नागरिक प्रशासन	
सामान्य प्रशासन	३,५९,९०,०००
न्याय	१,९८,०४,०००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	७१,५८,०००
पुलिस	९,०८,१७,०००
पोर्ट्स और पाइलोटेज	२,४७,०००
डेंग्स	३३,७७,०००
वैज्ञानिक विभाग	७,१७,०००
शिक्षा	११,९७,६८,०००
चिकित्सा	२,४७,६९,०००
सार्वनिक स्वास्थ्य	१,६०,८९,०००
कृषि	२,१८,०८,०००
पशु चिकित्सा	५१,२३,०००
सहकारिता	९२,३३,०००
उद्योग	७०,१८,०००
अन्य विभाग	३,३८,७२,०००
कुल	३९,५७,९०,०००
४—सार्वजनिक निर्माण	५,९३,२१,०००
५—अन्य	५,२३,६३,०००
६—ऋण सम्बन्धी	१,३८,४१,०००
७—विशेष मदें	३,०००
कुल खर्च राजस्व से	६०,५९,७३,०००

८—पूँजीगत व्यय	... ...	१०,५७,१३,०००
९—ऋण, जमा और हवालगी	... ...	२,६३,९३,६१,०००
	कुल चुकारा	३,३५,१०,५७,०००
१०—शेष रोकड़	... ...	६,२२,१७,०००
	महायोग	३,२८,८८,३०,०००

राजस्थान का बजट (१९५३-५४)

राजस्व और प्राप्तियाँ		(हजार रुपयों में)
१—राजस्व की मुख्य मदें		
संघीय उत्पादन-शुल्क	... ...	७७,७५
आय कर (निगम कर को छोड़कर)	...	२,००,२५
लगान	... ...	४,२५,००
राज्य का उत्पादन-शुल्क	... ...	२,७०,००
मुद्रांक	... ...	५४,००
जंगलात	... ...	४०,००
रजिस्ट्रेशन	... ...	२,७५
मोटर व्हिकल्स एक्ट से प्राप्तियाँ...	...	३५,००
अन्य कर और शुल्क (कस्टम सहित)	...	३,५०,००
	कुल	१४,५४,७५
२—सिंचाई, जल-यातायात आदि	...	२०,००
३—ऋण सम्बन्धी	... ...	५०,५०
४—नागरिक प्रशासन		
न्याय	... ...	४,७५
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	... ...	३,५०
पुलिस	... ...	९,००
शिक्षा	... ...	११,१०
चिकित्सा	... ...	३,६०
सार्वजनिक स्वास्थ्य	... ...	१०,६०
कृषि	... ...	२,६०
ग्राम सुधार	... ...	...
पशु चिकित्सा	... ...	२,८०

सहकारिता ...	...	...	...
उद्योग और रसद	...	...	२६,००
हवाई यातायात	...	...	...
अन्य विभाग...	...	...	५८,५०
		कुल	१,३३,७५
५—सार्वजनिक निर्माण	...	...	८१,००
६—बिजली योजनायें	...	...	...
७—अन्य ...	...	...	९३,००
८—अनुदान और अन्य लेन-देन केन्द्र और राज्यों में			६१,५५
९—विशेष मदें ...	...	...	४९,४५
		कुल राजस्व	१९.४४,००
१०—सार्वजनिक ऋण	...	...	३,३७,५०
११—राज्य सरकारों द्वारा दी गई हवालगी और ऋण			४५.०३
१२—सार्वजनिक लेखा	...	...	३१,८३,३१
		कुल राजस्व और प्राप्तियाँ	५५,०९,८४
१३—प्रारम्भिक रोकड़ ...	...	...	९२,३७
		महायोग	५६,०२,२१

राजस्थान का बजट (१९५३-५४)

व्यय का लेखा (हजार रुपयों में)

१—राजस्व पर प्रत्यक्ष माँग			
लगान ...	...	...	१,३०,९४
राज्य का उत्पादन-शुल्क	...	...	३८,००
मुद्रांक-शुल्क ...	...	...	१,४२
जगलात ...	...	...	२२,११
रजिस्ट्रेशन ...	...	...	१,५२
मोटर व्हिकल्स एक्ट के कारण व्यय		....	३,१५
अन्य कर और शुल्क	...	...	६५,९३
		कुल	२,६३,०७
२—सिंचाई आदि का राजस्व खाता		...	१,१३,१८
३—ऋण सम्बन्धी ...	...	....	२५,४०

४—नागरिक प्रशासन			
सामान्य शासन	...	...	१,५३,६०
न्याय ...	....	...	३३,००
जेल और कनविक्ट सेटलमेंट	...	...	२४,०३
पुलिस ...	...	....	३,०७,००
वैज्ञानिक विभाग	....	...	१२,०१
शिक्षा ...	....	...	२,६१,६०
चिकित्सा ...	....	....	१,१७,१४
सार्वजनिक स्वास्थ्य	...	...	४५,६०
कृषि ...	...	...	३४,७६
ग्राम सुधार और समाज सेवा	...	...	१३,६५
पशु चिकित्सा	...	....	१२,००
सहकारिता	...	....	७,४६
उद्योग और रसद	....	....	१६,८५
हवाई यातायात	....	....	...
अन्य विभाग ...	...	...	३४,७५
		कुल	११,०६,८८
५—सार्वजनिक निर्माण ...	...	...	१,०४,१५
६—सार्वजनिक निर्माण पर पूँजीगत खर्च राजस्व से		...	६५,६५
७—बिजली योजनाएँ (ब्याज)	...	...	६,६८
८—अन्य ...	....	....	१,८०,७६
९—विशेष मदें	....	...	७८,६१
		कुल खर्च राजस्व से	१६,४४,००
		राजस्व से अधिक खर्च	...
१०—पूँजीगत व्यय ...	....	...	२,६६,०५
११—सार्वजनिक ऋण, ...	....	...	२०,६०,
१२—राज्यों द्वारा दी गई हवालगी व ऋण		....	१,१७,७७
१३—सार्वजनिक लेखा		....	३१,५३,३२
		कुल खर्च और चुकारा	५५,२४,७४
१४—शेष रोकड़		...	७७,५७
		महायोग	५६,०२,३१

परिच्छेद १४

मूल आर्थिक समस्या—महगाई और उत्पादन वृद्धि

देश के आर्थिक जीवन के क्षेत्रों का हमने अब विस्तार पूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन का एक ही परिणाम है और वह यह कि हमारे देश की आर्थिक स्थिति आज अत्यन्त बुरी है। देश में फैली हुई निर्धनता और वेकारी अथवा अर्द्ध-वेकारी इसका जीवित प्रमाण है। हमारी बढ़ती हुई मँहगाई और असंतोष जनक उत्पादन की स्थिति इसका स्पष्ट लक्षण है। देश के आर्थिक जीवन की आज तो मूल समस्या एक ही है और वह यह कि किस प्रकार यह भयकर मंहगाई समाप्त हो और उत्पादन में वृद्धि हो। इस परिच्छेद में हम मंहगाई के प्रश्न पर थोड़ा विस्तार से अध्ययन करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध और मँहगाई : दूसरे महायुद्ध के समय में यह मंहगाई आरम्भ हुई थी। सवाल यह है कि इस मँहगाई का कारण क्या हुआ? मंहगाई का अर्थ है रुपये का मूल्य घट जाना और वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाना। हमारे समझने का विषय यह है कि रुपये का मूल्य तो क्यों घटा और वस्तुओं का मूल्य क्यों बढ़ा? अर्थशास्त्र का सामान्य सिद्धान्त है कि जब किसी चीज़ की मात्रा बढ़ जाती है पर उसकी मांग में कोई परिवर्तन नहीं होता तो उस चीज का मूल्य घट जाता है। अगर एक ओर मात्रा बढ़ जाय और दूसरी ओर माँग कम हो जाये तब तो कहना ही क्या? फिर तो उस चीज़ का मूल्य अत्यधिक घट जायगा। द्वितीय महायुद्ध के समय में हमारे देश में रुपये की यही स्थिति हुई। रुपये की मात्रा में तो वृद्धि हो गई और उसकी माँग में कमी हो गई। इसके पहले कि हम अपनी इस बात का प्रमाण दें रुपये की माँग में कमी होने का अर्थ क्या है यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है और रुपये की पूर्ति या मात्रा कैसे तय होती है यह भी जान लेना है। पहले रुपये की मात्रा को ही लें। किसी भी देश की रुपये की मात्रा उस देश की कुल मुद्रा और बैंकों की चालू जमा तथा उसके प्रचलन की गति से निश्चित होती है। जहाँ तक रुपये की माँग का सम्बध है वह इस बात से निश्चित होती है कि देश में क्रय-विक्रय की मात्रा कितनी है क्योंकि रुपये का काम क्रय-विक्रय के लिये उपयोग में आना ही है। जब देश में उत्पादन अधिक होता है और व्यापार-व्यवसाय में तेजी होती है तो रुपये के लिए काम अधिक होता है और जब उत्पादन कम होता है और व्यापार-व्यवसाय में मंदी होती है तो रुपये के लिये काम कम होता है। रुपये की मात्रा और माँग के बारे में इतना स्पष्टीकरण कर देने के बाद हम यह देखेंगे कि द्वितीय महायुद्ध के समय हमारे

देश में रुपये की मात्रा में कितनी वृद्धि हुई। और फिर रुपये की मांग के बारे में भी विचार करेंगे। द्वितीय महायुद्ध के समय देश में रुपये का कितना प्रसार हुआ यह नीचे दिये गये आंकड़ों से स्पष्ट हो सकेगा।

वर्ष (अप्रेल से मार्च)	कुल मुद्रा (करेंसी) प्रचलन में	जमा मुद्रा प्रचलन में	कुल मुद्रा प्रचलन में	इनडेक्स नम्बर
	(करोड़ रुपयों में)			
अन्तिम शुक्रवार				
१९३९-४०	३३९	१४५	४८४	११६.३
१९४०-४१	३५५	१७६	५३१	१२७.६
१९४१-४२	४९२	२३४	७२६	१७४.५
१९४२-४३	७५०	३६१	१,११४	२७७.१
१९४३-४४	९९१	५५९	१,५५०	३७२.६
१९४४-४५	११९७	६४८	१,८४५	४४३.५

आधार वर्ष १९३८-१९३९ = १००

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के समय हमारे देश में कुल रुपये या मुद्रा की मात्रा में काफी [चार गुना] विस्तार हुआ। अपने आपसे भी इस विस्तार का असर रुपये का मूल्य गिरना या चीजों का मंहगा होना ही होता। पर रुपये की मांग की दृष्टि से भी अगर विचार किया जाये तो इससे भिन्न कोई परिणाम नहीं आ सकता था। इन वर्षों में देश के औद्योगिक आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि अगस्त, १९३९ को १०० मान कर यदि चला जाय तो १९३९-४० में ११०.३, १९४०-४१ में ११४.२, १९४१-४२ में १२३.२, १९४२-४३ में १२५.५, १९४३-४४ में १२६.८ और १९४४-४५ में १२१.७ औद्योगिक उत्पादन का इनडेक्स था। कृषि उत्पादन का इनडेक्स १९३६-३७ से १९३८-३९ के औसत को १०० मानने पर १९३९-४० में ९९, १९४०-४१ में ९८, १९४१-४२ में ९५, १९४२-४३ में १०२ और १९४३-४४ में १०६ और १९४४ ४५ में १०१ था। इसका अर्थ यह है कि १९४३-४४ के बाद से तो हमारा औद्योगिक उत्पादन गिरना आरंभ हो गया पर १९४३-४४ में भी उसमें रुपये के विस्तार की अपेक्षा बहुत कम वृद्धि हुई थी। इसी प्रकार कृषि उत्पादन का हाल तो और भी असंतोष जनक रहा। १९४१-४२ तक तो इनडेक्स नम्बर १०० से कम रहा और अधिक से अधिक इनडक्स १९४३-४४ में १०६ तक पहुंचा। जब औद्योगिक उत्पादन का अधिकतम इनडेक्स १२६.८ और कृषि का १०६ था तब रुपये के विस्तार का इनडेक्स ३७२.६ तक पहुँच गया और १९४४-४५ में तो

औद्योगिक उत्पादन का इनडेक्स १२१·७ और कृषि उत्पादन का १०१ ही रह गया पर रुपये के विस्तार का इनडेक्स ४४३·५ तक पहुँच गया। सारांश यह है कि एक ओर तो रुपये का विस्तार हुआ, दूसरी ओर उत्पादन की मात्रा उसकी अपेक्षा बहुत कम अनुपात में बढ़ी या फिर कम हो गई। इसका सिवाय इसके और क्या नतीजा हो सकता था कि देश में महगाई बढ़ती जाती? इस संबंध में एक बात ध्यान में रखने की और हैं कि जहाँ तक जनसाधारण के उपभोग के लिये वस्तुओं की उपलब्धि का प्रश्न था उसकी मात्रा में सैनिक आवश्यकता के बढ़ जाने से बहुत कमी आ गई। इसका असर भी मंहगाई को बढ़ाना हुआ। बाहर के देशों से आने वाले माल की आयात में भी कई कारणों से युद्ध-काल में कमी हो गई थी। बर्मा के शत्रुओं के अधिकार में चले जाने से वहाँ से आने वाले चावल का आना बन्द हो गया। इसी तरह के दूसरे कारण भी उपस्थित हुए। यातायात की कठिनाई भी एक कारण था जिसके कारण मंहगाई बढ़ने में मदद मिली। उपर्युक्त तमाम परिस्थितियों के कारण देश में मंहगाई बढ़ने लगी। पर इन परिस्थितियों का आधार रुपये की मात्रा का बढ़ना और उत्पादन का न बढ़ना बल्कि नागरिक उपभोग के लिये वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा में उल्टी कमी आ जाना ही था। युद्ध-काल में हमारे देश में मंहगाई और रहन सहन का व्यय कितना बढ़ा इसका अनुमान नीचे की तालिका से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	थोक मूल्य देशनांक आधार १९ अगस्त, १९३९ को समाप्त होने वाला सप्ताह=१००	रहन सहन का व्यय देशनांक (बंबई) आधार वर्ष अगस्त १९३९=१००
१९३९–४० (सितंबर-मार्च)	१२५·६	१०५
१९४०–४१	११४·८	१०९
१९४१–४२	१३७·०	१२२
१९४२–४३	१७१·०	१६६
१९४३–४४	२३६·५	२२६
१९४४–४५	२४४·२	२२५

उपर्युक्त आंकड़ों का सार यह है कि युद्ध के पहले जो कीमतें थीं वे युद्ध समाप्त होने तक ढाई गुनी के लगभग बढ़ गईं। रहन सहन के व्यय में भी लगभग इसी अनुपात में वृद्धि हुई। हमारे देश की इस स्थिति का मुकाबला दुनियाँ के कुछ दूसरे देशों से करें तो मालूम होगा कि हमारी स्थिति बहुत खराब रही है। उदाहरण के लिये १९३७ को आधार मान कर देखने पर पता चलता है कि

अमेरिका में थोक माल की कीमतों का देशनांक १६४५ में १२३, यूनाइटेड किंगडम में १५५, कनाडा में १२२ और आस्ट्रेलिया में १४० ही था। इसका अर्थ यह है कि युद्ध समाप्त होने तक जहाँ भारत में ढाई गुनी कीमतें बढ़ गईं, इन देशों में डेढ़ गुनी या उससे कम वृद्धि हुई।

युद्ध आरम्भ होने के प्रथम कुछ वर्षों में तो भारत सरकार ने इस मंहगाई के प्रश्न की ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। १६४३ के उत्तरार्द्ध में स्थिति बहुत बिगड़ गई तो भारत सरकार ने मूल्य नियंत्रण करना आरम्भ किया। इस समय तक देश की खाद्य स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी। बर्मा से चावल आना बन्द हो गया था। परिणाम स्वरूप बंगाल में अत्यन्त भीषण अकाल पड़ा और लाखों मनुष्य काल के ग्रास बन गये। भारत सरकार ने बढ़ती हुई मुद्रा स्थिति और मंहगाई को रोकने के लिये करों की वसूली जल्दी करना शुरू कर दिया (अतिरिक्त लाभ-कर साल भर की बजाय हर तीसरे महीने वसूल किया जाने लगा); रिज़र्व बैंक ने सोना बेचना आरंभ किया; कॉटन क्लाथ एण्ड यार्न कन्ट्रोल आर्डर तथा होर्डिङ्ग एण्ड प्रोफ़ीटियरिंग प्रीवेन्शन आर्डिनेन्स पास किये गये, और ग्रामीण जनता में छोटे पैमाने पर बचत करने के लिये प्रचार की व्यवस्था की गई; ऋण लेने का सरकार ने कार्यक्रम बनाया; देश में उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा की गई; बाहर से अधिक माल और अन्न मंगाने का प्रयत्न किया गया और बड़े बड़े शहरों और कस्बों में अन्न, वस्त्र, शकर तथा दूसरे आवश्यक पदार्थों का राशनिंग जारी किया गया। सारांश यह है कि सरकार ने स्थिति को काबू में लाने के चहुँमुखी प्रयत्न करने शुरू किये। इन सबका नतीजा किसी हद तक आया। १६४३ के आखिरी महीनों में स्थिति थोड़ी काबू में आई। मंहगाई की गति धीमी पड़ी। तेज़ी से जो क़ीमतें बढ़ने लगी थीं उस स्थिति में थोड़े समय के लिये सुधार आया। थोक मूल्य का देशनांक १६४२-४३ में १७१ से बढ़कर १६४३-४४ में जहाँ २३६-५ पर पहुँच गया था वहाँ १६४४-४५ में २४४'२ तक ही बढ़ा। इसी समय अगस्त, १६४५ में युद्ध समाप्त हो गया। अब इस युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करेंगे।

युद्ध के बाद की मंहगाई की स्थिति: जब युद्ध समाप्त हुआ तो लोगों के मन में यह स्वाभाविक आशा थी कि युद्ध-काल की मंहगाई का अन्त हो जायगा, नियंत्रण नहीं रहेगा और आर्थिक जीवन पूर्ववत् चलने लगेगा। पर यह सब कुछ हुआ नहीं। न मंहगाई में कमी आई और न नियंत्रण ही हटा। लोगों की आर्थिक दशा बराबर बिगड़ती गई, मंहगाई बढ़ती गई और हमारा आर्थिक जीवन एक प्रकार से संकट की ओर बढ़ता गया। युद्ध के बाद मंहगाई

कितनी बढ़ी इसका अनुमान नीचे दी गई तालिका से लग सकेगा :—

१६ अगस्त, १६३६ में समाप्त होने वाला सप्ताह=१००

वर्ष	थोक मूल्य देशनांक
[अप्रेल-मार्च]	
१६४५-४६	२४४'६
१६४६-४७	२७५.४
१६४७-४८	३०७'०
जनरल परपज सिरीज	अगस्त १६३६ में समाप्त वर्ष=१००
१६४७-४८	३०८'२
१६४८-४६	३७६'२
१६४६-५०	३८५'४
१६५०-५१	४०६'७
१६५१-५२	४३४·६
१६५२-५३	३८०.६
मार्च १६५३	३८५'२

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि युद्ध के बाद मूल्यों में वृद्धि बराबर जारी रही। प्रश्न यह है कि युद्ध समाप्त होने के बाद मूल्यों में यह वृद्धि क्यों जारी रही। नीचे हम उत्पादन और मुद्रा सम्बन्धी आंकड़े देते हैं जिससे यह पता चलेगा कि युद्ध के बाद के वर्षों में देश की उत्पादन और मुद्रा सम्बन्धी स्थिति क्या रही।

मुद्रा

वर्ष [अन्तिम शुक्रवार]	करोड़ रुपये	अन्तर
मार्च १६४५	१६२२	
,, १६४६	२१७६	+ २५७
,, १६४७	२१६७	+ १८
,, १६४८	२३०३	+ १०६

{ आंकड़ों में अन्तिम शुक्रवार को अन्तर : }

१६४८-१६४६	-४३·३
१६४६-१६५०	-१८·४

औद्योगिक उत्पादन

१६४६=१००

वर्ष	देशनांक
१६४६	१००
१६४७	६७·४
१६४८	१०८·६
१६४६	१०६·३
१६५०	१०५·२
१६५१	११६·६

[रिज़र्व बैंक बुलेटिन, पृष्ठ २६२]
अप्रेल १६५२

१९५०-१९५१	+९९·२	१९५२	११८·६
१९५१-१९५२	—१७२·०		
{ करेन्सी-फाइनेन्स रिपोर्ट १९५०-१५ स्टेटमेंट १६ तथा १६ अ }			[रिज़र्व बैंक बुलेटिन अप्रैल १९५३]

कृषि उत्पादन के सबंध में करेन्सी-फ़ाइनेन्स रिपोर्ट १९५१-५२ के स्टेटमेंट १२ से यह प्रकट होता है कि १९४५ में कुल उत्पादन ४ करोड़ ६० लाख टन के लगभग आंका गया था वह १९४६ में ४ करोड़ ७ लाख टन, १९४७ में ४ करोड़ २१ लाख टन, १९४८ में ४ करोड़ ४३ लाख टन, १९४९ में ४ करोड़ ४२ लाख टन था। ये आंकड़े कृषि वर्ष जो जून में समाप्त होता हैं, से सबंध रखते हैं और जिन प्रदेशों से सूचना मिलती है उन्हीं के हैं। पर यदि सूचना और बिना सूचना के सब प्रदेशों के आधार पर विचार करें तो १९४८-४९ में कुल उत्पादन ४ करोड़ ७८ लाख टन, १९४९-५० में ४ करोड़ ६६ लाख टन और १९५०-५१ में ४ करोड़ ५५ लाख टन के लगभग था।

मुद्रा और उत्पादन संबंधी उपरोक्त आंकड़ों से नीचे लिखे परिमाण निकाले जा सकते हैं। मुद्रा की मात्रा १९४८ के मार्च तक बराबर बढ़ी पर मार्च १९४७ को तो वृद्धि की मात्रा बहुत ही कम थी और मार्च १९४८ को भी मार्च १९४६ से बहुत कम थी। उसके बाद दो वर्ष तक मुद्रा की मात्रा में कमी हुई यद्यपि १९५०-५१ में फिर मुद्रा की मात्रा बढ़ गई। १९५१-५२ में इस मात्रा में काफी बड़ी कमी आगई। जहाँ तक मूल्यों का संबंध है उनमें १९५१-५२ तक ऐसा कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता और वे बराबर बढ़ते ही गये। मूल्यों की यह वृद्धि मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन से स्पष्ट नहीं होती। १९४८-४९ और १९४९-५० में जब मुद्रा की मात्रा कम हुई तब भी मूल्यों में वृद्धि जारी रही। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन के आंकड़ों से भी यह स्थिति स्पष्ट नहीं होती क्योंकि १९४६ की अपेक्षा १९४७ में केवल ·६ से उत्पादन में कमी आई। वैसे और वर्षों में उत्पादन बराबर अधिक ही रहा है। कृषि उत्पादन में कमी आई पर मूल्य की वृद्धि को देखते हुए यह कमी अधिक नहीं थी। युद्ध समाप्त होने के बाद १९५१-५२ तक मूल्यों में लगभग १$\frac{३}{४}$ गुना वृद्धि होगई पर इसके मुक़ाबले में औद्योगिक उत्पादन में कुल मिलाकर वृद्धि ही हुई और कृषि उत्पादन में भी जो कमी किसी वर्ष में हुई तो वह नगण्य सी ही है। स्पष्ट है कि मूल्यों की वृद्धि उत्पादन में जो कमी हुई है उससे कहीं अधिक हुई। इसका यह अर्थ है कि मूल्यों की इस वृद्धि के लिये कोई न कोई मुद्रा सम्बन्धी कारण ही ज़िम्मेदार रहा। यह मुद्रा सम्बन्धी कारण सरकार द्वारा किया जाने वाला प्रति वर्ष बढ़ता हुआ खर्च रहा।

युद्ध समाप्त होने के बाद भी भारत सरकार के अगर राजस्व और पूँजीगत दोनों बजटों के आमद और खर्च को मिलाकर देखें तो बराबर घाटे के बजट रहे हैं। इधर १९५०-५१ से राज्यों द्वारा बहुत व्यय हुआ और राज्य की सरकारों की आर्थिक स्थिति बिगड़ी। सार यह है कि युद्ध के बाद जो महगाई हुई उसमें सरकार के घाटे के वित्त का बहुत बड़ा हिस्सा रहा। इसके अलावा कोरिया युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में वृद्धि हुई और उसका असर भी भारत पर पड़ा। १९४९ में रुपये का अवमूल्यन किया गया। इसने भी मूल्य-वृद्धि की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। डालर की कमी के कारण आयात में भी कमी हो गई। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच में कई महीनों तक व्यापार बन्द रहा क्योंकि विनिमय दर का प्रश्न नहीं सुलझ रहा था। कपास और पटसन की इससे कमी आई और इसका असर भी मूल्यों को बढ़ाने का हुआ। पाकिस्तान ने आखिर अपने रुपये के अव-मूल्यन न करने के निश्चय को ही कायम रखा। इससे पाकिस्तान से आने वाले माल का भारत में महगा पड़ने का असर हुआ। उपरोक्त मुख्य-मुख्य कारणों से युद्ध के बाद भी मूल्य बढ़ते ही रहे।

१९४८ में जब मूल्यों में बहुत तेजी आई तो भारत सरकार ने इस प्रश्न पर कुछ स्वतंत्र अर्थशास्त्रियों से राय ली। उन्होंने जो मंहगाई के कारण बताये थे उनमें उपरोक्त कारणों के अलावा कुछ और कारणों का भी उल्लेख था। वे कारण यह थे—(१) पाकिस्तान से जो विस्थापित आये उन्होंने अपनी पूँजी को रुपये में बदल लिया और इससे भी रुपये की मात्रा बढ़ी। (२) रिजर्व बैंक ने भारत सरकार की प्रतिभूतियों के मूल्य को कायम रखने के लिये उनको खरीदा। उससे रुपये की मात्रा बढ़ी। (३) चोर बाजार में कमाये हुए और आय कर की चोरी करने वाले रुपये का असर भी मूल्य बढ़ाने का ही हुआ। (४) वेतन और मंहगाई की वृद्धि। (५) सरकार के ऋण लेने और बचत को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रम की असफलता। (६) हमारे देश में निर्मित और बाहर से आने वाले दोनों प्रकार के माल की कमी। (७) सट्टा और माल संचय करने की वृत्ति। यह वृत्ति व्यापारियों या सट्टे करने वालों तक ही सीमित न रहकर सर्वसाधारण तक में युद्ध-काल में फैल गई थी। (८) भारत सरकार की नियंत्रण नीति की असफलता। ये ही वे सब कारण थे जिन्होंने युद्ध और युद्धोत्तर काल में मंहगाई को जन्म दिया और उसे बढ़ने दिया।

मंहगाई को रोकने के सरकार के प्रयत्न :—मंहगाई को रोकने के भारत सरकार और राज्य की सरकारों ने बराबर प्रयत्न किये। नई मुद्रा की मात्रा में सरकार ने धीरे धीरे कमी की। कई प्रकार से कर भी बढ़ाये। बचत को

प्रोत्साहन देने की योजनायें अमल में लाने का प्रयत्न किया गया। सट्टे पर प्रतिबंध लगाया गया। कपास में 'हेज कॉन्ट्रैक्ट' पर रोक लगादी गई। गेहूं आदि चीजों के आगे के लेन-देन बन्द कर दिये गये। सोना और चाँदी के आगे के लेन-देन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। केपीटल इश्यू कन्ट्रोल आर्डर लागू किया गया। राशनिंग और मूल्यों का नियंत्रण किया गया। यातायात के सम्बन्ध में सुधार करने की कोशिश हुई और अन्न आदि वस्तुओं को लाने लेजाने में प्राथमिकता दी गई। सरकार ने यह भी बराबर चाहा है कि देश में उत्पादन बढ़े। पर इन सब प्रयत्नों का १९५१ तक कोई खास असर नहीं हुआ और हमारी आर्थिक स्थिति दिनों दिन संकट के किनारे पहुँचती गई। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय कारणों का भी इस स्थिति को बिगाड़ने में हाथ रहा।

स्थिति में परिवर्तन के लक्षण :—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगया है कि युद्ध समाप्त होने के बाद भी देश में मंहगाई बढ़ती रही और उत्पादन में प्रगति न हो सकी। उदाहरण के तौर पर, यदि १९४८ का हम विचार न करें तो १९४९ में १९४८ की और १९५० में १९४९ की अपेक्षा देश का औद्योगिक उत्पादन कम रहा। १९४७ में तो एक प्रकार से देश में उत्पादन संकट ही उत्पन्न हो गया था। मूल्यों के बारे में भी यही स्थिति थी। मध्य-अप्रेल १९५१ में थोक मूल्यों का देशनांक ४६२·० तक पहुँच गया था। पर सन्तोष का विषय है कि १९५१ और १९५ में मूल्यों और उत्पादन सम्बन्धी स्थितियों में बराबर सुधार हुआ है। इस सम्बन्ध में हम थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

मूल्यों में ह्रास :—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है मध्य-अप्रेल १९५१ में थोक मूल्यों का देशनांक ४६२·० पर पहुँच गया था। उसके बाद उनमें कमी आना शुरू हुआ और दिसम्बर १९५१ में ४३३.१ तक वह गिर गया। मूल्यों का यह ह्रास १९५२ की मई तक जारी रहा। मई १९५२ में थोक मूल्यों का देशनांक ३६७.१ था। उसके बाद मूल्यों में फिर तेजी आई और सितंबर १९५२ में देशनांक ३८९.० पर पहुँच गया। पर उसके बाद फिर इसमें ह्रास हुआ और नवम्बर १९५२ में थोक मूल्यों का देशनांक ३८३.४ तथा दिसंबर १९५२ में ३७२.७ तक पहुँच गया। मूल्यों में जिस ह्रास का यहाँ उल्लेख किया गया है उसके कई कारण, अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कारणों में संयुक्त राज्य अमेरिका की युद्ध की दृष्टि से वस्तुओं की संचय नीति में ढिलाई आ जाना, पुनः शस्त्रीकरण के कार्यक्रम को लम्बा कर देना, अन्तर्राष्ट्रीय कमोडिटी कोन्फ्रेंस द्वारा वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय बटवारे को अधिक न्यायोचित बटवारे पर करना, अमेरिका की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होने से बाज़ार पर खरीददारों का दबाव कम हो जाना,

और विभिन्न देशों की साख तथा मुद्रा नीति में कड़ाई आ जाना मुख्य कारण रहे हैं। राष्ट्रीय कारणों में रिज़र्व बैंक द्वारा साख के नियंत्रण को कड़ा कर देना और रिज़र्व बैंक की दर को ३% से ३½% नवम्बर १९५१ में बढ़ा देना, खाद्यान्न का १९५१ में बड़ी मात्रा में आयात होना, औद्योगिक उत्पादन का लगातार बढ़ना और १९५१-५२ के भारत सरकार के सामान्य बजट में बड़ी मात्रा में बचत का अनुमान होना मुख्य कारण माने जा सकते हैं।

मार्च १९५२ का संकट :—मूल्यों में होने वाली इस कमी के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय घटना का यहाँ जिक्र कर देना भी अनुचित न होगा। उस घटना का सम्बन्ध १९५२ के प्रारम्भ में मूल्यों में अचानक ह्रास हो जाने से है। थोक मूल्यों का देशनांक जनवरी १९५२ में ४३०.३ था। वह फरवरी में एक दम लगभग १५ पोइंट गिर गया और ४१५.८ पर आ गया। मार्च के प्रथम सप्ताह में तो भाव और भी गिर गये और मार्च के मध्य तक यह गति और भी तीव्र हो गई। मार्च के उत्तरार्द्ध में जाकर मूल्यों में वापिस तेजी आना शुरू हुई। मार्च में थोक मूल्यों का देशनांक ३७७'५ तक गिर गया था। अप्रैल में स्थिति में थोड़ा सा सुधार आया पर मई में फिर मूल्य गिरे और थोक मूल्यों का देशनांक ३६७'१ तक पहुँच गया। उसके बाद स्थिति में जैसे सुधार हुआ है उसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। फरवरी और मार्च के पूर्वार्द्ध में जो कई वस्तुओं के मूल्य में अचानक गिरावट आई वह, तिलहन और तेल में आरम्भ हुई और बाद में कई चीजों में फैल गई जैसे चाँदी, सोना, कपास, गुड़, मसाला जिसमें काली मिर्च खास तौर से। उदाहरण के तौर पर गुड़ का देशनांक कोरिया युद्ध के पहले (२४ जून, १९५०) ४८५ था और मध्य-अप्रैल १९५१ में ३०५ था। वह मध्य-मार्च १९५२ में गिरकर ११६ पर आ गया। तिलहन में मध्य-अप्रैल १९५१ की तुलना में मध्य-मार्च १९५२ में मूगफली का देशनाँक ८३१ से ४५२, अरडी के बीज का ८५६ से ४४६ और अलसी का ६५४ से ३७६ तक आगया था। कच्चे कपास का भाव मध्य-अप्रैल में ४९१ से मध्य-मार्च में ३२६ और कच्चे जूट का १४०० से ४६३ आगया था। कुल वस्तुओं का देशनांक मध्य-अप्रैल १९५१ में ४६२.० से ३६४.९ पर आगया था। फरवरी-मार्च १९५२ में मूल्यों में जो एक दम गिरावट आई उसका सबसे प्रमुख कारण सट्टे का व्यापार करने वालों द्वारा अपनी क्षमता से बाहर सौदे कर लेना था। बावजूद प्रतिकूल प्रवृत्ति के उन्होंने भविष्य में कीमतें बढ़ने की आशा पर बहुत सी खरीददारी कर डाली। जब उनकी यह आशा भग होने लगी तो घबराकर उन्होंने बेचना आरम्भ किया और इससे एक दम बाजार में गिरावट आ गई। यह गिरावट तैयार माल में अपेक्षाकृत

बहुत कम आई थी। सारांश यह है कि सट्टे करने वालों ने कृत्रिम तौर पर भावों में तेज़ी पैदा कर रखी थी और उसका अन्त होना आवश्यक था। यही हुआ भी। भारत सरकार ने पहले तो इस स्थिति पर संतोष प्रकट किया और व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग के दबाव की अवहेलना करना चाहा पर अन्ततोगत्वा सरकार को अपना रुख बदलना पड़ा। फलतः देश के अन्दर के कुछ चीज़ों के नियंत्रण को (कपड़ा, इस्पात, कच्चा कपास) ढीला किया गया। विभिन्न वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने और प्रोत्साहन देने के भी कई कदम मार्च और अप्रैल १९५२ में भारत सरकार ने उठाये। उदाहरण के तौर पर, निर्यात कर कम किये गए (कच्चा कपास, मुलायम खारिज रुई) या बिलकुल हटा लिये गये (ऊन, मूंगफली का तेल, करडी और नाइगर बीज)। कई चीज़ों के निर्यात की स्वीकृति दी गई जैसे गुड़, शकर और कई चीज़ों के निर्यात की अतिरिक्त स्वीकृति दी गई। जूट के तैयार माल, कपड़ा आदि के निर्यात पर जो प्रतिबंध थे वह कम कर दिये गये या हटा दिये गये। रबड़ के सामान का निर्यात के लिये 'फ्री लाइसेंसिंग' जारी कर दिया गया। भारत सरकार की निर्यात को प्रोत्साहन देने की यह नीति बाद में भी बराबर जारी है। वस्तुओं के निर्यात की अतिरिक्त स्वीकृति देकर, 'फ्री लाइसेंसिंग' जारी करके, निर्यात संबंधी स्थान-नियंत्रण को हटाकर, और निर्यात-कर को कम करके या हटा करके भारत सरकार देश के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देती रही है। सरकार की इस नीति का असर मूल्यों में जो फ़रवरी-मार्च १९५२ में एकदम गिरावट आई थी उसे रोकने का और मूल्यों में वापिस तेज़ी लाने का हुआ है। और संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कुछ चीज़ों जैसे चाय, कच्चा जूट, जूट का तैयार माल, लाख और जस्त को छोड़ कर, अधिकांश खास-खास वस्तुओं के मूल्य, जिनमें निर्यात की वस्तुएं भी शामिल हैं, मध्य मार्च के मूल्यों से कहीं अधिक हैं। २२ नवम्बर १९५२ को गुड़ का मूल्य ५६%, कच्चे कपास का २०.९%, मूंगफली का ३५%, अलसी का ८.८%, अरंडी के बीज का २०.६% और कपास के बीज का ४७.७% मध्य-मार्च १९५२ के मूल्यों की अपेक्षा अधिक था। (रिज़र्व बैंक बुलेटिन दिसंबर, १९५२)। उसके बाद तो मूल्यों में और वृद्धि हुई है।

उत्पादन में वृद्धि—यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि देश की उत्पादन संबंधी स्थिति में भी १९५१ और १९५२ में सुधार हुआ। १९४६ को १०० मान कर देश के औद्योगिक उत्पादन का देशनांक १९५० में १०५.२ था। १९५१ में वह बढ़ कर ११७.२ हो गया। जब फ़रवरी-मार्च १९५२ में बाज़ार में अचानक गिरावट आई, उसी समय देश के कपड़े, जूट, और शकर जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों के बारे में भी

यह सुनने को मिला कि मिलों के पास माल अधिक जमा हो रहा है और बाजार में मांग की कमी है और इस कारण से उत्पादन में कमी करनी होगी। चीज़ों के मूल्य में जो तेजी से उस समय मंदी आरही थी उसका भी इस संबंध में विपरीत असर पड़ेगा, यह आशंका प्रकट की जा रही थी। पर संतोष का विषय है कि १९५२ में औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में प्रगति हुई है और १९५२ में औद्योगिक उत्पादन का देशनांक १२८.९ तक पहुँच गया। सब प्रमुख-प्रमुख उद्योगों जैसे कपड़ा, पटसन, सीमेंट, शकर, इस्पात और कोयले का उत्पादन १९५१ की अपेक्षा बढ़ा है। फरवरी-मार्च १९५२ में मूल्यों में होने वाले ह्रास के बाद भी उत्पादन के बढ़ने के कई कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि भारत सरकार ने उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये व्यवसायी वर्ग की मांगों की पूर्ति करने के कई क़दम उठाये। साख सबंधी नियंत्रण को किसी हद तक ढीला किया गया ताकि मिलों को कार्यशील पूँजी के लिये साख आसानी से मिल सके। उत्पादन और वितरण तथा निर्यात का नियत्रण भी ढीला किया गया। उदाहरण के लिये कपड़ों की मिलों को ८०% तक उनकी इच्छानुसार वेचने की छूट देदी गई। निर्यात के संबंध में हम ऊपर लिख ही चुके हैं। इसके अलावा यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि कोरिया युद्ध के बाद संसार के दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में नियंत्रण की कड़ाई के कारण मूल्यों में कम वृद्धि हुई थी और इसलिये उनमें कमी भी कम हुई। श्रमिक वर्ग की आय में कोई कमी नहीं हुई। किसानों पर भी फ़रवरी-मार्च में मूल्यों में कमी का असर नहीं पड़ा क्योंकि उसके पहले वे अपना माल व्यापारियों को बेच चुके थे। इसके अलावा औद्योगिक कच्चे माल के मूल्यों में कमी होने का असर भी अच्छा पड़ा। मज़दूर-पूँजीपति के संबंध भी सतोषजनक रहे। उपरोक्त सब कारणों से १९५२ में औद्योगिक उत्पादन बढ़ा और वर्ष के आरम्भ में जो संकट की आशंका हुई थी, वह निर्मूल साबित हुई। १९५२ में कृषि-उत्पादन के सम्बन्ध में स्थिति यह रही कि कपास, पटसन, और शक्कर के उत्पादन में तो वृद्धि हुई, यद्यपि तिलहन का उत्पादन अवश्य घटा। अन्न पदार्थों के उत्पादन में भी १९५१ की अपेक्षा कुछ कमी का अनुमान किया गया। पर कुल मिलाकर १९५२ में देश में अन्न सम्बन्धी स्थिति सतोषजनक रही और १९५१ की अपेक्षा १९५२ में अन्न का आयात भी कम हुआ।

उपसंहार :—उपर्युक्त विवरण से यह मालूम होता है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में जो आर्थिक असतुलन उत्पन्न हुआ था उसका अब अन्त हुआ है। देश में मँहगाई कम हुई है, उत्पादन बढ़ा है और आर्थिक-जीवन में संतुलन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे हैं। एक दृष्टि से यह स्थिति संतोषजनक कही जा सकती

है। वह दृष्टि है वर्तमान को बनाये रखने (स्टेटस कुओ) की। पर हमें समझना चाहिये कि हमारे देश का मूल आर्थिक प्रश्न देश की जो गिरी हुई आर्थिक स्थिति है उसे जैसे-तैसे बनाये रखने की नहीं है। देश की आम जनता और खास तौर से मध्यम वर्ग के लोगों पर से महगाई का बोझ हटा नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के पहले की अपेक्षा आज भी लगभग चार गुनी मँहगाई है और आय में वृद्धि अपेक्षाकृत बहुत कम हुई है। अगर पिछले दो वर्षों की स्थिति से आम सतोष अनुभव होता है तो उसका यही कारण है कि स्थिति बिगड़ने से रुकी है और जिस गिरी हुई स्थिति से जनता अभ्यस्त होगई थी उसमें कुछ सुधार के चिन्ह प्रकट हुए हैं। पर वास्तव में तो आम लोगों की आर्थिक-स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। देश के आर्थिक-जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन करने की जरूरत है ताकि गरीबी और बेकारी मिटे और आर्थिक-समानता और सामाजिक-न्याय की स्थापना हो। इसी दृष्टि से भारत सरकार ने जो प्रथम पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया है उस पर हम अगले परिच्छेद में विचार करेंगे।

परिच्छेद १५
आर्थिक योजना

आज सब विचारशील व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकती। साथ में इस बात में भी कोई मतभेद नहीं है कि देश का आर्थिक-जीवन पूर्णतया व्यक्तिगत व्यवसायियों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। जनहित की दृष्टि से उसमें राज्य का हस्तक्षेप होना अनिवार्य है। पर इससे आगे विचारों की समानता का अन्त हो जाता है। जब हम भावी अर्थ-रचना के प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो अनेकों प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं, और उन प्रश्नों पर भिन्न भिन्न विचार के लोग अपनी अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। भारतवर्ष के सामने इस समय जो सबसे आधार-भूत प्रश्न है वह समाज की इस नई रचना से ही सम्बन्ध रखता है। हम इस परिच्छेद में इसी समस्या पर विचार करेंगे।

हमारा जीवन-दर्शन क्या हो? : समाज-रचना के प्रश्न पर विचार करना जब हम आरम्भ करते हैं तो सबसे पहला सवाल जो हमारे सामने आना चाहिये वह है जीवन सम्बन्धी हमारे दर्शन का। वर्तमान पश्चिम की सभ्यता ने हमारे सामने जिस जीवन-दर्शन को उपस्थित किया है उसका आधार आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना और उनकी तृप्ति के लिये बराबर प्रयत्न करते रहना है। औद्योगिक पूँजीवाद के प्रसार और विकास के लिये इस जीवन-दर्शन की ही आवश्यकता थी और इसलिये आज उसका सर्वत्र प्रचार भी हमें देखने को मिलता है। जिस जीवन दर्शन के हम पक्ष में हैं और जो भावी शोषण रहित और वर्ग-विहीन समाज के उपयुक्त हो सकता है उसके अनुसार आवश्यकताओं की केवल अभिवृद्धि ही हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता। जिस समाज रचना का ध्येय लाभ कमाना नहीं बल्कि मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति होगा, उस समाज-रचना के अनुकूल तो यही जीवन-दर्शन हो सकता है कि मनुष्य अपना सच्चा उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करना समझे। ऐसी दशा में मनुष्य उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहेगा जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगी। इसका अर्थ अपने आप से सरल और सादे जीवन की ओर झुकाव होने का हो जाता है और आवश्यकताओं की अभिवृद्धि नहीं बल्कि उनको परिष्कृत करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य बन जाता है। हम जिस नयी समाज-रचना की कल्पना करना चाहते हैं उसका आधार जीवन सम्बन्धी

यही दृष्टिकोण होना चाहिये।

हमारा सामाजिक लक्ष्य—सुरक्षा, स्वतंत्रता और अवकाश : जीवन-दर्शन के बारे में विचार कर लेने के बाद दूसरा प्रश्न हमारे सामाजिक लक्ष्य का उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में हम किस प्रकार की समाज-रचना को ठीक समझते हैं। यह हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य का सच्चा उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। जो समाज-रचना इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही हमारे विचार से सही समाज-रचना समझी जानी चाहिये। इस दृष्टि से भावी समाज-रचना में प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित तीन बातों की प्राप्ति होना आवश्यक है—(१) सुरक्षा (२) स्वतंत्रता (३) अवकाश।

'सुरक्षा' से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को आधुनिक सभ्य समाज के अनुरूप रहन-सहन का दर्जा प्राप्त होना चाहिये। इसके लिए यथेष्ठ मात्रा में उत्पादन और न्यायपूर्ण वितरण की आवश्यकता होगी। 'सुरक्षा' से हमारा अर्थ आर्थिक सुरक्षा है। परन्तु मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आर्थिक सुरक्षा के अलावा राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से 'स्वतंत्रता' भी चाहिये। संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होना चाहिये कि वह किसी महान् यन्त्र अथवा व्यवस्था का एक पुर्जा अथवा अंग मात्र ही नहीं है, बल्कि अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, और जिस समाज-व्यवस्था में वह रहता है उसका वह सचालक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो काम करना पड़ता है उसको करने के बाद उसके पास 'अवकाश' रहे जिसका उपयोग वह जीवन की उच्चतर प्रवृत्तियों, जैसे कला, साहित्य आदि के लिये कर सके। सारांश यह है कि मनुष्य के 'व्यक्तित्व' के विकास की दृष्टि से उसी समाज-व्यवस्था को श्रेष्ठ माना जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक की दृष्टि से सुरक्षा, नागरिक की दृष्टि से स्वतंत्रता और उपभोक्ता की दृष्टि से 'अवकाश' प्राप्त हो।

सही अर्थ-रचना का स्वरूप : यह तो सर्वमान्य बात है कि उपर्युक्त आदर्श को पूरा करने वाली अर्थ-रचना पूँजीवादी नहीं हो सकती। उसका स्वरुप जिसे आज मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था (मिक्स्ड इकोनोमी) कहते हैं, वह भी नहीं हो सकता। इस संबंध में एक विद्वान लेखक के ये शब्द उल्लेखनीय हैं :— "अर्थ-रचना के केवल दो स्वरूप हैं जिनमें से किसी एक को चुनना होगा—(१) राजकीय आधार पर चलने वाली व्यवस्था और (२) व्यक्तिगत आधार पर चलने वाली व्यवस्था।" "इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच में दोनों का सम्मिश्रण

हो सकता है। पर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती जो इन दोनों से ही भिन्न हो।" जहाँ तक आर्थिक योजना का प्रश्न है इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में मौलिक भेद है। राज्य संचालित व्यवस्था में देश के उत्पादन साधनों पर राज्य का पूर्ण अधिकार होता है और इस वास्ते राज्य सीधी तौर पर आयोजन कर सकता है। पर जिस व्यवस्था में व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रधानता होती है वहाँ सरकार सीधा आयोजन नहीं कर सकती। ऐसी व्यवस्था में राज्य का काम यह हो जाता है कि व्यक्तिगत-व्यवसाय की कमी-वेशी को पूरी करे, उसे आवश्यकता पड़ने पर प्रोत्साहन दे या उसे नियंत्रित और प्रतिबंधित करे। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यक्तिगत व्यवसाय-प्रधान अर्थ-रचना में योजना के अनुसार आर्थिक-जीवन का संचालन उतना सफल नहीं हो सकता जितना राज्य-सचालित अर्थ-व्यवस्था में संभव है। व्यक्तिगत व्यवसाय-प्रधान आर्थिक-जीवन में योजना के अनुसार काम करने की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए जे० आर० वेलेरली अपनी 'इकॉनोमिक रिकन्सट्रक्शन' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में एक स्थान पर लिखते हैं "ऐसे प्रमाण हैं कि व्यक्तिगत व्यवसाय-प्रधान अर्थ-रचना में राजनैतिक, औद्योगिक, और सामाजिक ऐसी कई कठिनाइयाँ किसी भी योजना के मार्ग में पैदा होंगी कि चाहे अलग-अलग होने पर उसमें से प्रत्येक को जीतना सभव मालूम पड़े पर सब मिलकर एक बहुत बड़ी कठिनाई के रूप में वे हमारे सामने आवें।" व्यक्तिगत व्यवसाय-प्रधान अर्थ-रचना में जिस प्रकार का आर्थिक-जीवन का नियंत्रण आवश्यक होगा उससे हम इन कठिनाइयों का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। यदि सब लोगों को समुचित रूप में काम देने की दृष्टि से व्यक्तिगत व्यवसाय-प्रधान अर्थ-रचना को कायम रखते हुये कोई आर्थिक योजना बनाना चाहते हैं तो "इस तरह की किसी भी योजना के तीन मुख्य विभाग होंगे—(१) उपभोक्ताओं के हाथ में क्रयशक्ति का विस्तार (२) मूल्यों का नियंत्रण और (३) विशेष योजनायें जिनका उद्देश्य बेकारों को काम देना और विनियोग का नियंत्रण करना होगा।" (जे० आर० वेलेरली)। इसी प्रकार एक दूसरे लेखक ने आयोजित अर्थ-व्यवस्था में नियत्रण के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि उत्पादन की मात्रा को अधिकतम बनाने के लिये सीमित साधनों का दुरुपयोग या अपेक्षाकृत कम आवश्यक कामों में उपयोग होने से रोकने, तथा सपत्ति का अनुचित बटवारा न हो सके, इस दृष्टि से और मजदूरी का नियंत्रण करने, मिल-मजदूर सम्बन्धों को ठीक-ठीक बनाये रखने और सब के लिये पूरा-पूरा काम मिल सके इसकी व्यवस्था करने की दृष्टि से मूल्यों और आय पर नियंत्रण करने के उद्देश्य से भी नियंत्रण आवश्यक होंगे। पर इतना सब नियंत्रण

तभी संभव है जबकि पूँजीपति वर्ग इसमें पूरा-पूरा सहयोग दे। उनका इतना सहयोग मिल सकेगा यह बहुत शंका का विषय है। यह खतरा हमेशा बना रहेगा कि पूँजीपति असहयोग करके सारी व्यवस्था को चुपचाप अन्दर से खतरनाक बनाने का प्रयत्न करें। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जिस अर्थ-रचना का उद्देश्य सबको पूरा काम देने के अलावा उत्पादन की कुशलता में अधिकतम वृद्धि करना और न्यायपूर्वक वितरण करना भी है, उसमें उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अधिक विस्तृत आधार पर करना होगा बनिस्बत उस अर्थ-रचना में जिसका लक्ष्य सबको केवल पूरा-पूरा काम देना ही है। सबको काम देने की दृष्टि को सामने रखकर ही जी० डी० एच० कोल ने अपनी 'मील्स टू फुल एम्प्लॉयमेंट' नामक पुस्तक में यह लिखा है कि जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक होगा उनमें मकान, सिविल एन्जीनीयरिंग, यातायात और अन्य सार्वजनिक सेवा के उद्योग जैसे पूँजीगत पदार्थों का उपयोग करने वाले उद्योगों को तो कम से कम शामिल करना होगा। परन्तु कार्य-कुशलता को अधिकतम बनाने के लिये और अन्याय और शोषण को कम से कम करने के लिये, और कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भी करना होगा। तमाम रक्षा संबंधी तथा भारी उद्योगों को इसी श्रेणी में गिनना होगा। राष्ट्रीयकरण के अभाव से केवल राज्य के नियंत्रण द्वारा उत्पादन की कार्य-कुशलता बढ़ाने में किस हद तक बाधायें आ सकती हैं इसका अनुभव गत् महायुद्ध में ब्रिटेन और भारत में हो चुका है। इस विवेचन का सार यह है कि जिसे मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था कहते हैं और जो तत्वतः पूँजीवादी-व्यवस्था ही का एक स्वरूप है वह कभी सफल नहीं हो सकती। और पूँजीवाद के दोषों से बचने का एक ही उपाय है कि देश में समाजवादी-व्यवस्था कायम की जाय। पर यहाँ जहाँ तक कम से कम भारत का प्रश्न है, एक और प्रश्न उपस्थित होता है, वह है गांधीजी के अर्थ-रचना संबंधी विचारों का। इस पर अब हम विचार करेंगे।

गांधीजी के अर्थ-रचना संबंधी विचार : गांधीजी का यह कहना था कि वर्तमान उद्योगवाद का दोष उसका पूँजीवादी आधार तो है ही पर इसके अलावा यह भी है कि उसका आधार केन्द्रित उत्पादन जो बड़े-बड़े कारखानों में किया जाता है, वह भी है। उनका तर्क यह था कि केन्द्रित उत्पादन में यह तो अनिवार्य है कि आर्थिक सत्ता उन कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जायगी जो इस सारी व्यवस्था के संचालन करने वाले होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि यह व्यवस्थापकों का वर्ग आज के पूँजीपतियों की तरह आम लोगों पर अपना आधिपत्य जमा लेगा और आम जनता को तब भी 'स्वतंत्रता' प्राप्त नहीं होगी।

इसलिये महात्मा गांधी ने ऐसे सरल आर्थिक-जीवन का जिसका आधार स्वावलंबी गाँव या गाँवों का समूह हो और जिनमें उत्पादन का छोटे-छोटे ग्रामोद्योग में विकेन्द्रीकरण हो, समर्थन किया। उनका यह विचार था कि विकेन्द्रित उत्पादन होने पर ही प्रत्येक व्यक्ति सच्ची 'स्वतंत्रता' अनुभव कर सकेगा। बड़े पैमाने के केन्द्रित उद्योगों के खिलाफ एक आपत्ति यह भी है कि उनमें काम करने वाले मजदूरों का जीवन मशीनवत् होजाता है और उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। अब जहाँ तक आधुनिक उद्योगवाद के प्रति उठाई गई इन आपत्तियों और ग्रामोद्योगों के उपर्युक्त लाभों का सवाल है, गांधीजी के विचारों में बहुत कुछ तथ्य है। पर हम यह नहीं कह सकते कि बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का जनता और उसके प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रण हो ही नहीं सकता और न यह कह सकते हैं कि ग्रामोद्योग सबके सब ही व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने वाले हैं। इसके अतिरिक्त याद रखने की बात यह भी है कि हमारा सामाजिक लक्ष्य केवल 'स्वतंत्रता' नहीं है। उसके साथ बढ़ती हुई जनसख्या को रहन-सहन का एक सभ्य स्तर मिल सके इस दृष्टि से उनकी 'सुरक्षा', और वे जीवन का आनन्द उठा सकें इस दृष्टि से उनके 'अवकाश' का प्रश्न भी हमारे सामने है। 'सुरक्षा' और 'अवकाश' दोनों की दृष्टि से बड़े पैमाने के केन्द्रित उत्पादन की आवश्यकता हो सकती है, यह बात भी हमें भूलनी नहीं चाहिये। पर इसके विपरीत भारत जैसे देश की अपनी विशेष परिस्थिति है जिसमें उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक श्रम के उपयोग करने की और पूँजी के कम उपयोग करने की जरूरत है। इसमें ग्रामोद्योग का महत्त्व भारत के लिये विशेष हो जाता है। उपरोक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विकेन्द्रित उत्पादन के तीन बड़े लाभ हैं। एक तो यह है कि वह सरल और सादा जीवन को अपनाने के पक्ष में हमारी मान्यता को व्यक्त करता है। दूसरे उससे समाज के प्रत्येक नागरिक को एक तरफ स्वतंत्रता मिलने की आशा है और दूसरी तरफ हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या को अधिक काम दे सकने की सम्भावना है। हम साथ ही साथ यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग में कई रक्षा, शक्ति, खनिज पदार्थ, वन, और मशीन इंजिनीयरिंग तथा भारी रासायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योग हैं जो केन्द्रित आधार पर ही चल सकते हैं। इसी प्रकार रेलवे तथा दूसरे सार्वजनिक सेवा के उद्योगों की बात है। इस सबका परिणाम यह है कि आज के युग की अर्थ-व्यवस्था में हमें दोनों प्रकार के उद्योगों का एक समन्वय बिठाना होगा।

भावी अर्थ-रचना गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय : उपर्युक्त

विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि हमारी राय में भावी अर्थ-रचना गांधीजी के और समाजवादी विचारों के समन्वय के आधार पर स्थापित की जानी चाहिये। अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि इन दोनों के समन्वय का आधार क्या हो। जहाँ तक ऐसे उद्योग हैं जो स्वभावतः बड़े या छोटे पैमाने पर ही संगठित किये जा सकते हैं, उनके बारे में तो कोई कठिनाई है नहीं। पर जो उद्योग दोनों ही आधार पर चल सकते हैं, उनके बारे में यह निर्णय करना होगा कि कौन-से उद्योग केन्द्रित आधार पर चलें और कौन-से विकेन्द्रित पर। इस सम्बन्ध में एक तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि हमारा यह निर्णय ऐसा हो जिसमें सुरक्षा, स्वतन्त्रता और अवकाश इन तीनों दृष्टियों का सन्तुलन रह सके। दूसरी बात हमारे सामने यह रहनी चाहिये कि जहाँ तक उपभोक्ता पदार्थों के और उनमें भी खास तौर से अन्न-वस्त्र जैसे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरी करने वाले पदार्थों के उत्पादन का प्रश्न है, वह उत्पादन विकेन्द्रित आधार पर ही किया जाय, क्योंकि जीवन के इस क्षेत्र में 'स्वतन्त्रता' का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। इस प्रकार के गांधीवाद और समाजवाद के समन्वय पर बनी भावी अर्थ-रचना के द्वारा ही हम अपने सामाजिक लक्ष्य 'सुरक्षा', 'स्वतन्त्रता' और 'अवकाश' की प्राप्ति कर सकेंगे।

भारत में आर्थिक योजना के प्रयत्न :—भावी अर्थ-रचना के बारे में सैद्धान्तिक रूप से विचार कर लेने के बाद अब हम इस सम्बन्ध में भारत में जो प्रयत्न किया जा रहा है उसका विचार करेंगे।

भारत में आर्थिक योजना का प्रश्न सबसे पहले कांग्रेस ने १९३८ में उठाया और उसने एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' का निर्माण भी किया। इस योजना समिति के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू स्वयं थे। इस योजना समिति ने २९ उप-समितियाँ बनाईं और इन उप-समितियों ने अपने-अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में रिपोर्टें प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टों में देश के आर्थिक-जीवन के बारे में बहुत कुछ जानकारी है। 'राष्ट्रीय-योजना-समिति' द्वारा जो योजना प्रस्तुत की गई थी उसका झुकाव समाजवादी व्यवस्था की ओर था।

तत्कालीन भारत सरकार ने भी गत् महायुद्ध समाप्त होने के बाद इस सम्बन्ध में कुछ कार्य किया। १९४४ में योजना और विकासविभाग की स्थापना की गई और सर आर्देशीर दलाल उस विभाग के कौन्सिल सदस्य नियुक्त किये गये। इस विभाग ने भी एक योजना प्रकाशित की जिसके दो भाग थे—एक अल्पकालिक और दूसरा दीर्घकालिक। पर देश का विभाजन हो जाने और स्वतन्त्रता मिल जाने से सारी स्थिति बदल गयी और इस योजना के स्थान पर

एक नयी योजना की आवश्यकता पड़ गयी।

देश के लिये आर्थिक योजना प्रस्तुत करने के कुछ और भी प्रयत्न हुए। १९४७ में बम्बई के कुछ पूँजीपतियों द्वारा बम्बई योजना या विरला-टाटा योजना के नाम से एक योजना देश के सामने उपस्थित की गयी। यह योजना १५ वर्ष के लिये तैयार की गयी थी। दस हजार करोड़ रुपये खर्च करने का इसमें आयोजन था, और इसका लक्ष्य था बढ़ती हुई जनसख्या का विचार करते हुए १५ वर्ष में देश की प्रति व्यक्ति औसत आय को दुगना कर देना। इस योजना का आधार पूँजीवाद था।

एक दूसरी योजना जन-योजना (पीपुल्स प्लान) के नाम से भारतीय मजदूर संघ ने प्रकाशित की। इसे राय योजना भी कहते हैं। इसकी अवधि दस वर्ष रखी गयी और इसमें कुल १५ हजार करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान किया गया। इस योजना के अनुसार दस वर्ष समाप्त होने पर देश का कृषि-उत्पादन चार गुना और औद्योगिक उत्पादन छः गुना होने का अनुमान लगाया गया। जनता के रहन-सहन का दर्जा तीन-गुना होने का अनुमान था। यह समाजवादी योजना थी।

तीसरी योजना गांधीवादी योजना थी। इसमें दस वर्ष में तीन हजार पाँच-सौ करोड़ रुपये खर्च करने का आयोजन था। इस योजना में कृषि और ग्रामोद्योग का विशेष महत्त्व था।

कोलम्बो योजना :—दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिये राष्ट्र मंडल के विभिन्न देशों ने कोलम्बो योजना नाम की एक ६ साल की योजना १९५० में तैयार की। इस योजना में भारत ने भी अपने लिये एक योजना शामिल की। इसमें कुल भारत का जहाँ तक सम्बन्ध है १८४० करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान लगाया गया। कृषि और यातायात को विशेष महत्त्व दिया गया। इसका उद्देश्य बढ़ती हुई जनसंख्या का ध्यान रखते हुए प्रति व्यक्ति प्रतिदिन १६ औंस अनाज और प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष १५ गज कपड़ा उपलब्ध कर देना था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

देश के आर्थिक-विकास संबंधी जिन योजनाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं था। उन योजनाओं को कार्यान्वित करने वाला कोई नहीं था। द्वितीय महायुद्ध के बाद जो भी सरकारी योजनाएँ बनी थीं उनका भी इस दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रहा। देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद और विभाजन के कारण देश की आर्थिक-स्थिति में आधारभूत परिवर्तन हो जाने से देश के विकास के लिये नई योजना बनाना आवश्यक था। इसी दृष्टि से

भारत सरकार ने मार्च १९५० में योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) की नियुक्ति की। इसी योजना आयोग ने कोलंबो योजना के भारत संबंधी भाग को तैयार किया और वह कोलंबो योजना का अंग बन गया। कोलंबो योजना का मुख्य उद्देश्य यह था कि दुनिया का ध्यान दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया की विकास की समस्याओं की ओर आकर्षित किया जाये। कोलंबो योजना का भारत सम्बन्धी भाग तैयार करने के बाद योजना आयोग ने देश के लिये एक विस्तृत योजना बनाने का काम हाथ में लिया। जुलाई १९५१ में योजना आयोग ने प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना का मसविदा प्रकाशित किया। देश में योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत मसविदे पर खूब विचार विनिमय हुआ। भारत सरकार और राज्य की सरकारों, उनके विशेषज्ञों और अन्य लोगों से योजना आयोग ने योजना के सम्बन्ध में चर्चा की। इस सब विचार-विमर्श के बाद योजना आयोग ने भारत सरकार को प्रथम पंचवर्षीय योजना सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट पेश की। दिसम्बर १९५२ में यह रिपोर्ट भारत सरकार ने संसद में पेश की और संसद ने उसे स्वीकार कर लिया। अब हम योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत देश की इस प्रथम पंचवर्षीय योजना पर ही निम्न-लिखित पंक्तियों में विचार करेंगे।

योजना आयोग का दृष्टिकोण और लक्ष्य

योजना के विषय में सबसे पहले हमें यह जानना चाहिये कि इस योजना के बनाने में योजना आयोग का दृष्टिकोण क्या रहा है। इसका पता योजना आयोग के इस वाक्य से लगता है :—"आर्थिक योजना को एक व्यापक प्रक्रिया के के अविभाज्य अंग के रूप में देखा जाना चाहिये। इस व्यापक प्रक्रिया का लक्ष्य किसी संकीर्ण और टेक्नीकल दृष्टि से साधनों का विकास करना मात्र नहीं है। उसका लक्ष्य तो समस्त मानवीय शक्तियों का विकास करना और एक ऐसी समाज की व्यवस्था को खड़ा करना है जोकि जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके।" [योजना आयोग की रिपोर्ट परिच्छेद १, पेरा १] उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि योजना आयोग की योजना के सम्बन्ध में केवल आर्थिक-दृष्टि नहीं है पर व्यापक सामाजिक-दृष्टि है। यह ठीक है कि व्यापक सामाजिक आदर्शवाद के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टि का समन्वय करने की ओर भी योजना आयोग का ध्यान है। आगे चल कर अपने इसी दृष्टिकोण का योजना आयोग ने और स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि " वर्तमान सामाजिक आर्थिक ढाँचे की मर्यादा में आर्थिक प्रयत्नों की पुनर्व्यवस्था करने का ही प्रश्न नहीं है। उस सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को ही बदलने की आवश्यकता है।" (रिपोर्ट परिच्छेद १, पेरा ४) इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही योजना कमीशन ने योजना का लक्ष्य

"अधिकतम उत्पादन, पूरा काम, आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय" के रूप में स्वीकार किया है।

योजना की कार्य-पद्धति—जनतंत्रीय प्रणाली

योजना आयोग का योजना के संबंध में क्या दृष्टिकोण है और उस दृष्टिकोण के अनुरूप क्या लक्ष्य योजना के होने चाहियें, यह ऊपर लिखा जा चुका है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न योजना को कार्यान्वित करने की पद्धति का है। इस संबंध में योजना आयोग ने जनतंत्रीय प्रणाली को ही स्वीकार किया है। जनतंत्रीय प्रणाली की व्याख्या करते हुए योजना आयोग लिखता है "यह संभव है कि केन्द्रीय अनुशासन (रेजीमेंटेशन) और ऊँचे और नीचे स्तर वालों में तत्काल समानता लाने के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों के आधार पर किसी योजना का निर्माण किया जाय। यह विचार करना भी संभव है कि आम जनता में उत्साह पैदा करने के लिये यह आवश्यक है कि जनता अब तक जिन वर्गों को पुरानी समाज-व्यवस्था की असमानता और दोषों के लिये जिम्मेदार मानती है उनके साथ बदला लेने की भावना से व्यवहार किया जाय। परन्तु जनतंत्रीय योजना का तो आधार ही यह मान्यता है कि समस्त समाज का एक सपूर्ण इकाई के रूप में विकास हो सकता है और किसी भी समय किन्हीं वर्गों की जो भी स्थिति हो—जिसके लिये कि कोई एक वर्ग या व्यक्ति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता और जोकि विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम होती है—उसको हिंसा और वर्ग-द्वेष के बिना ही बदला जा सकता है।" (परिच्छेद २, पेरा १०)

राज्य का योजना को कार्यान्वित करने में योग

जनतंत्रीय प्रणाली से समाज की व्यवस्था बदलना संभव है—यह योजना आयोग की आधारभूत मान्यता है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर योजना आयोग यह भी अनुभव करता है कि समाज में जो परिवर्तन आवश्यक हैं वे शीघ्र ही किये जाने चाहियें और राज्य को आगे होकर इस परिवर्तन को लाने में समाज का मार्ग दर्शन करना चाहिये। राज्य को इसके लिये उसके पास उपलब्ध सब साधनों और उपायों का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहिये। यह भी योजना आयोग ने स्पष्ट किया है। साथ ही उसने यह भी स्वीकार किया है कि इस प्रकार की योजना की सफलता समाज के उन वर्गों पर निर्भर है जो आज सत्ता और सुविधा की जगहों पर आसीन हैं। यह आवश्यक है कि ये विशेष वर्ग जनतंत्रीय व्यवस्था को स्वीकार करें और जिन परिवर्तनों को शीघ्र करने की उस जनतंत्र के लिये आवश्यकता है उनकी एहमियत को वे स्वीकार करें। (रिपोर्ट परिच्छेद २, पेरा १०)

मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था

योजना आयोग ने यह तो स्पष्ट किया है कि देश की अर्थ-व्यवस्था को बदलने में राज्य को महत्त्वपूर्ण योग देना होगा और अपने आर्थिक और सामाजिक दायित्वों को अधिक व्यापक बनाना होगा, पर इसके लिये वे यह आवश्यक नहीं समझते कि उत्पादन-साधनों का पूर्णतया राष्ट्रीयकरण किया जावे या कृषि, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में से निजी व्यवसाय का सर्वथा अन्त कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में योजना आयोग ने मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था के आधार को स्वीकार किया है, यद्यपि इस बात को वह मानते हैं कि भविष्य में देश के आर्थिक-जीवन में राजकीय व्यवसाय (पब्लिक सेक्टर) का विस्तार होगा और निजी व्यवसाय को योजना की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को बदलना होगा।

राजकीय और निजी क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध

इस मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था में राजकीय और निजी व्यवसायों का सापेक्षिक स्थान वही होगा जो भारत सरकार ने १९४८ में घोषित अपनी औद्योगिक नीति में स्पष्ट किया था। इस औद्योगिक नीति के अनुसार शस्त्र और युद्ध सामिग्री, एटम शक्ति और रेलवे राजकीय क्षेत्र के लिये सुरक्षित रखे गये हैं जिसमें निजी व्यवसाय के लिये कोई स्थान नहीं होगा। दूसरी श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जिनकी उन्नति और भावी विस्तार के लिये राज्य ज़िम्मेदार होगा यद्यपि आवश्यकतानुसार निजी व्यवसाय का सहयोग लेने की उसे स्वतंत्रता होगी। कोयला, लोहा और इस्पात, वायुयान निर्माण, जहाज-निर्माण, टेलीफ़ोन, तार और बेतार के साधनों का निर्माण आदि दूसरी श्रेणी के उद्योगों में आते हैं। बाक़ी के तमाम उद्योग तीसरी श्रेणी में आते हैं और उनके विकास और व्यवसाय का दायित्व निजी व्यवसाय पर है। यह ठीक है कि सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए सरकार को यह अधिकार रहेगा कि यदि निजी व्यवसाय द्वारा किसी उद्योग का संचालन संतोषप्रद ढंग से नहीं हो रहा है तो वह किसी भी व्यवसाय को अपने अधिकार में लेले या उसमें आवश्यक हस्तक्षेप करे। दी इन्डस्ट्रीज (डेव्लपमेंट एन्ड रेगूलेशन) एक्ट १९५१ उपर्युक्त नीति को कार्यान्वित करने की दृष्टि से ही पास किया गया है। योजना आयोग ने इस पर बहुत जोर दिया है कि आर्थिक व्यवस्था एक संपूर्ण इकाई है और राजकीय और निजी क्षेत्र उसके दो संबंधित अग हैं और दोनों अंगों में केवल परिमाण भेद है। निजी व्यवसाय के पीछे भी सार्वजनिक उद्देश्य होना चाहिये और आज के युग में ऐसे किसी निजी व्यवसाय की कल्पना नहीं की जा सकती जो पूर्णतया अनियंत्रित और स्वतन्त्र है।

संगठनात्मक परिवर्तन

योजना आयोग का कहना है कि देश के आर्थिक संगठन में आज कई प्रकार की कमियाँ हैं। इन कमियों के फलस्वरूप योजना के सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा उत्पादन होती है और योजना के विभिन्न लक्ष्यों या उद्देश्यों में—अधिकतम उत्पादन, पूरा काम, आर्थिक समानता, और सामाजिक न्याय—जो विरोध दिखाई पड़ता है वह और अधिक तीव्र रूप में प्रकट होता है। इसलिये आर्थिक जीवन में कई प्रकार के संगठनात्मक परिवर्तन करने की आवश्यकता योजना आयोग ने बताई है और इन परिवर्तनों को दो उद्देश्यों को सामने रख कर करने की सिफ़ारिश उन्होंने की है :— (१) योजना काल में यथासंभव सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर प्रगति हो सके, और (२) उन संगठनात्मक कमियों को पूरा करना जो भविष्य में इस प्रगति को अधिक तेज़ कर सकें। इस प्रकार के संगठनात्मक परिवर्तनों में योजना आयोग ने इन बातों को शामिल किया है :— (१) भूमि स्वामित्व तथा प्रबन्ध और अन्य आवश्यक कृषि सम्बन्धी सुधार जैसे क्रय-विक्रय या साख व्यवस्था विषयक (२) व्यापार—इस सम्बन्ध में आयोग ने राज्य द्वारा व्यापार करने की सिफ़ारिश की है। मूल्यों और मुनाफ़े पर सफल नियंत्रण करने की दृष्टि से योजना आयोग ने कुछ चुनी हुई चीज़ों के थोक व्यापार में राजकीय व्यापार के पक्ष में अपनी राय दी है। (३) आर्थिक-जीवन में सहकारिता का अधिकाधिक प्रसार—कृषि, गृह और छोटे पैमाने के उद्योगों, कृषि सम्बन्धी क्रय-विक्रय, रहने के मकान और व्यापार के क्षेत्र में सहकारिता को विशेषतया प्रोत्साहन देने की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है।

अन्य उपाय

योजना आयोग ने योजना को कार्यान्वित करने के लिये किन-किन आर्थिक उपायों (इकॉनोमिक टेकनीक) को काम में लेना होगा, इस विषय में भी विचार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने इन उपायों का उल्लेख किया है :—मूल्य नीति, साख व्यवस्था का संगठन, वित्तीय नीति और नियंत्रण। एक तो मूल्य नीति ऐसी होनी चाहिये कि जिससे विभिन्न उत्पादन कार्यों में साधनों का ठीक उसी प्रकार का बटवारा संभव हो सके जैसा कि योजना की दृष्टि से होना आवश्यक है। दूसरे मूल्य नीति ऐसी होनी चाहिए कि यद्यपि मूल्यों में दीर्घकाल में सापेक्षिक परिवर्तन और किसी हद तक उनमें वृद्धि होना अनिवार्य होगा, पर फिर भी ये परिवर्तन आय में होने वाली वृद्धि और वितरण में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप हों, इसका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यदि यह संभव न हो सके तो आर्थिक योजना से जिन उद्देश्यों की हम प्राप्ति करना चाहते हैं उनके सर्वथा

प्रतिकूल परिणाम होगा और समाज को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। मूल्य नीति का इस प्रकार संचालन करने के लिये आर्थिक नियंत्रण का जिसमें साख और द्रव्य-नियंत्रण भी शामिल है उपयोग करना अनिवार्य होगा। इसी प्रकार दीर्घ कालीन दृष्टि से देश की साख और बैंकिंग व्यवस्था का भी इस प्रकार संचालन करना होगा कि उससे योजना को कार्यान्वित करने में सहायता मिले। इसके लिये देश में साख व्यवस्था का प्रसार करना होगा ताकि बढ़ते हुए उत्पादन और व्यापार की आवश्यकता को पूरा करने के लिये द्रव्य की कमी के कारण कठिनाई न हो और फिर भी मुद्रास्फीति की स्थिति को न पैदा होने दिया जावे। रिज़र्व बैंक जिसका कि राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है देश की सम्पूर्ण साख व्यवस्था का इस दृष्टि से संचालन करेगा। योजना आयोग ने यह आशा प्रकट की है कि निजी बैंकों का रिज़र्व बैंक को पूरा-पूरा सहयोग मिलेगा। आयोग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि देश की बैंकिंग व्यवस्था ही क्या सम्पूर्ण वित्तीय संगठन को जिसमें बीमा, स्टॉक एक्सचेंज और विनियोग से संबंध रखने वाली दूसरी संस्थाओं का समावेश भी हो जाता है, योजना की आवश्यकता के अनुरूप व्यवस्थित और संचालित करना होगा। राज्य की वित्तीय नीति का भी योजना की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। वित्तीय नीति के निम्नलिखित लक्ष्य होने चाहियें :—(१) मुद्रा स्फीति को रोकना; (२) निजी व्यवसाय के क्षेत्र में उत्पादन पर ऋण अथवा कर-नीति के कारण विपरीत असर न पड़ने देना और (३) आय तथा धन की असमानता में कमी करना। धन की असमानता में कमी करने की दृष्टि के योजना आयोग ने मृत्यु कर लगाने की सिफारिश की है। उत्पादन को बढ़ाने के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी निर्माण के लिए समाज में बचत होनी चाहिये। बचत तीन प्रकार से होती है—व्यक्तियों द्वारा, व्यापारिक-व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा और राज्य द्वारा। व्यापारिक-व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा होने वाली बचत का एक दोष यह है कि उसमें पहले इन संस्थाओं के पास धन का केन्द्रीकरण होता है। इसलिये योजना आयोग ने सहकारी संस्थाओं की बचत पर अधिक ज़ोर दिया है और साथ ही में राज्य द्वारा होने वाली बचत को बढ़ाने पर भी जोर दिया गया है। राज्य के अधिकार में चलने वाले व्यवसाय से राज्य द्वारा होने वाली बचत को विशेष सहायता मिल सकती है। योजना आयोग ने नियंत्रण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि देश में आयोजित आर्थिक संगठन का निर्माण करना है तो नियंत्रण को हमें स्वीकार करना होगा। वित्तीय, द्रव्य सम्बन्धी और व्यापार सम्बन्धी राज्य की जो भी नीति हो उसका असर भी एक प्रकार के नियंत्रण का पड़ता है। पर इसके अलावा वस्तुओं के उत्पादन,

आवागमन और उनको काम में लेने वालों में उनके बटवारे पर भी नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप में नियंत्रण ही वह साधन है जिसके द्वारा सरकार विभिन्न पक्षीय हितों में समन्वय कायम करती है। इसी लिये आर्थिक योजना में नियंत्रण का इतना महत्त्व है।

प्राथमिकताओं की समस्या

जब किसी देश में आर्थिक योजना के कार्यक्रम को तय किया जाता है तो उसमें एक बड़ा प्रश्न यह होता है कि जो साधन उपलब्ध हैं उनका उपयोग किस प्रकार किया जावे, किन कामों को पहले लिया जावे और किन को बाद में। योजना का उद्देश्य क्या है और योजना को कार्यान्वित करने में किन-किन उपायों को काम में लेना है, इनका आपस में एक-दूसरे पर असर तो पड़ता ही है पर इन दोनों का असर साधनों की उपलब्धता और उनकी मात्रा पर भी पड़ता है और साधनों की मात्रा का अनुमान लगने पर ही उन साधनों का किसी निश्चित प्राथमिकता के आधार पर उपयोग करने का भी सवाल पैदा होता है। योजना आयोग के सामने भी यह समस्या प्रस्तुत हुई और उसने देश के आर्थिक-जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर जिन प्राथमिकताओं का निर्णय किया है वे इस प्रकार हैं। योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि, सिंचाई और शक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। कारण यह है कि जब तक खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में यथेष्ट वृद्धि नहीं होती है औद्योगिक-क्षेत्र में विशेष उन्नति संभव नहीं है। चूँकि राज्य के पास जो भी साधन उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश कृषि आदि के विकास में खर्च हो जायेंगे, इसलिये औद्योगिक उन्नति प्रधानतः निजी व्यवसाय के प्रयत्नों पर निर्भर रहेगी। लेकिन लोहा-इस्पात, भारी रासायनिक पदार्थ, बिजली के सामान का निर्माण जैसे आधारभूत उद्योगों के सम्बन्ध में राज्य की विशेष जिम्मेदारी है, इसलिये पंचवर्षीय योजना में इस बारे में भी ध्यान अभी से दिया गया है। सामाजिक सेवाओं के महत्त्व को समझते हुए भी साधनों की कमी के कारण उन पर सरकारें यथेष्ट व्यय नहीं कर सकेंगी। इसलिये योजना आयोग ने यह सिफ़ारिश की है कि इस क्षेत्र में जनता के प्रत्यक्ष प्रयत्नों को विशेष तौर पर प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इसी प्रकार स्थानीय विकास की दृष्टि से स्थानीय साधन और शक्ति के उपयोग को भी प्रोत्साहन देने की बात भी योजना आयोग ने कही है।

राष्ट्रीय साधनों का उपयोग

देश के लिये जिस पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया है उसको कार्यान्वित करने में राष्ट्र के साधनों का कहाँ तक उपयोग होगा यह भी हमें

जानना चाहिये। इसी पर से हम यह अनुमान लगा सकेंगे कि राष्ट्र पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने में कितनी आर्थिक शक्ति का उपयोग करने जा रहा है। इस प्रकार योजना आयोग ने जो हिसाब लगाया है वह इस प्रकार है। योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय ९,००० करोड़ रुपये के लगभग थी। इसका ९५% उपभोग के काम में आजाता था और केवल ४५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष पूँजी-निर्माण के लिये बचता था। योजना के अनुसार आर्थिक विकास होने के फलस्वरूप १९५५-५६ में हमारी राष्ट्रीय आय १००० करोड़ रुपया अधिक हो जायगी। इस बीच में राष्ट्र की पूँजी-निर्माण में अधिक रुपया खर्च कर सकने की शक्ति भी होगी। राष्ट्रीय आय में जो कुछ वृद्धि होगी उसका ५०% तो बढ़ी हुई जनसंख्या के कारण उपभोग में खर्च हो जायगा। इसलिये बाकी के ५०% में से ही जीवन स्तर को ऊँचा उठाने और नई पूँजी-निर्माण के लिये रुपया उपलब्ध हो सकेगा। योजना आयोग का कहना है कि १९५५-५६ तक पूँजी निर्माण में ४५० करोड़ रुपये के स्थान पर ६७५ करोड़ रुपये तक काम में लिये जाने चाहियें।

यदि राष्ट्रीय आय में १,००० करोड़ से वृद्धि हो जाती है और पूँजी-निर्माण के लिये उपर्युक्त आधार पर अधिक साधन काम में लिये जाते हैं तो योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि पाँच वर्षों में कुल १७००-१८०० करोड़ रुपया देश के अन्दर से विकास और पूँजी-व्यय के लिये उपलब्ध हो सकता है। इसमें २९० करोड़ रुपया स्टरलिंग पावने से मिलने वाले और १५६ करोड़ रुपया जो विदेशी सहायता से प्राप्त होगया है यह दोनों ही रकमें और जोड़ दी जावें तो कुल २१५०-२२५० करोड़ रुपया विकास के लिये पाँच वर्ष में उपलब्ध हो सकते हैं। इनकी तुलना में पंचवर्षीय योजना के अनुसार राजकीय पक्ष द्वारा कुल १६००-१,७०० करोड़ रुपया ही व्यय होगा क्योंकि २०६९ करोड़ में से लगभग ४०० करोड़ रुपया ऐसा है जो कि स्वास्थ्य, शिक्षा आदि कामों में होने वाले चालू खर्च का है। इसका अर्थ यह है कि देश के पास कुल जितने साधन उपलब्ध हैं उनमें से लगभग ५०% ही राज्य द्वारा योजना के काम में आवेगा। योजना आयोग की दृष्टि में यह प्रतिशत काफ़ी ऊँचा है, पर भारत की स्थिति में वह इसे अनिवार्य समझते हैं।

योजना की रूपरेखा

पंचवर्षीय योजना के संबंध में कुछ मूलभूत बातों का विचार उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है। अब हम योजना क्या है इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

योजना का कुल व्यय और उसका विभिन्न क्षेत्रों में बटवारा—यह पंचवर्षीय योजना १६५१-१६५६ तक पाँच वर्षों के लिये है। १ अप्रैल, १६५१ से योजना का आरंभ होता है और ३१ मार्च १६५६ को योजना के पाँच वर्ष पूरे हो जावेंगे। योजना को अन्तिम रूप देने से पहले ही योजना के दो वर्ष तो पूरे हो गये। यह योजना पाँच वर्षों में सरकारी द्वारा देश के विकास पर कुल २०६६ करोड़ रुपया खर्च करने का आयोजन करती है। जुलाई १६५१ में जो योजना का मसविदा प्रस्तुत किया गया था उसमें योजना के दोनों भागों में मिलाकर १७६३ करोड़ रुपया खर्च करने का आयोजन था और प्रथम भाग में जोकि अनिवार्य भाग था १४६३ करोड़ रुपये के खर्च का प्रस्ताव था। अब योजना को दो भागों में नहीं बाँटा गया है। इसका अर्थ यह है कि १४६३ करोड़ रुपये के अनिवार्य भाग की तुलना में अब २०६६ करोड़ रुपये की योजना तैयार की गई है। विभिन्न कामों पर २०६६ करोड़ रुपये का १४६३ करोड़ रुपये की तुलना में इस प्रकार बटवारा किया गया है :—

(करोड़ रुपयों में)

	पंचवर्षीय योजना	मसविदा	कुल व्यय का प्रतिशत् पंचवर्षीय योजना	मसविदा
कृषि और ग्राम विकास	३६०·४३	१६१·६६	१७·४	१२·८
सिंचाई और शक्ति	५६१·४१	४५०·३६	२७·२	३०·२
यातायात और संवाहन	४६७·१०	३८८·१२	२४·०	२६·१
उद्योग	१७३·०४	१००·६६	८·४	६·७
सामाजिक सेवायें	३३६·८१	२५४·२२	१६·४	१७·०
पुनर्संस्थापन	८५·००	७६·००	४·१	५·३
अन्य	५१·६६	२८·५४	२·५	१·६
	२०६८·७८	१४६२·६२	१००·०	१००·०

विभिन्न क्षेत्रों में खर्च बढ़ने का कारण यह है कि कई नए आयोजनों को योजना में शामिल कर लिया गया है। जैसे कृषि और ग्राम विकास के क्षेत्र में ६० करोड़ रुपया सामुदायिक योजनाओं के लिये, और ३० करोड़ रुपया छोटे पैमाने की सिंचाई और राष्ट्रीय विस्तार संगठन (नेशनल एक्सटेंशन सर्विस) के लिये शामिल किया गया है। सिंचाई के क्षेत्र में कुछ नई महत्त्वपूर्ण नदी-घाटी योजनाओं को भी शामिल किया गया है। चम्बल घाटी योजना इन्हीं में से एक है। इसके अलावा यातायात के क्षेत्र में रेलवे, सड़क, नागरिक उड्डयन, डाक और तार तथा

बन्दरगाहों के लिये अतिरिक्त व्यवस्था की गई है।

उद्योग के क्षेत्र में राजकीय भाग में इस्पात के एक कारखाने के अलावा कुछ नए आधारभूत उद्योगों की स्थापना की व्यवस्था भी की गई है जिन पर लगभग ५० करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान किया गया है। ग़ैर सरकारी क्षेत्र में भी कमीशन ने ४२ उद्योगों के लिये विशेष विकास-कार्यक्रम तैयार किया है। घरेलू और छोटे पैमाने के उद्योगों संबंधी खर्च में भी वृद्धि की गई है और केन्द्रीय सरकार द्वारा होने वाला खर्च ५ करोड़ से १५ करोड़ रुपया कर दिया गया है।

सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में जो नए कार्यक्रम शामिल किये गये हैं, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—मलेरिया की रोक-थाम के लिये १० करोड़ रुपये की एक राष्ट्रव्यापी योजना; अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के लिये अधिक खर्च की व्यवस्था; ४६ करोड़ रुपये की लागत की औद्योगिक मजदूरों के रहने के लिये मकान बनाने की योजना; औद्योगिक शिक्षा के लिये पहले से अधिक धन की व्यवस्था तथा छात्रों के लिये श्रम-सेवा और युवा-शिविरों की योजना।

इसके अतिरिक्त कमी वाले क्षेत्रों के लिये १५ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त व्यवस्था की गई है ताकि समय-समय पर देश के विभिन्न भागों में होने वाली फसलों की खराबी के कारण योजना को कार्यान्वित करने में कोई बाधा उपस्थित न हो। स्थानीय विकास-कार्यों की सहायता के लिये योजना के अन्तर्गत अगले तीन वर्षों के लिये १५ करोड़ रुपये की और लोगों के लिये कार्य का अधिक क्षेत्र प्रदान करने की दृष्टि से समाज हितकारी संगठनों के लिये ४ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। नीति-निर्धारण के लिये आवश्यक जानकारी उपलब्ध करने के विचार से विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं के सहयोग से राष्ट्रीय विकास संबंधी सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक समस्याओं की गवेषणा और छानबीन के लिये ५० लाख रुपये की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजना में प्रारूप (ड्राफ्ट) योजना की अपेक्षा कई नई दिशाओं में खर्च करने की व्यवस्था भी की गई है और परिणाम स्वरूप योजना पर कुल खर्च १४९३ करोड़ के स्थान पर २०६६ करोड़ रुपये का आँका गया है।

आवश्यक साधनों की व्यवस्था :—पंचवर्षीय योजना पर किये जाने वाले २०६९ करोड़ रुपये के उपरोक्त व्यय में से केन्द्रीय और राज्य की सरकारों के बजटों से १२५८ करोड़ रुपया प्राप्त होने का अनुमान है। इस १२५८ करोड़ में से ७२६ करोड़ तो केन्द्रीय बजट से (जिसमें 'सी' राज्य शामिल मान लिये गये हैं) और ५३२ करोड़ 'ए' व 'बी, राज्यों से (काश्मीर सहित) प्राप्त होने की आशा

है । केन्द्रीय सरकार से प्राप्त होने वाले ७२६ करोड़ रुपये में १६० करोड़ रुपये बजट की चालू बचत से, १७० करोड़ रेलवे से, ३६ करोड़ ऋण से, २७० करोड़ छोटी मात्रा की बचत और अल्पकालीन ऋण से और ६० करोड़ जमा हुई रकमों तथा अन्य विविध साधनों से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है । राज्यों के ५३२ करोड़ रुपयों में ४०८ करोड़ बजट की चालू बचत से, ७६ करोड़ जनता से प्राप्त होने वाले ऋण से, और ४५ करोड़ जमा तथा अन्य विविध रकमों से प्राप्त होने का अनुमान है। इसका अर्थ यह है कि १२५८ करोड़ रुपये में से ७३८ करोड़ रुपया सार्वजनिक बचत से अर्थात् १६० केन्द्र, ४०८ राज्य और १७० रेल्वे से प्राप्त होने का अनुमान है और ५२० करोड़ रुपया निजी बचत से ऋण, छोटी मात्रा की बचत और जमा आदि के रूप में (३६ + २७० + ६० + ७६ + ४५) केन्द्र और राज्यों की सरकारों को प्राप्त होने की आशा है ।

उपर्युक्त सामान्य बजट सम्बन्धी साधनों से प्राप्त होने वाले १२५८ करोड़ रुपये के अनुमान के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि से १५६ करोड़ रुपया विदेशी सहायता के रूप में मिल चुका है । इसे शामिल कर लेने से कुल रुपया १४१४ करोड़ होजाता है । इसके बाद ६५५ करोड़ रुपये की कमी और रहती है । इस कमी को विदेशी सहायता से या फिर देश की जनता पर नये कर लगा कर और उससे ऋण लेकर पूरा करना होगा । इस कमी को पूरा करने का अन्तिम अस्त्र नये रुपये जारी करने का है जिसको घाटे का राजस्व कहते हैं । जहाँ तक नए रुपये जारी करने का सवाल है २६० करोड़ रुपये तक इस प्रकार से जारी करने की कमीशन की सिफ़ारिश है । कमीशन का कहना है कि इस मर्यादा में नया रुपया जारी करने में कोई खतरा नहीं है क्योंकि इतना रुपया भारत को इस समय में स्टर्लिंग पावने से मिल जावेगा । कमीशन का यह मानना है कि थोड़े बहुत परिवर्तन की तो बात दूसरी है पर देश के भावी विकास की आधार-शिला रखने के लिये २०६६ करोड़ के प्रथम आसपास पंच-वर्षीय योजना पर खर्च करना अनिवार्य है ।

कुल व्यय का राज्यों और केन्द्र में बटवारा :—योजना के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि २०६६ करोड़ रुपये का कुल व्यय राज्यों और केन्द्र की सरकारों के बीच में किस प्रकार बटा हुआ है । योजना में जो बटवारा है उसके अनुसार १२४१ करोड़ रुपया तो केन्द्रीय सरकार का व्यय है जिसमें रेलों का व्यय भी आजाता है और ६१० करोड़ 'ए' राज्यों का, १७३ करोड़ 'बी' राज्यों का, ३२ करोड़ 'सी' राज्यों का और १३ करोड़ जम्मू-काश्मीर राज्य का व्यय है । विभिन्न

क्षेत्रों में केन्द्र तथा तथा राज्यों का खर्च किस प्रकार बटा हुआ है, इसका ब्योरा नीचे की तालिका से स्पष्ट हो सकेगा :—

(करोड़ रुपयों में)

	केन्द्र	'ए' राज्य	'बी' राज्य	'सी' राज्य	कुल
कृषि और ग्राम विकास	१८६·३	१२७·३	३७·६	८·७	३५६·६
सिंचाई और शक्ति	२६५·६	२०६·१	८१·५	३·५	५५७·०
यातायात और संवाहन	४०६·५	५६·५	१७·४	८·८	४६१·२
उद्योग	१४६·७	१७·६	७·१	०·५	१७२·२
सामाजिक सेवायें और पुर्नसंस्थापन	१६१·४	१६२·३	२८·६	१०·४	४२३·०
अन्य	४०·७	१०·०	०·७	—	५१·४
	१२४०·५	६१०·१	१७३·२	३१·६	२०५५·३
काश्मीर					१३·०
					कुल २०६८·३

जम्मू-काश्मीर के अलावा राज्यों में व्यय का बटवारा इस प्रकार किया गया है :—

(करोड़ रुपयों में)

'अ' राज्य		'ब' राज्य		'स' राज्य	
आसाम	१७·४६	हैदराबाद	४१·५५	अजमेर	१·५७
बिहार	५७·२६	मध्यभारत	२२·४२	भोपाल	३·६०
बम्बई	१४६·४४	मैसूर	३६·६०	बिलासपुर	०·५७
मध्य प्रदेश	४३·०८	पेप्सू	८·१४	कुर्ग	०·७३
मद्रास	१४०·८४	राजस्थान	१६·८२	दिल्ली	७·४८
उड़ीसा	१७·८४	सौराष्ट्र	२०·४१	हिमाचल प्रदेश	४·५५
पंजाब	२०·२१	ट्रावंकोर-कोचीन	२७·३२	कच्छ	३·०५
उत्तर प्रदेश	६७·८३			मनीपुर	१·५५
प० बंगाल	६६·१०			त्रिपुरा	२·०७
				विंध्य प्रदेश	६·३६
	६१०·१२		१७३·२६		३१·८६

योजना का वित्तीय आधार :—यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि पंचवर्षीय योजना के कुल २२६६ करोड़ के खर्च में १२४१ का खर्च केन्द्रीय सरकार का और ८२८ करोड़ 'ए', 'बी' और 'सी' राज्यों का मिलाकर होगा।

केन्द्रीय सरकार इन १२४१ करोड़ रुपये में से ३३० करोड़ तो चालू राजस्व की बचत से और ३९६ करोड़ ऋण आदि अन्य पूँजीगत प्राप्तियों से (केपीटल रिसीट्स), इस प्रकार कुल ७२६ करोड़ रुपये की व्यवस्था कर सकेगी। इन ७२६ करोड़ रुपयों में से २२९ करोड़ रुपया केन्द्रीय सहायता के तौर पर राज्यों को दे देने के बाद केवल ४९७ करोड़ रुपया केन्द्र के पास बच जावेगा। १५६ करोड़ रुपया इसमें विदेशी सहायता से जो प्राप्त हो चुका है उसे जोड़ दें तो केन्द्र के पास ६५३ करोड़ रुपया हो जाता है। राज्यों के पास ४०८ करोड़ रुपया तो चालू राजस्व की बचत से और १२४ करोड़ ऋण आदि पूँजीगत प्राप्तियों से प्राप्त होने का अनुमान है। इस प्रकार ५३२ करोड़ तो यह हुआ और २२९ करोड़ केन्द्रीय सहायता का जोड़ने पर कुल ७६१ करोड़ रुपया राज्यों के पास होता है। केन्द्र और राज्यों के साधनों को मिलादें तो १४१४ करोड़ रुपये हो जाते हैं और ६५५ करोड़ की और ज़रूरत रहती है। यह पंचवर्षीय योजना का वित्तीय आधार है। इन ६५५ करोड़ रुपयों को प्राप्त करने के लिये नये कर लगाने, ऋण लेने, विदेशी सहायता प्राप्त करने या फिर नया रुपया जारी करने के विभिन्न मार्गों का सहारा लेना होगा।

योजना के परिणामों का मूल्यांकन :—योजना आयोग ने लिखा है कि पंचवर्षीय योजना के परिणामों का मूल्यांकन करते समय केवल राजकीय विकास योजनाओं पर ध्यान केन्द्रित करना पर्याप्त नहीं होगा। निजी व्यवसाय के क्षेत्र में या निजी प्रयत्नों द्वारा जो विकास योजनायें कार्यान्वित की जायेंगी उनका भी इस सम्बन्ध में ध्यान रखना आवश्यक है। ये निजी प्रयत्न कृषि, उद्योग, सामाजिक सेवाओं आदि के सभी क्षेत्रों में होंगे। संगठित उद्योगों और कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में होनेवाले इन निजी प्रयत्नों का मूल्यांकन करना कठिन है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने राजकीय और निजी क्षेत्रों में होने वाले विकास के सम्बन्ध में कुछ आँकड़े दिये हैं। ये आँकड़े नीचे दी गई तालिका में दिये जाते हैं :—

	१९५०-५१ [आधार वर्ष]	१९५५-५६ [योजना का अन्तिम वर्ष]
१ कृषि :—		
खाद्यान्न (लाख टनों में)	५२७'०	६१६'०
रुई (लाख गाँठों में)	२९'७	४२'२

१. इनमें चने और दालें सम्मिलित हैं। १९४९-५० का (जिसको १९५५-५६ के लिए लक्ष्य निर्धारित करने में आधार वर्ष माना गया था) उत्पादन ५४० लाख टन था।

	१९५०-५१	१९५५-५६
जूट (लाख गाँठों में)	३३'०	५३'६
गन्ना (लाख टनों में)	५६'०	६३'०
तिलहन (लाख टनों में)	५१'०.	५५'०
२—सिंचाई और बिजली:—		
बड़ी योजनाएं } (लाख एकड़ों में)	५००·०	५८५·०
छोटी योजनाएं } (लाख एकड़ों में)		११२·०
बिजली (लाख किलोवॉट में)	२३·०	३५·०
३—उद्योग :—		
लोहा और इस्पात (लाख टनों में)		
फाउन्ड्रियों के लिये उपलब्ध कच्चा लोहा	३·५	६·६
तैयार इस्पात	९·८	१३·७
सीमेंट (लाख टनों में)	२६·९	४८·०
एल्यूमीनियम (हजार टनों में)	३·७	१२·०
रासायनिक खादें (हजार टनों में)		
एमोनियम सल्फेट	४६·३	४५०·०
सुपर फ़ोसफेट	५५·१	१८०·०
इंजन (संख्या)	...	१५०
मशीनों के औजार (संख्या हजार में)	१·१	४·६
पेट्रोलियम साफ करना :		
तरल पेट्रोलियम (लाख गेलनों में)	उपलब्ध नहीं	४०३'०
बिटुमने (हज़ार टनों में)	उपलब्ध नहीं	३७·५
सूती माल:		
धागा (लाख पौंडों में)	११,७९०	१६,४००
मिल का कपड़ा (लाख गजों में)	३७,१८०	४७,०००
हाथ के करघे का कपड़ा (लाख गजों में)	८,१००	१७,०००
जूट का माल (हजार टनों में)	८९२	१,२००
कृषि यंत्र :		
बिजली से चलने वाले यंत्र (हज़ारों में)	३४·३	८५·०
डीजल से चलने वाले इंजन (हजारों में)	५·५	५०·०
साइकिलें (हजारों में)	१०१·०	५३०·०
मद्यसार (लाख गैलनों में)	४७·०	१८०·०

४—यातायात :—

जहाज रानी (टनों में) :

तटवर्ती (जी० आर० टी० हजारों में)	२११·०	३१५·०
विदेशों के लिये (जी०आर०टी०हजारों में)	१७३·५	२८३·०

सड़कें :—

राष्ट्रीय राष्ट्र पथ (हजार मीलों में)	११·६	१२·५
राज्यों की सड़कें (हजार मीलों में)	१७·६	२०·६

उपर्युक्त आँकड़ों के अलावा शिक्षा, स्वास्थ्य, पंचायतें और सहकारी समितियों के विषय में भी योजना आयोग ने कुछ आँकड़े दिये हैं।

योजना का राष्ट्रीय आय और काम की दृष्टि से परिणाम :—यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में ६,००० करोड़ से १०,००० करोड़ तक की यानी ११% की वृद्धि १९५५-५६ तक हो जावेगी। योजना आयोग ने यह भी लिखा है कि किन्हीं खास प्रदेशों में जहाँ स्थानीय जन शक्ति और दूसरे साधनों द्वारा उत्पादन बढ़ाने का विशेष प्रयत्न किया जावेगा वहाँ आय २५% या अधिक भी बढ़ सकती है। सारे राष्ट्र की आय में प्रतिवर्ष २% वृद्धि होगी; इसमें से पाँचवा हिस्सा यानी २०% प्रतिवर्ष पूँजी निर्माण के काम में लगाना होगा। योजना आयोग ने यह अनुमान भी लगाया है कि यदि १९५६-५७ से अतिरिक्त आय का ५०% पूँजी-निर्माण में लगा दिया जावे तो कुल आय का १९५०-५१ में जहाँ केवल ५% बचत के रूप में रहता था और १९५५-५६ में ६¾% हो जाने की आशा है वह बचत १९६०-६१ में ११% और १९६७-६८ में २०% तक हो सकेगी। और इस आधार पर यह अनुमान योजना आयोग ने लगाया है कि १९७७ तक अर्थात् २७ वर्षों में हमारी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १९५०-५१ की तुलना में दुगनी हो सकती है। और जहाँ तक उपभोग का सवाल है १९५०-५१ की तुलना में १९७७ में ७०% वृद्धि हो सकती है। योजना आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि भारत में जनशक्ति और दूसरे साधन जोकि आज वेकार हैं काम में लेने की यथेष्ट गुंजाइश है और बिना पूँजी का अधिक उपयोग किये यदि इन साधनों को काम में लिया जासके तो विकास का मार्ग अधिक सरल हो सकता है। इस दृष्टि से योजना आयोग को यह आशा होती है कि लगभग २० वर्षों में ही हमारी राष्ट्रीय आय दुगनी हो जावे।

आर्थिक विकास से संबंधित दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न लोगों में व्याप्त वेकारी को दूर करने का है। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि देश में जितने काम कर

सकने योग्य व्यक्ति हैं उन सबको काम दिया जासके। इस प्रश्न पर योजना आयोग ने विचार किया है। उनका कहना है कि सबको काम देने का कार्यक्रम तभी व्यवहार में पूरी तौर से आ सकता है जबकि देश में पूँजी-निर्माण में वृद्धि हो। वह लिखते हैं कि अविकसित अर्थ-व्यवस्था में बेकारी को दूर करना तत्काल का कार्यक्रम नहीं हो सकता, वह तो लम्बे समय का कार्यक्रम ही हो सकता है। जैसे-जैसे देश का विकास होगा वैसे ही वैसे काम के अवसर भी बढ़ेंगे।

निकट भविष्य में काम की स्थिति में क्या परिवर्तन संभव है इस बारे में योजना आयोग का कहना है कि आरम्भ में जो लोग नए नए काम में लगेंगे वे उत्पादन में बहुत वृद्धि नहीं कर सकेंगे और इसलिये यदि उनको रुपये में वेतन दी गई तो उसका असर जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की कीमतें बढ़ाने का होगा। एक मर्यादा के बाहर इस प्रकार का असर वांछनीय नहीं हो सकता। इसलिये काम की वृद्धि के साथ साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उत्पादन में भी वृद्धि हो। यदि अल्प काल में यह संभव न हो और खास तौर से खाद्यान्न जैसी आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि में वृद्धि न की जा सके तो सब को काम देने का कार्यक्रम चल नहीं सकता। इसलिये योजना आयोग ने इन प्रारम्भ के कुछ वर्षों में अपना जोर सब को काम देने पर नहीं दिया है उनका ज़ोर इस बात पर है कि लोग यथासम्भव बिना मज़दूरी के स्वेच्छा से काम करें और ऐसे लोगों को काम के लिये संगठित करने मात्र में जो रुपया व्यय हो वही व्यय किया जावे। काम देने संबंधी नीति का निर्माण करते समय निम्न बातों का ध्यान रखने की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है :—(१) विकास कार्य के लिये बेकार जन-शक्ति को अधिक से अधिक काम में लिया जावे। (२) द्रव्य में आय-वृद्धि आरम्भ में कम से कम की जावे। (३) श्रम की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिये पूँजी निर्माण और टेकनीकल कुशलता को बढ़ाया जावे। (४) मौजूदा उद्योगों में पुरानी मशीनों आदि को हटाने के समय मज़दूरों में बेकारी अधिक न बढ़े इसका ध्यान रखा जावे। (५) नए कामों में पूँजी लगाने का निर्णय करते समय अल्प काल में काम बढ़े इसका और साथ ही साथ भावी विकास के स्वरूप का ध्यान रखा जावे।

पंचवर्षीय योजना काल में यद्यपि सब को काम देने का लक्ष्य योजना आयोग का नहीं है पर फिर भी किसी हद तक काम का विस्तार तो होगा ही और जो आज बेकार हैं उनके लिये एक हद तक काम के नए द्वार खुलेंगे। सिंचाई, पड़त भूमि खेती योग्य बनाना, शक्ति, आधारभूत उद्योग, यातायात, दस्तकारियाँ, सार्वजनिक निर्माण और दूसरे क्षेत्रों में जो विकास और विस्तार होगा उसके कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को काम मिलेगा। गाँवों में बिजली पहुँचने के

साथ साथ ग्रामोद्योग और छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास होगा और उससे भी नए काम के साधन पैदा होंगे। सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में भी अधिक लोगों को काम देने की गुंजाइश होगी।

योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजना के कारण कितने लोगों को अधिक काम मिलेगा इस सम्बन्ध में कुछ चुने हुए क्षेत्रों के बारे में जो आंकड़े दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

		अतिरिक्त काम		
१.	उद्योग छोटे पैमाने के उद्योग सहित	४	लाख	प्रतिवर्ष
२.	सिंचाई और शक्ति की बड़ी योजनाएँ	७½	,,	,,
३.	कृषि : नई सिंचाई की भूमि के कारण	१४	,,	,,
	तालाबों में मरम्मत के कारण	१½	,,	,,
	पड़त भूमि को खेती योग्य बनाने के कारण	७½	,,	,,
४.	इमारत और निर्माण	१	,,	,,
५.	सड़कें	२	,,	,,
६.	ग्रामोद्योग	२०	,,	,,
		(ग्रामोद्योग में उपर्युक्त २० लाख के अलावा ३६ लाख व्यक्तियों को पूरा काम और मिलेगा।)		
		५७½	लाख	प्रतिवर्ष
७	'टेरेटियरी' क्षेत्र और स्थानीय काम	इनमें काम तो बढ़ेगा पर उसका अन्दाज लगाना कठिन है।		

योजना आयोग ने पढ़े लिखे लोगों में पाई जाने वाली बेकारी की समस्या पर भी विचार किया है। योजना के फलस्वरूप इन लोगों की बेकारी की समस्या में कोई विशेष सुधार नहीं होगा, यह आयोग ने स्वीकार किया है। कारण यह है कि योजना में कृषि और भावी औद्योगिक विकास के लिये आधार तैयार करने पर अधिक ज़ोर दिया गया है। फिर भी योजना आयोग ने पढ़े लिखे वर्ग को राहत पहुँचाने की दृष्टि से कुछ सुझाव दिये हैं जो इस प्रकार हैं :— (१) इञ्जीनियरों और डाक्टरों जैसे टेकनीकल लोगों को अच्छा वेतन दिया जावे और गाँवों आदि में निजी चिकित्सालय खोलने वाले डाक्टरों को आर्थिक मदद दी जावे। (२) व्यापार आदि शिक्षा को व्यवसायी वर्ग की मदद से अधिक व्यावहारिक बनाया जाये। (३) पढ़े लिखे लोगों में हाथ के काम के प्रति अरुचि कम की जाये और टेकनीकल कामों का उन्हें प्रशिक्षण दिया जावे। (४) बिना अनुभव के युवकों को

अपेरेन्टिसशिप की सुविधा दी जावे और अधिक उम्र के लोगों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे जावें। उपर्युक्त प्रयत्नों का यह परिणाम होगा कि विभिन्न पेशों में आज की अपेक्षा अधिक अच्छा बटवारा हो सकेगा। इसके अतिरिक्त योजना आयोग ने इस दृष्टि से भी कुछ सुझाव दिये हैं कि नौकरी चाहने वालों की संख्या में कमी हो। एक सुझाव तो यह है कि ५०० रु० से ५००० रु० तक की पूँजी के आधार पर चल सकने वाले छोटे उद्योगों में पढ़े लिखे लोगों को प्रशिक्षण देकर और प्रारम्भिक पूँजी की सहायता देकर लगाया जाये। दूसरा सुझाव यह है कि कारखानों की इमारतें उनके लिये बिजली, पानी तथा यातायात की सुविधा सहित राज्य बनावे और उचित किराये पर कारखाने चलाने वालों को देदी जावें। इससे मध्यम और छोटे पैमाने के उद्योग धंधों को प्रोत्साहन मिलेगा। ब्रिटेन में ऐसा किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने पंचवर्षीय योजना की मोटी रूपरेखा का वर्णन किया है। अब हम देश के आर्थिक विकास से संबंध रखने वाले कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का विस्तार से अध्ययन करेंगे। इसमें स्वभावतः प्रमुख स्थान कृषि और उद्योग संबंधी प्रश्नों को होगा।

पंचवर्षीय योजना में कृषि

वर्तमान स्थिति :—भारत का कुल क्षेत्रफल ८११० लाख एकड़ है। इसमें से ६१५० लाख एकड़ भूमि के उपयोग के बारे में आँकड़े उपलब्ध हैं। बाकी की अधिकांश भूमि में पहाड़, रेगिस्तान, और नहीं पहुँचे जाने योग्य जंगल हैं। भारत में ६१५० लाख एकड़ में से कुल ३२४० लाख एकड़ भूमि पर कृषि होती है। ७८% पर खाद्यान्न और १७% पर व्यापारिक फ़सलें होती हैं। जन-संख्या की वृद्धि के साथ साथ पिछले ४० वर्षों में कृषि भूमि के क्षेत्रफल में उसी अनुपात से वृद्धि नहीं हुई है। भूमि पर जनसख्या का भार यद्यपि बढ़ा है पर बहुत कम पड़त भूमि खेती योग्य बनाई गई है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी पड़त भूमि जो स्वयं किसान खेती योग्य बना सकें, बहुत कम है। भूमि की उर्वरता में कोई कमी आई हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

देश में ४४०-४५० लाख टन अनाज पैदा होता है और १३·७ औंस प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के हिसाब से १९५५-५६ में लगभग ६७ लाख टन अनाज का अधिक उत्पादन होना चाहिये। १४ औंस के आधार पर यह ७८ लाख टन होगा। पंचवर्षीय योजना में अधिक उत्पादन का लक्ष्य ७६ लाख टन रखा गया है। कपास की १९५६ में कुल आवश्यकता ५३ लाख गाठें और पटसन की ७२ लाख गाँठें आँकी जाती हैं।

पिछली कुछ दशाब्दियों में सिंचाई का विस्तार हुआ है, देश के उत्पादन और व्यापार में नई फसलों ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, कृषि और औद्योगिक व्यवस्थाओं का एक दूसरे पर काफ़ी असर पड़ने लगा है, ग्रामीण ऋण और महाजन की समस्या पर देश का ध्यान आज पन्द्रह बीस वर्ष पहले जितना था उससे बहुत कम है और आम ग्रामीण जनता में अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने की इच्छा आज दिखाई पड़ती है। सारांश यह है कि देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था सर्वथा निश्चल नहीं रही है और उसमें कई महत्वपूर्ण परिवर्तन पिछले वर्षों में हुए हैं।

कृषि सुधार की दृष्टि—योजना आयोग का कहना है कि हमारा लक्ष्य ग्रामीण जनता के मानवीय और भौतिक दोनों साधनों का विकास करना है। यह तभी संभव हो सकता है जब कि हम किसान के संपूर्ण जीवन को एक इकाई मान कर उसके सर्वतोन्मुखी विकास का प्रयत्न करें। हमें उसके सामाजिक वातावरण को बदलना है, नए साधन और नई कार्य-पद्धति से उसे अवगत करना है ताकि एक ओर उत्पादन बढ़े और दूसरी ओर न्यायपूर्ण वितरण हो। योजना में इन्हीं बातों का ध्यान रखा गया है।

सहकारिता पर जोर—योजना आयोग ने ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास के संबंध में सहकारिता के उपयोग पर बहुत ज़ोर दिया है।

भूमि नीति—योजना आयोग ने भूमि-नीति के महत्व को स्वीकार किया है और कहा है कि हमारी भूमि नीति ऐसी होनी चाहिये कि कृषि उत्पादन में वृद्धि हो और धन और आय का असमान वितरण दूर हो और शोषण का अन्त हो। योजना आयोग ने भूमि से संबंधित निम्नलिखित हितों की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया है :—(१) मध्यस्थ—जैसे जमींदार-जागीरदार (२) बड़े भू-स्वामी (३) छोटे और बीच के दर्जे के भू-स्वामी (४) शिकमी काश्तकार और (५) भूमिहीन मज़दूर। योजना आयोग का कहना है कि जमींदारी-जागीरदारी प्रथा का अन्त होना ही चाहिये। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और मद्रास में ज़मींदारी समाप्त करदी गई है और बिहार में होने वाली है। आसाम और उड़ीसा में भी क़ानून पास हो चुका है और शीघ्र लागू होने वाला है। पश्चिमी बंगाल में इस संबंधी कानून बन रहा है। जागीरदारी समाप्त करने के कानून राजस्थान, मध्य भारत, सौराष्ट्र और हैदराबाद में पास हो चुके हैं और सौराष्ट्र और हैदराबाद में तो लागू भी कर दिये हैं।

बड़े भू-स्वामी—बड़े भू-स्वामियों की समस्या पर जब हम विचार करते हैं तो सब से पहला सवाल यह उठता है कि जिनके पास भूमि नहीं है या कम है

उनको दे दी जाये या नहीं। योजना आयोग का कहना है कि हमारे देश में बड़े भू-स्वामियों की संख्या बहुत कम है। इसलिये भूमिहीनों को भूमि देने या जिनके पास कम भूमि है उनको आर्थिक जोत की दृष्टि से और भूमि देने का उद्देश्य इन बड़े बड़े भू-स्वामियों से भूमि लेकर पूरा नहीं किया जा सकता। पर इसके बावजूद भी सिद्धान्तः योजना आयोग इस पक्ष में है कि किसी एक व्यक्ति के पास एक सीमा से अधिक भूमि नहीं होनी चाहिये। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही योजना आयोग ने भविष्य की दृष्टि से और खुद काश्त के लिये ज़मीन लेने की दृष्टि से एक व्यक्ति के लिये भूमि की एक उच्चतम सीमा निश्चित करने की सिफ़ारिश की है। उनके विचार से यह उच्चतम सीमा एक परिवार की दृष्टि से जितनी भूमि वाजिब मानी जाय उससे तीन गुनी चाहिये। प्रत्येक राज्य को चाहिये कि अपनी विशेष स्थिति का ध्यान रखते हुए वह इस उच्चतम सीमा का निश्चय करें। जिनके पास इस उच्चतम सीमा से अधिक भूमि पहले से ही मौजूद हो उसके लिये योजना आयोग का कहना है कि विना पूरा मुआविज़ा दिये उन लोगों से जो भूमि अधिक है वह विधान के अनुसार ली नहीं जा सकती, ऐसा हमें बताया गया है। इसलिये मौजूदा बड़े बड़े भूस्वामियों की समस्या को उन्होंने और ढंग से हल करने की सिफ़ारिश की है।

योजना आयोग ने इन बड़े बड़े भू-स्वामियों को दो श्रेणियों में बाँटा है—एक तो वे जो स्वयं अपनी भूमि का प्रबंध करते हैं अर्थात् अपने प्रबन्ध में खेती करते या कराते हैं और दूसरे वे जिन्होंने किसानों को खेती के लिये भूमि उठा रखी है। दूसरी श्रेणी के भू-स्वामियों के लिये योजना आयोग ने यह सिफ़ारिश की है कि खुदकाश्त के लिये भूमि प्राप्त करने के बारे में जो सीमा ऊपर बताई गई है उतनी भूमि को छोड़ कर बाकी की भूमि के किसानों को भूमि की मिल्कियत दिलाने की नीति अपनाई जानी चाहिये। इसके लिये पहला कदम तो यह होगा कि जो शिकमी काश्तकार हैं उन्हें 'ओक्यूपेंसी' के अधिकार मिलने चाहियें। इसके बाद उनके पास जो भूमि है उसका मूल्य निश्चित किया जाना चाहिये और वह मूल्य काश्तकार को चुकाना चाहिये। यह चुकारा किश्तों में किया जा सकता है। जो भूमि के मालिक हैं उनको मुआवज़ा 'बोंड' के रूप में ठीक उसी प्रकार दिया जाना चाहिये जिस प्रकार कि ज़मींदारों—जागीरदारों को दिया गया है या दिया जा रहा है। अर्थात् भू-स्वामियों को इन 'बोन्डों' पर सूद मिलता रहे और एक निश्चित समय में किश्तों से उनका चुकारा नकद में कर दिया जावे।

जो भू-स्वामी पहली श्रेणी में आते हैं अर्थात् जिन्होंने भूमि किसानों को नहीं उठा रखी है उनके बारे में आयोग ने निम्न सिफ़ारिशें की हैं। एक व्यक्ति के

पास एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि नहीं रहनी चाहिये और यह सीमा प्रत्येक राज्य को अपनी स्थिति विशेष का ध्यान रखकर निश्चित करनी चाहिये। दूसरे, भूमि प्रबन्ध और उस पर खेती कानून द्वारा निश्चित कार्य-कुशलता के स्तर के अनुसार की जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में राज्य को आवश्यक कानून पास करना चाहिये और इस कानून में भू-स्वामी के कर्त्तव्यों का जैसे अतिरिक्त उत्पादन को सरकार को बेचने, अच्छे बीज पैदा करने और बेचने, तथा कृषि मज़दूरों की मज़दूरी और काम की परिस्थितियों के बारे में निर्धारण भी होना चाहिये। योजना आयोग ने यह भी लिखा है कि प्रारम्भ में इस प्रकार का कानून भू-स्वामियों पर लागू न करके एक निश्चित सीमा से (जोकि भविष्य में प्राप्त की जाने वाली या खुद-काश्त की दृष्टि से ली जाने वाली भूमि के लिये निश्चित सीमा के बराबर या उस से अधिक हो सकती है) अधिक भूमि के मालिकों पर ही लागू किया जा सकता है। योजना आयोग ने इस बारे में एक सिफ़ारिश और की है। जिन बड़े फ़ॉर्मों पर ठीक ढंग से खेती हो रही है और जिनका विभाजन करने से उत्पादन में कमी आ सकती है उनके अलावा जो ऐसे बड़े फ़ॉर्म हैं जिनका ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं हो रहा है वे सारे या उनका कोई भाग जो कि खुदकाश्त या भविष्य के लिये निश्चित भूमि प्राप्त करने की सीमा से अधिक हो, उपर्युक्त कानून के अन्तर्गत प्रबन्ध की दृष्टि से सरकार के अधिकार में लिया जा सका जाना चाहिये और उसके प्रबन्ध के लिये उचित व्यवस्था की जा सकनी चाहिये। इन भूमि पर काम करने वाले मज़दूरों और सहकारिता के आधार पर खेती करने को तैयार लोगों को ऐसी ज़मीन पर खेती की व्यवस्था करते समय विशेष सुविधा दी जानी चाहिये। उक्त क़ानून में क़ानून के लागू करने का समय भी निश्चित होजाना चाहिये। योजना आयोग का ख्याल है कि इस सारी व्यवस्था में दो-तीन वर्ष का समय तो चाहिये ही। योजना आयोग का यह विश्वास है कि बड़े भू-स्वामियों के लिये जो सुझाव उन्होंने किये हैं उनके फलस्वरूप ज़मीन का काफ़ी हद तक पुनः बटवारा हो सकेगा।

छोटे और बीच के भू-स्वामी :–योजना आयोग ने छोटे भू-स्वामी उनको माना है जिनके पास परिवार की दृष्टि से पर्याप्त भूमि के बराबर या उससे भी कम भूमि है और बीच के भू-स्वामी वे हैं जिनके पास इससे अधिक, पर इसकी तीन गुनी से कम भूमि है। इन दोनों ही प्रकार के भू-स्वामियों के बारे में आयोग की नीति उनको उत्पादन बढ़ाने और सहकारिता के आधार पर उनको संगठित होने में प्रोत्साहन और सहायता देने की है। छोटे भू-स्वामियों की दृष्टि से भूमि की चक-बन्दी का हर राज्य को अपना कार्यक्रम बनाना चाहिये और साथ ही एक ऐसी न्यून-

तम मर्यादा निश्चित की जानी चाहिये जिसके वाद कि भूमि विभाजन न होने दिया जाये। इन दोनों श्रेणियों के भू-स्वामियों में भी एक तो वे हैं जो स्वयं अपनी भूमि पर खेती करते हैं; इनको तो हर तरफ से खेती में सहायता दी जानी चाहिये। जो ऐसे भू स्वामी हैं जिन्होंने कि भूमि किसानों को उठा रखी है उनके काश्तकारों की रक्षा के लिये जो भी उपाय किये जावें वे ऐसे सरल होने चाहियें कि उनको आसानी से व्यवहार में लाया जा सके और उनके बारे में यदि कोई समस्यायें पैदा हों तो वे गाँव में लोग ही स्वय सुलझा लें। दूसरे इन उपायों का यह असर भी नहीं आना चाहिये कि लोगों का खेती से दूसरे धर्धों में जाने के प्रवाह में बाधा पड़े।

शिक्मी काश्तकारः—बीच के और छोटे भूस्वामियों के काश्तकारों के बारे में योजना आयोग ने कहा है कि स्वयं खेती के लिये काश्तकारों से भूमि लेने का अधिकार केवल उन्हीं भू-स्वामियों को दिया जाना चाहिये जो खुद या अपने परिवार के लोगों द्वारा खेती करना चाहते हों। पर इस प्रकार ली जाने वाली परिवार के लिये पर्याप्त भूमि तीन गुनी से ज्यादा नहीं होनी चाहिये। इस संबंध में एक अवधि, उदारणार्थ ५ वर्ष, निश्चित करदी जानी चाहिये। इस अवधि में स्वामी स्वयं खेती के लिये भूमि ले सकता है। ऐसा न करने पर काश्तकार को उसी तरह से जैसे बड़े भू स्वामियों के काश्तकारों के बारे में कहा गया है वह भूमि खरीद सकने का अधिकार मिलना चाहिये, जिसे वह जोतता है। इन छोटे और बीच के भू स्वामियों के काश्तकारों को पाँच से दस साल के लिये जमीन दी जानी चाहिये और उनसे लगान इतना ही लिया जाना चाहिये जिससे कि किसान को अपनी वाजिब मजदूरी बच जावे। उपज का एक चौथाई या पाँचवा हिस्सा सामान्य तथा वाजिब समझा जाना चाहिये।

भूमि हीन मजदूर :—योजना आयोग ने भूमि हीन मजदूरों को भूमि दिलाने की दृष्टि से आचार्य विनोवा भावे के भूदान यज्ञ के महत्व को स्वीकार किया है। उनका यह भी कहना है कि इस समस्या को हल करने का उपाय यह है कि समाज में संगठनात्मक परिवर्तन किये जावें। इस दृष्टि से गाँव का सहकारी व्यवस्था के आधार पर प्रबंध करना उन्होंने आवश्यक बताया है।

सहकारी खेती :—योजना आयोग ने गाँवों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से सहकारी खेती और अन्य सहकारी प्रवृत्तियों के महत्व को स्वीकार किया है और यह सिफारिश की है कि छोटे और बीच के दर्जे के भू-स्वामी सहकारी खेती को अधिकाधिक अपनावें और इसमें उनकी सहायता की जावे। भारत में कृषि उद्योग की सबसे बड़ी आवश्यकता उत्पादन बढ़ाने की है

जिसके लिये कि बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक तरीकों की जानकारी फैलाने और बड़ी पूँजी की आवश्यकता है। यह बड़े पैमाने पर कृषि होने से ही संभव हो सकता है और इसीलिये सहकारी खेती को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। आयोग का कहना है कि छोटे पैमाने की कृषि वहीं सफल हो सकती है जहाँ प्राकृतिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, पूँजी की अधिक आवश्यकता नहीं है और खेती करने वाले किसान अपने काम में दक्ष हैं।

सहकारी ग्राम प्रबंध :—योजना आयोग का कहना है कि हमें अपने ग्राम सुधार का लक्ष्य अधिक व्यापक आधार पर निश्चित करना चाहिये और केवल सहकारी खेती और अन्य सहकारी प्रवृत्तियों तक ही हमारी दृष्टि सीमित नहीं रहनी चाहिये। योजना आयोग ने इस व्यापक दृष्टिकोण को सामने रख कर ही सहकारी ग्राम प्रबंध का आदर्श हमारे सामने उपस्थित किया है। इस सहकारी ग्राम प्रबंध में गाँव पंचायत को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गाँव की भूमि का प्रबंध और भूमि सुधार के कार्यक्रम को कार्यान्वित करना गाँव पंचायत ही का काम होना चाहिये। छोटे और बीच के दर्जे के भू-स्वामी अपनी भूमि किसानों को ग्राम पंचायत के द्वारा पट्टे पर दें, बड़े भू-स्वामियों की भूमि जो खेती आदि के लिये उपलब्ध हो उसका प्रबंध करना उसी का काम हो, और भूमिहीन मजदूरों को न्यूनतम मात्रा में भूमि देने का काम भी पंचायत को सौंपा जाये। इतना ही नहीं, वास्तव में सहकारी भूमि प्रबंध के क्षेत्र में गाँव को समस्त भूमि का प्रबंध करना और खेती के अलावा दूसरे धधों के द्वारा काम चाहने वालों को काम देना और सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करना— सभी कुछ होना चाहिये।

प्रत्येक गाँव या गाँव समूह को अपने अनुकूल सहकारी ग्राम प्रबंध की व्यवस्था कायम करनी चाहिये। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय में आवश्यक मार्ग-दर्शन और सहायता करे और भूमि-प्रबध के लिये आवश्यक कानून पास करे। भूमि-प्रबंध संबधी जो कानून पास किया जावे उसके द्वारा ग्राम पंचायतों को यह अधिकार दिया जाना चाहिये कि गाँव में जो जमीन खेती के काम में नहीं आरही है या जिस पर जमीन का मालिक स्वय खेती नहीं करता है उसका प्रबंध ग्राम पचायतें ही करेंगी। इसी कानून में यह भी होना चाहिये कि यदि किसी गाँव में भू स्वामियों और 'ओक्यूपेंसी' के अधिकार वाले उन काश्त-कारों का बहुमत हो जिन के पास कि गाँव की आधी जमीन है, तो गाव में सहकारी प्रबंध लागू किया जासके और उनका निर्णय सब के लिये लागू हो। इस संबध में योजना आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि इस दृष्टि से कुल भूमि की आधी भूमि का अनुमान लगाने के लिये किसी

भू-स्वामी की व्यक्तिगत खेती के लिये प्राप्त करने की मर्यादा से अधिक क्षेत्रफल की भूमि गिनती में नहीं ली जावेगी।

इस सहकारी ग्राम प्रबन्ध व्यवस्था का मूल उद्देश्य एक ही है कि गाँव की भूमि और अन्य समस्त साधनों का उपयोग समूचे गाँव के विकास को ध्यान में रख कर ही किया जा सके। यहाँ यह बात भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि भूमि-प्रबंध सबंधी कानून का ताल्लुक न तो भूमि के स्वामित्व से होगा जिसके लिये कि हर राज्य में पृथक् भूमि-सुधार कानून होगा और न भूमि के लगान या स्वामित्व के लिये मिलने वाले 'ऑनरशिप डिविडेन्ड' से होगा जोकि राज्य के काश्तकारी कानून द्वारा निश्चित होंगे। भूमि-प्रबन्ध कानून का उद्देश्य तो इतना ही होगा कि गाँव की समस्त भूमि का प्रबंध उसे एक इकाई मानकर गाँव की जनता कर सके। सहकारी गाँव प्रबन्ध में खेती परिवार अलग-अलग करेंगे या कुछ परिवार मिल कर करेंगे, या कई ढंगों को एक ही साथ काम में लिया जायेगा। इसका निर्णय तो हर गाँव को अपनी स्थिति का ध्यान रख कर करना होगा। पर धीरे-धीरे प्रगति अधिकाधिक सहकारिता के आधार को स्वीकार करने की ओर होगी।

कृषि-मजदूर : कृषि मज़दूर वह व्यक्ति है जो खेती के काम में मज़दूरी पर लगा रहता है। १६५० की जनगणना के अनुसार २६.५ करोड़ ग्रामीण जनता थी। इसमें से २४.६ करोड़ लोग खेती में काम करने वाले थे। इन २४.६ करोड़ के १८% लोग कृषि-मज़दूर और उन पर निर्भर रहने वालों के थे। इसका अर्थ यह है कि हमारे देश में कृषि-मज़दूर और उन पर निर्भर रहने वालों की संख्या ४½ करोड़ के आसपास है। यह संख्या बहुत बड़ी है। इन लोगों की दशा बहुत ही गिरी हुई है और भारत के ग्राम-सुधार का कार्य इनकी स्थिति में जब तक सुधार न हो पूरा नहीं हो सकता। योजना आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देश में जो आर्थिक उन्नति होगी और खासकर कृषि और ग्रामोद्योग के क्षेत्र में जो विकास होगा और ग्राम-विकास की जो सामुदायिक योजनायें अमल में आरही हैं उन सबका कृषि-मज़दूर की स्थिति को किसी हद तक सुधारने का असर होगा। राज्य और केन्द्र की योजनाओं में पिछड़ी हुई जातियों और भूमि हीन कृषि-मज़दूर के बसाने के लिये जो व्यय किया जायगा उसका प्रत्यक्ष लाभ भी कृषि-मज़दूर वर्ग को मिलेगा क्योंकि ये लोग प्राय: इन्हीं जातियों के होते हैं। इसके अलावा योजना आयोग ने कृषि-मज़दूरों के लिये और भी कई सुझाव दिये हैं, जैसे न्यूनतम मज़दूरी; कानून को बड़े फ़ार्मों, बहुत कम मज़दूरी वाले स्थानों या सम्पूर्ण विकास के लिये

चुने गए प्रदेशों में लागू करना ; भूदान-आन्दोलन द्वारा भूमि दिलाना और उस भूमि पर बसने में उनकी सहायता करना ; मज़दूर सहकारी समितियों का सगठन करना और उनके द्वारा स्थानीय सिंचाई और दूसरे निर्माण कार्यों को करवाना ; मकान, बैल और अन्य साधन ख़रीदने और सहायक उद्योगों के लिये आर्थिक मदद करना ; छात्रवृत्ति और टेकनिकल शिक्षा का प्रबन्ध करना ; जिन मकानों में वे रहते हैं और जो उनके नहीं हैं उनसे वे हटाए न जा सकें इसकी व्यवस्था करना और गाँवों में काम करने वाले लोगों (एक्स्टेंशन वर्कर्स) और ग्राम पंचायतों को उनकी उन्नति के लिये ज़िम्मेदार बनाना आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जो योजना आयोग ने कृषि-मज़दूरों की उन्नति के लिये आवश्यक बताये हैं।

खाद्य नीति : पचवर्षीय योजना की सफलता के लिये कई दृष्टियों से यह आवश्यक है कि देश में खाद्यान्न की कठिनाई न हो और उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिलता रहे। योजना आयोग ने इस बात के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसके लिये एक तो वे खाद्य-नियन्त्रण की आधारभूत व्यवस्था को क़ायम रखना आवश्यक समझते हैं। उनका मानना है कि जब तक कि खाद्यान्न का उत्पादन ७५ लाख टन के आसपास बढ़ नहीं जाता जैसा कि योजना में माना गया है, देश खाद्यान्न की दृष्टि से निश्चिंत नहीं हो सकता। खाद्य-नियंत्रण की यह नीति अखिल भारतीय आधार पर तय होनी चाहिये। हाँ, तफ़सील में राज्यों में परिस्थिति के अनुसार अन्तर हो सकता है। किस मूल्य पर लेवी ली जाये और किस मूल्य पर सरकार अनाज बेचे इसका निर्णय केन्द्र की सरकार को करना चाहिये। देश के आन्तरिक उत्पादन को बढ़ाना, बाज़ार में बिकने के लिये आने वाले अनाज की मात्रा में वृद्धि करना, और उसके वितरण की ठीक-ठीक व्यवस्था करना और अनाज का आयात धीरे-धीरे कम करना देश की खाद्य-नीति के मुख्य उद्देश्य होने चाहियें। योजना आयोग का कहना है कि हमें अपनी भोजन संबंधी आदतों में भी परिवर्तन करना चाहिये। योजना-काल में 'रेशनिंग', प्रोक्योरमेंट, और अमुक न्यूनतम मात्रा में विदेशों से अनाज का आयात खाद्य-नियंत्रण को सफल बनाने के लिये आवश्यक होंगे, यह भी योजना आयोग का मानना है।

सामुदायिक विकास योजनायें : हमारे गाँव की स्थिति सुधारने के लिये पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक योजनाओं को बहुत महत्त्व दिया गया है। ९० करोड़ रुपया उन पर तीन साल में (यह तीन साल की योजना है) व्यय करने का प्रस्ताव है। १९५२ में इन योजनाओं का आरंभ किया गया है। इन योजनाओं का उद्देश्य गाँवों का सर्वतोन्मुखी विकास करना है और उस विकास में

ग्रामवासियों का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करना उनकी मुख्य कार्य-पद्धति है। कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चूँकि गाँव का समूचा जीवन एक अविभाज्य इकाई है इसलिये उसके सुधार का कार्य अलग-अलग विभागों के अलग-अलग कार्यकर्ताओं में न बाँटा जाकर एक ही कार्यकर्ता द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गई है। यह है गाँव का कार्यकर्ता।

प्रत्येक सामुदायिक योजना में लगभग ३०० गाँव हैं जिनका क्षेत्रफल ४५०-५०० वर्गमील, जिनकी कुल कृषि भूमि १½ लाख एकड़, और जिनकी कुल जनसंख्या २ लाख के आसपास है। इस प्रकार की ५५ योजनायें सारे देश में इस समय चालू की गई हैं।

एक सामुदायिक योजना ३ डेवलपमेंट ब्लाक में बाँटी गयी है। हर ब्लॉक में १०० गाँव और ६०-७० हज़ार जनसंख्या है। हर ब्लाक पाँच-पाँच गाँव के समूह में बाँटा गया है। इस प्रकार के हर पाँच गाँव के एक समूह में एक गाँव के कार्यकर्ता को रखने की व्यवस्था की गई है।

सामुदायिक योजना के कार्यक्रम में निम्नलिखित बातें शामिल की गई हैं—कृषि और संबंधित विषय, यातायात, शिक्षा (टेकनिकल शिक्षा सहित), स्वास्थ्य, सहायक काम, मकान व्यवस्था, प्रशिक्षण, और सामाजिक हित जिसमें मनोरंजन भी शामिल है। इस कार्यक्रम के बारे में एक उल्लेखनीय बात तो यह है कि न केवल कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में बल्कि उसके निर्माण में भी गाँव की जनता के सहयोग पर यथेष्ट जोर दिया गया है। योजना आयोग का कहना है कि ग्राम-विकास योजनायें शुरू उन्हीं स्थानों में की जायें जहाँ की जनता उन योजनाओं के लिये स्वेच्छा से अपने श्रम या नकद रुपये के रूप में सहायता देने को तैयार हो।

कृषि संबंधी कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह है कि गाँवों में जो खेती योग्य जमीन आज खेती के काम में नहीं आ सकती है उसे खेती करने लायक बनाया जावे; खेती के काम में आने वाली कम से कम आधी ज़मीन पर सिंचाई की व्यवस्था की जाये; अच्छे बीज और कृत्रिम खाद की व्यवस्था की जावे; खेती करने और भूमि उपयोग के उन्नत तरीकों को प्रोत्साहन दिया जावे; अच्छे औज़ारों और खेती संबंधी आवश्यक टेकनिकल जानकारी देने तथा क्रय-विक्रय और साख की अच्छी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाये; और कम्पोस्ट तथा प्राकृतिक खाद के उपयोग को प्रोत्साहन दिया जाये तथा पशु-सुधार पर ज़ोर दिया जावे। इन सब कामों को करने के लिये देश में कृषि-सुधार प्रचारकों (एग्रीकलचरल एक्सटेंशन सर्विस) की एक सर्विस कायम की जा रही है और हर पाँच गाँव के पीछे एक कृषि-सुधार

प्रचारक दिया जानेवाला है। यह कृषि-सुधार प्रचारक गाँवों में सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन देने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा। लक्ष्य यह होगा कि हर गाँव या गाँव-समूह में कम से कम एक बहु-उद्देशीय सहकारी समिति कायम हो जाय जो कि ग्राम-विकास के प्रत्येक काम में मदद दे।

यातायात के विकास का कार्यक्रम यह है कि सड़कें इस प्रकार बनाई जावें कि ग्राम-विकास योजना के प्रदेश के अन्दर का प्रत्येक गाँव सड़क से आधे मील से अधिक दूरी पर न रहे। योजना यह है कि मुख्य सड़कों का निर्माण और उनको कायम रखने का काम तो राज्य या दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा किया जाये और गाँव को मुख्य सड़क से मिलाने वाली सहायक सड़कें स्वयं गाँव वाले अपने श्रम से बनालें।

शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक शिक्षा, प्रारंभिक और मध्यमिक शिक्षा, काम करने वाले बच्चों की शिक्षा, धधों संबधी और टेकनिकल शिक्षा सभी के विकास और विस्तार का प्रयत्न किया जायगा।

स्वास्थ्य के संबंध में यह योजना है कि एक सामुदायिक योजना के अन्तर्गत तीन तो तीनों ब्लॉकों के 'प्राइमरी हेल्थ यूनिट्स' होगे और सारे योजना प्रदेश के लिए उसके केन्द्रीय स्थान पर 'सेकिन्डरी हेल्थ यूनिट' होगा जिसके साथ एक अस्पताल और एक चलती-फिरती डिस्पेंसरी रहेगी। न केवल बीमारियों का इलाज करना बल्कि बीमारियों को रोकने के उपायों की जानकारी कराना भी स्वास्थ्य संबंधी योजना का मुख्य उद्देश्य होगा।

ग्रामोद्योग और छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के द्वारा तथा व्यापार आदि कामों में प्रवेश करा कर जहाँ तक संभव होगा गाँव वालों की बेकारी और अर्द्ध-बेकारी को दूर करने का प्रयत्न भी किया जायगा।

मकानों संबंधी कार्यक्रम का एक अंग तो यह होगा कि गाँवों में अच्छे मकान कैसे बन सकते हैं—इसका प्रदर्शन और प्रशिक्षण किया जायगा। कहीं कहीं नई बस्ती बसाने, गाँवों में पार्क और खेल के मैदान बनाने, और मकान के लिये आवश्यक सामान की मदद करने की कोशिश भी की जायगी।

ग्राम-सामुदायिक योजना को चलाने के लिये आवश्यक कार्यकर्ताओं को शिक्षण देने की व्यवस्था अमेरिका के फोर्ड फाउन्डेशन की सहायता से की गई है। तीस शिक्षण केन्द्र देश भर में खोले गये हैं। शिक्षण काल छः महीने का रखा गया है और हर शिक्षण-केन्द्र में लगभग ७० व्यक्तियों को शिक्षा देने की व्यवस्था है। इन शिक्षण केन्द्रों मे ग्राम कार्यकर्त्ता, और प्रोजेक्ट सुपरवाइज़र तथा दूसरे आवश्यक लोगों को शिक्षण दिया जायगा।

सामाजिक हित के कार्यक्रम में मनोरंजन, खेल, मेला आदि का समावेश किया गया है।

उपर्युक्त सामुदायिक योजनाओं की व्यवस्था का भार एक केन्द्रीय समिति पर है। योजना आयोग ही इस केन्द्रीय समिति का काम करेगा। भारत और अमेरिका के बीच में ५ जनवरी, १९५२ का जो 'टेकनिकल कोऑपरेशन प्रोग्राम एग्रीमेंट' किया गया था और जिसके आधार पर ये सामुदायिक योजनायें देश में चालू की गई हैं उसमें एक धारा यह है कि जो योजनाएँ कार्यान्वित की जायँगी वे भारत और अमेरिका की सम्मिलित अनुमति से की जायँगी और उनका संचालन एक केन्द्रीय कमेटी करेगी जोकि भारत सरकार द्वारा नियुक्त की जायगी। जिस केन्द्रीय समिति का यहाँ उल्लेख किया गया है वह यही केन्द्रीय समिति है। इस केन्द्रीय समिति का काम देशभर में चलने वाली ग्राम-विकास योजनाओं संबंधी नीति का निर्माण करना और उनकी सामान्य देखरेख करना है। इस केन्द्रीय समिति के मातहत एक 'एडमिनिस्ट्रेटर' है जो देशभर की ग्राम-विकास योजनाओं की देखरेख करता है। इसके पास विभिन्न कामों के लिये अपना स्टाफ़ रहता है। हरएक राज्य में एक राज्य विकास समिति बनी हुई है जिसके मुख्य मंत्री और दूसरे कुछ मंत्री सदस्य होते हैं और राज्य का डेवेलपमेंट कमिश्नर उसका मंत्री होता है। डेवेलपमेंट कमिश्नर राज्यभर की सामुदायिक योजनाओं के लिये जिम्मेदार होता है जैसे कि देशभर की योजनाओं के लिये केन्द्रीय 'एडमिनिस्ट्रेटर' ज़िम्मेदार होता है। यदि आवश्यकता होती है तो ज़िले में एक ज़िला डेवेलपमेंट ऑफ़ीसर भी रहता है और इसकी हैसियत एडिशनल कलक्टर जैसी मानी जाती है। ज़िले में एक ज़िला विकास समिति (डिस्ट्रिक्ट डेवलपमेंट कमेटी) होती है जिसका अध्यक्ष ज़िले का कलक्टर और मंत्री ज़िले का डेवेलपमेंट ऑफ़ीसर होता है और ग्राम-विकास से सम्बन्धित अन्य ऑफ़ीसर इसके सदस्य होते हैं। व्यवस्था की दृष्टि से अन्तिम सीढ़ी सामुदायिक योजना संबंधी प्रदेश की आती है। प्रत्येक योजना प्रदेश एक 'प्रोजेक्ट एक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर' के चार्ज में है और 'प्रोजेक्ट ऑफ़ीसर' की सहायता के लिये लगभग १२५ सुपरवाइज़रों और ग्राम-सेवकों का स्टॉफ़ रहता है। हर योजना प्रदेश में एक सलाहकार समिति रखी गई है जिसमें कि गैर-सरकारी तत्वों का प्रतिनिधित्व होता है।

ये सामुदायिक योजनायें दो प्रकार की हैं। एक श्रेणी में तो वे सामुदायिक योजनाएँ आती हैं जिनमें केवल गाँवों के विकास की योजना है। इनको 'बेसिक प्रोजेक्ट' कहते हैं। एक 'बेसिक प्रोजेक्ट' पर तीन साल में लगभग ६५

लाख रुपया खर्च होगा। इसमें से लगभग ५८·४७ लाख का रुपया व्यय और ६·५३ लाख का डालर-व्यय होगा। कुछ योजनाओं में एक नगर केन्द्र के विकास की योजना भी शामिल की गई है। ऐसी एक योजना का तीन साल का खर्च १११ लाख रुपया होगा। इन १११ लाख रुपयों में से ६५·५५ लाख का रुपया-व्यय और १५·४५ लाख का डालर-व्यय होगा।

सामुदायिक योजनाओं पर होने वाला व्यय कुछ तो 'नॉन-रेकरिंग' है और कुछ 'रेकरिंग' है। यह व्यय ऋण और सहायता दोनों प्रकार से प्राप्त रुपये में से होगा। जहाँ तक कि ऋण से प्राप्त होनेवाले रुपये का संबंध है उसका पूरा जिम्मा भारत सरकार का है। पर जो रुपया सहायता के रूप में मिलने वाला है उसमें 'नॉन रेकरिंग' व्यय में भारत सरकार का हिस्सा ७५% और राज्य की सरकार का २५% और 'रेकरिंग' व्यय में दोनों का ५०% ५०% रखा गया है। तीन साल के बाद यह आशा की जाती है कि सारा खर्च राज्यों द्वारा उठाया जायगा और वह खर्च प्रति योजना ३ लाख रुपया वार्षिक के लगभग होगा। भविष्य में 'बेसिक प्रोजेक्ट' का व्यय ६५ लाख से कम करके ४५ लाख कर दिया गया है। मौजूदा योजनाओं के कार्य-क्षेत्र में इस तरह से परिवर्तन करने की बात सोची गई है कि खर्च ६५ लाख से कम होकर ४५ लाख होजाये।

उपर्युक्त सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने में जो कई प्रकार की सामिग्री जैसे व्यापारिक खाद, लोहा-इस्पात आदि की आवश्यकता होगी या जो कई प्रकार की टेकनिकल जानकारी की जरूरत होगी वह भी 'इन्डो-अमेरिकन टेकनिकल कोऑपरेशन प्रोग्राम' के अन्तर्गत किये गये समझौतों के अनुसार प्राप्त की जायगी। इस प्रकार कई समझौते भारत और अमेरिका के बीच में हुए हैं. जैसे कृत्रिम खाद सम्बन्धी समझौता, कृषि के लिये आवश्यक लोहे और इस्पात सम्बन्धी समझौता, 'ग्राउन्ड वाटर इरीगेशन' सम्बन्धी समझौता जिसका सबंध 'ट्यूब वेल' के निर्माण से है, मलेरिया के नियंत्रण सबंधी समझौता, और गाँव के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सबंधी समझौता।

कृषि-विकास संबंधी अन्य सुझाव :—देश में कृषि-उद्योग को उन्नत बनाने के लिये योजना आयोग ने उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त अन्य समस्याओं के बारे में भी उपयोगी सुझाव दिये हैं। योजना आयोग ने देश में ग्राम-सुधार प्रचार (रूरल एक्सटेंशन सर्विस) की समुचित व्यवस्था पर बहुत जोर दिया है। यहाँ 'रूरल एक्सटेंशन सर्विस' के सबंध में दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। हमारे गाँवों के विकास के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है कि जो ग्राम-सुधार के तरीकों संबंधी जानकारी और खोज विशेषज्ञों द्वारा की जाती हैं, उनसे गाँव

वालों को परिचित कराया जावे ताकि वे उनका उपयोग कर सकें। इसी प्रकार गाँव वालों की समस्याओं और कठिनाइयों को विशेषज्ञों तक पहुँचाया जाये ताकि वे उनके हल निकाल सकें। इस प्रकार विशेषज्ञों और गाँव के लोगों में बराबर सपर्क रहने की आवश्यकता है। बिना इस प्रकार के संपर्क के विशेषज्ञों के ज्ञान का लाभ गाँवों तक नहीं पहुँच सकता। इस संपर्क को बनाये रखने का काम 'रूरल एक्सटेंशन सर्विस' का है जिसके देशव्यापी संगठन की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है। संगठन का स्वरूप इस प्रकार का होगा। हर पाँच-दस गाँव के पीछे एक गाँव का कार्यकर्ता रखा जाये जिसका काम गाँव की विकास सबंधी सब बातों को गाँव वालों तक पहुँचाना और उनकी समस्याओं को विशेषज्ञों तक पहुँचाना होना चाहिये। इसके बाद १०० गाँवों के एक ब्लाक के चार्ज में एक 'एक्सटेंशन ऑफीसर' रहे जोकि 'सब-कलक्टर' हो सकता है, और वह ग्राम-विकास से संबंध रखने वाले अन्य ऑफीसरों के साथ मिलकर काम करे। और अन्त में हर जिले का कलक्टर जिले के 'एक्सटेंशन सर्विस' का प्रमुख समझा जावे और ज़िले के ग्राम-विकास से संबध रखने वाले दूसरे ऑफीसरों के सहयोग से इस काम के लिये वह जिम्मेदार रहे। योजना आयोग ने इस सबंध में यह योजना पेश की है कि योजना काल में १ लाख २० हजार गाँवों तक यह संगठन पहुँच जावे।

योजना आयोग ने कृषि वित्त के सम्बन्ध में सहकारी साख संस्थाओं के विस्तार पर जोर दिया है। उनका कहना है कि १९५५-५६ तक कुल जनसंख्या का एक तिहाई भाग प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों के कार्य-क्षेत्र में आ जाना चाहिये। कृषि-पदार्थों के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी सहकारिता के सिद्धान्त का अधिकाधिक उपयोग करने की सिफ़ारिश की गई है। पशु-सुधार के विषय में भी आयोग ने कई सिफ़ारिशें की हैं। इनमें सब से महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश 'की विलेज स्कीम' सम्बन्धी है। इस स्कीम का उद्देश्य पशुओं की नस्ल सुधारने और उनकी कार्य-क्षमता को बढ़ाना है। इसमें लगभग ३ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया है। योजना यह है कि देशभर में तीन-तीन चार-चार गाँव के लगभग ६०० केन्द्र खोले जावें। हरएक केन्द्र में लगभग ५०० दूध देने वाले पशु हों। इन केन्द्रों में चुने हुए साँडों द्वारा नस्ल-सुधार का काम किया जावेगा, दूध के उत्पादन का रेकर्ड रखा जावेगा, और घास का उत्पादन और पूर्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा। वनों के सम्बन्ध में भी योजना आयोग ने कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। जिन प्रदेशों में जंगल काट दिये गये हैं या जहाँ जंगलों की ठीक व्यवस्था नहीं है उन पर तत्काल ध्यान देने के लिये सिफ़ारिश की गई है। स्थायी जंगलों के क्षेत्र

को बढ़ाने की दृष्टि से दीर्घ कालीन योजना का निर्माण किया गया है। ईंधन की समस्या को हल करने के लिये गाँवों में पेड़ लगाने की सिफ़ारिश की गई है और सस्ते ईंधन के रूप में 'सोफ्ट कोक' के उपयोग को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया गया है। उपर्युक्त प्रश्नों के अलावा भूमि की घिसावट, छोटे पैमाने की सिंचाई, अच्छे बीज, अच्छा खाद, कृषि के औज़ार और मशीनरी, पौधों की बीमारी आदि से रक्षा, कृषि सम्बन्धी शिक्षा और प्रशिक्षण, और कृषि सम्बन्धी खोज के विषय में भी योजना आयोग ने विचार किया है और इन सब विषयों में उपयोगी सुझाव दिये हैं। देश में मछली-उद्योग को उन्नत बनाने के प्रश्न पर भी योजना आयोग ने विचार किया है।

पंचवर्षीय योजना में ग्रामोद्योग तथा छोटे पैमाने के उद्योग

ग्रामोद्योगों का महत्त्व और विकास :—देश के आर्थिक-विकास की दृष्टि से ग्रामोद्योगों के महत्त्व को योजना आयोग स्वीकार करता है। उनका लिखना है "ग्राम-विकास के कार्यक्रमों में ग्राम उद्योगों का केन्द्रीय स्थान है। उनके विकास की, इसलिये, उतनी ही प्राथमिकता है जितनी कि कृषि उत्पादन को बढ़ाने की।" इन ग्रामोद्योगों का मुख्य सम्बन्ध स्थानीय कच्चे माल को स्थानीय बाज़ार के लिये तैयार करने से है। ग्राम्य कलाएं और दस्तकारियाँ—जैसे छपाई, कसीदा, बर्तन निर्माण और दूसरी दस्तकारियों का भी इस सम्बन्ध में यथेष्ठ महत्त्व है। ग्रामोद्योगों के विकास के लिये योजना आयोग ने जो सुझाव दिये हैं उनका सम्बन्ध (१) संगठन (२) राज्य की नीति (३) अनुसंधान और प्रशिक्षण और (४) वित्त से है। संगठन की दृष्टि से योजना आयोग ने एक तो इस बात पर ज़ोर दिया है कि ग्रामोद्योगों के विषय में ग्राम समाज को अपनी ज़िम्मेदारी अनुभव करनी चाहिये क्योंकि स्थानीय माँग के आधार पर ही उनका विकास हो सकता है। इस दृष्टि से ग्राम सगठन के पुनःनिर्माण की आवश्यकता पर भी योजना आयोग ने जोर दिया है ताकि गाँव के लोगों को काम देने का दायित्व गाँव का समाज अपना ही माने। ग्रामोद्योगों के सगठन में सहकारिता के सिद्धान्त के उपयोग करने की और कारीगरों की सहकारी समितियों के निर्माण की भी योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है। ग्रामोद्योगों को राज्य द्वारा सहायता करने के सम्बन्ध में योजना आयोग ने खास तौर से इस बात पर ज़ोर दिया है कि प्रत्येक ग्रामोद्योग को ऐसा क्षेत्र मिलना चाहिये जिसके अन्दर वह अपने आप को संगठित कर सके। जहाँ किसी ग्रामोद्योग के मुकाबले में किसी बड़े पैमाने के उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा का प्रश्न आता है वहाँ योजना आयोग ने सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम बनाने की सिफ़ारिश की है। इस प्रकार के सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम में नीचे लिखी एक

या अधिक बातों का समावेश हो सकता है— (१) उत्पादन क्षेत्रों का प्रथक्कीकरण (२) बड़े पैमाने के उद्योग की उत्पादन-क्षमता के विस्तार पर प्रतिबंध (३) बड़े पैमाने के उद्योग पर उप-कर लगाना (४) कच्चे माल की व्यवस्था करना और (५) अनुसंधान और प्रशिक्षण आदि का समीकरण। सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम के उपरोक्त सिद्धान्त सरकार द्वारा पहले से ही स्वीकृत हैं और उनमें से कई कार्यान्वित भी किये जा रहे हैं। उदाहरण के तौर पर सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में उत्पादन क्षेत्र का प्रथक्कीकरण (हाथ के करघे पर बुनने वालों और बड़े पैमाने के कारखानों में) हो रहा है, मिल के कपड़े पर खादी और हाथ के करघे के उद्योग के विकास के लिये उप-कर लगाया गया है, कई छोटे पैमाने के उद्योगों के लिये कच्चे माल की व्यवस्था की जाती है और खाद्य पदार्थों को तैयार करने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया है कि बड़े पैमाने के उद्योगों का भविष्य में विस्तार न किया जावे। ग्रामोद्योगों को राज्य द्वारा सहायता का प्रमुख दायित्व तो राज्य की सरकारों का ही है पर उसके सम्बन्ध में आधारभूत और व्यापक नीति निर्धारण करने और उसके अनुकूल ढाँचा तैयार करने का काम केन्द्रीय सरकार का है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार ने ग्रामोद्योग मंडल की स्थापना की है। इस मंडल का काम खादी और ग्रामोद्योगों के विकास के कार्यक्रम तैयार करना और उनको कार्यान्वित करना होगा जिसमें प्रशिक्षण, साधन, सामग्री का निर्माण और व्यवस्था, कच्चे माल और क्रय-विक्रय की व्यवस्था, अनुसंधान, और विभिन्न उद्योगों सम्बन्धी आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन भी शामिल होगा। राज्यों में इसी तरह के संगठन होने चाहियें जोकि केन्द्रीय संगठन के सहयोग में काम करें। अनुसंधान को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से योजना आयोग ने यह सिफ़ारिश की है कि ग्राम टेकनोलौजी के लिये एक प्रथक् संस्था स्थापित की जावे। प्रशिक्षण की दृष्टि से प्रशिक्षण की व्यवस्था करने और प्रशिक्षण तथा उत्पादन केन्द्रों को स्थापित करने की सिफ़ारिश की गई है। ग्रामोद्योगों को आर्थिक सहायता देने की दृष्टि से योजना में २७ करोड़ रुपया (१५ करोड़ केन्द्रीय सरकार की योजना में और १२ करोड़ राज्य सरकारों की योजनाओं में) रखे गये हैं जिन का उपयोग ग्रामोद्योगों और छोटे पैमाने के उद्योगों को सहायता देने में किया जायगा। औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण पर भी इस दृष्टि से ज़ोर दिया गया है ताकि समितियों के द्वारा गाँवों में दस्तकारी करने वालों को आर्थिक सहायता मिल सके।

योजना आयोग ने निम्नलिखित दस ग्रामोद्योगों के विकास के कार्यक्रम दिये हैं:— (१) गाँव का तेल उद्योग (२) नीम के तेल से साबुन तैयार करने का

उद्योग (३) हाथ कुटे चावल का उद्योग (४) ताड़-गुड़ उद्योग (५) गुड़ और खंड-सारी शकर उद्योग (६) चमड़े का उद्योग (७) ऊनी कम्बल का उद्योग (८) हाथ के कागज़ का उद्योग (६) शहद की मक्खी पालने का उद्योग और (१०) दिया-सलाई का कुटीर-उद्योग। उपर्युक्त ग्रामोद्योगों के अलावा खादी-उद्योग के बारे में भी योजना आयोग ने कुछ प्रस्ताव तैयार किये हैं पर वे खादी और ग्रामोद्योग मंडल (जिसकी स्थापना की आयोग ने सिफ़ारिश की और जो अब स्थापित भी हो चुका है) के विचारार्थ छोड़ दिये गये हैं। ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में जो कार्यक्रम तैयार किये गये हैं उनके बारे में आगे कार्यवाई खादी और ग्रामोद्योग मंडल द्वारा की जायगी। इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का काम इसी मंडल का होगा। ग्रामोद्योगों के बारे में ऐसी नई योजनाएँ तैयार करना भी जिनको केन्द्रीय सरकार की सहायता की आवश्यकता होगी, इस मंडल का काम होगा।

छोटे पैमाने के उद्योग और दस्तकारियाँ :—उन छोटे पैमाने के उद्योगों पर जो ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के अविभाज्य अंग हैं, हम ऊपर विचार कर चुके हैं। बाकी के जो छोटे पैमाने के उद्योग हैं उनका विचार अब हम करेंगे। इन छोटे उद्योगों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है (१) दस्तकारियाँ जो परम्परागत कारीगरी से सम्बन्धित हैं और (२) वे छोटे उद्योग जो अपेक्षाकृत नये हैं और जिनका सम्बन्ध उसी प्रकार के बड़े पैमाने के उद्योगों से हैं। इन छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्त्व पढ़े-लिखे लोगों को काम देने की दृष्टि से विशेष है। दस्तकारियों का महत्त्व पढ़े-लिखे लोगों का घर में. रहनेवाली स्त्रियों को काम देने के ख्याल से विशेष है।

पिछले वर्षों में खास तौर से द्वितीय महायुद्ध के समय में छोटे पैमाने के उद्योगों का काफ़ी विकास हुआ है। पर युद्ध के बाद इनकी स्थिति बिगड़ गई। कच्चे माल की कठिनाई, माँग की कमी और जिस प्रकार के चीज़ों की माँग हो वैसी तैयार न कर सकना इस बिगड़ी हुई स्थिति के कारण रहे हैं। छोटे पैमाने के उद्योगों के बारे में उपलब्ध जानकारी की भी कमी है और उनके क्षेत्र में अब तक जो विकास हुआ है वह किसी निश्चित नीति और कार्यक्रम के अनुसार नहीं हुआ है। पर इन छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास देश के लिये बहुत आवश्यक है और केन्द्रीय सरकार ने कुछ उद्योगों, जैसे ऊन और ऊन का सामान, खेल का सामान, कृषि औज़ार, पीतल के बर्तन आदि, और साइकिल के हिस्से सम्बन्धी उद्योगों के कार्यक्रम राज्य की सरकारों की सलाह से तैयार करना शुरू किये हैं। केन्द्रीय सरकार की योजना में १५ करोड़ रुपये रखे गये हैं जिसमें से छोटे उद्योगों के स्वीकृत कार्यक्रमों के लिये और राज्यों को सहायता के लिये रुपया दिया जा सकता है।

दस्तकारियाँ :—दस्तकारियों का विशेष लक्षण यह है कि इनका आधार कुशल कारीगरी होता है। दस्तकारियों के भावी विकास के लिये उनसे सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन और जाँच की बहुत आवश्यकता है। योजना आयोग ने दस्तकारियों के विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफ़ारिशें की हैं :—(१) इन दस्तकारियों का वर्तमान संगठन असंतोषजनक है। कारीगरों और खरीदने वालों के बीच में व्यापारी होता है और कारीगर व्यापारी के कहे अनुसार ही माल तैयार करता है। बीच का व्यापारी छोटे पैमाने पर काम करता है और दस्तकारियों का विकास इस कारण से रुका रहता है। इन दस्तकारियों में लगे हुए कारीगरों को अपनी सहकारी समितियाँ बनाना चाहिये और इस दिशा में राज्य की सरकारों को उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। इससे बीच के व्यापारियों पर उनकी निर्भरता कम होगी और उन तक टेकनीकल जानकारी पहुँचाने में सुविधा रहेगी। इसके अलावा एक स्थान के सब दस्तकारों को अपना संगठन भी बनाना चाहिये। इस प्रकार के संगठन बन जाने से दस्तकारों को कच्चे माल, औज़ार, टेकनिकल सलाह, नए डिज़ाइन आदि सम्बन्धी सहायता देने में आसानी रहेगी। (२) दस्तकारियों के के भावी विकास के लिये उनके द्वारा तैयार माल की देश के अन्दर और देश के बाहर भी माँग में वृद्धि होना आवश्यक है। उदाहरण के लिये बनारस, मुरादाबाद, जयपुर, और तंजोर का जो पीतल का सामान है उसकी देश के बाहर माँग बढ़ सकती है, यदि शौक़ की चीज़ों के अलावा अधिक उपयोगी चीज़ें तैयार की जावें और ग्राहकों की आवश्यकतानुसार उनकी बनावट में परिवर्तन किया जावे। इसी प्रकार बनारस की जरी, सलमा आदि की साड़ियां और दूसरी चीज़ों की माँग भी बहुत बढ़ सकती है, यदि विदेशी ग्राहकों की पसंद और आवश्यकता का अधिक ध्यान रखा जावे। हाल में कॉयर-उद्योग की स्थिति में गिरावट आने का भी एक कारण यही हुआ है। दस्तकारियों की आन्तरिक माँग भी बढ़ाई जा सकती है। राज्य द्वारा प्राप्त संरक्षण और घरों में इन दस्तकारियों की बनी चीज़ों का अधिकाधिक उपयोग इसमें बहुत कुछ सहायक हो सकता है। जगह जगह एम्पोरियम की स्थापना भी इस दृष्टि से सहायक होगी। (३) दस्तकारियों के विकास के लिये अनुसंधान का भी बहुत महत्त्व है। डिज़ाइन आदि के विषय में, उत्पादन की नई-नई प्रणालियों के विषय में और चीज़ों के प्रकार में सुधार करने के विषय में अनुसंधान के लिये यथेष्ट गुंजाइश है। योजना आयोग ने अनुसंधान-कार्य के लिये एक केन्द्रीय संस्था और विभिन्न प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना की सिफ़ारिश की है।

हाल ही में भारत सरकार ने एक दस्तकारियों संबंधी मंडल की स्थापना की है। दस्तकारियों के, खास तौर से उत्पादन और बिक्री की दृष्टि से

विकास में यह मंडल भारत सरकार को सलाह देगा। दस्तकारियों के विकास के लिये भारत सरकार द्वारा ऋण या आर्थिक सहायता देने के बारे में भी यह मंडल सलाह देगा। यह आर्थिक सहायता या ऋण राज्यों की सरकारों और गैर सरकारी संस्थाओं को दी जावेगी ताकि वे उसका दस्तकारियों के विकास के लिये उपयोग करें। उत्पादन विधि में सुधार, अनुसंधान, प्रशिक्षण, कच्चे माल की व्यवस्था और दस्तकारियों के प्रदर्शनालय की स्थापना आदि के लिए यह सहायता काम में ली जायगी।

छोटे पैमाने के उद्योग :—छोटे पमाने के उद्योगों में हाल में स्थापित वे उद्योग जो शक्ति से संचालित होते हैं और हाथ के करघे पर बुनाई, ताले बनाने, बर्तन बनाने आदि के पुराने उद्योग आते हैं। नए उद्योगों में बीच के व्यापारी का पुराने उद्योगों की अपेक्षा कम महत्त्व है। ये छोटे उद्योग तीन प्रकार के हैं। (१) वे उद्योग जिनमें छोटे पैमाने के उत्पादन के कुछ लाभ हैं और जिन पर बड़े पैमाने के उद्योग का कोई खास असर नहीं है। (२) वे उद्योग जो बड़े पैमाने के उद्योग के साथ चलते हैं, जैसे कोई खास हिस्से तैयार करते हैं या उत्पादन की किसी खास अवस्था से संबंधित है और (३) वे उद्योग जिनका बड़े पैमाने के उद्योगों से मुकाबला आता है। ताले, मोमबत्ती, बटन और चप्पल आदि के उद्योग पहिली श्रेणी में आते हैं। इन उद्योगों की सबसे बड़ी जरूरत उनको सहकारिता के आधार पर संगठित करने की है ताकि उनके माल की बिक्री और उनके लिये आवश्यक वित्तीय प्रबन्ध में सहायता मिले। साइकिल के हिस्से, बिजली का सामान, छुरी, चाकू, मिट्टी के बर्तन और कृषि औज़ार सम्बन्धी उद्योग दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनमें इस बात की गुँजाइश है कि उत्पादन के अमुक काम छोटे उद्योगों के लिए सुरक्षित कर दिये जावें। वित्त, संगठन और प्रशिक्षण सम्बन्धी सहायता भी केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों को देनी चाहिए। हाथ के करघे का उद्योग तीसरी श्रेणी में आता है। इनके लिए भी बड़े पैमाने के उद्योग से कार्यक्षेत्र का प्रथक्कीकरण आवश्यक है। वास्तव में दूसरी और तीसरी दोनों श्रेणी के उद्योगों के लिए छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन का सम्मलित कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। इस तरह के सम्मिलित कार्यक्रम में कच्चे माल की व्यवस्था, उत्पादन के क्षेत्र विशेष का प्रथक्कीकरण, बड़े पैमाने के उद्योग पर उप-कर लगाना भी शामिल है और कहीं-कहीं बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों के उत्पादन का एक ऐसा समन्वित कार्यक्रम भी बन सकता है जिसमें दोनों प्रकार के उद्योग आपस में पूरक हों।

छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास में सरकारों द्वारा अपनी आवश्यकता की

पूर्ति के लिए इनमें तैयार माल को अधिकाधिक खरीदने की नीति और विदेशों से आने वाले माल की जगह इनमें तैयार माल के उपयोग को बढ़ाने की नीति अपनाने की भी योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है। औद्योगिक उत्पादन के नए केन्द्रों की स्थापना के द्वारा भी छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। विस्थापितों को बसाने के लिए जो नगर-केन्द्र कायम किए गए हैं उनका अनुभव इस दृष्टि से अच्छा रहा है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात इतनी ही है कि इन केन्द्रों में होनेवाले उत्पादन की बिक्री, उद्योगों को स्थापित करने वालों के लिए आवश्यक पूँजी और प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जावे।

योजना आयोग ने प्रशिक्षण, अनुसंधान, और वित्त संबंधी समस्याओं पर भी विचार किया है। मौजूदा छोटे उद्योगों में काम करनेवाले कारीगरों के प्रशिक्षण की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है। नई उत्पादन प्रणालियों और डिज़ाइन की जानकारी देने के लिए प्रदर्शनियों का उपयोग भी होना चाहिए। बड़े उद्योगों से सम्बन्धित अनुसंधान की संस्थाओं में छोटे उद्योगों संबंधी अनुसंधान के विभाग भी होने चाहियें। वित्त-व्यवस्था की दृष्टि से एक से अधिक राज्य मिलकर भी औद्योगिक वित्त संस्थान स्थापित कर सकते हैं, ऐसा योजना आयोग का कहना है। अन्त में योजना आयोग ने उन उद्योगों का भी उल्लेख किया है जिनके विकास के लिए बड़े पैमाने के आधारभूत उद्योगों, जैसे मशीन उद्योग का विकास आवश्यक है। ये वे उद्योग हैं जिनमें कारीगरी, प्रशिक्षण और बहुत करके शक्ति के उपयोग की आवश्यकता होती है। टेक्नोलॉजीकल शिक्षा का विकास भी छोटे उद्योगों के विकास के लिये आवश्यक है, इसका भी योजना आयोग ने ज़िक्र किया है।

पंचवर्षीय योजना में सिंचाई और शक्ति

पंचवर्षीय योजना में कृषि के साथ साथ सिंचाई और शक्ति के साधनों के विकास पर भी बहुत ज़ोर दिया गया है। इन योजनाओं में कुछ केवल सिंचाई से संबंध रखती हैं और कुछ केवल शक्ति के उत्पादन से और कुछ बहु-उद्देशीय योजनायें हैं जो सिंचाई, शक्ति, बाढ़ नियंत्रण और जल यातायात से सम्बन्धित हैं। पंचवर्षीय योजना में प्रधानतया सिंचाई और शक्ति संबंधी वही योजनायें शामिल की गई हैं जो पहले से ही आरंभ हो चुकी थीं। इन योजनाओं में से ख़ास ख़ास बहु-उद्देशीय योजनाओं के नाम इस प्रकार हैं :—भाकरा नांगल, हरिके, दामोदर घाटी और हीराकुंड। इन तमाम योजनाओं पर जोकि इस समय कार्यान्वित की जा रही हैं कुल ७६५ करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान है। ३१ मार्च १६५१ तक इसमें से १५३ करोड़ रुपया खर्च हो चुका था। योजना के पाँच वर्षों में इन पर

५१८ करोड़ रुपया और खर्च होने का अनुमान है। इन योजनाओं के फलस्वरूप योजना के अन्तिम वर्ष में ८.५ मिलियन एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई और १.०८ मिलियन किलोवाट अतिरिक्त शक्ति का उत्पादन होगा और जब ये योजनायें पूर्ण हो जायँगी तो १६.६ मिलियन एकड़ भूमि पर सिंचाई और १.४६ मिलियन किलोवाट शक्ति का उत्पादन हो सकेगा।

उपरोक्त योजनाओं के अलावा योजना आयोग ने पाँच नई योजनायें और स्वीकार की हैं :—(१) कोसी (२) कोयना (३) कृष्णा (४) चंबल और (५) रिहाँद। वैसे तो इन योजनाओं पर कुल खर्च २०० करोड़ रुपया से भी ऊपर होगा पर पंचवर्षीय योजना काल में इन पर ४० करोड़ रुपया खर्च होने का अनुमान है।

बड़ी योजनाओं के अलावा सिंचाई की छोटी योजनाओं का भी पंचवर्षीय योजना में समावेश किया गया है। ये योजनायें कृषि-विकास के कार्यक्रम में शामिल की गई हैं और इन पर योजना काल में ४७ करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान था पर बाद में ३० करोड़ रुपया ऐसी योजनाओं पर खर्च करने के लिए और योजनाओं में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार कुल ७७ करोड़ रुपया खर्च होगा और ११ मिलियन एकड़ नई भूमि पर इन योजनाओं के कारण सिंचाई हो सकेगी।

पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित योजनाओं के कारण देश में उपलब्ध जल-साधनों के केवल ७ प्रतिशत का उपयोग हो सकेगा।

योजनाओं का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि जो योजनायें-खाद्यान्न उत्पादन में सहायक हों उनको प्राथमिकता दी जावे। बहु-उद्देशीय योजनाओं का निर्माण भी इस प्रकार सोचा गया है कि उनका सिंचाई सम्बन्धी लाभ जल्दी से जल्दी मिल सके। शक्ति के उत्पादन के संबंध में इस बात का विचार रखा गया है कि माँग के अनुसार ही उत्पादन हो। उत्पादित शक्ति के उचित उपयोग के सम्बन्ध में अन्य बातों के साथ साथ इस बात का भी ध्यान रखा जावेगा कि गाँवों में बिजली का उपयोग बढ़े।

पंचवर्षीय योजना में सिंचाई और शक्ति की जो योजनायें शामिल की गई हैं वे वास्तव में एक लम्बी योजना के अंग के तौर पर हैं। इस लम्बी योजना का लक्ष्य यह है कि १५–२० वर्ष के समय में इस समय जितनी भूमि पर सिंचाई होती है (४.५ करोड़ एकड़) लगभग उतनी ही भूमि पर और सिंचाई होने लगे तथा शक्ति के उत्पादन में ७० लाख किलोवाट की वृद्धि हो जाये। इस लम्बी योजना में लगभग २००० करोड़ रुपया खर्च होने का अनुमान है। योजना आयोग ने उन आधारों का भी जिक्र किया है जिन पर से इस पहली पंचवर्षीय योजना के

बाद जो योजना बने-उसमें सिंचाई और शक्ति की योजनायें शामिल की जावें। बिना इस प्रकार की लंबी योजनाओं के सिंचाई और शक्ति संबंधी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए जिस टेकनीकल और दूसरे प्रकार के स्टाफ की आवश्यकता होती है और जो मेकेनिकल साधन चाहियें उनका पूरा पूरा उपयोग नहीं हो सकता।

योजना आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया है कि देश में सिंचाई और शक्ति का विकास सारे राष्ट्र की दृष्टि से होना चाहिए और इसलिए विभिन्न राज्यों के सहयोग से इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति का निर्माण और उसका पालन किया जाना आवश्यक है। विभिन्न राज्यों को आपस में मिलकर सहयोग से काम लेने और केन्द्रीय जल और शक्ति आयोग को राज्यों को सहायता और मार्ग-दर्शन देने की भी आवश्यकता है।

योजना आयोग ने यह भी लिखा है कि इतनी बड़ी योजना को कार्यान्वित करने के लिये केन्द्रीय और राज्य की सरकारों को आवश्यक अर्थ-व्यवस्था और जन सहयोग के बारे में नये दृष्टिकोण को अपनाना होगा। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से योजना आयोग ने निम्नलिखित सिफ़ारिशें की हैं:—(१) विकास उप-कर लगाना (२) सिंचाई की वर्तमान दर में वृद्धि करना (३) कृषि आय-कर लगाना और (४) सिंचाई और शक्ति के विकास के लिये ऐसा स्थायी कोष स्थापित करना जिसको साल के अन्त में समाप्त किया जाना आवश्यक न हो। योजना आयोग ने जनता से विभिन्न प्रकार से सहयोग प्राप्त करने पर भी ज़ोर दिया है—जैसे ऋण लेकर अथवा योजना से लाभ होने वाले प्रदेशों के मज़दूरों की सहकारी समितियाँ बनाकर और उन्हीं से काम करा कर ताकि कम खर्च में काम हो सके यह सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

पंचवर्षीय योजना में संगठित उद्योग

यद्यपि पंचवर्षीय योजना में कृषि, सिंचाई और शक्ति के विकास को प्राथमिकता दी गई है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि योजना आयोग ने देश के औद्योगिक विकास के महत्व को स्वीकार नहीं किया है। देश में उद्योग धंधों की उन्नति एक से अधिक कारणों से आवश्यक है, योजना आयोग इस तथ्य को भली प्रकार समझता है।

औद्योगिक नीति का आधार: देश के औद्योगिक विकास की जो योजना पंचवर्षीय योजना में स्वीकार की गई है उसका आधार भारत सरकार की १६४८ की औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव है। इस प्रस्ताव के अनुसार कुछ उद्योग धंधे जैसे शस्त्र और युद्ध सामिग्री, एटम शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण,

और रेल्वे आदि केन्द्रीय सरकार के लिये सुरक्षित रखे गये हैं। कुछ उद्योगधंधे ऐसे हैं जैसे लोहा-इस्पात, हवाई जहाज़ और जहाज़ निर्माण, टेलीफ़ोन, टेलीग्राफ और वायरलैस एपेरेटस और खनिज तेल जिनके भावी विकास का दायित्व सरकार पर छोड़ा गया है। केन्द्रीय सरकार को आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत व्यवसाय का सहयोग लेने का अधिकार अवश्य है। उपरोक्त उद्योगों के अलावा बाकी समस्त उद्योगों का विकास व्यक्तिगत व्यसाय के लिये छोड़ दिया गया है। कुछ चुने हुये उद्योगों पर केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण की बात अवश्य रखी गई है। उपरोक्त नीति का सार यह है कि व्यक्तिगत व्यवसाय पर देश का औद्योगिक विकास का भार प्रधानतः छोड़ा गया है। इसका कारण यह है कि राज्य के पास साधनों की कमी है और विकास के लिये इतना क्षेत्र पड़ा है कि राज्य को अपने सीमित साधनों का उपयोग उन्हीं कामों में करना चाहिये जो व्यक्तिगत व्यवसाय करने को तैयार न हों। इसीलिये मौजूदा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में भी योजना आयोग नहीं है। उसका यह भी मानना है कि जो काम राष्ट्रीयकरण से हो सकता है वह बहुत हद तक नियमन और नियंत्रण से भी हो सकता है। यही वह मिलीजुली अर्थ व्यवस्था की नीति है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है और जो योजना आयोग ने देश के भावी अर्थ-रचना के आधार के रूप मे स्वीकार की है।

केन्द्रीय सरकार के द्वारा व्यक्तिगत व्यवसाय के जिस नियमन और नियत्रण की बात ऊपर कही गई है उसी को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से 'इन्डस्ट्रीज (डेवलपमेंट और रेगूलेशन) एक्ट १९५१ पास किया गया है। १९५२ में इस एक्ट में कुछ और सशोधन भी किये गये हैं जिनका असर राज्य के हाथ में नियमन और नियत्रण की शक्ति को बढ़ाना हुआ है। यह एक्ट ३७ प्रकार के उद्योगों पर लागू किया गया है। उपर्युक्त उद्योगों के क्षेत्र में आनेवाले मौजूदा कारखानों को एक निश्चित समय में रजिस्टर कराना होगा और मौजूदा कारखानों में जो भी उल्लेखनीय विस्तार होगा या जो नए कारखाने खुलेंगे उनको केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस लेना होगा। सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि अमुक परिस्थितियों में वह किसी भी उद्योग या कारखाने की जॉच करवा सकती है और यदि सरकार की हिदायतों का पालन न हो तो वह उस उद्योग या कारखाने का प्रबध अपने हाथ में ले सकती है। उपर्युक्त उद्योगों के विकास और नियमन के बारे में सरकार को सलाह देने के लिये एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् कायम की गई है जिसमें उद्योगपति, मजदूर, उपभोक्ता और कुछ दूसरे वर्गों के जिनमें प्रारम्भिक उत्पादक भी शामिल हैं प्रतिनिधि रखे गये हैं। इस परिषद् का काम उपर्युक्त एक्ट के अन्तर्गत बनने वाले नियमों, औद्योगिक कारखानों को जारी की जाने वाली

हिदायतो, या उनको सरकार द्वारा एक्ट के अनुसार ले लेने के विषय में सरकार को सलाह देना है। व्यक्तिगत व्यवसाय योजना के अनुसार विकसित हो और राज-कीय और व्यक्तिगत व्यवसाय में उचित सहयोग बना रहे इस दृष्टि से उपर्युक्त एक्ट में विकास-परिषदों को व्यवस्था की गई है। इन विकास-परिषदों के द्वारा उद्योग-धधों के अन्दर ही इस प्रकार की व्यवस्था खड़ी की जा सकेगी जो उद्योग संबंधी समस्याओं का अध्ययन करेगी और उत्पादन स्तर, उत्पादन के प्रकार और व्यवस्था के विकास के बारे में आवश्यक उपायों का निर्धारण करेगी। इन परिषदों के लिये जो टेकनीकल और प्रशासनीय कर्मचारी वर्ग चाहियेगा उसकी व्यवस्था सरकार करेगी। इस सम्बन्ध में होने वाले खर्च के लिये एक्ट में अनुसूचित उद्योगों के निर्मित माल पर उप-कर लगाने का सरकार को अधिकार दिया गया गया है। इस प्रकार होने वाली आय का उपयोग अनुसंधान और प्रशिक्षण कार्य आदि में भी किया जा सकेगा। योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सात उद्योगों में उपर्युक्त आधार पर विकास-परिषदें शीघ्र ही क़ायम करने की बात लिखी है :— (१) भारी रासाय-निक पदार्थ (एसिड) और कृत्रिम खाद, (२) भारी रासायनिक पदार्थ (एलकेली), (३) कागज—जिसमें अखबार का कागज़ और पेपर बोर्ड भी शामिल है, (४) चमड़ा और चमड़े का सामान, (५) बाइसिकिल और उसके भाग, (६) काँच और सिरेमि-क्स और (७) इन्टरनल कम्बश्चन एंजिन और शक्ति सचालित पम्प।

औद्योगिक-विकास की प्राथमिकतायें : योजना आयोग ने औद्योगिक-विकास की दृष्टि से निम्नलिखित प्राथमिकता स्वीकार की है :— (१) जूट और प्लाईवुड जैसे उत्पादन पदार्थों के उद्योगों और सूती वस्त्र, शकर, साबुन, और वनस्पति जैसे उपभोक्ता पदार्थों के उद्योगों की वर्तमान उत्पादन-क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना ; (२) लोहा और इस्पात, एलूमिनियम, सीमेंट, खाद, भारी रासायनिक पदार्थ, मशीन टूल आदि जैसे पूँजी और उत्पादक पदार्थों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि ; (३) उन औद्योगिक कारखानों को जिन पर यथेष्ट पूंजी लग चुकी है पूरा करना; और (४) जिप्सम से गधक, कागज़ और रेयोन के लिये लुब्दी, कच्चे या खारिज धातु पदार्थों को अलोह धातु के लिये शुद्ध करने सम्बन्धी नये उद्योगों की स्थापना। इस प्राथमिकता के आधार पर ही उपलब्ध साधनों का योजना-काल में औद्योगिक-क्षेत्र में उपयोग किया जायगा।

राजकीय-क्षेत्र :—यह हम पहले लिख चुके हैं कि औद्योगिक विकास का प्रधानतः भार व्यक्तिगत व्यवसाय पर छोड़ा गया है। राजकीय क्षेत्र में केन्द्रीय और राज्य की सरकारों द्वारा औद्योगिक विकास पर कुल ९४ करोड़ रुपये व्यय करने की योजना है। इन ९४ करोड़ रुपयो में से ८३ करोड़ रुपया तो केन्द्रीय सरकार की

योजनाओं पर और ११ करोड़ राज्य सरकारों की योजनाओं पर खर्च होगा। राज्यों को ११ करोड़ में से ४.८ करोड़ केन्द्रीय सरकार से ऋण के रूप में प्राप्त होंगे। राजकीय क्षेत्र के औद्योगिक विकास में व्यक्तिगत पूँजी (देश की और विदेश की दोनों) के सहयोग के लिये भी गुँजाइश छोड़ी गई है और लगभग २० करोड़ की इस प्रकार की व्यक्तिगत पूँजी लगने का अनुमान है। इन ९४ करोड़ रुपये के अलावा योजना में ५० करोड़ रुपये की एक मुश्त रक़म और रखी गई है जिसका उपयोग आधारभूत उद्योगों और तत्संबंधित यातायात की सुविधाओं के विकास के लिये किया जायगा। संपूर्ण योजना सम्बन्धी आँकड़ों में उद्योग पर १७३ करोड़ रुपये का व्यय बताया गया है, पर उसकी तुलना में यहाँ केवल ९४ करोड़ ही बताया गया है। इस अन्तर का कारण यह है कि कई खर्च जैसे छोटे और कुटीर उद्योगों का खर्च, औद्योगिक वित्तीय संस्थान, और ट्रेडिंग एस्टेट्स का खर्च इस ९४ करोड़ में शामिल नहीं किये गए हैं। राजकीय क्षेत्र के औद्योगिक विकास से सम्बन्ध रखने वाली योजना में सब से बड़ा स्थान लोहे और इस्पात के एक नये कारखाने को स्थापित करने का है। इसमें कुल खर्च छः साल में ८० करोड़ रुपया होगा पर योजना काल में ३० करोड़ ही खर्च होगा। इन ३० करोड़ रुपयों में से १५ करोड़ रुपया व्यक्तिगत पूँजी द्वारा प्राप्त किया जायगा। इस कारखाने की अनुमानित क्षमता ८ लाख टन पिग आयरन और कम से कम ५०,००० टन इस्पात पैदा करने की होगी और १९५५-५६ तक यह ३½ लाख टन पिग आयरन का उत्पादन कर सकेगा ऐसी आशा है। अन्य योजनाओं में मैसूर राज्य में जलहाली की मशीन टूल फेक्टरी, पेनिसीलीन और डी० डी० टी० फेक्टरियाँ, ऑल-स्टील कोच फेक्टरी जो रेल्वे योजना की अंग है, सिंधरी कारखाने का उरीया और एमोनियम नाइट्रेट के उत्पादन की दृष्टि से विस्तार, और सिंधरी तथा चितरंजन के कारखाने शामिल हैं। जहाज़ निर्माण के लिये १४ करोड़ रुपया रखे गये हैं जिनका उपयोग विशाखापट्टम यार्ड को सरकार में लेने और उसके विकास में तथा जहाज़ की कंपनियों को क़र्ज़ और सहायता देने में किया जायगा। राज्य सरकारों की योजनाओं में मध्य प्रदेश सरकार की न्यूज़प्रिंट का कारखाना स्थापित करने की योजना और मैसूर आयरन एंड स्टील वर्क्स के विस्तार की योजनायें प्रमुख हैं। उपर्युक्त विवरण का सार यह है कि राजकीय क्षेत्र में अधिकांश योजनाएँ पूँजी पदार्थ या महत्त्वपूर्ण उत्पादक पदार्थों के उत्पादन से सबंध रखती हैं। राजकीय उद्योगों के प्रबंध के बारे में भी योजना आयोग ने अपने विचार प्रकट किये हैं और उनका सार यही है कि रोज़ व रोज़ के प्रबंध में सरकारी विभागों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये यद्यपि सरकार के प्रति कुल मिलाकर प्रबंधक लोग ज़िम्मेदार तो होंगे

ही। केन्द्रीय सरकार के कारखानों को ज्वाइंट स्टॉक कंपनियों के रूप में संगठित किया गया है और राज्य की सरकारों के कारखानों को भी इसी रूप में संगठित करने की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है।

व्यक्तिगत व्यवसाय का क्षेत्र—व्यक्तिगत व्यवसाय के क्षेत्र में योजना काल में किन-किन उद्योगों का कितना विकास किया जायगा इसकी भी योजना उद्योगपतियों की सलाह से योजना आयोग ने तैयार की है। इस प्रकार ४२ संगठित उद्योगों के विकास का कार्यक्रम तैयार किया गया है जो एक पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस कार्यक्रम के अनुसार व्यक्तिगत व्यवसाय के क्षेत्र में २३३ करोड़ रुपया का नया विनियोग किया जायगा जिसका लगभग ८०% पूँजी और उत्पादक पदार्थों पर होगा। लोहे और इस्पात पर ४३ करोड़, पेट्रोलियम रिफ़ायनरीज़ पर ६४ करोड़, सीमेन्ट पर १५.४ करोड़, एल्मूनियम पर ९ करोड़, खाद, भारी रासायनिक पदार्थ और पावर एलकोहल पर १२ करोड़ रुपये का विनियोग करने का अनुमान है। उपभोक्ता पदार्थों के उद्योगों का जहाँ तक सवाल है, मौजूदा क्षमता का पूरा पूरा उपयोग करने पर ज़ोर दिया गया है। पर रेयोन, कागज़, दवाइयाँ आदि के उद्योगों में नए विनियोग की व्यवस्था की गई है। बिजली की शक्ति के उत्पादन में भी १६ करोड़ रुपया व्यक्तिगत व्यवसाय द्वारा खर्च होगा।

नये विनियोग के २३३ करोड़ रुपये के अलावा १५० करोड़ रुपया मौजूदा मशीनों के स्थान पर नई और अच्छी मशीनें लगाने में खर्च होगा। व्यक्तिगत व्यवसाय के क्षेत्र में उपर्युक्त कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये एक सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि अनावश्यक कामों में पूँजी लगने से रोकी जाय। नई पूँजी जारी करने पर नियंत्रण द्वारा और उद्योगों संबंधी नियंत्रण द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकेगी। दूसरी आवश्यकता यह है कि जिन कामों में पूँजी लगाना आवश्यक है उनमें पूँजी को प्रवाहित करने में सुविधायें दी जायें। यह सुविधायें अनुकूल राजकोषीय नीति तथा अन्य प्रकार से देने की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है।

विदेशी पूँजी—औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से योजना आयोग ने विदेशी पूँजी, औद्योगिक उत्पादन में सुधार, औद्योगिक व्यवस्था में सुधार और औद्योगिक तथा वैज्ञानिक अनुसंधान के संबंध में भी आवश्यक सुझाव दिये हैं।

विदेशी पूँजी के बारे में सरकार की वर्तमान नीति का आधार किसी प्रकार के भेदभाव को नहीं करना, बाहर मुनाफ़ा भेजने के लिये उचित सुविधायें प्रदान करना, पूँजी को वापिस लेजाने की सुविधा देना तथा राष्ट्रीयकरण होने की हालत

में उचित मुआवज़ा देना है। योजना आयोग का कहना है कि इस सबंध में आधारभूत सिद्धान्त यह होना चाहिये कि नए उत्पादन के लिये या ऐसे कामों के लिये जहाँ विशेष प्रकार का अनुभव और टेकनिकल कुशलता चाहिये या जहाँ माँग की तुलना में घरेलू उत्पादन बहुत कम है और उसके बढ़ने की कोई आशा नहीं है विदेशी पूँजी का उपयोग किया जाना चाहिये। देशी और विदेशी पूँजी के बीच में सम्मिलित रूप से काम करने के जो भी समझौते हों उनके लिये सरकार की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिये और राष्ट्रीय पूँजी का ऐसे उद्योगों में कितना भाग हो तथा राष्ट्रीय हित का रक्षा के लिये और क्या क्या किया जाना आवश्यक है इसका निर्णय हर मामले को देखकर करना चाहिये।

उत्पादन में सुधार और वैज्ञानिक अनुसंधान :—उत्पादन में सुधार करने के महत्व पर जोर देते हुए योजना आयोग ने कहा है कि 'क्वालिटी कन्ट्रोल' की पद्धतियों का पूरा पूरा इस दृष्टि से उपयोग किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान के महत्व को भी स्वीकार किया गया है। इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय घटना राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना है। देश के विभिन्न भागों में कुल ग्यारह प्रयोगशालाओं को (फिजीकल लेबोरेटरी, दिल्ली; केमीकल लेबोरेटरी, पूना; मेटेलरजिकल लेबोरेटरी, जमशेदपुर; फ्यूल रिसर्च इनस्टीट्यूट, जीलगोरा; सेन्ट्रल फूड टेकनोलोजिकल रिसर्च इनस्टीट्यूट, मैसूर; सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इनस्टीट्यूट, लखनऊ; सेन्ट्रल ग्लास एण्ड सेरेमिक रिसर्च इनस्टीट्यूट, कलकत्ता; सेन्ट्रल रोड रिसर्च इनस्टीट्यूट, दिल्ली, सेन्ट्रल बिल्डिंग रिसर्च इनस्टीट्यूट, रुड़की; सेन्ट्रल लेदर रिसर्च इनस्टीट्यूट, मद्रास; और सेन्ट्रल एलेक्ट्रो-केमिकल रिसर्च इनस्टीट्यूट, कारेकुड) स्थापना की गई है। योजना में इन लेबोरेटरीज के सबध में अपूर्ण कामों को पूरा करने की व्यवस्था की गई है। इनके अलावा योजना काल में रेडियो एण्ड एलेक्ट्रानिक्स रिसर्च इनस्टीट्यूट, मेकेनिकल इन्जीनियरिंग रिसर्च इनस्टीट्यूट और सेन्ट्रल सॉल्ट रिसर्च इनस्टीट्यूट की स्थापना और की जाने को है। अहमदाबाद टेक्सटाइल इनडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन, सिल्क एण्ड आर्ट सिल्क मिल्स रिसर्च एसोसियेशन, और साउथ इंडिया टेक्सटाइल इनडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन की स्थापना में भी सरकार ने पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसधान कार्य में सहायता देकर, साधनों विशेष का सर्वे कराकर, भारत की आर्थिक उपज बधी कोष तैयार करके और समस्या विशेष के बारे में उद्योगों को सलाह देकर तथा सम्मेलन आदि द्वारा भी सरकार अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देना चाहती है।

औद्योगिक व्यवस्था—औद्योगिक व्यवस्था से संबंध रखने वाला सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न मैनेजिंग एजेन्सी व्यवस्था में सुधार करने का है। कम्पनी लॉ कमेटी ने इस बारे में कई सुझाव दिये हैं जो सरकार के विचाराधीन हैं।

पंचवर्षीय योजना में खनिज पदार्थ

योजना आयोग ने देश के खनिज पदार्थों के विकास के विषय में भी आवश्यक विचार किया है। खनिज पदार्थों के विकास संबधी नीति की सिफारिश करते हुए योजना आयोग ने लिखा है कि उक्त नीति के आधार स्तम्भ निम्नलिखित दो बातें होनी चाहियें—एक तो खनिज साधनों की अपव्यय से रक्षा करना (कनजरवेशन) और दूसरे खनिज पदार्थों को जमीन से निकालने के काम को वैज्ञानिक आधार पर संगठित करना (इकॉनोमिक वर्किङ्ग)। उपर्युक्त नीति को कार्यान्वित करने के लिये योजना आयोग ने जो जो बातें आवश्यक मानी हैं वे इस प्रकार हैं :—(१) साधनों का अनुमान लगाना—व्यवस्थित आधार पर जाँच करके यह अनुमान लगाया जाना चाहिए कि कौन कौन से खनिज पदार्थ किस किस मात्रा में और किस किस मूल्य के उपलब्ध हैं; (२) खनिज पदार्थों को जमीन से निकालने के कार्य की समुचित व्यवस्था करना—इसके लिये खनिज उद्योग के काम में योग्य लोगों का उपयोग करना, केवल बढ़िया खनिज पदार्थ को न निकालना, खारिज किये गये ढेर में से अच्छे खनिज पदार्थ को निकालना आदि बातों का ध्यान रखना आवश्यक है; (३) तमाम महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों जैसे गधक, टंगस्टन, टिन आदि के विस्तार का पता लगाना; (४) घटिया खनिज पदार्थों के साधनों का अनुमान लगाना और खनिज पदार्थों के 'ड्रेसिंग' और 'प्रोसेसिंग' की समस्याओं में अनुसंधान करना; (५) खनिज पदार्थ को तैयार या अर्द्ध तैयार माल में निर्यात के लिये बदलना; और (६) इंडियन ब्यूरो ऑफ माइन्स के द्वारा भारत और दूसरे देशों के खनिज उद्योग और खनिज व्यापार के अर्थशास्त्र के बारे में आँकड़े एकत्र करना। योजना आयोग ने विभिन्न खनिज पदार्थों के बारे में अलग अलग से भी आवश्यक कार्यक्रम सुझाया है। इस कार्यक्रम में खनिज साधनों के विस्तार का पता लगाना, उनकी मात्रा का अनुमान लगाना, खनिज कार्य का सुधार करना, आँकड़ों को एकत्र करना तथा अनुसंधान कार्य को संगठित करना शामिल किया गया है। उपर्युक्त कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का मुख्य जिम्मा जिन सरकारी संस्थाओं का आता है वे ये हैं :—(१) जियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (२) इंडियन ब्यूरो ऑफ माइन्स और (३) राष्ट्रीय प्रयोगशालायें जैसे फ्यूल रिसर्च इनस्टीट्यूट, मेटेलरजीकल लेबोरेटरी और ग्लास और सिरेमिक रिसर्च इनस्टीट्यूट। इन संस्थाओं के कामों का समीकरण करने के लिये योजना

आयोग की सिफारिश पर प्राकृतिक साधन और वैज्ञानिक अनुसंधान के मंत्रालय ने एक 'टेकनीकल कोरडीनेशन कमेटी' भी नियुक्त की है।

पंचवर्षीय योजना में यातायात

पंचवर्षीय योजना में यातायात के आधारभूत महत्व को स्वीकार किया गया है। यातायात के विभिन्न साधनों के संबंध में जो सुझाव दिये गये हैं वे नीचे दिये जाते हैं।

रेल यातायात :—भारतीय रेलों की सबसे बड़ी आवश्यकता उनके पुनर्संस्थापन की है। योजना के ५ वर्षों में कुल ४०० करोड़ रुपया रेलों पर व्यय होने का अनुमान है। इसके अलावा आधारभूत उद्योगों और यातायात के लिये जो ५० करोड़ रुपये रखे गये हैं उनमें से भी रेल यातायात के विकास पर कुछ खर्च होगा। ४०० करोड़ रुपयों में से ८० करोड़ तो केन्द्रीय राजस्व से और बाक़ी का ३२० करोड़ रेलवे के अपने साधनों से प्राप्त किया जायेगा।

जहाजरानी—जहाजरानी का विकास का जो कार्यक्रम तैयार किया गया है उसके अनुसार कुल रजिस्टर्ड स्नेज (ग्रोस) समुद्रतटीय और विदेशी व्यापार दोनों के क्षेत्र में १९५५-५६ तक ६ लाख तक हो जायगा। योजना में शिपिंग कम्पनियों को जहाज़ खरीदने में आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिये १५ करोड़ रुपये रखे गये हैं।

जहाज़रानी के साथ-साथ बन्दरगाहों के विकास की भी देश में जरूरत है। कन्डला नाम का एक नया बन्दरगाह तैयार किया ही जा रहा है। इस पर योजना काल में १२.०५ करोड़ रुपया खर्च होगा। मौजूदा पाँच बन्दरगाहों (कलकत्ता, विशाखापटनम, मद्रास, कोचीन और बंबई) के विकास आदि पर योजना काल में १२ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त १५.५ करोड़ रुपया इन बन्दरगाहों के अपने पास से खर्च होगा। ऑइल रिफ़ाइनरीज़ को बन्दरगाह की सुविधा प्रदान करने के लिये भी ८ करोड़ रुपया व्यय होगा।

सड़क यातायात—पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय मार्गों के विकास के लिये मौजूदा कामों को पूरा करने, ४५० मील नई सड़कें बनाने, ४३ बहुत बड़े पुलों का निर्माण करने और बहुत से छोटे-छोटे पुल बनाने तथा २२०० मील की सड़कों में सुधार करने का कार्यक्रम शामिल किया गया है। केन्द्रीय सरकार की योजना में राष्ट्रीय मार्गों के लिये २७ करोड़ रुपया रखा गया है और कुछ दूसरी चुनी हुई सड़कों के विकास के लिये ४ करोड़ रुपया और रखा गया है। २१.१५ लाख रुपये सेन्ट्रल रोड रिसर्च इनस्टीट्यूट पर खर्च किये जावेंगे। राज्य सरकारों

की योजना में सड़क के विकास के लिये कुछ ७३·५४ करोड़ रुपया रखा गया है। इसमें से ५०·५६ करोड़ रुपया 'ए' राज्यों और १६·६८ करोड़ 'ब' राज्यों और शेष 'सी' राज्यों में रखा गया है।

हवाई यातायात—इस समय हवाई यातायात के क्षेत्र में जितनी कंपनियाँ काम कर रही हैं उनके लिये यथेष्ट काम नहीं है। योजना आयोग ने उनको मिलाकर एक संगठन का रूप देने की सिफ़ारिश की है और योजना में मौजूदा कम्पनियों को मुआविज़ा देने के लिये तथा नये हवाई जहाज़ों को खरीदने के लिये ६·५ करोड़ रुपया रखा गया है। हवाई यातायात की कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने सम्बन्धी क़ानून १९५३ में पास हो गया है। इस क़ानून के अनुसार देश के अन्दर चलने वाले जहाज़ों के लिये एक और विदेशों में जाने वाले जहाज़ों के लिये दूसरा संगठन बनाया जायगा।

पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार और व्यापारिक नीति

योजना आयोग ने विदेशी व्यापार और व्यापारिक नीति के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये हैं उनका सार यह है कि आर्थिक विकास का जो कार्यक्रम पंचवर्षीय योजना में प्रस्तुत किया गया है उसका असर यद्यपि कई चीजों के निर्यात को बढ़ाना और कुछ चीजों के आयात को कम करना होगा पर कई चीजों का आयात बढ़ेगा और कुल मिलाकर विदेशी विनिमय की कठिनाई रहेगी और योजना के अनुसार विकास करने के लिये विदेशी सहायता की आवश्यकता रहेगी। इस दृष्टि से योजना काल में आयात और निर्यात पर पूरा नियंत्रण रखना होगा। निम्नलिखित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि होने की आशा है :—सूती वस्त्र; पटसन का यार्न और तैयार माल; मैंगनीज और तेल; कोयला और कोक; कालीमिर्च; तम्बाकू; ऊनी कपड़े तथा सिलाई की मशीनें; बेटरियाँ; बाइसिकिलें; टेक्सटाइल मशीनरी; बिजली के पंखे और दवाइयां जैसे नए सामान। इसी के साथ पूँजी पदार्थ, तेल, तैयार (प्रोसेज़्ड) कच्चे माल का आयात बढ़ेगा। कृत्रिम खाद, एलूमिनियम, सीमेंट, नकली सिल्क यार्न, खाद्यान्न, कपास, और पटसन के आयात में कमी आयगी।

व्यापारिक नीति के विषय में योजना आयोग ने जिन सिद्धान्तों को आधार मानने की सिफारिश की है वे इस प्रकार हैं :—

(१) योजना के उत्पादन और उपभोग के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होना। (२) निर्यात की मात्रा अधिकाधिक रखने का प्रयत्न करना। (३) विदेशी विनिमय की उपलब्धता को ध्यान में रखते हुये व्यापारिक संतुलन के घाटे को

नियन्त्रित करना। (४) योजना के लिये जिन राजस्व और मूल्य नीतियों का पालन करना आवश्यक हो उनको ध्यान में रखते हुए वस्तुओं का आयात-निर्यात करना। (५) यथासंभव व्यापारिक नीति में स्थिरता रखना ताकि दूसरे देशों के साथ के व्यापारिक सबधों और देश के उद्योग और व्यापार की योजना में समय-समय पर परिवर्तन न करना पड़े।

पंचवर्षीय योजना की समालोचना

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने विस्तृत रूप से पचवर्षीय योजना का विवरण देने का प्रयत्न किया है। अब इस योजना के गुण दोषों के बारे में विचार करेंगे।

मूल्यांकन की दृष्टि क्या हो—इस सम्बन्ध में सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पंचवर्षीय योजना के गुण-दोषों के बारे में हम किस दृष्टि के विचार करें। हमारे विचारने की दो दृष्टियों हो सकती हैं—एक तो सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन के आधार पर देश के आर्थिक विकास की दृष्टि और दूसरे वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में बिना कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन की कल्पना किये उसकी मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए देश के आर्थिक विकास की दृष्टि। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में से जिस दृष्टि को हम अपना आधार बनाकर चलेंगे उसी के अनुसार हमें पचवर्षीय योजना के गुण-दोष मालूम पड़ेंगे।

कौनसी दृष्टि सही है—यहाँ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में से वास्तव में कौन-सी दृष्टि सही है। इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। यह उत्तर केवल तथ्यों और वस्तुगत परिस्थितियों के आधार पर ही नहीं दिया जा सकता। इसमें उत्तर देने वाले की व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि और भावगत परिस्थिति का भी बहुत असर पड़ेगा।

इस प्रश्न की जटिलता—दूसरी बात और है। दोनों दृष्टियों में से कौन सी दृष्टि सही है, यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। इसमें साध्य और साधक की बात भी पैदा की जाती है। वह इस तरह से। हम ध्येय या साध्य समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना स्वीकार करते हुए भी यह कह सकते कि यह परिवर्तन व्यवस्थित रूप से समाज के सब वर्गों के अधिकाधिक सहयोग और सहमति से लाया जाना चाहिये। यही जनतंत्रीय पद्धति द्वारा समाज-व्यवस्था में क्रान्ति लाने का तरीका है। योजना आयोग ने इसी दृष्टि को स्वीकार किया है। उनका लिखना है "जनतंत्रीय योजना का मूल आधार यह मान्यता है कि संपूर्ण समाज का एक समन्वित इकाई के रूप में विकास हो सकता है और किसी समय विशेष में वर्ग विशेष का स्थान बिना वर्ग द्वेष और हिंसा का सहारा लिये

बदला जा सकता है।" (रिपोर्ट परिच्छेद २, पेरा १०) इससे भिन्न विचार यह हो सकता है कि यदि हमारा ध्येय क्रान्तिकारी है तो हमारे साधनों का भी क्रान्तिकारी होना अनिवार्य है। इसका अर्थ अनिवार्य रूप में हिंसा का सहारा लेना और जनतत्र का त्याग करना नहीं होता है। तत्व की बात यह है कि यदि समाज के आधार को बदलना है तो मान्य मूल्यों की चिन्ता किये बिना ही तीव्र गति से उस आधार को बदलना पड़ेगा। व्यवस्थित विकास के नाम पर देर को बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिये और वर्तमान व्यवस्था में जो निहित स्वार्थ वाले वर्ग हैं उनकी सहमति प्राप्त हो सके इसके लिये प्रयोग नहीं किये जाने चाहियें। यदि परिवर्तन चाहने वालों के हाथ में शक्ति है तो उन्हें बेधड़क होकर परिवर्तन कर डालना चाहिये।

योजना आयोग की दृष्टि और सिफ़ारिशों में दोष :—इस सम्बन्ध में हमारी समझ में योजना आयोग की दृष्टि में यही दोष है कि वह समाज-व्यवस्था को बदलने की बात तो करते हैं, योजना के ध्येय को व्यापक से व्यापक आधार पर स्वीकार करते हैं; पर जो उपाय इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये उन्होंने सुझाये हैं वे उस ध्येय के अनुरूप प्रभावशाली नहीं है। वर्तमान सामाजिक मूल्यों की रक्षा करने की योजना आयोग को बहुत चिन्ता है और इसी में उनको व्यवस्थित विकास और जनतत्रीय व्यवस्था का आधार दिखाई पड़ता है। ज़मींदारी-जागीरदारी प्रणाली के उन्मूलन के पक्ष में उनकी राय है। पर जमींदारों और जागीरदारों को मुआवज़ा देने की मर्यादा को लाँघने की उनकी शक्ति नहीं। राष्ट्रीयकरण इसलिये नहीं किया जा सकता है कि सरकारों के पास वर्तमान उद्योगपतियों को मुआवजा देने के लिये रुपया नहीं। जो किसान बड़े या छोटे ज़मींदार की जमीन पर बिना भूमि सम्बन्धी स्वामित्व का अधिकार रखते हुये खेती करते हैं उनको उस भूमि का मालिक बनाने की योजना आयोग ने सिफ़ारिश की है पर उसमें भी किसान को ज़मीन की कीमत चुकानी होगी और ज़मीन के वर्तमान मालिकों को खुद काश्त के लिये ज़मीन रखने का अधिकार तो दिया ही है पर बीच के और छोटे भू-स्वामियों को काश्तकारों से खुद काश्त के लिये ज़मीन ले लेने के लिये पाँच साल तक का समय भी दिया है। ज़मीन के न्यायपूर्ण बटवारे के बारे में योजना आयोग किसी प्रभावशाली उपाय की सिफ़ारिश नहीं कर सका है। एक तरफ़ तो वह यह कहते हैं कि ज़मीन के न्याय पूर्ण बटवारे की दृष्टि से बड़े बड़े भू-स्वामियों की भूमि लेने से और भूमि-हीनों या कम भूमिवालों में उसे बाँटने से समस्या का कोई हल नहीं होगा क्योंकि बड़े-बड़े भू-स्वामी देश में बहुत कम हैं और दूसरी ओर जब भूमि हीनों की समस्या पर वे विचार करते हैं तो आचार्य विनोबा भावे के आन्दोलन को

इस समस्या के हल करने के लिये समर्थन देने योग्य मानते हैं। किसी एक व्यक्ति के अधिकार में एक निश्चित मर्यादा के आगे भूमि नहीं होनी चाहिये। तत्वतः वह इस बात को स्वीकार करते हैं पर इसके अनुसार तत्काल कोई कार्यवाई करने की सिफ़ारिश न करके उसे भविष्य के लिये राज्य की सरकारों पर छोड़ देते हैं। ग्रामोद्योग के महत्व को स्वीकार करते हैं पर ग्रामोद्योग के विकास का एक मात्र ग्राम स्वावलबन का जो आधार है उसको स्वीकार नहीं किया जाता। जनतंत्रीय व्यवस्था के हामी होते हुए भी समाज में विकेन्द्रित व्यवस्था की स्थापना के लिये कोई ज़ोर नहीं देते। योजना का ध्येय सब काम कर सकने वालों को काम देना होना चाहिये, इसे स्वीकार करते हुए भी पंचवर्षीय योजना में इसके लिये कोई विशेष उपाय नहीं सुझाया गया। वह इस तरह से सुझाया भी नहीं जा सकता है क्योंकि जब तक इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये जो भी अर्थ और समाज-व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक हैं उनको करने की तैयारी बिना यह प्रश्न हल हो नहीं सकता। अर्थ व्यवस्था के परिवर्तन में राज्य को अत्यन्त प्रभावशाली और उत्तरोत्तर विस्तृत आधार पर कार्य करना होगा, इस मन्तव्य को स्वीकार करते हुये भी व्यक्तिगत व्यवसाय के ऊपर उनकी योजना की सफलता विफलता का बहुत कुछ आधार निर्भर है। ग्रामों की देश की अर्थ-व्यवस्था में कितनी प्रधानता है इसको जानते हुए भो ग्राम-विकास की सामुदायिक योजनाओं का आधार पश्चिम में विकसित वह शहरी और केन्द्रीय सभ्यता ही है जिस में ग्राम का स्थान गौण और शहर का प्रमुख होता है। इन तमाम बातों का सार यह है कि यदि हम समाज और अर्थ-व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप को परिवर्तन करने की दृष्टि से योजना आयोग की सिफ़ारिशों का अध्ययन करें तो हमें निराश होना पड़ेगा। समाज में सामन्ती तत्व है (जागीरदार-ज़मींदारी के), उनके उन्मूलन की दिशा में योजना आयोग द्वारा निर्मित योजना किसी हद तक अवश्य सफल होगी पर केवल इतने से ही देश में न्यायपूर्ण भूमि-व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार देश के बड़े पैमाने के उद्योग धंधों में व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रधानता रहेगी और जिस मिलीजुली व्यवस्था के पक्ष में उन्होंने अपना मत दिया है उसमें उत्पादन साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और लाभ के लिये उत्पादन के पूँजीवादी लक्षण बदस्तूर कायम रहेंगे।

स्पष्ट समाज-दर्शन का योजना आयोग की दृष्टि में अभाव :— योजना आयोग की सिफारिशों में जो कमियाँ बताई है उनका एक मूलभूत कारण है। वह यह कि योजना आयोग के सामने किसी एक स्पष्ट सामाजिक दर्शन का चित्र नहीं है। पूँजीवादी समाज के दोषों को वे समझते हैं पर फिर भी उसकी जड़ में प्रहार करने का उनमें साहस नहीं मालूम देता। जनतत्र के वे समर्थक हैं लेकिन

उसके गत्यात्मक स्वरूप का विवेक उनमें नहीं है और उसके जड़वत् स्वरूप से ही वे चिपटे रहना चाहते हैं। ग्रामों का चतुर्मुखी विकास होना चाहिये इस तथ्य को वे मानते हैं पर उसके लिये ग्राम स्वशासन और ग्राम स्वावलंबन का आदर्श उन्हें स्वीकार नहीं है। साम्यवादी समाज से उनको भय है और उसे वह वांछनीय नहीं मानते। जनतंत्रीय समाजवाद की दिशा में वे बढ़ना चाहते हैं पर पूँजीवादी समाज के आधार-स्तंभों को नष्ट किये बिना और सर्वोदय के वे प्रशंसक हैं पर संभवतः उसे वे आज के वैज्ञानिक युग के अनुकूल और व्यवहारिक नहीं मानते हैं। योजना आयोग की योजना में साम्यवाद का वेग नहीं, जनतंत्रीय समाजवाद का संतुलन नहीं और सर्वोदय की गहरी दृष्टि नहीं। ऐसी दशा में पंचवर्षीय योजना भारत में नई समाज-रचना के महान् कार्य के लिये ठोस और सही आधार का निर्माण नहीं कर सकेगी इसमें कोई शंका नहीं मालूम पड़ती।

योजना की मर्यादा में योजना के गुण-दोष—अब तक हमने योजना की आलोचना अधिक व्यापक आधार पर की है। पर अब हम योजना की आलोचना योजना आयोग ने जो मर्यादायें अपने लिये स्वीकार करली हैं उनको मानते हुए ही करेंगे। इस दृष्टि से किसी भी योजना के बारे में मुख्यतः तीन बातें विचारने की हो सकती हैं (१) प्राथमिकताओं का क्रम (२) साधनों की पर्याप्तता, (३) पद्धति की प्रभावशीलता। अब हम इन तीनों ही दृष्टियों से योजना के विषय में विचार करेंगे।

प्राथमिकताओं का क्रम—प्राथमिकताओं के संबंध में विचारने का विषय यह है कि २०६९ करोड़ की कुल योजना में आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास पर योजना आयोग ने जिस अनुपात में विनियोग की सिफ़ारिश की है वह उचित है या नहीं। यह हम लिख चुके हैं कि २०६९ करोड़ रुपये में से ९२२ करोड़ रुपये अर्थात् कुल का ४४-६% कृषि और सिंचाई तथा शक्ति पर व्यय किया जायगा और ४९७ करोड़ रुपये अर्थात् २४% यातायात पर व्यय किया जायगा। कृषि, सिंचाई, शक्ति और यातायात इन सब पर कुल में से १४१९ करोड़ रुपया अर्थात् ६८-६% या दो तिहाई से भी अधिक व्यय किया जायगा। इसकी तुलना में उद्योग पर १७३करोड़ या ८·४% और सामाजिक सेवाओं पर ३४० करोड़ या १६·४% व्यय होगा। विनियोग के इस विभाजन में कृषि, सिंचाई, शक्ति और यातायात जैसी आर्थिक विकास की आधारभूत आवश्यकताओं को जो महत्व दिया गया है वह ठीक है। हमारे देश की पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये इन प्राथमिक धंधों को इस प्रकार प्राथमिकता देने में कोई अनुचित बात नहीं है। इसलिये यह आलोचना कि कृषि पर योजना आयोग ने आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया है और उद्योग

पर कम इस अर्थ में सही नहीं है। रहा सवाल यह कि सिंचाई और शक्ति की बड़ी बड़ी योजनाओं पर जितना ज़ोर दिया गया है। क्या उससे कम ज़ोर देना उचित न होता ? इस सवाल में किसी हद तक तथ्य है। योजना आयोग ने अपनी योजना की अन्तिम रिपोर्ट में छोटे पैमाने की सिंचाई योजनाओं पर कुछ अधिक व्यय करने की बात कही भी है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कृषि आदि को प्राथमिकता देते हुए भी इन बड़ी बड़ी बहु-उद्देशीय योजनाओं पर कम खर्च किया जा सकता था और इस प्रकार बचे हुए साधनों का स्वयं कृषि और अन्य उद्योग आदि के क्षेत्र में भी अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता था। योजना की यह आलोचना कि औद्योगिक विकास पर कम जोर दिया गया है एक अर्थ में सही है। योजना में औद्योगिक विकास का प्रधान जिम्मा व्यक्तिगत व्यवसाय पर छोड़ा गया। सरकारों द्वारा औद्योगिक विकास पर कुल १७३ करोड़ रुपया व्यय होगा। सरकारों के साधनों और योजना आयोग ने मिली जुली अथ-व्यवस्था की जिस कार्य-पद्धत्ति को स्वीकार किया है उसको देखते हुए तो उद्योग धंधों पर जो कुछ सोचा गया है उससे बहुत अधिक खर्च करने की गुंजाइश नहीं हो सकती थी। उद्योग धंधों पर जो भी व्यय होने वाला है उसमें आधारभूत उद्योगों को ही प्राथमिकता दी गई है। इसलिये उपलब्ध साधनों की मर्यादा को यदि हम स्वीकार कर लेते हैं तो फिर यह कहना वाजिब नहीं रहता कि आधारभूत उद्योगों पर कम ज़ोर दिया गया है। इसके विपरीत उल्टा यह आरोप लगाया जा सकता है कि छोटे और कुटीर उद्योगों को उनके महत्व की तुलना में कम रुपया दिया गया है। पर यदि हम देश की जरूरत को देखें तो यह बात सही है कि उद्योग धधों और वह भी न केवल भारी और आधारभूत उद्योगों पर बल्कि छोटे और कुटीर उद्योगों पर भी जो कुछ व्यय किया जाने वाला है वह अत्यन्त अपर्याप्त है। पर इस दोष का निराकरण तो तभी हो सकता है जब कि योजना आयोग मौजूदा मिली जुली अर्थ-व्यवस्था का आधार छोड़ दे, बड़े पैमाने के उद्योग धंधों का बिना नकद मुआवजा दिये राष्ट्रीयकरण किया जाये ताकि उससे होने वाली आय सीधे तौर से सरकार के हाथ में आ सके और उसका सरकार अपनी इच्छा के अनुसार विनियोग कर सके, और इस प्रकार देश के औद्योगिक विकास का भार भी सरकार प्रधानतः अपने ऊपर ले ले। यदि इस नीति का सरकार अनुसरण करती तो सरकारी और व्यक्तिगत व्यवसाय दोनों के क्षेत्र में मिलाकर जितना विनियोग योजना के अनुसार औद्योगिक क्षेत्र में आज करने की बात सोची जारही है उससे कहीं अधिक विनियोग संभव हो सकता था।

साधनों की पर्याप्तता :—योजना के संबंध में विचारने का दूसरा महत्त्व

पूर्ण प्रश्न यह है कि योजना को कार्यान्वित करने में जितने साधनों की आवश्यकता है वे उपलब्ध हो सकेंगे या नहीं। योजना आयोग ने कुल २०६९ करोड़ रुपया में से १२५८ करोड़ रुपया देश के अन्दर से उपलब्ध होने की आशा प्रकट की है। १६० करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार के राजस्व की बचत से, ४०८ करोड़ राज्य की सरकारों की राजस्व की बचत से, १७० करोड़ रेलवे की बचत से, और ५२० करोड़ सार्वजनिक ऋण (११५ करोड़ जिसमें ३६ करोड़ केन्द्र और ७९ करोड़ राज्यों द्वारा ऋण से प्राप्त होंगे), छोटे पैमाने की बचत (२७० करोड़) और अन्य डिपोजिट आदि (१३५ करोड़ जिसमें ९० करोड़ केन्द्र और ४५ करोड़ राज्यों से) से प्राप्त होने की आशा की गई है। प्रश्न यह है कि क्या योजना आयोग के ये अनुमान सही साबित होंगे। जब योजना आयोग की अन्तिम रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उस समय भी यह आशंका प्रकट की गई थी कि योजना आयोग के ये अनुमान सही नहीं निकलेंगे। खास तौर से राज्यों के बारे में यह आशंका थी। अब जो पंचवर्षीय योजना की प्रगति के बारे में मई १९५३ में पार्लियामेंट को बजट सेशन के अन्तिम दिन सरकार ने रिपोर्ट पेश की है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि योजना आयोग का वित्तीय आधार सही साबित नहीं होगा और १२५८ करोड़ रुपया देश के अन्दरूनी साधनों से सरकारों को प्राप्त नहीं हो सकेंगे। केन्द्र और राज्यों की सरकारों की राजस्व बचत से १९५१-५२ में १८९.९ करोड़, १९५२-५३ के संशोधित अनुमान के आधार पर ६१.२ करोड़ और १९५३-५४ में अनुमानित आँकड़ों के अनुसार ९२.५ करोड़ इस प्रकार पहले तीन वर्षों में ३४३.७ करोड़ रुपया राजस्व की बचत से प्राप्त होने का अनुमान है। यदि योजना आयोग की आशा के अनुसार कुल ५६८ करोड़ (१६० करोड़ केन्द्र और ४०८ करोड़ राज्यों के) रुपया पाँच साल में प्राप्त हो तो आने वाले दो वर्षों में २२४.२ करोड़ रुपया यानी ११२ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष प्राप्त होना चाहिये। इसका अर्थ है १९५२-५३ के संशोधित अनुमान से ५० करोड़ से भी अधिक और १९५३-५४ के अनुमान से २० करोड़ से अधिक इन दो वर्षों में से प्रत्येक वर्ष में सरकारों की राजस्व की बचत होनी चाहिये। यह आशा कदापि पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि १९५१-५२ में जो १९० करोड़ के लगभग राजस्व की बचत हो गई उसके तो विशेष कारण थे। कोरिया की लड़ाई के बाद जो हमारे देश की निर्यात वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई थी उसके कारण निर्यात कर बढ़ा दिये गये थे और उनसे केन्द्रीय सरकार को यथेष्ट आय होगई थी। पर आने वाले दो वर्षों में ऐसी किसी परिस्थिति के पैदा होने की आशा नहीं हो सकती। इस संबंध में जब हम राज्यों की वित्तीय स्थिति का विचार करते हैं तो हमें स्थिति की गंभीरता और अच्छी तरह समझ में

आ जाती है। पंचवर्षीय योजना के अनुसार पाँच वर्ष में राज्यों से राजस्व की बचत, सार्वजनिक ऋण, छोटे पैमाने की बचत. और डिपोजिट आदि अन्य जरियों से ५३२ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की गई है।- पर प्रथम दो वर्षों में इन ५३२ करोड़ के मुकाबले में राज्यों से १०१ करोड़ रुपया ही प्राप्त होसका। और यह भी उस समय जबकि राज्यों ने अपने रक्षित कोष और नकद रोकड़ से काफी मात्रा में रुपया खर्च कर दिया है। राज्यों की इस स्थिति का अनुमान और तरह से भी लग सकता है। योजना आयोग ने राज्यों की सरकारों से यह आशा की थी कि वे पाँच साल में २३२ करोड़ को अतिरिक्त आय नये कर लगाकर तथा अन्य जरियों से प्राप्त कर सकेंगे। पहले दो वर्षों की जो उक्त रिपोर्ट प्रकाशित की गई है उसमें अनुमान लगाया गया है कि १९५०-५१ की अपेक्षा १९५१-५२ में ५ करोड़, १९५२-५३ में ८ करोड़ और १९५३-५४ में २१ करोड़ रुपये की अधिक करों से आय होने का अनुमान है अर्थात् तीन वर्षों में कुल ३४ करोड़ की अधिक आय हुई है जबकि पाच वर्षों में २३२ करोड़ की अधिक आय की आशा की गई है। यदि हम केन्द्रीय सरकार की दृष्टि से विचार करें तो देखेंगे कि उससे राजस्व की बचत (१६० करोड़), सार्वजनिक ऋण (३६ करोड़), छोटे पैमाने की बचत (२७० करोड़), डिपोजिट आदि जरियों से (४५ करोड़), और रेलों से (१७० करोड़) कुल ७२६ करोड़ की आशा की गई थी। इन ७२६ करोड़ के मुकाबले में दो वर्षों में २६२ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। केन्द्र की स्थिति राज्यों के मुकाबले में अच्छी रही है इसमें कोई संदेह नहीं है। उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि यदि हम यह मानलें कि केन्द्र से राजस्व की बचत, सार्वजनिक ऋण, छोटे पैमाने की बचत और डिपोजिट आदि से पूर्ववत् अनुमान के अनसार साधन प्राप्त हो जायँगें तब भी रेलवे से योजना के अंतिम दो वर्षों में ९० करोड़ से अधिक के साधन प्राप्त नहीं होसकेंगे जबकि पहली तीन वर्षों में १७० करोड़ में से ७८ करोड़ रुपये के लगभग ही प्राप्त हुए हैं और १९५२-५३ और १९५३-५४ में २०-२० करोड़ रुपया प्राप्त होने का ही अनुमान है। अगले दो वर्षों में हम इसी आधार पर और ४० करोड़ रुपया प्राप्त करलें तब भी ५० करोड़ रुपया कम तो रेलों से मिलेंगे। राज्यों से ५३२ करोड़ में से पहले दो वर्षों में १०१ करोड़ मिले हैं। अन्तिम तीन वर्षों में कुल २०० करोड़ रुपये की और आशा रखलें तब भी २३० करोड़ के लगभग कमी राज्यों के कारण रहती है। कुल मिला कर १२५८ करोड़ के अनुमान के मुकाबले में लगभग २८० करोड़ या यों कहें कि ३०० करोड़ का घाटा इस प्रकार होगा। योजना आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में २९० करोड़ रुपये की पूर्ति स्टरलिंग पावने के एवज़ में नया रुपया जारी करके करने का अनुमान लगाया

था और उसके बाद ५२१ करोड़ रुपय की कमी रहती थी। अब इस कमी में उक्त ३०० करोड़ रुपया और जोड़ दें तो यह कमी ८२१ करोड़ की हो जाती है जिसकी पूर्ति विदेशी सहायता, नये कर, सार्वजनिक ऋण और अन्त में नया रुपया जारी करके करना पड़ेगा। इन ८२१ करोड़ रुपये में से दो वर्षों में १८९ करोड़ रुपया विदेशी सहायता से मिल चुका है। इसको कम कर देने के बाद ६३२ करोड़ रुपये की और कमी रहती है। हमारा यह अनुमान जो योजना आयोग ने दो वर्ष की प्रगति की रिपोर्ट में लगाया है उससे कुछ ही ज्यादा है। उनका अनुमान इस प्रकार लगाया गया है। दो वर्षों में २०६९ करोड़ में से लगभग ५८५ करोड़ रुपया खर्च हो चुका है अर्थात् कुल का ३०%। बाकी १४८५ करोड़ के लगभग खर्च करना बाकी है। इसमें से ६०० करोड़ रुपया बजट के साधनों से प्राप्त होने की आशा है, २१५ करोड़ स्टरलिंग पावने के एवज़ में नया रुपया जारी करना बाकी माना जा सकता है और लगभग ७५ करोड़ रुपये विदेशी सहायता के खर्च करने को उपलब्ध हैं। इस प्रकार ८९० करोड़ रुपया हो जाता है और लगभग ६०० करोड़ की कमी तब भी रहती है। यह कमी किस किस प्रकार पूरी हो सकेगी इस बारे में योजना आयोग ने अपनी दो वर्ष की रिपोर्ट में भी कोई निश्चित योजना पेश नहीं की है। यद्यपि देश की आवश्यकता और आकांक्षा की दृष्टि से पंचवर्षीय योजना में जो लक्ष्य सामने रखा गया है वह अत्यन्त अपर्याप्त है फिर भी जो साधन उपलब्ध होने की संभावना है वह इन अपर्याप्त लक्ष्यों की दृष्टि से भी बहुत कम पड़ते हैं। यही इस योजना की सब से बड़ी कमज़ोरी है।

कार्य-पद्धत्ति :—योजना के विषय में मर्यादित रूप से विचार करने पर तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कार्य-पद्धत्ति का आता है। कार्य-पद्धत्ति का अर्थ यह कि योजना में देश के सीमित साधनों के जिस जिस प्रकार के विनियोग की कल्पना की गई है उसके अनुसार उन साधनों का निर्देशन हो सकेगा या नहीं। और योजना को कार्यान्वित करने में जनता का पूरा पूरा सहयोग मिल सकेगा या नहीं।

सीमित साधनों का योजनानुसार विनियोग हो इसके लिये सरकार ने अपने हाथ में आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने की शक्ति ले रखी है। इंडस्ट्रीज़ (डेवलपमेंट एन्ड रेगूलेशन) एक्ट, हिस्सा पूँजी जारी करने में सरकार के नियंत्रण सम्बन्धी क़ानून, मूल्य नियंत्रण सम्बन्धी अधिकार, विदेशी व्यापार और विदेशी विनिमय पर नियंत्रण और सरकारों की वित्तीय नीति आदि कुछ ऐसे प्रधान साधन हैं जिन के द्वारा सरकार देश के आर्थिक जीवन को योजना के हित में नियंत्रित करना चाहती है। पर सरकार की इस नियंत्रण नीति के बारे में व्यवसायी वर्ग को बराबर शिकायत है। उनका कहना यह है कि एक ओर तो सरकार

व्यक्तिगत व्यवसाय पर देश के आर्थिक विकास में बहुत कुछ दायित्व डालना चाहती है और दूसरी ओर व्यक्तिगत व्यवसाय को कार्य की स्वतंत्रता नहीं देना चाहती, और अपनी वित्तीय नीति से पूँजी निर्माण और विनियोग वृद्धि के मार्ग में बाधा उपस्थित करती है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि सरकार इस योजना को कहाँ तक सफलता के साथ कार्यान्वित कर सकेगी और देश के व्यवसायी वर्ग का कितना वास्तविक सहयोग उसे प्राप्त हो सकेगा।

जनता के सहयोग का जहाँ तक सवाल है, योजना आयोग ने इस पक्ष पर जोर तो बहुत दिया है। पंचवर्षीय योजना राष्ट्र की योजना है और राजनैतिक दलों को मिलकर इसमें सहयोग देना चाहिये इस पर सरकार का बहुत जोर है। 'भारत सेवक समाज' नाम की एक पृथक् संस्था ही इस कार्य के लिये स्थापित की गई है। उसमें सब पार्टियों का सहयोग चाहा जाता है। ग्राम विकास की सामुदायिक योजनायें और देशव्यापी 'रूरल एक्सटेंशन सर्विस' की स्थापना से भी जन सहयोग प्राप्त करने में सहायता मिलने की आशा की जाती है। इस दृष्टि से सरकारी प्रशासन में आवश्यक सुधार पर भी योजना आयोग ने जोर दिया है। सरकारी कर्मचारी वर्ग में ईमानदारी और कार्य कुशलता की दृष्टि से सुधार किया जाना आवश्यक है। जिले के वर्तमान प्रशासन में भी इस दृष्टि से सुधार करने की जरूरत है कि वह पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने में पूरा पूरा योग दे सके। इस दृष्टि से प्रत्येक गाँव में गाँव पंचायत का उपयोग किया जावे इस विषय में भी योजना आयोग ने जोर दिया है। विश्वविद्यालय, सामाजिक सेवा की संस्थायें, स्वायत्त शासन संस्थायें, सभी योजना को कार्यान्वित करने में अपना अपना योग दें, यह योजना आयोग चाहता है। पर वास्तव में सवाल यह है कि इन सब आशाओं की पूर्ति कितनी होगी। विभिन्न राजनैतिक दल इस योजना को दलगत राजनीति से ऊपर देख सकें इसके कोई विशेष लक्षण नहीं दिखते। योजना के विषय में जनता को खास उत्साह हो ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता। कारण यह है कि आम जनता के लिये इस योजना में आशा की कोई विशेष झलक दिखाई नहीं देती। सामुदायिक योजनाओं का अनुभव भी एक सा नहीं मालूम पड़ता। स्वयं सरकार के प्रशासन और कर्मचारियों में ही किसी प्रकार के कोई सुधार चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। भारत सेवक समाज ने अभी कोई प्रगति की नहीं है। इन सब बातों का एक साथ जब विचार करते हैं तो कोई उत्साह वर्द्धक चित्र उपस्थित नहीं होता है।

योजना की प्रगति और उपसंहार—उपर्युक्त पंक्तियों में हमने योजना आयोग द्वारा प्रथम दो वर्ष की प्रगति संबंधी प्रस्तुत रिपोर्ट का उल्लेख किया है। इस संबंध में यहाँ हम कुछ विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

योजना के कुल अनुमानित व्यय २०६६ करोड़ में से ५८५ करोड़ अर्थात् ३०% प्रथम दो वर्षों में खर्च हुआ है। योजना आयोग का कहना है कि आरंभ में योजनाओं को कार्यान्वित करने में और उनको गति देने में थोड़ा समय लगता है। इसीलिये योजना आयोग ने यह आशा प्रकट की है कि आगे के तीन वर्षों में कार्य की गति तेज होगी। योजना आयोग की यह बात यों तो सही है पर शंका इसलिये होती है कि इन दो वर्षों में भी प्रारंभिक तैयारी पूरी हुई नहीं है। राज्यों की सरकारों ने कुल मिलाकर जैसा चाहिये वैसा काम नहीं किया है। जनता के सहयोग प्राप्त करने के लिये कोई खास प्रयत्न नहीं किये गये हैं। राज्य भर की योजनाओं को जिले और गाँव के आधार पर विभाजित करके जनता के सहयोग से उसे कार्यान्वित करने की दिशा में भी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। ऐसी दशा में आने वाले वर्षों में योजना का काम कितनी तेजी से आगे बढ़ सकेगा यह देखने की बात है।

योजना में विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन के जो लक्ष्य निश्चित किये गये हैं उन की दृष्टि से विचार करने पर इन दो वर्षों में निम्न स्थिति सामने आती है। कपास और पटसन जैसे कच्चे माल का उत्पादन बढ़ा है और इसका असर औद्योगिक उत्पादन में १९५०-५१ की अपेक्षा लगभग २०% वृद्धि होने का हुआ है। सूती वस्त्र, सीमेंट, लोहा और इस्पात, पेपरबोर्ड, एमोनियम सलफेट आदि उद्योगों में उत्पादन विशेष बढ़ा है जब कि कुछ एंजीनियरिंग और दूसरे उद्योगों में उत्पादन घटा भी है। कृषि में खाद्यान्न के काम में आने वाली भूमि का क्षेत्रफल बढ़ा है और इसलिये खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की भी आशा की गई है। रेल्वे यातायात में भी उन्नति हुई है। सिंचाई और शक्ति के क्षेत्र में भी प्रगति संतोष-जनक बताई गई है। बड़ी बड़ी योजनाओं से १.४२ मिलियन एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई हुई है। मुद्रा स्फीति पर सफलता पूर्वक नियंत्रण हो सका है। ग्राम सामुदायिक योजनाओं और 'नेशनल एक्सटेंशन सर्विस' के कार्य की भी शुरूआत हुई है। यही दो वर्षों की कुछ सफलतायें हैं। पर इस संबंध में यह भी याद रखने की जरूरत है कि कई उपर्युक्त सफलताओं का श्रेय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार होने के पहले के शुरू हुए कार्यक्रमों को भी है।

योजना आयोग की दो वर्ष की रिपोर्ट में कुछ कमियों की तरफ़ भी ध्यान आकर्षित किया गया है। देश में बेकारी और अर्द्ध-बेकारी की स्थिति में बिगाड़ आया है। राज्यों की सरकारों द्वारा योजना के बाहर की विकास योजनाओं पर तथा दूसरे कामों पर जिनका विकास से संबंध नहीं है, अधिक खर्च करने की प्रवृत्ति देखी गई है। भूमि सुधार के क्षेत्र में भूमि की चकबंदी, ग्रामीण साख,

सहकारी खेती तथा छोटे पैमाने की सिंचाई संबंधी कामों में राज्य की सरकारों ने उचित ध्यान नहीं दिया है। योजना के वित्तीय आधार में जो कमी सामने आई है उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

योजना के दो वर्ष की प्रगति का जो विवरण हमने प्रस्तुत किया है उससे योजना के भविष्य के बारे में क्या कल्पना बनती है? इतना तो स्पष्ट है कि इस योजना द्वारा देश की आर्थिक स्थिति में कोई बड़ा सुधार नहीं हो सकता। जब तक देश में बेकारी की मात्रा बढ़ती जाती है तब तक किन्हीं उद्योगों में कुछ वृद्धि का बहुत महत्त्व नहीं है। यह भी संभव है कि वह वृद्धि स्थायी न रहे या विदेशी निर्यात के आधार पर ही उत्पादन को कायम रखा जाये। जब तक देश के वर्तमान आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन नहीं होता, सब काम कर सकने वालों को काम नहीं मिलता, हमारे ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित नहीं किया जाता, और कृषि और उद्योग की वर्तमान व्यवस्था को अधिक न्याय पूर्ण और विकसित आधार पर संगठित नहीं किया जाता तब तक थोड़े बहुत उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि, सिंचाई और शक्ति की कुछ योजनाओं का कार्यान्वित हो जाना, कृषि के क्षेत्र में किये गये छोटे मोटे सुधार और कुछ ग्राम विकास की सामुदायिक योजनायें देश की करोड़ों जनता के भविष्य को उज्ज्वल नहीं बना सकेंगी।

सामुदायिक योजनाओं की समालोचना

ग्राम विकास की सामुदायिक योजनायें क्या हैं इस बारे में हम पहले लिख चुके हैं। हमारे गाँवों के विकास की दृष्टि से योजना आयोग और सरकारें इन योजनाओं के महत्त्व पर अत्यधिक ज़ोर दे रही हैं। यहाँ हम इस विषय में कुछ विस्तार से विचार करेंगे कि ग्राम विकास की ये सामुदायिक योजनायें वास्तव में हमारे गाँवों के विकास की दृष्टि से कितनी उपयोगी सिद्ध होंगी।

सामाजिक विचारधारा का अभाव :—इस संबंध में सब से पहले प्रश्न यह है कि आखिर इन ग्राम विकास योजनाओं के पीछे हमारे गाँवों के विषय में सामाजिक दर्शन क्या है। हम यह लिख चुके हैं कि भारत के गाँवों की उन्नति तभी हो सकती है जब हम समाज के संगठन के प्रत्येक गाँव या गाँव समूह को आधारभूत इकाई के रूप में मानें और उनमें स्वशासन और स्वावलंबन के आधार पर सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को संगठित किया जाये। स्पष्ट है कि जिन ग्राम विकास योजनाओं को आज देश में कार्यान्वित किया जारहा है वे ऐसे किसी आदर्श से प्रेरित नहीं हैं। गाँवों के विकास के प्रश्न पर ये योजनायें इसी दृष्टि से विचार करती हैं कि गाँव की अपेक्षा मंडी के केन्द्र में, और मंडी के केन्द्र की अपेक्षा उससे बड़े क़स्बे में और उसके बाद उससे भी बड़े कस्बे में

सुविधाओं का अधिकाधिक केन्द्रीकरण हो। इसका अर्थ यही निकलता है कि शहरों और कस्बों की अपेक्षा गाँवों का समाज में गौण स्थान है और गाँवों को सदा ही शहरों की ओर अमुक साधन और सुविधाओं के लिये देखना पड़ता रहेगा।

वर्तमान आर्थिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं :—दूसरा बड़ा दोष इन योजनाओं का यह है कि ये यह मान कर चलती हैं कि देश के वर्तमान आर्थिक संगठन में कोई बड़ा परिवर्तन किये बिना ही हमारे गाँवों की दशा सुधर सकती है। इन योजनाओं में गाँवों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में कोई आधारभूत परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं है। न भूमि के समान वितरण का प्रश्न हल करने की ओर इन योजनाओं का ध्यान है, न ग्रामोद्योगों के विकास के बारे में इनके सामने कोई स्पष्ट चित्र है और न ग्रामीण जनता को वर्तमान शिक्षा प्रणाली से मुक्त करके अधिक उपयोगी शिक्षा देने की तरफ़ उनका कोई ध्यान है। गाँवों में फैली हुई बेकारी और अर्द्ध-बेकारी का अन्त भी इन योजनाओं के द्वारा होना संभव नहीं है।

विदेशी प्रभाव—तीसरा बड़ा दोष इन योजनाओं का यह है कि यह विदेशी रुपया, विदेशी साधन-सामग्री, टेकनिकल कोपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन द्वारा नियुक्त विदेशी विशेषज्ञों की सलाह और विदेशी सभ्यता और संस्कृति से बहुत प्रभावित होंगे। देश के स्वाभिमान और स्वतन्त्र विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त हानिकर है। इसके अतिरिक्त इन योजनाओं में जो मशीनें, तथा दूसरी सामग्री चाहियेगी उनके कारण विदेशों पर हमारी निर्भरता बढ़ेगी। और यदि आगे चल कर ये सब सामान देश में तैयार नहीं होने लगेगा तो हमारी विदेशों पर यह निर्भरता बहुत घातक सिद्ध होगी। ग्राम विकास के ये केन्द्र देश में जगह जगह विदेशी सत्ता और दृष्टिकोण से प्रभावित ऐसे स्थान बन जायँगे जिनसे न केवल भारतीय प्रतिभा के अनुकूल भारतीय विकास का कोई उदाहरण और प्रेरणा नहीं मिलेगी बल्कि इनके कारण देश में विदेशी प्रभाव के ऐसे स्थान खड़े हो जायँगे जो कि किसी भी समय समूचे राष्ट्र को खतरे में डाल सकते हैं। सामुदायिक योजनाओं पर कुल ३८'३८ करोड़ रुपया व्यय होगा। इसमें से ३४'३८ करोड़ रुपयों की व्यवस्था भारत सरकार और ४ करोड़ रुपये (८'६७ मिलियन डालर) की व्यवस्था अमरीका की सरकार करेगी। भारत सरकार का रुपया फंड 'बी' और अमरीका की सरकार का रुपया फंड 'ए' में जमा होगा। अमरीका से मिलने वाला रुपया इन विकास योजनाओं में काम में आने वाले अमरीकी माल पर ही खर्च किया जावेगा और वह अमरीका की सरकार की सलाह से ही खर्च होगा। इस डॉलर कोष में से जो अमरीका सरकार से प्राप्त होगा ५५% डालर तक भारत सरकार जितने

आवश्यक समझेगी उतने डालर राज्यों को ऋण के रूप में दिये जायँगे और राज्यों से जब इस ऋण को वापिस रुपयों में चुकाया जायगा तो वह फंड 'बी' (भारत सरकार का) में जमा होगा जो कि दोनों सरकारों की सम्मति से ही आर्थिक विकास की योजनाओं पर खर्च होगा।

इस आर्थिक और राजनैतिक दासता को भली प्रकार समझने के लिये हमें ५ जनवरी, १६५२ को भारत सरकार और अमरीका की सरकार के बीच में जो 'टेकनीकल कोपरेशन एग्रीमेंट' हुआ और जिसके अन्तर्गत ग्राम विकास की ये योजनायें कार्यान्वित होंगी उसके विषय में भी कुछ जानकारी करनी चाहिये। इस समझौते के अनुसार अमरीका की सरकार ३० जून १६५२ तक ५० मिलियन डालर (लगभग २४ करोड़ रुपये) का एक फंड 'ए' का निर्माण करेगी और इसी प्रकार भारत सरकार २५ करोड़ रुपये से अधिक का एक फंड 'बी' का निर्माण करेगी। इसके अलावा अमरीकी सरकार लगभग ४ मिलियन डालर और खर्च करेगी जिसमें अमरीकी विशेषज्ञों का खर्च, उन भारतीयों का शिक्षण-व्यय जो विदेश (अमेरिका) शिक्षा के लिये भेजे जायँगे, और अमरीकी सरकार से मिलने वाली टेकनीकल सहायता का खर्च शामिल होगा। इसी समझौते में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि फंड 'ए' और फंड 'बी' दोनों ही का रुपया भारत सरकार और अमरीका की सरकारें दोनों ही जिन योजनाओं को स्वीकार करेंगी उन पर ही व्यय किया जा सकेगा। इस प्रकार की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये इस समझौते के अनुसार एक केन्द्रीय समिति (७ सदस्यों से अधिक की नहीं) भारत सरकार नियुक्त करेगी किन्तु इस समिति की कोई सिफ़ारिश जिसका असर अमरीकी सरकार के रुपये को खर्च करने का होगा अमरीकी सरकार के भारत स्थित 'टेकनीकल कोपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन' के डाइरेक्टर की स्वीकृति के बिना व्यवहार में नहीं लाई जा सकेगी। चूँकि सामुदायिक विकास योजनाओं का रुपया इन्हीं फंड 'ए' और फंड 'बी' में से आयगा इसलिये ये प्रतिबंध इन योजनाओं पर भी लागू हैं। न केवल अमरीका से प्राप्त रुपया हम अपनी इच्छानुसार व्यय नहीं कर सकेंगे बल्कि हमारे अपने रुपये के बारे में भी हमें यह स्वतन्त्रता नहीं होगी। इससे अधिक आर्थिक दासता क्या हो सकती है? राजनैतिक दासता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 'टेकनीकल कोपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन' का डाइरेक्टर और उसका स्टाफ़ उन सब विशेष अधिकारों का उपयोग करेंगे जो राजदूतावास को मिलते हैं। जो विशेषज्ञ 'टेकनीकल कोपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन' से मिलेंगे वह डाइरेक्टर के आदेश में काम करेंगे, अमरीका की सरकार उनको नियुक्त करेगी, और वे भी उन तमाम विशेष अधिकारों का जिसमें भारतीय न्यायालय में

उन पर मुक़द्दमा नहीं चल सकता यह अधिकार भी शामिल है, उपयोग करेंगे।

अत्यन्त खर्चीली योजना—इन योजनाओं का एक बड़ा दोष यह भी है कि यह बहुत खर्चीली होंगी। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि ये योजनायें अमरीका जैसे धनी और साधन सम्पन्न विशेषज्ञों के दिमाग की उपज हैं। भारत की स्थिति, लोगों का मानस, उनकी सभ्यता और संस्कृति की पृष्ठभूमि सर्वथा दूसरी है। यह आशा करना व्यर्थ होगा कि विदेशी परिस्थितियों की उपज ये योजनायें भारत के ग्राम विकास के प्रश्न को हल कर सकेंगी।

ऊपर से लादी हुई योजनायें—इन योजनाओं के बारे में यह भी आलोचना की जाती है कि योजना के कार्यकर्ताओं का व्यवहार ऑफिसरी मनोवृत्ति से प्रभावित रहता है। लोगों में योजना के प्रति स्वाभाविक उत्साह और सहयोग की भावना नहीं देखने को मिलती। यद्यपि इस संबंध में दो तरह की रायें आती हैं फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि कुल मिलाकर स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। कुछ अपवादों की बात दूसरी है।

उपसंहार—ग्राम विकास की सामुदायिक योजनाओं के विषय में जो विचार ऊपर व्यक्त किये गये हैं उनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा हमारे गाँवों के जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं होने वाला है। अब तक की जो रिपोर्ट इन योजनाओं के बारे में मिलती हैं उनसे भी यही विचार पुष्ट होता है। जिन सरकारी कर्मचारियों के सुपुर्द यह काम किया जारहा है उनमें जीवन का कोई नया दृष्टिकोण, और कार्य के लिये कोई विशेष उत्साह नहीं मालूम पड़ता। जनता का सहयोग भी ऐसी स्थिति में बहुत मात्रा में नहीं मिल सकता। राज्य की सरकारों द्वारा भी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति और रुपये की व्यवस्था में देरी की शिकायत आती रहती है। इन सब बातों का यदि ध्यान रखा जाये तो हमारा उक्त विचार ही सही मालूम पड़ता है। यह तो ठीक है कि आखिर थोड़ा बहुत काम तो योजनाओं के कारण होगा ही, कुछ सड़कें और रास्ते बन जायगें, पानी पीने और सिंचाई के लिये कुछ कुये आदि खुद जायँगें, कुछ स्कूल खुल जायँगें, अस्पताल और डिस्पेंसरियां की सुविधा भी पहले से थोड़ी ज्यादा हो जायगी, थोड़ी नई जमीन खेती के लायक हो जायगी और कुछ और छोटे मोटे सुधार हो जायँगे। पर ग्राम जीवन को समूचा बदलने का काम इतने से ही नहीं हो सकता। और यह कार्य इन ग्राम विकास योजनाओं से पूरा नहीं हो सकेगा।

पूर्ति तथा जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त, १२—श्रम-विभाजन, १३—पूँजी, १४—व्यवस्था, १५—मैनेजिंग-ऐजेन्सी-पद्धति, १६—एकाधिकार तथा संयोग, १७—सहकारिता, १८—धन्धों का राष्ट्रीयकरण, १९—क्रमागत ह्रास नियम।

चौथा भाग

विनिमय

२०—विनिमय, २१—बाजार, २२—मूल्य निर्धारण, २३—उत्पादन-व्यय तथा सामान्य मूल्य, २४—वास्तविक लागत और मूल्य, २५—परस्पर सम्बन्धित मूल्य, २६—एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य, २७—मूल्य और अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा।

पाँचवा भाग

मुद्रा तथा विदेशी विनिमय

२८—विनिमय का माध्यम, २९—मुद्रा के प्रकार, ३०—कागजी मुद्रा, ३१—साख मुद्रा, ३२—मुद्रा का मूल्य, ३३—मुद्रा का मूल्य तथा मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त, ३४—मुद्रा-प्रमाप, ३५—विदेशी विनिमय, ३६—विनिमय का प्रबन्ध और नियन्त्रण, ३७—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, ३८—मुद्रा और बैंकिंग, ३९—भिन्न प्रकार के बैंक, ४०—बैंक के कार्य, ४१—बैंक की लेनी-देनी का लेखा, ४२—विनियोग नीति तथा लेनी, ४३—केन्द्रीय बैंक, ४४—केन्द्रीय बैंक द्वारा साख तथा द्रव्य का नियंत्रण, ४५—समाशोधन गृह या क्लियरिंग हाउस, ४६—द्रव्य-बाजार, ४७—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, ४८—व्यापार-चक्र, ४९—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, ५०—मुक्त व्यापार तथा संरक्षण।

छठा भाग

वितरण

५१—वितरण का स्वरूप, ५२—लगान, ५३—मजदूरी, ५४—मजदूरों सम्बन्धी अन्य समस्याएँ, ५५—सूद, ५६—लाभ।

सातवाँ भाग

राजस्व

५७—राजस्व, ५८—राजकीय व्यय, ५९—राजकीय आय, ६०—कर-भार ६१—राष्ट्रीय ऋण।